॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला
२१३

श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुधा' 'इन्दुमती' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

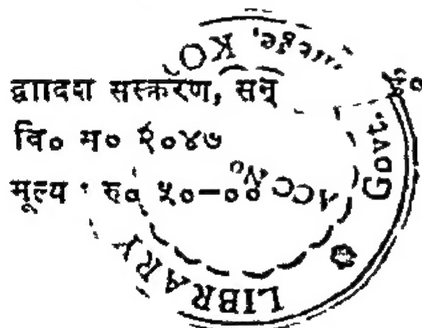
संस्कृतव्याख्याकारः
व्याकरणाचार्य-साहित्योपाध्याय-
पण्डित श्रीसदाशिवशास्त्री जोशी

हिन्दीव्याख्याकारः
पण्डित श्रीरामचन्द्रझा व्याकरणाचार्यः



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Post Box No. 1138
K. 37/130, Gopal Mandir Lane
Varanasi–221 001 (India)
Phone : 65744



द्वादश संस्करण, सन् ई०
वि० सं० २०४७
मूल्य : रु० ५०-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय
कचौड़ी गली
वाराणसी–२२१००१

मुद्रक—श्रीगोकुल मुद्रणालय, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी–२२१००१

प्रस्तावना

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' (काव्यादर्श)

संस्कृत भाषाका ही दूसरा नाम देववाणी है। विश्वकी विविध भाषाओं में यही एक भाषा है जो वस्तुतः स्वर्ग से अवतीर्ण हुई है क्योंकि विश्ववाङ्मय का सबसे पुराना अनादि ग्रन्थ वेदका सृजन भगवान् ने सर्वप्रथम इसी भाषा में किया है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ (कृ० द्वै० भाष्य)

तत्पश्चात् आर्षयुग के साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों के अपरोक्ष अनुभवसे लेकर आधुनिक कालके बड़े-बड़े भारतीय मनीषियोंके सद्विचारोंसे ओत-प्रोत होने के कारण संस्कृतवाङ्मयका महत्त्व लोकोत्तर हो गया है। भारतीय पुरातत्त्वके विषय में पूर्ण और यथार्थ ज्ञानके लिए संस्कृत ही एकमात्र अनन्य-साधारण साधन है। अतः स्वतंत्र भारतकी लोकसभा यदि विवेक से विचार करती तो राष्ट्रभाषाका राजमुकुट भगवती सुरभारतीको ही पहनना चाहिये था। क्योंकि इस देशकी समूची संस्कृति, सारा इतिहास और समस्त ज्ञान-विज्ञान सब संस्कृत में ही भरे पड़े हैं। किंबहुना ऋग्वेद जैसे विज्ञान-कोश का रत्नाकर ग्रन्थ भी संस्कृतवाङ्मय है और यही कारण है कि अन्यान्य देशोंके विमर्शक- विद्वान् संस्कृतवाङ्मयके प्रत्येक अङ्गका अध्ययन और अनुसन्धान बड़े मनोयोगसे करते हैं पर यहाँके लोग अँगरेजोंके शासनकालमें इसे मृत भाषा कहने लगे थे और आज भी अँगरेजी रङ्गसे रँगे मस्तिष्कवाले उसी दृष्टिसे इसे देखते हैं। यह तो सोचते हैं कि भारतकी शासनव्यवस्था संस्कृत राष्ट्रभाषा होनेसे नहीं चल सकती। किन्तु इस बातपर विचार नहीं करते कि विदेशियोंने अपने-अपने शासनकाल में उर्दू और अंग्रेजीको बलात् भारतकी राष्ट्रभाषा घोषित करके ही शासनको संभाला और आज भी पाकिस्तान उसी रूपमें सम्हाले हुए है। तात्पर्य यह कि संस्कृतकी संस्कृतिमें पले भारतका शासनसूत्र संस्कृतके राष्ट्रभाषा होनेसे जितना अक्षुण्ण बना रह सकता है उतना किसी अन्य भाषाके राष्ट्र-भाषा होनेसे नहीं।

भारत में आज अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओंको राजभाषा बनानेमें जो लोग व्यस्त हो रहे हैं, उसका एकमात्र निदान हिन्दीका राष्ट्रभाषा

होना ही है निष्पक्षभावसे विचार किया जाय तो उत्तर प्रदेश या पश्चिम विहारके कुछ ही अंशको छोड़कर बङ्गाल, मिथिला, गुजरात, महाराष्ट्र, आदि प्रदेशोंको राष्ट्रभाषा हिन्दीसे जितनी कठिनाईकी संभावना है उतनी संस्कृत से नहीं, क्योंकि बङ्गला, मैथिली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं मे नब्बे प्रतिशत संस्कृत शब्दोका ही प्रयोग होता है तथा हिन्दीको भी धन-धाम और सौन्दर्य संस्कृतसे ही मिल रहा है। ऐसी स्थितिमें भारतकी राष्ट्रभाषा यदि संस्कृत होती तो भारतमाताकी तरह गीर्वाणवाणी भगवती सुरभारतीके मुखमे शताब्दियोंसे लगा हुआ ताला टूट जाता और एक स्वरसे सम्पूर्ण भारत उस राष्ट्रभाषाका अभिनन्दन करने लगता।

किसी भी देशकी राष्ट्रभाषा तभी जीवित रह सकती है जबकि वह उस देशकी मातृभाषामें परिणत हो जाय।

आचार्य वरदराजविरचित प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत भाषाका भास्कर है। यह ग्रन्थ यदि भारतकी प्रत्येक शिक्षा संस्थाओंमे अनिवार्यरूपसे पढाया जाय तो अल्प समय मे ही इस ग्रन्थके आलोकमे नवनिर्मित स्वतन्त्र भारतमे पुन महाराज भोजका युग उदित हो जायगा।

कथानक इस प्रकार है—किसी समय एक ब्राह्मणको इन्धनके भारसे अतिश्रान्त होते हुए देख महाराज भोजने पूछा—

'भूरिभारभराक्रान्तस्तत्र स्कन्धो न बाधति,?'

ब्राह्मणने उत्तर दिया—

न तथा बाधते राजन्! यथा 'बाधति' बाधते।

व्याकरण

व्याक्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति-शब्दज्ञानजनक 'व्याकरणम्' जिससे साधु शब्दका ज्ञान हो उसीका नाम व्याकरण है। व्याकरणका ही दूसरा नाम महाभाष्यकारने 'शब्दानुशासन' रक्खा है (अनुशिष्यन्ते=अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधु शब्दा अनेनेत्यनुशासन नाम—सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिरूप शास्त्रम्)। संस्कृतवाङ्मयमें व्याकरण शास्त्रका स्थान सबसे ऊँचा है। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के ज्ञानके बिना वेदार्थ या स्मृति

पुराण, इतिहास, काव्य कोश आदि किसी भी शास्त्रान्तरका ज्ञान हो ही नहीं सकता। कहा भी है—

> यो वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
> ब्राह्मयाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
> यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
> शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥ (भास्कराचार्य)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष इन षडङ्गोंमें व्याकरण वेदका मुखरूप प्रधान अङ्ग है। जैसा कि कहा है—

> मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते।
> निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे॥
> शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते।

किं बहुना 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगमोक्त वचनका उद्धरण देते हुए भगवान् पतञ्जलिने कहा है— 'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति'। इत्यादि उक्तिसे भी सिद्ध होता है कि संस्कृतसाहित्य मात्रके लिये मुख्यतः व्याकरणशास्त्रका ज्ञान सर्वप्रथम नितान्त आवश्यक है।

व्याकरणका प्रथम प्रवक्ता

व्याकरणवाङ्मयमें ऐन्द्र तन्त्र सबसे पुराना है। बृहस्पतिने सर्वप्रथम एक हजार वर्ष निरन्तर भगवान् इन्द्रको प्रतिपदपाठद्वारा शब्दोपदेश किया था, जैसा कि महाभाष्यमें लिखा है—

'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच'

वोपदेवने भी निम्नोक्त आठ शाब्दिकोंमें सबसे पहले इन्द्रका ही नाम लिया है—

> इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
> पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

पाणिनीय व्याकरण

संस्कृतवाङ्मयके व्याकरणोंमें सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगोपांग उपलब्ध होता है। इसकी सुन्दर और सुबद्ध रचनाकी प्रशंसा विश्वका प्रत्येक विद्वान् मुक्तकण्ठसे करता है। अभीतक किसी भी भाषाका व्याकरण इतना सरल और सुपरिष्कृत नहीं बनसका है। यह व्याकरण 'त्रिमुनिव्याकरण' नामसे प्रसिद्ध है और इन त्रिमुनियोंमें पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यथाक्रमसे हुए हैं।

(१) महामुनि पाणिनि

पाणिनिकी अष्टाध्यायीमे 'श्रवण' और 'यवन' शब्दको देखकर पाणिनिको कोई बुद्धसे और कोई यवनसे उत्तरवर्ती मानते हैं। इसका समुचित समाधान युधिष्ठिर मीमांसकने अपने इतिहास (पृ० १३६) मे किया है। मीमांसकजीने पाणिनिको विक्रमसे लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। गणतन्त्रमहोदधिमें 'शालातुरो नाम ग्राम सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीय', तत्र भवान् पाणिनि' इस व्युत्पत्तिसे शालातुर नामक ग्राम पाणिनिका जन्मस्थान लिखा है—जो अधुना पाकिस्तानमें 'लाहौर' नामसे प्रसिद्ध है। पाणिनिके पिताका नाम महर्षि पाणि और माताका नाम दाक्षी था। भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है—'दाक्षीपुत्रस्य पाणिने' पाणिनिके गुरुका नाम उपवर्षाचार्य था जो नन्दराजके राज्यकालमे नालन्दा विश्वविद्यालय (बिहारराज्य) के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे। पाणिनिने अध्ययनावस्थामे ही अपनी घोर तपस्यासे आशुतोष भगवान् शङ्करको प्रसन्नकर उनके उपदेश और आदेशसे गुरुके आश्रम (पाटलिपुत्र) में ही अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन आदिकी रचना की थी। आचार्योंने कहा भी है—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥

(२) महामुनि कात्यायन

कात्यायन और पाणिनि दोनों समकालिक सतीर्थ्य थे। पूर्वाचार्योंने कात्यायनको महर्षि याज्ञवल्क्यका आत्मज माना है। उनके मतसे स्मृतिकार और वार्तिककार दोनों एक ही कात्यायन हैं। 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या' इस महाभाष्यसे सिद्ध

होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य थे। पर उसकी पुष्टि निम्न लिखित रीति से स्कन्दपुराणके वचनका समन्वय करनेपर ही हो सकती है।

स्कन्दपुराणमें लिखा है—'मिथिलाके महर्षि याज्ञवल्क्यका एक आश्रम (पीठ) आनर्त (गुजरात) प्रदेशमें भी था' संभव है उसीप्रकार महामुनि कात्यायनका भी कोई आश्रम महाराष्ट्र प्रदेशमें रहा होगा और वहीं पर उनका अधिक समय व्यतीत होनेसे लोकमें वे दाक्षिणात्येन व्यवहृत हो गये होंगे।

वार्तिककारोंमें महामुनि कात्यायन सबसे श्रेष्ठ हुए। उनके वार्तिक निम्न वार्तिक लक्षणोंसे सर्वथा पूर्ण है—

उक्ताऽनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

कात्यायनका वार्तिकपाठ पाणिनिव्याकरणका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अपूर्ण ही रह जाता और यही कारण है कि अब पाणिनीय व्याकरणके आलोकमें अन्य कोई भी व्याकरण पनप नहीं सका है। महामुनि कात्यायनका ही दूसरा नाम 'वररुचि' है। ये स्मृतिकार और वार्तिककार ही नहीं, अपितु महाकवि भी थे। इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्यकी प्रशंसा अनेक ग्रन्थोंमें की गयी है। जैसा कि लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥
न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥

(३) शेषावतार भगवान् पतञ्जलि

शेषावतार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य व्याकरणका सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। सभी वैयाकरण इसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण शास्त्रका ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मयका आकर ग्रन्थ है। भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

भगवान् पतञ्जलिने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थ पातञ्जलयोगसूत्र, पाणिनीय महाभाष्य और चरकसंहिता—इन तीनो ग्रन्थोंकी रचना की, जैसा कि कैयटने अपनी महाभाष्यकी टीकाके मङ्गलाचरणमें लिखा है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

भगवान् पतञ्जलिके विषयमें निम्न इतिवृत्त प्रसिद्ध है—

आचार्योंका कहना है कि पाणिनि और कात्यायन दोनों उपवर्षाचार्य नामक एक ही गुरुके शिष्य थे। अध्ययनके समय कात्यायनकी प्रखर बुद्धिके सामने बहुधा पाणिनिको हतप्रभ हो जाना पड़ता था। अतः पाणिनि तीर्थराज प्रयागमें अक्षयवटके नीचे—जहाँ सनकादि ऋषिगण तप कर रहे थे, वहीं जाकर घोर तपस्या करने लगे। कुछ दिनोंके पश्चात् उन लोगोंकी विकट तपश्चर्यासे प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शंकरने ताण्डव नृत्य करते हुए उन लोगोंको दर्शन दिया और १४ बार अपना डमरु बजाकर उन तपस्वियोंका अभीष्ट सिद्ध किया जैसा कि नन्दिकेश्वरविरचित काशिकामें लिखा है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

पाणिनिको उसी डमरुके शब्दोंसे चतुर्दश माहेश्वरसूत्र उपलब्ध हुए और उन्हीं सूत्रोंके आधारपर पाणिनिने सुबद्ध अष्टाध्यायीकी रचना की, जिसे देखकर कात्यायन चकित हो उठे और तत्क्षण ही उन्होंने अष्टाध्यायीमें दोष निकालनेकी प्रतिज्ञा कर ली। भगवान् महेश्वरकी तपश्चर्यासे उन्होंने भी अष्टाध्यायीके अनुक्त-दुरुक्त-पुनरुक्तादि दोषोंके उद्धरणस्वरूप पा० व्याकरणपर वार्तिका एक विशाल ग्रन्थ ही रच डाला। पाणिनिको कात्यायनका यह द्वेष असह्य हो उठा। उन्होंने आवेशमें आकर कात्यायनको तत्क्षण दिवंगत हो जानेका शाप दे दिया। कात्यायन भी इसे सह न सके। उन्होंने भी तमककर आचार्य पाणिनिको सूर्योदयसे पहले सिंहद्वारा भक्षित हो जानेका महाशाप दे दिया। फलस्वरूप दोनों आचार्य उसी दिन त्रयोदशीको परलोक प्रस्थान कर गये[1] (इसीलिये वैयाकरण लोग त्रयोदशीको अनध्याय मानते हैं)

---

१ पञ्चतन्त्रमें लिखा है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,

महामुनि पाणिनि और कात्यायनके निधनके पश्चात् शनैः शनैः पाणिनीय व्याकरण लुप्तप्राय होने लगा और उसकी जगह मुकुटाचार्य अपने एक नये ही व्याकरणका सृजन करने लगे।

आशुतोष भगवान् शंकरको अपना अक्षरसमाम्नाय अत्यन्त प्रिय है (अभी भी प्राचीन आचार्य चतुर्दश सूत्रोंसे भगवान् शंकरका स्नपन करते हैं) उन्होंने पाणिनिके शब्दानुशासनको नष्ट होते हुए देख शेषशायी भगवान्से प्रार्थना की कि शेषनाग पा० व्याकरणपर महाभाष्य करनेके लिये भूतलपर चिदम्बरम् में अवतार ग्रहण करें।

उस समय चिदम्बरं प्रदेशमें 'गोणिका' नामकी महासती प्राज्ञ पुत्रकी कामनासे महेश्वरकी आराधना कर रही थी। एक दिन तपस्विनी माता गोणिका भगवान् सूर्यको अर्घ्य दे रही थी कि गोणिकाकी अञ्जलिमें भगवान् शेष अवतीर्ण हो गये। सर्पके रूपमें उन्हें देखते ही घबड़ाकर माता गोणिकाने पूछा—

१. गोणिका—कोऽभवान् ?
२. शेष—सर्पोऽहम्,
३. गोणिका—रेफः क्व गतः ?
४. शेष—त्वयाऽपहृतः,

यह सुन माता गोणिका आनन्दसे विभोर हो उठी। अनन्तर ही उसने भगवान् शेषको हँसते हुए बालकके रूपमें पाया और उसी दिन उस (शेषावतार) का नाम 'पतञ्जलि' रखदिया। कुछ ही दिनोंमें वे पतञ्जलि महेश्वरके अनुग्रहसे व्याकरण शास्त्रमें पारङ्गत होकर विश्वकी विभूति बन गये। दिनप्रति हजारोंकी संख्यामें आ-आकर शिष्य गण उनसे पाणिनीय व्याकरण पढ़ने लगे।

एक दिन पतञ्जलिने अपने शिष्योंसे कहा—'आज य(ज)वनिकाके अन्दरसे मैं पाणिनिकी अष्टाध्यायी और कात्यायनके वार्तिकोंके ऊपर एकसाथ ही महाभाष्यकी रचना करूँगा, आपलोग ध्यानसे सुनें और लिखते जांय। पर यह बात स्मरण रहे कि आपमेंसे कोई भी व्यक्ति प्रवचनके समय मुझे यवनिकाके भीतर देखनेका दुःसाहस न करें, अन्यथा महान् अनिष्ट होगा।' इतना कहकर पतञ्जलिने यवनिकाके भीतर शेषका रूप धारणकर अपने सहस्र मुखोसे एक ही साथ 'तर्त्तहि वक्तव्यम्, न वक्तव्यम् ?' इत्यादिरूपेण महाभाष्यका प्रवचन

मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥

आरंभ कर दिया और उनके शिष्यगण लिखने लगे। 'कृदतिङ्' सूत्रका महाभाष्य पूर्ण हो ही रहा था कि एक शिष्य कौतूहलसे यवनिका के अन्दर भगवान् पतञ्जलिको झाँकनेका दुःसाहस करने लगा और त्वरित् ही सहस्र-फणामण्डल-मण्डित भगवान् शेषके अत्युग्र विषकी ज्वालासे सभी शिष्यगण एक ही साथ भस्मसात् हो गये।

दैववश उस विप्लवके समयसे कुछ ही पूर्व एक शिष्य अत्यन्त तृषार्त होकर जल पीनेके लिए आश्रमसे बाहर नदी तटपर चला गया था, अतः विप्लवके पश्चात् वह पुनः उपस्थित हुआ। उसे देख पतञ्जलिने अपूर्ण पाठके मध्यसे उठ जानेके अपराधमें उसे ब्रह्मपिशाच होनेका शाप दे दिया। पतञ्जलिके शापसे वह शिष्य अत्यन्त घबड़ाया और गुरुके चरणोंपर गिरकर क्षमाप्रार्थना करने लगा। अन्तमें पतञ्जलिने कहा—'घबड़ाओ मत' देखो, इस वट-वृक्षके ऊपर तुम निवास करना और इस वृक्षके नीचेसे जो चले उससे 'पचेर्निष्ठायां किं रूपम्'? ऐसा प्रश्न करना। इसके उत्तरमें जो व्यक्ति 'पक्वम्' ऐसा कहे, उसीको मेरा महाभाष्य पढ़ा देना। बस, उसी दिन तुम इस शापसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लोगे। इतना कहकर भगवान् पतञ्जलि वहाँसे प्रस्थान कर गये और वह ब्रह्मपिशाच वहीं रहने लगा।

एकाएक भगवान् पतञ्जलिके अन्तर्हित हो जानेसे पाणिनीय व्याकरण शास्त्र पुनः ऐसा लुप्त होगया कि सभी लोग उस ब्रह्मपिशाचके प्रश्नके उत्तरमें 'पक्तम्' (अशुद्ध) कहने लगे।

बहुत दिनोंके पश्चात् पा० व्याकरणका एकमात्र जिज्ञासु चन्द्रगुप्त नामका पण्डित इतस्ततः भगवान् पतञ्जलिका अन्वेषण करता हुआ उस वट-वृक्षके नीचे आ पहुँचा और उसने ब्रह्मपिशाचके प्रश्नका सटीक उत्तर (पक्वम्) दे दिया। उसका उत्तर सुनते ही ब्रह्मपिशाच अपने गुरु भगवान् पतञ्जलिका वचन स्मरणकर बोल उठा—अहो! तुम पा० वैयाकरण मालूम पड़ते हो, क्या तुम्हें पातञ्जलमहाभाष्य पढ़ने की इच्छा है? यह सुन पण्डित चन्द्रगुप्त अतिप्रसन्न हुआ और आसन लगाकर उस वृक्षके नीचे बैठ गया। तदनन्तर वह ब्रह्मपिशाच वट पत्रके ऊपर अपने नखाग्रसे महाभाष्य लिख-लिखकर गिराने लगा और चन्द्रगुप्त उसे बटोरने लगा, इतनेमें एक बकरी आकर इधर-उधर बिखरे हुए कुछ वट पत्रोंको खा गयी। इसीलिए महाभाष्यमें यत्र-तत्र 'अजाभक्षितमेतत्' ऐसा लिखा है। महाकवि श्रीहर्षने भी महाभाष्यके विषयमें निम्न पद्य गाया है—

परिस्रावलयचञ्चलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
'फणिभाषितभाष्यफक्किका' विषमा कुण्डलनामवापिता ॥

अष्टाध्यायीके टीकाकार

पाणिनीय अष्टाध्यायीके ऊपर आचार्य कुणि, आचार्य व्याडि आदि कतिपय प्राचीनाचार्योंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी टीका की रचना की है, परन्तु 'त्रिमुनि-व्याकरणम्' सिद्ध हो जानेके पश्चात् सर्वप्रथम महापण्डित जयादित्य और वामनने वि० स० ६५०-७०० के मध्य 'काशिकावृत्ति' लिखी। परन्तु उससे बालकोंको व्याकरणका ज्ञान सरलतया नहीं हो पाता था, अतः वि० स० १४०० में आठो व्याकरणके ज्ञाता पं० रामचन्द्राचार्यने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। किन्तु उसमें भी अष्टाध्यायीके समस्त सूत्रोंका सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनताको पूर्ण करनेके लिये वि० स० १५१०-१५७५ के मध्यवर्ती भट्टोजिदीक्षितने सम्पूर्ण अष्टाध्यायीके सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठसे सर्वाङ्गपूर्ण 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ रचा। इसकी सुललित और सुबद्ध रचनाशैलीको देखकर समस्त आर्यावर्त मुग्ध हो उठा और कुछ लोग इस ग्रन्थकी स्तुति निम्नरीतिसे करने लगे—

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उनके पूज्य पिता दुर्गातनय और गुरु श्री भट्टोजिदीक्षित थे। आचार्य वरदराजने अध्ययन के पश्चात् अपने गुरुकी आज्ञासे सिद्धान्तकौमुदीका पथप्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक मनोनीत ग्रन्थकी रचना की। वरदराजका यह प्रथम प्रयास प्रारंभिक छात्रोंके लिये संस्कृतका सबसे उत्तम सोपान सिद्ध हुआ। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

लघुकौमुदीकी रचनाके पश्चात् वि० स० १६५० में आचार्य वरदराज अपने गुरुकी 'सिद्धान्तकौमुदीको लघुरूपमें संकलितकर 'मध्यकौमुदी'का सफल ग्रन्थकार हुए। मध्यकौमुदीके अन्तमें वरदराजने निम्न पद्य लिखा है—

कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
तस्याः सङ्ख्या तु विज्ञेया रामबाणकराग्निभिः ॥ (३२५०)

आचार्य वरदराजकी 'मध्यकौमुदी' की रचनाको देखकर श्री भट्टोजिदीक्षित क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने वरदराजकी इस कृतिसे अपनी सिद्धान्तकौमुदीका ह्रास होना अवश्यम्भावी समझकर मध्यकौमुदीके विकासपर दाव दे दिया, जिससे सि० कौमुदीकी अपेक्षा अत्यन्त सरल, सुबोध और उपादेय होनेपर भी उस समय मध्यकौमुदी ग्रन्थ खद्योतके समान अप्रतिभ हो गया—लोकप्रिय न हो सका।

कुछ भी हो आजका युग अब पहलेका युग न रहा, यदि स्वतन्त्र राष्ट्र संस्कृतका स्तर ऊँचा करना चाहे तो उसे वरदराजकी स्तुति करनी होगी। संस्कृतव्याकरणका त्वरित् और पूर्ण ज्ञान करानेमें वरदराजकी मध्यकौमुदीके समान कोई भी अन्य ग्रन्थ वर्तमान संस्कृत-संसारमें उपलब्ध नहीं होता और न हो सकता है। यह सूर्यके समान प्रत्यक्ष है।

मध्यकौमुदीका प्रचलित रूप

मध्यकौमुदीका संपादन करते समय मैंने प्राचीन नवीन हस्तलिखित व प्रकाशित अनेक संस्करणोंका एकीकरण किया पर मेरी समीक्षामें यह स्थिर न होसका कि वस्तुतः वरदराजकी वास्तविक रचना कौनसी है। लेखक व संपादकके भेदसे कोई भी संस्करण एक दूसरेसे मिल न सका। काशिका, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी आदिसे युक्ति पद ले-लेकर जहाँ तक बन पड़ा है मध्यकौमुदीके आकार प्रकारको लोग सुविस्तृत करते गये हैं। जिससे मध्यकौमुदी दिनप्रतिदिन सरल सो अवश्य होती जा रही है, पर सम्भव है युगधर्मसे श्री भट्टोजिदीक्षित की शङ्का भी साकार हो जायगी—सिद्धान्तकौमुदीका ह्रास हो जायगा।

इस संस्करणमें मैंने आचार्य प० श्री सीताराम जी शास्त्रीका सुसंपादित और सुपरिष्कृत संस्करणकी विशेष सहायता ली है, तदर्थ मैं आचार्यजीका अतिशय आभारी हूँ।

प्रस्तुत संस्करणकी टीकाके विषयमें गुण दोषोंका विवेचन करना मैं पाठकके ऊपर ही छोड़ता हूँ। टीका पाठकके समक्ष है, क्षीर-नीरविवेकी पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे। इत्यलमधिकेन।

प्रथम संस्करण
रामनवमी, सं० २००८

विनीत—
—रामचन्द्र झा

प्रकरणादिसूची

शिवसूत्र-प्रत्याहाराः

स्यादेको ङञणषटै, वेण द्वौ, अय इह कणमैश्च ।
चत्वारश्च चयाभ्यां, पञ्च रेफेण, शलाभ्यां षट्॥

अक्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ ।

अच्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ ।

अण्—अ, इ, उ ।

अट्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र ।

अण्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।

अम्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न ।

अल्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

अश्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

इक्—इ, उ, ऋ, ऌ ।

इच्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ ।

इण्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।

उक्—उ, ऋ, ऌ ।

एङ्—ए, ओ ।

एच्—ए, ओ, ऐ, औ ।

ऐच्—ऐ, औ ।

खय्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

खर्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

ङम्—ङ, ण, न ।

चय्—च, ट, त, क, प ।

चर्—च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

छव्—छ, ठ, थ, च, ट, त, ।

जश्—ज, ब, ग, ड, द ।

झय्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

झर्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

झल्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

झश्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

झष्—झ, भ, घ, ढ, ध ।

बश्—ब, ग, ड, द ।

भष्—भ, घ, ढ, ध, ।

मय्—म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

यञ्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ ।

यण्—य, व, र, ल ।

यम्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न ।

यर्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

रल्—र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

वल्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

वश्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

शर्—श, ष, स ।

शल्—श, ष, स, ह ।

हल्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

हश्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।



स्वरों का अष्टादश भेदज्ञापक चक्र

अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेद	दीर्घभेद	प्लुतभेद
१ ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७ दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३ प्लुत उदात्तानुनासिक
२ ” उदात्ताननुनासिक	८ ” उदात्ताननुनासिक	१४ ” उदात्ताननुनासिक
३ ” अनुदात्तानुनासिक	९ ” अनुदात्तानुनासिक	१५ ” अनुदात्तानुनासिक
४ ” अनुदात्ताननुनासिक	१० ” अनुदात्ताननुनासिक	१६ ” अनुदात्ताननुनासिक
५ ” स्वरितानुनासिक	११ ” स्वरितानुनासिक	१७ ” स्वरितानुनासिक
६ ” स्वरिताननुनासिक	१२ ” स्वरिताननुनासिक	१८ ” स्वरिताननुनासिक

वर्णोद्भवस्थानज्ञापक चक्र

कण्ठ	तालु	मूर्धा	दन्त	ओष्ठ	नासिका	क ता.	क ओ	द ओ	जि मू	नासिका
अ	इ	ऋ	ऌ	उ	ञ	ए	ओ	व	≍क	
क	च	ट	त	प	म	ऐ	औ			
ख	छ	ठ	थ	फ	ङ				≍ख	
ग	ज	ड	द	ब	ण					अनुस्वार
घ	झ	ढ	ध	भ	न					
ङ	ञ	ण	न	म						
ह	य	र	ल	≍प						
	श	ष	स	≍फ						

आभ्यन्तर और बाह्यप्रयत्नज्ञापक चक्र

आभ्यन्तर-प्रयत्न	स्पृष्ट		ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत		विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श		अन्तस्थ	ऊष्म		स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित	
व्यञ्जन, स्वर	क ख प फ च छ ट ठ त थ	ग ङ घ ब म भ ज ञ झ ड ण ढ द न ध	य व र ल	श ष स	ह	अ इ ए उ ओ ऋ ऐ ऌ औ	प्रयोग में ह्रस्व अ
बाह्यप्रयत्न	अ प्रा. म. प्रा विवार श्वास अघोष	अल्प प्रा / म प्रा संवार / संवार नाद / नाद घोष / घोष	अल्प संवार नाद घोष	म प्रा विवार श्वास अघोष	म प्रा स. ना घो	अल्पप्राण संवार नाद घोष	अल्प संवार नाद घोष

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

सुधा-इन्दुमती-संस्कृत-हिन्दीटीकोपेता

अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ् ।३। ऐऔच् ।४। हयवरट् ।५।

नत्वेति । अञ्जलिशिरःसंयोगादिव्यापारेण तोषयित्वेत्यर्थः । वरदराजः—प्रकृतग्रन्थकर्ता । 'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्' इत्याद्युक्त्या गुरोरेव परमपदार्थत्वात्—गुरूनिति । भट्टोजिदीक्षितान्—शब्दकौस्तुभमनोरमादिग्रन्थकर्तॄन् । पाणिनीयानाम्—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं, तदधीते विदन्ति वा पाणिनीयास्तेषाम् । मध्यसिद्धान्तकौमुदीमिति । अत्यल्पाऽशेषाभ्यामन्ये मध्यभूताः सिद्धान्तास्तेषां प्रकाशिकामिति यावत् । करोतीति । डुकृञ् करणे अस्मात्कर्तरि लटि रूपम् । उत्पत्त्यनुकूलव्यापारो हि कृधात्वर्थः । वरदराजनिष्ठमध्यसिद्धान्तकौमुदीविषयकोत्पत्त्यनुकूलव्यापार इति बोधः ।

अ इ उ ण् इति । संहितायाः अविवक्षया नात्र सन्धिकार्यम् । सौत्रत्वाच्चैतेभ्यो विभक्त्युत्पत्तिः । कारप्रत्ययोऽपि न 'वर्णात्कार' इत्यत्र बहुलमित्यनुवर्तनात् । हयवरडिति । अट् अश् हश् इण् प्रत्याहारेषु हकारग्रहणार्थोऽत्र हकारोपदेश आवश्यकः । अटि हकारोपदेशप्रयोजनं तु—अर्हेण इत्यत्र अट्कुव्यवायेऽपि णत्वार्थम् । अशि हकार

रामचन्द्रं नमस्कृत्य रामचन्द्रेण धीमता ।
मनसीन्दुमतीं ध्यात्वा रचितेन्दुमती सुधा ॥

नत्वा—मैं वरदराज भट्टाचार्य अपने श्री गुरु भट्टोजिदीक्षितको प्रणाम करके पाणिनि मुनि-विरचित ग्रन्थमें प्रवेशके लिये 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थको बनाता हूँ ॥

अइउण् – महेश्वर (भगवान् गंगाधर) की कृपासे प्राप्त ये चतुर्दश (१४) सूत्र अण् अक् आदि संज्ञा (प्रत्याहार) सिद्धिके लिये हैं ।

नोट:—महर्षि पाणिनिकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने संस्कृतव्याकरण बनानेके लिये इन्हीं १४ सूत्रोंका उपदेश किया था । इन्हीं सूत्रोंके आधार पर पाणिनिने

लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४। इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि ॥ एषामन्त्या इतः ।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ॥ हकारो द्विरुपा-

---

प्रयोजनम्—देवा हसन्ति इत्यत्र 'भो भगो' इति अशिनिमित्तकं यत्वार्थम् । हशि हकारप्रयोजनम्—देवो हसति इत्यत्र 'हशि च' इत्युत्वार्थम् । इणि हकारप्रयोजनम्—लिलिहिध्वे-लिलिहिढ्वे इत्यत्र 'विभाषेटः' इत्यनेन वैकल्पिकढत्वार्थम् ॥ लणिति । ननु 'अइउण्' इत्यत्र णकारानुबन्धेनैवाणादिप्रत्याहारसिद्धौ पुनरिह णकारानुबन्धग्रहणं व्यर्थमिति चेद्, न । 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' इति परिभाषाज्ञापकत्वेन तस्य साफल्यात् ॥ हलिति । 'हयवरट्' इत्यत्र हकारोपदेशेनैव सिद्धौ पुनरिह हकारोपदेशो व्यर्थ इति न च शङ्क्यम् । वल्, रल्, झल्, शल्, प्रत्याहारेषु हकारग्रहणाय तत्र हकारोपदेशस्य सार्थक्यात् । तथाहि—वलि हकारोपदेशप्रयोजनम्—रुदिहि स्वपिहि अत्र 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इति वलादिलक्षणेडागमार्थम् । रलि हकारोपदेशप्रयोजनम्—स्निहित्वा-स्नेहित्वा इत्यत्र 'रलो व्युपधात्' इति कित्त्वार्थम् । झलि-अदाग्धाम् इत्यत्र घत्वासिद्धत्वेन हकारस्य झल्त्वात् 'झलो झलि' इति सकारलोपार्थम् । शलि-अलिक्षत् इत्यत्र 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्सादेशार्थम् । ननु इमानि सूत्राणि मुनित्रयप्रणयबहिर्भूतत्वादप्रमाणमित्यत आह—इति माहेश्वराणि सूत्राणीति । महेश्वरादागतानि माहेश्वराणि 'तत आगतः' इत्यण् । महेश्वरप्राप्तानीति यावत् । ननु महेश्वरप्रणीतसूत्राणामेषां वैयाकरणसिद्धान्तप्रकाशने उपयोगाभावादिह तदुपन्यासो व्यर्थ इत्यत आह—अणादिसंज्ञार्थानीति । अण् आदिर्यासां ताः अणादयः, अणादयश्च ताः संज्ञाश्च अणादिसंज्ञाः ता अर्थः प्रयोजनं येषां तानि अणादिसंज्ञार्थानि । एषां सूत्राणामणादिसंज्ञाद्वारा व्याकरणशास्त्रे उपयोगात्सार्थक्यमिति भावः । हकारादिष्विति । हकारादीनां सुखोच्चारणार्थं पुनःपुनरकारपाठ इत्यर्थः । अन्यथा 'ह् य् व् र्' इत्येवं क्लिष्टोच्चारणापत्तेरिति भावः । लण्मध्ये त्विति । लण्सूत्रस्थोऽकार इत्संज्ञकः, रप्रत्याहारसिद्ध्यर्थमिति भावः ॥ तेन 'उरण् रपरः'

समस्त व्याकरणकी सभी बातें सरलरूपेण संक्षेपमें—कही हैं । अतः सबसे पहले उपर्युक्त सूत्रोंसे बने हुए प्रत्याहारोंको कण्ठस्थ करलेना विद्यार्थियोंके लिये परम हितकर है ।

एषाम—यह प्रतिज्ञावाक्य है । इन चतुर्दश सूत्रोंके अन्तिम वर्ण (ण्, क् आदि) इत्संज्ञक हैं—वक्ष्यमाण 'हलन्त्यम्' सूत्रसे इनकी इत्संज्ञा हो जाती है ।

हकारादि—हकारादि वर्णोंमें सम्मिलित जो अकार है वे केवल वर्णोच्चारण करनेके लिये हैं—इत्संज्ञाके लिये नहीं ।

लण्मध्ये—'लण्' सूत्रके मध्यमें (लकारोत्तरवर्ती) जो अकार है वह इत्संज्ञक है—

सोयमटि शल्यपि वाञ्छता । अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥ हलन्त्यम् । १ । ३ । ३ । उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ॥ अदर्शनं लोपः । १ । १ । ६० । प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ॥ तस्य लोपः । १ । ३ । ९ । तस्येतो लोपः स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः ॥ आदिरन्त्येन सहेता । १ । १ । ७१ । अन्त्येनेता

इति सूत्रस्थरप्रत्याहारेण रलयोर्ग्रहणमिति यावत् । अटि शल्यपीति । अट्प्रत्याहारे हकारग्रहणार्थम्, शल्प्रत्याहारेऽपि हकारस्य ग्रहणार्थं हकारः द्विवारं पठितः । अटि हकारस्य प्रयोजनमाह—अर्हेणेति । 'अट्कुप्वाङ्' इति अड्व्यवाये णत्वम् । शलि पाठस्य प्रयोजनमाह—अधुक्षदिति । 'शल इगुपधात्' इत्यनेन च्लेः क्सादेशः । उपदेशेऽन्त्यमिति । आद्योच्चारणविषयीभूतो यः शब्दस्तस्यान्त्यं हल् इत्संज्ञकः स्यादिति फलितोऽर्थः । आद्योच्चारणमिति । आद्यानां शिवपाणिनिप्रभृतीनामाद्यमुच्चारणमुपदेशः । यद्वा आद्यञ्च तदुच्चारणञ्चेत्याद्योच्चारणम्, प्रथममुच्चारणमित्यर्थः । शिवपाणिनिप्रभृतीनामाद्यमुच्चारणमुपदेशः । केचित्तु—'धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः' ॥ इत्याहुः । प्रसक्तस्येति । प्राप्ततोऽर्थस्य प्रसक्तस्य प्राप्तोच्चारणस्येत्यर्थः । इत्संज्ञकसामान्यार्थकत्वात्तस्य च निषेधाच्छ्रवणाभावाद् उच्चारणसत्ताया एव निषेध इति भावः ॥ णादयोऽणाद्यर्था इति । अण् आदिर्येषां तेऽणादयस्तेऽर्थाः प्रयोजनं येषान्तेऽणाद्यर्थाः । णादयः—ण् क् ङ् च् प्रभृतयः इत्संज्ञा वर्णाः अणादिप्रत्याहारप्रयोजनकाः इति यावत् ॥ आदिरन्त्येन सहेतेति । अन्ते भवः अन्त्यः । तेन इता सहोच्चार्यमाण आदिः अण् अच् इत्यादिरूपः संज्ञेत्यर्थः । यस्मात्पूर्वं नास्ति

उच्चारण मात्रके लिये नहीं । क्योंकि उससे 'र' प्रत्याहारकी सिद्धि होती है ।

हलन्त्यम्—उपदेश अवस्थामें जो अन्त्य हल् (व्यञ्जन वर्ण) उनकी इत्संज्ञा हो ।

उपदेश आद्योच्चारणम्—आद्य (प्रथम) उच्चारणको 'उपदेश' कहते हैं ।

नोटः—व्याकरणशास्त्रके प्रवर्तक पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि मुनिका जो आद्योच्चारण है उसीका नाम 'उपदेश' है । कहा भी है—

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

सूत्रेष्वदृष्टम्—सूत्रोंमें जो पद नहीं दिखलाई पड़े उसे दूसरे सूत्रोंसे अनुवर्तन (अध्याहार) करलेना चाहिये ।

अदर्शनम्—प्रसक्त (प्राप्त, अर्थात् विद्यमान—प्राप्तोच्चारण) का जो अदर्शन (श्रवणाभाव) वह लोपसंज्ञक होता है—उस अभावको लोप कहते हैं ।

तस्य लोपः—जिसकी इत्संज्ञा होती है उसका लोप हो जाता है ।

आदिरन्त्येन—अन्त्य इत्संज्ञक वर्णके साथ उच्चरित आदिवर्ण अपने तथा मध्यवर्ती वर्णोंका भी बोधक हो ।

सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा अण् इति अउवर्णानां संज्ञा। एवमच्, हल्, अल्, इत्यादयः ॥ **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। १। २। २७।** उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा। **उच्चैरुदात्तः। १। २। २९।**

परश्चास्ति स आदिः। यस्मात्परं नास्ति पूर्वश्चास्ति सोऽन्तः। इहाद्यन्ताभ्यामवयवत्वेन बोधकाभ्यां शब्दाभ्यां मध्यगा आक्षिप्यन्ते। अतस्तेषां संज्ञेति लभ्यते। स्वं रूपमिति पूर्वसूत्रात्स्वमित्यनुवर्तते। तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते तदेतदाह—अन्त्येनेत्यादि। स्वस्य चेति। अत्र च स्वशब्देन संज्ञाकोटिप्रविष्ट आदिरेव परामृश्यते इति भावः। ऊकाल इति। ह्रस्वदीर्घप्लुत इति समाहारद्वन्द्वः सौत्रं पुंस्त्वम्। एकद्वित्रिमात्रिकोकाराणामुच्चारणकालसदृशोच्चारणकालविशिष्टोऽच् क्रमशो ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञको भवतीति सूत्रार्थः। मात्रान्यादकारोच्चारणमेव युक्तमिति न च शङ्क्यम्। कुक्कुटरुते उकारे एकद्विमात्रत्वप्रसिद्धेरकारस्यानुक्तेः। वां काल इति। वः इति उशब्दस्य प्रथमाबहुवचनम्। वामिति षष्ठीबहुवचनम्। वां काल इव कालो यस्येति फलितार्थकथनमिति यावत्। एकमात्रात्मकोकारोच्चारणकालसदृशोच्चारणकालिको योऽच् स ह्रस्वसंज्ञको भवति। एवं द्विमात्रात्मकोकारोच्चारणकालसदृश उच्चारणकालो यस्याच स दीर्घसंज्ञको भवति। एवं त्रिमात्रात्मकोकारोच्चारणकालसदृशोच्चारणकालिको योऽच् स प्लुतसंज्ञको भवति। स प्रत्ये-

---

उदाहरण—'अ इ उ ण्' सूत्रघटक 'अण्' प्रत्याहारमें अन्त्य इत् 'ण्' के सहित उच्चारित आदिवर्ण 'अण्' हुआ। इसके बीचमें जो इ, उ हैं, इनकी तथा अपनी भी अर्थात् 'अ' की भी संज्ञा 'अण्' हुई (एवम् अन्यत्रापि)।

अण् इति—यथा 'अण्' प्रत्याहार अ, इ, उ वर्णोंका संज्ञाबोधक है, तथा अच्, हल् आदि प्रत्याहारोंको भी जानना चाहिये।

ऊकालो—उकाल, ऊकाल, ऊ३काल (एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक) के समान उच्चारण कालके बराबर उच्चारण काल हो जिसका वह 'अच्' क्रमसे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञावाला हो।

नोट—'मात्रा' कालको कहते हैं। मुर्गेका शब्द 'कु–कू–कू३' में एक, दो, तीन मात्राओंका उच्चारण क्रमिक स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः उकार ही दृष्टान्त रूपमें दिया गया है।

ह्रस्वादि का लक्षण—एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम् ॥

स प्रत्येक—वह (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतसंज्ञक) प्रत्येक 'अच्' उदात्त, अनुदात्त, स्वरित धर्मविशेषसे तीन ३ प्रकारका होता है।

उच्चैरुदात्त—तालु आदि स्थानोंके ऊर्ध्व भागमें उच्चारित जो 'अच्' वह 'उदात्त'

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् ॥ **नीचैरनुदात्तः ।१।२।३०।** ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात् ॥ **समाहारः स्वरितः ।१।२।३१** उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ॥ **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।१।१।८।** मुखसहितनासिकयोच्चार्य-

कमिति । सः (लब्धह्रस्वादिसंज्ञकः) ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुतश्च अच् प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन उदात्तत्वेन, अनुदात्तत्वेन, स्वरितत्वेन च धर्मविशेषेण त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्वर्तत इत्यर्थः । उदात्तसंज्ञामाह—उच्चैरुदात्त इति । नात्र धर्मविशेषः, उच्चैस्त्वमित्यत्र न विवक्षितम् । उपांशूच्चार्यमाणे अव्याप्तेः । किन्तु उच्चैःशब्दः अधिकरणशक्तिप्रधानः ऊर्ध्वभागे इत्यर्थे वर्तते । ऊकालोऽज् इत्यतः अच् इत्यनुवर्तते, तदेतदाह—ताल्वादिष्विवादिना । सभागेष्विति । ताल्वादीनां सावयवत्वकथनं ऊर्ध्वभागे इत्यस्योपपादनार्थम् । तेषामखण्डत्वे ऊर्ध्वभागे इत्यनुपपत्तेः ॥ नीचैःशब्दः अधिकरणशक्तिप्रधानः, अधोभागे इत्यर्थे वर्तते, तदाह—नीचैरिति । समाहारः स्वरित इति । पूर्वसूत्राभ्यां उदात्तानुदात्तपदे अनुवृत्ते व्याख्यानात् धर्मप्रधाने षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्येते । यस्मिन् समाहरणं स समाहारः । अधिकरणे घञ् । ततश्च उदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिन्नचि मेलनं सोऽच् स्वरितसंज्ञक इत्यर्थः । तदेतत्फलितमाह—उदात्तत्वानुदात्तत्वे इति । स नवविधोऽपीति । १ उदात्तह्रस्वः, २ अनुदात्तह्रस्वः, ३ स्वरितह्रस्वः, ४ उदात्तदीर्घः, ५ अनुदात्तदीर्घः, ६ स्वरितदीर्घः, ७ उदात्तप्लुतः, ७ अनुदात्तप्लुतः, ९ स्वरितप्लुतः, इति रीत्या य एकैकः अच् नवविधः स्थितः स प्रत्येकमनुनासिकत्वेन अननुनासिकत्वेन च द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां वर्तत इत्यर्थः । मुखनासिकेति । मुखद्वितीया नासिका मुखनासिकेति शाकपार्थिवादित्वादुत्तरपदलोपः । उच्यतेऽसौ वचनः 'कर्मणि ल्युट्' । मुखनासिकया वचनः मुखनासिकावचन इति । ननु अष्टादशभेदाः किं सर्वेषामचामवि-

कहलाता है ।

नीचैरनुदात्तः—तालु आदि स्थानोंके अधोभागमें उच्चारित जो 'अच्' वह 'अनुदात्त' कहलाता है ।

नोटः—उच्चैः, नीचैः शब्द अधिकरण शक्तिप्रधानक अव्यय हैं । अतः ऊर्ध्वभाग और अधोभागमें ऐसा अर्थ हुआ ।

समाहारः—उदात्त और अनुदात्त जिस स्वरमें सम्मिलित हों उसे 'स्वरित' कहते हैं ।

स नवविधोऽपि—वह (उदात्त-अनुदात्त-स्वरितभेदेन) नौ प्रकारका ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक 'अच्' पुनः अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे दो २ प्रकारका होता है ।

मुखनासिका—मुख और नासिका (उभय) से जिस वर्णका उच्चारण हो वह अनुनासिक संज्ञक वर्ण कहलाता है ।

माणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृवर्णस्य द्वादश। तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश। तेषां ह्रस्वाभावात्॥ तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।१।१।९। ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्। (ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां

सिकः, चेत्याह—तदित्थमिति। अष्टादशभेदा इति। अष्टादशप्रकारा इत्यर्थः। दीर्घाभावादिति। यथा च उदात्तलृकारदीर्घः, अनुदात्तलृकारदीर्घः, स्वरितलृकारदीर्घः। ते च अनुनासिकाः अननुनासिकाश्च इति षड्भेदानामभावे सति ह्रस्वप्रभेदाः षड्विधाः प्लुतप्रभेदाश्च षड्विधा इति लृकारस्य द्वादशविधत्वमेवेति भावः। लृकारस्य दीर्घाभावेऽपि होतृ लृकार इत्यत्र सवर्णदीर्घे कृते होतॄकार इति ऋकारस्यैव 'तुल्यास्य' सूत्रे 'अक सवर्णे' इति सूत्रे च भाष्योदाहरणमेव प्रमाणम्। ह्रस्वाभावादिति। यदि एचो ह्रस्वाः स्युस्तर्हि वर्णसमाम्नाये त एव लाघवात् अ इ उ इत्यादिवत् पठेरन्। न तु दीर्घाः गौरवात्। अतः एचो ह्रस्वाः न सन्तीति विज्ञायते। एवञ्च ह्रस्वप्रयुक्तषड्भेदाभावात् द्वादशविधत्वमेवैषाम् इति भावः। तुल्यास्येति। आस्ये—मुखे भवम् आस्यं ताल्वादिस्थानम् 'शरीरावयवाद्यत्' इति भवार्थे यत्प्रत्ययः। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः। आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य वर्णजातस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नं परस्परं सवर्णसंज्ञकं स्यादिति भावस्तदाह—ताल्वादीति। मिथ इति। परस्परमित्यर्थः। कस्य किं स्थानमित्याकाङ्क्षायां तदुपदर्शयन्ति पाणिन्यादिशिक्षावचनानि अर्थतः सङ्गृह्णाति—अकुहेत्यादिना। 'अ' इत्यष्टादशभेदा गृह्यन्ते। 'कु' इति कादिपञ्चकात्मकः कवर्गः।

तदित्थम्—उपर्युक्त प्रकारसे 'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णोंमें प्रत्येकके १८ भेद होते हैं।

लृवर्णस्य—(दीर्घ न होनेके कारण) 'लृ' वर्णके (१८ भेद न होकर) १२ भेद होते हैं।

एचामपि—एच् (ह्रस्व न होनेके कारण) 'एच्' वर्णोंके प्रत्येकके भी (अठारह २ भेद न होकर) १२ भेद होते हैं।

तुल्यास्य—जिस वर्णका तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न एक हो वह परस्पर सवर्ण संज्ञावाला होता है।

ऋलृ—ऋ-लृ वर्णको (भिन्न स्थान होनेपर भी) परस्पर सवर्णसंज्ञा होती है—ऐसा कहना चाहिये।

अकुह—अ-कार, कु-वर्ग, 'ह' और विसर्ग (:) का उच्चारणस्थान कंठ है—अतः इनको कण्ठ्य वर्ण कहते हैं।

इचु—इकार, चु-वर्ग, 'य' और 'श' का उच्चारणस्थान 'तालु' है—अतः इनको

मूर्धा । लृतुलसानां दन्ताः । उपूपध्मानीयानामोष्ठौ । ञमङणनानां नासिका च । एदैतोः कण्ठतालु । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य

अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्चेति विग्रहः । विसर्जनीयशब्दोऽपि विसर्गपर्यायः । इचुयशेति । 'इ' इत्यष्टादश भेदाः । 'चु' इति चवर्गः । इश्च चुश्च यश्च शश्चेति विग्रहः । ऋटुरषेति । 'ऋ' इत्यष्टादश भेदाः । 'टु' इति टवर्गः । आ च टुश्च रश्च षश्चेति विग्रहः । 'ऋ' शब्दस्य आ इति प्रथमैकवचनान्तम्, धाता इतिवत् । लृतुलसेति । 'लृ' इत्यस्य द्वादश भेदाः । 'तु' इति तवर्गः । आ च तुश्च लश्च सश्चेति विग्रहः । लृशब्दस्यापि आ इत्येव प्रथमैकवचनान्तम् । आ, अलौ, अलः इति । दन्तशब्देन दन्तमूलप्रदेशो विवक्षितः । अन्यथा भग्नदन्तस्य तदुच्चारणानुपपत्तेः । उपूपेति । 'उ' इत्यष्टादश भेदाः । 'पु' इति पवर्गः । उश्च पुश्च उपध्मानीयश्चेति विग्रहः । उपध्मानीयशब्दस्य व्याख्यानमनुपदमेव मूले स्पष्टं भविष्यति । ञमङणनेति । ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्चेति विग्रहः । चकारेण स्वस्ववर्गीयस्थानसमुच्चयः । एदैतोरिति । एच्च ऐच्च एदैतौ । तपरकरणमसन्देहार्थम् । ओदौतोरिति । ओच्च औच्च ओदौतौ । तपरकरणं पूर्ववदसन्देहार्थमेव । जिह्वामूलीयस्येति । ≍क≍ख इति उच्चार्यमाणो

ताकव्य वर्ण कहते हैं ।

ऋटु—ऋ-ऋकार, टु-टवर्ग, 'र' और 'ष' का उच्चारण स्थान 'मूर्धा' है—अतः इनको मूर्धन्य वर्ण कहते हैं ।

लृतु—लृ-लृकार, तु-तवर्ग, 'ल' और 'स' का उच्चारण स्थान 'दन्त' है—अतः इनको दन्त्य वर्ण कहते हैं ।

उपु—उ-उकार, पु-पवर्ग और उपध्मानीय (≍प ≍फ) का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' है—अतः इनको ओष्ठ्य वर्ण कहते हैं ।

ञमङ—'ञ-म-ङ-ण-न' का उच्चारण स्थान 'नासिका' तथा 'कंठ-तालु-मूर्धा-दन्त-ओष्ठ' भी है—अतः इनको नासिका तथा कंठ्य, ताकव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य वर्ण भी कहते हैं ।

एदैतोः—एकार-ऐकारका उच्चारण स्थान कंठ तालु है—अतः इनको कण्ठ्य, ताकव्य दोनों कहते हैं ।

ओदौतोः—ओकार-औकारका उच्चारण स्थान कंठ और ओष्ठ है—अतः इनको 'कण्ठयोष्ठ्य' वर्ण कहते हैं ।

वकारस्य—वकार का उच्चारणस्थान दन्त तथा ओष्ठ है—अतः इनको 'दन्तोष्ठ्य' वर्ण कहते हैं ।

जिह्वामूलीयस्य—जिह्वामूलीय (≍क≍ख) का उच्चारणस्थान जीभका मूल (जड़भाग) है—अतः इनको जिह्वामूलीय कहते हैं ।

जिह्वामूलम् । नासिकाऽनुस्वारस्य । इति स्थानानि ॥ यत्नो द्विधा । आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आद्यः पञ्चधा । स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । बाह्यप्रयत्नस्त्वेका-

---

प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीय इति अग्रे मूले एव उक्तम् । अनुस्वारस्येति । स्थानमिति शेषः । अनुस्वारस्य नासिकास्थानमस्तीति भावः । यत्नो द्विधेति । यत्नानामाभ्यन्तरत्वं बाह्यत्वं च वर्णोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वंभावित्वमिति पाणिन्यादिशिक्षासु स्पष्टम् । यत्न इति । यत्नशब्दोऽत्र प्रयत्नपरः । आद्य इति । आभ्यन्तरप्रयत्न इत्यर्थः । कथं पञ्चधा इत्यत आह—स्पृष्टेत्यादिना । तत्रेति । स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत, संवृतेषु मध्ये इत्यर्थः । प्रयतनमिति । प्रयत्न इत्यर्थः । स्पर्शानामिति । स्पर्शवर्णानामित्यर्थः । के ते वर्णा इति मूले स्फुटीभविष्यति । तथापि निर्दिश्यते अत्रापि—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, ककाराद्।रभ्य मकारपर्यन्तम् । अन्तःस्थानामिति । यरलवानामित्यर्थः । ऊष्मणामिति । श ष स ह इत्येतेषामित्यर्थः । स्वराणामिति । अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ इत्येतेषामित्यर्थः । प्रयोगे इति । शास्त्रीय-

---

नासिका—अनुस्वार ( ) का उच्चारणस्थान नासिका है ।

यत्नो द्विधा—यत्न (प्रयत्न) दो प्रकारका होता है—आभ्यन्तर और बाह्य ।

नोटः—'प्रकृष्टो यत्न प्रयत्नः' अर्थात् वर्णोच्चारणके पूर्व हृदयमें जो यत्न करना पड़ता है, उसी प्रयत्नको 'आभ्यन्तर प्रयत्न' कहते हैं । इसका अनुभव उच्चारण करने वाले को ही होता है ।

दूसरा प्रयत्न मुखसे वर्ण निकलते समय होता है । इसका अनुभव सुनने वालेको भी होता है, अतः यह 'बाह्यप्रयत्न' कहा जाता है । इसका उपयोग सवर्णसंज्ञामें नहीं होता, किन्तु आन्तरतम्यपरीक्षा अर्थात् कई वर्णोंमें परस्पर अत्यन्त समानताका अन्वेषण करनेके समयमें इसकी आवश्यकता पड़ती है ।

आद्य पञ्चधा—पहला—आभ्यन्तर प्रयत्न, पांच प्रकारका है—१ स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५. संवृत—इन भेदसे ।

तत्र स्पृष्ट—तत्र (इन पांचोंमें) स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शोंका—'क' से 'म' पर्यन्त वर्णों का है ।

ईषत्स्पृष्ट—प्रयत्न अन्तःस्थोंका—य व र ल वर्णोंका, है ।

ईषद्विवृत—प्रयत्न ऊष्माका—शषसह वर्णोंका है ।

विवृत—प्रयत्न स्वरका—अच्का है ।

संवृत—प्रयत्न ह्रस्व अकारका प्रयोगावस्थामें—परिनिष्ठित सिद्धरूपमें, होता है । किन्तु प्रक्रियादशा—साधनिकावस्थामें, विवृत ही रहता है ।

बाह्यप्रयत्नस्तु—बाह्य प्रयत्न तो ग्यारह प्रकारके होते हैं—१ विवार, २. श्वास,

दशधा । विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तःस्थाः । शषसहा ऊष्माणः । अचः

प्रक्रियाभिः परिनिष्ठितानां रामः कृष्णः इत्यादिशब्दानां प्रयोगे क्रियमाणे एव ह्रस्वस्यावर्णस्य संवृतत्वमित्यर्थः । प्रक्रियेति । शास्त्रीयकार्यप्रवृत्तिसमये दण्ड-आढकमित्यादौ सवर्णदीर्घादिकर्तव्ये तु विवृतत्वमेव । तेन सन्धिकार्यं निर्बाधमेव । एतत्सर्वं 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन ज्ञापितमिति सिद्धान्तकौमुद्यां स्पष्टम् ॥ बाह्येति । वर्णोत्पत्त्यनन्तरजातो यत्नो बाह्यप्रयत्न इत्युच्यते । खर इति । ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स इति वर्णाः । विवारा इति । विवारादिप्रयत्नवन्त इत्यर्थः । हश इति । ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द इति वर्णा इत्यर्थः । संवारा इति । संवारादिप्रयत्नवन्त इत्यर्थः । अल्पप्राणा इति । कगङ, चजञ, टडण, तदन, पबम, यरलव इत्येतेषां वर्णानाम् अल्पप्राण इति भावः । खघ, छझ, ठढ, थध, फभ, शषसह इत्येतेषां महाप्राण इत्यपि ज्ञेयम् । कादय इति । कख इत्यादिमपर्यन्तमिति पूर्वमुक्ता वर्णा इत्यर्थः । क आदिर्येषां ते कादयः, मः अवसाने येषान्ते मावसाना इति ।

---

३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त, ११. स्वरित—इस भेदसे ।

नोटः—जिन वर्णोका उच्चारण करते समय कंठका विकास हो, उनको 'विवार' तदतिरिक्तको 'संवार' एवं जिन वर्णोका उच्चारण करते समय श्वास चलता हो उनको 'श्वास' जिनका उच्चारण नादसे हो उनको 'नाद' तथा जिन वर्णोका उच्चारण करनेपर गूंज होता हो उनको 'घोष' तदतिरिक्तको 'अघोष' एवं जिनके उच्चारण करनेमें प्राणवायुका अल्प उपयोग हो उन्हें 'अल्पप्राण' और अधिक उपयोग हो उन्हें महाप्राण कहते हैं ।

खर्—प्रत्याहारका विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न है ।

हश्—प्रत्याहारका संवार, नाद और घोष प्रयत्न है ।

वर्गाणां—वर्गोंके प्रथम (क च ट त प), तृतीय (ग ज ड द ब), पञ्चम (ङ ञ ण न म) तथा यण् (य व र ल) का अल्पप्राण प्रयत्न हैं ।

एवं वर्णोंके द्वितीय (ख छ ठ थ फ), चतुर्थ (घ झ ढ ध भ) तथा 'शल्' प्रत्याहारका महाप्राण प्रयत्न है ।

कादयो—'क'से'म'पर्यन्त (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) वर्ण स्पर्श कहलाते हैं ।

नोटः—जीभके अग्र (चोटी), उपाग्र (अग्रके समीपस्थ प्रदेश), मध्य (बीच) और मूल (आदि) भाग द्वारा कंठ, तालु प्रभृति स्थानोंको स्पर्श करके कवर्गादि वर्णोका उच्चारण होता है अतः इनका नाम स्पर्श वर्ण है ।

यण्—(य व र ल) अन्तःस्थ कहलाते हैं ।

स्वराः । ≍क≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः । ≍प≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः । अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ ॥ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ।१।१।६९। अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कुचुटुतुपु एते उदितः । तदेवम् अ इत्यष्टा

यण इति । यण्प्रत्याहारान्तर्गतवर्णाः 'यरलवा' इत्यर्थः । शषसहा इति । अच्प्रत्याहारान्तर्गतवर्णाः स्वरा इति । स्वेन राजन्त इति स्वराः 'अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ' इति वर्णा इत्यर्थः । अणुदिदिति । अण् अविधीयमानः सवर्णबोधकः, उदित् विधीयमानोऽपि सवर्णबोधको भवतीत्यर्थः । तेन 'अत उप' इत्यादौ विधीयमाने अति न सवर्णग्रहणम् । 'कुहोश्चुः' 'चोः कुः' इत्यादौ विधीयमानेऽपि सवर्णग्रहणमिति भावः । अत्रैवेति । अस्मिन्नेव सूत्रे इत्यर्थः । अन्यत्र तु 'अणोऽप्रगृह्य' इत्यादौ पूर्वणकारेण सह प्रत्याहारः । अत्र व्याख्यानमेव शरणम् । 'पूर्वेणैवाण्ग्रहाः सर्वे परेणैवेण्ग्रहा मताः । ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥' इति भाष्यकारेणोक्तम् । उदित इति । उदित्त्वेन रूपेण बोधक । तदेवमिति । तत् 'अणुदित्' सूत्रम्, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण फलतीत्यर्थः । अष्टादशानामिति । (१) ह्रस्वोदात्तानुनासिक । (२) ह्रस्व उदा॰ अननु॰ ।

नोटः—अन्तःस्थका मतलब है बीचवाला । 'य व र ल' वर्ण स्वर और व्यञ्जनके बीचके हैं अतः ये अन्तःस्थ कहलाते हैं ।

शल्—(श ष स ह) ऊष्मा कहलाते हैं-जिन वर्णोंके उच्चारणमें गर्म वायुका प्राधान्य हो उन्हें ऊष्म वर्ण कहते हैं ।

अच्—(अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ) स्वर कहलाते हैं ।

≍क≍ख—यहाँ पर ककार, खकारसे पूर्व विसर्गार्ध (≍) के समान जो ध्वनि है वह जिह्वामूलीय है ।

≍प≍फ—यहाँ पर पकार, फकारसे पूर्व विसर्गार्धके समान जो ध्वनि है वह उपध्मानीय है ।

अं अः—यहाँ पर अकारसे परमें जो ध्वनि है वह क्रमसे अनुस्वार, विसर्ग वाचक है ।

नोट—'न्' और 'म्' के स्थानमें अनुस्वार तथा 'रेफ' और 'स्' के स्थानमें विसर्ग होता है अतः अनुस्वार-विसर्ग पृथक् वर्णों में नहीं गिने जाते ।

अणुदित्सवर्णस्य—(जो विधान किया जाय वह प्रत्यय और तद्भिन्न अप्रत्यय कहा जाता है । इसका सूत्रार्थ यह हुआ कि)—

जिसका विधान किया गया हो ऐसा 'अण्' (प्रत्याहार) और उदित (कु चु टु तु पु) अपने सवर्णके बोधक हों ।

अत्रैवाण्—केवल इसी (अणुदित्) सूत्रमें 'अण्' प्रत्याहार पर ('अण्' सूत्रस्थ) णकारसे समझना चाहिये ।

दशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा॥ **परः संनिकर्षः संहिता।१।४।१०९।** वर्णानामतिशयितः संनिधिः संहितासंज्ञः स्यात्॥ **हलोऽनन्तराः संयोगः।१।१।७।** अज्भिरव्यवहिता हलः

---

(३) ह्र० अनुदा० अनु०। (४) ह्र० अनु० अननु० (५) ह्र० स्व० अ०। (६) ह्र० स्व० अननु०। (७) दीर्घ उ० अ०। (८) दी० उ०अननु०। (९) दी०अ०अनु०। (१०) दी० अ०अन०। (११)दी०स्व०अ०। (१२) दी०स्व०अन०। (१३) प्लुतउ०अ०। (१४)प्लु० उ०अन०। (१५)प्लु०अ०अ०। (१६) प्लु०अ०अन०। (१७)प्लु०स्व०अ०। (१८)प्लु० स्व०अननु०। इत्येतेषामित्यर्थः॥ तथेति। अनया रीत्या इकार-उकारयोरपि बोध्यम्। ऋकार इति। अनेन प्रकारेण ऋकारस्य अष्टादश। लृकारस्य दीर्घाभावात्, लृकारदीर्घषट्कं विहाय द्वादश। ऋकारलृकारयोः सावर्ण्यात् मिलित्वा त्रिंशत् इति भावः॥एवमिति। पूर्वोक्तप्रकारेणैव॥ एच इति। द्वादशानां बोधकाः। तदेवम्-ए,ओ,ऐ, औ,इति प्रत्येकं द्वादश इति भावः। ननु स्थानप्रयत्नयोस्तुल्यत्वात् सावर्ण्येन ए ऐकारस्य, ओ औकारस्य बोधकस्तेन चतुर्विंशतेः संज्ञकः एकारः, एवमोकारः स्यादिति चेद्, न। 'ऐऔच्' इति पृथक्सूत्रत्वेन तयोः सावर्ण्याभावज्ञापकत्वात्। तेनेति। यवलानां प्रकारद्वयेन। परः सन्निकर्ष इति। परः अतिशयितः, सन्निकर्षः सामीप्यमर्धमात्राधिककालव्यवधानाभावः। अर्धमात्राकालव्यवधानस्य अवर्जनीयत्वात्। तदेतदभिप्रेत्याह-अतिशयित इत्यादिना संहितेति। स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालव्यवधानशून्यः संहिता इति भावः। संयोग इति। स्वरसंज्ञकवर्णैर्व्यवधानशून्या हल्वर्णाः संयोगसंज्ञका इत्यर्थः। सुप्तिङिति। 'स्वौजसमौट्' इति सूत्रे सु इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः। न तु सप्तमीबहुवचनस्यैवात्र ग्रहणम्, व्याख्यानात्॥ 'तिप्तस्झि०' इति सूत्रे

हरिकारिका—परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥

कुत्तु—'कु' चु टु तु पु' ये उदित कहलाते हैं।

तदेवं—तस्मात् इस प्रकारसे यथा 'अ' अष्टादश (१८) का संज्ञाबोधक है तथा इकार, उकार भी अष्टादशका संज्ञाबोधक है। ऋकार (लकारके सवर्ण होनेसे) तीसका संज्ञाबोधक है। एवं लकार भी (ऋके सवर्ण होनेसे) तीसका संज्ञाबोधक है और एच् ('ए ओ ऐ औ') ह्रस्व न होनेसे बारहका संज्ञाबोधक है।

अनुनासिक—अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे 'य व ल' दो २ प्रकार के होते हैं। इसलिए अनुनासिक 'य व ल' अनुनासिक, निरनुनासिक दोनोंका संज्ञाबोधक है।

परः सन्निकर्षः—वर्णोंकी अत्यन्त सन्निधिकी संहितासंज्ञा हो।

हलोऽनन्तराः—'अच्' वर्णके व्यवधानसे रहित व्यंजन वर्णोंकी संयोगसंज्ञा हो।

संयोगसंज्ञा' स्युः ॥ **सुप्तिङन्तं पदम्** ।१।४।१४। सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ॥

इति सन्ध्युपयोगि संज्ञाप्रकरणम् ॥ १ ॥

अथ अच्सन्धिः

इको यणचि । ६ । १ । ७७ । इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । सुधी उपास्य इति स्थिते ॥ **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** । १ । १।६६ । सप्तमी

ङि इत्यारभ्य महिङो ङकारेण प्रत्याहारः । सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, तावन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तं शब्दस्वरूपम् इति शब्दशास्त्रप्रस्तावाल्लभ्यते । अन्तशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते तदेतदभिप्रेत्याह—सुबन्तमित्यादिना । इति संज्ञाप्रकरणम् ।

इकः स्थान इति । इक इति षष्ठी, 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति सूत्रेण स्थान इति लभ्यते । स्थानञ्च प्रसङ्गः । तथाहि-इकामुच्चारणप्रसङ्गे यणामुच्चारणं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ सुधी इति । ध्यै चिन्तायामिति धातोः 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' इति क्विपि यकारस्य सम्प्रसारणे इकारे पूर्वरूपे 'हलः' इति दीर्घे धीशब्दो निष्पन्नः । शोभना धीर्येषान्ते सुधियः । सुधीभिः उपास्यः सुध्युपास्यः ॥ अत्र सुधी उपास्य इति स्थिते । तस्मिन्निति निर्दिष्टे । तस्मिन्निति सूत्रगतसप्तम्यन्तस्यानुकरणम् । निर् इत्यस्य नैरन्तर्यमर्थः । दिशिरुच्चारणार्थकः । तेनायमर्थः—अचि यण् भवतीत्युक्ते व्यवहितेऽव्यवहिते

सुप्तिङन्तम्—सुबन्त और तिङन्तकी पदसंज्ञा हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें संज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ ।

इको यणचि—'इक्' के स्थानमें 'यण्' आदेश हो 'अच' परे रहने पर-संहिताके विषयमें ।

नोट —(क) 'इ' के बाद इभिन्न स्वर वर्ण रहने पर इके स्थानमें 'य्' होता है ।
(ख) 'उ' के बाद उभिन्न स्वर वर्ण रहने पर उके स्थानमें 'व्' होता है ।
(ग) 'ऋ' के बाद ऋभिन्न स्वर वर्ण रहने पर ऋके स्थानमें रेफ होता है और वह पर वर्णमें युक्त हो जाता है ।
(घ) 'ऌ' के बाद ऌभिन्न स्वर वर्ण परे रहनेपर ऌके स्थानमें 'ल्' हो जाता है ।

संहिता विषय—संहिता संज्ञाविधायक सूत्र कह चुके हैं । यह संहिता सर्वत्र नित्य होती है । केवल वाक्यमें वक्ताकी इच्छा पर रहता है । कहा भी है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

तस्मिन्निति—सप्तम्यन्त पदका उच्चारण करके विधीयमान जो कार्य वह वर्णान्तरसे अव्यवहित पूर्वके स्थानमें हो ।

निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य ज्ञेयम् ॥ **स्थानेऽन्तरतमः ।१।१।५०।** प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सुध्य् उपास्य इति जाते ॥ **अनचि च ।८।४।४७।** अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धस्य द्वित्वम् ॥ **झलां जश् झशि ।८।४।५३।** झलां जश् स्यात् झशि परे। इति पूर्वधस्य दः ॥ **संयोगान्तस्य लोपः ।८।२।२३।** संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात् ॥ **अलोऽन्त्यस्य ।१।१।५२।** षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते। **(यणः प्रतिषेधो वाच्यः)**। सुद्ध्युपास्यः। मद्ध्वरिः। धात्त्रंशः। लाकृतिः॥

ऽप्यचि प्राप्तेऽव्यवहित एवेति नियम्यते। स्थानेऽन्तरतमः। स्थानं प्रसङ्ग इत्युक्तम्। अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः। अतिशयोऽन्तरः अन्तरतमः तदाह—प्रसङ्गे सतीत्यादिना। प्रसङ्गः शास्त्रप्रसक्तिः। अनचि च। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इत्यतो यरः इति वा इति चानुवर्तते। 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यतः अच इति द्वे इति चानुवर्तते। अनचि इति न पर्युदासः, तथासति अज्भिन्ने हलीत्यर्थः स्यात् तदाह—अचः परस्येत्यादिना। संयोगान्तस्य। 'पदस्य' इत्यधिकृतम्। संयोगः अन्तो यस्येति विग्रहः। संयोगान्तस्य पदस्य लोप इत्यन्वयः। अलोऽन्त्यस्य। अलिति प्रत्याहारः। अल इति षष्ठ्यन्तम्। 'षष्ठी स्थाने योगा' इत्यतः षष्ठी स्थाने इत्यनुवर्तते। तच्च षष्ठीति प्रथमान्तं तृतीयान्ततया विपरिणम्यते। निर्दिष्टस्येति शेषः। स्थाने इत्यनन्तरं विधीयमान इति शेषः। स्थाने विधीयमान आदेशः षष्ठीनिर्दिष्टस्य यः अन्त्यः अल् तस्य स्यादित्यर्थः। तदाह—षष्ठीत्यादिना। यणः प्रतिषेध इति। यणः संयोगान्तलोपप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः। 'इको यणचि' इति सूत्रेण अजव्यवहितपूर्वं इक्–धकारोत्तरवर्ती ईः तस्य स्थाने 'स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रेण 'य्' न तु 'वरलाः' आन्तरतम्याभावात्। 'सुध्य् उपास्य' इति जाते 'अनचि च' इति सूत्रेण धकारस्य द्वित्वे 'झलां जश् झशि' इति सूत्रेण प्रथमध-

---

स्थाने—प्रसङ्ग रहनेपर सदृशतम आदेश हो—अर्थात् एक स्थानीके स्थान पर एक ही साथ कई आदेशोंकी प्राप्ति होनेसे उनमें जो सबसे अधिक स्थानीके सदृश हो वही आदेश हो।

अनचि च—अच्से परे यर् को विकल्पसे द्वित्व हो। परन्तु उसी यर् के परे यदि अच् भी रहे तो द्वित्व नहीं हो।

झलां जश्—झलोंके स्थानमें जश् आदेश हो झश् परे रहने पर।

संयोगान्तस्य—जिस पदके अन्तमें संयोग (संयुक्त अक्षर) हो उसके अन्त्य अक्षरका लोप हो।

अलोऽन्त्यस्य—षष्ठीनिर्देशसे विधीयमान जो कार्य वह अन्त्य 'अल्' के स्थानमें हो—अर्थात् षष्ठ्यन्तका निर्देश कर जहाँ (जिस उदाहरणमें) आदेशका विधान किया गया हो वहाँ अन्त्य वर्णको आदेश हो।

एचोऽयवायावः ।६।१।७८। एचः क्रमात् अय्, अव्, आय्, आव्, एते स्युरचि ॥ यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ।१।३।१०। समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ॥ वान्तो यि प्रत्यये ।६।१।७९।

कारस्य दकारे सुद्ध्य् उपास्य इत्यवस्थायां 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रेण यकारस्य लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन यलोपनिषेधे सति सुद्ध्युपास्य इति रूपं सिद्धम् ॥ मद्ध्वरि इति ॥ मधोः अरिः मध्वरिः । मधुनामकदैत्यस्य अरिः शत्रुः श्रीकृष्ण इत्यर्थः ॥ अथ साध्यते-मधु अरि इति स्थिते 'इको यणचि' इति सूत्रेण अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् धकारोत्तरवर्ती 'उ' तस्य स्थाने 'स्थानेऽन्तरतमः' इति परिभाषया (उकारस्य ओष्ठस्थानम्-उपूपध्मानीयानामोष्ठौ उभयोः उकारवकारयोः स्थानसाम्यात्) 'व्' जाते 'मध् व् अरि' इत्यवस्थायाम् 'अनचि च' इत्यनेन द्वित्वे 'झलां जश् झशि' इत्यनेन धकारस्य दकारे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रेण लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इत्यनेन निषिद्धे सति मद्ध्वरि इति रूपं सिद्धम् । धात्रंश इति । धातुः अंशः धात्रंशः । धातृ अंशः इति स्थिते 'इको यणचि' इत्यनेन ऋ स्थाने स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया र् कृत । अत्रापि 'संयोगान्तस्य लोपः' इति लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इत्यनेन निषिद्धे 'धात्रंशः' इति सिद्धं भवति ॥ लाकृतिरिति । लृरिव आकृतिः यस्य स इति विग्रह इति भावः । लृ आकृति इत्यत्र 'इको यणचि' इत्यनेन स्थानत आन्तर्यात् लृ इत्यस्य स्थाने ल् इति, अत्रापि लोपे प्राप्ते निषिद्धे सति अज्झीनं परेण संयोज्य लाकृतिः इति रूपं सिद्धम् ॥ एचोऽयवायावः । अय् च अव् च आय् च आव् चेति विग्रहः । 'इको यणचि' इत्यतोऽचीत्यनुवर्तते । यथासंख्यपरिभाषया एकारस्य अय् ओकारस्य अव् ऐकारस्य आय् औकारस्य आव् इति लभ्यते । तदाह-एच क्रमादिति । समसम्बन्धीति ॥ समानामिति यदि कर्मणि षष्ठी तर्हि स्थान्यादिभिः समसंख्यानां यत्र विधानं तत्रैव यथासंख्यनियमस्य प्रवृत्तिः, यथा-'एचोऽयवायावः' इत्यत्र, न तु 'समूलाकृतजीवेषु हन् कृञ्ग्रहः' इत्यत्र । तत्र विधेयस्य 'णमुल्' इत्यस्य एकत्वात् । अतः समानामिति सम्बन्धे षष्ठी इति भावः ॥ हरये इति । हरे ए इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन

यणः—'संयोगान्तस्य लोपः' इस सूत्रका यह वार्तिक है, अतः इसका अर्थ यह होता है कि—संयोगान्त पदके अन्तिम वर्ण यण्के लोपका प्रतिषेध कहना चाहिये—अर्थात् उसका लोप नहीं हो।

एचो—एच्के परे अच् रहे तो एच्के स्थानमें क्रमसे अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हो।

यथासंख्य—समसम्बन्धी विधि संख्यानुसार हो।

नोट—स्थानी और आदेशकी समान संख्या होने पर आदेशकी प्रवृत्ति क्रमसे अर्थात् प्रथमको प्रथम, द्वितीयको द्वितीय, तृतीयको तृतीय इस प्रकारसे होती है।

वान्तो—यकारादि प्रत्ययके परे 'ओत्-औत्' को वान्त (अव् आव्) आदेश हो।

यादौ प्रत्यये परे ओदौतोरवावौ स्तः । गव्यम् । नाव्यम् । (अध्वपरिमाणे च) । गव्यूतिः ॥ **धातोस्तन्निमित्तस्यैव** ।६।१।८०। यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । तन्निमित्तस्य किम् ।

एच्प्रत्याहारघटको हरे इत्यत्र रेफोत्तरवर्ती एकारः तस्य स्थाने अय् आदेशो जातः अच्प्रत्याहारघटक एकारे परे । तेन 'हरय् ए' इति जाते अज्झीनं परेण संयोज्यम्, हरये इति सिद्धम् ॥ विष्णवे इति । विष्णो ए इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अचि एकारे परे 'विष्णो' अन्त्यस्यो य ओकारः तस्य स्थाने अव् आदेशः कृतः ॥ विष्णव् ए इति जाते मिलित्वा विष्णवे इति रूपं सिद्धम् ॥ नायक इति । नै-अकः अत्र आय् आदेशः, पौ-अकः अत्र आव् आदेशः 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन इति भावः ॥ यकारादाविति । 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति परिभाषया तदादिलाभेन यकारादौ इत्यर्थस्य लाभ इति भावः ॥ गव्यमिति । गोशब्दात् 'गोपयसोर्यत्' इत्यनेन विकारार्थे यति प्रत्यये रूपम् ॥ अत्र गो-यत् इति स्थितौ ओकारस्य अच्परकत्वाभावात् 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अवादेशाप्राप्तौ 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यादि-प्रत्ययः-य इति, तस्मिन् परे 'अव्' आदेशे कृते गव्यम् इति रूपं सिद्धम् ॥ नाव्य-मिति । 'नौ-यत्' इति स्थिते 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यकारादौ प्रत्यये परे आव् आदेशे कृते 'नाव्यम्' इति भवति । नावा तार्यं नाव्यमित्यर्थः ॥ अध्वपरिमाणे चेति ॥ मार्गपरिमाणे अर्थे गम्यमाने ओकारस्य स्थाने अव् आदेशो भवति यूतिशब्दे परे । यथा-गो-यूतिः इत्यत्र 'अध्वपरिमाणे च' इत्यनेन अवादेशेन गव्यूतिः इति रूपं सिद्धम् ॥ 'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः । क्रोशयुगस्य संज्ञैवेति भावः । ननु ओयते औयत इत्यत्रापि ओकारस्य औकारस्य च 'वान्तो यि' इति वान्तादेशः स्यादित्याशङ्क्य 'वान्तो यि' इति सूत्रं नियमयति-धातोस्तन्निमित्तस्यैवेति । एच इति । वान्तो यि प्रत्यय, इति चानुवर्तते । सः यादिप्रत्ययः निमित्तं यस्य सः तन्निमित्तः । यादिप्रत्यये परे धातोरेचो भवन् वान्तादेशः यादिप्रत्ययनिमित्तकस्यैव एचो भवति नान्यस्येत्यर्थः । तदाह-यादौ प्रत्यय इत्यादिना । लव्यमिति । लूञ् छेदने । 'अचो यत्' इति यति 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यूकारस्य गुणः ओकारः, तस्य धात्ववयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । अवश्यलाव्यमिति । 'ओरावश्यके' इति लूञो ण्यत् । 'अचो ञ्णिति' इति इत्यूकारस्य वृद्धिः औकारः । अत्र औकारस्य धात्ववयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । तन्निमित्तस्यैवेति किमिति ।

अध्व—अध्व मार्ग, उसका परिमाण (नाप) गम्य हो तो ओशब्दको यूति शब्दके परे वान्त आदेश हो ।

धातोः—यकारादि प्रत्ययके परे धातुसम्बन्धी एच्को यदि वान्त आदेश हो तो यका-रादि प्रत्ययनिमित्तक एच्को ही हो—दूसरे को नहीं ।

ओयते । औयत ॥ **क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे** ।६।१।८१। यान्तादेशनिपातनार्थमिदम्। क्षय्यम् । जय्यम् । शक्यार्थे किम् । क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापं जेयं मनः ॥ **क्रय्यस्तदर्थे** ।६।१।८२। तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्या आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः ॥ **अदेङ्गुणः** ।१।१।२। अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात् ॥ **तपरस्तत्कालस्य** ।१।१।७०। तः परो यस्मात् तात्परो वा उच्चार्यमाणो वर्णः समकालस्यैव संज्ञा स्यात् ॥ **आद्गुणः** ।६।१।८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात् । उपेन्द्रः । रमेशः । गङ्गोदकम् ॥ **उपदेशेऽजनुनासिक**

नियमस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । ओयत इति । आङ्पूर्वाद् वेञः कर्मणि लट्, यगात्मने पदे यजादित्वात्सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृत्' इति दीर्घः । आद्गुणस्य परादिवद्भावेन धातोरेच्त्वेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वं नास्तीति भावः । औयत इति । वेञः कर्मणि लङ्, यगादि प्राग्वत् । 'आडजादीनाम्' इत्याट् 'आटश्च' इति वृद्धिः । क्षय्यमिति । 'शकि लिङ् च' इति यत् प्रत्ययः । क्रेयमिति । 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इति यत् । प्रकृत्यर्थायेति । प्रकृत्यर्थो द्रव्यविनिमयः । क्रेयमन्यदिति । गृहादौ भोजनाद्यर्थं संगृहीतं धान्यादीत्यर्थः । अदेङ् गुण । संज्ञाविधायकत्वात् संज्ञेति लभ्यते । अच्च एङ् चेति समाहारद्वन्द्वः । तदाह-अदेङ् चेत्यादिना । त पर इति । तपरपदे बहुव्रीहितत्पुरुषसमासद्वयं व्याख्यानादतो वृत्तावाह-तः परो यस्मात्तात्परश्चेति । आद्गुण इति । 'इको यणचि' इत्यतो अचि इति 'एकः पूर्वपरयोः' इति सम्पूर्णसूत्रमनुवर्तते अत आह-अचि परे पूर्वपरयोरिति ॥ उपेन्द्र इति । उप-इन्द्रः इति स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण पूर्वपरयोः अकार-इकारयोः स्थाने गुणसंज्ञकः कण्ठतालुस्थानकः एकारो जातः । तेन 'उपेन्द्रः' इति रूपं सिद्धम् । गङ्गोदकमिति ॥ गङ्गा-उदकम् इति स्थिते 'आद्गुणः' इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपरयोः

क्षय्य—शक्यार्थमें क्षय्य जय्य निपातन हो ।

क्रय्य—ग्राहक खरीदें इस बुद्धिसे जो वस्तु बाजार में फैलाकर रखी जाय, वह यदि वाच्य हो तो 'क्रय्य' निपातन हो ।

अदेङ्—ह्रस्व अकार और ए-ओकी गुणसंज्ञा हो ।

तपर—त इसके परमें अथवा तकार से पूर्व उच्चार्यमाण जो स्वर वर्ण वह अपने समकालका संज्ञाबोधक हो ।

नोट—इस व्युत्पत्तिसे 'त परो यस्मात्' तपर और 'तात्पर' तपर दो अर्थ निकलते हैं अतः वृत्तिमें 'वा' कहा गया है । दोनोंका उदाहरण इसी सूत्रमें 'अत्-एङ्' है । यहाँ अकारसे परे तकार है अतः ह्रस्व 'अ' को तथा तकारसे परे 'एङ्' है अतः एङ्से 'ए ओ' मात्राकी गुणसंज्ञा होती है—न कि आ और ऐ औ की ।

आद्गुण—अवर्णसे परे अच् हो तो पूर्व-पर के स्थानमें एक गुण आदेश हो ।

उपदेशे—उपदेशावस्थामें अनुनासिकविशिष्ट जो अच् वह इत्संज्ञक हो ।

इत् १।३।२। उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा॥ उरण् रपरः।१।१।५१। ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तं तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिः।

आकार-उकारयोः स्थाने ओकारे कृते गङ्गोदकमिति सिद्धम्। उपदेशेऽजिति। उपपूर्वदृ आद्यर्थकः। दिशिरुच्चारणक्रियायाम्। भावे घञिति भावः। एतच्च 'आदेच उपदेशे' इत्यादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्। आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥' इति प्राचीनकारिका तु प्रौढमनोरमायां बहुधा दूषिता। सूत्रे अजिति कुत्वाभावः आर्षः। अजित्संज्ञः स्यादिति विवरणे कुत्वाभावोऽसंदेहार्थः। प्रतिज्ञेति। प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा। अनुनासिकस्य भावःआनुनासिक्यम्। प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषान्ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः। लण्सूत्रस्थेति। 'लण्'सूत्रे तिष्ठतीति लण्सूत्रस्थः स चाऽसौ अवर्णश्च लण्सूत्रस्थावर्णः तेन सहोच्चार्यमाणो रेफः 'र' इत्येवंरूपः रेफलकारयोरसंज्ञेत्यर्थः। उरणिति। उः इति 'ऋ' इत्यस्य षष्ठ्येकवचनम्। त्रिंशत इति। 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इत्यनेनेति भावः। तत्स्थाने इति। 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यतः स्थानेग्रहणमनुवर्तते। 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे' इति परिभाषया 'उरण् रपरः' इत्यत्र 'षष्ठीस्थाने योगा' इति परिभाषा नोपतिष्ठते इति भावः। रपरः सन्नेवेति। अत्र 'र' इति प्रत्याहारो ग्राह्यः। तेन रेफशिरस्कः लकारपरकश्च प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिरिति। कृष्ण-ऋद्धिः इति स्थिते अत्र 'आद् गुणः' इति सूत्रेण कृष्ण इत्यस्य णकारोत्तरवर्ती अकारः तस्मात् अचि परे—ऋकारे परे पूर्वपरयोः-अकारऋकारयोः स्थाने गुणे प्राप्ते-गुणसंज्ञकाश्च 'अदेङ्गुणः'

प्रतिज्ञा—पाणिनिके कहे हुए वर्णोंका अनुनासिक होना उनकी प्रतिज्ञा (सूत्रनिर्देश) से जानना चाहिये।

नोटः—('सु' का उकार और 'सुप्' का पकार अनुनासिक है, इसका निश्चय 'प्रत्ययः परश्च' 'बहुषु बहुवचनम्,' इत्यादि स्थलों में प्रथमैकवचनान्त और सप्तम्येकवचनान्त पद-निर्देश से होता है।

लण्सूत्रस्थ—'लण्' सूत्रस्थ जो अवर्ण, तत्सहित उच्चार्यमाण जो रेफ वह र-ल का संज्ञाबोधक हो।

नोटः—इकारादिष्वकार उच्चारणार्थः, लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः, ऐसा कहा जा चुका है। अतः हयवरट् सूत्रके 'र्' तथा 'लण्' सूत्रके लकारोत्तर 'अ' को लेकर र् + अ = 'र' प्रत्याहार बनता है। यह भी अणादि प्रत्याहारके समान ही अपने मध्य वर्ण लकारका तथा अपना भी बोधक है। इसीलिये आगेके सूत्रमें रपरसे लपर भी लिया जायगा।

उरण—(तीस प्रकारके संज्ञाप्रकरणोक्त) ऋ ऌ के स्थानमें आदिश्यमान जो अण् (अइउ) वह यथासंख्य रपर और लपर होकर ही प्रवृत्त हो।

तवल्कारः ॥ लोपः शाकल्यस्य ।८।३।१९। अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे ॥ पूर्वत्रासिद्धम् ।८।२।१। अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् । हर इह । विष्ण इह ।

इति सूत्रेण अ ए ओ इति । एषां त्रयाणां मध्ये कः कर्तव्यः ? एकारस्य तु कण्ठतालुस्थानमोकारस्य कण्ठ-ओष्ठस्थानं एतौ ए ओ इति न भवतः आन्तरतम्याभावात् । किन्तु परिशेषात् अ एव भवति । स च 'उरण् रपरः' इति सूत्रेण रपरः (रेफशिरस्कः) सन् भवति । तेन कृष्णर्द्धिः इति रूपम् ॥ तवल्कार इति । 'तव-लृकारः' इति स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण वकारोत्तरवर्ती अकारः, तस्य लृकारस्य च उभयोः स्थाने अल्गुणे 'उरण् रपरः' इति सूत्रेण लपरे च कृते तवल्कार इति रूपम्भवति ॥ लोपः शाकल्यस्येति । 'भो भगो' इत्यतः अपूर्वस्येति अशीति चानुवर्तते । 'व्योर्लघुप्रयत्न' इत्यतः व्योरित्यनुवर्तते अत आह-अवर्णेति । पूर्वत्रासिद्धमिति । पाणिनिप्रणीता अष्टाध्यायी तत्र अष्टमाध्याये द्वितीयपादस्येदमादिमं सूत्रम् । इतः प्राक्तन कृत्स्नं सूत्रजातं सपादसप्ताध्यायीति व्यवह्रियते । उपरितनन्तु कृत्स्नं सूत्रजातं त्रिपादीति व्यवह्रियते इति भावः । हर इह इति ॥ हरे इह इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अयादेशे कृते 'हरय् इह' इति दशायाम् 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन अवर्णपूर्वकपदान्ते वर्तमानस्य 'य्' इत्यस्य विकल्पेन लोपः अशि 'इ' इति परे । तेन हर इह इति जाते । अत्र शङ्कते—लोपानन्तरम् 'हर इह' इत्यत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणः कथं न भवति ? उत्तरम्-'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन सूत्रेण सपादसप्ताध्यायीस्थ 'आद्गुणः' इति सूत्रदृष्ट्या त्रैपादिको 'लोपः शाकल्यस्य' इति लोपोऽसिद्धः । तत्र यलोपे जातेऽपि यलोपोऽस्तीति भावनया 'आद्गुणः' इति सूत्रार्थो न घटते इति भावः । लोपाभावपक्षे-'हरयिह' इति । एवमेव 'विष्णो इह,'

लोप—अवर्णपूर्वक पदान्त यकार वकार का लोप हो, विकल्पसे, अश्के परे ।

नोट—अकारभिन्न स्वर वर्ण परे रहनेपर पदके अन्तमें विद्यमान 'एच्'के स्थानमें और सामान्यतया स्वर वर्ण परे रहनेपर 'एच्'के स्थानमें क्रमसे अय्, अव्, आय्, आव्, होने पर यकार-वकार का विकल्पसे लोप होता है और लोप होनेपर पुनः स्वरसन्धि नहीं होती ।

पूर्वत्रा—सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्र (शास्त्र) के प्रति त्रिपादीस्थ सूत्र असिद्ध हो और त्रिपादीमें भी पूर्वके प्रति पर सूत्र असिद्ध हो ।

नोट—प्रथमसे अष्टम अध्यायके प्रथम पाद तक सपादसप्ताध्यायी और अष्टम अध्यायके द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पादमात्र त्रिपादी है ।

इत्यपि । विष्णविह ॥ **वृद्धिरादैच्** ।१।१।१। आदैच् वृद्धिसंज्ञः स्यात् । **वृद्धि-रेचि** ।६।१।८८। आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ॥ **एत्येधत्यूठ्सु** ।६।१।८९। अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्यो-

---

विष्णविह' इत्यत्रापि बोध्यम् । वृद्धिरादैच् । आच्च ऐच्चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वः । 'सुपां सुलुक्' इति औङः सुलुग्वा । यद्वा समाहारद्वन्द्वः । वृद्धिरेचि । 'आद्गुणः' इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । तदाह—आदेचीत्यादिना । गुणापवाद इति । 'आद्गुणः' इति प्राप्तावेतदारम्भादिति भावः । कृष्णैकत्वमिति । 'कृष्ण-एकत्वम्' इति स्थिते अत्र 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन अवर्णात्-कृष्ण-घटकणकारोत्तरवर्ति-अवर्णात्, एचि—एच्प्रत्याहारघटक-एकारे—'एकत्वम्' इति रूपस्थाद्यैकारे परे पूर्वपरयोः-'अ-ए', इत्यत्र वृद्धिसंज्ञकः-'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रेण वृद्धिसंज्ञकेषु 'आ ऐ औ' इत्येतेषु 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यनेन कण्ठस्थानिकाकारस्य कण्ठतालुस्थानीयैकारस्य च स्थाने कण्ठतालुसंज्ञकः आन्तरतम्य ऐ आदेशो जातः, तेन कृष्णैकत्वमिति सिद्धम् । अनेनैव प्रकारेण गङ्गौघः, देवैश्वर्यम्, कृष्णौत्कण्ठ्यम् इति बोध्यम् । सङ्क्षेपस्तु गङ्गा-ओघः इति स्थिते अत्र 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रेण पूर्व-परयोः आकारस्य ओकारस्य च स्थाने वृद्धिसंज्ञकः आन्तरतम्यः औ आदेशः । तेन गङ्गौघः इति जायते । 'देव-ऐश्वर्यम्' इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने ऐ आदेशे 'देवैश्वर्यम्' इति । कृष्ण-औत्कण्ठ्यम् इति स्थिते अत्र पूर्वपरयोः स्थाने औ आदेशे 'कृष्णौत्कण्ठ्य-म्' इति सिद्ध्यभवति ॥ एत्येधत्यूठ्सु । एतिश्च एधतिश्च ऊठ् चेति विग्रहः । एतीति एधतीति च 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति श्तिपा निर्देशः । इण् गताविति, एध वृद्धाविति च धातू विवक्षितौ । एचीत्यनुवर्तते । 'यस्मिन्विधिः' इति तदादिग्रहणम् । एजादाविति लभ्यते । तच्च एत्येधत्योरेव विशेषणम् । न तु ऊठः असंभवात् । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । 'आद्गुणः' इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह-

---

वृद्धिरादैच्—आत् (आ), ऐच् (ऐ औ) की वृद्धिसंज्ञा हो ।

वृद्धिरेचि—अवर्णसे परे 'एच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो ।

गुणापवादः—यह सूत्र गुणका अपवादक है ।

नोटः—जहां २ वृद्धि की प्राप्ति होती है वहाँ २ 'आद्गुणः' की भी प्राप्ति होती है ऐसी स्थिति में यदि गुण हो जाय तो वृद्धिविधान व्यर्थ हो जायगा । गुणविधान 'उपेन्द्रः' में चरितार्थ है, इसलिये गुणका अपवाद 'वृद्धिरेचि' सूत्र हुआ । 'निरवकाशो विधि-रपवादः' ।

एत्ये—अवर्णसे एजादि इण् धातु (एति), एध धातु (एधति) और ऊठ् परे हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो ।

ऊठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् । उपेतः । मा भवान्प्रेदिधत् । (स्वादीरेरिणोः) स्वैरम् । स्वैरी । स्वैरिणी । (अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्) । अक्षौहिणी सेना । (प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु) प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । (ऋते च तृतीयासमासे) ।

अवर्णादित्यादिना । उपैतीति । उप-एति इति स्थिते अत्र 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन अवर्णादेजादि इण् धातु-एध धातु-ऊठ्सु परेषु पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपैकादेशो भवतीत्यर्थकेन, अवर्णात्-उप इत्यत्र पकारोत्तरवर्ति-अवर्णात्, एजादि इण् धातु—एति इति, तत्र परे पूर्वपरयोः-'अ-ए' इत्यत्र वृद्धिसंज्ञक आन्तरतम्य ऐ आदेशो जातः, तेन उपैति इति भवति । अत्र 'एङि पररूपम्' इत्यनेन पररूपस्य प्राप्तिरासीत्, परं तत्सूत्रमपवादत्वात् 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन बाध्यते । एवम्-'उप एधते' इति स्थितौ 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन वृद्धौ सत्याम् 'उपैधते' इति रूपम् । 'प्रष्ठ-ऊहः' इति स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन तं प्रबाध्य वृद्धौ सत्यां रूपम् । 'उप-इतः, मा भवान् प्र इदिधत्' इत्यत्र एजादिपरत्वाभावान्न वृद्धिः, किन्तु 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे रूपम्-'उपेतः' इति, 'प्रेदिधत्' इति च । अक्षौहिणीति अत्र अक्ष-ऊहिनीति दशायाम् 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्' 'अक्षशब्दादूहिनीशब्दे परे वृद्धिः स्यात्' इत्यर्थकवार्तिकेन वृद्धौ-'अक्षौहिणी' इति । प्रादूहोढेति । प्रशब्दात् ऊह-ऊढ-ऊढि-एष-एष्यशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपैकादेशो भवति । तथाहि-प्र-ऊहः, प्र-ऊढः, प्र-ऊढिः, इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने आन्तरतमो वृद्धिसंज्ञक औकारो जातस्तेन प्रौहः, प्रौढः, प्रौढिः, इति । प्र-एषः, प्र-एष्यः, इत्यत्र वृद्धिसंज्ञक आन्तरतम्य ऐ आदेशः । तेन प्रैषः, प्रैष्यः इति रूपम् । अत्र पूर्वोक्तरूपत्रये 'आद्गुणः' इत्यस्य; प्र-एषः, प्र-एष्यः, इत्यत्र च 'एङि पररूपम्' इत्यस्य प्राप्तिरासीत्, तस्य बाधनाय 'प्रादूहोढ' इति वार्तिकमिति भावः । ऋते चेति । तृतीयासमासघटकावर्णात् ऋतशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने

पररूप—यह सूत्र 'एङि पररूपम्' और 'आद्गुणः' का अपवादक है ।

स्वादी—स्वशब्दावयव अवर्णसे पर ईर और ईरिन् शब्दावयव अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो ।

अक्षा—अक्षशब्दावयव अवर्णसे पर ऊहिनीशब्दावयव 'अच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो । (यह सूत्र गुणका अपवादक है)

प्रादू—प्रशब्दावयव अवर्णसे पर ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, एष्य शब्दावयव अच् परमें हो तो पूर्व परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो । (यह सूत्र गुण और पररूपका बाधक है)

ऋते च—अवर्णसे ऋतशब्दावयव अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो—तृतीया समासमें । (यह गुणका बाधक है)

सुखेन ऋतः सुखार्तः। तृतीयेति किम्। परमर्तः। (प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे)। प्रार्णमित्यादि॥ **उपसर्गाः क्रियायोगे** ।१।४।५९। प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः। प्र। परा। अप। सम्। अनु। अव। निस्। निर्। दुस्। दुर्। वि। आङ्। नि। अधि। अपि। अति। सु। उत्। अभि। प्रति। परि। उप एते प्रादयः॥ **भूवादयो धातवः** ।१।३।१। क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः॥ **उपसर्गादृति धातौ** ।६।१।९१। अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति॥ **वा सुप्यापिशलेः** ।६।१।९२। आदुपसर्गा-

---

वृद्धिरित्यर्थः। 'सुख-ऋतः' इति स्थिते अवर्णाद्-सुख इत्यत्र खकारोत्तरवर्ति-अवर्णाद् ऋतशब्दे परे पूर्वपरयोः 'अ ऋ' इत्यत्र वृद्धिसंज्ञके आकारे 'उरण् रपरः' इत्यनेन रपरे सति प्रवृत्ते 'सुखार्तः' इति सिद्धम्। परमर्त इति। 'परम ऋतः' इति स्थितेऽत्र तृतीयासमासाभावात् न वृद्धिः किन्तु 'आद्गुण' इति गुणे रपरे च रूपम्। प्रवत्सतरेति। प्र-वत्सतर-कम्बल-वसन-ऋण-दश शब्दषटकाकाराद् ऋणशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपैकादेशो भवतीत्यर्थः। प्र-ऋणं, वत्सतर-ऋणं, कम्बल-ऋणं, वसन-ऋणञ्च, ऋण-ऋणं, दश-ऋणमिति स्थिते पूर्वपरयोः स्थाने आकाररूपवृद्धौ रपरे च प्रार्णञ्च, वत्सतरार्णम्, कम्बलार्णम्, वसनार्णम्, ऋणार्णम्, दशार्णम् इति भवन्तीत्यर्थः। उपसर्गाः इति। क्रियया अन्वये सतीत्यर्थः। भूवादय इति। भूश्च वाश्च भूवौ। आदिश्च आदिश्च आदी। भूवौ आदी येषान्त इति विग्रहः। भूप्रभृतयो वासदृशा ये, ते धातवः इत्यर्थः। उपसर्गादृति धातौ। 'आद्गुणः' इत्यतः पञ्चम्यन्तस्याऽऽतोऽनुवर्तमानस्य च विशेषणत्वेन तदन्तविधौ अकारान्ताद् इत्युपलब्धिः। ऋतीति तु यस्मिन्विधिरिति धातोर्विशेषणं तेन च 'ऋकारात्' इत्युपस्थितिः। 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति अनुवृत्तिः। 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारस्याऽधिकृतत्वादेकादेश इत्यस्य लाभः। तेन अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेश इति फलितोऽर्थः। प्रार्च्छतीति। 'प्र ऋच्छति' इति स्थितेऽत्र ऋच्छतीत्यस्य क्रियावाचकत्वाद् 'भूवादयो धातवः' इत्यनेन धातुसंज्ञायाम्

प्रवत्सत—प्रशब्दावयव, वत्सतरशब्दावयव, कम्बलशब्दावयव, वसनशब्दावयव, ऋणशब्दावयव, दशशब्दावयव—अवर्णसे परे ऋणशब्दावयव अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो। (यह गुणका बाधक है)

उपसर्गाः—क्रियाके योगमें प्रादिकी उपसर्गसंज्ञा हो। (प्रादि २२ हैं)

भूवादयो—क्रियावाचक भू आदिकी धातुसंज्ञा हो।

उपसर्गा—अवर्णान्त उपसर्गसे ऋकारादि धात्ववयव अच् पर में हो तो पूर्व-परके स्थान में वृद्धिरूप एकादेश हो।

वा सुप्या—अवर्णान्त उपसर्गसे ऋकारादि सुब्धातु (नामधातु) पर में हो तो वृद्धिरूप एकादेश हो—विकल्पसे।

ऋकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् ॥ **अचो रहाभ्यां द्वे** ।८।४।४६। अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । इति प्राप्ते ॥ **शरोऽचि** ।८।४।४९। द्वे न । प्रार्षभीयति । प्रर्षभीयति ॥ **एङि पररूपम्** ।६।१।९४। आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः । प्रेजते । उपोषति ॥ **अचोऽन्त्यादि टि** ।१।१।६४। अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् ।

'प्र' इत्यस्य क्रियायोगात् 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इत्यनेन उपसर्गसंज्ञायाम् 'उपसर्गादृति धातौ' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने आद्रूपवृद्धौ रपरे च प्रार्च्छतीति सिद्ध्यति । वा सुपीति । 'उपसर्गादृति धाता' विति पूर्वसूत्रं सर्वमनुवर्तते । 'आद्गुणः' इत्यत आदिति 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति चानुवर्तते । आदित्यस्योपसर्गस्य विशेषणत्वेन तदन्तविधिः । प्रत्ययग्रहणेन तदन्तानां ग्रहणात् सुपीत्यनेन सुबन्तप्रकृतिको धातुरिति विज्ञायते । अचो रहाभ्यामिति । 'यरोऽनुनासिके' इत्यतो यर इत्यनुवर्तते । अच इति दिग्योगे पञ्चमी । अन्यत्सर्वं स्पष्टमेव । शरोऽचि । अचि परे शरो न द्वित्वमित्यर्थः । प्रार्षभीयति । ऋषभमात्मन इच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि 'क्यचि च' इति सूत्रेण ईत्वे कृते तिपि शपि पररूपे 'ऋषभीयति' इति रूपम् । ततश्च 'प्र+ऋषभीयति' इत्यवस्थायां पूर्वसूत्रेण वृद्धौ प्राप्तायां 'वा सुप्या' इत्यादिना वैकल्पिकवृद्धौ 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'प्रार्षभीयति' इत्यस्य सिद्धिः । वृद्ध्यभावे गुणे रपरत्वे 'प्रर्षभीयति' इत्यपि साधु । अत्राचः परो रकारः तत्परो यर् षकारस्तस्य द्वित्वे प्राप्ते 'शरोऽचि' इति निषेधान्न भवतीति समाधानम् । एङि पररूपम् । 'उपसर्गात्' इति 'धातौ' इति चानुवर्तते । आदित्यस्य, उपसर्गादित्यनेन विशेषणत्वात्तदन्तविधिः । यस्मिन्विधिरिति परिभाषया एङादावित्यर्थः । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारादेकादेशलाभः । एवं चावर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पूर्वपरयोः पररूपैकादेश इति निर्गतोऽर्थः । प्रेजत इति । 'प्र+एजते' इति स्थिते अत्र 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ प्राप्तायां तां प्रबाध्य 'एङि पररूपम्' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने पररूपैकादेशे 'ए' इत्याकारे कृते 'प्रेजते' इति रूपम् । एवम् 'उप+ओषति' इत्यत्रापि पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे सति 'उपोषति' इति रूपं सिद्धं भवति । अचोऽन्त्यादीति । अच इति निर्धारणे षष्ठी । अन्ते भव अन्त्यः ।

अचो रहा—अच्से पर जो रेफ-हकार उससे पर जो यर् उसको द्वित्व हो—विकल्पसे।

शरोऽचि—अच्के परे शर्को द्वित्व नहीं हो।

एङि—अवर्णान्त उपसर्गसे एङादि धातुका अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें पररूप एकादेश हो।

नोट—पररूप होनेपर पूर्व वर्णका पर वर्णके समान रूप हो, याने पूर्व वर्ण (अ) का दर्शनमात्र हो जाय।

अचो—अचोंके मध्यमें जो अन्त्य अच् वह है आदिमें जिसके उस समुदायकी टिसंज्ञा हो।

(शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्) तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। सीमन्तः केशवेशे। सीमान्तोऽन्यः। मनीषा। हलीषा। लाङ्गलीषा। पतञ्जलिः। सारङ्गः पशुपक्षिणोः। साराङ्गोऽन्यः। आकृतिगणोऽयम्। (एवे चानियोगे)। क्वेव

अन्धय आदिर्यस्य तदन्ध्वादीति विग्रहः। 'शकन्ध्वादिष्वि'ति। शकन्ध्वादिषु सिद्ध्ये तत्सिद्ध्यर्थं पूर्वपरयोः पररूपमित्यर्थः। तच्च टेः। तत्पररूपं टेर्भवतीत्यर्थः। शकन्धुरिति। 'शक-अन्धुः' इति स्थिते अत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते तं बाधित्वा 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे प्राप्ते तच्च पररूपं टेः—टिसंज्ञकस्य भवति। टिसंज्ञा च 'अचोऽन्त्यादि टि' इत्यनेन ककारोत्तरवर्त्ति—अकारस्य भवति। एवञ्च 'शक-अन्धुः' इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे सति 'शकन्धुः' इति भवतीति भावः। एवमेव 'कर्क-अन्धुः' इत्यत्र 'अचोऽन्त्यादि टि' इत्यनेन टिसंज्ञायाम् 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे 'कर्कन्धुः' इति भवति। 'मनस्-ईषा' इति स्थितेऽत्र 'अचोऽन्त्यादि टि' इत्यनेन सूत्रेण 'अस्' इत्यस्य टिसंज्ञायाम् पररूपे च 'मनीषा' इति सिद्ध्यति। 'मार्त-अण्डः' इति स्थिते प्रकृतवार्तिकेन पररूपे 'मार्तण्डः' इति जायते। कुलटेति। कुलानाम् अटेति विग्रहः। 'कुल+अटा' इति स्थिते 'शकन्ध्वादिषु' पाठात्पररूपे कुलटेति सिद्धिः। कुलानि अटतीति तु न विग्रहः। तथा सति कर्मणि अण् भवेत्तेन च 'टिड्ढाणञ्' ङीपापत्तिः। सीमन्त इति। केशवेशार्थे गम्ये 'सीमन्+अन्त' अत्रानः पररूपं भवतीत्यर्थः। अन्यथा तु सीमान्त इति। हलीषा। हलस्येषेति विग्रहः। लाङ्गलीषा। लाङ्गलस्येषेति विग्रहे पररूपम्। पतञ्जलिः। पतत्+अञ्जलिः इत्यवस्थायां पररूपे रूपसिद्धिः। सारङ्ग इति। 'सार—अङ्ग' इत्यवस्थायां पशुपक्ष्यर्थे गम्ये पररूपं भवतीति वार्तिकार्थः। एवे चेति। नियोगोऽवधारणम्। अवधारणत्वं चाऽन्ययोगव्यवस्थितित्वम्। क्वेवेति। अत्रेति न निश्चिनुमः। 'क+एव' इति स्थिते भाषायां वार्तिक-

---

नोटः—'शक+अन्धुः' यहाँ पर 'शक' में जो ककारोत्तरवर्ती अकार है वह किसी के आदिमें नहीं है। इसलिये व्यपदेशिवद्भावसे यहाँ 'अ'की टिसंज्ञा होगी। परन्तु 'मनस्+ईषा' यहाँ पर मनस् में जो नकारोत्तरवर्ती 'अ' है, वह 'स्'के आदिमें है। अतः यहाँ 'अस्' की टिसंज्ञा होगी।

शकन्ध्वादिषु—शकन्ध्वादि गणपठित शब्दोंकी सिद्धिके लिए पूर्व-परके स्थानमें पररूप एकादेश हो और वह पररूप टिको हो—ऐसा कहना चाहिये।

सीमन्तः—केशका सन्निवेशविशेष वाच्य हो तो 'सीमन्तः' यह पररूपघटित निपातन हो।

सारङ्गः—पशु-पक्षी वाच्य हो तो 'सारङ्गः' यह पररूपघटित निपातन हो।

एवे—अवर्णसे पर 'एव' शब्द रहे तो पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो, अनिश्चय अर्थमें।

मोदयसे । अनियोगे किम् । तवैव । (ओत्वोष्ठयोः समासे वा) । स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समासे किम् । तवौष्ठः ॥ ओमाङोश्च ।६।१। ९५। ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायोंनमः । शिव आ इहि इति स्थिते । शिव एहि । शिवेहि ॥ अकः सवर्णे दीर्घः ।६।१।१०१। अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । (ऋति

वृद्धि बाधित्वा पररूपम् । 'ओत्वोष्ठयोरिति' । 'ओत्वोष्ठयोः' शब्दयोः परतः समस्त एव पररूपं भवति । तच्च वैकल्पिकमेव । स्थूलोतुरिति । स्थूलश्चासौ ओतुश्चेति विग्रहः । वृद्धिं बाधित्वा परत्वाद्विशेषविहितत्वाच्च वैभाषिके पररूपे कृते रूपसिद्धिः । तदभावे वृद्धौ कृतायां स्थूलौतुरिति सिध्यति । बिम्बोष्ठः । बिम्बमिव ओष्ठौ यस्येति विग्रहे 'बिम्ब+ओष्ठ' इति स्थितौ वृद्धिं प्रबाध्य 'ओत्वोष्ठयो'-रित्यनेन पररूपे सति स्पष्टं रूपसिद्धिः । तस्य वैकल्पिकत्वेन पररूपाभावे वृद्धौ सत्यां बिम्बौष्ठ इत्यपि ससिध्यति । शिवायों नमः इति । 'शिवाय-ओं नमः' अत्र 'ओमाङोश्च' इत्यनेन अवर्णात् ओमि परे पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे 'शिवायों नमः' इति भवति । शिवेहीति । 'शिव-आ-इहि'—इति स्थिते अत्र 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति परिभाषया पूर्वम् 'आ-इहि' इत्यत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे एहीति जाते तत्र 'अन्तादिवच्च' इत्यनेन सूत्रेण अन्तवद्भावमादाय 'ओमाङोश्च' इत्यनेन पररूपे कृते सति 'शिवेहि' इति रूपसिद्धिर्बोध्या । 'अकः सवर्णे' इति । अक इति पञ्चमी । 'इको यणचि' इत्यतोऽचीत्यनुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयो'-रित्यधिकारः । सावर्ण्यं च स्थानतः प्रयत्नतश्च । 'अकोऽकि दीर्घः' इत्येव सुवचम् । दैत्यारिरिति । दैत्यानामसुराणाम्, अरिः— शत्रुरिति विग्रहः । सिद्धिप्रकारस्तु-'दैत्य-अरि' इति स्थिते अत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन सूत्रेण सवर्णेऽचि-अकारे परे पूर्वपरयोः स्थाने सवर्णदीर्घादेशे कृते सति 'दैत्यारि' इति भवति । 'श्री-ईशः' अत्रापि 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन पूर्वपरयोः —'ई-ई' इति स्थाने सवर्णदीर्घादेशे 'श्रीशः' इति भवति । एवमेव 'विष्णु-उदयः' इति स्थिते प्रकृतसूत्रेण सवर्णदीर्घादेशे 'विष्णूदयः' इति रूपम् । ऋति सवर्ण इति । 'अकः' इत्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयो

ओत्वो—अवर्णसे पर 'ओतु' या 'ओष्ठ' शब्दावयव 'अच्' परमें हो तो पूर्व परके स्थानमें विकल्पसे पररूप एक आदेश हो— समासमें ।

ओमा—अवर्णसे पर ओम् या 'आङ्' हो तो पूर्व परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो ।

अकः—'अक्'से पर सवर्ण 'अच्' रहे तो पूर्व परके स्थानमें सवर्ण दीर्घ एक आदेश हो ।

ऋति—'ऋत' से पर सवर्ण 'ऋत्' रहे तो पूर्वपरके स्थानमें (अजमालिमात् विकल्प ह्रस्व) ऋ आदेश हो—विकल्पसे ।

सवर्णे ऋ वा) । होतृकारः । होत्ृकारः ॥ **एङः पदान्तादति** ।६।१।१०९। पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात । हरेऽव । विष्णोऽव ॥ **सर्वत्र विभाषा गोः** ।६।१।१२२। लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम् । गोः ॥ **अनेकाल् शित्**

रिति च । अकः सवर्णे ऋति परे पूर्वपरयोः ऋ इत्येकादेशः स्यादित्यर्थः । होतृकारः । होतृ + ऋकार इति स्थितिः । सवर्णदीर्घं बाधित्वा वार्तिकबलात् पूर्वपरयोः 'ऋ' इत्यादेशे प्रोक्तं रूपं भवति । अयं च पररूपादेशः पाक्षिकः । तेन तदभावे सवर्णदीर्घे कृते 'होतॄकारः' इति सिद्धमेव । एङः पदान्तादतीति । 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इत्यनुवर्तते । एङः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । पदान्तादेङोऽतिपरे पररूपमित्यर्थः । तच्च पूर्वपरयोरित्येवेति भावः । हरेऽवेति । 'हरे–अव' इति स्थिते अत्र 'एङः पदान्तादति' को वात्र पदान्ते एङ् ? रेफान्तःपात्येकारः पदान्ते एङ्, ततः परः को वा अत् ? अवेत्यस्याकारः, अत्र पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपादेशः प्राप्तः । को वा पूर्वः ? एकारः, तस्मिन् जाते सति 'हरेऽव' इति रूपम्भवति । एवमेव 'विष्णो–अव' इति स्थिते अत्र 'एङः पदान्तादति' इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे सति 'विष्णोऽव' इति रूपम् । सर्वत्र विभाषेति । पदान्तादित्यनुवर्तते । 'प्रकृत्यान्तः पाद'मित्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते । प्रकृत्या स्वभावेन निर्विकारस्वरूपेणाऽवतिष्ठत इत्यर्थः । 'यजुष्युरः' इत्यतो यजुषीति निवृत्तं तत्सूचनाय सर्वत्रेत्युपात्तम् । तेन लोके वेदे चेत्यस्य लाभः फलितः । स च प्रकृतिभावः पदान्तविषयकः । गो अग्रमिति । 'गो–अग्रम्' इति स्थिते अत्र 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तस्य गोशब्दस्य अति परे विकल्पेन प्रकृतिभावे सति 'गोअग्रम्' इति रूपम् । विभाषाग्रहणात्पक्षे 'एङः पदान्तादति' इत्यनेन पूर्वरूपैकादेशे कृते 'गोऽग्रम्' इति रूपम् । चित्रग्वग्रमिति । 'चित्रगु–अग्रम्' इति दशायां तत्र एङन्तत्वाभावात् न पूर्वरूपम् । नापि प्रकृतिभावः, किन्तु 'इको यणचि' इत्यनेन यणि रूपम् । पदान्ते किमिति । गोशब्दात् ङसि प्रत्यये कृते ङकारेकारयोर्लोपे 'गो–अस्' इति दशायां पदान्तत्वाभावात् न प्रकृतिभाव इति भावः । सूत्रे पदान्तत्वानाश्रयणे तु प्रकृते प्रकृतिभाव आपद्येतेति भावः । प्रकृते 'गो अस्' इत्यत्र 'ङसिङसोश्च' इत्यनेन पूर्वरूपादेशे सति 'गोः' इति रूपम् । अनेकाल्शिति । न एकः, अनेकः,श इद्यस्य स शित् । अनेकाल्शिति शिदिति च भिन्नपदा-

---

एङः—पदान्त 'एङ्'से पर अत् रहे तो पूर्वरूप एक आदेश हो ।

सर्वत्र—लोक या वेदमें (सर्वत्र) 'गो' शब्दको 'अत्' के परे विकल्पसे प्रकृतिभाव हो ।

अनेकाल्—अनेकाल् आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानीके स्थानमें हो ।

र्वस्य ।१।१।५५। इति प्राप्ते ॥ ङिच्च ।१।१।५३। ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् ॥ अवङ् स्फोटायनस्य ।६।१।१२३। पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । पदान्ते किम् । गवि ॥ इन्द्रे च ।६।१।१२४। गोरवङिन्द्रे । गवेन्द्रः । व्यवस्थितविभाषया । गवाक्षः ॥ दूराद्धूते च ।८।२।८४। दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा ॥

ङीकारो न तु समाहारद्वन्द्वाश्रयणम् । भिन्नपदेनैव निर्वाहे सिद्धे तस्य समाहारद्वन्द्वाश्रयणे गौरवात् । 'ङिच्च' । ङकार इत् यस्य स ङित् । अलोऽन्त्यस्येत्यनुवर्तते । अयं ङिदपि अन्त्यस्यैवादेश इति भावः । न च अलोऽन्त्यस्येत्यनेनैव सिद्धेरिदं सूत्रं व्यर्थमिति शङ्क्यम्, अवङ् तातङादीनामनेकाल्त्वेन 'अनेकाल्शित्' इति सर्वादेशबाधनार्थं तस्य आवश्यकत्वात् । 'अवङ्स्फोटायनस्य' । अत्र पदान्तादिति गोरिति अचीति चानुवर्तते स्फोटायनमहर्षेर्मतेऽवङादेश इत्यर्थः । अन्यमते तु न । तेनाऽस्यावङ् पाक्षिकत्वं सिद्धम् । अतिपदन्तु नानुपद्यते, व्याख्यानात् । स्फोटायनमतेन पदान्ते गो परतोऽचि सति भवत्यवङादेश इति भावः । 'गवाग्रमिति' । 'गो–अग्रम्' इति दशायाम् 'अवङ्स्फोटायनस्य' इति पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तस्य 'गो' इत्यस्य अवङादेशः प्राप्तः अचि–अग्रमेतद्घटकाकारे परे । स अवङादेशः कुत्र स्यात् ? अवङि अनेकाल्त्वात् 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' इत्यनेन सर्वादेशे प्राप्ते 'ङिच्च' इत्यनेन ङिदादेशस्याऽनेकाल्त्वेऽपि अन्त्यादेश इति गोशब्दस्य गकारोत्तरवर्ति–ओकारस्य अनुबन्धलोपपूर्वके अवङादेशे 'गव-अग्रम्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे 'गवाग्रम्' इत्यपि रूपम्भवति । अत्रायं विचारः—'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन प्रकृतिभावो विकल्पेन भवति । तदभावे अवङादेशो विकल्पेन । तदभावे च पूर्वरूपमिति गो अग्रम्, गवाग्रम्, गोऽग्रम् इति रूपत्रयम् । व्यवस्थितविभाषयेति । क्वचित्प्रवर्तते । क्वचित्तु न प्रवर्तते एव । क्वचिदुभयमेव लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थायां प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा कथ्यते । सा च 'गवाक्ष' इत्यत्र आश्रीयते । तेन गोः परतः अक्षपदे सति नित्यमवङ् भवति, भवति च गवाक्षरूपसिद्धिः । इन्द्रे च । गोशब्दादिन्द्रशब्दे परतो नित्यमवङ्, इति तदर्थः । गवेन्द्र इति । 'गो—इन्द्र' इति स्थितेऽत्र 'इन्द्रे च' इत्यनेन गोशब्दस्य गकारोत्तरवर्त्योकारस्य अवङादेशे गुणे च सति रूपम् । 'दूराद्धूते च' । यत्र प्रदेशे स्थितस्य प्रयत्नोच्चारित शब्दः बोध्यमानो न

• ङिच्च—ङित् आदेश यदि अनेकाल् भी हो तो अन्त्यके स्थानमें ही हो ।
अवङ्—पदान्तमें एङन्त गोशब्दको अच् के परे विकल्पसे अवङ् आदेश हो ।
इन्द्रे—गो शब्दको अवङ् आदेश हो इन्द्र शब्दके परे ।
दूरात्—दूरसे सम्बोधनविषयक जो वाक्य, तद्वाक्यावयव जो 'टि' वह विकल्पसे प्लुतसंज्ञक हो ।

अथ प्रकृतिभावः । **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** ।६।१।१२५। एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति ॥ **ह्रस्वं लघु** ।१।४।१०। **संयोगे गुरु** ।१।४।११। संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात् ॥ **दीर्घं च** । १ । ४ । १२ । गुरु स्यात् ॥ **गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्** ।८।२।८६। प्लुतो वा । दे३वदत्त ३ । गुरोः किम् । वकारादकारस्य मा भूत् । अनृतः किम् । कृष्ण ३ । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् ॥ **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** १ । १ । ११ । ईदूदेदन्तं

गृह्णाति (शृणोति) किन्तु, अधिकं प्रयत्नमपेक्षते तद्दूरम् । हूतमाह्वानं भावे क्तः तच्च सम्बोधनं तदेवेह विवक्षितम् । सम्बोधनत्वं च, अन्यत्र विषये लग्नचित्तस्य स्वप्रतिपाद्ये विषये चित्तवृत्तेराकर्षणम् । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, इति अधिकृतम्' अत एवाह—वाक्यस्य टेरिति ।

प्लुतप्रगृह्याः । 'प्रकृत्यान्तः पादम्' इत्यतः प्रकृत्येत्यनुवृत्तेरिति भावः । कृष्ण ३ अत्रेति । 'दूराद्धूते च' इति णकारादकारः प्लुतः । तस्य अकारे न सवर्णदीर्घः । ह्रस्वं लघु । ह्रस्वं लघुसंज्ञं स्यात् । संयोगे गुरु । ह्रस्वमित्यनुवर्तते । तदाह—संयोगे पर इत्यादिना । दीर्घं च । संयोग इति नानुवर्तते । दीर्घमपि गुरुसंज्ञकमित्यर्थः । आगच्छ कृष्ण इति । 'आगच्छ कृष्ण३अत्र गौश्चरति' इति वाक्ये'कृष्ण३-अत्र' इत्यत्र 'दूराद्धूते च' इत्यनेन सूत्रेण टिसंज्ञकस्य णकारोत्तरवर्त्यकारस्य प्लुतत्वं विधाय 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति' इति सिद्ध्यति । गुरोरनृतोऽनन्त्यस्येति । 'दूराद्धूते च'इत्यनुवर्तते । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यधिकृतम् । दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानं यत् पदं तदवयवस्य ऋकारभिन्नस्य अनन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात् । अन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्च स्यादित्यर्थः, टेः अपिना समुच्चयात् । पर्यायार्थमिति । अन्यथा सर्वेषां गुरूणां युगपत् प्लुतः स्यादिति भावः । ईदूदेद्द्विवचनम् । ईच्च ऊच्च एच्चेति समाहारद्वन्द्वः । ईदूदेदिति द्विवचनविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । द्विवचनमित्यनेन तु प्रत्ययत्वेऽपि न तदन्तं गृह्यते संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्तीति तन्निषेधात् । तदाह—ईदूदेदन्तमित्यादिना । हरी एता-

---

प्लुत—प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्यसंज्ञकको प्रकृतिभाव हो, अच् के परे ।

ह्रस्वं—ह्रस्व 'अच्' की लघु संज्ञा हो । संयोगे—संयोगके परे ह्रस्वकी गुरुसंज्ञा हो ।

दीर्घं—दीर्घ अच् की भी गुरु संज्ञा हो ।

गुरो—दूरसे संबोधनविषयक जो वाक्य, तद्वाक्यावयव जो सम्बोध्यमान वाचक पद, तदवयव जो ऋकारभिन्न अनन्त्य गुरु वह पर्यायसे प्लुतसंज्ञक हो—विकल्प करके तथा अन्त्य जो ऋभिन्न गुरु या अगुरु वह भी विकल्पसे प्लुतसंज्ञक हो ।

ईदू—ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचनकी प्रगृह्य संज्ञा हो ।

द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू । मणीवोष्ट्रस्येति तु इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः ॥ **अदसो मात्** ।१।१।१२। अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः । रामकृष्णावमू आसाते । मात्किम् । अमुकेऽत्र । असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत ॥ **चादयोऽसत्त्वे** ।१।४।५७। अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसंज्ञाः स्युः ॥ **प्रादयः** ।१।४।५८। एतेऽपि तथा । **वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते । द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः** ॥ लिङ्गसंख्यान्वयियोग्यं द्रव्यम् ॥ **निपात एकाजनाङ्** ।१।१।१४। एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यसंज्ञः स्यात् । इ इन्द्र । उ उमेश ॥ **ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च**

त्रिति । 'हरी-एतौ' इत्यत्र 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' इत्यनेन सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायाम् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'हरी एतौ' इति निष्पद्यते । एवमेव 'विष्णू-इमौ' 'गङ्गे-अमू' इत्यत्र क्रमेण ऊकारान्तैकारान्तद्विवचनत्वाद् 'ईदूदेद्द्विवचनम्' इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे च 'विष्णू इमौ' 'गङ्गे अमू' इति भवति । ननु 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम' इति भारतश्लोके मणी इवेति ईकारस्य प्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सवर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह— मणीवोष्ट्रस्येत्यादिना । 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः । अदसो मादिति । अदसः इत्यवयवषष्ठी, तेन अदश्शब्दावयवमकारात्परावीदूतौ प्रगृह्यसंज्ञौ स्तः । 'अमी-ईशाः' इत्यत्र अदश्शब्दावयवमकारात्परस्येकारस्य सत्त्वात्प्रगृह्यसंज्ञायाम् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'अमी ईशाः' इति रूपम् । एवमेव 'रामकृष्णावमू-आसाते' इत्यत्रापि प्रगृह्यसंज्ञां कृत्वा प्रकृतिभावो विधेयः । मात् किमिति । असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत । तेन च 'अमुकेऽत्र' अत्र प्रगृह्यसंज्ञापूर्वकप्रकृतिभाव आपद्येत इति भावः । वस्तूपलक्षणमिति । अत्रोपलक्षणशब्दार्थं लक्ष्यतावच्छेदकोच्चारणम्, न तु अविद्यमानसत् व्यावर्तकमिति । 'भू सत्तायाम्' सत्तार्थनिर्देशात्तूपलक्षणमित्यादावप्येवमेवार्थो बोध्यः । निपात एकाच । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते पुंल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते । एकश्चासावच्चेति कर्मधारयः । तदाह— एकोऽजित्यादिना । इ इन्द्र इति । 'इ इन्द्र'

अदसो—अदस् शब्द सम्बन्धी मकारसे परे ईत्-ऊत्को प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

चादयो—अद्रव्यार्थवाची ('लिङ्गसंख्यान्वयि द्रव्यम्, तद्भिन्नवाची' अर्थात् अव्ययवाची) चादि (च वा ह आदि) की निपात संज्ञा हो ।

प्रादय—अद्रव्यार्थक प्रादिकी भी निपातसंज्ञा हो ।

निपात—'आङ्' वर्जित एकाच् निपातकी प्रगृह्यसंज्ञा हो । अर्थात् आङ्रहित एक स्वरमात्र अव्ययकी सन्धि नहीं हो ।

ईष—ईषत् अर्थमें, क्रियाके योगमें, मर्यादामें और अभिविधि अर्थमें जो 'आ' उसे ङित्

यः। एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। आ एवं सर्ववेदार्थः। आ एवं यद्वचो हरेः। पूर्वं नैवं मंस्था इदानीन्त्वेवं मन्यसे इत्यर्थः। अन्यत्र ङित्। ईषदुष्णम्। ओष्णम्॥ **ओत्**।१।१।१५। ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात्। अहो ईशाः॥ **संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे**।१।१।१६। संबुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति।

इत्यत्र इकारस्य 'चादयोऽसत्त्वे' इत्यनेन निपातसंज्ञायाम् 'निपात एकाजनाङ्' इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायाम् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'इ इन्द्र' इति भवति। स एव प्रकारो 'उ-उमेशः' इत्यत्र विज्ञेयः। आ एवमिति। 'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्'॥ इति। प्रकृते 'आ एवं नु मन्यसे' इत्यस्य वाक्यार्थत्वात् 'आ एवं किल तत्' इत्यस्य स्मरणार्थकत्वाच्च अङित्वेन 'निपात एकाजनाङ्' इति आ इत्यस्य प्रगृह्यत्वे 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावे सति रूपम्। अन्यत्रेति। वाक्यस्मरणार्थकभिन्ने इत्यर्थः। तेन ईषदर्थक-'आ' इत्यस्य ङित्वात् प्रगृह्यसंज्ञाभावे प्रकृतिभावाभावेन 'आद्गुणः' इति गुणे 'आ-ईषद्, उष्णम्' ओष्णमिति जायते। ओत्। निपात इत्यनुवर्तते। ओदिति तस्य विशेषणम्। अतस्तदन्तविधिः। प्रगृह्यमित्यनुवर्तते। पुँल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते। तदाह—ओदन्त इत्यादिना। अहो ईशा इति। अत्र 'ओत्' इति सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे च सति 'अहो ईशा' इति भवति। सम्बुद्धौ शाकल्यस्य। सम्बुद्धाविति निमित्तसप्तमी ओदित्यनुवृत्तेन सन्वेति। प्रगृह्यमित्यनुवर्तते, पुँल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते। ऋषिर्वेदः, तदुक्तमृषिणेत्यादौ तथा दर्शनात्। ऋषौ भवः आर्षः, न आर्षः, अनार्षः, अवैदिके इति शब्दे परत इत्यर्थः। शाकल्यग्रहणाद्विकल्पः। तदाह—सम्बुद्धिनिमित्तक इत्यादिना। विष्णो इतीति। 'विष्णो-इति' इति स्थितावत्र 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इत्यनेन सम्बुद्धिनिमित्तकस्य ओकारस्य अवैदिके इतौ परे प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि

(आङ्घटक-आ) जानना और वाक्य तथा स्मरण अर्थमें जो 'आ' उसे अङित् (केवल आ) जानना चाहिये।

नोटः—ईषत् (अत्यल्प) अर्थमें—आ + उष्णम् = ओष्णम् (किञ्चित् गर्म)। क्रिया के योगमें—आ + इहि = एहि (यहाँ आओ)। मर्यादा (सीमा) अर्थमें—आ + अम्बुधेः = आम्बुधेः (समुद्रपर्यन्त)। अभिविधि (मर्यादाका प्रभेद = व्याप्ति) अर्थमें—आ + एकदेशात् = ऐकदेशात् (एकदेशव्यापक)।

ओत्—ओदन्त निपातकी प्रगृह्यसंज्ञा हो।

सम्बु—संबुद्धिनिमित्तक ओकारकी विकल्पसे प्रगृह्यसंज्ञा हो, अवैदिक 'इति' शब्दके परे।

विष्ण इति । विष्णविति । अनार्षे इति किम् ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् । **मय उञो वो वा ।८।३।३३।** मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि । किमु उक्तम् । किम्वुक्तम् । **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ।६।१।१२७।** पदान्ता इको ह्रस्वा प्रकृत्या च वा स्युरसवर्णेऽचि । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ता किम् ? गौर्यौ । **(न समासे)** । वाप्यश्वः ॥ **ऋत्यकः ।६।१।१२८।**

नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे च सति 'विष्णो इति' इति रूपं सिद्ध्यति । स च प्रकृतिभावो विकल्पेन भवति । तदभावे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अवादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन विकल्पेन लोपे 'विष्ण इति' इति रूपम् । वलोपाभावे च 'विष्णविति' इति रूपम् । मय उञो वो वा । मय इति पञ्चमी उञ इति षष्ठी 'इको यणचि' इत्यतः अचीत्यनुवर्तते । तदाह– मयः परस्येत्यादिना । किम्वुक्तमिति । 'किम् उ उक्तम्' इत्यवस्थायाम् 'मय उञो वो वा' इत्यनेन सूत्रेण मयः परस्य उञः–'उ' इत्यस्य 'व्' आदेशो भवति, अचि–'उक्तम्' घटकोकारे परे, तेन 'किम् व् उक्तम्' इति जाते 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' 'किम्वुक्तम्' इति निष्पन्नम् । व् आदेशो विकल्पेन भवति तदभावे च 'निपात एकाजनाङ्' इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे च 'किमु उक्तम्' इति जायते । इकोऽसवर्णे । इक इति षष्ठी । 'एङः पदान्तात्' इत्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते । तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । अचीति चानुवर्तते । ततश्च पदान्तस्येकः असवर्णेऽचि परे ह्रस्वः स्यादित्येकं वाक्यम् । चकारात् 'प्रकृत्यान्तःपादम्' इत्यतः प्रकृत्येत्यनुकृष्यते । ह्रस्व इति तत्रापि सम्बध्यते । ततश्च इको ह्रस्वः प्रकृत्या—स्वभावेन अवतिष्ठन्त इति वाक्यान्तरं सम्पद्यते । फलितमाह—पदान्ता इक इत्यादिना । चक्रि अत्रेति । 'चक्री-अत्र' इत्यत्र 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्यनेन विकल्पेन ह्रस्वे कृते 'चक्रि अत्र' इति भवति । तदभावे च 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'चक्र्यत्र' इति जायते । पदान्ता इति किमिति । पदान्ता इति पदस्याप्रयोगे यदि नाघटिष्यत् तदा 'गौरी-औ' इत्यत्रापि 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्यनेन ह्रस्वसमुचितप्रकृतिभावोऽभविष्यत्, तन्निवारणाय 'पदान्ता' इत्युक्तम् । अत्र पदान्ताभावात् न ह्रस्वत्वं, किन्तु 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यनेन विकल्पेन यद्वित्वे 'गौर्य्यौ' इति । पक्षे—द्वित्वाभावे 'गौर्यौ' इति । न समासे इति । वार्तिकमेतत् । समासे उक्तशाकल्यविधिर्न भवतीत्यर्थः । वाप्यश्व इति ।

मय—'मय' से पर 'उञ्' के उकारको 'व' आदेश हो–अच्के परे ।
इको—पदान्त 'इक्' को अच्के परे युगपत् ह्रस्व और प्रकृतिभाव हो, विकल्पसे ।
न समा—समासमें पदान्त इक्को ह्रस्व और प्रकृतिभाव कुछ भी नहीं हो ।
ऋत्य—'ऋत्' परमें हो तो पदान्त 'अक्' को ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्पसे हो ।

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वत्। ब्रह्म ऋषिः। ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्? आर्च्छत्॥ इति स्वरसन्धिः॥

अथ हल्सन्धिः

स्तोः श्चुना श्चुः।८।४।४०। सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शका-

---

वाप्यामश्वः वाप्यश्वः, 'वापी–अश्व' इति दशायां 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्यनेन ह्रस्वे प्राप्ते 'न समासे' इति वार्तिकेन निषिध्यते। अतोऽत्र न प्रकृतिभावः, किन्तु 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'वाप्यश्वः' इति रूपम्। ऋत्यकः। अक इति षष्ठी। शाकल्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनुवर्तते। असवर्णे इति निवृत्तम्। एङः पदान्तादित्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते। तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। ततश्च वाक्यद्वयं निष्पद्यते। पदान्तस्याकः ऋति ह्रस्वो वेत्येकम्। प्रतिपादितो ह्रस्वः प्रकृतिभावमातिष्ठत इति द्वितीयम्। ब्रह्म ऋषिरिति। 'ब्रह्मा ऋषिः' इति स्थितौ 'ऋत्यकः' इत्यनेन पदान्तस्य अक्प्रत्याहारान्तर्गतमकारोत्तरवर्तिन आकारस्य ह्रस्वत्वे कृते ब्रह्म ऋषिरिति जायते। पक्षे 'आद्गुणः' इति पूर्वपरयोः स्थाने गुणे रपरे च कृते 'ब्रह्मर्षि'रिति रूपम्भवति। पदान्ताः किमिति। अत्र 'पदान्ताः' इत्यस्याग्रहणे तु 'आ ऋच्छत्' इत्यत्र ह्रस्वत्वमापद्येत। तन्मा भूदेतदर्थं 'पदान्ताः' इति। तेनात्र 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ सत्याम् 'आर्च्छत्' इति सिद्ध्यतीति दिक्। इत्यच्सन्धिः॥

सकारतवर्गयोरिति। अत्र स्थान्यादेशयोर्यथासंख्यम्, निमित्तकार्यिणोस्तु न,

---

सन्धि करो—पितृ+ऋणम्। शुभ्र+ऋषिः। सुखस्य+औपयिकम्। अव+एति। उप+ऋच्छत्। प्र+ओषति। राम+एहि। इन्दुमती+उवाच। मृदु+ओदनः। मातृ+इच्छा। लृ+आनय। ने+अनम्। कस्मै+इदम्। गो+अनम्। गो+इष्यति। ते+आगताः। रामः+अस्मि। गो+अक्षः। आगच्छ सखे+अत्र क्रीडेम। वद+उच्छलतः। अमू+अश्नीती। अदो+इदम्। उ+उद्धवः।

विच्छेद करो—गुरूढः। महर्कारः। महौचित्यम्। अवैधते। उपार्णोति। प्रेषयति। अवेहि। अत्यौदरिकः। तन्वङ्गी। प्रशास्त्रध्वंम्। लानय।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अच्सन्धि प्रकरण समाप्त हुआ।

स्तोः—सकार-तवर्गके स्थानमें शकार अथवा चवर्गका (पूर्व या परमें) योग रहनेपर सकारके स्थानमें शकार और तवर्गके स्थानमें चवर्ग हो।

नोटः—यहाँ स्थानी और आदेशमें यथासंख्य अपेक्षित नहीं है—ऐसा होने पर आगेका 'शात' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा। (ष्टुत्वमें भी ऐसा समझना चाहिये)

श्चवर्गौ स्तः । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ॥ शात् ।८।४।४४। शात्परस्यतोः श्चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ॥ ष्टुना ष्टुः ।८।४।४१। स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ॥ न पदान्ताट्टोरनाम् ।८।४।४२। 'अना' मिति लुप्तषष्ठीकम्पदम् । पदान्ताट्टवर्गात्

शात्' इति ज्ञापकात् । रामश्शेत इति । 'रामस् शेते' इति स्थितौ 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन सूत्रेण सकारस्य शकारेण सहात्र योगे सति सकारस्य शकारादेशे 'रामश्शेते' इति रूपम्भवति । एवं 'रामस्-चिनोति' इत्यत्र चयोगे सकारस्य शकारादेशे 'रामश्चिनोति' इति जायते । 'सत्-चित्' इत्यवस्थायां प्रकृतसूत्रेण 'त्' इत्यस्य 'च्' इत्यादेशे 'सच्चित्' इति रूपम् । 'शार्ङ्गिन् जय' इत्यत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन 'न्' इत्यस्य स्थाने 'ञ्' इत्यादेशे 'शार्ङ्गिञ्जय' इति रूपम् । शादिति । शकारात्परस्य तवर्गीयवर्णस्य श्चुत्वं न भवति । शादिति दिग्योगे पञ्चमी । 'न पदान्तात्' इत्यतो नेत्यनुवर्तते । स्तोः श्चुना श्चुरित्यतो श्चुरिति लभ्यते । न तु सकारशकारौ शादिति न्यासकरणात् । विश्न इति । 'विश्-न' 'प्रश्-न' इत्यत्र पूर्वसूत्रेण नकारस्य श्चुत्वे प्राप्ते 'शात्' इत्यनेन शात्परस्य तवर्गस्य-'न' इत्यस्य श्चुत्वं निषिध्यते । तेनात्र 'न' इत्यस्य न 'ञ्' इत्यादेश इति भावः । प्रश्न इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । अस्मात् 'यजयाचयत' इत्यादिना नङि 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यनेन सतुक्छकारे शादेशे 'प्रश्-न' इति स्थिते 'स्तोः' इत्यनेन श्चुत्वं प्राप्तं तं बाधित्वा 'शात्' इति निषेधे परेण संयोगे रूपम् । न चात्र ग्रहिज्या इति सम्प्रसारणं स्यादिति वाच्यम् । 'प्रश्ने चासन्नकाले' इत्यादिनिर्देशबलात् । ष्टुना ष्टुरिति । अत्र 'स्तोः' इत्यनुवर्तते । पूर्ववत् अपि कार्यिनिमित्तयोर्यथासंख्यं न भवति । 'तोः षि' इति ज्ञापकात् । 'रामस्-षष्ठः' अत्र 'ष्टुना ष्टुः' इति सकारस्य षकारयोगेन सकारस्य षकारादेशे 'रामष्षष्ठः' इति । एवं 'रामस् टीकते' इत्यत्र टकारेण योगे सकारस्य षकारादेशे 'रामष्टीकते' इति रूपम् । 'पेष्-ता' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन तकारस्य ष्टुत्वे 'पेष्टा' इति जायते । 'तत् टीका' इति दशायां प्रकृतसूत्रेण 'त्' इत्यस्य 'ट्' इत्यादेशे 'तट्टीका' इति रूपम् । 'चक्रिन्-ढौकसे' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन 'न्' इत्यस्य 'ण्' इत्यादेशे 'चक्रिण्ढौकसे' इति रूपम्भवति । न पदान्तादिति । 'षट्-सन्तः' 'षट्-ते' इत्यत्र

शात्—शकारसे परे तवर्गके स्थानमें श्चुत्व (चवर्ग) नहीं हो ।

ष्टुना—सकार तवर्गके स्थानमें षकार-टवर्गका (पूर्व या परमें) योग रहने पर सकारके स्थानमें षकार और तवर्गके स्थानमें टवर्ग आदेश हो ।

न पदान्ता—पदान्त टवर्गसे पर नाम् (अवयव) भिन्न सकार और तवर्गके स्थानमें ष्टुत्व (षकार-टवर्ग) नहीं हो ।

परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । पदान्तात्किम् ? ईट्टे । टोः किम् ? सर्पिष्टमम् । अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् । षण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णगर्यः ॥ **तोः षि** ।८।४।४३। तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । सन् षष्ठः । **झलां जशोऽन्ते** ।८।२।३९। पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः । चिद्रूपम् ॥ **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** ।८।४।४५। यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः । स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरि-

---

टवर्गस्य पदान्ते वर्तमानत्वान्न ष्टुत्वम् । पदान्तादित्यस्यास्वीकारे 'ईट्-ते' इत्यत्रापि निषेध आपद्येत । अतः सूत्रे तन्निवेश आवश्यकः । टोः किमिति । ननु 'सर्पिष्-तमम्' इत्यत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन पदसंज्ञायामत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वं स्यादिति चेत् ? न । 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इत्यनेन कृतस्य षत्वस्य जश्त्वदृष्ट्याऽसिद्धत्वात् । टोर्ग्रहणाभावे षकारोऽप्यनुवर्तेत । तेन प्रकृतेऽपि निषेधः स्यात्तन्मा भूदिति टोर्ग्रहणम् । 'अनाम्नेति' । ष्टुत्वप्रतिषेधे नाम एव न पर्युदस्यते । किन्तु नवतिनगरीशब्दघटितनकारविषयस्याऽपि पर्युदासो वक्तव्य इत्यर्थः । षण्णामिति । 'षष्-नाम्' इत्यवस्थायां 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वे 'षड्-नाम्' इति स्थितौ 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इत्यनेन पर्युदासात् (निषेधस्य निषेधात्) ष्टुत्वे 'षड्-णाम्' इति जाते 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति वार्तिकेन 'ड्' इत्यस्य नित्यानुनासिके सति 'षण्णाम्' इति रूपम्बोध्यम् । षण्णवतिरिति । षडधिका नवतिरिति विग्रहः । 'षड्-नवतिः' इत्यत्र 'न पदान्तात्' इति निषेधे प्राप्ते 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इत्यनेन पर्युदासात् ष्टुत्वे जाते 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इत्यनेन पूर्वस्य 'ड्' इत्यस्यानुनासिके 'षण्णवतिः' इति रूपम् । एवमेव 'षण्णगर्यः' इत्यत्रापि बोध्यम् । तोः षीति । तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । तेन 'सन्-षष्ठः' इत्यत्र तवर्गान्तःपातिनो नकारस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । झलामिति । पदस्येत्यधिकृतम् । तच्चान्त इत्यस्य विशेषणम् । पदस्यान्ते झल्प्रत्याहारिकाणां स्थाने जश्प्रत्याहारिका इति फलितोऽर्थः । वागीश इति । 'वाक्-ईशः' अत्र 'झलां जशोऽन्ते' इति 'क्' स्थाने 'स्थानेऽन्तरतमः' इति कण्ठस्थानीयो गकारादेशो जायते; तेन 'वागीशः' इति । स्थानप्रयत्नाभ्यामिति । एतन्मुरारिरित्यादौ प्रयत्नतश्चान्तरतमे स्पर्शे चरितार्थे लब्ध-

---

अनाम्न—पदान्त टवर्गसे पर नाम्, नवति, नगरी-भिन्न सकार-तवर्ग को ष्टुत्व नहीं हो—ऐसा कहना चाहिये ।

तोः षि—तवर्गको षकारके परे ष्टुत्व नहीं हो । (उदाहरण—वसन्तात् षट्पदाः क्षुभ्यन्ति) ।

झलां—पदान्त झल्के स्थानमें जश् आदेश हो ।

यरो—पदान्त यर्को अनुनासिक परे रहते अनुनासिक आदेश हो, विकल्पसे ।

तार्यो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते । चतुर्मुखः । प्रत्यये भाषायां नित्यम् । तन्मात्रम् । चिन्मयम् ॥ **तोर्लि** ।८।४।६०। तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नस्याऽनुनासिको लः ॥ **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** ।८।४।६१। उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् ॥ **तस्मादित्युत्तरस्य** ।१।१।६७। पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ॥ **आदेः परस्य** ।१।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्या

प्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः स्थानमात्रेणाऽऽन्तर्यमादाय रेफे प्रवृत्तिं न लभत इत्यर्थः । 'यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथमि'ति न्यायात् । चतुर्मुख इति । चत्वारि मुखानि यस्येति व्यासवाक्यम् । 'चतुर्-मुख' इति स्थिते 'यरोऽनु' इत्यादिना वैकल्पिकेऽनुनासिके प्राप्ते रेफे स्थानमात्रमान्तर्यमादायानुनासिकविधिर्न प्रवर्तत इति स्पष्टीकरणादनुनासिकाभावे 'चतुर्मुख' इत्यस्य सिद्धिः । प्रत्यये भाषायामिति । प्रत्यये अनुनासिकात्मके परे लोके नित्यमनुनासिकः स्यादित्यर्थः । तन्मात्रमिति । तत्प्रमाणमस्येति तन्मात्रम्, 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः । 'तद्-मात्रम्' इत्यवस्थायाम् 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यनेन स्थानत आन्तर्यमाश्रित्य दकारस्य स्थाने नकारे जाते 'तन्मात्रम्' इति निष्पन्नम् । चिन्मयमिति । चिदेव 'चिन्मयम्' अत्र 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इत्यत्र नित्यमिति योगविभागात्स्वार्थे मयट् । प्रक्रिया तु पूर्ववद् बोध्या । तोर्लीति । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यतः परसवर्ण इत्यनुवर्तते तदाह—परसवर्ण इति । 'तद्-लयः' इत्यत्र 'तोर्लि' इत्यनेन तवर्गान्तपातिनो दस्य स्थाने परसवर्णः—परनिमित्तभूतलकारसवर्णो ल एव जातः । तेन 'तल्लयः' इति सिद्धम् । तस्य लयः तल्लयः इति विग्रहोऽत्र बोध्यः । विद्वाँल्लिखतीति । 'विद्वान्-लिखति' इति स्थिते नकारस्य स्थानिनोऽनुनासिकस्य परसवर्णो लकारो भवन् आन्तर्यादनुनासिक एव लकारो जातस्तेन 'विद्वाँल्लिखति' इति सिद्धम् ।

प्रत्यये—अनुनासिकादि प्रत्यय परमें रहनेपर भाषा (लोक प्रयोग) में पदान्त यर्‌के स्थानमें नित्य अनुनासिक आदेश हो ।

तोर्लि—तवर्गको लकार के परे परसवर्ण हो ।

नोट—परसवर्ण करने से विशेषता यही होती है कि नकारके स्थान में तत्सवर्णी अनुनासिक विशिष्ट लकार आदेश होता है । यथा—विद्वान् + लिखति=विद्वाँल्लिखति ।

उदः—'उद्' से पर स्था और स्तम्भके स्थानमें पूर्वसवर्ण आदेश हो ।

तस्मा—पञ्चम्यन्त पदनिर्दिष्ट विधीयमान जो कार्य वह वर्णान्तर से अव्यवहित परवर्णके स्थानमें हो—ऐसा समझना चाहिये ।

आदेः—परके स्थानमें विधीयमान (कहा गया) जो कार्य वह परके आदि वर्णके स्थानमें हो—ऐसा समझना चाहिये ।

ऽऽदैर्ध्योऽयम् । अत्राऽघोषस्य महाप्राणस्य विवारस्य श्वासस्य सस्य तादृश एव थः, इति सस्य थः ॥ **झरो झरि सवर्णे ।८।४।६५।** हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्सवर्णे झरि ॥ **खरि च ।८।४।५५।** खरि परे झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः । उत्थानम् । उत्तम्भनम् ॥ **झयो होऽन्यतरस्याम् ।८।४।६२।** झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात् । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः। वाग्घरिः। वाग्हरिः ॥ **शश्छोऽटि ।८।४।६३।** पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । तच्छिवः । तच्शिवः । पदान्तात्किम् । विश्नम् ।

'उद् स्थानम्' 'उद्-स्तम्भनम्' इति स्थिते । अत्र उदः परयोः 'स्था' इत्यस्य 'स्तम्भ' इत्यस्य च पूर्वसवर्णः-दकारसवर्णः प्राप्तः । तत्र 'आदेः परस्य' इति परिभाषया स्थास्तम्भोराद्यवयवस्य सकारस्यैव भवति । तत्र पूर्वदकारसवर्णाश्च-त थ द ध नाः पञ्चैव । दन्तस्थानसाम्यात्, स्पृष्टप्रयत्नसाम्याच्च । न तु लृकारः सकारश्च । तयोः स्थानसाम्येऽपि विवृतप्रयत्नत्वात् । नापि लकारः ईषत्स्पृष्टत्वात् । एतदतिरिक्ताश्च सर्वे वर्णाः भिन्नस्थानकत्वान्न दकारसवर्णाः । एवञ्च पूर्वनिमित्तभूतदकारसवर्णाः 'त थ द ध नाः'पञ्चापि सकारस्य प्राप्ताः । तत्र सकारस्य विवारश्वासाघोषमहाप्राणवतः सादृश्यात् तत्स्थाने तादृक् विवारश्वासाघोषमहाप्राणवान् 'थ्' एव लभ्यते । तेन सस्य थकारादेशे 'उद् थ् थानम्' 'उद् थ् तम्भनमि'ति जाते 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन दकारोत्तरवर्तिनः थकारस्य विकल्पेन लोपे 'खरि च' इत्यनेन दकारस्य चर्त्वे 'उत्थानम्' 'उत्तम्भनम्' इति भवतः । पक्षे 'उत्थ्थानम्' 'उत्थ्तम्भनम्' इत्येव न तु थकारस्य चर्त्वम् । चर्त्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् । वाग्घरिरिति । 'वाक् हरिः' इति स्थिते । अत्र'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वे गकारे कृते झय्प्रत्याहारान्तःपातिनो गकारात् परस्य हकारस्य पूर्वसवर्णः-गकारसवर्णाः, क ख ग घ ङ इति प्राप्ताः । तत्र-हकारेण संवारनादघोषमहाप्राणवता तुल्यः-संवारनादघोषमहाप्राणवान् घकारो विकल्पेन हकारस्य स्थाने जातः । तेन वाग्घरिरिति रूपं जायते । पक्षे वाग्हरिरिति भवति । 'तद् शिवः' इति स्थितेऽत्र दकारस्य 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन सूत्रेण श्चुत्वे-जकारे कृते तस्य जकारस्य 'खरि च' इत्यनेन चकारे कृते 'तच्-शिवः' इति जाते तदनन्तरम् ''शश्छोऽटि' इत्यनेन झयन्तःपातिनश्चकारात्परस्य

झरो झरि—हल्से पर झर्का विकल्पसे लोप हो, सवर्ण झर्के परे।

खरि च—खर् परमें हो तो झल्के स्थानमें चर् आदेश हो।

झयो हो—झ से पर जो हकार उसको पूर्वसवर्ण हो, विकल्पसे।

नोटः—नाद, घोष, संवार और महाप्राण-प्रयत्नवान् जो हकार उसके स्थानमें तादृश प्रयत्नवान् चतुर्थ वर्ण आदेश हो।

छत्वममीति वाच्यम्। तच्छ्लोकेन। तच् श्लोकेन। अमि किं वाक्श्च्योतति। **मोऽनुस्वारः** ।८।३।२३। मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारः स्याद्धलि। हरिं वन्दे। पदस्य किम्? गम्यते॥ **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** ।८।३।२४। नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः स्यात्। यशांसि। आक्रंस्यते। झलि किम्? मन्यते॥ **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** ।८।४।५८। अङ्कितः। अञ्चितः। शान्तः। गुम्फितः। **वा पदान्तस्य** ।८।४।५९। पदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि(परे)परसवर्णो

शस्य अट्प्रत्याहारान्तर्वर्तिनि इकारोत्तरवर्त्तिनीकारे परे छत्वे च विहिते-'तच्छिव' इति निष्पन्नम्। छत्वाभावे 'तच्शिव' इति भवति। पदान्तादिति किम्। 'शश्छोऽटीति' सूत्रे पदान्तादित्यननुवृत्तौ 'विरप्शम्' अत्र शकारे छत्वापत्तिप्रसङ्गः। पकारस्य झय्प्रत्याहारगतत्वेन तस्य झय्त्वात्तत्परश्च शकारोपस्थिते स स्यात्। पदान्तादित्यनुवृत्तौ तु विरप्शम् इत्यस्यैकपदत्वेन पकारस्य पदान्तेऽसत्त्वेन छत्वाप्राप्तौ दोषप्रसङ्गनिरासः। छत्वममीति। 'शश्छोऽटि' इति सूत्रे अटीति विहाय अमिति पदं पठनीयमित्यर्थः। 'शश्छोऽमि' इति सूत्रं पठनीयमिति भावः। तच्छ्लोकेनेति। 'तद्-श्लोकेन' इत्यत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन दकारस्य जकारे कृते 'खरि च' इत्यनेन चकारे 'तच्-श्लोकेन' इत्यवस्थायां 'छत्वममीति वाच्यम्' इति वार्तिकेन शस्य छत्वे च कृते 'तच्छ्लोकेन' इति सिद्ध्यति। पक्षे—'तच्श्लोकेन' इति। यशांसीति 'यशान्-सि' इत्यत्र 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनेन पदान्तरहितस्य नकारस्य झल्प्रत्याहारान्तर्वर्तिनि सकारे परे नस्यानुस्वारे कृते 'यशांसि' इति। 'आक्रम् स्यते' इत्यत्रस्थायां मकारस्य अपदान्तत्वात् 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनेनैव झलि परे मस्यानुस्वारे विहिते-'आक्रंस्यते' इति 'त्वम् करोषि' इति स्थिते 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेन पदान्तस्य मस्यानुस्वारे विहिते सति तस्य स्थाने 'वा पदान्तस्य' इत्यनेन विकल्पेन परस्य ककारस्य सवर्णे क ख ग घ ङ इति

शश्छोऽटि—पदान्त झय्से पर शकारके स्थानमें छकार आदेश हो, विकल्पसे, अट्के परे।

नोट—शकारके पूर्व तवर्ग होनेपर पहले तवर्गको श्चुत्व होकर ही शकारको छकार हो।

छत्वममीति—पदान्त झय् से पर शकारके स्थानमें छकार हो, विकल्पसे, अम्के परे।

मोऽनु—मान्त पदके स्थानमें अनुस्वार हो, हल्के परे।

नश्चा—अपदान्त नकार-मकारके स्थानमें अनुस्वार हो, झल्के परे।

अनुस्वारस्य—अपदान्त अनुस्वारके स्थानमें परसवर्ण आदेश हो, यय्के परे।

नोट—पदके मध्यमें स्थित अनुस्वारके बाद जिस वर्गका वर्ण रहता है, अनुस्वारके स्थानमें उसी वर्गका पञ्चम वर्ण हो जाता है।

वा पदा—पदान्त अनुस्वारके स्थानमें विकल्पसे परसवर्ण आदेश हो, यय्के परे।

वा स्यात्। त्वङ्करोषि। त्वं करोषि॥ त्वन्तनोषि। त्वं तनोषि। सँव्वत्सरः। संवत्सरः। यँल्लोकम्। यंलोकम्। अनुस्वारस्य पक्षे अनुनासिका यवलाः। **मो राजि समः क्वौ।८।३।२५।** क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्॥ **हे मपरे वा।८।३।२६।** मपरे हकारे मस्य मो वा स्यात्। किम् ह्मलयति। किं ह्मलयति। **यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम्।** कियँ ह्यः। किं ह्यः। किवँ ह्वलयति।

सवस्मिन् प्राप्ते 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यनेन अनुस्वारस्य नासिकास्थानत्वात् तत्स्थानतुल्यो ङकारो जातः। तेन 'त्वङ्करोषि' इति भवति। पक्षे—अनुस्वारात्मकम्-'त्वं करोषि' इति रूपम्। मो राजीति। म इति प्रथमान्तम्। 'मोऽनुस्वारः' इत्यतो म इति स्थानषष्ठ्यन्तमनुवर्तते। समः इत्यवयवषष्ठी। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया क्विग्रहणेन क्विप्प्रत्ययान्तलाभः। तदाह—क्विबन्त इत्यादिना। 'सम्-राड्' इति स्थितेऽत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेन मकारस्य स्थाने अनुस्वारे प्राप्ते तं बाधित्वा 'मो राजि समः क्वौ' इत्यनेन मकारस्य स्थाने म एव विधीयते। तेन 'सम्राट्' इति भवति। मकारस्य स्थाने मकारविधानमनुस्वारनिवृत्त्यर्थमिति भावः। *हे मपर इति। 'मोऽनुस्वारः' इत्यतः म इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते।* 'मो राजि समः क्वौ' इत्यतः म इति प्रथमान्तमनुवर्तते। मः परो यस्मादिति विग्रहस्तदाह—मपरे इत्यादिना। 'किम्-ह्मलयति' इत्यत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'हे मपरे वा' इत्यनेन मस्य मत्वे कृते। 'किम् ह्मलयति' इति भवति। पक्षे—'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'किं ह्मलयति' इति भवति। यवलपरे इति। यवलाः परे यस्मादिति विग्रहः। यवलपरके हकारे परे मस्य क्रमेण यवला एव वा स्युरित्यर्थः। कियँ ह्य इति। 'किम्-ह्यः' इत्यत्र 'यवलपरे यवला वा' इत्यनेन वार्तिकेन यपरके हकारे परे 'मोऽनुस्वारः' इति प्राप्तमनुस्वारं बाधित्वा मकारस्यानुनासिके यकारे विकल्पेन विहिते कियँ ह्यः' इति भवति। पक्षे-अनुस्वारे 'किंह्यः' इति। एवमेव-'किम्-ह्वलयति' 'किम्-ह्लादयति' इत्यत्र वपरके वँ इति लपरके लँ इति चानुनासिके कृते 'किवँ ह्वलयति' इति 'किलँ ह्लादयति' इति च भवतः। पक्षे—'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'किं ह्वलयति' 'किं ह्लादयति' च जायेते।

मो राजि—क्विबन्त राज् धातुके परे सम्के मकारके स्थानमें मकार ही आदेश हो—अनुस्वार नहीं हो।

हे मपरे—मकारपरक हकारके परे मकारके स्थानमें मकार ही हो, विकल्पसे।

यवलपरे—य-व-ल परक हकारके परे मकारके स्थानमें यथाक्रमसे अनुनासिक विशिष्ट यँ वँ लँ आदेश हो, विकल्पसे, (पक्षे अनुस्वारः)।

किं ह्मलयति । किम्ह्लँ ह्लादयति । किं ह्लादयति ॥ नपरे नः ।८।३।२७। नपरे हकारे मस्य नो वा । किन् ह्नुते । किं ह्नुते ॥ डः सि धुट् ।८।३।२९। डात्परस्य सस्य धुड् वा ॥ आद्यन्तौ टकितौ ।१।१।४६। टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । षट्त्सन्तः । षट् सन्तः ॥ ङ्णोः कुक्टुक् शरि ।८।३।२८। ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि । कुक्टुकोरसिद्धत्वान्न जश्त्वम् । चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् । प्राङ्ख्षष्ठः । प्राङ्क्षष्ठः । प्राङ्

नपरे न इति । हे इति वेति म इति चानुवर्तते । न परो यस्मादिति विग्रहस्त्वाह—नपरे हकारे इत्यादिना । किन्ह्नुते इति । 'किम् ह्नुते' इत्यत्र 'नपरे नः' इत्यनेन सूत्रेण नपरे हकारे परे मस्य नत्वे कृते 'किन् ह्नुते' इति रूपम् । पक्षे मस्यानुस्वारे 'किं ह्नुते' इति । षट्त्सन्त इति । 'षड्-सन्तः' इत्यत्र 'डः सि धुट्' इत्यनेन डात् परस्य धुट्प्राप्तिः, स च स्यादित्याशङ्कायामाह–'आद्यन्तौ टकितौ' इति टित्त्वात्सस्यादौ धुटि जाते 'षड् धुट् सन्तः' इति जातम् । अत्र टस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञायां धकारोत्तरवर्तिन उकारस्य च 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यनेनेत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे च कृते 'षड् ध् सन्तः' इति भूतम् । अत्र 'खरि च' इत्यनेन धस्य तकारे डकारस्य टकारे च कृते 'षट्त्सन्तः' इति जातम् । धुडभावपक्षे—'खरि च' इति डस्य चर्त्वे टत्वे कृते 'षट्सन्तः' इति जायते । अत्र 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन ष्टुत्वं न शङ्क्यम् । 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति निषेधात् । ङ्णोः कुगिति । 'हे मपरे वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते । कुक् च टुक् चेति समाहारद्वन्द्वः । ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि इत्यर्थः । उभयत्र ककार इत्संज्ञः । उकार उच्चारणार्थः । 'प्राङ् षष्ठः' इति स्थिते, अत्र 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' इत्यनेन ङकारस्य कुगागमे 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन ङकारस्यान्ते जाते 'प्राङ् कुक् षष्ठः' इति निष्पन्ने सति 'क्' इत्यस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे च 'प्राङ्क्षष्ठः' इति जाते तत्र विकल्पेन 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इति वार्तिकेन खत्वे विहिते 'प्राङ्ख्षष्ठः

नपरे न— नकारपरक हकारके परे मकारके स्थानमें नकार आदेश हो, विकल्पसे । (पक्षे अनुस्वार) डः सि— डकारसे पर सकारके स्थानमें धुट्का आगम हो, विकल्पसे ।

आद्यन्तौ—जिसके स्थानमें टित् आगम कहा गया हो वह टित् उसके आद्यवयव (पूर्व) में और कित् अन्त्यावयव (पर) में हो ।

ङ्णोः—ङकार-णकारको कुक्-टुक्का आगम हो, विकल्पसे, शर्के परे ।

चयो—चय (वर्गके प्रथम अक्षर) के स्थानमें द्वितीय अक्षर हो 'पौष्करसादि' आचार्यके मतसे—अर्थात् विकल्पसे ।

षष्ठः। सुगण्ट्षष्ठः। सुगण्ट्षष्ठः। सुगण्षष्ठः॥ नश्च ।८।३।३०। नान्तात्परस्य सस्य धुट् वा। सन्त्सः। सन्सः॥ शि तुक् ।८।३।३१। पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा। सञ्च्छम्भुः। सञ्छम्भुः। सञ्च्शम्भुः। सञ्शम्भुः। ञछौ ञचछा ञचशा

इत्यभवत्। द्वितीयाघराभावे कुप्संयोगे 'प्राङ्क्षष्ठः' इति भवति। कुगागमाभावे 'प्राङ्षष्ठः' इति। एवम् 'सुगण्-षष्ठः' इति दशायां 'ङ्णोः कुक्टुक्शरि' इत्यनेन णकारस्य टुगागमे 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन अन्तावयवे जाते 'सुगण-टुक् षष्ठः' इति जाते उकारे निवृत्ते ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सुगण्ट् षष्ठः' इति। तत्र 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इत्यनेन द्वितीयापरे ठकारे विकल्पेन जाते 'सुगण् ठ् षष्ठः' इत्यभवत्। द्वितीयापराभावे 'सुगण् ट् षष्ठः' इति भवति। टुगागमाभावे 'सुगण् षष्ठः' इति। सन्त्स इति। 'सन्-स' इत्यवस्थायाम् 'नश्च' इति सूत्रेण धुटि विहिते क भवति इति शङ्कायाम् 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन सस्याद्यावयवे 'सन् धुट् स' इति जाते। तत्र उकारस्य निवृत्तिः। टकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे च 'सन् ध् स' इति जाते। तत्र 'खरि च' इत्यनेन धकारस्य चर्त्वेन तकारे कृते सति 'सन्त्सः' इति जायते। धुडागमाभावे 'सन्स' इति भवति। शि तुगिति। पूर्वसूत्रात् न इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तमिह षष्ठ्यन्तमाश्रीयतेः शब्दाधिकाराश्रयणात्। 'पदस्य' इत्यधिकृतम् अवयवषष्ठ्यन्तमाश्रीयते। 'हे मपरे वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते तदाह—पदान्तस्य नस्येत्यादिना। 'सन्-शम्भुः' इत्यत्र कस्य सूत्रस्य प्राप्तिः? 'तुक्' इत्यस्य, तेन पदान्तनस्य तुकि कृते 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन नस्यान्तावयवे कृते 'सन् तुक् शम्भुः' इति जाते अत्र 'हलन्त्यम्' इत्यनेन कस्येत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे उकारनिवृत्तौ सत्याम् 'सन् त शंभुः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इत्यनेन शंभुरित्यस्य शस्य छत्वे कृते 'सन् त् छम्भुः' इति जाते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तस्य चत्वे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नस्य ञत्वे च विहिते 'सच्च्छम्भुः' इति जायते। यत्र 'झरो झरि सवर्णे' इति वैकल्पिकचलोपः, तत्र 'सञ्छम्भुः' इति। चलोपाभावे च 'सञ्च्छम्भुः' इति। शश्छोऽटि छत्वाभावे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तस्य चत्वे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन नस्य ञत्वे च विहिते 'सञ्च् शम्भुः' इति

नश्च--नान्त पदसे पर सकारको धुट्का आगम् (सकार से पूर्व) हो, विकल्पसे।

शि तुक् – पदान्त नकारको शकारके परे तुक् का आगम (नकारसे आगे) हो, विकल्पसे।

नोटः—सन्+शम्भुः इस स्थितिमें नको तुक् होनेपर 'सन् त शम्भुः' ऐसी स्थितिमें तकारको श्चुत्व 'च्' और नकारको श्चुत्व 'ञ्' होता है। तदुपरान्त शकारको विकल्पसे छत्व होनेपर 'झरो झरि' से चकारका विकल्पसे लोप हो जाता है। इसीको मूलकारने कहा है—'ञछौ' इत्यादि।

अशाविति चतुष्टयम्। रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्॥ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८।३।३२। ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदं, तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युत॥ समः सुटि ।८।३।५। समो रुः स्यात्सुटि॥ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ।८।३।२। अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात्। अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ।८।३।४। अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात्। खर-

---

तुगभावे तस्य स्तुत्वे च कृते 'सम्राम्भु' इति रूपचतुष्टयमत्र बोध्यम्। तथाहि सद्ग्रह—अच्छौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम्। रूपाणामिह तुक्छत्वचलो-पानां विकल्पनात्'। इति ङमो ह्रस्वादिति। ङम् प्रत्याहारः। ङम इति पञ्चम्य-न्तम्। तद्विशेषणत्वात्पदस्येत्यधिकृतं पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यते। ङम इति च ह्रस्वादिति विशेषणसम्बन्धमनुभूय पदविशेषणत्व भजत् तदन्तपरम्। ङम इति पञ्चमीबलात् अचीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे। तदाह— ह्रस्वात्पर इत्यादिना। प्रत्यङ्ङात्मेति। 'प्रत्यङ्–आत्मा' इत्यत्र 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इत्यनेन ह्रस्वात्परस्य ङम्प्रत्याहारान्तःपातिनो ङकारात्परस्याच्प्रत्याहारान्तर्वर्तिन आकारस्य टित्वादादौ ङमुटि जाते प्रत्यङ् ङुट् आत्मेति जातम्, उकारस्योच्चारणार्थत्वात्टित्वात्तौ टकारस्ये-त्संज्ञायां लोपे च 'प्रत्यङ् ङ् आत्मा' इति तत्र सर्वस्मिन् संयुक्ते 'प्रत्यङ्ङात्मा' इति रूपम्भवति। एवं 'सुगण्–ईश' इत्यत्र 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' इत्यनेन 'ई' इत्यस्य णुडागमे उकारस्यानुबन्धस्य च निवृत्तौ संयोगे च सति 'सुगण्णीश' इति भवति। एवमेव 'सन्–अच्युत' इति दशायां 'ङमो ह्रस्वादचि०' इत्यनेन

ङमो—ह्रस्व जो ङम्, तदन्त जो पद, उससे पर जो अच् उसको नित्य ङमुट्का आगम (अच्के बाद) हो।

नोट —दीर्घ स्वरके बाद 'महानात्मा' इत्यादि स्थलमें कहीं भी ङमुट् का आगम नहीं होता, पर ह्रस्व स्वरके बाद भी क्वचित् ङमुडभाव देखा जाता (वह गलत) है जैसे—सन् + आदि = सनादि, सन् + इष्यते सन्निष्यते इत्यादि। सुसिक् + अन्तम् = सुसिक्ङन्तम्। इसी प्रकार—अर्ध + अति = 'वक्रो यणचि' यहां भी आर्षत्वात् ङमुडभाव समझना चाहिये।

समः—सम्के मकारके स्थानमें रु आदेश हो सुट्के परे।

अत्रानु—इस रुप्रकरणमें (समःसुटि से विहित 'रु' को छोड़कर) 'रु' से पूर्व वर्ण को अनुनासिक आदेश हो, विकल्पसे।

अनुना—अनुनासिकको छोड़कर रुसे पूर्व वर्णके परे अनुस्वारका आगम हो।

खर—अवसानमें रेफ हो अथवा पदान्त रेफके बाद खर् (वर्गके प्रथम-द्वितीय अक्षर तथा श ष स का) कोई भी वर्ण हो तो रेफके स्थानमें विसर्ग हो।

वसानयोर्विसर्जनीयः ।८।३।१५। खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात्। इति प्राप्ते। संपुंकानां सो वक्तव्यः। सँस्स्कर्ता। संस्स्कर्ता॥ पुमः खय्यम्परे ।८।३।६। अम्परे खयि पुमो रुः स्यात्। पुँस्कोकिलः॥ पुंस्कोकिलः। पुँस्पुत्रः। पुंस्पुत्रः। अम्परे किं? पुंक्षीरम्। खयि किं? पुँदासः। पुंसः संयोगान्त-

---

पूर्ववत् सुटि 'सञ्चयुतः' इति सिद्ध्यति। सँस्कर्तेति। 'सम्-कर्ता' इत्यत्र 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमेऽनुबन्धलोपे सति, 'सम् स्-कर्ता' इति जाते अत्र 'समः सुटि' इति सुट्सम्बन्धिनि सकारे परे सर्वस्य 'स' रुत्वे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति योगेनान्त्यस्य मस्य रुत्वे उकारलोपे च विहिते 'स र् स् कर्ता' इति भूते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन रोः पूर्वमनुनासिके जाते 'सँ र् स् कर्ता' इति जाते, यस्मिन् पक्षे वाग्रहणादनुनासिको नाभूत् अस्मिन् पक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति योगेनानुस्वारे कृते 'सं र् स् कर्ता' इति जाते अत्र 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन खर्प्रत्याहारान्तःपातिनि सकारे परे रेफस्य विसर्गे विहिते सँःस्कर्ता, संःस्कर्ता, इति जाते अत्र 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्जनीयस्य सत्वे प्राप्ते 'वा शरि' इति विसर्जनीयस्य विसर्जनीयत्वे च लब्धे द्वयोभयमपि प्रबाध्य, सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सत्वे कृते 'सँस्स्कर्ता' इति 'संस्स्कर्ता' इति च रूपद्वयं सिद्ध्यति। पुमः खय्यम्परे इति। 'मतुवसो रुः सम्बुद्धौ' इत्यतो रुग्रहणमनुवर्तते। अम् परो यस्मादिति विग्रहस्तदाह–अम्परे खयीति। पुँस्कोकिल इति। पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति कर्मधारयसमासः। 'पुम्-कोकिलः' इत्यत्र 'पुमः खय्यम्परे' इत्यनेन पुमो मस्य रुत्वे रेफोत्तरवर्त्युकारलोपे 'पुर् कोकिल' इति जाते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके पुँर्कोकिलः, पक्षे—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'पुंर् कोकिल' इति भूते अत्र 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते तं बाधित्वा 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति विसर्गस्य सत्वे कृते 'पुँस्कोकिलः' 'पुंस्को-

---

संपुङ्कानां—सम्-पुम्-कान् इनके विसर्गके स्थानमें सकार ही हो-ऐसा कहना चाहिये।

नोटः—सँस्स्कर्ता-संस्स्कर्ता-कृधातुके पद परमें होनेसे 'सम्' उपसर्गके बाद 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इस सूत्रसे सुट् होकर 'सम् स्कर्ता' ऐसा बनता है; तदुपरान्त उस सुट्के परे सम्के मकारको रुत्व और सकारको अनुनासिक अथवा अनुस्वार तथा रुत्वके रेफ को विसर्ग होकर सत्व हो जाता है।

पुमः—अम् परक खय् परमें होनेसे पुम्के स्थानमें रु आदेश हो।

नोटः—सम्भावना रहने पर कहीं श्चुत्व और कहीं ष्टुत्व भी होता है। यथा—पुम्+चरित्रम् = पुँश्चरित्रम्। पुम्+टीका = पुंष्टीका।

लोपेऽवशिष्टभागस्येदमनुकरणम् । रुत्वादेशो न । पुंस्पानम् ॥ नश्छव्यप्रशान् ।८।३।७। अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः ॥ विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४। खरि परे विसर्जनीयस्य सः स्यात् । चक्रिँस्त्रायस्व । चक्रिंस्त्रायस्व । अप्रशान् किम्? प्रशान्तनोति । पदस्य किम्? हन्ति । अम्परे किम्? सन्त्सरुः खड्गमुष्टिः ॥ नॄन्पे ।८।३।१०। नॄनित्यस्य रुर्वा पे ॥ कुप्वोः ≍क≍पौ च ।८।३।३७। कवर्गे, पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः । चाद्विसर्गः । नॄँ≍पाहि । नॄं≍पाहि । नॄँः पाहि । नॄंः पाहि । नॄन्पाहि ॥ सोऽपदादौ ।८।३।३८। विसर्गस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः ।

किम्' इति । चक्रिंस्त्रायस्वेति । 'चक्रिन्-त्रायस्व' इति स्थिते 'नश्छव्यप्रशान्' इति नान्तस्य पदस्य चक्रिन् इत्यस्य रुत्वे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति 'न्' इत्यस्य स्थाने कृते अम्परकछवप्रत्याहारान्तर्गततकारे परे । तदा 'चक्रि रु त्रायस्व' इति जाते रेफोत्तरवर्त्युकारस्येत्संज्ञाया लोपे च 'चक्रि र् त्रायस्व' इति जाते । अत्र 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति अनुनासिके, पक्षे—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे च 'चक्रिँ र् त्रायस्व' 'चक्रिं र् त्रायस्व इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति उभयत्र रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'चक्रिँस्त्रायस्व' 'चक्रिंस्त्रायस्व' इति । नॄँ≍पाहीति । 'नॄन्-पाहि' इत्यत्र 'नॄन् पे' इत्यनेन नस्य रुत्वे उकारलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके, पक्षे-'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे-'कुप्वोः ≍क≍पौ च' इत्युपध्मानीये च नॄँ≍पाहि, नॄं≍पाहि, इति । उपध्मानीयाभावे सति विसर्गे नॄँः पाहि 'नॄंः पाहि' । पक्षे-'नॄन्पाहि' इति पञ्च रूपाणि । सूत्रे पे इत्यत्राकार उच्चारणार्थः । तेन 'नॄन् पुनाति' इत्यादावपि पञ्च रूपाणि बोध्यानि । सोऽपदादाविति । कुप्वोरित्यनुवर्तते । तस्यापदादाविति विशेषणम् । द्वित्वे पृथक् ...समासं प्रत्येकाभिप्रायं वैकवचनम् । विसर्जनीयस्येत्यप्यनुवर्तते । कुप्वोरित्यस्यापवादः । पयस्पाशमिति । कुत्सितं पय इत्यर्थे 'याप्ये पाशप्' इत्यनेन पयस्शब्दात्पाशप्प्रत्यये । 'पयस्-पाशम्' इति स्थिते ससजुषोरुरित्यनेन रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे 'खरवसानयोः' इत्यादिना रस्य विसर्गे 'पयः पाशम्' इति जाते कुप्वोः ≍क≍पौ चेत्यनेनोपध्मानीये प्राप्ते

नश्छ-अम् परक छव् परमें होने पर प्रशान् भिन्न नान्त पदके स्थानमें रु आदेश हो।

विसर्ज—खर् परमें होने पर विसर्गके स्थानमें स् आदेश हो।

नॄन्पे—नॄन्के नकारके स्थानमें रु हो पकारके परे, विकल्पसे।

कुप्वो —कवर्ग-पवर्गके परे विसर्गके स्थानमें क्रमसे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय अथवा यथाप्राप्त विसर्ग ही हो। (कवर्ग परका उदाहरण विसर्गसन्धिमें देखो)।

सोऽप—विसर्गके स्थानमें 'स्' आदेश हो, अपदादि कवर्ग-पवर्गके परे।

पयस्पाशम्। पयस्कल्पम्। यशस्कम्। यशस्काम्यति। अनव्ययस्येति वाच्यम्। प्रातःकल्पम्। काम्ये रोरेवेति वाच्यम्। नेह-गीः काम्यति। **इणः षः। ८।३।३९।** इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात् पूर्वविषये। सर्पिष्कल्पम्। सर्पिष्पाशम्। सर्पिष्कम्। सर्पिष्काम्यति॥ **कस्कादिषु च। ८।३।४८।** एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्याद-न्यस्य तु सः। कस्कः। कौतस्कुतः। सर्पिष्कुण्डिका। धनुष्कपालमित्यादि। आकृति-

बाधित्वा 'सोऽपदादौ' इत्यनेन विसर्गस्य सकारे प्रोक्तरूपसिद्धिः। यशस्कल्पमिति। ईषदसमाप्तं यश इत्यर्थे। यशस्शब्दात् 'ईषदसमाप्तौ कल्पप् देश्यदेशीयरौ' इति कल्पप् प्रत्यये रुत्वे विसर्गे जिह्वामूलीयं प्रबाध्य 'सोऽपदादौ' इति नित्यं सकारे सति रूपसिद्धिः। यशस्काम्यतीति। यश आत्मन इच्छतीत्यर्थे 'काम्यच्' इति यशस्शब्दात् काम्यच् प्रत्यये रुत्वे विसर्गे 'सोऽपदादौ' इति नित्यं सत्वे सत्युक्तरूपसिद्धिः। अनव्ययस्येति। सोऽपदादाविति विधिरनव्ययस्य न भवतीत्यर्थः। प्रातःकल्पमिति। ईषदसमाप्तं प्रातः प्रातःकल्पम्। प्रातःशब्दात् 'ईषदसमाप्तौ कल्पप्देश्यदेशीयरौ' इत्यनेन कल्पपि 'प्रातः-कल्पम्' इति जाते रस्य 'खरवसानयोरि'ति विसर्गे 'सोऽपदादौ' इति नित्यं विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'अनव्ययस्येति वाच्यमि'ति वार्तिकेन विसर्गे सकाराभावे च जाते प्रातःकल्पमित्यस्य सिद्धिः। काम्ये रोरिति। काम्यप्रत्यये परतो रुस्थानिकस्यैव विसर्गस्य स्थाने 'सोपदादौ' इत्यनेन सकारो भवतीत्यर्थः। गीः काम्यतीति। गिरमात्मन इच्छतीत्यर्थे 'काम्यच्' इति काम्यचि। 'गीर् काम्यति' इति जाते रेफस्य विसर्गे 'सोऽपदादौ' इत्यनेन नित्यं सत्वे प्राप्ते 'काम्ये रोरेवे'ति वार्तिकबलात् विसर्गे गीः काम्यतीति। इणः ष इति। अत्र कुप्वोरिति, अपदादाविति, अनव्ययस्येति, काम्ये रोरेवेति च सम्बध्यते। परस्येत्यध्याहार्यम्। विसर्जनीय-स्येत्यनुवर्तते। सर्पिष्कमिति। 'सर्पिस्-कम्' इत्यवस्थायां सस्य रुत्वे विसर्गे 'सर्पिः-कम्' 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' इत्यनेन प्राप्तं जिह्वामूलीयं प्रबाध्य 'इणः षः' इत्यनेन षत्वे सति 'सर्पिष्कम्' इत्यस्य साधुत्वम्। सर्पिष्पाशमिति। कुत्सितं सर्पिरिति विग्रहे 'याप्ये पाशप्' इति पाशप्प्रत्यये। 'सर्पिस्+पाशम्' इति स्थितौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'कुप्वोः' इति प्राप्तमुपध्मानीयं वैकल्पिकं विसर्गं च बाधित्वा 'इणः षः' इति विसर्गस्य षत्वे 'सर्पिष्कम्' इति। कस्कादिष्विति। 'इणः षः' इत्यत इणः इति। विसर्जनीयस्य सः इत्यतो विसर्जनीयस्येति। सोऽपदादावित्यतः सः इति प्रथमान्तमनुवर्तते। इण इति पञ्चम्यन्तम्। कस्कादिष्विति विषयसप्तमी। तेन कस्कादिगणे इणः परस्य विसर्गस्य

अनव्य—अव्यय भिन्न विसर्गके स्थानमें (सोऽपदादौ से) सकार हो—ऐसा कहे।

काम्ये—काम्यच् प्रत्ययके परे रुस्थानिक विसर्गको ही (सोऽपदादौ से) सत्व हो ऐसा कहे।

इणः—इण्से परे जो विसर्ग उसके स्थानमें 'ष' आदेश हो, अपदादि कवर्ग पवर्गके परे।

कस्कादि—कस्कादिगण पठित जो शब्द उनमें इण्से उत्तर जो विसर्ग उसके स्थानमें 'ष' आदेश हो और अन्यत्र (इण्से अनुत्तर विसर्गके स्थानमें) 'स' आदेश हो।

गणोऽयम् ॥ इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य ।८।३।४१। इकारोकारोपधस्याऽप्रत्ययस्य विसर्गस्य षः स्यात्कुप्वोः परयोः । निष्प्रत्यूहम् । आविष्कृतम् । दुष्कृतम् । अप्रत्ययस्य किम् ? अग्निः करोति । एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम् , कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दपाठात् । तेनेह न—मातुः कृपा । तस्य परमाम्रेडितम् ।८।१।२। द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात् ॥ कानाम्रेडिते ।८।३।१२। कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते । काँस्कान् । कांस्कान् । छे च ।६।१।७३। ह्रस्वस्य छे तुक् । स्वच्छाया । शिव,

---

स स्यादित्यर्थः फलितः । 'सोऽपदादौ' इत्यतः स इति प्रथमान्तस्याऽनुकर्षणात् । कस्कादिषु अणिणः परस्य विसर्जनीयस्य सत्वं स्यादित्यर्थः । तदेव षत्वद्वयस्य निष्पत्तिश्च सम्पद्यते । कस्कादिषु तादृशानामेव कृतसत्वषत्वानां निर्देशेनाऽस्य वैकल्पिकविभाग इति भावः । 'कः कः' इति वीप्सायां द्वित्वे सति पूर्वखण्डेऽकारात्परस्य विसर्जनीयस्य 'कस्कादिषु च' इत्यनेन सकारे सत्युक्तरूपस्य 'कस्क' इत्यस्य साधुत्वम् । कौतस्कुत इति । वीप्सायां द्विर्वचने कुतः कुतः आगच्छति इत्यर्थे 'तत आगतः' इत्यण् प्रत्यये 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ टिलोपे 'कस्कादिषु च' इति पूर्वाकारवर्तिनो विसर्गस्य सत्वे । 'कौतस्कुत' इति साधु । कानाम्रेडित इति । कानिति द्वितीयान्तं शब्दस्वरूपपरं षष्ठ्यन्तम् । षष्ठ्याश्च सौत्रो लुक् । नलोपाभावोऽपि सौत्र एव । 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषया कान्शब्दान्त्यस्येति लभ्यते । रु इत्यनुवर्तते । तदाह—कान्नकारस्येत्यादिना । कान् इत्यस्य वीप्सायां द्विर्वचने 'कान् कान्' इति स्थिते प्रथमनकारस्य 'कानाम्रेडिते' इत्यनेन रुत्वे उकारलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके 'काँर् कान्' इति जाते पक्षे-'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'कांर् कान्' इति भूते अथ 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते तं प्रबाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन सत्वे च कृते 'काँस्कान्' 'कांस्कान्' इति । छे चेति । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यतो ह्रस्वस्येति तुगिति चानुवर्तते । संहितायामित्यधिकृतम् । तदाह—ह्रस्वस्येत्यादिना । स्वच्छायेति । स्वस्य छायेति षष्ठीसमासे

इदुदु—इकार-उकार है उपधामें जिसके ऐसा जो अप्रत्ययावयव विसर्ग उसके स्थानमें षत्व हो, कवर्ग-पवर्गके परे ।

तस्य—जो दो बार कहा गया हो उसके द्वितीय भागोक्तकी आम्रेडित संज्ञा हो ।

काना—कान्के नकारके स्थानमें रु आदेश हो, आम्रेडितसंज्ञकके परे ।

छे—ह्रस्व वर्णको तुक्का आगम (ह्रस्व वर्णके बाद) हो, छकारके परे ।

नोटः—तुक् होनेपर तकारका जश्त्व होकर दकार और दकारका श्चुत्व होकर जकार होनेपर चर्त्व चकार हो जाता है ।

च्छाय ॥ आङ्माङोश्च ।६।१।७४। तुक् छे । आच्छादयति । माच्छिदत् ॥ दीर्घात् ।६।१।७५। तुक् छे । म्लेच्छति ॥ पदान्ताद्वा ।६।१।७६। दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग्वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ॥ इति हल्सन्धिः ॥ ३ ॥

सुब्लुकि 'स्व-छाया इति स्थितौ 'छे च' इति तुगागमे तस्य कित्त्वेन स्वेत्यस्याऽन्त्यावयवे स्वत् छायेति जाते 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वदृष्ट्या 'स्तोः' इति श्चुत्वस्याऽसिद्धत्वेन पूर्वं जश्त्वेन तस्य दत्वे तदनु 'स्तोः' इति श्चुत्वापेक्षया च 'खरि चेति' चर्त्वस्यासिद्धतया ततः पूर्वं 'स्तोः' इत्यनेन दकारस्य जकारे ततः परं 'खरि च' इति चर्त्वेन चकारे च कृते 'स्वच्छाया' इति सिद्धं भवति । न च 'स्वच् छाया' इति दशायामन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य चकारस्य पदान्तत्वं प्रकल्प्य 'चोः कुः' इति कुत्वं शङ्क्यम् । कुत्वदृष्ट्या श्चुत्वस्याऽसिद्धत्वाद् इति भावः । शिवच्छायेति 'शिव-छाया' इत्यवस्थायां 'छे च' इति सूत्रेण ह्रस्वस्य 'शिव' इत्यग्रस्थवकारोत्तरवर्त्यकारस्य तुक् प्राप्तः छे परे सति । स च कित्वाद् 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन अन्तावयवो जातः । तत्र 'हलन्त्यम्' इत्यनेन ककारस्येत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे उकारस्य निवृत्तौ 'शिव त् छाया' इति जाते । इह 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन तकारस्य चत्वे विहिते 'शिवच्छाया' इति सिद्धम् । एवमेव स्वच्छायेत्यत्र बोध्यम् । म्लेच्छतीति । म्ले इति दीर्घात्परस्य छकारस्य सत्त्वात्तुगागमप्राप्तौ जश्त्वे श्चुत्वे, चर्त्वे च कृते 'म्लेच्छति' इत्यस्य सिद्धिः फलति । न च 'दीर्घाद्'त्यत्र दीर्घादित्यस्य पंचम्यन्तत्वेन 'उभयनिर्देशे पंचमीनिर्देशो बलीयान्' इति छकारस्यान्तावयवोऽयं तुक् न तु दीर्घस्येति चेन्न । तथा सति चेच्छिद्यते इत्यादौ छकारात्तुगागमापत्तेः । 'सेनासुराच्छाया' इत्यादिसूत्रे दीर्घस्यैव तुगागमस्य ज्ञापितत्वेन दीर्घस्यैव तुग्भवतीति व्याख्यानात् । तेन म्लेच्छतीत्यत्राऽपि दीर्घस्यैव तुग्विधानं न तु छकारस्येति सुस्पष्टमेवेति दिक् । पदान्ताद्वेति । तुक्, छे, दीर्घात्, इत्यनुवर्तते तदाह—दीर्घात्पदान्तादित्यादिना । अत्र दीर्घस्यैवायं तुक् बोध्यः । न च 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति परिभाषया छकारस्यान्तावयवस्तुक् स्यादिति वाच्यम् । 'सेनासुरा-

---

आङ—आङ् माङ्को तुक्का आगम हो, छकारके परे ।

दीर्घात्—दीर्घको तुगागम हो, छकारके परे ।

पदा—पदान्त दीर्घको तुगागम हो, छकारके परे, विकल्पसे ।

सन्धि करो:—तपस् + चिनोति । अयस् + षट्पदाः । षट् + दर्शनम् । सम्पत् + हर्षः । तद् + स्वापयति । एतद् + लीला । अप् + नामकः । दिव्यम् + सरः । गुन् + हितम् । कथं + कृतम् । इदं + चित्रम् । केशान् + छिनत्ति । धनवान् + स्वपिति । अप्रधानान् + शत्रुः । नृन् + पालय । सम् + स्कृतम् । पुन् + छविः । हसन् + आगतः । स्वत + षट्सुरः । आ + छादम् ।

विच्छेद करो:—पयश्शीतम् । महाण्डामरः । अम्भाजनम् । तद्देयम् । उल्लम्भते ।

अथ विसर्गसन्धिः

विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४। खरि परे विसर्जनीयस्य सः । **शर्परे विसर्जनीयः ।८।३।३५।** शर्परे खरि विसर्गस्य विसर्गो, न त्वन्यत् । कः त्सरुः । 'घनाघनः क्षोभणः' ॥ **वा शरि ।८।३।३६।** शरि परे विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् ।

च्छाया' इतिपाणिनीयसूत्रनिर्देशेन तस्या प्रबाधनात् । लक्ष्मीच्छायेति । 'लक्ष्मी छाया' इत्यवस्थायाम् 'पदान्ताद्वा' इत्यनेन तुकि तको लोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन तस्य चत्वे 'लक्ष्मीच्छाया' इति निष्पन्नम् । तुगभावे च 'लक्ष्मीछाया' इति ॥

इति हल्सन्धिप्रकरणम् ।

विसर्जनादभ्यन्ति । खरवसानयोरित्यतो मण्डूकप्लुत्या खरीत्यनुवर्तते । एकदेशे स्वरितत्वस्य प्रतिज्ञानात् । तदाह—विसर्जनीयस्य खरि स इति । विसर्गविधानञ्च तस्य सत्वपरिसङ्ख्यानार्थम् । वाग्रहणाच्च सत्वपरिसङ्ख्यानं विकल्पम् तदाह—

प्रत्याहरति । [illegible] । मास्थाहि । [illegible] । धन्तस्यम् । मधुरश्च दधि । [illegible] । विद्वान्सन्ते । [illegible] । नॄं प्रतिकरोति । संस्करोति । पुंस्कोकिल । एकस्मिन्नहनि । यावच्छक्यम् । वृक्षच्छाया ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें हल्सन्धिप्रकरण समाप्त हुआ ।

विस—विसर्गके स्थानमें सकार आदेश हो, खर्के परे ।

नोट—विसर्ग दो प्रकारका होता है—सजात और रजात ।

(क) शब्द, विभक्ति (सुप् तिङ्) अथवा प्रत्यय सम्बन्धी सकारके स्थानमें रेफ होकर जो विसर्ग होता है उसे 'सजात' विसर्ग कहते हैं । यथा—(१) शब्द—निस् = निः । दुस् = दुः । शनैस् = शनैः । उच्चैस् = उच्चैः । नीचैस् = नीचैः । (२) विभक्ति—रामस् = रामः । हरिस् = हरिः । पठामस् = पठामः । (३) प्रत्यय—एकशस् = एकशः । बहुशस् = बहुशः ।

(कहीं मूर्धन्य षकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा—सजुष् = सजूः) ।

(ख) स्वाभाविक अथवा ऋकारस्थानिक रेफके स्थानमें जो विसर्ग होता है उसे रजात विसर्ग कहते हैं । यथा—(१) स्वाभाविक—स्वर् = स्वः । अन्तर् = अन्तः । प्रातर् = प्रातः । पुनर् = पुनः । निर् = निः । दुर् = दुः । गिर् = गीः । पुर् = पूः । धुर् = धूः । (२) ऋकारस्थानिक—मातर् = मातः । पितर् = पितः । भ्रातर् = भ्रातः । दुहितर् = दुहितः । जामातर् = जामातः । धातर् = धातः ।

(कहीं नकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा—अहन् = अहः) ।

शर्परे—'शर्' परक 'खर्' परमें रहनेपर विसर्गके स्थान विसर्ग ही हो ।

वा शरि—'शर्' के परे विसर्गके स्थानमें विसर्ग आदेश हो, विकल्पसे ।

हरिः शेते । हरिश्शेते । खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः ॥ हरि स्फुरति । हरिः स्फुरति ॥ इति विसर्गसन्धिः ॥ ४ ॥



अथ स्वादिसन्धिः

ससजुषो रुः ।८।२।६६। पदान्तस्य सस्य, सजुष्शब्दस्य च रुः स्यात्॥ **अतो रोरप्लुतादप्लुते** ।६।१।११३। अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽ-

---

परे इत्यादिना । हरिः शेते इति । 'हरिः-शेते' इत्यत्र 'वा शरि' इति सूत्रेण शर्प्रत्याहारान्तःपातिनि शकारे परे सति विसर्गस्य विसर्गे विहिते 'हरिः शेते' इति रूपम् । पक्षे-'विसर्जनीयस्य सः' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे विहिते हरिस् शेते इति जाते, तत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन सकारस्य शकारे च कृते 'हरिश्शेते' इति रूपम् । खर्परे शरीति । खर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । शर् विशेष्यम् । खर्परके शरि परे विसर्गस्य लोपविकल्पो वक्तव्य इत्यर्थः । लोपाभावे वा शरीत्यस्य प्रवृत्तिः । हरिः स्फुरतीति । अत्र विसर्गस्य खरपरकशर्परत्वात् विसर्गस्य पाक्षिके लोपेऽविसर्गरूपमेकम् । तथा चाऽसति विसर्गलोपे 'वा शरि' इति प्रवृत्त्या सविसर्गं द्वितीयं रूपम् । असति च विसर्गे विसर्जनीयस्य सकारेण हिसकारात्मकं तृतीयं रूपमिति त्रीणि रूपाणि विसर्गलोपाऽलोपसकार-संकलितानि भवन्तीति निर्णयः । इति विसर्गसन्धिः ।

ससजुष इति । पदस्येत्यधिकृतं सकारेण सजुष्शब्देन च विशेष्यते । अतस्तदन्तविधिः । सकारान्तं सजुष्शब्दान्तं च यत्पदं तस्य रुः स्यादिति । स च 'अलोऽन्त्य' इति परिभाषया अन्त्यस्य भवति । ततश्च फलितमाह—पदान्तस्य सस्येत्यादिना । अतो रोरिति । 'ऋत उत्' इत्यतः उदित्यनुवर्तते । अत इति पञ्चमी । 'एङः पदान्तादति' इत्यतोऽतीत्यनुवर्तते तदाह-अप्लुतादित्यादिना । शिवोऽर्च्य इति । 'शिवस्-अर्च्यः' इत्यवस्थायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इति सूत्रेण रोरुत्वे 'शिव उ अर्च्यः' इति जाते तत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने गुणे विहिते 'शिवो अर्च्यः' इति जाते 'एङः पदान्तादति' इति सूत्रेणार्च्य इत्यस्याकारस्य, पूर्वरूपादेशे च विहिते 'शिवोऽर्च्यः' इति

खर्परे—'खर्' परक 'शर्' परमें रहनेपर विसर्गका लोप हो, विकल्पसे ।

इसप्रकार इन्दुमती टीकामें विसर्गसन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।

ससजुषो—पदान्त सकार और सजुष् शब्दके षकारके स्थानमें 'रु' आदेश हो ।

अतो—अप्लुत 'अत्' पर रुसम्बन्धी रेफके स्थानमें 'उत्व' हो, अप्लुत अत्के परे ।

नोटः—रुत्व-उत्व होनेपर पूर्व अकार और उकार मिलके गुण 'ओ' हो जाता है । और तदनन्तर 'एङः पदान्तादति' से पर अकारका पूर्वरूप हो जाता है ।

र्थे । अत: किम् ? देवा अत्र । अति किम् ? श्व आगन्ता । अप्लुतात्किम् ? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्याऽसिद्धत्वादत: परोऽयम् । अप्लुतादिति विशेषणेन तत्सामर्थ्यात्नाऽसिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यं, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् अप्लुते इति किं ? तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त ॥ हशि च ।६।१।११४। अप्लु

सिद्धम् । अत किमिति । 'अतो रो.' इति सूत्रेऽत इति तपरकरणात् 'देवास् अत्र' इत्यत्र सकारस्य रुत्वे सति रुत्वस्य उकारादेशापत्त्या देवा अत्र इति, रूप न सिद्ध भविष्यति अत: सूत्रे 'अत' इति तपरकरण करणीयमन्यथा दीर्घाकारात्परस्यापि रो स्थाने उकारापत्ति सम्भवेत् । सति चात इति च तपरकरणे 'देवा रु अ' इत्य वस्थायां 'रो' ह्रस्वाकारपरत्वाभावेन नोकारस्य प्राप्ति, किन्तु 'भो भगो' इत्यादिना रोर्यत्वे यलोपे 'देवा अत्र' इति प्रयोगस्य सिद्धि । अतीति किमिति । 'अतो रोरि' सूत्रे अतीति तपरकरणाभावे दीर्घेऽप्याकारे परतो रोरुत्वापत्तिर्भवेत्, तेन 'श्वस् आ गन्ता' अत्र सस्य रुत्वे कृते रोर्ह्रस्वाकारात्परत्वेन रो स्थाने उत्वापत्ति स्पष्टैवात सूत्रेऽतीति पदस्य नितान्तमावश्यकता । सति चातीतिग्रहणे तस्य तपरत्वे ह्रस्व स्यैवाकारस्य रो परत्वेन स्थितावुत्पत्ति स्यात् । तथा सति श्व आगन्ता, अत्र रो परमाकारस्य सत्वेनोत्वप्राप्तेर्नाशङ्कति भाव । अप्लुतादिति किमिति । अतो रोरि सूत्रे अप्लुतात् इति अत इत्यस्य विशेषणीभूतस्य पदस्याभावे प्लुतावस्थाकादप्यत परस्य रो स्थाने उत्व स्यात् तत्परेऽकारे सति । तथा सति एहि सुस्रोत अत्र स्नाहीत्यत्र 'सुस्रोतस्+अत्र' इत्यवस्थायां सस्य रुत्वे सति तत्पूर्वं परे ह्रस्वाकारस्य सत्वेनोत्वापत्ति स्पष्टेति तद्वाधनार्थम् अप्लुतादित्यस्यावश्यकता तेन प्लुतसंज्ञाभाज परस्य रोर्नोत्वम्'इति भाव । न च रो पूर्वमत इति तपरकरण स्वविषयत्वेव प्लुतनिरासेऽप्यप्लुतग्रहण व्यर्थमिति चेन्न । उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्ध त्वात् रो पूर्वं ह्रस्वाकारस्य सत्वेनोत्वप्राप्तेर्दुर्वारत्वात् । ननु कृतेऽप्लुतादिति ग्रह उत्वदशायां प्लुतस्याऽसिद्धत्वेनोत्वस्य दुर्वारत्वेन दोषस्य तादवस्थ्यमेवेति चेन्न अप्लुतादिति विशेषणग्रहणे तु ग्रहणसामर्थ्यादेव प्लुतस्योत्वदशायां नासिद्धत्वमिति भाव । यदि उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वम्, तर्हि अप्लुतादिति विशेषणस्य वै यर्थ्यमेव, कृतेऽपि विशेषणे प्लुतस्यासिद्धतयाऽप्लुतात्परस्य रोरुत्वप्रासिदोषतादव स्थ्यात् । अतोऽप्लुतादिति विशेषणसामर्थ्यात् प्लुतस्य नासिद्धत्वमित्यर्थ । तपर करणस्य तु देवा अत्र इत्यादौ दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वेन पुनस्तस्य प्लुतवारणेऽस मर्थ्येनाप्लुतादिति ग्रहणस्य आवश्यकत्वमेवेति भाव । अप्लुते इति किमिति । सूत्रे प्लुते इति पदाभावे प्लुतसंज्ञकेऽकारे परतोऽपि उत्वापत्ति स्यात् । उत्वस्य

हशि च—अप्लुत 'अत्' से पर वाले 'रु' के स्थानमें 'उत्व' हो, हश् (वर्गके तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण और 'य व र ल ह') परमें रहने से ।

तादतः परस्य रोरुः स्यादशि ॥ शिवो वन्द्यः ॥ भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ।८।३।१७। एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि । देवा इह, देवायिह । 'भोस्' 'भगोस्' 'अघोस्' इति सान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते—व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ।८।३।१८। पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे । यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः ॥ ओतो

प्लुतस्य असिद्धत्वात् । न च कृतेऽपि अप्लुते इति ग्रहणे उत्वस्याऽपेक्षया प्लुतस्या-सिद्धत्वेनोत्वस्य दुर्वारत्वमेवेति वाच्यम् अप्लुत इति ग्रहणसामर्थ्यात् उत्वप्राप्तिदशया प्लुतस्य असिद्धत्वाभावात् । तेन च 'तिष्ठतु पय अग्निदत्त' इत्यत्र रोः परस्या-ऽकारस्य 'गुरोरनृ' इत्यादिना प्लुतत्वेन नोत्वमिति भावः । हशि चेति । अतो रोरप्लुतादिति पदत्रयमनुवर्तते । अत उदित्यत उदिति चानुवर्तते । 'अप्लु-तादतः' परस्य रोरुः स्याद्धशि इति तदर्थः । शिवो वन्द्य इति । 'शिवस्–वन्द्यः' इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सस्य रुत्वे 'हशि च' इत्यनेन हश्प्रत्याहा-रान्तःपातिनि वन्द्यघटकवकारे परे रोरुत्वे 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने गुणे च कृते 'शिवो वन्द्यः' इति रूपम् । भो भगो इति । 'रोः सुपि' इत्यतो रोरित्यनुवर्तते । भो भगो अघो अ इत्येतेषां द्वन्द्वः । एते पूर्वे यस्मादिति बहुव्रीहिः । पूर्वशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमात् । तेन भोपूर्वकस्य, भगोपूर्वकस्य, अघोपूर्वकस्य, अवर्णपूर्वकस्य च रोर्यादेशः स्यादशि इति सूत्रार्थः । देवा इहेति । 'देवास् इह' इति दशायां 'ससजुषो रुः' इति सूत्रेण सस्य रुत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति सूत्रेण रोर्यादेशे 'देवाय् इह' इति जाते, तत्र 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन यलोपे 'देवा इह' इति जायते । शाकल्यग्रहणात्पक्षे 'देवायिह' इति । व्योर्लघुप्रयत्नेति । व् च य् च व्यौ तयोरिति विग्रहः । पदस्येत्यधिकृतम् । तच्च वकारयकाराभ्यां विशेष्यते तदन्तविधिना च वान्तस्य यान्तस्येति च लभ्यते । 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनैतस्याऽन्ते प्रवृत्तिः । तेन पदान्तयो-र्वयोरिति लब्धम् । लघुः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः । अतिशयितः लघुप्रयत्नः लघुप्रयत्नतरः । अन्यपदार्थस्य च वर्तिपदार्थप्रकर्षापेक्षः प्रकर्षः । लघुतरप्रयत्नक इत्यर्थः । अवयवार्थातिशये तरप्प्रत्ययः । सूक्ष्मवस्त्रतरादिवत् इति वार्तिकेन लघुत्वरूपस्याऽवयवार्थस्याऽतिशये लघुप्रयत्न इति समुदायाच्चरप् । आन्तर्यात् यस्य यः वस्य च वः । शाकटायनमुनिवचनाद्विकल्पसिद्धिः । ओतो गार्ग्य-

भोभगो—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक रुसम्बन्धी रेफके स्थानमें यत्व हो, अश्के परे । व्योर्लघु—पदान्त यकार-वकारके स्थानमें लघूच्चारण 'य' और 'व' आदेश हो, अश्के परे ।

ओतो—ओकारसे पर जो पदान्त अलघुप्रयत्न यकार उसका नित्यलोप ही हो ।

गार्ग्यस्य ।८।३।२०। ओकारात्परस्य पदान्तस्याऽलघुप्रयत्नस्य यस्य नित्यं लोपः स्यात् । गार्ग्यग्रहणं पूजार्थम् । भो अच्युत । लघुप्रयत्नपक्षे—भोयच्युत । पदान्तस्य किम् ? तोयम् ॥ **हलि सर्वेषाम्** ।८।३।२२। भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यस्य नित्यं लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि । देवा यान्ति ॥ **रोऽसुपि** ।८।२।६९। अह्नो रेफादेशो, न तु सुपि । अहरहः । अह-

---

स्येति । ओत इति पञ्चमी व्योरित्यतो यग्रहणस्यानुवृत्तिः न तु वकारस्य, ओतः परस्य तस्याऽसम्भवात् । पदस्येत्यधिकृतम् । तच्च यकारेण विशेष्यते । तदन्तविधिना ओकारात्परो यो यकारस्तदन्तस्येति लभ्यते । अलोऽन्त्यपरिभाषया च पदान्तस्य यकारस्येति फलितम् । भोभगोरित्यतोऽशीत्यनुवर्तते । लोपः शाकल्यस्येत्यत लोप इत्यनुवर्तते । स च पूर्वविहितलघुप्रयत्नकस्य न भवति, विधानसामर्थ्यात् । गार्ग्यग्रहणस्य पूजार्थत्वेन लोपस्य नित्यत्वं बोध्यम् । भो अच्युतेति । भोस् इत्यस्य सकारस्य रुत्वे भोभगोरित्यादिना यत्वे यकारस्य 'ओतो गार्ग्यस्य' इति नित्यं लोपे सति भोअच्युतरूपस्य सिद्धिः । यकारलोपस्याऽसिद्धत्वात् नावादेशलोपौ । लघुप्रयत्नपक्षे तु यकारलोपाभावे सति भोयच्युतेति द्वितीयं रूपं भवति । पदान्तस्य किमिति । सूत्रे पदान्तस्य यकारस्य लोपो भवतीत्यर्थाभावे 'तोयम्' अत्राऽपदान्तस्य यकारस्य लोपः प्रसज्येत । तद्वारणाय पदान्तस्येति देयम् । हलि सर्वेषामिति । भोभगोअघोअपूर्वस्येत्यनुवर्तते व्योर्लघुप्रयत्नेत्यतः यकारग्रहणमनुवर्तते । सर्वाचार्यसम्मततया अयं नित्यो लोप इति भावः । भो देवा इति । अत्र भोस् इति सकारस्य 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे 'भोभगो' इति यत्वे 'हलि सर्वेषाम्' इति यकारस्य हल्परत्वात् लोका-रपरकत्वाच्च लोपे 'भो देवा' इति सिध्यति । तथैव भगो नमस्ते अघो याहि देवा यान्ति । इत्यादिषु प्रयोगेषु यकारस्य 'हलि सर्वेषाम्' इति लोप इति भावः । रोऽसु-पीति । र० असुपीति छेदः । 'अहन्' इति सूत्रमनुवर्तते । तच्च लुप्तषष्ठीकं पदम् । तदाह—'अह्नो रेफादेशः' इत्यादिना । अहरह इति । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम् । 'अहन् अहन्' इति स्थिते 'रोऽसुपि' इत्यनेन सर्वस्याहन्शब्दस्य रेफादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषया तत्तदन्त्यस्य नस्य प्राप्ते अहर् अहर् इति जाते तत्र 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यन्त्यस्य विसर्गे, कृते च सयोगे 'अहरहः' इति

हलि—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक यकारका लोप, हो, हल्के परे—सभीके मतसे अर्थात नित्य हो ।

नोट—'हल्' के परे अवर्णपूर्वक यकारका लोप होने पर पुनः दूसरी सन्धि नहीं होती।

रोऽसुपि—अहन्शब्दके नकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, किन्तु सुप् (सप्तमीय वचन) के परे नहीं हो ।

गणः । असुपि किम् ? अहोभ्याम् । अत्र 'अहन्' इति रुत्वम् । (रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्) । अहो रूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविकृतन्यायेन—अहो रात्रः । अहो रथन्तरम् । (अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः) विसर्गापवादः । अहर्प्पतिः ॥ गीर्प्पतिः । धूर्प्पतिः । अहःपतिः । अहᳲपतिः । पक्षे—विसर्गोपध्मानीयौ ॥ **रो रि** ।८।३।१४। रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् ॥ **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** ।६।३।१११। ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । **ढो ढे लोपः** ८।३।१३। लीढः ।

भवति । 'अहन्-गणः' अत्र 'रोऽसुपि' इति सर्वस्य रेफादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषया अन्त्यस्य विहिते संयुक्ते च कृते 'अहर्गणः' इति रूपम् । रूपरात्रीति । अहन्शब्दस्येति शेषः । रोऽसुपीति रत्वस्यापवादः । रूपरात्रिरथन्तरेषु शब्देषु परेषु सत्सु अहन्नकारस्य रुत्वं वाच्यमिति फलितोऽर्थः । पुना रमते इति । 'पुनर्-रमते' इति स्थिते 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'पुन रमते' इति जाते, अत्र 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति सूत्रेणात्र लोपनिमित्ते रेफे परे पूर्वाण्रूपस्य नकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य दीर्घे च विहिते 'पुना रमते' इति सिद्धम् । 'हरिस्-रम्यः' इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'हरिर् रम्यः' इति जाते तत्र 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यनेन दीर्घे च कृते 'हरी रम्यः' इति सिद्धम् । 'शम्भुस्-राजते' अत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शम्भुर् राजते' इति जाते तत्र 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यनेनोकारस्य दीर्घे 'शम्भू राजते' इति भवति । ढो ढे लोप इति ढो, इति ढ शब्दस्य षष्ठी तेन ढकारस्येति लब्धम् । ढकारे परे ढस्य लोपः इत्यर्थः फलितः । तेन पूर्वढकारस्य लोपस्य बोधः । तेन प्रक्रियायां ढकारद्वयस्य सिद्धिः । तृहू हिंसायाम्, वृहू उद्यमने; आभ्यां क्तप्रत्यये 'हो ढः' इति ढत्वे 'झषस्तथोः' इति तकारस्य धत्वे तस्य ष्टुत्वेन ढकारे 'तृढ् ढ' 'वृढ् ढ' इति जाते अत्र 'ढो ढे लोपः' इत्यनेन पूर्वढस्य लोपे सति 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यस्मिन् सूत्रे अणग्रहणाभावे ढलोपनिमित्ते ढकारे परे पूर्वस्य ऋकारस्य दीर्घे प्राप्ते तन्मा भूत् इति 'अण्' ग्रहणमत्र कृतम् ।

रूपरात्रि—रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दके परे अहन् शब्दके नकारके स्थानमें रेफ आदेश हो ।

अहरा—पत्यादि शब्दके परे अहरादिका विसर्गापवाद रेफ आदेश हो, विकल्पसे ।

रो रि—रेफका लोप हो रेफके परे ।

ढ्रलोपे—ढकारलोप और रेफलोप निमित्तक जो ढकार, रेफ उनके परे पूर्व अण्को दीर्घ हो ।

ढो ढे—ढकार के परे ढकारका लोप हो ।

अणः किम्? वृक्षः। वृक्षः। 'मनस्-रथ' इत्यत्र रुत्वे कृते, 'हशि चे'त्युत्वे 'रोरी'ति लोपे च प्राप्ते। विप्रतिषेधे परं कार्यम् ।१।४।२। तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते। 'पूर्वत्रासिद्ध'मिति 'रो री'त्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव—मनोरथः॥ एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ।६।१।१३२। अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्?

वेनात्र न दीर्घस्तदेवाह—अण किम्? वृक्ष वृक्ष इति। विप्रतिषेध इति। मनोरथ इति। 'मनस्-रथ' इति स्थितेऽत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन पदान्तस्य सस्य रुत्वे विहिते 'हशि च' इत्यनेन रोरुत्वे प्राप्ते 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे च प्राप्ते तर्हि प्राक् केन भाव्यमिति शङ्कायाम् 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति सूत्रेण परं कर्तव्यम्। तत्र 'हशि च' इति सूत्रं षष्ठाध्यायस्थं 'रो रि' इति चाष्टमाध्यायस्थम् इति 'हशि च' इत्यपेक्षया 'रो रि' इत्यस्य परत्वम्, इति 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे प्राप्ते, तत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यधिकारसूत्रेण सपादसप्ताध्यायीस्थसूत्रापेक्षया त्रैपादिकस्य 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वप्रतिपादनात् न 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपः, किन्तु 'हशि च' इत्यनेन रोरुत्वे 'मन उ रथ' इति जाते 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने ओकाररूपे गुणे कृते 'मनोरथः' इति सिद्धमिति। एतत्तदोरिति। एतत्तच्छब्दयोरनुकरणत्वेन शब्दपरत्वम्। अतः सूत्रे नैकशेषः। 'सु' इति लुप्तषष्ठीकं पदम् एतत्तदोरित्यनेनान्वेति—एतत्तदोः सकारस्येति। अत एव 'सोर्लोपः सुलोपः' इति न षष्ठीसमासः, असामर्थ्यात्। अविद्यमानः ककारः ययोस्तौ अकौ तयोः अकोरिति बहुव्रीहिस्तदाह—अककारयोरित्यादिना। एष विष्णुरिति। 'एतद्-सु विष्णु' इति दशायां 'त्यदादीनामः' इत्यनेन अकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इत्यनेन तस्य सत्वे सस्य च षत्वे 'एष सु विष्णु' इति जाते, अत्र 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इति सूत्रेण सोर्लोपे विहिते सति 'एष विष्णु' इति सम्पद्यते। अकोः किमिति। न च अकचि सति शब्दान्तरत्वात् प्रकृते प्राप्तिरेव नास्तीति वाच्यम्। 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति परिभाषया प्राप्तेः सत्त्वात्। प्रकृतपरिभाषायामिदमेव ज्ञापकं बोध्यम्। 'एषकस्-रुद्र' अत्र एतच्छब्दस्य सककारत्वान्न सुलोपः, किन्तु 'ससजुषो रुः' इत्यनेन रुत्वे 'हशि च'

विप्रतिषेध—विप्रतिषेध (तुल्यबलविरोध) होनेपर परकार्य हो।

नोट—परस्परव्याप्तकारणयोरेकत्र प्रसङ्गे समावेशस्तुल्यबलविरोधः। अर्थात् अपने २ स्थलोंमें चरितार्थ दो सूत्रोंका (कहीं) एक स्थलमें समावेश होनेको 'तुल्यबलविरोध' कहते हैं।

एतत्तदो—ककाररहित जो एतद् और तद् शब्दसम्बन्धी 'सु' उसका लोप हो, हल् के परे। किन्तु 'नञ्' समासमें नहीं हो।

एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र ॥ **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ।६।१।१३४।** 'स' इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । 'सेमामविड्ढि प्रभृतिम्' । 'सैष दाशरथी रामः' ॥ इति स्वादिसन्धिः ।

॥ इति पञ्चसन्धिः ॥



इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एषको रुद्रः' इति रूपम् । अत्र 'सको रुद्रः' इत्यपि । अनञ्समासे किमिति । अनञ्समासे इति न पर्युदासः, किन्तु प्रसज्यप्रतिषेधः । प्रकृते 'अस सु शिव' इत्यत्र नञ्समासत्वात् 'एतत्तदोः' इति सूत्रस्याप्राप्तौ 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः इति रेफस्य विसर्गत्वे 'असः शिवः' प्रत्युदाहरणम्बोध्यम् । एषोऽत्रेति । 'एष सु अत्र' इत्यत्र हल्परत्वाभावात् 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इत्यस्याप्राप्तौ सस्य 'ससजुषो रुः' इत्यनेन रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्यनेन उत्वे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'एङः पदान्तादति' इत्यनेन पूर्वरूपे च कृते 'एषोऽत्र' इति जायते । सोऽचि लोप इति । स इति प्रथमैकवचनान्तं स्वरूपपरम् । ततः षष्ठ्या लुक् । सस् शब्दस्येति लभ्यते । सुलोप इत्यनुवर्तते; तदाह-स इत्यस्येत्यादिना । 'सस् इमामविड्ढिप्रभृतिम्' इत्यत्र 'सोचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इति सकारलोपाभावे पादोऽत्र न पूर्यते अतोऽनेन सकारलोपे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे सति 'सेमामविड्ढिप्रभृतिम्' इति सिद्धम् । एवम्-'सस्-एष दाशरथी रामः' इत्यत्र 'सोचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इत्यनेन पादपूरणार्थं

सोऽचि—लोप होनेसे यदि पादकी पूर्ति होती हो तो अच्के स (तद् शब्द) सम्बन्धी सुका लोप हो । सैष—सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकारका है:—

'सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः ॥'

यह श्लोक 'अनुष्टुप्' छन्दमें है । इसके प्रतिपादमें आठ २ अक्षर होते हैं । यहां पर यदि सुलोप नहीं होता तो 'सस्+एष' ऐसी स्थितिमें रुत्व-यत्व-यलोप होकर 'स एषः' ऐसा हो जाता और प्रत्येक पादमें एक अक्षर बढ़जानेसे पादकी पूर्ति नहीं होती ।

(सुलोप होनेपर 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' लगता नहीं, अतः वृद्धि होकर 'सैषः' बनता है)।

शुद्ध करो:—अलोर्मयः । केशवोर्ध्वम् । तवेदम् । स्वेरः । दिवोकसः । उपेति । प्रेषयति । रामेहि । उपरोक्तः । गवीयानम् । सखेहागच्छ । कन्यागच्छतः । अम्बतत्तः । रामस्शेते । ततछविः । अधिस्थाता । देवो यज्ञः । दिगेशः । ददत्धसति । महाश्नात्मा । विषयान्नाह जगरनायकः । संचितः । यम्लोकम् । गच्छंचकोरः । मतिमाच्छन्तः । पुष्ठखनिश्रम् । वाच्छूरः । वाक्मात्रेण । वृक्षछाया । रामोक्रुष्यति । मनोकामना । अहोगतः । सो रामः । एषो बालः । बालो चलति । प्रातो गमनम् । अघो इन्द्रः । भषो विष्णुः । सूर्यो सदैव । इतो शत्रुः । मनो

अथाऽजन्ताः पुँल्लिङ्गाः

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।१।२।४५। धातुं, प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् ॥ कृत्तद्धितसमासाश्च ।१।२।४६। कृत्तद्धितान्तौ, समासाश्च तथा स्युः ॥ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्

सलोपे विहिते 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ 'सैष दाशरथी रामः' इति पादपूरणसिद्धिः ।

इति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

'स्वौजस' इत्यादिना स्वादिप्रत्ययान्वक्ष्यति । तत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यधिकृतम् । किं तत्प्रातिपदिकमिति जिज्ञासायामाह—अर्थवदिति । अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् । नपुंसकलिङ्गनिर्देशानुसारात् शब्दस्वरूपमिति विशेष्यमध्याहार्यम् । अधातुरिति, अप्रत्यय इति च तद्विशेषणम् । न धातुरधातुरिति नञ्तत्पुरुषः । 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति पुंस्त्वम् । अप्रत्यय इत्यावर्तते । प्रत्ययभिन्नं प्रत्ययान्तभिन्नं च विवक्षितम् । न चात्र 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इति परिभाषया तदन्तविध्यभाव इति वाच्यम् । प्रत्ययस्य यत्र संज्ञा तत्रैव तद्विषयात् । तदाह—धातुं प्रत्ययमित्यादिना । कृत्तद्धितेति । कृच्च तद्धितश्च समासश्चेति विग्रहः । पूर्वसूत्रात् प्रातिपदिकमित्यनुवर्तते, बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्या' इति परिभाषया कृत्तद्धितेति तदन्तग्रहणं तदाह—कृत्तद्धितान्तावित्यादिना । स्वौजसमौडिति । सु, औ, जस्-अम्, औट्, शस्-टा, भ्याम्, भिस्-ङे, भ्यां, भ्यस्-

---

सुखम् । देवा हसन्ति । भन्त्रां प्रिय । प्राचो रमय ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें स्वादिसन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।

अर्थ—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त भिन्न अर्थवान् शब्दस्वरूप प्रातिपदिक संज्ञक हो ।

नोट—धातुभिन्न कहनेसे 'अहन्' की प्रातिपदिक संज्ञा होकर नलोप नहीं हुआ । प्रत्यय भिन्न कहनेसे 'रामेषु' और 'वनोषि' में 'सुप्, सिप्' की प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सात्पदाद्योः' से षत्वका निषेध नहीं हुआ । प्रत्ययान्तभिन्न कहनेसे 'रामेषु' इस समुदायकी प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुप्‌का लोप नहीं हुआ ।

कृत्तद्धि—कृदन्त, तद्धितान्त और समासकी भी प्रातिपदिक संज्ञा हो ।

स्वौजस्—(इस सूत्रका अर्थ 'ङ्याप्' सूत्रके साथ आगे देखो ।)

नोट—'विभक्तिश्च' से सुप्-तिङ्‌की विभक्ति संज्ञा होती है । 'सुप्'में प्रत्याहार किया जायेगा और वह प्रत्याहार इसी सूत्रके आदि वर्ण—'सु'से लेकर अन्तिम 'सुप'के 'प्' तकसे बनता है । 'सुप्' से सु, औ, जस् आदि इक्कीस विभक्तियाँ ली जाती हैं ।

इसमें उकारका 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से, जसमें जकार और टामें टकारका 'चुटू' से,

ङसिभ्यांभ्यसङसोसाम्ङ्योस्सुप् ।४।१।२। सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस्-द्वितीया। टा भ्यां भिस्-तृतीया। ङे भ्यां भ्यस्-चतुर्थी। ङसि भ्यां भ्यस्-पञ्चमी। ङस् ओस् आम्-षष्ठी। ङि ओस् सुप्-सप्तमी। **प्रत्ययः** ।३।१।१। आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम्। **परश्च** ।३।१।२। अयमपि तथा। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** ४।१।१। ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः ॥ **सुपः** ।१।४।१०३। सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञानि स्युः ॥ **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** ।१।४।२२। द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ॥ **विरामोऽवसानम्** ।१।४।११०। वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्व-विसर्गौ।

ङसि, भ्यां, भ्यस्-ङस्, ओस्, आम्—ङि, ओस्, सुप्, इत्येकविंशतिः स्वादयः। समाहारद्वन्द्वो वा इतरेतरयोगद्वन्द्वस्तेन सौत्रमेकवचनम्। ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकृतं प्रत्ययः, परश्चेति च। यथायथं च विपरिणम्यते। ङ्याप्प्रातिपदिकादिति। ङी च आप् च प्रातिपदिकञ्चेति समाहारद्वन्द्वः। ङी इत्यनेन ङीप्-ङीष्-ङीनां सामान्येन ग्रहणम्। आप् इत्यनेन टाप्डाप्चापां च सामान्येन ग्रहणम्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम्। तदेतदाह—ङ्यन्तादित्यादिना। सुप इति। सुप्प्रत्याहारः, षष्ठ्येकवचनम्। 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' इति सूत्रं तानीति वर्जमनुवर्तते। 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' इत्यतः त्रीणीत्यनुवर्तते तदाह—सुपस्त्रीणीत्यादिना। द्व्येकयोरिति। द्व्येकयोरिति भावप्रधाननिर्देशः। अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यादित्यभिप्रेत्याह—द्वित्वैकत्वयोरिति। विरामोऽवसानमिति। विरम्यते अस्मिन्निति विरामः सामी-

---

औट्में टकार और सुप्में पकारका 'हलन्त्यम्' से 'शस्'में शकार तथा ङे, ङसि, ङस् और ङिमें ङकारका 'लशक्वतद्धिते'से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप (श्रवणाभाव) हो जाता है। याद रहे कि विभक्तियोंके अन्तिम सकार-मकारकी इत्संज्ञा इसलिये नहीं होती कि 'न विभक्तौ तुस्माः' (आगे पृ० देखो) निषेध कर देगा।

प्रत्ययः-परश्च-ङ्याप्-ये तीनों सूत्र अधिकार सूत्र हैं इन तीनोंका 'स्वौजस०' सूत्रमें अधिकार होकर 'स्वौजस०' सूत्रका विशिष्ट अर्थ निम्नलिखित होता है:—

ङ्यन्त-आबन्त-प्रातिपदिकसे पर स्वादि प्रत्यय हो।

नोटः—अधिकार सूत्रका लक्षण—'स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधजनकत्वम्' अर्थात् अपनी जगह पर स्वार्थबोध नहीं होकर अन्य सूत्रोंके साथ अर्थबोध होना।

सुपः—सुप्के जो तीन ३ वचन वह प्रत्येक क्रमशः एकवचन-द्विवचन बहुवचन संज्ञक हो।

द्व्येकयोः—द्वित्वकी विवक्षामें द्विवचन और एकत्वकी विवक्षामें एकवचन हो।

विरामो – वर्णोंका अभाव अवसान संज्ञक हो।

नोटः—जिस वर्णके आगे कोई दूसरा वर्ण नहीं हो वह अवसान वर्ण कहलाता है।

रामः । (अयोगवाहानामकारस्योपरि, शर्षु चेति वाच्यम् ।) अमाऽनुस्वार विसर्ग-जिह्वामूलीयो पध्मानीया अयोगवाहाः । तेनेह विसर्गस्य शर्त्वादनचि चेति द्वित्वपक्षे–रामः ॥ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ।१।२।६४। एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते, अन्ये तु लुप्यन्ते । यः शिष्यते स

विरमेऽधिकरणे घञ् । विरमणम्—क्रियाया अभावः । स च शब्दशास्त्रप्रस्तावात् वर्णानामुच्चारणाभावात्मक इति लभ्यते । तदेतदाह—वर्णानामभाव इत्यादिना । राम इति । 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥' इति श्रुतिः । अत्रैव यदि यौगिको रामशब्द आश्रीयते, तदा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा । यदि च रूढो दशरथात्मजो रामशब्दस्तदा 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा । तस्यां कृतायां 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञकरामशब्दात् 'खले कपोतन्यायेन सर्वे स्वादयः प्राप्ताः, तत्र 'सुपः' इत्यनेन प्रथमादिसप्तम्यन्तत्रिके प्रत्येकम् एकद्विबहुवचनसंज्ञाः विहिताः । तेषु प्रथमायाः एकवचनविवक्षायां रामशब्दात् सुप्रत्यये 'राम सु' इति जाते सकारोत्तरवर्त्युकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'राम स्' अत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन रुत्वे रेफोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे 'रामः' इति रूपम् । रामशब्दात् द्विवचनविवक्षायां प्रथमाया द्विवचने औ इति समागते 'राम राम औ' अत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकरामस्य लोपे सति 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते 'नादिचि' इत्यनेन तस्य निषेधे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ—'रामौ' इति । सरूपाणामिति । एकविभक्ताविति सरूपाणामित्यत्रान्वेति । समानं रूपं येषां तानि सरूपाणि । ज्योतिर्जनपदेत्यादिना 'समानस्य सभावः । पूर्वो सूत्रेषूत्तरसूत्रादेवेत्यपकृष्यते । शिष्यत इति शेषः । कर्मणि घञ् । एकश्चासौ शेषश्चेति पूर्वकालैकेति समासः । एकस्यां विभक्तौ परतः सरूपाणामेव दृष्टानां मध्ये

अयोगवाहानाम्—अयोगवाहोंका अक्षर समाम्नायमें अकारके आगे तथा शर्प्रत्याहारमें भी उपस्थान करना (पाठ समझना) चाहिये ।

नोट—अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यमोंको अयोगवाह कहते हैं ।

सरूपाणाम्—एक (साधारण याने बराबर) विभक्तिमें जहाँ समान ही रूप देखे गये हों वहाँ उनमेंसे एक ही शेष हो (बचे) और अन्यका लोप हो जाय ।

नोट—इस सूत्रसे यह नियम सिद्ध होता है कि दो या बहुत अर्थ बोध करानेमें भी शब्दका एक ही बार उच्चारण होना चाहिये । 'एक' शब्दका आठ अर्थ होता है यहाँ एकका साधारण (बराबर) अर्थ लिया गया है । कहा भी है—

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥

लुप्यमानार्थाऽभिधायी । **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** ।६।१।१०२। अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । **नादिचि** ।६।१।१०४। आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि । रामौ । **बहुषु बहुवचनम्** ।१।४।२१। बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ॥ **चुटू** ।१।३।७। प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः ॥ **विभक्तिश्च** १।४।१०४। सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः ॥ **न विभक्तौ तुस्माः** ।१।३।४। विभक्तिस्थास्तुस्मा नेतः । इति सस्य नेत्वम् । रामाः ॥ **एकवचनं सम्बुद्धिः** ।२।३।४९। सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं 'सम्बुद्धि'संज्ञं स्यात् ॥ **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** ।१।४।१३। यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादि

एकः शिष्यत इति फलितोऽर्थः । प्रथमयोरिति । 'अकः सवर्णे' इत्यतोऽकः इति । प्रथमयोरिति अवयवषष्ठी । प्रथमाद्वितीये सुब्विभक्ती विवक्षिते । अचि, इति 'इको यणचि' इत्यतोऽनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिक्रियते । नादिचीति । न, आत्, इति रामा इति । रामशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि कृते 'राम राम राम जस्' इति जाते तत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकराम अवशिष्टे 'राम जस्' अत्र 'चुटू' इत्यनेन प्रत्ययस्यादिभूतस्य जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे 'राम अस' इति दशायाम् अकारोत्तरवर्तिसकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञा प्राप्ता, सा 'विभक्तिश्च' इति विभक्तिसंज्ञायां 'न विभक्तौ तुस्माः' इत्यनेन निषिद्धा । अथ च 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते 'रामास्' इति भूते 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'खरवसान-

---

प्रथमयोः—'अक्' से प्रथमा और द्वितीया सम्बन्धी अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो । नादिचि—अवर्णसे पर 'इच्' हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं हो ।

बहुषु—बहुत्वकी विवक्षामें बहुवचन हो ।

चुटू—प्रत्ययके आदि चवर्ग और टवर्गकी इत्संज्ञा हो । विभक्तिश्च—सुप्-तिङ्की वैभक्ति संज्ञा हो ।

नोटः—'सुप्' से सुप् प्रत्याहार लिया जाता है । (पृ० २४ देखो) । 'तिङ्' से-'तिप् तस् झि सिप् थस् थ मिप् वस् मस् त आताम् झ थास् आथाम् ध्वम् इट् वहि महि' ये अठारह लिए जाते हैं (तिङन्तप्रकरणमें देखो) ।

न विभक्तौ—विभक्तिस्थित तवर्ग, सकार और मकारकी इत्संज्ञा नहीं हो ।

एकवच—सम्बोधनमें प्रथमाका एकवचन (सु) की सम्बुद्धि संज्ञा हो ।

यस्मात्—जो प्रत्यय जिस (शब्द) से विधान किया जाय तदादि (वह है आदिमें जिस समुदायके वह) शब्दस्वरूप उस प्रत्ययके परे अङ्गसंज्ञक हो ।

शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात्॥ एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ।६।१।६९। एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धिश्चेत्। हे राम। हे रामौ। हे रामाः॥ अमि पूर्वः ।६।१।१०७। अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ॥ लशक्वतद्धिते ।१।३।८। तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः॥ तस्माच्छसो नः पुंसि ।६।१।१०३। पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात्पुंसि॥ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ।८।४।२। अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम्- एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समानपदे।

योर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'रामाः' इति रूपं सिद्धम्। हे राम इति। रामशब्दात्सम्बोधनार्थकप्रथमैकवचनविवक्षायां सौ कृते 'राम सु' इति जाते 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सोः सम्बुद्धिसंज्ञायामनुबन्धलोपे सति 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' इत्यनेन रामशब्दस्याङ्गत्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इत्यनेन सम्बुद्धिसम्बन्धिनि हल्रूपे सकारे लुप्ते सम्बोधनद्योतक हे इत्यस्य पूर्वयोगे कृते 'हे राम' इति। अमि पूर्व इति। 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यतो अक इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारः। 'इको यणचि' इत्यतोऽचि इत्यनुवर्तते तदाह—अकोऽम्यचीत्यादिना। रामाविति। रामशब्दात् द्वितीयाया द्विवचनविवक्षायाम् 'औटि' कृते 'राम राम औ' अत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकराम अवशिष्टे 'सति' टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ प्राप्तायां तां बाधित्वा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तस्य 'नादिचि' इत्यनेन निषेधे कृते 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ कृतायाम् 'रामौ' इति सिद्ध्यति। अट्कुप्वाङ् इति। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति सम्पूर्णं सूत्रमनुवर्तते। रषाभ्यामिति पञ्चमीनिर्देशादव्यवहितस्यैव प्राप्तौ वचनमिदम्। तत्र सर्वैर्व्यवायोऽसम्भवः। एकैकमात्रव्यवाय इत्यपि नार्थः, कुप्वादिषु कुम्भशब्दपाठसामर्थ्यात्सरूपाणामित्यादिनिर्देशाच्चेत्यभिप्रेत्याह—व्यस्तैर्यथासम्भवमित्यादिना। रामानिति। रामशब्दाद् द्वितीयाबहुवचनविवक्षायां शसि समागते 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'राम अस्' इत्य

एङ्ह्र—एङन्त और ह्रस्वान्त अङ्गसे पर सम्बुद्धयवयव हल्का लोप हो।

अमि—अक्से अम्सम्बन्धी अच् परमें रहनेसे पूर्व-परके स्थानमें पूर्वरूप एकादेश हो।

लश—तद्धितको छोड़कर प्रत्ययके आदि लकार, शकार और कवर्गकी इत्संज्ञा हो।

तस्मा—पूर्वसवर्णदीर्घसे पर शस्सम्बन्धी सकारके स्थानमें नकार आदेश हो, पुंल्लिङ्गमें।

अट्कु—अट्-कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम् (नुमस्थानिक अनुस्वार)—इनके व्यस्त (पृथक् पृथक्) व्यवधान रहनेपर अथवा यथासम्भव मिलित (दोसे अधिक या सबका भी) व्यवधान रहनेपर रेफ-षकारसे पर नकारको णत्व हो, समान (एक) पदमें।

इति प्राप्ते । **पदान्तस्य** ।८।४।३७। नस्य णो न । रामान् ॥ **टाङसिङसामिनात्स्याः** ।७।१।१२। अदन्तादृादीनामिनादयः क्रमात् स्युः । णत्वम् । रामेण ॥ **सुपि च** ।७।३।१०२। यञादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाभ्याम् ॥ **अतो भिस ऐस्** ।७।१।९। अतोऽङ्गात्परस्य भिस ऐस् स्यात् । '**अनेकाल्शित्सर्वस्य**' । रामैः ॥ **ङेर्यः** ।७।१।१३। अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यादेशः स्यात् ॥ **स्थानिवदादेशो-**

वशिष्टे, अत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे विहिते 'रामास्' इति जाते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य नत्वे कृते 'रामान्' इति रूपम् । अत्र 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्य' इति निषिद्धे सति णत्वाभावेन 'रामान्' इति जायते । रामेणेति । रामशब्दात् तृतीयैकवचनविवक्षायां टासमागते 'राम टा' अत्र 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति टास्थाने इनादेशे कृते 'आद्गुणः' इति गुणे च विहिते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे 'रामेण' इति । रामाभ्यामिति । रामशब्दात् तृतीयाद्विवचनविवक्षायां भ्यामि प्रत्यये 'राम भ्याम्' इति दशायां 'सुपि च' इति यञादिसुबन्तःपातिनि भ्यामि परे अदन्ताङ्गस्य राम इत्यस्य दीर्घे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनाकारस्य दीर्घे 'रामाभ्याम्' इति । रामैरिति । रामशब्दात् तृतीयाबहुवचनविवक्षायां भिसि प्रत्यये 'राम भिस्' इति जाते अत्र 'अतो भिस ऐस्' इति भिस ऐसादेशे प्राप्ते क्व स्यादिति जिज्ञासायाम् 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इति परिभाषया अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे 'राम ऐस्' इति भूते अत्र वृद्धिरेचि इति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे च 'रामैः' इति । स्थानिवदिति । गुरुस्थानापन्ने गुरुपुत्रादौ स्थानापत्त्या तद्धर्मलाभो लोकतः सिद्धः । कुशादिस्थानापन्नेषु शरादिषु च वैदिकन्यायसिद्धः । इह तु शास्त्रे स्वं रूपं शब्दस्येति वचनात् स्थानिधर्माः

पदान्त—पदान्त नकारको णकार नहीं हो ।

नोटः—णत्वविधायक और तन्निषेधक अनेक सूत्र हैं । पर उन सबोंके निष्कर्ष 'चुटुतुलशर्व्यवाये न' यह भाष्यवार्तिक स्मरण रखने योग्य है ।

फलित यह हुआ कि एक पदमें ऋकार, षकार, और रेफसे पर चवर्ग टवर्ग, तवर्ग और ल तथा शर् (श ष स) वर्णसे भिन्न एक, दो या अनेक वर्ण व्यवधान रहनेपर भी पदान्त भिन्न नकारके स्थानमें णत्व हो । इतना याद रहनेपर वार्तिकेन आदिमें णत्व प्राप्तिकी शङ्का ही नहीं उठती ।

टाङसि—अदन्त अङ्गसे पर टा ङसि ङस्के स्थानमें क्रमसे इन-आत्-स्य आदेश हों ।

सुपि – यञादि सुप्के परे अदन्त अङ्गको दीर्घ हो । अतो—अदन्त अङ्गसे पर भिस्के स्थानमें ऐस् आदेश हो । ङेर्यः—अदन्त अङ्गसे पर ङेके स्थानमें 'य' आदेश हो ।।

स्थानि—आदेश स्थानिवत् (स्थानिधर्मवत्) हो, परन्तु स्थानिवृत्ति जो अल् तदाश्रय विधि कर्तव्यमें नहीं हो, (अर्थात् अलाश्रय विधि कर्तव्यमें स्थानिवद्भाव नहीं हो) ।

ऽनल्विधौ ।१।१।५६। आदेशः स्थानिवत्स्यान्न तु स्थान्यलाश्रयविधौ । वर्णमाश्रितो विधिरल्विधिः । आदेशोऽलाश्रयविधौ तु स्यादेव । इति स्थानिवत्त्वात्सुपि चेति दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् ॥ बहुवचने झल्येत् ।७।३।१०३। झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् । वाऽवसाने ।८।४।५६। अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात् । रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ॥ ओसि

आदेशेषु न प्राप्नुयुरिति तत्प्राप्त्यर्थं स्थानिवदिति सूत्रारम्भः । स्थानं च प्रसङ्ग इत्युक्तम् । यस्य स्थानेऽन्यद् विधीयते तत् स्थानि । येन विधीयमानेन अन्यस्य प्रसङ्गो निवर्तते स आदेशः । स्थानिना तुल्यः स्थानिवत् । 'तेन तुल्यम्' इति वतिप्रत्ययः । आदेशः स्थानिना तुल्यो भवति स्थानिधर्मको भवतीति यावत् । अलिति वर्णपर्यायः । विधीयत इति विधिः कार्यम् । अलाश्रयो विधिः अल्विधिः । न अल्विधिः अनल्विधिः । अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये इति प्रतीयमानोऽर्थः । अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भवतीति फलितम् । 'अनल्विधौ' इत्यस्य निष्कृष्टार्थस्तु स्थान्यवयवावृत्तिः अल्मात्रवृत्तिर्यो धर्मः तदवच्छिन्नधर्मनिमित्तके कार्ये कर्तव्ये न स्थानिवदिति । रामायेति । रामशब्दात् चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां ङे विहिते 'राम ङे' इति जाते तत्र 'ङेर्यः' इत्यनेन ङे इत्यस्य स्थाने यकारादेशे कृते 'राम य' इति । अत्र यकारे 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इति स्थानिवद्भावेन सुप्त्वमानीय 'सुपि च' इत्यनेनादन्ताङ्गस्य दीर्घे 'अतोऽन्त्यस्य' इत्यनेन अन्त्यस्याऽऽत्वे जाते 'रामाय' इति रूपं सिद्धम् । रामेभ्य इति । रामशब्दात् चतुर्थीबहुवचनविवक्षायां भ्यसि प्रत्यये विहिते 'राम भ्यस्' इति जाते, तत्र यञादित्वात्सुप्त्वाच्च 'सुपि च' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते तद्बाधित्वा 'बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन एकारे विहिते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य भकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे सत्व रुत्वे अनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गे च कृते 'रामेभ्यः' इति रूपम् । सुपि किमिति । 'बहुवचने झल्येत्' अस्मिन् सूत्रे पूर्वसूत्रतो यदि सुपीति नान्ववर्तिष्यत तदा 'पचध्वम्' इत्यत्र झलादिबहुवचने ध्वमि परे अदन्ताङ्गस्य दीर्घोऽभविष्यत् । तस्मात् सुपीत्यनुवर्तनमावश्यकम् । रामादिति । रामशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते 'राम ङसि' इत्यत्र 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति ङसेरादेशे कृते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे कृते 'वाऽवसाने' इति चर्त्व विकल्पेन सति 'रामात्' इति । पक्षे—'रामाद्' इति । रामस्येति । रामशब्दात् षष्ठ्येकवचनविवक्षायां ङसि 'राम ङस्' अत्र 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति ङस

बहु—झलादि बहुवचन सुप् के परे अदन्त अङ्ग के स्थानमें एत् हो ।

वाऽव—अवसानमें विद्यमान झल् के स्थानमें चर् आदेश हो, विकल्पसे ।

ओसि—अदन्त अङ्गको एत् हो, ओस् के परे ।

च ।७।३।१०४। अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात्। रामयोः ॥ **ह्रस्वनद्यापो नुट्** ।७।१।५४। ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्याऽऽमो नुडागमः ॥ **नामि** ।६।४।३। नामि परे अजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे । रामयोः । सुपि एत्वे कृते ॥ **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** ।८।३।५५। आ पादपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम् । **इण्कोः** ।८।३।५७। इत्यधिकृत्य । **आदेशप्रत्यययोः** ।८।३।५९। इण्कुभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः । **सर्वादीनि सर्वनामानि** ।१।१।२७। सर्वादीनि शब्दरूपाणि

स्यादेशे 'रामस्य' इति रूपम् । रामयोरिति । रामशब्दात् षष्ठीद्विवचनविवक्षायाम् ओसि 'राम ओस्' अत्र 'ओसि च' इत्यनेन अदन्ताङ्गस्यैकारे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनाकारस्य जाते 'रामे ओस्' अत्र 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अयादेशे संयुक्ते भूते 'रामयोस्' इति तत्र सस्य रुत्वे विसर्गे च 'रामयोः' इति रूपम् । रामाणामिति । रामशब्दात् षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि 'राम आम्' अत्र 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि टित्वादाद्यावयवे उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'राम नाम्' इति जाते 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'रामाणाम्' इति । रामेष्विति । रामशब्दात् सुपि 'राम सुप्' इति । तत्र पकारस्य 'हलन्त्यम्' इतीत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इति लोपे 'बहुवचने झल्येत्' इत्येकारे 'रामेसु' इति जाते तत्र 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे विहिते 'रामेषु' इति सिद्धम् । अथ सर्वादिशब्देषु सर्वनामकार्यं विधास्यन् सर्वनामसंज्ञामाह—सर्वादीनीति । सर्वः आदिः प्रथमावयवो येषां तानि सर्वादीनि । नपुंसकत्वशात् शब्दरूपाणीति विशेष्य-

---

ह्रस्व—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्गसे पर जो आम् उसको नुट्का आगम हो ।

नामि—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, नाम्के परे ।

अपदा—अष्टम अध्यायके तृतीय पादकी समाप्ति पर्यन्त 'अपदान्त'का अधिकार है ।

इण्कोः—यह भी उसी प्रकार अधिकार सूत्र है ।

आदेश—इण् और कवर्गसे पर जो अपदान्त आदेश स्वरूप सकार और प्रत्ययावयव सकार उसके स्थानमें मूर्धन्य (षकार) आदेश हो ।

सर्वा—सर्वादि गणपठित शब्द सर्वनामसंज्ञक हों ।

नोटः—सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत् (३५)—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर (प्रत्ययान्त), डतम (प्रत्ययान्त), अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम (आधा), सम (सभी), सिम (सभी), पूर्व, पर, अवर (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर, अपर (पश्चिम, आगे), अधर, (नीचे), स्व, (आत्मा, आत्मीय), अन्तर (बाह्य, परिधानीय), त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, भवत्, किम् ।

सर्वनामसंज्ञानि स्युः। सर्व। विश्व। उभ। उभय। डतर। डतम। अन्य। अन्यतर। इतर। त्वत्। त्व। नेम। सम। सिम। पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम् ॥ ३५ ॥ एते पञ्चत्रिंशच्छब्दाः सर्वादयः ॥ जसः शी ।७।१।१७। अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः ॥ सर्वे ॥ सर्वनाम्नः स्मै ।७।१।१४। अतः सर्वनाम्नो ङे स्मै। सर्वस्मै। ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ।७।१।१५। अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात्। सर्वस्माद्।

मध्याहार्यम्। तेन सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युरित्यर्थः। सर्वं इति। अत्र प्रथमाया एकवचनद्विवचनम् रामशब्दवत् 'सर्वः, सर्वौ' इति ज्ञेयम्। सर्वशब्दात् प्रथमाबहुवचनविवक्षायां जसि समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति जसः स्थाने 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इत्यनेनाऽनेकाल्त्वात्सर्वादेशे 'सर्व शी' इति जाते 'लशक्वतद्धिते' इतीत्संज्ञायां लोपे च 'आद्गुणः' इति गुणे 'सर्वे' इति रूपम्। 'सर्वस्मै' इति। सर्वशब्दात् चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां ङे समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामसंज्ञायां 'ङेर्यः' इति यादेशे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'सर्वनाम्नः स्मै' इत्यनेन 'ङे' इत्यस्य स्थाने स्मै आदेशे 'सर्वस्मै' इति रूपम्। रामशब्दवत् चतुर्थीद्विवचनं बहुवचनञ्च 'सर्वाभ्यां सर्वेभ्यः' इति बोध्यम्। सर्वस्मादिति। सर्वशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ विहिते 'सर्व-ङसि' अत्र 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' इति ङसेः स्थाने 'स्मात्' आदेशे कृते 'सर्वस्मात्' इति रूपम्। द्विवचनबहुवचनन्तु रामशब्दवत्—'सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः' इति बोध्यम्। षष्ठ्या एकवचनं द्विवचनमपि रामश-

---

पूर्वपरा—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन सातोंको व्यवस्था (नियममें अवधि आकांक्षा) में और असंज्ञामें सर्वनाम संज्ञा हो।

स्वम—ज्ञाति (बान्धव) और धनवाचीसे भिन्न जो—आत्मा—आत्मीयवाची अर्थ इनमें 'स्व' शब्दको सर्वनाम संज्ञा हो। अन्तर—बहिर्योग (बाह्य) और उपसंव्यान (परिधानीय) अर्थमें 'अन्तर' शब्दको सर्वनामसंज्ञा हो। जसः—अदन्त सर्वनामसे पर जस् के स्थानमें शी आदेश हो।

और—'शी' में शकार, ईकार ये दो अल् हैं अतः अनेकाल्० सूत्रसे (पृ० ११ देखो) शी आदेश जस्के सम्पूर्ण स्थानमें होगा है।

सर्वना—अदन्त सर्वनामसे पर 'ङे' के स्थानमें स्मै आदेश हो। ङसिङ्योः—अदन्त सर्वनामसे पर 'ङसि' और 'ङि' के स्थानमें यथासंख्य क्रमसे स्मात् स्मिन् आदेश हो।

आमि सर्वनाम्नः सुट् ।७।१।५२। अवर्णान्तात्परस्य, सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । **उभशब्दो** नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ २ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठोऽकजर्थः । **डतरडतमौ**—प्रत्ययौ । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण'मिति तदन्ता ग्राह्याः । **नेम**-इत्यर्धे । **समः**-सर्व-

---

वद्वत्-'सर्वस्य, सर्वयोः' इति । सर्वेषामिति । सर्वशब्दात् षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि 'सर्व-आम्' इति स्थिते 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि उटो लोपे, टित्वादाद्यावयवे 'सर्व स् आम्' इति जाते 'बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन वकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे च 'सर्वेषाम्' इति रूपम् । सर्वस्मिन्निति । सर्वशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां ङौ सति तस्य स्थाने 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' इति स्मिन्नादेशे कृते सर्वस्मिन् इति रूपम् । तस्येह पाठोऽकजर्थ इति । उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः, अत एव नित्यं द्विवचनान्तः । ननु एवं सति 'जसः शी' 'सर्वनाम्नः स्मै' 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्युक्तानां सर्वनामप्रयुक्तकार्याणां द्विवचने अभावादुभशब्दस्य सर्वादिगणे पाठो व्यर्थ इति चेद्, न । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इति अकजर्थं सर्वादिगणे तस्य पाठस्यावश्यकत्वात् । यद्यत्र पाठो न क्रियेत; तर्हि सर्वनामसंज्ञा न स्यात्, सर्वनामसंज्ञाऽभावे तु नाकच् । तेन 'उभकौ' इति न सिद्ध्येदिति भावः । डतरडतमाविति । अत्र 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इति परिभाषया डतरान्तडतमान्तौ ग्राह्यौ । केवलयोः तयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात् । प्रत्ययाविति । 'किं यत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' 'एकाच्च प्राचाम्' इति विहितौ । तदन्ता ग्राह्या इति । डतरग्रहणेन कतरादिशब्दानाम्, डतमग्रहणेन कतमादिशब्दानाञ्च ग्रहणमिति भावः । नेम इत्यर्ध इति । 'प्र नेमस्मिन् ददृशे सोमो

आमि—अवर्णान्त अङ्गसे पर सर्वनामसे विहित जो 'आम्' उसको सुडागम हो ।

उभशब्दो—'उभ' शब्द दोका वाचक है इसलिये नित्य द्विवचनान्त है (एकवचन-बहुवचनमें इसका प्रयोग नहीं होता । तस्येह—'उभ' शब्दका सर्वादिगणमें पाठ सिर्फ अकच् प्रत्यय-सिद्धिके लिये है सर्वनाम होनेसे 'उभकौ' में 'अव्ययसर्वनाम्ना०' से (प्रागिवीय प्रकरण देखो) अकच् होगा ।

डतर—सर्वादि गणमें डतर-डतम प्रत्यय हैं—'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' (प्रत्ययके ग्रहण में तदन्तका ग्रहण हो) इस परिभाषासे तदन्तविधि होकर डतरान्त और डतमान्त लिये जाते हैं । नेम—सर्वादि गणमें अर्धपर्यायवाची 'नेम' शब्द है । समः—सर्वादि गणमें सर्वपर्यायवाची 'सम' शब्द है—तुल्यपर्यायवाची नहीं है । अत एव 'यथासंख्य' सूत्रमें तुल्यपर्यायवाची 'समानाम्' पदमें सुट् होकर 'समेषाम्' नहीं हुआ ।

पर्याय० । तुल्यपर्यायस्तु नेह—'यथासङ्ख्यमनुदेशः 'समानामिति' ज्ञापकात् ॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । १।१।३४।

एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात् । पूर्वे । पूर्वाः । स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गायकाः । कुशला इत्यर्थः । असंज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः ॥ स्वमज्ञातिधना०

मन्व' इत्युक्ति तथा दर्शनादिति भावः । सम सर्वपर्याय इति । सर्वशब्दसमानार्थकः समशब्दः सर्वादिगणे पठित इत्यर्थः । तुल्यपर्यायस्त्विति । तुल्यशब्दसमानार्थक इत्यर्थः । ज्ञापकादिति । अन्यथा तत्र समेषामिति निर्दिशेदिति भावः । पूर्वे पूर्वा इति । पूर्वशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामसंज्ञा नित्या प्राप्ता, तां प्रबाध्य 'पूर्वपरावर०' इति सूत्रेण जसि विकल्पेन तां विधाय 'जसः शी' इति जसः स्थाने शीआदेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'पूर्व ई' इति जाते 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने गुणे कृते 'पूर्वे' इति रूपम् । सर्वनामसंज्ञाऽभावे तु पूर्वसवर्णदीर्घादेशे रुत्वे विसर्गे च 'पूर्वाः' इति रूपम् । असंज्ञायां किमिति । 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इति वक्ष्यमाणतया संज्ञायां सर्वनामत्वस्याप्रसक्तेरिति प्रश्नः । उत्तराः कुरव इति । कुरुशब्दो देशविशेषे नित्यबहुवचनान्तः । सुमेरुमवधीकृत्य तत्रोत्तरशब्दो वर्तते इत्यस्तीह व्यवस्था, किन्तु संज्ञाशब्दत्वान्नास्य सर्वनामता । पूर्वादिशब्दानां तु दिक्षु अनादिसङ्केत इति न ते संज्ञाशब्दाः । कुरुषु तूत्तरशब्दस्याधुनिकसङ्केत इति भवत्ययं संज्ञाशब्द इति । स्वाभिधेयेति । अपेक्ष्यत इत्यपेक्षः । स्वस्य—पूर्वादिशब्दस्याभिधेयम्—वाच्यम्, तेन अपेक्ष्यस्य—अपेक्ष्यमाणस्य अवधेर्नियमः, व्यवस्थाशब्देन

पूर्वपरा—पूर्वादि सातोंके पूर्वनिर्दिष्ट इसी प्रकारके गणसूत्रसे सर्वत्र (सभी विभक्तियोंमें) प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह व्यवस्था और असंज्ञा अर्थमें जस्के परे विकल्पसे हो ।

नोट—'पूर्वपरा०' सूत्रका निष्कृष्ट अर्थ यह है कि—'नियमेन अवधिसापेक्षार्थे संज्ञाभिन्नार्थे च वर्तमानानां पूर्वादीनां (सप्तानां) जसि सर्वनामसंज्ञा विकल्पेन स्यात्' अर्थात् जहां पर यह इससे पूर्व है, पर है, अवर है, दक्षिण है, उत्तर है, अपर है या अधर है, इस अवधिके नियम (व्यवस्था) की आकाङ्क्षा हो वहां पर और संज्ञासे भिन्न अर्थमें प्रयुक्त इन पूर्वादि शब्दोंकी जस्के परे सर्वनामसंज्ञा होती है । इसीलिये—'दक्षिणा गायकाः' (गायकाः = गानेवाले, दक्षिणाः = कुशल —चतुर हैं) यहां पर दक्षिण शब्दका कुशल अर्थ है अतः अवधिकी आकांक्षा नहीं होनेसे सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई । 'असंज्ञायाम्' का प्रत्युदाहरण—'उत्तराः कुरवः' है । यहां उत्तर शब्द 'उत्तर कुरुदेश' की संज्ञा है । इसलिये सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई ।

स्वमज्ञा—ज्ञाति एवं धनसे भिन्न जो आत्मा—आत्मीयवाची 'स्व' शब्द उसकी गण

ज्ञायाम् ।१।१।३५। ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। स्वे। स्वाः। आत्मीयाः, आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः। ज्ञातयोऽर्था वा॥ **अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः** ।१।१।३६। बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः। परिधानीया इत्यर्थः॥ **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा** ।७।१।१६। एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्—पूर्वात्। पूर्वस्मिन्—पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्। एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः।

विवक्षित इत्यर्थः। ततश्च नियमेनावधिसापेक्षार्थे वर्तमानानां पूर्वादिशब्दानां जसि सर्वनामसंज्ञाविकल्प इति फलति। व्यवस्थायां किमिति। पूर्वादिशब्दानां नियमेनावधिसापेक्ष एवार्थे विद्यमानत्वादिति प्रश्नः। दक्षिणा गायका इति। अत्र दक्षिणशब्दो नावध्यपेक्ष इति भावः। स्वे स्वाः इति। स्वशब्दाज्जसि 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' इत्यनेन स्वशब्दस्य विकल्पेन सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति शयादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे च 'स्वे' इति। पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घादेशे 'स्वाः' इति। आत्मीया आत्मान इति वेति। आत्मा, आत्मीयं, ज्ञातिः, धनञ्चेति स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः, 'स्वः स्यात् पुंस्यात्मनि ज्ञातौ, त्रिष्वात्मीये धनेऽस्त्रियां' इति मेदिनीकोशः। तत्र ज्ञातिधनयोः पर्युदासात् आत्मनि, आत्मीये च सर्वनामत्वं जसि विकल्प इति भावः। ज्ञातिधनपर्युदासस्य प्रयोजनमाह—ज्ञातिधनवाचिनस्त्विति। ज्ञातिवाचिनः धनवाचिनश्च सर्वनामत्वपर्युदासात् जसि 'स्वाः' इत्येव रूपमित्यर्थः। अन्तरमिति। अत्रापि सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते। बहिः—अनावृतप्रदेशः, तेन योगः—सम्बन्धो यस्य स बहिर्योगः, बहिर्विद्यमानोऽर्थः इति यावत्। उपसंवीयते-परिधीयते इति उपसंव्यानम् अन्तरीयं वस्त्रम्। तदाह—बाह्य इत्यादिना। अन्तरे अन्तरा वेति। अन्तरशब्दाज्जसि 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' इत्यनेन सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति जसः स्थाने शयादेशे 'लशक्वतद्धिते' इतीत्संज्ञायां लोपे च 'अन्तर ई' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'अन्तरे' इति। सर्वनामत्वाभावे 'अन्तरा' इति। पूर्वस्मादिति। पूर्वशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति वैकल्पिके ङसेः स्थाने स्मादित्यादेशे 'पूर्वस्मात्' इति, पक्षे 'पूर्वात्' इति। पूर्वस्मिन्, पूर्वे इति। पूर्वशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां ङौ समागते तस्य स्थाने 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्मिन्नादेशे कृते 'पूर्वस्मिन्' इति, पक्षे-'पूर्वे' इति। संज्ञोपसर्जनेति। आधुनिकसंकेतः संज्ञा

सूत्रसे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह जस्के परे विकल्पसे हो। अन्तरं—बाह्य और परिधानीय अर्थमें गणसूत्रसे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह जस्के परे विकल्प से हो। पूर्वादिभ्यो—पूर्वादि

संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः । सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै—अतिसर्वाय । तदन्तस्यापीयं संज्ञा, 'द्वन्द्वे चे'ति ज्ञापकात् । 'अन्तरं बहिर्योगे'ति गणसूत्रे—अपुरीति वक्तव्यम् । अन्तरायां पुरि । तृतीयासमासे ।१।१।३०। अत्र सर्वनामता न । मासपूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न—मासेन पूर्वाय ॥ द्वन्द्वे च ।१।१।३१। द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न । वर्णाश्रमेतराणाम् ॥ विभाषा

अन्यविशेषणत्वेन स्वार्थोपस्थापकमुपसर्जनम् । न सर्वादय इति । सर्वादिगणे तेषां नान्तर्भाव इति भावः । टिघुभादिवदेकाक्षरसंज्ञाऽकरणबलात्, सर्वेषां नामानीत्यन्वर्थसंज्ञाकरणबलाच्च प्राधान्येनोपस्थितस्वीयसर्वार्थवाचकत्वस्य सर्वनामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति अवगतस्य तथाविधानामेव सर्वादिगणे पाठकरणात् । सर्वनामेति महासंज्ञाकरणबलात् तद्गुणानामेव गणे सन्निवेशेन संज्ञोपसर्जनानां न संज्ञा । अतः संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवतीत्यर्थः । सर्वो नामेति । सर्व इति कस्यचिन्नामधेयं चेत् । तादृशावस्थायामस्य सर्वशब्दस्य सर्वार्थाभावेन संज्ञाशब्दत्वात् 'तस्मै' चतुर्थ्येकवचने सर्वनाम्नः स्मै इति स्मै आदेशो न स्यात्, संज्ञाकार्यत्वात् । तथा सति 'ङेर्यः' यकारे सुपि चेति दीर्घे सर्वाय इति । तद्वत् 'अतिसर्वः' तस्मै इत्यर्थेऽपि न संज्ञा । सर्वशब्दस्य समासे उपसर्जनीभूतत्वात् । अन्तरमिति सूत्रे इति । वार्तिकमेतत् । 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोरि'ति सूत्रेऽपुरि इति वक्तव्यमित्यर्थः तेन पुरिशब्देन सम्बन्धे सति अन्तरशब्दस्य सर्वनामत्वं नेति फलितोऽर्थः । तेन 'अन्तरायां पुरि' अत्र प्रयोगे स्याडागमो नेति भावः । तृतीयासमास इति । सर्वादीनीत्यतः सर्वनामग्रहणम्, न बहुव्रीहावित्यतो नेत्यनुवर्तते । तेन सर्वादिगणपठितानां तृतीयान्तपदघटितसमासे सति तेषां सर्वनामत्वप्रयुक्तकार्यं न भवति । तेन मासेन पूर्वस्तस्मै 'मासपूर्वाय' अत्र ङे स्थाने यकारादेशेनैव भाव्यं न तु स्मायादेशेनेति भावः । तृतीयासमासार्थवाक्येति । 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इत्यतः एव तृतीयासमासेऽत्र सूत्रेऽनुवृत्ते सत्यपि पुनश्च समासग्रहणं ज्ञापयति—तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि सर्वादिगणपठितानां शब्दानां सर्वनामता नेति । तेन मासेन पूर्वाय इति तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि पूर्वशब्दस्य सर्वनामताऽभावात् स्मायादेशो नेति भावः । द्वन्द्वे चेति । द्वन्द्वसमासेऽपि सर्वादिगणपठितानां सर्वनामता नेति भावः । वर्णाश्रमेतराणामिति । अत्र वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे चेति इतरेतरद्वन्द्वः । अत्र

सब शब्दोंमें पर 'ङसि' और 'ङि' के स्थानमें क्रमशः स्मात्–स्मिन् आदेश हों। तृतीयान्तके साथ समासमें तथा तृतीया समासार्थ वाक्यमें भी सर्वादिको सर्वनामसंज्ञा नहीं हो।

द्वन्द्वे च—द्वन्द्वमें सर्वनामसंज्ञा नहीं हो।

विभाषा—जस्‌विभक्ति परे कर्तव्य हो तो द्वन्द्वमें सर्वनामसंज्ञा विकल्पसे हो।

जसि ।१।१।३२। जसाधारं शीमाधाख्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता सञ्ज्ञा वा स्यात्। वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः॥ **प्रथमचरमतयाऽल्पार्धकतिपयनेमाश्च।** १।१।३३। एते जस्युक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे—प्रथमाः। तये:—त्रयः। द्वितये—द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे—नेमाः। शेषं सर्ववत्। **(तीयस्य ङित्सु वा वाच्या।)** तीयप्रत्ययान्तस्य ङिद्वचनेषु सर्वनामसञ्ज्ञा वा स्यात्। द्वितीयस्मै—द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः॥ **जराया जरसन्यतरस्याम्**

समासे इतरशब्दस्य सर्वनामत्वाभावात् 'आमि सर्वनाम्नः सुडि'ति सुडागमो नेति भावः। तेन नुटः सिद्धिः फलिता। विभाषा जसि इति। द्वन्द्वेऽप्राप्ता सर्वनामता जसि वा स्यादिति तदर्थः। तेन 'वर्णाश्रमेतरे' इत्यत्र शयादेशेन रूपसिद्धिः। तदभावे तु जसि वर्णाश्रमेतरा इत्येव रूपमिति निष्कर्षः। शेषं रामवदिति। तथा हि—नेमशब्दस्य जसि सर्वनामसंज्ञा गणे पठितत्वान्नित्या प्राप्ता। तद्विकल्पोऽत्र विधीयते। नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानान्तु गणे पाठाभावादप्राप्तैव सर्वनामसंज्ञा जसि विकल्पेन विधीयते। अतो नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानां जसोऽन्यत्र न सर्वनामकार्यमित्याह—शेषं रामवदिति। नेमे, नेमा इति। नेमशब्दात् जसि 'सर्वादीनि' इति प्राप्तां सर्वनामसंज्ञां विकल्पेन प्रबाध्य 'प्रथमचरमतय' इति विकल्पेन जातायां तस्यां 'जसश्शी' इति शयादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे च 'नेमे' इति। पक्षे नेमाः इति। शेषं सर्ववदिति। नेमशब्दस्य सर्वादिगणे पठितत्वादिति भावः। निर्जर इति। जरायाः निष्क्रान्तो निर्जरः। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः।

प्रथम—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम शब्दोंकी सर्वनामसंज्ञा हो, जस्के परे विकल्प से।

तीयस्य—तीय-प्रत्ययान्तकी सर्वनामसंज्ञा हो, ङित् प्रत्ययके परे विकल्पसे।

जराया—'जरा' शब्दके स्थानमें 'जरस्' आदेश हो, अजादि विभक्तिके परे विकल्पसे।

नोटः—सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् विभक्तिको छोड़कर निर्जर शब्दको सर्वत्र जरसादेश विकल्पसे होता है तथा च—

जरसादेश पक्षमें—			अभाव पक्षमें (रामवत्)—		
निर्जरः	निर्जरसौ	निर्जरसः	निर्जरः	निर्जरौ	निर्जराः
निर्जरसम्	,,	,,	निर्जरम्	,,	निर्जरान्
निर्जरसा	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः	निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
निर्जरसे	,,	निर्जरेभ्यः	निर्जराय	,,	निर्जरेभ्यः
निर्जरसः	,,	,,	निर्जरात्-द्	,,	,,
,,	निर्जरसोः	निर्जरसाम्	निर्जरस्य	निर्जरयोः	निर्जराणाम्
निर्जरसि	,,	निर्जरेषु	निर्जरे	,,	निर्जरेषु

।७।२।१११। जराया जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ। पदाङ्गाधिकारे तस्य च, तदन्तस्य च। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते। एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वान्निर्जरशब्दस्य जरस्। निर्जरसौ। निर्जरौ। निर्जरसः— इत्यादि। उपजीव्यविरोधान्न जरस्। निर्जरैः—इत्यादि। पक्षे हलादौ च रामवत्।

'गोस्त्रियो॰' इति ह्रस्वत्वम्। निर्गता जरा यस्मादिति बहुव्रीहिर्वा। निर्जरशब्दस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने सौ अनुबन्धलोपे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च रूपम्। निर्दिश्यमानस्येति। प्रत्यक्षनिर्दिश्यमानस्यैवान्यर्थं। अनया परिभाषया जराशब्दस्यैव जरस्। जराशब्द एव अत्र स्थानी प्रत्यक्षनिर्दिष्टः। जराशब्दान्तस्य तु निर्देशस्तदन्तविधिलभ्यत्वाद् आनुमानिक इति भावः। ननु निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वाभावात् कथमिह जरसादेश इत्यत आह—एकदेशेति। 'छिन्नेऽपि पुच्छे श्वा श्वैव, न चाश्वो, न च गर्दभः' इति लौकिकन्यायादित्यर्थः। निर्जरसाविति निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशे लब्धे, सूत्रे जराशब्दस्य जरसादेशः प्रोक्तो न तु निर्जरशब्दस्य, इति कथमत्र जरसादेश इति शङ्कायां 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति, अङ्गाधिकारात् तदन्तस्यापि स्यादिति प्राप्ते 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इत्यनया परिभाषया जराशब्दस्यैव जरसादेशः स्यात् इति कथमत्र जरशब्दस्य 'जरस्' इति शङ्कायाम् 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति जरसादेशे परिभाषया कृते 'निर्जरसौ' इति। निर्जरैरिति। निर्जरशब्दात् भिसि निर्जरशब्दस्याकारान्तत्वात् 'अतो भिस ऐस्' इत्यकारान्तमङ्गं निमित्तीकृत्य भिस ऐसादेशे कृते सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते निर्जरैरिति सिध्यति। न चाऽत्र परत्वेन जरसादेशः शङ्क्य उपजीव्यविरोधात्, अकारान्तमङ्गं निमित्तीकृत्य जायमान ऐसादेशः स जरसादेशद्वारा तस्य नाशाय सन्निपातपरिभाषया न प्रभवतीति भावः। पक्षे हलादौ च रामवदिति। अजादिविभक्तौ परे विकल्पेन जरसादेशे सति रूपाण्युक्तानि। जरसादेशाभावे रामशब्दवत् रूपाणि। हलादौ तु जरसादेशाभाव इति हलादौ विभक्तौ

पदाङ्गेति—पदाधिकार और अङ्गाधिकारसे जिसको जो आदेश विधान किया गया है, वह आदेश उसको तथा तदन्त (वह है अन्तमें जिसके उस) को भी हो।

नोट—जरसादेश अङ्गाधिकारमें विहित है अतः यह जरसादेश 'जरा' शब्दको और तदन्त ('निर्जर' शब्द) को भी होता है।

निर्दिश्य—निर्दिश्यमान (सूत्रोच्चार्यमाण) को आदेश हो (षष्ठीप्रकृतिवाच्यभाव- निर्देशनिर्दिश्यमानस्य निर्दिश्यमानत्वम्)। एकदेश—'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (परिभाषा)—वस्तुके एकदेश विकृति होने पर भी वस्तु अन्य नहीं बनता। अतः

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ ६।१।६३।
पाद दन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष दोष यकृत् शकृत् उदक आस्य- एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा । यत्तु 'आसनशब्दस्यासन्नादेश' इति काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकमेव । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः-पादान् । पदा-पादेन । इत्यादि । विश्वपाः ॥ दीर्घाज्जसि च ।६।१।१०५।

परे रामशब्दवत् रूपाणीति भावः । पद्दन्नो इति । पद्—दत्—नस्—मास्—हृद्—निश्—असन्—यूषन्—दोषन्—यकन्—शकन्—उदन्—आसन्—इत्येतेषां समाहारद्वन्द्वः । शस् द्वितीयाबहुवचनं प्रभृतिः आदिर्येषामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इत्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्तते । शसादिषु परेषु पदादय आदेशा वा स्युरित्यर्थः । पदाद्यादेशैश्च स्वानुरूपा स्थानिनः आक्षिप्यन्ते । यथासंख्यपरिभाषया पादादीनां पदादय आदेशाः प्रत्येतव्याः । यत्त्वासनशब्दस्येति । प्रामादिकं प्रमादादागतं जातं वा प्रामादिकम् । 'हव्या जुह्वान आसनि' इति मन्त्रे आसन्यं प्राणमूचुः इत्यादौ च आस्यार्थकत्वस्यैव दर्शनाद् आसनशब्दस्य स्थाने आसन्नादेश इति काशिकोक्तं भ्रममूलकमेव, आसन्नादेशस्य आस्यशब्दे एव दृश्यमानत्वात् । पादः पादाविति । पादः इति प्रथमैकवचनमारभ्य पादाविति द्वितीयाद्विवचनान्तं यावत् । रामशब्दवदेव रूपाणि । पादशब्दस्याऽकारान्तत्वेन शसः प्रागविशेषात्च । पद इति । पादशब्दाच्छसि पादस्थाने 'पद्दन्नो' इत्यादिना पदादेशे 'लशक्वतद्धिते' इति' शकारस्येत्संज्ञायां लोपे पद् अस् इति जाते परेण संयोगे सस्य रुत्वे विसर्गे पदः इति सिध्यति, तदभावे पादानिति रामान् इतिवत् द्वितीयं रूपं भवति । पदेति । पादशब्दात्तृतीयैकवचने टाप्रत्यये टकारस्येत्संज्ञायां लोपे परत्वात्प्राप्तमपि इनादेशं बाधित्वा अपवादत्वात्पूर्वं 'पद्दन्नो' इति पदादेशे परेण संयोगे पदा इति सिध्यति, असति च पदादेशे पादेन इति रामेण इतिवत् सिध्यतीति तत्साधनप्रक्रियो मार्गः । विश्वपा इति । विश्वं पाति रक्षतीत्यर्थे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति प्राप्ते बाधसरूपन्यायेन 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' इति चकारात् विच् तस्य सर्वापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचनविवक्षायां सुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायाम् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे च कृते 'विश्वपाः' इति रूपम् । विश्वपाः इति । विश्वपाशब्दाज्जसि 'चुटू' इति जसो जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'विश्वपा अस्'

प्रकृतिमें 'निर्जर' शब्दघटक 'जर' शब्दको भी जरसादेश हुआ । पद्दन्नो—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष्, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य—इनके स्थानमें यथाक्रमसे पद्, दत्, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन् आदेश हों, शसादि विभक्तिके परे, विकल्पसे । दीर्घा—दीर्घसे पर

दीर्घाज्जसि, इति च न पूर्वसवर्णदीर्घं । वृद्धिः । विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । हे विश्वपौ । हे विश्वपाः । **सुडनपुंसकस्य ।१।१।४३।** स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य ॥ सुडिति प्रत्याहारः । **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ।१।४।१७।** कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदं स्यात् ॥ **यचि भम् ।१।४।१८।** यादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भं स्यात् ॥ **आ कडारादेका संज्ञा ।१।४।१।** इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' २।२।३८ इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया । या पराऽनवकाशा च । तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम् ॥ **आतो धातोः ।६।४।१४०।** आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्य आकारस्य लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्य । विश्वपः विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि ॥

इति दशायां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'दीर्घाज्जसि च' इति सूत्रेण पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घादेशे सति सस्य रुत्वे रस्य विसर्गे च कृते 'विश्वपाः' इति रूपम् । अलोऽन्त्यस्येति । अन्त्यस्याकारस्य लोप इति शेषः । विश्वपः । विश्वपाशब्दात् शसि 'लशक्वतद्धिते' इति शसः शकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते 'विश्वपा—अस' इति स्थितेऽत्र 'सुडनपुंसकस्य' इत्यनेन 'सु, औ—जस्, अम्—औट्' इत्येतेषां सर्वनामस्थानसंज्ञाविहितत्वात् शसो न सर्वनामस्थानसंज्ञा, तेन 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन सर्वनामस्थानभिन्नस्वादिषु शसादिषु परेषु पूर्वस्य विश्वपाशब्दस्य पदसंज्ञायां प्राप्तायां 'यचि भम्' इत्यनेन च सर्वनामस्थानभिन्नयजादिषु स्वादिषु परेषु भसंज्ञायां प्राप्तायां किमत्र विधेयम् ? इति शङ्कायाम् 'आकडारादेका संज्ञा' इत्यनेन एकैव संज्ञा भवतीति नियमात् परत्वादनवकाशत्वाच्च अत्र भसंज्ञैव जाता' तस्यां जातायाम् 'आतो धातोः' इति सूत्रेण पाशब्दस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेन पकारोत्तरवर्त्याकारस्य लोपे कृते पकारस्याकारेण सह संयोगे स इत्यस्य

'जस्' परक 'अच्' रहे तो पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हो। सुडन—स्वादि पञ्चवचन (सु-औ जस्—अम्—औट्) की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो, नपुंसकलिंगको छोड़कर ।

नोट—याद रहे कि नपुंसकलिंगमें जस् शस् स्थानिक 'शि' मात्रकी सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ('शि सर्वनामस्थानम्' अजन्तनपुंसक लिंग देखें)

स्वादिष्व—'सु' प्रत्ययसे लेकर 'कप्' प्रत्ययपर्यन्त सर्वनामस्थानभिन्न प्रत्यय, परमें रहनेसे पूर्वको पदसंज्ञा हो । यचि भम्—यादि 'कप्' प्रत्ययावधि प्रत्यय और अजादि को सर्वादि असर्वनामस्थान इनके परे पूर्वकी भसंज्ञा हो । आकडारा—यहांसे (प्रथम अध्याय के चतुर्थ पादसे लेकर आगे) 'कडाराः कर्मधारये ।२।२।३८ सूत्रसे पूर्व तक एकको एक ही संज्ञा हो (जो अवकाशरहित वा परसे पर हो वा अनवकाश हो) । आतो—आकारान्त जो

एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम् ? हाहान् ॥ 'आत' इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित् । क्त्वः । रनः । हरिः । हरी ॥ जसि च ।७।३।१०९। ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे । हरयः ॥ ह्रस्वस्य गुणः ।७।३।१०८। ह्रस्वस्य गुणः स्यात् सम्बुद्धौ । हे हरे । हरिम् । हरी । हरीन् ॥ शेषो घ्यसखि ।१।४।७। 'शेष' इति स्पष्टार्थम् । अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात् ॥ आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०। घेः परस्याऽऽङो ना स्यादस्त्रियाम् । 'आ'ङिति

रुत्वे अनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गे च 'विश्वपाः' इति रूपम् । एवं शंखध्मादय इति । शंखं धमतीति शङ्खध्मा । 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः' इति धातोः 'क्विप् च' इति क्विप् । आदिना सोमं पिबतीति सोमपाः, मधु पिबतीति मधुपाः इत्यादयो ग्राह्याः । हाहानिति । हाहा इति गन्धर्वविशेषवाचकमव्युत्पन्नप्रातिपदिकमेतत् । 'हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसः' इत्यमरः । सुटि विश्वपावत् । हाहाशब्दात् शसि, अनुबन्धलोपे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सकारस्य नकारादेशे 'हाहान्' इति । आत इति योगविभागादिति— 'आतो धातोः' इति धातोरेवाकारलोपनियमनेन क्त्वः, रनः, इत्यादीनां सूत्रोक्तानां प्रयोगाणां सिद्धिर्न स्यात्तेषामधातुत्वेनाऽऽकारलोपाऽनापत्तेः । अतः 'आतो धातोः' इत्यत्र 'आतः' इति योगविभागः क्रियते । तेन धातुभिन्नस्याप्याकारान्तस्य क्वचिल्लोपः सिध्यतीति प्रोक्तरूपाणां सिद्धिर्निर्बाधेति भावः । हरिः । हरिशब्दात् प्रथमैकवचनविवक्षायां सुप्रत्यये उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हरि स' इति जाते सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च 'हरिः' इति रूपम् । हरय इति । हरिशब्दाज्जसि समागतेऽनुबन्धलोपे 'हरि-अस्' इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं प्रबाध्य "जसि च" इति गुणे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषयाऽन्त्यस्य जाते 'हरे–जस्' इति भूते 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'हरयः' इति रूपम् । हे हरे इति । हरिशब्दात्सम्बोधनप्रथमैकवचनविवक्षायां सुसमागते अनुबन्धलोपे, तस्य 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां ह्रस्वस्य गुणः' इति गुणे 'हरे–स्' इति जाते 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सुलोपे 'हे हरे' इति रूपम् । हरीन् इति । हरिशब्दात् शसि शसः शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हरि–अस्' इति स्थितेऽत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति स् इत्यस्य नकारादेशे सति 'हरीन्' इति रूपम् ।

धातु, तदन्त जो भसंज्ञक अङ्ग उसका लोप हो । जसि च—ह्रस्वान्त अङ्गको गुण हो, जस्के परे । ह्रस्वस्य—ह्रस्वान्त अङ्गको गुण हो सम्बुद्धि 'सु' के परे । शेषो—नदीसंज्ञकसे भिन्न जो ह्रस्व इकार-उकार तदन्त जो सखि-भिन्न अङ्ग, वह घिसंज्ञक हो (सूत्रमें शेषग्रहण स्पष्टार्थ है) । आङो—घिसंज्ञकसे पर 'आङ्' (टा विभक्ति) को 'ना' आदेश हो, स्त्रीलिङ्गको छोड़-

टासञ्ज्ञा प्राचाम्। हरिणा। हरिभ्याम् ३। हरिभिः। घेर्ङिति ।७।३।१११। घिसंज्ञस्य ङिति सुपि गुणः स्यात्। हरये। हरिभ्यः २। गुणे कृते॥ ङसिङसोश्च ।६।१।११०। एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेः २। हर्योः २। हरीणाम्॥ अच्च घेः ।७।३।११९। इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् घेरच्च स्यात्। हरौ। हर्योः। हरिषु। एवं कव्यादयः॥ अनङ् सौ ।७।१।९३। सख्युरङ्गस्याऽनङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ॥ अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा ।१।१।६५। अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात्॥ सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ।६।४।८। नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ।१।२।४१। एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ।६।१।६८।

हरिणा। हरिशब्दात् तृतीयैकवचनविवक्षायां टासमागते 'शेषो घ्यसखि' इत्यनेन हरिशब्दस्य घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन घिसंज्ञकात् हरिशब्दात् परस्य आङः टाइत्यस्य नादेशे कृते 'हरिना' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इत्यनेन णत्वे 'हरिणा' इति रूपम्। हरये। हरिशब्दात् ङेकृते 'लशक्वतद्धिते' इति ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे 'हरये' इति। हरेः। हरिशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते ङकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'हरि-अस्' इति जाते 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे कृते 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपे रुत्वे विसर्गे च 'हरेः' इति। हरीणाम्। 'हरि-आम्' इति स्थिते 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि 'नामि' इति दीर्घादेशे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'हरीणाम्' इति। हरौ। हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने ङिसमागते ङकारेत्संज्ञायां लोपे च 'हरि-इ' इति स्थिते 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इत्यनेन ङेः स्थाने 'औकारे, घिसंज्ञकस्य—'हरि' इत्यस्य स्थाने अकारे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेन रेफोत्तरवर्तिन इकारस्य स्थानेऽकारे च विहिते 'हर-औ' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'हरौ' इति रूपम्। अपृक्तेति। एकाऽलिति कर्मधारयः। अत्रैकशब्दोऽसहायी। 'एक

हर। घेर्ङिति—घिसंज्ञकको गुण हो, ङित्-सुप् विभक्तिके परे। ङसि—एङसे पर ङसि-ङस् सम्बन्धी अकारको पूर्वरूप एक आदेश हो। अच्च—ह्रस्व इकार-उकारसे पर 'ङि' को औत् आदेश हो और घिसंज्ञकको अकारान्त आदेश हो। अनङ्सौ—सखिशब्दी अङ्गको अनङ् आदेश हो, सम्बुद्धिभिन्न सुके परे। अलोऽन्त्यात्—अन्त्य अल्से पूर्व वर्णकी उपधासंज्ञा हो। सर्वनाम—नान्तकी उपधाको दीर्घ हो, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थानके परे। अपृक्त—एक 'अल्' रूपवाले जो प्रत्यय वह अपृक्त संज्ञक हो। हल्ङ्या—हलन्तसे पर जो 'सु-ति-सि' सम्बन्धी अपृक्त हल् और दीर्घङी आप् अन्तसे पर जो 'सु' सम्बन्धी अपृक्त

हलन्तात्परं, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं— सुतिसी'त्येतदपृक्तं हल्लुप्यते। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** ।१।१।६२। प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात्॥ **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** ।८।२।७। प्रातिपदिकसंज्ञं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा॥ **सख्युरसम्बुद्धौ** ।७।१।९२। सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्ज्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात्॥ **अचोऽञ्णिति** ।७।२।११५। अजन्ताङ्गस्य वृद्धिर्ञिति णिति च। सखायौ। सखायः। हे सखे। सखायम्। सखायौ। सखीन्। सख्या। सखिभ्याम्। सखिभिः। सख्ये॥ **ख्यत्यात्परस्य** ।६।१।११२। खितिशब्दाभ्यां, खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः २॥ **औत्** ।७।३।११८। इतः परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्॥ **पतिः समास एव** ।१।४।८। पतिः

मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरोक्तत्वात्। सखा। सखिशब्दात् सौ उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखि स्' इति स्थिते 'अनङ् सौ' इति अनङादेशे प्राप्ते क स्यात् इति शङ्कायाम् 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' इति परिभाषया सर्वस्य स्थाने प्राप्ते परम् 'ङिच्च' इत्यनेन तं प्रबाध्य अन्त्यस्य-खकारोत्तरवर्तिन इकारस्य स्थानेऽनङादेशे जाते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखन् स्' इति जाते 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' इति उपधासंज्ञात्वे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'इति नान्तस्य पदस्योपधाया दीर्घे विहिते सखान् स् इत्यवस्थायाम् 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति सस्यापृक्तसंज्ञायां कृतायाम् 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सस्य लोपे 'सखान्' इत्यवशिष्टे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'सखा' इति रूपम्। सखीन्। 'सखि-शस्'अत्र शसः शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति शसः सकारस्य नकारादेशे 'सखीन्' इति। सख्या। 'सखि आ' अत्र 'असखि' इति पर्युदासात् घिसंज्ञा न; किन्तु 'इको यणचि' इति यणि 'सख्या'इति। सख्युः। सखिशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखि अस्' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणादेशे सख् य् अस् इति जाते तत्र 'ख्यत्यात्परस्य' इत्यनेन असोऽकारस्य उत्वे 'सख्युस्' इति, तत्र सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'सख्युः' इति रूपम्। सख्यौ। सखिशब्दात्

संज्ञक हल् उसका लोप हो। प्रत्यय—प्रत्ययका लोप होने पर भी प्रत्याश्रित कार्य हो। न लोपः-प्रातिपदिकसंज्ञक जो पद, तदन्त जो नकार उसका लोप हो। सख्यु—सखिरूप अङ्गसे पर जो संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान, वह णिद्वत् हो। (अर्थात् 'णित्' के परे जो वृद्ध्यादि कार्य होता है, वह उसके परे भी हो)। अचो—अजन्त अङ्गको वृद्धि हो, 'ञित्-णित्' प्रत्ययके परे। ख्यत्यात्—कृत यणादेशक जो ह्रस्व 'खि' शब्द, 'ति'शब्द और दीर्घ 'खी' शब्द 'ती' शब्द उससे पर जो ङसि-ङस् सम्बन्धी अकार उसके स्थानमें उकार आदेश हो। औत्—ह्रस्व इकार-उकारसे पर 'ङि'को औत् आदेश हो। पतिः समास—पति शब्द समासमें ही

समास एव घिसंज्ञः। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु-भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः॥ बहुगणवतुडति संख्या ।१।१।२३। एते संख्यासंज्ञाः स्युः। डति च ।१।१।२५। डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात्॥ षड्भ्यो लुक् ७।१।२२। जश्शसोः। प्रत्ययलोपे 'जसि चे'ति गुणे प्राप्ते। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ।१।१।६१। लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात्॥ न लुमताऽङ्गस्य ।१।१।६३। लुक् श्लु लुप् एते—लुमन्तः। लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कतिभिः। कतिभ्यः। कतिभ्यः। कती-

---

सत्यामेकवचनविवक्षायां ङिसमागते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखि-इ' इति जाते तत्र इकारस्य स्थाने 'औत्' इति 'औ' आदेशे 'इको यणचि' इति यणि सख्यौ इति रूपम्। पत्या। पतिशब्दात् टासमागते 'टा' इति टकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'इको यणचि' इति यणि 'पत्या' इति रूपम्। पत्ये। पतिशब्दात्चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां ङेविभक्तौ समागतायां ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'पति-ए' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि 'पत्ये' इति रूपम्। द्विवचनबहुवचने-पतिभ्यां पतिभ्यः इति। पत्युः। पतिशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां 'ङसौ' कृतेऽनुबन्धलोपे 'पति-अस्' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि 'ख्यत्यात्परस्य' इति ङसोऽकारस्योत्वे 'पत्युः' इति रूपम्। समासे तु भूपतये इत्यादिरूपाणि हरिशब्दवदूह्यानि। कति। कतिशब्दस्य बहुत्वविशिष्टवाचकत्वात् प्रथमाबहुवचने जसि कृते 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इत्यनेन डत्यन्तत्वात् कतिशब्दस्य संख्यासंज्ञायां सत्याम् 'डति च' इति षट्संज्ञा जाता। 'कति जस्' इत्यवस्थायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि सति 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इत्यनेन प्रत्ययलक्षणेन सत्वा 'जसि च' इति कतिशब्दस्येकारस्य गुणे प्राप्ते 'न लुमताङ्गस्य' इत्यनेन अङ्गकार्यस्य गुणस्य निषेधे विहिते सति 'कति' इति रूपम्।

घिसंज्ञक हो। (अर्थात् केवल पति शब्दकी घिसंज्ञा नहीं हो)

बहुगण—बहु शब्द, गण शब्द तथा वतुप्रत्ययान्त, डतिप्रत्ययान्तकी संख्यासंज्ञा हो।

नोट—वतुप्रत्यय-तम 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इस सूत्रसे निष्पन्न 'यावत्' आदि और डतिप्रत्ययान्तमें 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' इस सूत्रसे निष्पन्न 'कति' शब्द लिये जाते हैं। (कति शब्दका प्रयोग बहुवचन में ही होता है)

डति च—(बहु-गण शब्दके समान) डत्यन्त संख्यावाचक शब्द भी षट्संज्ञक हो।

षड्भ्यो—षट्संज्ञकसे पर जस् शस्का लुक् (अदर्शन) हो। प्रत्ययस्य—'लुक् श्लु-लुप्' शब्दसे किया हुआ जो प्रत्ययका अदर्शन वह 'लुक्-श्लु-लुप्' संज्ञक हो। न लुमता—'लुक्-श्लु-लुप्' शब्दसे प्रत्ययका लोप (अदर्शन) होने पर (प्रत्यय लगाके) तन्निमित्त अङ्गकार्य

नाम्। कतिषु। युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः २। त्रेस्त्रयः।७।१।५३। आमि। त्रयाणाम्। त्रिषु। गौणत्वेऽपि—प्रियत्रयाणाम्॥ द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः॥ त्यदादीनामः। ७।२।१०२। एषामकारो विभक्तौ। (द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः) द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। द्विपर्यन्तानां किम्? भवान्। भवन्तौ। पाति लोकमिति पपीः—सूर्यः।

सरूपा इति। समानानि रूपाणि येषामित्यर्थः। त्रयः। त्रिशब्दस्य बहुत्ववाचकत्वात् प्रथमाबहुवचने जसि कृते 'चुटू' इति जसो जकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'त्रि' जस्' इति स्थिते 'जसि च' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे रुत्वे विसर्गे च 'त्रयः' इति रूपम्। त्रयाणाम्। त्रिशब्दात् षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि कृते सति 'त्रि-आम्' इति स्थिते 'त्रेस्त्रयः' इति त्रिशब्दस्य त्रयादेशे कृते 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'त्रयाणाम्' इति रूपम्। गौणत्वेऽपि प्रियत्रयाणामिति। ननु अत्र 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् त्रिशब्दस्याऽन्यपदार्थे विशेषणत्वेन गौणत्वात् प्रियत्रयाणामित्यत्र 'त्रेस्त्रयः' इति त्रयादेशो न स्यादिति चेद्, न। तस्य पदकार्ये एव प्रवृत्तेः। अत एव 'उपसर्जनानां सर्वनामत्वप्रतिषेध आरब्धो वार्तिककृतेति सङ्गच्छत इति दिक्। द्विपर्यन्तानामिति। सर्वादिगणे ये त्यदादयः पठिताः तेषामिह द्विपर्यन्तानामेव ग्रहणे भाष्यकारस्येच्छेत्यर्थः। द्वौ। द्विशब्दस्य द्वित्वनियतत्वात् 'द्वि' शब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। अतो द्विशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'द्वि औ' इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'नादिचि' इति निषिद्धे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां सत्यां 'द्वौ' इति रूपम्। पपीः। पा रक्षणे इति धातोः औणादिक-'पापोः किद् द्वे च' इति सूत्रेण ईप्रत्यये द्वित्वे अभ्यासकार्ये ईप्रत्ययस्य कित्त्वात् 'आतो लोप इटि च' इत्या-

---

नहीं हो। युष्मदस्मद्—युष्मद् असमद् और षट्संज्ञक शब्दोंके तीनों लिङ्गोंमें समानरूप हो। त्रिशब्दो—त्रिशब्द बहुत्व संख्याका वाचक है, अतः नित्य बहुवचनान्त है।

त्रेस्त्रयः—त्रिशब्दको त्रय आदेश हो, आम्के परे।

गौणत्वेऽपि—अयं भावः, 'प्रियास्त्रयो यस्य' इस विग्रह में—'इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यता-निरूपितप्रकारताश्रयत्वं-गौणत्वम्' अथवा 'स्वान्तसमुदायपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावच्छेदकताप्रयोजकत्वम्' इस लक्षण से प्रियत्रिघटक 'त्रि' को गौण होने पर भी 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्यायसे 'प्रियत्रयाणाम्' यहां पर निषेध नहीं हुआ, क्योंकि इस न्यायकी प्रवृत्ति पदकार्यमें ही होती है—ऐसा आचार्योंका सिद्धान्त है।

त्यदा—त्यदादिको अकारान्त आदेश हो, विभक्तिके परे।

द्विप—सर्वादिगणपठित जो त्यदादि हैं उनमें 'त्यद्' से लेकर 'द्वि' शब्दपर्यन्त

पप्यौ। पप्यः। हे पपीः। पपीम्। पप्यौ। पपीन्। पप्या। पपीभ्याम् ३। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः। पप्योः २। पप्याम्। ङौ च—पपी। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः। बहव्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी दीर्घङ्यन्तत्वाद्-हल्ङ्याबिति सुलोपः॥ यू स्त्र्याख्यौ नदी ।१।४।३। ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। (प्रथमलिङ्गग्रहणं च) पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः॥ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ।७।३।१०७। अम्बार्थानां, नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि। आण् नद्याः ।७।३।११२। नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः॥ आटश्च ।६।१।९०। आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहुश्रेयस्यै।

कारलोपे निष्पन्नपपीशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचनसुप्रत्यये समागते 'पपी-सु' अत्र उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे रेफस्य 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे सति रूपम्। वातप्रम्यादय इति। वातप्रमी इति शब्दो मृगाकृतिः पक्षीति 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति सूत्रे कौस्तुभे। आदिना यान्त्यनेनेति ययीः मार्गः इति ग्राह्यम्। बहुश्रेयसी। 'ईयसो बहुव्रीहेर्न' इति निषेधादुपसर्जनह्रस्वो न। समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने सौ समागते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'बहुश्रेयसी स' इति स्थिते ङ्यन्तत्वात् 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सुसम्बन्धि-अपृक्तसंज्ञक स इत्यस्य लोपे 'बहुश्रेयसी' इति रूपम्। पूर्वमित्यादि। समासादिवृत्तिप्रवृत्ते पूर्वं स्त्रीलिङ्गस्य सतः वृत्तिदशायामुपसर्जनतया स्त्रीलिङ्गत्वाभावेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमिति वार्तिकार्थः। अम्बार्थेति। 'सम्बुद्धौ च' इत्यतः सम्बुद्धाविति अनुवर्तते। अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ इत्यर्थः। हे बहुश्रेयसि। बहुश्रेयसीशब्दात् सम्बोधनप्रथमैकवचनविवक्षायां सुप्रत्यये उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीसंज्ञायां 'बहुश्रेयसी स' इति स्थिते 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सलोपे सति 'हे बहुश्रेयसि' इति रूपम्। द्विवचनबहुवचने बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयस्यः। द्वितीया-बहुश्रेयसीम्, बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयसः। तृतीया—बहुश्रेयस्या, बहुश्रेयसीभ्यां, बहुश्रेयसीभिः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयसीशब्दाच्चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां ङेसमागते

'रुदर्शि' से भाष्यकारको इष्ट है। यूस्त्र्या—ईदन्त, ऊदन्त जो नित्यस्त्रीलिङ्ग वह नदीसंज्ञक हो। प्रथम—जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग हो और बादमें समास आदि वृत्ति होने पर नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं भी रहे तो उसकी नदीसंज्ञा हो—ऐसा कहना चाहिये। अम्बा—अम्बा (माता) अर्थक शब्द और नद्यन्त शब्दको ह्रस्व हो, सम्बुद्धिके परे। आण्—नद्यन्तसे पर ङिद्वचन (ङित्वचन) को 'आट्' का आगम हो। आटश्च—'आट्' से पर अच् हो तो पूर्व पर

बहुश्रेयस्याः २। बहुश्रेयसीनाम् ॥ **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** ।७।३।११६। नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेराम् स्यात्। इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते। 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव'। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत् ॥ अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत् ॥ प्रधीः ॥ **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** ।६।४।७७। श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते ॥ **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य**

'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति बहुश्रेयसीशब्दस्य नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इति ङेः आडागमे टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्याद्यावयवे भूते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'बहुश्रेयसी आ ए' इति स्थिते 'आटश्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ कृतायां 'इको यणचि' इति यणि 'बहुश्रेयस्यै' इति रूपम्। बहुश्रेयसीभ्यां, बहुश्रेयसीभ्यः चतुर्थी। बहुश्रेयस्याः। बहुश्रेयसीशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते ङकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति नदीसंज्ञायां 'आण्नद्याः' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ यणि रुत्वे विसर्गे च 'बहुश्रेयस्याः' इति रूपम्। बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभ्यः, पञ्चमी। 'बहुश्रेयसी-आम्' इति स्थिते नदीसंज्ञायाम् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नदीसंज्ञकात्परस्यामो नुडागमे टित्वादाद्यावयवे जाते उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते परेण संयोज्य—'बहुश्रेयसीनाम्'। इति रूपम्। बहुश्रेयस्याम्। बहुश्रेयसीशब्दात् सप्तम्येकवचने ङौ समागते 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि कृते नदीसंज्ञायां सत्यां स्थानिवद्भावेन ङित्त्वमानीय 'आण्नद्याः' इत्याडागमे टित्वादाद्यावयवे 'बहुश्रेयसी-आ आम्' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'बहुश्रेयस्याम्' इति रूपम्। अङ्यन्तत्वादिति। औणादिकप्रत्ययान्तत्वादिति भावः। तथा चात्र सङ्ग्रहः—'अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु। सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां सुलोपो न कदाचन'॥ अतिलक्ष्मीः। लक्ष्मीमतिक्रान्त इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः। अस्त्रीप्रत्ययान्तत्वान्नोपसर्जनह्रस्वः। 'अतिलक्ष्मी-सु' अत्रानुबन्धलोपे सस्य रुत्वे विसर्गत्वे च रूपम्। प्रधीः। प्रध्यायतीति प्रधीः। 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' इति क्विप्। यकारस्य सम्प्रसारणमिकारः। 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्। 'हलः' इति दीर्घः। कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुबुत्पत्तिः। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। रुत्वविसर्गौ 'प्रधीः' इति रूपम्। इति प्राप्ते इति। 'प्रधी-औ' इत्यादाविति शेषः।

के स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो। ङेरा—नद्यन्त, आबन्त और 'नी' शब्दसे पर जो 'ङि' उसको आम् आदेश हो। अचिश्नु—'श्नु' प्रत्ययान्त और इवर्णान्त-उवर्णान्त जो धातु तथा 'भ्रू' रूप जो अङ्ग—उनको इयङ्, उवङ् आदेश हो, अजादि प्रत्ययके परे। एरने—धातु-

।६।४।८२। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यम् । प्रध्यौ । प्रध्य । प्रध्यि । शेषं पपीवत् ॥ एवं—ग्रामणीः । ङौ तु—ग्रामण्याम् ॥ गतिश्च ।१।४।६०। प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः ॥ (गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण्नेष्यते) । शुद्धधियौ । शुद्धधियः । न भूसुधियोः ।६।४।८५। एतयोरचि सुपि यण्न । सुधीः । सुधियौ । सुधियः—इत्यादि ॥ सुखमिच्छतीति—सुखीः । सुतीः । सुख्युः २ । सुत्युः २ । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एवं भान्वादयः ॥ तृज्वत्क्रोष्टुः

एरनेकाच इति । 'इको यण्' इत्यतो यण् इति 'अचि श्नुधातु' इत्यतो धातुरित्यनुवर्तते, तच्चावर्तते । तस्मादेव सूत्राद् अचीति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । ततश्च प्रत्यये परत इति लभ्यते । अचीति तद्विशेषणम् । तदादिविधिः । तदाह—धात्ववयवेत्यादिना । प्रध्यौ । 'प्रधी-औ' इति स्थिते, अत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति प्राप्ते 'दीर्घाज्जसि च' इति निषिद्धे 'इको यणचि' इति यणि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति प्राप्ते तं बाधित्वा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि कृते 'प्रध् य् औ' इति जाते अज्झीने परेण संयुक्ते 'प्रध्यौ' इति रूपम् । 'प्रधी-जस्' इति स्थिते, अत्र 'चुटू' इत्यनेन जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे कृते सति 'इको यणचि' इति यणि प्राप्ते तं बाधित्वा 'अचि श्नुधातु' इतीयङि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि कृते सकारस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च 'प्रध्यः' इति रूपम् । 'सम्बोधने—हे प्रधीः, हे प्रध्यौ, हे प्रध्यः,' इति । अत्र प्रक्रिया प्रथमाविभक्तिवज्ज्ञेया । एवं ग्रामणीरिति । ग्रामं नयति-नियच्छतीति ग्रामणीः । 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' इति णत्वम् । सप्तम्येकवचनं विहाय एवमेव प्रधीशब्दवत् ग्रामणीशब्दस्य रूपाण्यूहनीयानि । प्रथमैकवचने—अङ्यन्तत्वाभावान्न सुलोपः । अजादौ सर्वत्र 'एरनेकाच' इति यणेव । अस्त्रीत्वान्नदीकार्यं न । शुद्धधियौ । शुद्धा धीर्यस्येति विग्रहः । अत्र शुद्धशब्दस्य गतिकारकेतरत्वात् तत्पूर्वकस्य न यणिति भावः । शुद्धधीशब्दस्य रूपाणि सुधीशब्दवज्ज्ञेयानि । सुधियाविति । 'सुधी औ' इत्यत्र 'गतिश्च' इति गतिसंज्ञां कृत्वा 'एरनेकाचो॰' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति यणादेशाभावे 'अचि श्नु' इतीयङि विहिते 'सुधियौ' । एवं 'सुधियः' इत्यादि बोध्यम् । सुख्युः ।

धात्ववयवसंयोग पूर्वमें न हो, ऐसा जो इवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उसको यण् हो, अजादि प्रत्ययके परे । गति—प्रादि (प्र, परा आदि) को क्रियाके योगमें गति संज्ञा हो । गति—गति एवं कारकसे इतर (भिन्न) पूर्वपदको यण् इष्ट नहीं—ऐसा सूत्र वार्तिकका मत है । न भू—भू शब्द और सुधी शब्दको यण् नहीं हो—अजादि 'सुप्' के परे । तृज्वत्—असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे क्रोष्टु शब्दको तृच् प्रत्ययान्त रूप हो, अर्थात् क्रोष्टु शब्दके

।७।१।२५। असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने 'क्रोष्टु' इत्यस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** ।७।३।११०। ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्यान्ङौ, सर्वनामस्थाने च । इति प्राप्ते । **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च** ।७।१।९४। ऋदन्तानामुशनादीनां चाऽनङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ॥ **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम्** ।६।४।११। अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्टून् ॥ **विभाषा तृतीयादिष्वचि** ।७।१।९७। तृतीयादिष्वजादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् ।

सुख्युरिति । सुखीशब्दात् सुतीशब्दाच्च पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसि अनुबन्धकार्ये लोपे च 'सुखी+अस्' 'सुती+अस्' इति स्थिते 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'ख्यत्यात्परस्य' इति ङसिसम्बन्धिनोऽकारस्योकारादेशे कृते सस्य रुत्वे विसर्गे च 'सुख्युः, सुत्युः' इति रूपे स्तः । शम्भुर्हरिवदिति । तत्र पूर्वसवर्णदीर्घः-ऊकारः, गुणस्तु-ओकारः, अव् इत्यादयो विशेषाः, आन्तरतम्याद् बोध्या इति यावत् । क्रोष्टा । क्रोष्टुशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते तस्य सर्वनामस्थानत्वात् 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे विहिते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति सर्वनामस्थानपरत्वाद् गुणे प्राप्ते परत्वमत्र 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इत्यस्मिन् सूत्रे 'इष्टवाची परशब्दः' इति भाष्ये ध्वनितत्वात्पूर्वविप्रतिषेधं मत्वा 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि प्राप्ते 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे विहिते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'क्रोष्टन्+सु' इति जाते 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इति सस्य लोपे 'अप्तृन्तृच्' इति सम्बुद्धिभिन्नसर्वनामस्थानपरत्वादुपधादीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च कृते 'क्रोष्टा' इति रूपम् । क्रोष्टारौ २ । 'क्रोष्टु+औ' इत्यत्र 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे कृते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणेन अकारे, तस्य 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'क्रोष्टर् औ' इति जाते 'अप्तृन्तृच्' इत्यनेनोपधाया दीर्घत्वे संयोगे च विहिते 'क्रोष्टारौ' इति रूपम् । एवमेव क्रोष्टारः इति । क्रोष्टून् इति । क्रोष्टुशब्दाच्छसि समागते शसोऽसर्वनामस्थानत्वात् क्रोष्टुशब्दस्य तृज्वद्भावाभावे शसः शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य

स्थानमें 'क्रोष्टृ' आदेश हो । ऋतो—ऋदन्त अङ्गको गुण हो, ङि और सर्वनामस्थान विभक्तिके परे । ऋदुश—ऋदन्त तथा उशनस्, पुरुदंशस् और अनेहस् शब्दोंको अनङ् आदेश हो, सम्बुद्धि भिन्न 'सु' के परे । अप्तृन्—'अप्' शब्द तथा तृन्-तृच् प्रत्ययान्त और स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृ-शब्दोंकी उपधाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे । विभाषा—क्रोष्टु शब्दको तृज्वद्भाव (क्रोष्टृ आदेश) हो, विकल्पसे, अजादि तृतीयादि

क्रोष्ट्रा-क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे-क्रोष्टवे ॥ ऋत उत् ।६।१।१११। ऋतो ङसिङसोरति परे पूर्वपरयोरुदेकादेशः स्यात्। रपरः ॥ रात्सस्य ।८।२।२४। रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रस्य विसर्गः। क्रोष्टुः २। क्रोष्टोः १। क्रोष्ट्रोः क्रोष्ट्वोः। (नुमचिर-

---

'नखे 'क्रोष्टून्' इति रूपं भवयम्। 'क्रोष्ट्रा'। 'क्रोष्टु+टा' इत्यत्र 'चुटू' इति टस्येत्संज्ञायां लोपे च 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे 'इको यणचि' इति यणि विहिते 'क्रोष्ट्रा' इति रूपम्। क्रोष्टुना। तृज्वद्भावाभावे 'क्रोष्टु+टा' इत्यत्र 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति टा इत्यस्य स्थाने नादेशे कृते 'क्रोष्टुना' इति रूपम्। क्रोष्ट्रे। क्रोष्टुशब्दाच्चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां ङेसमागते 'क्रोष्टु+ङे' इति स्थिते, ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'क्रोष्टृ+ए' इति जाते 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे 'इको यणचि' इति यणि 'क्रोष्ट्रे' इति रूपम्। पक्षे घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे विहिते 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'क्रोष्टवे' इति रूपम्। क्रोष्टुरिति। क्रोष्टुशब्दात् ङसि, अत्र सकारोत्तरवर्तिन इकारस्य तथा ङस्येत्संज्ञायां लोपे च 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे कृते 'क्रोष्टृ+अस्' इत्यवस्थायाम् 'ऋत उत्' इति पूर्वपरयोरुत्वे रपरत्वे च क्रोष्टुर् स् इति जाते 'रात्सस्य' इति सस्य लोपे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रस्य विसर्गत्वे च कृते 'क्रोष्टुः' इति रूपम्। तृज्वद्भावाभावपक्षे घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे क्रोष्टो+अस्' इति जाते 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'क्रोष्टोः' इति रूपम्। पञ्चमीद्विवचनबहुवचने तु—'क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभ्यः'। षष्ठ्येकवचनं पञ्चम्येकवचनवद् बोध्यम्। क्रोष्ट्रोः २। क्रोष्टुशब्दादोसि 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे 'इको यणचि' इति यणि रुत्वे विसर्गे च 'क्रोष्ट्रोः' इति रूपम्। तृज्वद्भावाभावपक्षे—'क्रोष्टु+ओस्' इति दशायाम् 'इको यणचि' इति यणि सस्य रुत्वे विसर्गे च 'क्रोष्ट्वोः' इति रूपम्। नुमचिरेति। अचिरेत्यनुकरणम्। तेन 'अचि र

(टा-ङे-ङसि-ङस्-ओस्-आम्-ङि) विभक्तिके परे। ऋत उत्—ऋदन्त अङ्गसे ङसि ङस् सम्बन्धी अकारके परे रहते पूर्व-परके स्थानमें 'उत्' एकादेश हो। रात्सस्य—रेफसे पर यदि संयोगान्तका लोप हो तो सकारका ही हो—अन्यका नहीं।

नुम—नुम्, अच्के परे रहते और पुंवद्भावसे पहले पूर्वविप्रतिषेधेन आम्को नुट् ही हो।

नोटः—'क्रोष्टूनाम्' यहाँ पर नुट् होनेसे अजादित्वका नाश हो जाता है अतः तृज्वद्भावकी पुनः प्राप्ति नहीं होती। तब 'त्रिसृणाम्' और 'चतसृणाम्' यहाँपर भी नुट् होनेसे अजादित्वका नाश होजाता है अतः 'त्रिसृणाम्' में 'अचि र ऋतः' से रत्व और 'चतसृणाम्' में 'रलोऽपि विभक्तौ' से नुम नहीं होते।

तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन)। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्॥ हूहूः। हूह्वौ। हूहूम्। हूहून्। इत्यादि॥ अतिचमू—शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। हे अतिचमु। अतिचम्वै। अतिचम्वाः २। अतिचमूनाम्। अति-

---

रतः' इति विहितो रेफो विवक्षितः। क्रोष्टूनामिति। क्रोष्टुशब्दात् षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि कृते 'क्रोष्टु+आम्' इति स्थिते अत्र 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे प्राप्ते तं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च टित्त्वादाद्यवयवे जाते 'क्रोष्टु+नाम्' इति भूते 'नामि' इति अजन्ताङ्गस्य दीर्घे क्रोष्टूनाम् इति रूपम्। क्रोष्टरि। क्रोष्टुशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां ङौ समागते ङस्येत्संज्ञायां लोपे च 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे विहिते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन अकाररूपे गुणे विहिते 'उरण् रपरः' इति रपरे च कृते सर्वस्मिन् संयुक्ते सति 'क्रोष्टरि' इति रूपम्। तृज्वद्भावाभावपक्षे—'क्रोष्टु+ङि' इत्यवस्थायां घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इत्यनेन ङेः स्थाने औकारे घिसंज्ञकस्य च स्थानेऽकारे जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'क्रोष्टौ' इति रूपम्। ओसि पूर्ववद्—'क्रोष्ट्रोः', 'क्रोष्ट्वोः' इति। पक्षे इति। तृतीयादिष्वजादिषु तृज्वत्त्वाभावपक्षे इत्यर्थः। हलादाविति। हलादिषु विभक्तिषु परेष्वित्यर्थः। हूहूरिति। गन्धर्वविशेषवाचि अव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमेतत्। हूहूशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते उकारनिवृत्तौ सत्यां सस्य रुत्वे विसर्गे च 'हूहूः' इति रूपम्। हूह्वाविति। हूहूशब्दात्प्रथमाद्विवचने औ समागते 'इको यणचि' इति यणि विहिते 'हूह्वौ' इति रूपम्। एवमेव हूहूशब्दस्याजादौ विभक्तौ कार्यं विज्ञेयम्। हूहून् इति। अत्र 'इको यणचि' इति यणं बाधित्वा 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे हूहू'मिति रूपम्। अतिचमूशब्दे त्विति। चमूमतिक्रान्तः, अतिचमूः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः। स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वो न भवति। नदीकार्यमिति। 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति वचनादिति भावः। हे अतिचमु इति। अतिचमूशब्दात् सम्बोधनैकवचने सौ; उगते 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सस्य लोपे च कृते 'हे अतिचमु' इति रूपम्। अतिचम्वै इति। अतिचमूशब्दात् चतुर्थ्येकवचने ङेकृते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्यनेन ङकारेत्संज्ञकस्यैकारस्याडागमे टित्त्वादाद्यवयवे टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अतिचमु+आ ए' इति जाते अत्र 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ कृतायाम् 'इको यणचि' इति यणि सति 'अतिचम्वै' इति रूपम्। अतिचमूनामिति। अतिचमूशब्दात्षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि समागते नदीसंज्ञायाम् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुडागमे टित्त्वादाद्यवयवे च जाते 'अतिचमूनाम्' इति रूपम्। खलपूरिति। खलं पुनातीति क्विप्। कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते उकारस्य लोपे सस्य रुत्व

प्वाम् । खलप्वि ॥ ओः सुपि ।६।४।८३। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि । खलप्वौ । खलप्वः । एवं सुल्वादयः ॥ स्वयम्भूः । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुवः । एवं स्वभूः । वर्षाभूः ॥ वर्षाभ्वश्च ।६।४।८४। अस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्वावित्यादि । दृन्भूः ॥ (दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः) । दृन्भ्वौ । दृन्भ्वः । खलपूवत् । एवं करभूः । पुनर्भूः । दृन्भूकारभूशब्दौ स्वयम्भूवत् ॥ धाता । हे धातः ।

विसर्गे च 'खलपूः' इति । एवं सुल्वादय इति । सुष्ठु लुनातीति सुलूः । गतिपूर्वकत्वादिहापि यण् । आदिना केदारलूरित्यादिसंग्रहः । स्वयम्भूरिति । स्वयम्भवतीति क्विप् । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागतेऽनुबन्धलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'स्वयम्भूः' इति रूपम् । 'स्वयम्भुवौ, स्वयम्भुवः' इति । स्वयम्भूशब्दात् प्रथमाद्विवचने औसमागते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं बाधित्वा 'अचि श्नुधातु०' इत्युवङि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इत्यनेन निषिद्धे 'अचि श्नुधातु०' इत्युवङि विहिते 'ङिच्च' इत्यन्त्यादेशे जाते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'स्वयम्भुवौ' इति । वर्षाभूरिति । वर्षासु भवतीति वर्षाभूः । 'वर्षाभूर्दर्दुरे पुमान्' इति यादवः । वर्षाभ्वौ । वर्षाभूशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं बाधित्वा 'अचि श्नुधातु०' इति उवङि प्राप्ते तं बाधित्वा 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति निषिद्धे 'वर्षाभ्वश्च' इति यणि कृते सति 'वर्षाभ्वौ' इति रूपं बोध्यम् । एवमेव सर्वत्राजादौ विभक्तौ परे बोध्यम् । दृन्भूरिति । दृन्निति मान्तमव्ययं हिंसायां वर्तते । तस्मिन्नुपपदे भूधातोः क्विबिति भावः । दृन्—हिंसां, भवति प्राप्नोतीति विग्रहः । सर्पविशेषः, सर्पविशेषो वेत्यर्थः । स्वाभाविक एवात्र नकारः । तस्य पदान्तत्वात् 'नश्चापदान्तस्य' इति नानुस्वारः । अतएव न परसवर्णः । एवम्भूतात् दृन्भूशब्दात्सावागते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च सस्य रुत्वे विसर्गे च 'दृन्भूः' इति रूपम् । दृन्भ्वाविति । दृन्भूशब्दात् औ समागते 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति तस्य निषेधे प्राप्ते 'दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' इति यणि कृते 'दृन्भ्वौ' इति । करभूरिति । करात् करे वा भवतीति 'करभूः' नखो बोध्य इति बोधः । धातेति । धातृशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि विहिते 'ङिच्च' इत्यनेनान्त्यादेशे कृते अकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'धातन्+स'

ओः सुपि—धात्ववयवसंयोग पूर्व में नहीं है ऐसा जो उवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उसको यण् हो, अजादि सुप् विभक्ति के परे । वर्षा—इसको भी यण् हो, अजादि सुप् विभक्ति के परे । दृन्—दृन्-कर-पुनर्-पूर्वक 'भू' को यण् हो अजादि

धातारौ । धातारः ॥ ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् । धातॄणाम् ॥ एवं नप्त्रादयः ॥ 'अप्तृ'न्निति सूत्रे नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । तेनेह न—पिता । पितरौ । पितरः । पितरम् । शेषं धातृवत् । एवं जामात्रादयः । ना । नरौ । नरः ॥ **नृ च** ।६।४।६। अस्य नामि वा दीर्घः । नृणाम्-नॄणाम् ॥ **गोतो णित्** ।७।१।९०। ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् । ओतो णिदिति वाच्यम् । गौः । गावौ । गावः ॥ **औतोऽम्शसोः** ।६।१।९३। 'आ—ओत' इतिच्छेदः । ओतोऽम्शसोरचि

इत्यवस्थायाम् 'अप्तृन्तृच्' इत्यादिनोपधाया दीर्घत्वे कृते सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इति सस्य लोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च 'धाता' इति । हे धातः इति । धातृशब्दात्सम्बोधनस्यैकवचनविवक्षायां सावागते सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञकत्वे लोपे च कृते 'धातृ+स्' इत्यवस्थायाम् 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'ह्रस्वस्य गुणः' इति ऋकारस्य गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे च 'धातर् स्' इति भूते 'हल्ङ्याब्भ्य०' इति सलोपे रेफस्य विसर्गे च 'हे धातः' इति । एव नप्त्रादय इति । नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृशब्दाः धातृशब्दवद्विरूप्याः । नप्त्रादिग्रहणमिति । व्युत्पत्तिपक्षे तृन्तृजन्तत्वादेव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं 'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमार्थम्' तृन्तृजन्तानां चेत्तर्हि नप्त्रादीनामेव । तेन पितृभ्रातृप्रभृतीनां नेति बोध्यम् । पितेति । पितृशब्दात्सौ 'ऋदुशनस्पुरुदंसो०' इत्यनङि विहिते ङित्वादन्त्यावयवे अनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घे सकारस्य 'हल्ङ्याब्भ्य०' इति लोपे 'पिता' इति रूपम् । पितराविति । पितृशब्दात् औ समागते सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋतो ङि' इति गुणे रपरे च कृते 'पितरौ' इति रूपम् । अत्र व्युत्पत्तिपक्षे—नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वान्न दीर्घः । अव्युत्पत्तिपक्षे तु 'अप्तृन्तृजादिष्वनन्तर्भावात् दीर्घशङ्कैव नास्ति । ना । नृशब्दो मनुष्यवाची । तस्मात् सुः । 'ऋदुशनस्' इत्यनङ् । 'अप्तृन्' इति सूत्रे अनन्तर्भावात् 'सर्वनामस्थाने च' इति नान्तत्वप्रयुक्तो दीर्घः । हल्ङ्यादिलोपः । नलोपः । 'ना' इति रूपम् । नृणामिति । नृशब्दादामि, नुट्, 'नामि' इति नित्यं दीर्घे प्राप्ते 'नृ च' इति नामि वा दीर्घे 'नृणाम्, नॄणाम्' इति भवतः । गौरिति । गोशब्दात्सावागते 'गोतो णित्' इति णिद्भावे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ औ[illegible] विसर्गे च

सुप् विभक्तिके परे—ऐसा सूत्रकारको कहना चाहिये । ऋवर्णा—ऋवर्णसे पर नकारको णत्व हो—ऐसा कहना चाहिये । नृ च—'नृ' शब्दको दीर्घ हो, नाम्के परे, विकल्पसे । गोतो—ओकारसे विहित जो सर्वनामस्थान, वह णिद्वत् हो । औतो—ओकारसे पर अम्-शस् सम्बन्धी अच् रहे तो पूर्व-परके स्थानमें आकार एक आदेश हो ।

आकार एकादेशः । गाम् । गावौ । गावः । गवा । गवे । गोः २ ॥ रायो हलि ।७।२।८५। रैशब्दस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ । राः । रायौ । रायः । राभ्यामित्यादि ॥ ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्यामित्यादि ॥

इत्यजन्ताः पुंलिङ्गाः ॥

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा । औङ आपः ।७।१।१८। आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात् । 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः ॥ सम्बुद्धौ च ।७।३।१०६। आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ । हे रमे । हे रमे । हे रमाः । रमाम् । रमे । रमाः ॥ आङि चाऽऽपः ।७।३।१०५। आङि, ओसि चाऽऽप एकारः । रमया । रमाभ्याम् । रमाभिः ॥ याडापः ।७।३।११३। आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः ।

'गौः' इति । गामिति । गोशब्दादमि समागते 'औतोऽम्शसोः' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने आकारादेशे कृते 'गाम्' इति । गावाविति । गोशब्दादौटि कृते 'गोतो णित्' इति णिद्वद्भावे वृद्ध्यावादेशे च कृते 'गावौ' इति । राः इति । रैशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते 'रायो हलि' इति रैशब्दस्य सर्वस्य स्थाने आकारादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यस्यैकारस्याकारादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'राः' इति रूपम् । ग्लौरिति । ग्लौशब्दश्चन्द्रवाची । 'ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः । अस्य हलादौ न कश्चिद्विकारः । अचि तु आवादेशः । इति मत्वाह—ग्लौः ग्लावौ ग्लावः इति ।

इत्यजन्ताः पुंलिङ्गाः ।

रमेति । रमाशब्दोऽत्र वर्तते 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यनेन सर्वेऽपि स्वादयः प्राप्ताः । तत्र प्रथमैकवचने सावागते 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति सकारोत्तरवर्त्युकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो' इत्यनेन सस्य लोपे च कृते 'रमा' इति रूपं सिध्यति । औङ्शब्दस्याप्रसिद्धार्थत्वादाह—औङ् इति । [illegible] । रमे इति । 'रमा + औ' इति स्थिते औकारस्य स्थाने 'औङ आपः' इति 'शी' आदेशे कृते 'लशक्वतद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'रमा + ई' इति जाते 'आद्गुणः' इति पूर्वपरयोः स्थाने गुणादेशे च विहिते

रायो—'रै' शब्दको आकारान्त आदेश हो, हलादि विभक्तिके परे ।

इस प्रकार [illegible] टीकामें अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

औङ्—आप् से परे औङ् (औकार विभक्ति) के स्थानमें 'शी' आदेश हो । सम्बुद्धि—आबन्त अङ्गको एकार आदेश हो, सम्बुद्धिके परे । आङि—आङ् और ओस्के परे 'आप्' को एकार हो । याडापः—आबन्त अङ्ग से पर ङित्वचनको याट्का आगम हो ।

वृद्धिरेचि। रमायै। रमाभ्याम्। रमाभ्यः। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु। एवं दुर्गादयः॥ **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** ।७।३।११४। आबन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याट्, आपश्च ह्रस्वः। याटोऽपवादः। सर्वस्यै। सर्वस्याः २। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादामि सर्वनाम्न इति सुट्। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेषं रमावत्। एवं विश्वादय आबन्ताः॥ **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ** ।१।१।२८। अत्र सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै। इत्यादि। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति प्रतिपदोक्तस्यैव समासस्य ग्रहणान्नेह—योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै। बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टा-

---

'रमे इति रूपम्। रमायै इति। 'रमा ङे' इत्यत्र ङस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'रमा+ए' इति जाते 'याडापः' इत्यनेन ङित एकारस्य याडागमे कृते टित्वादाद्यावयवे जाते टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते 'रमा या ए' अत्र 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'रमायै' इति रूपम्। रमायामिति। 'रमा ङि' इत्यत्र 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि कृते 'रमा+आम्' इति जाते अत्र 'याडापः' इति याटि टिलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे च कृते 'रमायाम्' इति रूपम्। सर्वस्यै। सर्वशब्दाट्टापि सर्वाशब्दः। सोऽपि प्रायेण रमावत्। 'सर्वा+ङे' इत्यत्र ङस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'याडापः' इति प्राप्ते तं बाधित्वा 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आबन्तस्य च ह्रस्वे कृते 'सर्व स्याट् ए' इति जाते टस्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां 'सर्वस्यै' इति रूपम्। सर्वस्याः। 'सर्वा ङसि' इत्यत्र ङकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आबन्तस्य ह्रस्वत्वे च 'सर्व+स्याट्+अस्' इति जाते टस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे च कृते सस्य रुत्वे विसर्गे च 'सर्वस्याः' इति रूपम्। सर्वासामिति। 'सर्वा+आम्' इत्यत्र 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि उटि गते सकारेण सह संयोगे च कृते 'सर्वासाम्' इति रूपम्। एवमिति। सर्वादिगणपठितविश्वादयः आबन्तत्वं प्राप्ताः सर्वाशब्दवदित्यर्थः। उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम्-सा उत्तरपूर्वा। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिविशेषोऽयम्। तत्र विशेषं दर्शयितुमाह—विभाषा दिक्समासे इति। उत्तरपूर्वस्यै। 'उत्तरपूर्वा+ङे' इत्यत्र 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इति सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आबन्तस्य च ह्रस्वत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उत्तरपूर्वस्यै' इति। पक्षे—सर्वनामसंज्ञाभावे 'याडापः' इति याटि 'वृद्धिरे-

---

सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च—आबन्त सर्वनामसे पर ङिद्वचनको स्याट्का आगम हो और 'आप्' को ह्रस्व हो। विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ—बहुव्रीहि समासमें दिग्वाचक शब्दों

र्थम्। अन्तरस्यै शालायै। बाह्यायै इत्यर्थः। अपुरीत्युक्तेर्नेह—अन्तरायै नगर्यै। तीयस्येति ङित्सु वा। द्वितीयस्यै। द्वितीयायै। एवं तृतीया। अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः। हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। (असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न)। अम्बाडे। हे अम्बाले। हे अम्बिके। जरा। जरसौ-जरे। इत्यादि। पक्षे, हलादौ च रमावत्। गोपा—विश्वपावत्। मतीः। मत्या॥ ङिति ह्रस्वश्च।१।४।६। इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ

चि' इति वृद्धौ कृतायाम् 'उत्तरपूर्वस्यै' इति। अन्तरस्यै शालायै इति। अन्तरशब्दाट्टापि ङे विभक्तौ अन्तरशब्दस्य सर्वनामत्वात्स्याडादौ रूपम्। अन्तरायै नगर्यै इत्यत्र तु न अन्तराशब्दस्य सर्वनामता 'अन्तरं बहिर्योग' इत्यादिसूत्रे 'अपुरि' इति पाठात् पुर्यर्थे गम्ये न सर्वनामतेति तदर्थवाचकनगरीशब्दपरकत्वेन नान्तराशब्दस्य सर्वनामत्वम्। तेन 'याडापः' इति याडागमेनैव साध्यमिति भावः। द्वितीयस्यै इति। 'द्वितीया + ङे' इत्यत्र 'तीयस्य ङित्सु वा' इति वैकल्पिके सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि ह्रस्वत्वे च विहिते वृद्धौ कृतायां 'द्वितीयस्यै' इति। सर्वनामत्वाभावे तु 'याडापः' इति याटि वृद्धौ विहितायां 'द्वितीयायै' इति। हे अम्बेत्यादि। हे अम्बा सु इत्यत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सलोपे 'हे अम्ब' इति। एवमेव हे अक्क, हे अल्ल, इत्यादि। असंयुक्ता इति। संयोगरहिता ये डलकास्तद्वतोऽम्बार्थकास्तेषां 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वो नेति भावः। अम्बाडे, अम्बाले, अम्बिके, इति रूपे 'अम्बाडा + सु' 'अम्बाला + सु, अम्बिका + सु, इत्यवस्थायामापो ह्रस्वत्वाभावेन 'सम्बुद्धौ चे'ति आप एत्वे सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे सति सस्य लोपे सति च अम्बाडे, अम्बाले, अम्बिके, इत्यादीनां सिद्धिः प्रत्येतव्या। पक्षे हलादौ च रमावदिति। जरसादेशाभावपक्षे, हलादावपि च रमावदित्यर्थः। मत्येति। 'मति टा' इत्यत्र 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां सत्यामपि 'आङो नास्त्रियाम्' इत्यत्र 'अस्त्रियाम्' इति पर्युदासान्नाभावः, किन्तु 'इको यणचि' इति

की सर्वनाम संज्ञा हो, विकल्पसे। तीयस्य—तीय प्रत्ययान्त (१०९० देखो) शब्दोंकी सर्वनाम संज्ञा हो, विकल्पसे। असंयु—असंयुक्त जो 'ड-ल-क' तद्वान् जो (अम्बार्थक) शब्द, उनको ह्रस्व नहीं हो। ङिति—इयङ्-उवङ्के स्थानी रहे, 'स्त्री' शब्दसे भिन्न रहे तथा नित्यस्त्रीलिङ्ग रहे, ऐसा जो दीर्घ ईकार और ऊकार, उनकी नदीसंज्ञा हो, ङित्के परे विकल्पसे। और ह्रस्व इवर्ण-उवर्णकी नदीसंज्ञा हो, ङित्के परे और विकल्पसे।

नोट—'ङिति ह्रस्वश्च' इस सूत्रमें 'च' का उपादान है, इसलिये चकारसे—'इयङुव-ङ्स्थानौ [illegible] 'ङिति' यह पद पूर्वके

च इवर्णो स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै—मतये । मत्याः २—मतेः २ । नदीत्वपक्षे परत्वात् 'औत्' इति ङेरौत्वे प्राप्ते । **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** ।७।३।११६। नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात् । पक्षे—अच्च घेः । मत्याम्—मतौ । शेषं हरिवत् । एवं बुद्ध्यादयः ॥ **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** ।७।२।९९। स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ ॥ **अचि र ऋतः** ।७।२।१००। तिसृचतसोः ऋतो रादेशोऽचि । गुणदीर्घोत्वानामपवादः । तिस्रः २ । तिसृभिः । तिसृभ्यः २ । आमि

यणि कृते 'मत्या' इति रूपम् । मत्यै । 'मति+ए' अत्र 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्याडागमे टित्वादाद्यावयवे 'मति-आ ए' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ सत्याम् 'ऐ' इति भूते 'इको यणचि' इति यणि कृते 'मत्यै' इति रूपम् । नदीसंज्ञाभावे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे कृते 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'मतये' इति । मत्याः । 'मति ङसि' इत्यत्र ङकारस्य ङस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्याटि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि च कृते सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'मत्याः' इति रूपम् । घिसंज्ञायां हरिवत् । मत्यामिति । 'मति+ङि' इत्यत्र 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायां 'ङेराम्नद्याम्' इति ङेरामि विहिते सति तस्य स्थानिवद्भावेन ङित्त्वमानीय 'आण्नद्याः' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मत्याम्' इति । नदीसंज्ञाभावे 'शेषोऽध्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इति ङेरौत्वे घेरकारादेशे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च विहितायां 'मतौ' इति रूपम् । गुणदीर्घोत्वानामिति । 'ऋतो ङि' इति गुणस्य 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णदीर्घस्य 'ऋत उत्' इत्युत्वस्य च रत्वमपवाद इत्यर्थः । तिस्र इति । 'त्रि जस्' इत्यत्र 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति तिसृ इत्यादेशे जस्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'तिसृ+अस्' इति जाते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य

वाक्य है और 'स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ नदीसंज्ञौ वा स्तो ङिति परे' इत्यर्थक । 'ह्रस्वः' यह अपर वाक्य है । पदक्ष पर वाक्यसे 'मति' शब्दकी नदीसंज्ञा ङितिके परे विकल्पसे होती है । यहाँ 'अस्त्री' पर्युदास नहीं लगता, क्योंकि 'इयङुवङ्स्थानौ' इसका जहाँ अन्वय होता है वहीं पर तत्सम्बन्धी 'अस्त्री' पदकी अनुवृत्ति होती है ।

ङेराम्—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार-उकारसे पर 'ङि' को 'आम्' आदेश हो । त्रिचतुरोः—स्त्रीलिङ्गमें वर्तमान 'त्रि' और 'चतुर्' शब्दके स्थानमें यथाक्रमसे तिसृ, चतसृ आदेश हों, विभक्तिके परे । अचि र—तिसृ और चतसृ शब्दके ऋकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, अच् के परे । गुणदी—'ङि' विभक्तिमें 'ऋतो ङि' से प्राप्त गुण और 'जस्' विभक्तिमें 'अकः सवर्णे॰' से प्राप्त दीर्घ एवं 'ङसि-ङस्' विभक्तिमें 'ऋत उत्' से प्राप्त उत्वका रेफादेश

नुट्। न तिसृचतसृ ।६।४।४। एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु॥ द्वेरदे अत्वम्। द्वे २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २॥ गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। हे गौरि। गौर्यै-इत्यादि। शेषं बहुश्रेयसीवत्। एवं नद्यादयः॥ लक्ष्मी। शेष

'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे संयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च 'तिस्रः' इति रूपम्। शसि तु 'प्रथमयोः' इति प्रबाध्य 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे संयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च कृते 'तिस्रः' इति रूपम्। तिसृणामिति। 'तिसृ+आम्' इति स्थिते नुटं च बाधित्वा 'अचि र ऋतः' इति रत्वे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति रत्वं बाधित्वा नुटि कृते 'तिसृ+नाम्' इति स्थिते 'नामि' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषिद्धे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति वार्तिकेन णत्वे विहिते 'तिसृणाम्' इति रूपम्। सुपि 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'तिसृषु' इति रूपम्। गौरीति। गौरशब्दात् गौरादित्वाद् ङीषि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे गौरीशब्दः। तस्मात्सु, तस्य हल्ङ्यादिना लोपे 'गौरी' इति रूपम्। गौर्यौ। 'गौरी+औ' अत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वे प्राप्ते 'दीर्घाज्जसि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे 'इको यणचि' इति यणि 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वे संयोगे च कृते 'गौर्य्यौ' इति रूपम्। हे गौरि। 'गौरी+सु' अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीसंज्ञायाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' इति लोपे कृते 'हे गौरि' इति रूपम्। लक्ष्मी। 'लक्षेर्मुट् च' इति उणादिसूत्रेण ईप्रत्यये मुडागमे लक्ष्मीशब्दः। तस्मात् सौ समागते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ङ्यन्तत्वाभावात्' सुलोपे न, किन्तु सस्य रुत्वे विसर्गे च 'लक्ष्मीः' इति रूपम्। स्त्रीति। अस्यार्थस्याद्रिनदेकार्थमिच्छन्ति। स्त्री। स्त्यायतेः सहत्वे भरत शुक्रशोणितेऽस्मिन्निति स्त्री। तस्मात्सौ हल्ङ्यादिलोपे 'स्त्री' इति रूपम्। हे स्त्रि। अत्र नदीसंज्ञायाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'एङ्ह्रस्वात्' इति सुलोपे 'हे स्त्रि' इति। स्त्रियौ। 'अचि श्नुधातु०' इत्यतोऽचीति इयङिति चानुवर्तते, तदाह—स्त्रिया इति। स्त्रियै। 'स्त्री+ङे' इत्यत्र ङकारेत्संज्ञके लोपे च नदीसंज्ञायाम्

करता है। न तिसृ—तिसृ-चतसृ शब्दको नाम्के परे दीर्घ नहीं हो।

नोट—तीन संख्यावाचक 'त्रि' शब्द और चार संख्यावाचक 'चतुर्' शब्द नित्य बहुवचनान्त हैं।

'त्रि' शब्दका रूप, स्त्रीलिङ्गमें—तिस्रः २, तिसृभिः, तिसृभ्यः २, तिसृणाम्, तिसृषु। पुंल्लिङ्गमें—त्रयः, त्रीन्, त्रिभिः, त्रिभ्यः २, त्रयाणाम्, त्रिषु। नपुंसकमें—त्रीणि २, शेष पूर्ववत्। 'चतुर्' शब्दका रूप, स्त्रीलिङ्गमें—चतस्रः २, चतसृभिः, चतसृभ्यः २, चतसृणाम्, चतसृषु। पुंल्लिङ्गमें—चत्वारः, चतुरः, चतुर्भिः, चतुर्भ्यः २, चतुर्णाम्, चतुर्षु। नपुंसकमें—चत्वारि २, शेष पूर्ववत्।

गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि ॥ स्त्रियाः ।६।४।७९। अस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये । स्त्रियौ । स्त्रियः ॥ वाऽम्शसोः ।६।४।८०। अमि, शसि च स्त्रिया इयङ् वा । स्त्रियम्-स्त्रीम् । स्त्रियः-स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः २ । स्त्रियोः २ । परत्वान्नुट्-स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रीषु ॥ श्रीः । श्रियौ । श्रियः । श्रियम् । श्रियौ । श्रियः । श्रिया । श्रीभ्याम् । श्रीभिः ॥ नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ।१।४।४। इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो, न तु स्त्री । हे श्रीः । ङिति ह्रस्वश्चेति वा नदीत्वम् । श्रियै—श्रिये । श्रियाः २—श्रियः २ ॥ वाऽऽमि ।१।४।५। इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो, न तु स्त्री । श्रीणाम्-श्रियाम् ।

'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'स्त्रियाः' इत्यनेन इयङि च विहिते 'स्त्रियै' इति । स्त्रीणामिति । स्त्रीशब्दादामि 'स्त्री+आम्' इति स्थिते अत्र 'स्त्रियाः' इतीयङं परत्वात् बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुडागमे पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या दीर्घे कृते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे विहिते 'स्त्रीणाम्' इति । श्रीरिति । श्रयन्त्येतामिति श्रीः । श्रिञ्-सेवायामितिधातोः 'क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च' इति क्विप्, प्रकृतेर्दीर्घश्चेति निष्पन्नात् श्रीशब्दात् सुः । अङ्यन्तत्वाभ्र सुलोपः । श्रियाविति । श्रीशब्दात् औ समागते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति बाधित्वा 'अचि श्नुधातु०' इतीयङि कृते मिलित्वा 'श्रियौ' इति । हे श्रीरिति । श्रीशब्दात्सम्बोधने सावागते 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदीत्वाभावे 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वाभावे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च 'हे श्रीः' इति । श्रियै, श्रिये इति । 'श्री+ङे' इत्यत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीसंज्ञायां प्राप्तायां 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधे 'ङिति ह्रस्वश्च' इति ङिति विकल्पेन नदीसंज्ञायां कृतायाम् 'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ कृतायाम् 'अचि श्नुधातु०' इतीयङि मिलित्वा 'श्रियै' इति । पक्षे—'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञाभावे इयङि 'श्रिये' इति रूपम् । श्रीणामिति । 'श्री आम्' इति स्थिते अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीसंज्ञायां प्राप्तायां 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषिद्धे 'वामि' इति

तरीतन्त्र्यादयः—'अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।
सप्त स्त्रीलिङ्गशब्दानां न सुलोपः कदाचन ॥'

स्त्रियाः—'स्त्री' शब्दको इयङ् हो, अजादि प्रत्ययके परे । वाऽम्—अम् और शस् विभक्तिके परे 'स्त्री' शब्दको इयङ् आदेश हो, विकल्पसे ।

नेयङु—इयङ्-उवङ्के स्थानी जो दीर्घ ईत्-ऊत् उनको नदी संज्ञा नहीं हो, 'स्त्री' शब्दको छोड़कर । अर्थात् 'स्त्री' शब्दको निषेध नहीं हो । वाऽऽमि—इयङ्-उवङ् स्थानी तथा नित्य स्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईत्-ऊत् उनकी नदीसंज्ञा हो, 'आम्' विभक्तिके

ङौ—धियाम्-धियि ॥ धेनुर्मतिवत् ॥ स्त्रियां च ।७।१।९६। स्त्रीवाची क्रोष्टु-शब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते ॥ ऋन्नेभ्यो ङीप् ।४।१।५। ऋदन्तेभ्यो, नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री—गौरीवत् । वधूः । शेषं नदीवत् । भ्रूः—श्रीवत् । स्वयम्भूः—पुंवत् ॥ न षट्स्वस्रादिभ्यः ।४।१।१०। एभ्यो ङीप्टापौ न स्तः ॥

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥ १ ॥

स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । माता—पितृवत् । शसि-मातॄः । द्यौर्गोवत् । राः—पुंवत् । नौर्ग्लौवत् ॥ इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

था नदीसंज्ञायां 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि पर्जन्यवल्लक्षणन्यायेन दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'धीणाम्' इति । नदीत्वाभावपक्षे इयङि 'धियाम्' इति । 'धी ङि' इत्यत्र 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीत्वे 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि 'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'अचि श्नुधातु०' इतीयङि 'धियाम्' इति । नदीत्वाभावपक्षे इयङि 'धियि' इति रूपम् । क्रोष्ट्रीति । क्रोष्टुशब्दात्स्त्रीत्वे बोध्ये 'स्त्रियां च' इति तृज्वद्भावे 'क्रोष्टृ' इति जाते ऋदन्तत्वात् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि ङकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'क्रोष्टृ+ई' इति स्थिते यणि निष्पन्न 'क्रोष्ट्री' शब्द । तस्मात्सौ समागते हल्ङ्यादिना लोपे कृते सति 'क्रोष्ट्री' इति रूपम् । भ्रूरिति । भ्रू सु इत्यत्र सस्य रुत्वे रस्य विसर्गे च 'भ्रूः' इति रूपम् । स्वयम्भूः पुंवदिति । स्वयम्भूशब्दस्य चतुराननवाचकत्वात् नित्यस्त्रीत्वाभावेन न नदीत्वमिति भाव । स्वसेति । 'स्वसृ+सु' अत्र 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि प्राप्ते 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इति ङीपो निषेधे 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि ङित्वादन्त्यावयवे प्राप्ते अनुबन्धलोपे 'स्वसन्+स' इति स्थिते 'अप्तृन्तृच्' इति दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे 'स्वसा' इति ।

इत्यजन्ता स्त्रीलिङ्गाः ।

---

९२. विकल्पसे—'नदी' संज्ञाको छोड़कर । स्त्रियां च—स्त्रीवाची 'क्रोष्टु' शब्द तृजन्त (क्रोष्टृ शब्द) के सदृश रूपको प्राप्त करे । अर्थात् पुल्लिङ्गके समान स्त्रीलिङ्गमें भी ऋकारान्त बन जावे । ऋन्ने—ऋदन्त और नान्त शब्दोंसे 'ङीप्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । न षट्—षट्संज्ञक और स्वस्रादि (स्वसृ-तिसृ-चतसृ-ननान्दृ-दुहितृ-यातृ-मातृ) शब्दोंसे ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अजन्तस्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गाः

अतोऽम् ।७।१।२४। अतोऽङ्गात्क्लीबात् स्वमोरम् । ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वाद्'—इति सम्बुद्धिलोपः—हे ज्ञान । **नपुंसकाच्च** ।७।१।१९। क्लीबादौङः शी स्यात् । भसंज्ञायाम् । **यस्येति च** ।६।४।१४८। ईकारे, तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः ।—इत्यकारलोपे प्राप्ते । **(औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः)** । ज्ञाने । **जश्शसोः शिः** ।७।१।२०। क्लीबात्परयोर्जश्शसोः शिः स्यात् ॥ **शि सर्वनामस्थानम्** ।१।१।४२। 'शि' इत्येतत्सर्वनामस्थानसंज्ञं स्यात् । **नपुंसकस्य झलचः** ।७।१।७२। झलन्तस्याऽजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने । **मिदचोऽन्त्यात्परः** ।१।१।४७। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित्स्यात् । उपधादीर्घः । ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं धन–वन–फला-

---

ज्ञानमिति । ज्ञानशब्दात्सावागते 'अतोऽम्' इति सोरमि कृते 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे 'ज्ञानम्' इति रूपम् । हे ज्ञान इति । 'ज्ञान+सु' अत्र 'अतोऽम्' इत्यमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे ज्ञानम् इति जाते 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति मलोपे 'हे ज्ञान' इति । ज्ञाने इति । 'ज्ञान औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इत्यौकारस्य शीत्वे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ज्ञान ई' इति जाते 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञायां 'यस्येति च' इति अकारलोपे प्राप्ते 'औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः' इति निषिद्धे 'आद्गुणः' इति गुणे च कृते 'ज्ञाने' इति । ज्ञानानि । 'ज्ञान+जस्' इत्यत्र 'जश्शसोः शिः' इत्यनेकाल्त्वाज्जसः स्थाने शित्वे कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति 'शि' इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति योगेनान्त्याज्रूपस्य नस्यान्त्यावयवीभूते उकारमकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'ज्ञानन् शि' इति जाते शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'ज्ञानानि' इति । पुनस्तद्वदिति । अम्–औट्–शस्सु–ज्ञानम् ,

---

अतोऽम्—अदन्त क्लीब (नपुंसक) अङ्गसे पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो ।

नपुं—क्लीबन्त अङ्गसे पर 'औङ्' के स्थानमें 'शी' आदेश हो ।

यस्येति—भसंज्ञक इवर्ण और अवर्णका लोप हो, ईकार और तद्धितके परे ।

औङः—'औङ्' स्थानिक 'शी' के परे भसंज्ञक इवर्ण–अवर्णका लोप नहीं हो ।

जश्शा—क्लीबन्त अङ्गसे पर जस्–शस्के स्थानमें 'शि' आदेश हो ।

शि सर्व—'शि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो ।

नपुं—झलन्त और अजन्त क्लीबको नुमागम हो, सर्वनामस्थानके परे ।

मिदु—अचोंके मध्यमें अन्त्य जो 'अच्' उससे पर और उसीके अन्त्यावयवमित् (नुमादि) कार्य हो ।

दय ॥ अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ।७।१।२५। एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड्डादेशः स्यात् ॥ टेः ।६।४।१४३। डिति परे भस्य टेर्लोपः । कतरत्—कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् ॥ 'अन्यतम' शब्दस्य तु 'अन्यतमम्' इत्येव । (एकतरात्प्रतिषेधो वाच्यः) । एकतरम् । ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ।१।२।४७। अजन्तस्येत्येव । श्रीपं—ज्ञानवत् । स्वमोर्नपुंसकात् ।७।१।२३। क्लीबादङ्गात्स्वमोर्लुक् स्यात् । वारि । इकोऽचि विभक्तौ ।७।१।७३। इगन्तस्य क्लीबस्य नुमचि

ज्ञाने, ज्ञानानि, इति क्रमेण रूपाणीत्यर्थः । कतरत् । 'कतर+सु' अत्र 'अद्ड्डतरादिभ्य पञ्चभ्य' इति 'सु'इत्यस्य स्थाने अद्ड्डि कृते 'कतर+अद्ड्' इति जाते 'हलन्त्यम्' इति इत्संज्ञायां 'तस्य लोप' इति लोपे च 'कतर+अद्' इति भूते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'टे' इति टिसंज्ञकस्य रेफोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे मिलित्वा 'कतरद्' इति अत्र 'वावसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'कतरत्' इति च रूपम् । हे कतरत् इति । 'कतर+सु' इति स्थिते 'एकवचनं सम्बुद्धि' इति सम्बुद्धिसंज्ञायाम् 'अद्ड्डतरादिभ्य पञ्चभ्य' इति सु-इत्यस्य स्थाने अद्डादेशे कृते डकारस्येत्संज्ञायां लोपे च भसंज्ञायां टिलोपे च कृते 'कतर्+अद्' अत्र यद् ह्रस्वान्तं तदङ्गं न, यदङ्गं—'कतर्' इति तद् ह्रस्वान्तं न । इति न 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धे' इति हल्लोप इति भावः । तदाह—'हे कतरद् इति' । श्रीपमिति । 'श्रीपा सु' अत्र 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वे 'अतोऽम्' इति सोरमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे 'श्रीपम्' इति । ज्ञानवदिति । ह्रस्वविधानात् दीर्घान्तत्वमप्रयुक्तं न कश्चिद्विशेष इति भावः । वारिणी । 'वारि+औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इत्यौकारस्य शीत्वे शस्य लोपे च कृते 'वारि ई' इति जाते 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि कृते नमि गते 'वारिन् ई' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'वारिणी' इति रूपम् । वारीणि । 'वारि+जस्' इत्यत्र 'जश्शसो शि' इति जस्स्थाने शित्वे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति शीत्यस्य सर्वनामस्थानत्वे '[illegible]-

---

अद्—डतरादि पाँचों क्लीबके पर जो 'सु' और 'अम्' उसको 'अद्ड्' आदेश हो ।

नोट—डतरादिमें डतर, डतम प्रत्ययान्त और अन्य, अन्यतर, इतर ये पाँच हैं ।

टे—भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, 'डित्' के परे । एकत—समास में वर्तमान 'एकतर' शब्दसे पर 'सु' और अम् को 'अद्ड्' आदेश नहीं हो—ऐसा कहना चाहिये ।

ह्रस्वो—नपुंसकलिंगमें वर्तमान अजन्त प्रातिपदिकको ह्रस्व हो ।

स्वमो—क्लीबन्त अङ्गसे पर 'सु' और 'अम्' का लुक् हो ।

इको—इगन्त क्लीबको नुमागम हो, अजादि विभक्तिके परे ।

विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । 'न लुमते'त्यस्याऽनित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे—हे वारि । 'घेर्ङिती'ति गुणे प्राप्ते (**वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन**) । वारिणे । वारिणः २ । वारिणोः २ । 'नुमचिरे'ति नुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् ॥ **तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य** ।७।१।७४। प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि । अनादये—अनादिने इत्यादि । शेषं वारिवत् ॥

तद्धिते' इति शस्येत्संज्ञकत्वे 'तस्य लोपः' इति लोपे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि इकारमकारयोरित्संज्ञत्वे लोपे च 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि'इति णत्वे च कृते 'वारीणि' इति रूपम् । न लुमते-त्यस्यानित्यत्वादिति । तथाहि-'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्राज्ग्रहणं ज्ञापकम् । तथाहि—हलादिषु भ्यामादिषु सत्यपि नुमि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति तस्य लोप-सम्भवात्, सम्बुद्धौ तु लुका लुप्तत्वया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरभावाच्च अचीति व्यर्थं सत् 'न लुमताङ्गस्य' इत्यस्यानित्यतां ज्ञापयतीति भावः । वृद्ध्यौत्वेति । अतिसखीनीत्यत्र 'सख्युरसंबुद्धौ' इति णिद्वद्भावात् वृद्धिः प्राप्ता, वारिणीत्यत्र तु 'अच्च घेः' इत्यौत्त्वम् । प्रियक्रोष्टुनीत्यादौ तृज्वद्भावः प्राप्तः । वारिण इत्यत्र 'घेर्ङिति' इति गुणः प्राप्तः । तान् सर्वान् पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वा नुमित्यर्थः । वारिणे । 'वारि+ङे' अत्र अनुबन्धलोपे स्थित्वात् 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधस्य प्रबलत्वात् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि णत्वे च कृते 'वारिणे' इति रूपम् । वारीणामिति । 'वारि+आम्' अत्र परत्वान्नुटं बाधित्वा नुमि प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि 'नामि' इति दीर्घे णत्वे च कृते 'वारीणाम्' इति । अनादये अनादिन इति । पुंवत्त्वे नुमोऽप्रवृत्तेः घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति

वृद्ध्यौ—वृद्धि, औत्त्व, तृज्वद्भाव और गुणको अपेक्षासे पूर्वविप्रतिषेधेन (पूर्वकी प्रबलतासे) 'नुम्' ही होता है ।

नोटः—'अतिसखीनि' में 'सख्युरसम्बुद्धौ' से णिद्वद्भावात प्राप्त वृद्धिको, 'वारिणि' में स्थित्वात 'अच्च घेः' से प्राप्त औत्त्वको, 'प्रियक्रोष्टुनी' में प्राप्त तृज्वद्भावको और 'वारिणे-वारिणः' में 'घेर्ङित' से प्राप्त गुणको बाधकर नुम् होता है । यही इस वार्तिकका उदाहरण समझना चाहिये ।

तृती—प्रवृत्तिनिमित्त एक होने पर जो भाषितपुंस्क इगन्त क्लीब, उसको पुंवद्भाव (पुंलिङ्ग के समान कार्य) हो, टादि-अजादि विभक्ति के परे ।

यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते ।
क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥ १ ॥
पीलुर्वृक्षः, फलं पीलु, पीलुने, न तु पीलवे ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं, तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥ २ ॥

पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु । तस्मै-पीलुने । अत्र न पुंवत् । प्रकृति-

---

गुण । पुंवद्भावस्य वैभाषिकत्वेन तदभावे नपुंसकत्वे नुमि 'अनादिने' इति रूपं भाव्यम् । तथादीति । अनादिनः-अनादेः । अनाद्योः-अनादिनोः । आमि तु अनादी-नामित्येव । तत्र सत्यसति च पुंवद्भावे रूपस्वरूपाविशेषात् । प्रथमाद्वितीययोर्भ्यां-भ्यामादौ च वारिशब्दवद्रूपाणीति शेषः । यन्निमित्तमिति । यन्निमित्तं, यत्कारणं यं हेतुमुपादायाश्रित्य पुंसि-पुमर्थे शब्दः प्रवर्तते, शब्दः पुंस्त्वप्रयुक्तकार्याणि लभते । पुल्लिङ्गे यः शब्दः यमर्थं भजमानः प्रवृत्तिं गच्छत्येवमुक्तोऽयमर्थो इति श्लोकस्य पूर्वार्धस्यार्थः । क्लीबवृत्तौ तस्य शब्दस्य नपुंसके विद्यमाने सति तदेव, कारणं स एव हेतुः स एवार्थश्चेत् । तद् शब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कं कथितपुंस्कम् उच्यते कथ्यते शब्दशास्त्रविद्भिः । शब्दः पुंस्त्वे यमर्थं भजते यद् च शब्दस्वरूपं भजते तमेवार्थं प्रधानीकृत्य शब्दस्वरूपमपि पुंवदेव भवेच्चेत् स शब्दः भाषितपुंस्कसंज्ञां लभते इति तात्पर्यार्थः । तेन शब्दसारूप्ये भज्यमानोऽपि पुंस्त्वे विद्यमानोऽपि 'पीलु' शब्दः नपुंसकत्वे फलार्थवाचके भाषितपुंस्कसंज्ञां न लभते प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् । पीलुशब्दस्य पुंस्त्वे या प्रवृत्तिस्तत्र यन्निमित्तं वृक्षार्थत्वं तस्य भेदात् इति भावः । यं वृक्षरूपार्थं निमित्तीकृत्य पीलुशब्दः पुंस्त्वं लभते, तदर्थस्य नपुंसकेऽभावात् फलार्थत्वेन प्रवृत्तिभेदेन स्वरूपसाम्येऽपि भाषितपुंस्कतां न लभत इति स्पष्टार्थः । तेन तस्य फलार्थकस्य पीलुशब्दस्य नपुंसके पीलुने इत्येव चतुर्थ्यां रूपं न पीलवे इति । अस्य शब्दस्य भाषितपुंस्कसंज्ञाभावेन पुंवत्त्वाप्रवृत्तौ घिसंज्ञादिकार्याभावेन पीलवे इति असम्भवात् । वृक्षे *निमित्तमिति* । वृक्षत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमिति । फलविशेषे तु शब्दे फलत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं

'यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते । क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥

अयं भावः—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तद् 'भाषितपुंस्कम्' । अर्थात् नपुंसके लिङ्गान्तरे च यस्य एकमेव शब्दप्रवृत्त्यवच्छेदकधर्मस्वरूपं भाषितपुंस्कत्वेन विवक्षितम् ।

शु स्वायतोऽपि शुचिः तस्य वस्त्रमपि 'शुचि' । अत्र तुल्यानुसारम्, धोमतावाच्य-त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंनपुंसकयोरेकत्वेऽपि भाषितपुंस्कत्वात् 'तृतीयादिषु' इति पुंवत्त्वे शुचये इत्यादिवत् । तुल्यम्—'पीलुर्वृक्ष' इत्यादि ।

निमित्तभेदात् ॥ **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ।७।१।७५।** टादावचि । **अल्लोपोऽनः ।६।४।१३४।** अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः । दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ । **विभाषा ङिश्योः ।६।४।१३६।** अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा, ङिश्योः । दध्नि—दधनि । शेषं वारिवत् । एवमस्थिसक्थ्यक्षि ॥ सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे । हे सुधि । सुधिया—सुधिना । सुधिये—सुधिने इत्यादि ॥ मधु । मधुनी । मधूनि । मधुना । हे मधो । हे मधु । एवमम्ब्वादयः ॥ सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुल्वा—सुलुना । इत्यादि ॥ धातृ । धातृणी । धातॄणि ॥ हे धातः । हे धातृ । धात्रा । धातृणा । धातॄणाम् ।

प्रवृत्तिनिमित्तमिति प्रवृत्तिनिमित्तभेदादित्यर्थः । दध्नेति । दधि टा इत्यवस्थायां 'इकोऽचि विभक्तावि'ति नुमि प्राप्तेऽपवादत्वात्तद्बाधित्वा 'अस्थिदधि' इत्यनङादेशे-ऽन्त्यादेशे इकारे अनङादेशेन दधन्+आ इति स्थिते 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे सति 'दध्न् आ' इति जाते परेण संयोगे दध्ना इति भवति रूपम् । दध्ने, दध्नः, दध्नोः, दध्नाम् इत्यादौ दधिशब्दाद् जातिप्रत्ययपरकत्वेन 'अस्थिदधि' इत्यादिनानङि प्रोक्तरूपाणां सिद्धिर्ज्ञेया । दध्नि-दधनीति । सप्तम्यां ङौ 'विभाषा ङिश्योः'इति ङौ अकारलोपस्य वैकल्पिकेनाकारलोपाभावे 'दधनि' इति रूपं साधु । सति चाकारलोपे 'दध्नि' इति तु भवत्येव यथाशास्त्रम् । सुधिया, सुधिनेति । सुध्यातृत्वस्य शोभनज्ञानवत्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके च एकत्वात् पुंवत्त्वविकल्पः । तेन पुंवद्भावपक्षे अजादौ विभक्तौ परे 'अचि श्नुधातु' इतीयङि 'सुधिया' इति पुंवद्भावपक्षे-नुमि-'सुधिना' इति । सुल्वा, सुलुनेत्यादि । शोभनलवनकर्तृत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमेकमिति पुंवत्त्वविकल्पः । पुंवत्त्वे ह्रस्वाभावेनाघित्वात् नाभावो न, नुमभावश्च । 'ओः सुपि' इति यण् सुल्वा । पुंवत्त्वाभावपक्षे तु यणं बाधित्वा नुम् 'सुलुना' इति । धातॄणी । 'धातृ+

अस्थि—अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्दको उदात्त अनङ् आदेश हो, टादि अजादि विभक्तिके परे । अल्लो—अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि-स्वादि प्रत्यय परक 'अन्' के अकारका लोप हो । विभा—अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि-स्वादि प्रत्यय परक 'अन्' के अकारका लोप हो, 'ङि' और 'शि' के परे विकल्पसे ।

नोटः—यजादिमें 'य्+अजादि' ऐसा है । अर्थात् यादि और अजादि । ('यज्×आदि-यजादि स्वादि' ऐसा अर्थ करना गलत है) ।

मधुना—'मधु मद्ये पुष्परसे'—'मधुर्वसन्ते चैत्रे च' इति कोशात् 'मधु' शब्दस्य भाषितपुंस्कत्वेऽपि पुन्नपुंसकयोः मधुत्व-वसन्तत्वादिरूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् 'तृतीयादिषु' इति न पुंवत्त्वम् ।

एवं ज्ञातृदर्शोदय ॥ एच इग्घ्रस्वादेशे ।१।१।४८। आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात् । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्यूनि । प्रद्युना—इत्यादि ॥ प्ररि । प्ररिणी । प्ररीणि । प्ररिणा । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' । प्रराभ्याम् । प्ररीणाम् ॥ सुनु । सुनुनी । सुनूनि । सुनुना—इत्यादि ॥

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥



जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः शित्वे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति शेः सर्वनामस्थानत्वे शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि उमि गते सति 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'धातॄणि' इति रूपम् । हे धातः, हे धातृ । हे 'धातृ+सु' अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लोपे 'न लुमताऽङ्गस्य' इत्यस्यानित्यत्वात्प्रत्ययलक्षणे सम्बुद्धिनिमित्तकगुणे अकारे रपरे च जाते रेफस्य विसर्गे 'हे धातः' इति । पक्षे—'हे धातृ' इति । धातृशब्दस्य स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तैक्यात् टादावपि पुंवत्त्वविकल्पः । प्रद्यु । प्रकृष्टा द्यौः यस्येति बहुव्रीहौ प्रद्योशब्दस्य 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वे—'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति एकरूपस्यौकारस्योकारे कृते 'प्रद्यु सु' इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लोपे 'प्रद्यु' इति रूपम् । प्रद्युनेत्यादि । प्रद्युशब्दस्तु उदन्तो नपुं० । तथा च पुंसि प्रद्योशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वेऽपि नपुंसके प्रद्युशब्दस्य तदपेक्षया भिन्नत्वेन भाषितपुंस्कत्वाभावाच्च पुंवत्त्वमिति बोध्यम् । शेषं मधुवत् । प्ररि इति । प्रकृष्टः राः धनं यस्य इति बहुव्रीहौ प्ररैशब्दः । तस्य नपुंसकह्रस्वत्वेन इकारः । नुटि टाद्यौ विभक्तौ च वारिवत् । सोर्लुक्सत्त्वात् । 'रायो हलि' इत्यात्वं न । हलादौ तु 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति यथा छिन्नपुच्छे शुनि नाश्वो न गर्दभ इति तथैव प्ररैशब्दस्य ह्रस्वेन विकृतत्वेऽपि 'रायो हलि' इत्याकारादेशे विहिते—प्रराभ्याम्, प्रराभिरित्यादि । प्ररीणामिति । 'प्ररि आम्' इति स्थितौ 'इकोऽचि विभक्ता'विति नुम् आमि नुट् च प्राप्तयोर्नुटा नुम् बाध्यते सन्निपातपरिभाषया नुटि प्राप्तेऽपि दीर्घाऽभावे नामि इति आरम्भसामर्थ्येन परिभाषा बाध्यत इति भावः । तेनात्र प्ररीणामित्येव साधु । प्रराणाम् इति माधवोक्तं तु अप्रमाणम् स्वविषयनाभावात् ।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।



एच—ह्रस्वतः विधान होने पर 'एच्' के स्थानमें 'इक्' ही ह्रस्व हो । अर्थात् 'ए-ऐ' के स्थान में 'इ' और 'ओ-औ' के स्थानमें 'उ' ही ह्रस्व हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अजन्तनपुंसकलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ हलन्तपुँल्लिङ्गाः

हो ढः ।८।२।३१। हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। 'हल्ङ्यादि' इति सुलोपः। पदान्तत्वाड्ढस्य डः। जश्त्वचर्त्वे। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु॥ **दादेर्धातोर्घः ।८।२।३२।** झलि, पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः। **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ।८।२।३७।** धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष्, से ध्वे पदान्ते च। इह व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः। जश्त्वचर्त्वे। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। दुहा। धुग्भ्याम्। धुक्षु॥ **वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ।८।२।३३।** एषां हस्य वा घो

लिट् लिड्। 'लिह—आस्वादने' क्विप्। कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायाम् 'लिह+सु' इति स्थिते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सलोपे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे कृते 'लिट्' इति। चर्त्वाभावपक्षे 'लिड्' इति। लिड्भ्यामिति। 'लिह्+भ्याम्' अत्र 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति ढस्य डत्वे 'लिड्भ्याम्' इति। लिट्त्सु। 'लिह्+सुप्' अत्र पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'झलां जशोऽन्ते' ढस्य डत्वे 'डः सि धुट्' इति सस्य धुडागमे टित्त्वादाद्यवयवे उकारटकारयोर्निवृत्तौ 'खरि च' इति चर्त्वे, पुनश्च डकारस्य 'खरि च' इति चर्त्वे च लिट्त्सु इति रूपम्; धुडागमाभावे 'लिट्सु' इति। दादेर्धातोरिति। धातोरित्यनुवर्तते। तत्रैकमतिरिच्यमानमुपदेशकालं उपपत्तीत्याशयेनाह—उपदेश इति। इह व्यपदेशिवद्भावेनेति। विशिष्टः अपदेशः व्यपदेशः मुख्यव्यवहारः। सोऽस्याऽस्तीति व्यपदेशी। तेन तुल्यं व्यपदेशिवत्। धातावेव धात्ववयवत्वव्यवहारो गौणः, राहोः शिर इत्यादिवदिति भावः। धुक्, धुग्। 'दुह्+प्रपूरणे' क्विप्। क्विबन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सत्यां स्वाद्यागते उकारलोपे 'दुह्+स्' अत्र 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सलोपे हस्य 'हो ढः' इति ढत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'दादेर्धातोर्घः' इति घत्वे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति दस्य धत्वे 'धुघ्' इति जाते तत्र 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'धुक्, धुग्' इति भवतः। धुग्भ्यामिति। 'दुह्+भ्याम्' अत्र

हो ढः—हकारके स्थानमें ढकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें। दादे—उपदेश अवस्थामें दादिधातु-सम्बन्धी हकारके स्थानमें घकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें। एकाचो—धात्ववयव जो झषन्त एकाच्, तदवयव जो 'बश्' उसको भष् आदेश हो सकार और 'ध्व' शब्दके परे, पदान्तमें। वा द्रु—द्रुह्, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह् धातुके हकार

झलि, पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवं मुहः॥ धात्वादेः षः सः ।६।१।६४। उपदेशे धातोरादेः षस्य सः स्यात्। स्नुक्, स्नुग्। स्नुट्, स्नुड्। एवं ष्णिह्॥ इग्यणः संप्रसारणम् ।१।१।४५। यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारण-संज्ञः स्यात्॥ वाह ऊठ् ।६।४।१३२। भस्य वाहः संप्रसारणमूठ्। संप्रसार-

---

'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो भष्०' इति भष्भावेन दकारस्य धकारे 'धुघ्+भ्याम्' इति जाते 'झलां जशोऽन्ते' इति घकारस्य गकारे 'ध्रुग्भ्याम्' इति। ध्रुक्षु। 'द्रुह्+सुप्' अत्र पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'दादेर्धातोर्घः' इति घत्वे भष्भावे जश्त्वे च कृते 'ध्रुग्+सु' इति जाते तत्र 'खरि च' इति चर्त्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सो षत्वे कषसंयोगेन 'क्ष्' इति जाते 'ध्रुक्षु' इति रूपम्। ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड्। 'मुह वैचित्त्ये' अस्मात् क्विपि। तस्य सर्वापहारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते उकारलोपे 'मुह्+स्' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्य०' इति सलोपे 'हो ढः' इति ढत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'दादेर्धातोर्घः' इति घत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' इत्यनेन विकल्पेन हस्य घत्वे 'एकाचो बशो भष्०' इति भष्भावेन दकारस्य धकारे घस्य च 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'ध्रुक्' इति। चर्त्वाभावपक्षे-'ध्रुग्' इति रूपम्। घत्वाभावपक्षे—'हो ढः' इति ढत्वे भष्भावे ढस्य जश्त्वेन डत्वे तस्य विकल्पेन चर्त्वे 'ध्रुट्' इति, चर्त्वाभावपक्षे-'ध्रुड्' इति रूपम्। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। 'द्रुह्+भ्याम्' अत्र 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' इति घत्वे भष्भावे घस्य जश्त्वे च कृते 'ध्रुग्भ्याम्' इति। घत्वाभावे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे भष्भावे ढस्य जश्त्वे च कृते 'ध्रुड्भ्याम्' इति। ध्रुक्षु। 'द्रुह्+सु' अत्र 'वा द्रुहमुह०' इति घत्वे भष्भावे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'खरि च' इति चर्त्वे 'ध्रुक्षु' इति। घत्वाभावपक्षे 'हो ढः' इति ढत्वे भष्भावे ढस्य जश्त्वे 'डः सि धुट्' इति धुटि चर्त्वे डस्य चर्त्वे च 'ध्रुट्त्सु' इति रूपम्। धुडभावपक्षे—हस्य ढः, भष्भावः, ढस्य जश्त्वेन डः, तस्य चर्त्वेन टः 'ध्रुट्सु' इति रूपम्। स्नुट्, स्नुड्। 'ष्णुह उद्गिरणे' अस्मात्क्विप्। कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे 'हल्ङ्याब्भ्य०' इति सलोपे 'वा द्रुहमुह०' इत्यादिना घत्वे तस्य जश्त्वे 'वाऽवसाने' इति वा चर्त्वे 'स्नुक्' इति। चर्त्वाभावे 'स्नुग्' इति। 'वा द्रुह०' इति विकल्पाभावे 'हो

ढः' आदेश हो, विकल्पसे, 'झल्' के परे, पदान्तमें। धात्वा—उपदेश अवस्थामें धातुके आदि षकारको सकार आदेश हो। इग्यण—'यण्' के स्थानमें प्रयुज्यमान जो 'इक्' वह संप्रसारणसंज्ञक हो। वाह ऊठ्—भसंज्ञक 'वाह्' को संप्रसारणसंज्ञक 'ऊठ्' आदेश हो।

णाच्च ६।१।१०८। संप्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः। वृद्धिः। विश्वौहः। इत्यादि ॥ **चतुरनडुहोरामुदात्तः** ।७।१।९८। सर्वनामस्थाने ॥ **सावनडुहः** ।७।१।८२। अस्य नुम् स्यात्सौ परे। 'आच्छीनद्योरि'ति सूत्रादादित्यधिकारादवर्णात्परोऽयं नुम्। अतो विशेषविहितेनाऽपि नुमा आम् न बाध्यते। आमा च नुम्न बाध्यते। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। नुम्विधिसामर्थ्याद्वसुस्रंस्विति दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। अनड्वान्। **अम्सम्बुद्धौ** ।७।१।९९। चतुरनडुहोः अम्स्यात्सम्बुद्धौ परतः। हे अनड्वन्। अनड्वाहौ।

ढः' इति ढत्वे तस्य जश्त्वे विकल्पेन चर्त्वे 'स्नुट्' इति। चर्त्वाभावपक्षे—'स्नुड्' इति। शेषं पूर्ववत्। विश्वौहः इति। विश्वं वहतीत्यर्थे 'भजो ण्विः' इत्यतो ण्विरित्यनुवृत्तौ 'वहश्च' इति ण्विः। णकार इत्। वेर्लोपः। 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः। उपपदसमासः—'विश्ववाह्' इति रूपम्। ततः 'विश्ववाह्' शब्दाच्छसि शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'वाह ऊठ्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते किं नाम सम्प्रसारणम्? 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' इत्यनेन वरूपस्य यणः स्थाने उकाररूपे सम्प्रसारणे कृते 'विश्व-ऊ आह् अस्' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे विहिते 'विश्व-ऊह् अस्' इत्यवशिष्टे 'एत्येधत्यूठ्सु' इति पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ संयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गे च कृते 'विश्वौहः' इति रूपम्। अनड्वान्। 'अनडुह्+सु' इत्यत्र 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि प्राप्तः स क स्यादित्याशङ्कायाम् 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति मित्त्वात् उकारोत्तरवर्त्युकारात् परो जातः। एवं सति 'अनडु आम् ह् सु' इति जाते मकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अनडु आह् सु' इति सूते 'सावनडुहः' इति नुमि उमि गते 'अनडु आ न् ह् सु' इति जाते सोरुकारे गते सस्य 'हल्ङ्याब्भ्यो॰' इति लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति हलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन संयोगान्तस्य लोपस्य असिद्धत्वात् लोपे न जाते सति डकारोत्तरवर्त्तिन उकारस्य यणि मिलित्वा 'अनड्वान्' इति भवति। हे अनड्वन्। हे 'अनडुह्+सु' अत्र 'अम्सम्बुद्धौ' इत्यमि मित्त्वादन्त्यादचः परे कृते मस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सावनडुहः' इति नुमि मित्त्वादन्त्यादचः परे जाते उमि गते सोरुकारे गते सस्य 'हल्ङ्या॰' इत्यादिना लोपे हस्य 'संयोगान्तस्य लोपः' इति लोपे डकारोत्तरवर्तिन उकारस्य यणि कृते 'अनड्वन्' इति। अनड्वाहौ। 'अनडुह्+औ' इत्यत्र 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि मलोपे मित्त्वादन्त्यादचः परे 'इको

सम्प्र—सम्प्रसारणसे 'अच्' परमें रहनेसे पूर्व-परके स्थानमें पूर्वरूप एकादेश हो। चतु—'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दको 'आम्' का आगम हो, 'सु' के परे। साव-'अनडुह्' शब्दको 'नुम्'का आगम हो—'सु' के परे। अम्स—'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दको 'अम्' का

अनड्वाहः । अनडुहः । **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः** ।८।२।७२। सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्ते किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् ॥ **सहेः साडः सः** ।८।३।५६। साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट्, तुराषाड् । तुराषाहौ । तुराषाड्भ्यामित्यादि ॥ **दिव औत्** ।७।१।८४। दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ । सुद्यौः । सुदिवौ ॥ **दिव उत्** ।६।१।१३१। दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते । सुद्युभ्यामित्यादि ॥

सन्धि' इति सयोगे च कृते 'अनड्वाहौ' इति रूपम् । अनडुद्भ्यामित्यादि । 'अनडुह्+भ्याम्' अत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'वसुस्रंसुध्वं स्वनडुहां दः' इति दस्य कृते 'अनडुद्भ्याम्' इति । तथाहीति । आदिना—'अनडुद्भ्याम्' इत्यादि । तथा हि—'अनडुह्+सुप्' अत्र पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'स्वादिषु०' इति पदसंज्ञायां 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति दस्य कृते 'खरि च' इति चर्त्वे 'अनडुत्सु' इति रूपम् । साड इति कृतढत्वकत्वषुत्वस्यानुकरणम् । तदाह—साड्रूपस्येति । तुराषाट् । 'तुरासाह्+सु' अत्र 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सुलोपे 'हो ढः' इति ढस्य हस्य ढत्वे पदान्तत्वात् जश्त्वेन डत्वे कृते 'सहेः साडः सः' इति साड्रूपस्य सकारस्य षत्वे डस्य च 'वाऽवसाने' इत्यनेन वा चर्त्वे 'तुराषाट्' इति । चर्त्वाभावपक्षे 'तुराषाड्' इति रूपम् । तुरासाहौ । अपदान्तत्वान्न मूर्धन्य इति भावः । सुद्यौरिति । 'सुदिव्+सु' इत्यत्र 'दिव औत्' इति वकारस्यौत्वे 'इको यणचि' इति यणि सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च कृते 'सुद्यौः' इति रूपम् । स्वादौ इति विशेषमाह—दिव उत् । अन्तादेश इति । अलोऽन्त्यसूत्रलभ्यम् । पदान्त इति । पदान्तादित्यनुवृत्त सप्तम्या विपरिणम्यत इति भावः । ततस्तपरत्व तु 'भाव्यमान उकारः सवर्णग्राहक' इति ज्ञापनार्थमिति भावः । सुद्युभ्यामिति । 'सुदिव्+भ्याम्' अत्र 'दिव उत्' इति वकारस्योकारादेशे 'इको यणचि' इति यणि 'सुद्युभ्याम्' इति रूपम् । चत्वार । 'चतुर्+जस्' अत्र 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इति सर्वनामस्थान-परत्वात् 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि अनुबन्धलोपे च मित्त्वादन्त्यादचः परे 'इको यणचि' इति यणि 'चत्वार्+अस्' इति जाते जसः 'चुटू' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'चत्वारः' इति

आदेश हो, सम्बुद्धि के पर । वसुस्रं—सान्त वसु और स्रंसादि (स्रंस्-ध्वंस्-अनडुह्) शब्दों को दकार आदेश हो, पदान्त में । सहेः—साड् रूप (बन जाने पर) सह् के सकार के स्थान में मूर्धन्य षकार आदेश हो । दिव—'दिव्' प्रातिपदिक को 'औत्' आदेश हो, 'सु' के पर रहते । दिव उत्—'दिव्' प्रातिपदिक को उकारान्त आदेश हो, पदान्त में ।

चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ ॥ षट्चतुर्भ्यश्च ।७।१।५५। एभ्य आमो नुडागमः स्यात् ॥ रषाभ्यां नो णः समानपदे ।८।४।१। चतुर्णाम् ॥ रोः सुपि ।८।३।१६। रोरेव विसर्जनीयः सुपि, नान्यरेफस्य । चतुर्षु ॥ मो नो धातोः ।८।२।६४। पदान्ते । प्रशान् । प्रशामौ ॥ किमः कः ।७।२।१०३। विभक्तौ । कः । कौ । के । इत्यादि ॥ इदमो मः ।७।२।१०८। इदमो मस्य मः स्यात् सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ॥ इदोऽय् पुंसि ।७।२।१११। इदम इदोऽय् सौ पुंसि । अयम् । त्यदाद्यत्वे ॥ अतो गुणे ।६।१।९७। अपदान्तादतो गुणे

रूपम् । चतुरः । शसादौ सर्वनामस्थानत्वाभावान्नाम् । रषाभ्यामिति । समानपदे रकारषकाराभ्यां परस्य नकारस्य णत्वं स्यादिति सूत्रार्थः, तेन चतुर्णामित्यादिषु णत्वम् । चतुर्णामिति । 'चतुर्+आम्' इत्यत्र 'षट्चतुर्भ्यश्च' इत्यामो नुडागमे टित्वादाद्यावयवे उटि गते 'चतुर् न् आम्' इति जाते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति णस्य च द्वित्वे विहिते 'चतुर्ण्णाम्' इति रूपम् । चतुर्षु । 'चतुर्+सुप्' इत्यत्र 'खरवसानयोः' इति रस्य विसर्गत्वे प्राप्ते 'रोः सुपि' इति निषेधे 'चतर्+सुप्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति षस्य द्वित्वे प्राप्ते 'शरोऽचि' इति षस्य द्वित्वाभावे पस्येत्संज्ञायां लोपे च 'चतुर्षु' इति रूपम् । प्रशान् । 'प्रशाम्+सु' इत्यत्र सोरुकारलोपे 'हल्ङ्याब्भ्य०' इत्यादिना सलोपे 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति पदसंज्ञायां 'मो नो धातोः' इति मस्य नत्वे कृते 'प्रशान्' इति रूपम् । कः । 'किम्+सु' इत्यत्र 'किमः कः' इति किमः कादेशे सोरुकारे गते सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च 'कः' इति रूपम् । इदम् । 'इदम्+स्' इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यकारे प्राप्ते तं बाधित्वा 'इदमो मः' इत्यपवादभूते मकारे कृते 'इदोऽय् पुंसि' इतीदम इद्भागस्य अयादेशे कृते यकारस्याऽकारेण सह संयोगे सस्य 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति लोपे 'अयम्' इति रूपम् । इमौ । 'इदम्+औ' इति स्थिते अत्र 'त्यदादीनामः' इति मस्य अत्वे 'इद अ औ'

षट्—'षट्' संज्ञक और 'चतुर्' शब्द से पर 'आम' को नुट् हो । रषा—रेफ और षकारसे परे नकारको णत्व (णकार) हो, समान पद में । रोः सुपि—सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्तिके परे 'रु' सम्बन्धी रेफके स्थानमें ही विसर्ग हो–अन्य रेफको नहीं । चतुर्षु—'शरोऽचि' इस सूत्रसे यहां द्वित्वका निषेध होता है । मो नो—मान्त धातुके मकारको नकार आदेश हो पदान्त में । किमः— 'किम्' के स्थानमें 'क' आदेश हो, विभक्तिके परे । इदमो— 'इदम्' शब्द सम्बन्धी मकारके स्थानमें, मकार ही आदेश हो, 'सु' के परे । इदोऽय्— 'इदम्' सम्बन्धी 'इद्' के स्थानमें 'अय्' आदेश हो, 'सु' के परे पुंल्लिङ्ग में । अतो— अपदान्त 'अत' (ह्रस्व अकार) से परे गुण (अ–ए–ओ) के परे पूर्व–परके स्थानमें पररूप

पररूपमेकादेशः स्यात् ॥ दश्च ।७।२।१०९। इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ॥ अनाप्यकः ।७।२।११२। अककारस्य इदम इदोऽन्, आपि विभक्तौ । 'आबि'ति प्रत्याहारः । अनेन ॥ हलि लोपः ।७।२।११३। अककारस्य इदम इदो लोप आपि हलादौ । नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ आद्यन्तवदेकस्मिन् ।१।१।२१। एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात् । 'सुपि चे'ति दीर्घः । आभ्याम् ॥ नेद॰

इति जाते 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपे 'इद + औ' इति जाते 'दश्च' इत्यनेन दकारस्य मकारे विहिते वृद्धौ कृतायाम् 'इमौ' इति रूपं सिद्धम् । इमे । 'इदम् + जस्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'इद + अ + जस्' इति स्थिते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'जसः शी' इति शीत्वे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद् गुणः' इति गुणे 'इद' इति दकारस्य मकारे 'इमे' इति रूपम् । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीति । प्रयु- रमयोगाधर्षानादिति भावः । अनेन । 'इदम् + आ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इद + आ' इति जाते 'अनाप्यकः' इति इदोऽनादेशे कृते 'अन् + आ' इति जाते 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति इनादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अनेन' इति रूपम् । नानर्थक इति । परिभाषेयमुपधासंज्ञासूत्रे भाष्ये स्थिता । इदम् शब्दे इद् इत्यस्यानर्थकत्वात् । तदन्तस्येति न लभ्यते । ततश्च इद् इत्यस्य हलन्तस्यैव लोप इति भावः । आद्यन्तवदिति । 'सत्यन्यस्मिन् यस्य पूर्वो नास्ति स आदिः', 'सत्यन्यस्मिन् यस्य परो नास्ति सोऽन्तः' इति लोके प्रसिद्धं, तदुभयमेकस्मिन्नसहाये न सम्भवतीति तदाद्यन्तव्यपदिष्टानि कार्याणि न स्युरतोऽयमतिदेश आरभ्यते । आदाविवान्त इव स्यादिति । तदादितदन्तयोः क्रियमाणं कार्यं तदादौ तदन्त इव च असहायेऽपि स्यादित्यर्थः । आभ्यामिति । 'इदम् +

एकादेश हो । दश्च—'इदम्' शब्द सम्बन्धी दकारके स्थानमें मकार आदेश हो (सुप्) विभक्तिके परे । अनाप्य—ककाररहित जो 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' उसको 'अन्' आदेश हो, आप् (टाआदि) विभक्ति के परे । हलि—ककाररहित 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' का लोप हो, हलादि टाआदि विभक्ति के परे । नानर्थके—अभ्यासविकारको छोड़कर अनर्थकमें 'अलोन्त्य' परिभाषाकी प्रवृत्ति नहीं हो । आद्यन्त—एकस्मिन् अर्थात् असहायमें क्रियमाण जो कार्य वह आदि तथा अन्त की तरह हो ।

और —तदादि और तदन्तको क्रियमाण जो कार्य वह तदादि और तदन्तकी तरह असहाय (एक) को भी हो (यथा—'देवदत्तस्यैक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः, स एव मध्यमः ।)

नेद्—ककाररहित 'इदम्' और 'अदस्' शब्द सम्बन्धी 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं हो ।

मदसोरक्कोः । ७ । १ । ११ । अक्कारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात् । एभिः ३ अस्मै । एभ्यः २ । अस्मात् । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । एषु ।

भ्याम्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपैकादेशे 'इद + भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलोऽन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे 'अ + भ्याम्' इत्यवशिष्टे अत्र 'सुपि च' इति दीर्घत्वे प्राप्ते परमत्र विद्यमानस्याकारस्यादन्तत्वं वर्तते न वेति शङ्कायाम् 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारे अन्तवद्भावेन अदन्तत्वं मत्वा दीर्घे कृते 'आभ्याम्' इति । एभिः । 'इदम् + भिस्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे 'अतो भिस ऐस्' इत्यैस्त्वे प्राप्ते 'नेदमदसोरकोः' इत्यनेन निषिध्य 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गे च 'एभिः' इति रूपम् । अनयोः । 'इदम् + ओस्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अनाप्यकः' इति इद्भागस्यानादेशे कृते 'अन + ओस्' इति जाते 'ओसि च' इति अनघटकनकारोत्तरवर्तिनः अकारस्यैकारे 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे रुत्वे विसर्गे च मिलित्वा 'अनयोः' इति रूपम् । एषाम् । 'इदम् + आम्' अत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुडागमे टित्वादाद्यावयवे उटि गते 'इद + साम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे 'आसाम्' इति जाते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन् अकारे अदन्तत्वमानीय 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'एषाम्' इति

इदम् शब्द पुंलिङ्गमें—अयम्, इमौ, इमे । इमम्, इमौ, इमान् । अनेन, आभ्याम्, एभिः । अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः । अस्य, अनयोः, एषाम् । अस्मिन्, अनयोः, एषु । नपुंसकमें इदम्, इमे, इमानि पुनस्तद्वत् (शेषं पुंवत् ।)

स्त्रीलिङ्गमें—इयम्, इमे, इमाः । इमाम्, इमे, इमाः । अनया, आभ्याम्, आभिः । अस्यै, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, अनयोः, आसाम् । अस्याम्, अनयोः, आसु ।

नोट :—'इदम्' शब्द पासमें स्थित किसी मनुष्य या वस्तुके लिये तथा 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपवर्ती मनुष्य या वस्तुके लिये प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार दूरस्थित प्रत्यक्षके लिये 'अदस्' शब्द और अप्रत्यक्षके लिये 'तत्' शब्दका प्रयोग होता है । कहा भी है—

'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥'

द्वितीयाटौस्स्वेनः ।२।४।३४। द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम्—अन्वादेशः । यथा—'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापये'ति । 'अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वमि'ति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः २ ॥ राजा । न ङिसम्बुद्ध्योः ।८।२।८। नस्य लोपो न स्यात् ङौ सम्बुद्धौ च । हे राजन् । ङावुत्तरपदे प्रतिषेधः । ङौ तु छन्दस्युदाहरणम् । परमे व्योमन् सुप्तो भूतानि । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ ।

रूपम् । राजा । 'राजन्+सु' इत्यत्र सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सुलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'राजा' इति रूपम् । हे राजन् । 'हे राजन्+सु' इत्यत्र सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च स सर्वनामस्थानसंज्ञत्वाद् दीर्घे प्राप्ते 'असम्बुद्धौ' इत्युक्तत्वान्न भवति । तदनन्तरम् 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे प्राप्ते परमत्र 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधे, 'हे राजन्' इति रूपम् । ङावुत्तरपदे इति । उत्तरपदे परतो यः ङिः तस्मिन् परे 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । एवं च चर्मतिल इत्यत्र उत्तरपदे परतः 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति प्रतिषेधाभावात् नकारस्य लोपो निर्बाध इति भावः । ब्रह्मनिष्ठः । ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सः 'ब्रह्मनिष्ठः' इति । ब्रह्मनिष्ठ इत्यत्र अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य ब्रह्मन् शब्दात् ङौ परत्वेन 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इत्यनेन नका

द्विती—'द्वितीया' विभक्तिके परे तथा 'टा' और 'ओस्' विभक्तिके परे इदम्, एतद्को 'एन' आदेश हो, अन्वादेशमें ।

किञ्चित्—किसी कार्यके विधानके लिये जिसका उपादान किया गया हो, उसीका कार्यान्तर विधानके लिये पुनः उपादान करना 'अन्वादेश' कहा जाता है । यथा—

(१) अनेन व्याकरणमधीतम्, (२) एनं छन्दोऽध्यापय' । अर्थात् इसने व्याकरण पढ़ लिया, इसे वेद पढ़ाइये । यहाँ पहले व्याकरणाध्ययन रूप कार्यका विधान किया गया था और पुनः उसीके विषयमें वेद पढ़ाना रूप अन्य कार्यका उपादान किया जा रहा है अतः दूसरे वाक्यमें 'अन्वादेश' है । इसलिये यहाँ 'एनम्' का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार (१) 'अनयोः पवित्रं कुलम् (२) एनयोः प्रभूतं स्वम्' यहाँ पहले वाक्यमें कुलकी पवित्रताका विधान करनेके हेतु ग्रहण किये हुए का दूसरे वाक्यमें धनकी अधिकताका विधानके लिये फिर उपादान होनेके कारण 'अन्वादेश' हो जानेसे 'एन' आदेश हुआ ।

न ङि—नकारका लोप नहीं हो 'ङि' और सम्बुद्धिके परे । ङावु—उत्तरपदके 'ङि'के

जञोर्ज्ञः। अल्लोपोऽनः। श्चुत्वं। राज्ञः॥ **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति।८।२।२।** सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ, कृति—तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो, नान्यत्र—'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः। राज्ञि, राजनि॥ यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः॥ **न संयोगाद्वमन्तात्।६।४।१३७।** वमन्तसयोगादनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा॥ **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ।६।४।१२**

रस्य लोपप्राप्तौ 'ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन ब्रह्मन् इति ङिपरकत्वात् उत्तरपदसत्त्वेन लोपप्रतिषेधान्न भवतीति ब्रह्मनिष्ठ इति साधु एवेति। राज्ञः। 'राजन्+शस्' इति स्थिते शस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञायां 'अल्लोपोऽनः' इति अनोऽकारस्य लोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नस्य ञत्वे 'जञोर्ज्ञः' इति ज्ञरूपसंयुक्ते 'राज्ञः' इति रूपम्। नलोपः सुबिति। नस्य लोपो नलोपः। विधिशब्दो भावसाधनः। विधानं विधिः। सुप् च स्वरश्च सञ्ज्ञा च तुक् च तेषां विधय इति सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासः। कृतीति तु तुकैव सम्बध्यते, अन्यत्रासम्भवात्। तदाह—सुब्विधावित्यादिना। राजाश्व इत्यादाविति। अत्र सवर्णदीर्घयणादिविधीनां सुब्विध्याद्यनन्तर्भावात् तेषु कर्तव्येषु नलोपस्यासिद्धत्वाभावे सति नकारलोपस्य सत्त्वात् सवर्णदीर्घादिकं निर्बाधमिति भावः। यज्वा। 'यज्वन्+सु' अत्र सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'यज्वा' इति रूपम्। यज्वनः। 'यज्वन्+शस्' इत्यत्र शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते 'न संयोगाद्वमन्तात्' इति निषिद्धे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'यज्वनः' इति रूपम्। ब्रह्मणः। 'ब्रह्मन्+शस्' इत्यत्र शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते 'न संयोगाद्वमन्तात्' इति मान्तसंयोगत्वाद् अल्लोपनिषेधे सति 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे सस्य रुत्वे तस्य

परे नलोपका प्रतिषेध हो। अर्थात् 'न ङिसम्बुद्ध्योः' यह निषेध नहीं लगे। न लोप—सुब्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृत्प्रत्ययके परे तुग्विधि कर्त्तव्यमें नलोप हो—अन्यत्र (राजाश्व इत्यादि स्थलमें) नहीं। न संयो—वकारान्त और मकारान्त संयोगसे परे 'अन्' के अकारका लोप नहीं हो। इन्हन्—इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् की उपधाको दीर्घ हो 'शि' के परे ही, अन्यत्र ('दण्डिनौ-वृत्रहणौ' इत्यादि स्थलमें) नहीं।

एषां शावेवोपधाया दीर्घः ॥ सौ च ।६।४।१३। इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन् ॥ एकाजुत्तरपदे णः ।८।४।१२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिस्थस्य नस्य णत्वं स्यात्। वृत्रहणौ। वृत्रहणः ॥ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ।७।३।५४। ञिति, णिति प्रत्यये, ने च परे हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् ॥ हन्तेः ।८।४।२२। उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णः। प्रहण्यात् ॥ अत्पूर्वस्य ।८।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णो नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो

विसर्गे च 'प्रहण' इति रूपम्। वृत्रहा। वृत्रो नाम असुरः तं हतवानित्यर्थे 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति क्विप्। कृपावितौ। अपृक्तलोपः। उपपदसमासः। इति निष्पन्नो वृत्रहन्शब्दः। तस्मात्सावागते सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'वृत्रहन्+स्' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्य' इति सलोपे 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' इति नियमादुपधाया दीर्घत्वाभावे प्राप्ते 'सौ च' इत्युपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'वृत्रहा' इति रूपम्। एकाजुत्तरपदे ण इति। समासस्य चरमावयवे रूढेन उत्तरपदशब्देन समास इति लभ्यते। एक अच् यस्मिन् तत् एकाच्। तद् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदः। तस्मिन् समासे इति बहुव्रीहिः। 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते। 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इत्यतः पूर्वपदादित्यनुवर्तते। 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' इत्यनुवर्तते। तदाह—एकाजुत्तरपदमित्यादिना। हन्तेरिति। 'हन्तेरत्पूर्वस्ये'ति सूत्रं योगविभागेन व्याचष्टे—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इत्यतो रषाभ्यां नो णः इत्यनुवर्तते। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इत्यतः उपसर्गादित्यनुवर्तते। तत्स्थानाश्रयः, तेनोपसर्गस्थादिति लभ्यते। तत्र रषौ प्रत्येकमन्वेति। निमित्तशब्देन रेफषकारौ विवक्षितौ। प्रघ्नन्तीति। हन्तेर्लटि झो 'झोऽन्तः' इत्यन्तादेशे, शपि, लुकि, 'गमहन' इत्युपधालोपे 'हो हन्ते' इति कुत्वे रूपसिद्धिः। अत्रोपसर्गस्थरेफात् परत्वात् 'हन्तेः' इत्यनेन प्राप्तं णत्वम् 'अत्पूर्वस्य' इति नियमान्न भवति। 'वृत्रघ्न' इत्यत्र 'प्रातिपदिकान्त' इति प्राप्तं णत्वं निवर्तते। योगविभागसामर्थ्यादिति। ननु 'प्रातिपदिकान्त-

---

सौ च—इन्नादिक उपधाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि 'सु' के परे।

एकाजु—एक 'अच्' है उत्तरपदमें जिस समासके, ऐसा जो समास, उस समासमें पूर्वपदस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से परे जो प्रातिपदिकान्त नकार, नुम्घटक नकार और विभक्तिस्थ नकार उसको णकार हो। हो हन्ते—ञित्-णित् प्रत्ययके परे और नकारके परे 'हन्' धातुके हकारको कुत्व हो। हन्ते—उपसर्गस्थ निमित्तसे परे 'हन्' धातुके नकारको णकार हो। अत्—'अत्' पूर्वक 'हन्' धातुके नकारको ही णकार हो—अन्यको नहीं।

वेति न्यायं बाधित्वा 'कुमति चे'ति णोऽपि निवर्त्यते । वृत्रघ्नः इत्यादि ॥ एवं शार्ङ्गिन् । यशस्विन् । अर्यमन् । पूषन् ॥ **मघवा बहुलम्** ।६।४।१२८। 'मघवन्' शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः । ऋ इत् ॥ **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** ।७।१।७०। अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने । मघवान् । इह उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वं न भवति, बहुलग्रहणात् । मघवन्तौ । मघवन्तः । मघवन्तम् । मघवन्तौ । मघवतः । मघवता । मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे सुटि-राजवत् ॥ **श्वयुवमघोनामतद्धिते** ।६।४.१३३।

नुम्-विभक्तिषु च', 'एकाजुत्तरपदे णः', 'कुमति च', हन्तेरत्पूर्वस्येति पाठक्रमः । ततश्च 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वे'ति न्यायेन 'अत्पूर्वस्य' इति नियमेन प्रघ्नन्तीत्यत्र हन्तेरित्यव्यवहितणत्वमेव निवर्तेत । न त्वन्यदित्याह—योगेति । यदि अत्पूर्वस्य इत्यनेन 'हन्तेः' इति णत्वमेव व्यावर्तेत, तर्हि हन्तेरत्पूर्वस्येति एकमेव सूत्रं स्यात् । उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णत्वमित्येतावतैव प्रघ्नन्तीत्यत्र णत्वनिवृत्तिसंभवात् । अतो योगविभागसामर्थ्यात् णत्वमात्रस्यायं नियम इति विज्ञायते । वृत्रघ्नः । 'वृत्रहन्+शस्' अत्र शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे 'वृत्रहन् अस्' इति स्थिते 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इत्यनेन नकारे परे हकारस्य कुत्वेन घकारे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते मिलित्वा 'वृत्रघ्नः' इति रूपम् । मघवान् । 'मघवन्+सु' इत्यत्र 'मघवा बहुलम्' इति तृ इत्यन्तादेशे कृते 'मघवतृ+सु' इति जाते ऋकारस्येत्संज्ञात्वे लोपे च विहिते 'मघवत्+सु' इति जाते 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि मित्त्वा-

---

मघवा—'मघवन्' शब्दको 'तृ' अन्तादेश हो विकल्पसे । उगि—धातुभिन्न जो 'उगित्' और नलोपी जो 'अञ्च्' धातु उसको नुम्का आगम हो, सर्वनामस्थानके परे । श्वयुव—अन्नन्त-भसंज्ञक 'श्वन्-युवन्-मघवन्' रूप अङ्गको संप्रसारण हो, तद्धितभिन्न प्रत्ययके परे ।

तृत्वादेशपक्षे—			तृत्वाभावपक्षे—		
मघवान्,	मघवन्तौ,	मघवन्तः ।	मघवा,	मघवानौ,	मघवानः
मघवन्तम्,	,,	मघवतः ।	मघवानम्	,,	मघोनः ।
मघवता,	मघवद्भ्याम्,	मघवद्भिः ।	मघोना,	मघवभ्याम्,	मघवभिः ।
मघवते,	,,	मघवद्भ्यः ।	मघोने,	,,	मघवभ्यः ।
मघवतः,	,,	,,	मघोनः,	,,	,,
,,	मघवतोः,	मघवताम् ।	,,	मघोनोः,	मघोनाम् ।
मघवति,	,,	मघवत्सु ।	मघोनि,	,,	मघवसु ।
हे मघवन्,	हे मघवन्तौ,	हे मघवन्तः ।	हे मघवा	हे मघवानौ	हे मघवानः ।

अभस्थानां मानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात् । मघोनः । मघवभ्यामित्यादि ॥ एवं श्वन् । युवन् । न संप्रसारणे संप्रसारणम् ।६।१।३७। सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात् ।—इति यकारस्य न सम्प्रसारणम् । यूनः । युवभ्यामित्यादि ॥ अर्वा । हे अर्वन् ! । अर्वणस्त्रसावनञः ।६।४।१२७। नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ । अर्वन्तौ । अर्वन्तः । अर्वता । अर्वद्भ्याम् । पथिमथ्यृभुक्षामात् ।७।१।८५। एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे ॥ इतोऽत् सर्वनामस्थाने ।७।१।८६। पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात्सर्वनामस्थाने ॥ थो न्थः ।७।१।८७। पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनामस्थाने । पन्था । हे पन्था । पन्थानौ । पन्थानः ॥ भस्य टेर्लोपः

इन्यादेश, परे मूले कृमि गते 'मघवन् सु' इति स्थिते सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सुलोपे तकारस्य 'संयोगान्तस्य लोपः' इति लोपे 'मघवा बहुलम्' इति बहुलग्रहणात्संयोगान्तस्य लोपस्यासिद्धत्वाभावेन 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे च कृते 'मघवान्' इति रूपम् । मघोनः । 'मघवन्+अस्' अत्र 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे यणो—वकारस्य, इक्—उकारे जाते 'मघ उ अन् अस्' इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे 'आद्गुणः' इति गुणे सस्य रुत्वे तस्य विसर्गे च 'मघोनः' इति रूपम् । टायाम्—मघोना इति । न सम्प्रसारणे इति । सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न भवतीति सूत्रार्थः । इदमेव ज्ञापयति युवन् इत्यादिशब्दे पूर्वस्य यणः प्रथममनन्तरं वा सम्प्रसारणं न भवतीति । यूनः । 'युवन्+शस्' अत्र शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनाम०' इति वकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे 'यु+उन्' अस् इति जाते यकारस्यापि 'श्वयुवमघोनाम्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधे सवर्णदीर्घे च कृते रुत्वविसर्गयोश्च सतो 'यूनः' इति रूपम् । एवं यूना इत्यादावपि बोध्यम् । अर्वा । 'अर्वन्+सु' अत्र सोरुकारे गते 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सुलोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'अर्वा' इति रूपम् । पन्थाः । 'पथिन्+सु' इत्यत्र 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्याकारान्तादेशे विहिते

न सं—सम्प्रसारणके परे पूर्व 'यण्' को सम्प्रसारण नहीं हो। अर्वण—नञ् रहित 'अर्वन्' शब्दका 'तृ' अन्तादेश हो, 'सु' भिन्न विभक्तिके परे। पथि—पथ्यादि (पथिन्-मथिन्-ऋभुक्षिन्) शब्दोंको आकारान्त आदेश हो, 'सु' के परे। इतोऽत्—पथ्यादिके इकारको अकार आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे। थो न्थः—पथिन्-मथिन् शब्दोंके थकारको 'न्थ' आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे। भस्य—भसंज्ञक पथ्यादिके 'टि' का लोप

।७।१।८८। भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात् । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । एवं-मन्थाः । ऋभुक्षाः ॥ ष्णान्ताः षट् ।१।१।२४। षान्ता, नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात् । पञ्च २ । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः २ । 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति नुट् । नोपधायाः ।६।४।७। नान्तस्योपधाया दीर्घो, नामि । पञ्चानाम् । पञ्चसु । अष्टन आ विभक्तौ ।७।२।८४। 'अष्टन' शब्दस्याऽऽत्वं स्या हलादौ । अष्टाभ्य औश् ।७।१।२१। कृताऽऽकारादष्टनो जश्शसोरौश् । 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति । वैकल्पिकं चेदमष्टन आत्वम् , 'अष्टनो दीर्घा'दिति ज्ञापकात् । अष्टौ २ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः २ । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्वाभावे अष्ट । पञ्चवत् ॥ ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ।३।२।५९। एभ्यः

'पथि आ सु' इति जाते 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इति थकारान्तःपातिन इकारस्याकारादेशे विहिते 'पथ् अ आ सु' इति जाते 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे विहिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'पन्थाः' इति रूपम् । पथः । 'पथिन्+शस्' अत्र शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञायाम् 'अचोन्त्यादि टि' इति इन् इत्यस्य टिसञ्ज्ञायां 'भस्य टेर्लोपः' इत्यनेन टिसञ्ज्ञकस्य इन् इत्यस्य लोपे सुइत्यस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'पथः' इति रूपम् । पञ्च । 'पञ्चन्+जस्' अत्र 'ष्णान्ताः षट्' इति पञ्चन्शब्दस्य षट्सञ्ज्ञायां विहितायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च 'पञ्च' इति रूपम् । एवमेव शसि पञ्च । पञ्चानाम् । 'पञ्चन्+आम्' इत्यत्र 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति आमो नुटि टित्वादाद्यावयवे जाते उटि गते 'पञ्चन् न् आम्' इति जाते नस्याकारेण सह संयोगे 'नोपधायाः' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च 'पञ्चानाम्' इति रूपम् । अष्टभ्य इति वक्तव्ये इति । स्यसि अष्टभ्यः, अष्टाभ्यः इति रूपद्वये सत्यपि औश्विधौ लाघवाद् अष्टभ्य इत्येव निर्देश उचितः, आकारनिर्देशात्तु जश्शसोरपि परतोऽप्यात्वं विज्ञायत इत्यर्थः । अष्टौ । 'अष्टन्+जस्' इत्यत्र 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनेनाकारान्तादेशे विहिते 'अष्ट आ जस्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे 'अष्टाभ्य औश्' इति जस औशि 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ' इति ।

हो । ष्णान्ता—षान्त-नान्त संख्यावाचक शब्द षट्संज्ञक हों । नोप—नान्तकी उपधाको दीर्घ हो, 'नाम्' के परे । अष्टन—अष्टन् शब्दको आत्व हो, हलादि विभक्तिके परे, विकल्पसे । अष्टा—कृताकारक 'अष्टन्' शब्दसे परे 'जस्-शस्' को 'औश्' आदेश हो । ऋत्विग—'ऋतु' शब्द पूर्वक 'यज्-धातु', धृष्-धातु, सृज्-धातु, दिश्-धातु उत्पूर्वक स्निह्-

क्विन्। अञ्चेः सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः—केवलयोः क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ। कृदतिङ् ।३।१।९३। अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्॥ वेरपृक्तस्य ।६।१।६७। लोपः। क्विन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।६२। क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्॥ युजेरसमासे ।७।१।७१। युजेः सर्वनामस्थाने नुम्। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। कुत्वेन नस्य ङः। युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम् २। अस०

ऋत्विक्। ऋतौ उपपदे यज्धातोः 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इति क्विनि 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे 'ऋतु इज्' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि 'ऋत्विज् क्विन्' अत्र 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हलन्त्यम्' इति नस्येत्संज्ञायां लोपे च इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तस्मिन् गते वकारस्य 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति अपृक्तसंज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' इत्यपृक्तसंज्ञकस्य वस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञायां कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते सोरुकारे गते 'ऋत्विज्+स्' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कवर्गान्तादेशे आन्तरतम्यात् जकारस्य गकारे जाते 'वाऽवसाने' इति चर्त्वेन वा ककारे 'ऋत्विक्' इति। युङ् 'युज्+सु' इत्यत्र सुबुत्पत्तेः प्राक् 'ऋत्विग्दधृक्०' इति क्विनि, विस्य लोपे क्विनः कृत्संज्ञायां कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां

धातु, अञ्च्-धातु, युज् धातु और क्रुञ्च्-धातुओंसे 'क्विन्' प्रत्यय हो। अञ्च्—'अञ्च्' धातुसे सुबन्त उपपद रहने पर ही 'क्विन्' प्रत्यय होता है, 'युज् और क्रुञ्च्' धातुओंसे केवल अर्थात् उपपदरहित होने पर ही 'क्विन्' प्रत्यय होता है और 'क्रुञ्च्' धातुमें 'क्विन्' प्रत्यय-विधानके साथ २ सूत्रोक्त प्रकारसे 'अनिदिताम्०' से प्राप्त नलोपाभाव का भी निपातन होता है।

नोट—'सूत्रं विनैव निवृत्ति=प्रवृत्ती' यत्तन्निपातनम्—जो कार्य बिना सूत्र नियमका होता है वह 'निपातन' कहा जाता है।

कृदतिङ्—इस (तृतीय) धात्वधिकारमें तिङ्-भिन्न जो प्रत्यय वह कृत्संज्ञक हो।

नोटः—'धातोः' इस सूत्रके अधिकारमें धातुसे परे प्रत्ययोंका विधान है। उनमें 'तिङ्' प्रत्ययों को छोड़कर शेष की कृत्संज्ञा होती है। फल यह हुआ कि 'क्विन्' प्रत्यय 'धातोः' के अधिकारमें है। इसलिए इसकी कृत्संज्ञा हुई और कृत्संज्ञा होने पर कृदन्त होनेसे प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु-आदि विभक्तियों की उत्पत्ति हुई।

वेरपृ—अपृक्तसंज्ञक वकारका लोप हो। क्विन्प्रत्य—क्विन् प्रत्यय जिससे विधान किया जाय उसको कवर्गान्तादेश हो, पदान्तमें। युजेर—'युज्' को नुम्का आगम हो, सर्व-

मासे किम् ?। **चोः कुः** ।८।२।३०। चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि, पदान्ते च। सुयुक् सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। सुयुजा। सुयुग्भ्याम्। खन। खञ्जौ। खञ्जः। खन्भ्याम्॥ **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** ।८।२।३६। व्रश्चादीनां सप्तानां, छशान्तयोश्च षः स्यात् झलि, पदान्ते च। जश्त्वचर्त्वे। राट्, राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्॥ एवं—विभ्राट्। देवेट्। विश्वसृट्। परिमृट्। (**परौ व्रजेः षः पदान्ते**) पर्युपपदे व्रजेः क्विप् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि। परित्यज्य सर्वं व्रजतीति—परिव्राट्। परिव्राजौ॥ **विश्वस्य वसुराटोः** ।६।३।१२८। विश्वस्य दीर्घः स्याद्वसौ, राट्शब्दे च परे। 'राड्'इति पदान्तोपलक्षणार्थम्। विश्वाराट्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्॥ **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** ।८।२।२९। पदान्ते, झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः। भृट्, भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि'ति शस्य जः। भृज्जौ। भृज्जः। भृड्भ्याम्॥

सावागते सोरुकारे गते 'युजेरसमासे' इति नुमि उमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'युन् ज् स्' इति जाते 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति जलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य कुत्वेन ङत्वे 'युङ्' इति रूपम्। राट्। 'राज्+सु' इत्यत्र सोर्लोपे 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' इति षकारान्त्यादेशे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'वावसाने' इति डस्य टत्वे कृते 'राट्' इति रूपम्। पक्षे—'राड्' इति। परिव्राट्। परिपूर्वकव्रजधातुतः 'परौ व्रजेः षः पदान्ते' इति क्विपि व्रजेश्च दीर्घत्वे कृते च षत्वे क्विपो लोपे सावागते सोर्लोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'वावसाने' इति डस्य टत्वे 'परिव्राट्। पक्षे—'परिव्राड्'। विश्वाराट्। 'विश्वराज्+सु'· इत्यत्र सोर्लोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इति जस्य षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'वावसाने' इति डस्य टत्वे 'विश्वस्य वसुराटोः' इति दीर्घत्वे च विहिते 'विश्वाराट्' इति। पक्षे—विश्वाराड्' इति। भृट्। 'भ्रस्ज पाके' क्विप्। 'ग्रहिज्या०' इति सम्प्रसारणं रेफस्य ऋकारः। 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्। तस्मात्सौ 'भृस्ज् सु' इत्यत्र सोर्लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति संयोगाद्यस्य 'स्' इत्यस्य लोपे 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना

नामस्थानके परे, असमासमें। **चोः कुः**—चवर्गको कवर्ग आदेश हो 'झल्' के परे, पदान्तमें। **व्रश्च**—व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज यज, राज और भ्राज, धातुओंको तथा छकारान्त और शकारान्तको षकारान्त आदेश हो, 'झल्' के परे पदान्तमें। **परौ**—'परि' उपसर्गक 'व्रज' धातुसे क्विप् प्रत्यय हो और (उपधा आकार को) दीर्घ हो तथा पदान्तमें षत्व भी हो। **विश्वस्य**—'विश्व' शब्द को दीर्घ हो, 'वसु' और 'राट्' शब्दके परे। **स्कोः**—पदान्त

त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । तदोः सः सावनन्त्ययोः ।७।२।१०६। त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ । स्यः । त्यौ । त्ये ॥ सः । तौ । ते ॥ यः । यौ । ये ॥ एषः । एतौ । एते । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः २ ॥ ङे प्रथमयोरम् ।७।१।२८। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः । मपर्यन्तस्य ।७।२।९१। इत्यधिकृत्य । त्वाहौ सौ ।७।२।९४। अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ स्तः सौ । शेषे लोपः ।७।२।९०। आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतोऽनयोष्टिलोपः । त्वम् । अहम् । युवावौ द्विवचने ।७।२।९२। द्व्यर्थाभिधायिनोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ । प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्

जायते, यस्य चाय 'वाचमाने' इति दस्य 'भूट्' इति । पञ्चे—मूढ' इति । स्यः । 'त्यद्+सु' इत्यत्र 'त्यदादीनाम' इति 'द्' इत्यस्य स्थाने अकारादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते 'त्य सु' इति जाते 'तदो सः सावनन्त्ययो' इति अनन्त्यस्य तकारस्य सत्र सोऽरत्वा तते रुत्वे विसर्गे च 'स्य' इति । त्यौ । 'त्यद्+औ' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'त्यौ' इति रूपम् । सः । 'तद्+सु' अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'तदोः सः सावनन्त्ययो' इति तस्य स्थाने सोऽकारे गते रुत्वे विसर्गे च 'सः' इति रूपम् । एषः । 'एतद्+सु' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'तदोः सः सावनन्त्ययो' इति तकारस्य सकारे कृते 'आदेशप्रत्यययो' इति सस्य षत्वे च कृते 'एष+सु' इति जाते सोऽकारे गते रुत्वे विसर्गे च 'एषः' इति रूपम् । त्वम्, अहम् । 'युष्मद्+सु' इत्यत्र 'ङे प्रथमयोरम्' इति सोरमादेशे विहिते 'युष्मद्+अम्' इति जाते 'त्वाहौ सौ' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे विहिते 'त्व अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे 'त्व अम्' इत्यवशिष्टे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे कृते 'त्वम्' इति रूपम् । 'अस्मद्+सु' इत्यत्र 'ङे प्रथमयोरम्' इति सोरमादेशे 'त्वाहौ सौ' इत्यस्मदो मपर्यन्तस्य अहादेशे 'अतो गुणे' इति पूर्वरूपे कृते 'अहद् अम्' इति जाते 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'अहम्' इति ।

अन्त्यके अतिरिक्त तकार और दकारका लोप हो । तदोः—त्यदादिके अनन्त्य तकार दकारको सकार हो, 'सु' के परे । ङे प्रथ—युष्मद्-अस्मद् शब्द पर 'ङे' और प्रथमा-द्वितीया विभक्तिको 'अम्' आदेश हो । मपर्यन्त—यह अधिकार सूत्र है । त्वाहौ—युष्मद्-अस्मद्के मपर्यन्त भागको 'त्व' और 'अह' आदेश हो, 'सु' के परे । शेषे—आत्व-यत्वके निमित्तेतर विभक्तिके परे युष्मद् अस्मद् शब्दोंकी टिका लोप हो । युवावौ—द्वित्वार्थ प्रतिपादक युष्मद् अस्मद्के मपर्यन्त भागको 'युव' और 'आव' आदेश हो, विभक्तिके परे । प्रथमायाश्च—

।७।२।८८। औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् ॥ यूयवयौ जसि ।७।२।९३। अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो, जसि । यूयम् । वयम् ॥ त्वमावेकवचने ।७।२।९७। एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ॥ द्वितीयायां च ।७।२।८७। अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् ॥ शसो नः ।७।१।२९। आभ्यां शसो नः स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तस्य लोपः । युष्मान् । अस्मान् ॥

युवाम्, आवाम् । 'युष्मद्+औ' 'अस्मद्+औ' इत्यत्र 'ङेप्रथमयोरम्' इति औकारस्य स्थाने अमि 'युवावौ द्विवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य युव आदेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य आवादेशे च विहिते 'युव अद् अम्' 'आव अद् अम्' इति च जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' इति आकारान्तादेशे 'युव आ अम्' इति, 'आव आ अम्' इति भूते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे च कृते 'युवाम्' इति, 'आवाम्' इति च । यूयवयौ जसि इति । जस्प्रत्यये परतो युष्मदस्मदोर्यूयवयौ आदेशौ भवत इति सूत्रार्थः। यथासंख्येन युष्मदो यूयमिति, अस्मदश्च वयमित्यादेशो बोध्यः । यूयम्, वयम् । 'युष्मद्+जस्' 'अस्मद्+जस्' इत्यत्र 'ङेप्रथमयोरम्' इति जसः स्थाने अमि कृते 'यूयवयौ जसि' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य यूयादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य वयादेशे च विहिते 'यूय अद् अम्' 'वय+अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'शेषे लोपः' इति दकारस्य लोपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे 'यूयम्' इति, 'वयम्' इति । त्वाम्, माम् । 'युष्मद्+अम्' 'अस्मद्+अम्' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च मादेशे विहिते 'त्व अद् अम्' 'म अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'द्वितीयायाञ्च' इत्यन्त्यस्य दस्यात्वे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे च कृते 'त्वाम्' इति 'माम्' इति । युष्मान् अस्मान् । 'युष्मद्+शस्' 'अस्मद्+शस्' इत्यत्र 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शसो न' इति नादेशे 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यनेनोत्तरस्य सर्वस्य प्राप्ते 'आदेः परस्य' इति आद्यकारस्य जाते 'युष्मद्+न् स्' 'अस्मद्+न् स्' इति भूते 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'द्वितीयायाञ्च' इत्यन्तस्य दमात्रस्य आकारे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घादेशे 'युष्मान्' 'अस्मान्' इति रूपम् ।

प्रथमाद्विवचनके परे युष्मद्-अस्मद् शब्दको आत्व हो, लोकमें । यूय — युष्मद् अस्मद् शब्दके मपर्यन्तभागको 'यूय' 'वय' आदेश हो, 'जस्'के परे । त्वमा — एकार्थप्रतिपादक युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्व' 'म' आदेश हो, विभक्तिके परे । द्वितीया — युष्मद्-अस्मद्को आकारान्त आदेश हो, द्वितीया विभक्तिके परे । शसो न—

योऽचि ।७।२।८९। अनयोर्यादेशोऽजादौ विभक्तौ । त्वया । मया ॥ युष्मदस्मदोरनादेशे ।७.२।८६। अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ॥ तुभ्यमह्यौ ङयि ।७।२।९५। अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ॥ भ्यसोऽभ्यम् ।७.१।३०। आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ॥ एकवचनस्य च ।७.१।३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्यात् स्यात् । त्वत् । मत् ॥ पञ्चम्या अत्

त्वया, मया । 'युष्मद्+टा' 'अस्मद्+टा' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति मपर्यन्तस्य युष्मदः त्वादेशे अस्मदश्च मादेशे सति 'त्व अद् टा' 'म अद् टा' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे टाया आकारस्येनादेशाभावे लोपे च 'योऽचि' इति योगेन सर्वत्र यकारादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यस्य दस्य जाते सति 'त्व य् आ' 'म य् आ' इति मूते संयोगे च कृते 'त्वया' 'मया' इति । युवाभ्याम्, आवाभ्याम् । 'युष्मद्+भ्याम्' 'अस्मद्+भ्याम्' इत्यत्र 'युवावौ द्विवचने' इति मपर्यन्तस्य युवादेशे आवादेशे च विहिते 'युव अद् भ्याम्' 'आव अद् भ्याम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति दकारस्य 'आ' आदेशे विहिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे 'युवाभ्याम्' 'आवाभ्याम्' इति रूपे । युष्माभिः अस्माभिः । 'युष्मद्+भिस्' 'अस्मद्+भिस्' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति दस्य स्थाने आकारे विहिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च कृते 'युष्माभिः' 'अस्माभिः' इति रूपम् । तुभ्यम्, मह्यम् । 'युष्मद्+ङे' 'अस्मद्+ङे' इत्यत्र 'तुभ्यमह्यौ ङयि' इति मपर्यन्तस्य युष्मदः तुभ्यादेशे अस्मदो मह्यादेशे च कृते 'तुभ्य अद् ङे' 'मह्य अद् ङे' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'शेषे लोपः' इत्यनयस्य दकारस्य लोपे 'ङेप्रथमयोरम्' इति ङेरमादेशे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे 'तुभ्यम्' इति, 'मह्यम्' इति च जायते । भ्यामि-युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, इति तृतीयाद्विवचनवदिति भावः । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् । 'युष्मद्+भ्यस्' 'अस्मद्+भ्यस्' इत्यत्र 'भ्यसो भ्यम्' इति भ्यसः स्थाने भ्यमादेशे 'शेषे लोपः' इति दलोपे कृते सति 'युष्मभ्यम्' 'अस्मभ्यम्' इति । त्वत्, मत् । 'युष्मद्+ङसि, अस्मद्+ङसि' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति युष्मदो

युष्मद् अस्मद् शब्दसे पर 'शस्'के आदिको नकार आदेश हो । योऽचि—युष्मद्-अस्मद् शब्दको यकार आदेश हो, अनादेश (बिना आदेश हुआ) अजादि विभक्तिके परे । युष्मद्—युष्मद्-अस्मद् शब्दके अन्त्यको आकार आदेश हो, अनादेश हलादि विभक्तिके परे । तुभ्य—युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्तभागको 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश हो, 'ङे' विभक्तिके परे । भ्यसो—युष्मद्-अस्मद् शब्दसे पर 'भ्यस्'को 'अभ्यम्' आदेश हो । एकवचन—युष्मद्-अस्मद्से पर पञ्चमी-एकवचन (ङसि) को 'अत्' आदेश हो । पञ्चम्या—युष्मद्-

१७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् । युष्मत् । अस्मत् ॥ तवममौ ङसि १७।२।९६।अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि । युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् १७।१।२७। तव । मम । युवयोः २ । आवयोः २ ॥ साम आकम् १७।१।३३। आभ्यां परस्य 'साम' आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युष्मासु अस्मासु ॥ युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२०

मपर्यन्तस्य त्वादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च मादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'एकवचनस्य च' इति ङसेरति विहिते 'शेषे लोपः' इति दकारलोपे 'त्व+अत्' 'म+अत्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च 'त्वत्' इति 'मत्' इति च भवतः । भ्यामि—पूर्ववत्—'युवाभ्याम्' आवाभ्याम्' इति स्तः । युष्मत्, अस्मत् । 'युष्मद्+भ्यस्' 'अस्मद्+भ्यस्' इत्यत्र 'पञ्चम्या अत्' इति भ्यसोऽति 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'युष्मत्' इति 'अस्मत्' इति च भवतः । युष्मदस्मद्भ्यामिति । युष्मदस्मदोः परतो ङसः स्थाने अशादेशः स्यात् । शित्करणात्सर्वादेशः फलम् । तव, मम । 'युष्मद्+ङस्' अस्मद्+ङस्' इत्यत्र 'तवममौ ङसि' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य तवादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य ममादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'युष्मदस्मद्भ्याम्' इति ङसोऽशि विहिते शस्येत्संज्ञायां लोपे च भूयोऽपि 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'तव, मम' इति रूपे स्तः । युवयोः, आवयोः । 'युष्मद्+ओस्' 'अस्मद्+ओस्' इति स्थिते 'युवावौ द्विवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य युवादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च आवादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'योऽचि' इति एकारस्य यकारे विहिते संयोगे च कृते सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते 'युवयोः' आवयोः' इति । युष्माकम्, अस्माकम् । 'युष्मद्+आम्' 'अस्मद्+आम्' इत्यत्र' 'साम आकम्' इति आमि सास्यमारोप्य आकमादेशे विहिते 'युष्मद्+आकम्' 'अस्मद्+आकम्' इति जाते 'शेषे लोपः' इति दलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'युष्माकम्' 'अस्माकम्' इति । त्वयि, मयि । 'युष्मद्+ङि' 'अस्मद्+ङि' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे, अस्मदो मपर्यन्तस्य च मादेशे कृते 'अतो गुण' इति पररूपत्वे च कृते 'त्वद्+ङि' 'मद्+ङि' इति जाते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'योऽचि' इति दकारस्य यकारादेशे मिलित्वा 'त्वयि' इति 'मयि' इति च भवतः । युष्मासु,

अस्मद्से पर पञ्चमीके 'भ्यस्'को 'अत' आदेश हो । तवममौ—युष्मद् अस्मद्के मपर्यन्त भागको 'तव' और 'मम' आदेश हो ङस्के परे । युष्मद्—युष्मद्-अस्मद्से पर 'ङस्'को 'अश्' आदेश हो । साम—युष्मद्-अस्मद्से पर 'साम्' (सुट् सहित आम्) को 'आकम्' आदेश हो । युष्मदस्मदो—इनसे पर अपादादिमें (श्लोक या ऋचाके चरणके

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वांनौ इत्यादेशौ स्तस्तौ चानुदात्तौ ॥ बहुवचनस्य वस्नसौ ।८।१।२१। उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्-नसौ स्तः । वां—नावोरपवादः । तेमयावेकवचनस्य ।८।१।२२। उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते-मे एतौ स्तः ॥ त्वामौ द्वितीयायाः ।८।१।२३। उक्तविधयोरनयोर्द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वामा एतौ स्तः ॥

श्रीश 'स्त्वा'ऽवतु 'मा'ऽपीह, दत्तात् 'ते' 'मे'ऽपि शर्म सः ।
स्वामी 'ते' 'मे'ऽपि स हरिः, पातु 'वाम'पि 'नौ' विभुः ॥ १ ॥

प्रत्यय । 'युष्मद्+सुप्' 'अस्मद्+सुप्' इत्यत्र पकारस्येत्संज्ञायाम् लोपे च कृते 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति 'द्' इत्यस्यात्वे 'अकः सवर्णे' इति दीर्घत्वे च जाते 'युष्मासु' 'अस्मासु' इति रूपे स्तः । युष्मदस्मदोः षष्ठीति । षष्ठीच-तुर्थीद्वितीयाभिः सह स्थितः इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ तयोरिति विग्रहः । षष्ठ्या-दिविशिष्टयोरिति यावत् । उक्तविधयोरिति । षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्युष्मदस्मदोरित्यर्थः । बहुवचनस्येति । युष्मदस्मदोः बहुवचनविशिष्टे परतः वस्नसावादेशौ यथासंख्यं स्त इति भावः । तेमयेति । ते च मे चेति विग्रहः । अयं वांनावोरपवादः । अत्र द्वितीया

आदिमें नहीं) स्थित जो षष्ठी–चतुर्थी–द्वितीयान्त युष्मद्–अस्मद् शब्द उनको क्रमसे 'वाम्' और 'नौ' आदेश हो ।

नोट—अग्रिम तीन सूत्रोंसे बाध होनेके कारण केवल सभी विभक्तियोंके द्विवचनमें ही इस सूत्रकी प्रवृत्ति होती है ।

बहुवच—पदसे पर अपादादिमें स्थित षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद्–अस्मद् शब्दको क्रमसे 'वस्' 'नस्' आदेश हो ।

नोट—सभी विभक्तियोंके द्विवचनमें 'वाम्' और 'नौ' तथा बहुवचनमें 'वस्' और 'नस्' आदेश होते हैं ।

तेमया—पदसे पर अपादादि में स्थित षष्ठी–चतुर्थ्येकवचनान्त युष्मद्–अस्मद् शब्दको 'ते' और 'मे' आदेश हो । त्वामौ—पदसे पर अपादादिमें स्थित युष्मद्–अस्मद् शब्द जब द्वितीयाका एकवचनान्त हो तब क्रमसे उनको 'त्वा' 'मा' आदेश हो ।

श्लोकार्थ—इह = इसमें, श्रीशः = लक्ष्मीपति —नारायण, त्वा = त्वाम्, मा = माम्, अपि—च, अवतु = पातु । पूर्वोक्त—सः—हरि = नारायण, ते = तुभ्यम्, मे = मह्यम्, अपि = शर्म = सुखम्, दत्तात् = ददातु । स—हरि—पूर्वोक्त—नारायण, ते = तव, मे = मम, अपि = च, स्वामी = प्रभु, अस्तीति शेष. । (क) विभु = व्यापक नारायण, वाम् = युवाम्, नौ = आवाम्, पातु = रक्षतु । (ख) ईश = प्रभु, वाम् = युवाभ्याम्,

सुखं 'वां' 'नौ' ददात्वीशः, पतिर्'वाम'पि 'नौ' हरिः ।
सोऽव्याद् 'वो' 'नः' शिवं 'वो' 'नो' दद्यात्सेव्योऽत्र 'वः' स 'नः' ॥२॥

एकवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः । एकतिङ् वाक्यम् ।
तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं दास्यामि ।
एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः । अन्वादेशे तु नित्यं स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा । तस्मै ते नम इत्येव । न चवा-

---

ग्रहणं नानुवर्तते, तत्र स्वामादेशयोर्वक्ष्यमाणत्वात् । एकवाक्ये इति । निमित्तनिमित्ति-नोरेकवाक्यस्थत्वे इत्यर्थः । एकतिङिति । तिङित्यनेन तिङन्तं विवक्षितम् । एकः तिङ् यस्येति विग्रहः । धाता ते भक्तोऽस्तीति । अत्र 'एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' इत्यनेन तव स्थाने ते आदेशो विहितः । यत्र ते आदेशो न भवति तत्र धाता तव भक्तोऽस्तीति भवत्येव । तस्मै ते नमः इत्येवेति । अत्र अन्वादेशत्वान्नित्य आदेशो जायते । न चवाहेति । चेति अव्ययं समुच्चये । वा इति विकल्पे, हा इति खेदे । 'अह' इति अद्भुते । 'एव' इत्यवधारणे, एतेषां द्वन्द्वः । युक्त इति भावे क्तः ।

नौ = आवाभ्याम्, सुखं = कल्याणम्, ददातु = दत्ताद, (सः) हरिः = नारायणः, वां = युवयोः, नौ = आवयोः, पतिः = प्रभुः अस्तीति शेषः । सः = हरिः, वः = युष्मान् नः = अस्मान्, अव्याद् = रक्षेद । सः = हरिः, वः = युष्मभ्यम्, नः = अस्मभ्यम्, शिवं = कल्याणं, दद्याद् । अत्र = इह लोके, सः = हरिः, वः = युष्माकम्, नः = अस्माकम्, सेव्यः = आराध्यः, अस्तीति शेषः ।

एकवाक्ये—युष्मद्, अस्मद् शब्दको एकवाक्यमें ही अनुदात्त और पूर्वोक्त 'वाम्-नौ' आदि आदेश होते हैं । एकतिङ्—एक तिङ् घटित ही वाक्य होता है ।

एते—ये जो वाम्, नौ, वस्, नस्, आदि आदेश कहे गये हैं, वे अनन्वादेशमें विकल्पसे और अन्वादेशमें नित्य ही हों ।

युष्मद् शब्दके रूप—त्वम्, युवाम्, यूयम् । त्वाम् (त्वा), युवाम् (वाम्), युष्मान् (वः) । त्वया, युवाभ्याम्, युष्माभिः । तुभ्यम् (ते), युवाभ्याम् (वाम्), युष्मभ्यम् (वः) । त्वद, युवाभ्याम्, युष्मद । तव (ते), युवयोः (वाम्), युष्माकम् (वः) । त्वयि, युवयोः, युष्मासु ॥

अस्मद् शब्दके रूप—अहम्, आवाम्, वयम् । माम् (मा), आवाम् (नौ), अस्मान् (नः) । मया, आवाभ्याम्, अस्माभिः । मह्यम् (मे), आवाभ्याम् (नौ), अस्मभ्यम् (नः) । मद, आवाभ्याम्, अस्मद । मम (मे), आवयोः (नौ), अस्माकम् (नः) । मयि, आवयोः, अस्मासु ।

न च वा—च, वा, ह, अह, एव, इन पाँचके योगमें पूर्वोक्त 'वाम्' नौ आदि आदेश

न चवाहाहैवयुक्ते ।८।१।२४। चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः। 'हरिस्त्वां मां च रक्षतु।' 'कथं त्वां मां वा न रक्षेदि'त्यादि॥ पश्यार्थैश्चानालोचने ।८।१।२५। अचाक्षुषज्ञानार्थधातुयोगे नैते आदेशाः स्युः। चेतसा त्वां समीक्षते। आलोचने तु—भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा॥ सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ।८।१।२६। विद्यमानपूर्वात्प्रथमान्तादन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः। 'भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्'। त्वा, मेति वा॥

चादिपञ्चकयोगे इति। पञ्चानामन्यतमेन योगे सतीत्यर्थः। एते आदेशा इति। एते वांनावादय आदेशा इत्यर्थः 'युष्मदस्मदोः षष्ठी' इत्यादिसूत्रेभ्यस्तदनुवृत्तेः। 'न चवा-हाहैवे' इति न्यासेनैव कार्यसिद्धे युक्तग्रहणं नचैषाम् साक्षाद्योगे सत्येव निषेधार्थम्। तेन परम्परासम्बन्धे वान्नावादय स्युरेव। हरिस्त्वां मां च रक्षतु। 'कथं त्वां मां वा न रक्षेदिति। अत्र 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति न त्वामादेशौ चवयोः साक्षाद्योगात्। पश्यार्थैरिति। दर्शनं पश्यः। दृशिर् प्रेक्षणे इत्यस्मात् एव निपातनात् भावे शप्र-त्ययः। 'पाघ्रा' इति पश्यादेशः 'पश्यो नाम दर्शनम् अर्थो येषां ते पश्यार्थास्तैरिति विग्रहः। आलोचनं चाक्षुषज्ञानम्। तद्भिन्नमनालोचनं ज्ञानम् तत्र विद्यमानैः दर्शनार्थकैरित्यर्थः। अत एव ज्ञायते। पश्य इति दृशिना ज्ञानसामान्यं विवक्षित अनालोचने इति चाक्षुषपर्युदासात्। आलोचने किम्। चाक्षुषज्ञानविषये तु भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा। अत्र दृशिना योगेऽपि न त्वादेशनिषेधः। अनालोचने चाक्षुषज्ञानभिन्नज्ञाने सन्देशार्थानां निषेधाविति दिक्। सपूर्वाया इति। वांनावादयोऽनन्वादेशे पाक्षिकाः। अन्वादेशे तु नित्या इत्युक्तम्। अन्वादेशेऽपि क्वचिद्विकल्पार्थमिदम्। सह पूर्वेण वर्तत इति सपूर्वा। विद्यमानपूर्वा। विद्यमानं पूर्वं यस्याः। 'तेन सहेति वा' विग्रहः। तुल्य-योगवचनस्य प्रायिकत्वात्। प्रथमेत्यनेन तदन्तं गृह्यते। परयोरित्यनन्तरं युष्मदस्म-दोरिति शेषः। भक्तस्त्वमपीति। देवदत्तेति अध्याहार्यम्। हे देवदत्त! त्वमपि भक्त-अहमपि भक्तः इत्यन्वयः। तेनेति। भक्तत्वेनेत्यर्थः। त्रायते पालयतीत्यर्थः। अत्र पूर्व-वाक्ये युष्मदस्मदर्थयोरिह पुनः कथनादन्वादेशोऽयम्। अत्र तेनेत्येतत् पूर्वं विद्यमानं पदं, तत्परं हरिरिति प्रथमान्तं, तत्परस्य युष्मच्छब्दस्यान्वादेशेऽपि त्वादेशविकल्पः। तथा 'त्रायते' इति पूर्वं विद्यमानं पदं, तत्परं स इति प्रथमान्तं तत्परस्यास्मच्छब्दस्यान्वादेशेऽपि मादेशविकल्पः। 'त्रायते' इत्येतत् सप्रियमाणं स्यादित्येवमत्र सम्बध्यते। ते निमित्तनिमित्तिनौ समानवाक्यस्थाः, स इत्यस्य विद्य-

---

नहीं हो। पश्या—अचाक्षुषज्ञानार्थक धातुओंके योगमें पूर्वोक्त 'माम्' 'वो' आदि आदेश नहीं हैं। सपूर्वाया—विद्यमान पूर्वक प्रथमान्तसे पर जो षष्ठ्यादि विशिष्ट युष्मद्-अस्मद् शब्द

सामन्त्रितम् ।२।३।४८। सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् ॥ आ-मन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ।८।१।७२। अग्ने तव । देवाऽस्मान्पाहि ॥ नाऽऽ-मन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ।८।१।७३। विशेष्यं समानाधिक-रणे विशेषणे आमन्त्रिते परे नाऽविद्यमानवत् । हरे दयालो नः पाहि ॥ सुपात् । सुपाद् । सुपादौ । पादः पत् ।६।४।१३०। पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् ॥ अग्निमत् । अग्निमद् । अग्निमथौ । अग्निमथः । अग्निमद्भ्याम् ॥ अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ।६।४।२४। हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति, ङिति

मानपूर्वत्वं बोध्यम् । सामन्त्रितमिति । प्रातिपदिकार्थसूत्रोपात्ता प्रथमा 'सा' इत्यनेन प-रामृश्यते संबोधनं च, तदुक्तं सम्बोधने चा प्रथमेति । प्रथमाशब्देन च । तदन्तलाभः । विभक्तित्वात् । अग्ने तवेत्यादि । 'अग्ने तव श्रवो वयः' इत्यृचि 'अग्ने' इत्यविद्यमानवत् । देवास्मानित्यत्र च देवशब्दोऽविद्यमानवत् । 'अग्ने नय' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवत् 'अग्न इन्द्र वरुण' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवदिति भावः । अत्र अग्ने तव देवास्मा-नित्यत्र च युष्मदस्मदोः तेमयावादेशौ न भवतः । तवास्मानित्यनयोः पदात्परत्वाभा-वात् । पादादौ स्थितत्वाच्च । नामन्त्रित इति । आमन्त्रितमविद्यमानवदित्यनुवर्तते, सा-मान्यवचनमित्यनेन विशेष्यसमर्पकः शब्दो विवक्षितः । विशेष्यस्य विशेषणापेक्षया सामान्यरूपत्वात् । तेन च विशेषणमाक्षिप्यते । समानाधिकरणे इति तत्रान्वेति । समानमधिकरणं यस्येति विग्रहवाक्यम् । समानशब्दः एकत्वपरः । विशेष्यबोधक-शब्देन अभेदसंसर्गेण एकार्थवृत्तित्वं विवक्षितम् । हरे दयालो इति । अत्र 'दयालो' इति समानाधिकरणविशेषणे परे हरिशब्दो नाऽविद्यमानवत् । ततश्च दयालो इत्यस्या-विद्यमानवत्त्वेऽपि हरे इति पदात् परत्वान्नसादेश इति भावः । सुपात्, सुपाद् । शोभनौ पादौ यस्य इति विग्रहः । 'सुपाद्+सु' इत्यत्र अनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सु-तिस्यपृक्तं हल्' इति सस्य लोपे, 'वावसाने' इति दस्य तत्वे च कृते 'सुपात्' इति । चर्त्वाभावपक्षे-'सुपाद्' इति । अनिदितामिति । इद्-ह्रस्वेकार इत्संज्ञको येषां तानि

उनको अन्वादेशमें भी पूर्वोक्त आदेश विकल्पसे हों । साम—सम्बोधनमें जो प्रथमा, तदन्त जो प्रातिपदिक वह आमन्त्रितसंज्ञक हो । आम—पूर्वमें स्थित जो आमन्त्रित वह अविद्य-मानवत् हो । नामंत्रि—विशेष्यवाचक जो आमंत्रित पद, वह समानाधिकरण विशेषणवाचक के परे अविद्यमानवत् नहीं हो । पाद—'पाद्'शब्दान्त जो भसंज्ञक अंग तदवयव जो 'पाद्' शब्द उसको 'पद्' आदेश हो । अनि—हलन्त अनिदित् अङ्गके उपधानकारका लोप हो

च। 'उगिदचा'मिति नुम्। संयोगान्तस्य लोपः। नस्य कुत्वेन ङः। प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः॥ अचः ६।४।१३८। लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः। चौ ६।३।१३८। लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्॥ प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ। प्रत्यञ्चः। प्रतीचः। प्रत्यग्भ्याम्॥ उदङ्। उदञ्चौ। उदञ्चः। उद ईत् ६।४।१३९। उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्॥ समः समि ६।३।९३।

इदित्वि न इदितः-अनिदितः, तेषामनिदिताम्। प्राङ्। 'प्र+अञ्चु' इत्यवस्थायाम् 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इति क्विनि तस्य सर्वापहारे—(सर्वस्य लोपे) प्रत्ययलक्षणेन 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति उपधानकारलोपे 'प्र अच्' इति स्थिते 'कृत्तद्धित' इति कृत्संज्ञकत्वात् 'प्र अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ समागते तस्य 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि उमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'प्र अन् च् सु' इति जाते सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इति सुलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति चलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नस्य नासिकास्थानसाम्यात् कुत्वेन ङकारे 'अकः सवर्णे' इति दीर्घे प्राङ् इति रूपम्। प्राचः। 'प्र अच् शस्' इति स्थिते अत्र शकारेत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इति अच अकारस्य लोपे 'चौ' इति प्र-अकारस्य दीर्घत्वे सयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च 'प्राचः' इति रूपम्। प्रत्यङ्। प्रति अन् च् इत्यवस्थायाम् 'ऋत्विग्दधृक्' इति क्विनि तस्य सर्वस्य लोपे 'इको यणचि' इति यणि 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नस्य लोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते 'उगिदचाम्' इति नुमि उमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परं हल्ङ्यादिना सुलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे नुमो नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'प्रत्यङ्' इति रूपम्। प्रतीचः। 'प्रति अन् च् शस्' इत्यवस्थायाम् 'अनिदिताम्' इति नलोपे शसः शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति पूर्वस्याणो दीर्घत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'प्रतीचः' इति रूपम्। उदङ्। 'उद् अन् च् सु' इति स्थिते, 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'उगिदचाम्' इति नुमि, हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्त-

---

जिस किसी प्रत्ययके परे। अचः—लुप्तनकार 'अञ्च्' धातुके भसंज्ञक अकारका लोप हो। चौ—लुप्ताकार-नकार 'अञ्च्' धातुके परे पूर्व 'अण्'को दीर्घ हो। उद ईत्—उद् शब्दसे पर लुप्तनकार 'अञ्च्' धातु सम्बन्धी भसंज्ञक अकारको 'ईत्' आदेश हो। समः—'स' शब्दस्य

प्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे समः सम्यादेशः स्यात्। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्। सहस्य सध्रिः ।६।३।९५। तथा। सध्र्यङ्। सध्र्यञ्चौ। सध्रीचः। सध्र्यग्भ्याम्। तिरसस्तिर्यलोपे ।६।३।९४। अलुप्ताऽकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः। तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिरश्चः। तिरश्चा। तिर्यग्भ्याम्॥ नाऽञ्चेः पूजायाम् ।६।४।३०। पूजार्थस्याऽञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाऽभावादल्लोपो न। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। प्राङ्षु। एवं

लोपे कुत्वे च 'उदङ्' इति रूपम्। सम्यङ्। 'सम् अन् च्' क्विन् इत्यत्र 'समः समि' इति समः स्थाने सम्यादेशे विहिते, 'इको यणचि' इति यणि 'सम्यन् च् क्विन्' इति स्थिते क्विनः सर्वस्यापहारे 'अनिदिताम्' इति नलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायाम् सावागते नुमि हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे कुत्वे च 'सम्यङ्' इति। समीचः 'सम् अन् च् शस्' इति दशायां शस्येसञ्ज्ञायां लोपे च 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'समः समि' इति सम्यादेशे 'समि अच् अस्' इति जाते भसञ्ज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति पूर्वस्याणो दीर्घे संयोगे च कृते, रुत्वविसर्गयोः 'समीचः' इति। सध्र्यङ्। 'सह अन् च्' इत्यत्र 'ऋत्विग्दधृक्' इति क्विनि 'अनिदिताम्' इति नलोपे क्विनः सर्वस्यापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते 'सहस्य सध्रिः' इति सध्र्यादेशे यणि, 'उगिदचाम्' इति नुमि, हल्ङ्यादिना सुलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'सध्र्यङ्' इति। तिर्यङ्। 'तिरस् अन् च्' इत्यत्र 'ऋत्विग्दधृक्' इत्यादिना क्विनि; तस्य सर्वस्यापहारे, 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'तिरसस्तिर्यलोपे' इति तिरसस्तिर्यादेशे 'इको यणचि' इति यणि कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायाँ सावागते नुमि, हल्ङ्यादिना सुलोपे 'सध्र्यन् च्' इति जाते चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'तिर्यङ्' इति रूपम्। प्राङ् 'प्र अन् च्' इति स्थिते 'ऋत्विग्दधृक्' इति क्विनि; क्विनः सर्वापहारलोपे 'अनिदिताम्' इति नलोपे प्राप्ते 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति निषिद्धे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते तस्य हल्ङ्यादिना लोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य ङकारे सवर्णदीर्घे 'प्राङ्' इति रूपम्। प्राङ्क्षु। 'प्राङ्षु' इति पूर्ववत्प्रसाध्य 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' इति वा कुकि 'आद्यन्तौ टकितौ' इति

(क्विन् प्रत्ययान्त) 'अञ्च्' धातुके परे 'सम्' को 'समि' आदेश हो। सह—'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातुके परे 'सह' को 'सध्रि' आदेश हो। तिर—अलुप्ताकारक 'व'प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातुके परे 'तिरस्'को तिरि आदेश हो। नाञ्चेः—'पूजार्थक 'अञ्च्' धातुके उपधासंबन्धी

पूजार्थे-प्रत्ययादयः ॥ कुङ् । कुञ्चौ । कुञ्चः । कुङ्भ्याम् ॥ पयोमुक् । पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुचः । पयोमुग्भ्याम् ॥ मह पूजायाम् । **वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च** । एते निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां कार्यं स्यात् । उगित्वान्नुम् । **सान्तमहतः संयोगस्य** ।६।४।१०। सान्तसंयोगस्य, महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महता । महद्भ्याम् । **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** ।६।४।१४। अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो, धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् ॥ भातेर्डवतु । डित्त्वसामर्थ्या-

---

क्विबादन्त्यावयवे जाते 'कुञ्च्' संयोगेन चकारे 'प्राङ्च्' इति । कुङ् । कुञ्च-कौटिल्याल्पीभावयोः' अस्माद् धातोः 'ऋत्विग्दधृक्' इत्यादिना क्विनि तस्य सर्वस्य लोपे 'अनिदिताम्' इति नलोपे प्राप्ते 'ऋत्विग्दधृक्' इत्यादिना निपातनान्नलोपाभावे कृते कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सौ प्रत्यये तस्य हल्ङ्यादिना लोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'कुङ्' इति । पयोमुक् 'पयोमुच्+सु' इत्यत्र सोर्लोपे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति कस्य गत्वे 'वाऽवसाने' इति गस्य कत्वे पयोमुक् । पक्षे—पयोमुग् । महान् । 'महत् सु' इत्यत्र सकारोत्तरवर्त्युकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सस्य लोपे 'उगिदचाम्०' इति नुमि उमौ लोपे मित्त्वात् 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इत्यन्त्यादचः परे जाते 'महन् त्' इति स्थिते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधाया दीर्घे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे 'महान्' इति । धीमान् 'धीमत्+सु' अत्र 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि, नुमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'अत्वसन्तस्य' इत्युपधादीर्घत्वे हल्ङ्यादिना सोर्लोपे तकारस्य संयोगान्तलोपे 'धीमान्' इति । भवन्तस्य तु भवतिर्भूधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, तस्य स्थाने 'लटः शतृशानचौ' इति शत्रादेशे शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च तथा ऋकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'भू+अत्' इति जाते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि शकारपकारयोरित्सञ्ज्ञायां लोपे च 'भू अ अत्' इति स्थिते तत्र 'भू' इत्यस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ओकाररूपे गुणे कृते 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशे 'भव् अ

ऊकारका लोप नहीं हो। वर्त—वर्तमान कालमें 'शतृ'प्रत्ययान्त पृषत्, महत्, बृहत् और जगत् शब्द निपातित हों और 'शतृ' प्रत्ययवत् इनको कार्य हो। सान्त—सान्त संयोगका और 'महत्' शब्दका जो नकार उसकी उपधाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे। अत्व—अत्वन्तकी उपधाको और धातुभिन्न जो असन्त उनकी भी उपधाको दीर्घ हो, सम्बुद्धिभिन्न

दमस्यापि टेर्लोपः । भवान् । भवन्तौ । शत्रन्तस्य तु भवन् ॥ **उभे अभ्यस्तम् ।६।१।५।** षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः । **नाभ्यस्ताच्छतुः ।७।१।७८।** अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न । ददत् । ददतौ ॥ **जक्षित्यादयः षट् ।६।१।६।** षड् धातवोऽन्ये, जक्षितिश्च सप्तमः एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः ॥ एवं-जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् । 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' । 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये' । -एतौ छान्दसौ । दीध्यत् । वेव्यत् ॥

> जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा ।
> अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥ १ ॥

गुप् । गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ॥ **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ।३।२।६०।** त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थात् दृशेर्धातोः कञ् स्यात् , चात्क्विन् ॥ **आ सर्वनाम्नः ।६।३।९१।** सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु । तादृक् ।

भव' इति भूते 'अतो गुणे' इति अकारद्वयस्य स्थाने पररूपे संयोगे च कृते 'भवत्' इति निष्पन्नम् । तस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते तस्य हल्ङ्यादिना लोपे 'उगिदचाम्' इति नुमि, उमि गते मित्वादन्त्यादचः परे अत्वन्तत्वाभावाद् दीर्घाभावे तकारस्य संयोगान्तलोपे 'भवन्' इति । ददत् । 'ददत्+सु' इत्यत्र 'उभे अभ्यस्तम्' इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् 'उगिदचाम्' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमो निषेधे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति पदसंज्ञायां 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे 'वाऽवसाने' इति दकारस्य तकारे 'ददत्' इति । चर्त्वाभावपक्षे—'ददद्' इति रूपम् । जक्षित्यादय इति । जक्षिति पृथक् पदम् । इति शब्देन जक्षिरेव परामृश्यते । तत्र जक्षितिः आदिर्येषामिति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिस्तदेतदाह-षड् धातवोऽन्ये इति । जक्षत् । 'जक्षत्+सु' अत्र 'उगिदचाम्' इति नुमागमे प्राप्ते 'जक्षित्यादयः षट्' इति अभ्यस्तसञ्ज्ञायाम् 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमो निषेधे हल्ङ्यादिना सुलोपे पदसञ्ज्ञायाम् 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन तकारस्य दकारे तस्य 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे 'जक्षत्' इति । पक्षे—'जक्षद्' इति । तादृक् , तादृग् । 'तादृश' इति स्थिते 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने

'सु'के परे । उभे-षष्ठाध्यायके द्वित्वप्रकरणमें जो द्वित्व विधान किये गये हैं, वे (दोनों) द्वित्व समुदित (संमिलित) अभ्यस्तसंज्ञक हो । नाऽभ्य—अभ्यस्तसंज्ञकसे पर 'शतृ' को नुम् नहीं हो । जक्षि—'जागृ' आदि (वक्ष्यमाण) छै धातु और सातवां 'जक्ष्' धातु अभ्यस्तसंज्ञक हो । त्यदा—त्यदादि उपपद रहने पर अज्ञानार्थक 'दृश्' धातुसे 'कञ्' प्रत्यय हो और चकारात् 'क्विन्' प्रत्यय भी हो । आसर्व—सर्वनामसंज्ञक शब्दको आकारान्त आदेश हो

ताहग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् ॥ 'व्रश्चे'ति षः । जश्त्वचर्त्वे । विट् । विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् ॥ **नशेर्वा** ।८।२।६३। नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते । नक् । नग् । नट् । नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम् । नड्भ्याम् ॥ **स्पृशोऽनुदके क्विन्** ।३।२।५८। अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् । घृतस्पृक् । घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः ॥ दधृक् । दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् ॥ रत्नमुट् । रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुषः । रत्नमुड्भ्याम् ॥ षट् । षड् । षड्भिः ।

कञ्' इति क्विनि तस्य सर्वस्य लोपे कृते 'आ सर्वनाम्नः' इति तद्शब्दस्याकारान्तादेशे सवर्णदीर्घे च 'तादृश' इति रूपम् । तस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ सौ हल्ङ्यादिना लोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' इत्यस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना षत्वे तस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति डत्वे, 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' इति कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वेन पक्षे ककारे 'तादृक्' इति । तदभावे 'तादृग्' इति । विट् । 'विश्-प्रवेशने' धातोः क्विपि कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ हल्ङ्यादिना लोपे 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन डत्वे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वेन पक्षे टत्वे 'विट्' इति, चर्त्वाभावे—'विड्' इति । नक् । 'णश्-अदर्शने' क्विप् । नश् इति रूपम् । ततः सौ, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'नश्' इति षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति डत्वे तस्य 'नशेर्वा' इति कुत्वेन गत्वे चर्त्वेन कत्वे 'नक्' इति । पक्षे 'नग्' इति । कुत्वाभावपक्षे—'नट्, नड्' इति । घृतस्पृक् । घृतं स्पृशतीति विग्रहे 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इति क्विनि, तस्य सर्वस्य लोपे 'उपपदमतिङ्' इति उपपदसमासे सुब्लुकि समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ कृते 'घृतस्पृश्+सु' इति स्थिते सोर्हल्ङ्यादिना लोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं 'व्रश्च०' इति षः । तस्य जश्त्वेन डः । तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' इति गत्वे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वेन कत्वे 'घृतस्पृक्' इति । पक्षे 'घृतस्पृग्' इति । दधृक् । 'ऋत्विग्दधृक्' इति क्विनि, तस्य सर्वस्य लोपे निपातनाद् द्वित्वे अभ्यासकार्ये निष्पन्नदधृष्शब्दात् स्वाद्युत्पत्तौ, तस्य हल्ङ्यादिना लोपे अपरस्य प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात्प्रथमं 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन डकारे तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' इति कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति वा चर्त्वेन ककारे 'दधृक्' इति । चर्त्वाभावपक्षे 'दधृग्' इति । रत्नमुट् । 'रत्नमुष्+सु' अत्र सोर्लोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति डत्वे 'वाऽवसाने' इति टकारे 'रत्नमुट्' इति । पक्षे—'रत्नमुड्' इति । अत्र क्विन्प्रत्ययाभावान्न कुत्वम् । षट् । षष् शब्दो नित्य

शु' इस् के परे । और 'ष' प्रत्यय के परे । नशेर्वा—'नश्' धातु को कवर्ग आदेश हो विकल्प से, पदान्त में । स्पृशो—'उदक' शब्द भिन्न सुबन्त उपपद रहते पर 'स्पृश्' धातु से

षड्भ्यः २ । षण्णाम् । षट्त्सु । षट्सु । यत्तु प्राचा षण्णां षड्णामित्युदाहृतं, तत्प्रामादिकमेव, प्रत्यये नित्यवचनात् ॥ रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात्ससजुषोरिति रुत्वम् । **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ।८।२।७६।** रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते । पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठिषः । पिपठीर्भ्याम् ॥ **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ।८।३।५८।** एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपीण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः

बहुवचनान्तः । तेन षष्शब्दाज्जसि, 'षष्+जस्' इति स्थिते 'ष्णान्ताः षट्' इति षट्संज्ञायाम् 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि, 'झलां जशोऽन्ते' इति षकारस्य डकारे तस्य चर्त्वे च 'षट्' इति, पक्षे—'षड्' इति । एवं शसि परेऽपि बोध्यम् । षण्णाम् । 'षष्+आम्' अत्र 'ष्णान्ताः षट्' इति षट् संज्ञायां 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि टित्वाद् आम आद्यावयवे जाते उटो लोपे पदसञ्ज्ञायां 'झलां जशोऽन्ते' इति षकारस्य डकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति डकारस्यानुनासिके णकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति आमो नकारस्य ष्टुत्वे 'षण्णाम्' इति । न च 'न पदान्ताट्टोः' इति ष्टुत्वनिषेध इति वाच्यम् । 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इति तत्र पर्युदासात् । षट्त्सु, षट्सु 'षष् सुप्' अत्र पकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन षकारस्य डकारे 'षड्+सु' इति जाते 'डः सि धुट्' इति सकारस्य धुडागमे, टित्वात् 'आद्यन्तौ टकितौ' इति आद्यावयवे जाते उटो लोपे 'खरि च' इति धकारस्य तकारे पुनश्च 'खरि च' इति डकारस्य टकारे 'षट्त्सु' इति । धुटोऽभावे 'षट्सु' इति । यत्तु प्राचेति । 'षष्+आम्' इत्यवस्थायां षट्संज्ञायां 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति नुडागमे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'षड् नाम्' इति जाते 'यरोऽनुनासिके' इत्यादिना 'षण्णाम्' 'षड्नाम्' इति रूपद्वयं भवतीति प्राचीनैरुक्तं प्रामादिकं असमीचीनम् इति भावः । आमः प्रत्ययत्वेन 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति वार्तिकेनानुनासिकस्य नित्यप्रवृत्तित्वेन 'षड्नाम्' इत्यस्यासिद्धत्वात् । न चामः प्रत्ययत्वेऽपि नुटा व्यवधानादनुनासिकविकल्पस्यैव प्राप्तिः व्यवहितप्रत्ययपरकत्वेन वार्तिकाप्रवृत्तौ अनुनासिकनित्यतायां नश्यत्वादिति चेन्न । यदागमन्यायेन नुटोऽपि प्रत्ययत्वावच्छिन्नत्वेन प्रत्ययत्वावच्छिन्नप्रत्ययपरकत्वेन नित्यानुनासिकस्याबाधकत्वमिति भावः । पिपठीः । 'पिपठिष्+सु' इत्यत्र सोर्लोपे, रुत्वे कर्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति षत्वस्यासिद्धत्वाद् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'पिपठिर्' इति जाते 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति उपधाया इकारस्य दीर्घे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे

क्विप्' प्रत्यय हो । र्वोरु—रेफान्त और वान्त धातुकी उपधाके 'इक्' को दीर्घ हो, पदान्तमें । नुम्-नुम् , विसर्जनीय और 'शर्' इनमें प्रत्येकके व्यवधान होने पर भी इण् और कवर्गसे

रूपात् । ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः । पिपठीष्षु । षा शरि । पिपठीःषु ॥ चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्षः । चिकीर्षु ॥ विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् । वसोः सम्प्रसारणम् ।६।४।१३१। वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणम् । विदुषः । 'वसुस्रंसु'इति दत्वम् । विद्वद्भ्याम् ॥ पुंसोऽसुङ् ।७।१।८९। पुंसोऽसुङ् स्यात् सर्वनामस्थाने । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुंभ्याम् । पुंसु ॥ 'ऋदुशनस्'इत्यनङ् । उशना । उश-

---

'पिपठी' इति रूपम् । पिपठीष्षु । 'पिपठिस्+सुप्' अत्र 'हलन्त्यम्' इति पकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे उकारलोपे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इत्युपधाया दीर्घत्वे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे 'पिपठीः सु' इति जाते 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति शर्व्यवायेऽपि सुप्प्रत्ययस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति पूर्वस्य सकारस्य षत्वे 'पिपठीष्षु' इति । पक्षे 'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे 'नुम्विसर्जनीय' इति विसर्गव्यवधानेऽपि षत्वे 'पिपठीःषु' इति । चिकी । 'चिकीर्ष्—सु' अत्र सोर्लोपे षकारस्य संयोगान्तलोपे सकारश्रुतया 'रात्सस्य' इति सलोपे रेफस्य विसर्गत्वे च रूपम् । विद्वान् । 'विद्वस्+सु' अत्र सोर्लोपे 'प्रत्ययलोपे' इति प्रत्ययलक्षणे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति उपधाया दीर्घत्वे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'विद्वान्' इति रूपम् । विदुषः । विद्वस्+शस् अत्र 'लशक्वतद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति वस्य स्थाने उकाररूपे सम्प्रसारणे कृते 'विद् उ अस्' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे 'विदुस्+अस्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति प्राप्तस्यापवादस्य सस्य षत्वे संयोगे च कृते 'विदुषस्' इति भूते अन्त्यसकारस्य 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे 'विदुषः' इति रूपम् । पुमान् । 'पुंस्+सु' इत्यत्र 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङि विहिते 'ङिच्च' इति अन्त्यसकारस्य स्थाने जाते 'पुमसुङ्+सु' इति भूते 'हलन्त्यम्' इति ङकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति उकारस्य चेत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति उभयोर्ङकारोकारयोर्लोपे 'पुमस्+सु' इति स्थिते सोर्हल्ङ्यादिना लोपे प्रत्ययलक्षणे 'उगिदचाम्' इति नुमि—नुमि कृते मित्वादन्त्यादचः परे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति उपधादीर्घे संयोगान्तलोपे 'पुमान्' इति । उशना । 'उशनस्+सु' अत्र 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' इति अनङि 'ङिच्च' इत्यन्त्यस्य सः स्थाने कृते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च

पर सकारके मूर्धन्य (षकार) आदेश हो । वसोः—वस्वन्त भसंज्ञकको संप्रसारण हो । पुंसो—'पुंस्'को असुङ् आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे ।

नसौ। अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः। हे उशन ।। हे उशनन् ।। हे उशनः ।। उशनोभ्याम् ॥ अनेहा। अनेहसौ। अनेहसः। हे अनेहः ॥ वेधाः। वेधसौ। वेधसः। वेधोभ्याम् ॥ अदस औ सुलोपश्च ।७।२।१०७। अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च। 'तदो' रिति सः। असौ ॥ औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः। प्रतिषेधपक्षे—सादुत्वं च। असकौ। असुकः। त्यदाद्यत्वं पररूपत्वम्। वृद्धिः। अदसोऽसेर्दादु दो

अकारस्योच्चारणार्थत्वात्तस्मिन् गते 'उशनन् सु' इति स्थिते 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इति सोर्लोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'उशना' इति। हे उशन। हे उशनस्+सु' अत्र सोर्लोपे 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः' इति वार्तिकेन अनङि कृते नलोपे च कृते 'हे उशन' इति। वाग्रह-णान्नलोपाऽभावे 'हे उशनन्' इति। अनङादेशाभावे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते 'हे उशनः' इति। उशनोभ्याम्। 'उशनस्+भ्याम्' अत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'ससजुषो रुः' इति सकारस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे च कृते 'उशनोभ्याम्' इति। अनेहा। 'अनेहस्+सु' अत्र 'ऋदुशनस्पुरु-दंसोऽनेहसाञ्च' इत्यनङि ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने कृते अनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्युपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'अनेहा' इति रूपम्। वेधाः। 'वेधस्+सु' अत्र 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इत्यसन्तत्वाद्दीर्घे सोर्लोपे च कृते रुत्वविसर्गौ 'वेधाः'। हे वेधः। अत्र 'असम्बुद्धौ' इत्युक्तेर्न दीर्घः। असौ। 'अद्+सु' इत्यत्र 'अदस औ सुलोपश्च' इति सस्य स्थाने औत्वे सलोपे च विहिते, अद औ इति जाते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति दस्य सत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च कृतायाम् 'असौ' इति सिद्ध्यति। औत्वप्रतिषेध इति। 'अदस औ सुलोपश्च' इत्यत्र अदस् शब्देन तन्मध्यपतितन्यायेन 'अदकस्' शब्दस्या-ऽपि ग्रहणादौत्वे प्राप्ते विकल्पेन तत्प्रतिषेधो वक्तव्यः 'तदोः सः सौ' इति दकारस्य सकारे कृते तस्मात्सकारात्परस्य अकारस्य उकारश्च वा वक्तव्य इति वार्तिकार्थः। तथा च 'अदकस्+स्' इति स्थिते औत्वाभावे दस्य सत्वे सति सकारात्परस्य अकारस्य उत्वे सति त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, रुत्वे विसर्गे च कृते 'असुकः' इति रूपस्य सिद्धिः। औत्वप्रतिषेधाभावे 'अदकस्+स्' इति स्थिते सकारस्यौत्वे,

---

अस्य—उशनस् शब्दको संबुद्धिके परे विकल्पसे अनङ् आदेश हो और न का लोप भी विकल्पसे हो। अदस—'अदस्' शब्दको सुके परे औकारान्त आदेश हो और सुलोप भी हो। औत्व—अकच् विशिष्ट अदस् शब्दको औत्वका प्रतिषेध हो—तथा सकारोत्तर—अकारको उत्व भी हो विकल्पसे। अदस—असान्त अदस् शब्दसम्बन्धी दकारसे पर वर्ण—कवर्ग हो

म ॥८।२।८०॥ अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो, दस्य मश्च। आन्तरतम्याद्ध्रस्वस्य उः। दीर्घस्य ऊः। अमू। 'जसः शी'। एत ईद् बहुवचने ॥८।२।८१॥ अदसोऽसान्तस्य दात्परस्यैत ईत्, दस्य च मो, बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्रासिद्ध'मिति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां 'ना' भावः। न मु ने ॥८।२।३॥ 'ना'भावे कर्तव्ये, कृते च मुभावो नाऽसिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु॥

इति हलन्ताः पुंलिङ्गाः।

मुलोपे, दस्य मत्वे 'अमुकौ' इति रूपं भवति। अमू। 'अदस्+औ' अत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अद+औ' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां 'अदौ' इति भूते 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इति औकारस्य ऊकारे दस्य मत्वे च 'अमू' इति रूपं सिद्ध्यति। अमी। 'अदस्+जस्' अत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अद+जस्' इति स्थिते 'जसः शी' इति जसः स्थाने शयादेशे शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्गुणः' इति गुणे 'अदे' इति जाते 'एत ईद् बहुवचने' इति एकारस्य ईकारे दस्य च मत्वे 'अमी' इति। अमुना। 'अदस्+टा' अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इति अकारस्य उत्वे दस्य च मत्वे 'अमु+टा' इति जाते नाभावे कर्तव्ये 'न मु ने' इत्यनेन मुत्वस्यासिद्धत्वाभावबोधनात् 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति टा इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति रूपं सिद्धम्। न च मुत्वस्यासिद्धत्वात् 'सुपि च' इति दीर्घः स्यादिति वाच्यम्। 'न मु ने' इत्यनेन कृते च नाभावे असिद्धत्वनिषेधस्यापि बोधनात्। इति हलन्तपुंलिङ्गप्रकरणम्।

(ह्रस्वको ह्रस्व दीर्घको दीर्घ) तथा दकारको मकार आदेश हो। एत—असान्त अदस शब्दसम्बन्धी दकारसे पर एकारको ईत् हो तथा दकारको मकार आदेश हो, बह्वर्थ में। न मुने—'ना' भाव कर्तव्य हो या कर भी लिया गया हो तो भी 'मु' भाव असिद्ध नहीं हो।

अदस शब्द पुं०—असौ, अमू, अमी। अमुम्, अमू, अमून्। अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः। अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः। अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्। अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु। नपुंसकमें—अदः, अमू, अमूनि। पुनस्तद्वत्। शेष पुंवत्। अदस् शब्द स्त्रीलिङ्गमें—असौ, अमू, अमूः। अमूम्, अमू, अमूः। अमुया, अमूभ्याम्, अमूभिः। अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्यः। अमुष्याः, अमूभ्याम्, अमूभ्यः। अमुष्याः, अमुयोः, अमूषाम्। अमुष्याम्, अमुयोः, अमूषु।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हलन्तपुंलिङ्ग समाप्त हुआ।

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

नहो धः ।८।२।३४। नहो हस्य धः स्यात् झलि, पदान्ते च । **नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ।६।३।११६।** क्विबन्तेष्वेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत् । उपानद् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । निपातनाद्गलोपघत्वे । क्विन्नन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः । जश्त्वचर्त्वे उष्णिक् । उष्णिग् । उष्णिहौ । उष्णिग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् ॥ गीः । गिरौ । गिरः । एवं-पूः ॥ चतस्रः २ । चतसृभिः । चतसृभ्यः २ । चतसृणाम् । चतसृषु ॥ का । के । काः ।

उपानत् । 'उपानह् + सु' इति स्थिते सोरुकारे गते 'स्' इत्यस्य 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इति लोपे 'नहो धः' इति हकारस्य धत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति धकारस्य दत्वे 'वावसाने' इति चर्त्वे 'उपानत्' इति । पक्षे—'उपानद्' इति । उष्णिक् । उत्पूर्वात् ष्णिह् धातोः 'ऋत्विग्दधृक्०' इत्यादिना क्विनि तस्य सर्वस्य लोपे निपातनाद् दलोपे षत्वे च निष्पन्नः—उष्णिह् शब्दः । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ सोः हल्ङ्यादिना लोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन हकारस्य घत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गत्वे 'वावसाने' इति चर्त्वेन वा कत्वे 'उष्णिक्' इति । पक्षे—'उष्णिग्' इति । द्यौः । 'दिव् + सु' इत्यत्र 'दिव औत्' इति वकारस्य औकारे 'इको यणचि' इति यणि सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'द्यौः' इति सिद्धम् । द्युभ्याम् । इति रूपं सिद्धम् । गीः । 'गॄ—निगरणे' क्विप् 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वम्, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वम् । गिर्शब्दात्सुबुत्पत्तिः, सोर्लोपः, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे, रेफस्य विसर्गः, इति भावः । चतस्रः । 'चतुर् + जस्' इत्यत्र 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति चतुर्शब्दस्य चतसृ आदेशे विहिते जसो जकारस्य 'चुटू' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'अचि र ऋतः' इति ऋकारस्य रेफत्वे, सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते 'चतस्रः' इति सिद्धम् । एवं शस्यपि—'चतस्रः' इति । चतसृणाम् । 'चतुर् + आम्' इति स्थिते 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति चतसृ आदेशे 'चतसृ + आम्' इति जाते अत्र 'अचि र ऋतः' इति ऋकारस्य रेफादेशे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे जाते 'चतसृ + नाम्' इति स्थिते 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषिद्धे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्'

न हो—'नह्'धातुके हकारको धकार हो, झल्के परे पदान्तमें । नहि—क्विबन्त नह्, वृत,

सर्ववत् ॥ यः सौ ।७।२।११०। इदमो दस्य यः स्यात्सौ । इदमो मः । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । 'दश्चेति' मः । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । अनया । हलि लोपः । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः २ । अनयोः २ । आसाम् । अस्याम् । आसु । अन्वादेशे तु—एनाम् । एने । एनाः । एनया । एनयोः २ ॥ 'ऋत्विग्'इति सूत्रेण क्विन्, अमागमश्च निपात्यते 'स्रक् । स्रजौ । स्रजः । स्रग्भ्याम् ॥ त्यदाद्यत्वे-टाप् । स्या । त्ये । त्याः । एवम्—तद् । यद् । एतद् ॥ वाक् । वाग् । वाचौ । वाचः । वाग्भ्याम् ३ ॥ अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । 'अप्तृन्'इति दीर्घः ।

इति जाते 'चतसृणाम्' इति रूपं सिद्धम् । इयम् । 'इदम्+स्' इति स्थिते 'यः सौ' इति दस्य स्थाने यकारादेशे कृते 'इयम्+स्' इति जाते 'त्यदादीनाम' इत्यकारादेशे प्राप्ते तं बाधित्वा 'इदमो मः' इति मकारस्य मकारादेशे कृते 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इति सलोपे 'इयम्' इति सिद्धम् । अनया । 'इदम्+टा' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे टापि, 'इदा+टा' इति जाते 'चुटू' इति टकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे सवर्णदीर्घे 'इदा+आ' इति जाते 'अनाप्यकः' इतीदम इद्भागस्य अनादेशे 'अना आ' इति जाते 'आङि चापः' इत्याबन्तस्यैकारे कृते 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे संयोगे च कृते 'अनया' इति रूपम् । आभ्याम् । 'इदम्+भ्याम्' अत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'इदा+भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे कृते 'आभ्याम्' इति । आसाम् । 'इदम्+आम्' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे च कृते टापि, सवर्णदीर्घे 'इदा+आम्' इति जाते, तत्र 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि, उटि गते, टिदाद्यवयवे जाते 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे 'आसाम्' इति रूपम् । स्रगिति । 'स्रज्' शब्दात् क्विन्नन्तात् सौ उकारस्येत्संज्ञायां लोपे 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति सकारस्यापृक्तसंज्ञायां 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सलोपे 'झलां जशोऽन्ते' 'वाऽवसाने' इति वा प्रवृत्तौ स्रक् स्रग् इति रूपद्वयं साधु । स्रग्भ्यामिति । 'स्रज्+भ्याम्' इत्यवस्थायां 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वे स्रग्भ्यामिति सिद्धम् । स्या । 'त्यद्+सु' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे च कृते टापि, टकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च सवर्णदीर्घे, 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति तस्य सत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यो' सलोपे 'स्या' इति । त्याः । 'त्यद्+जस्' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे च टापि, टकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'त्या+जस्' इति स्थिते 'चुटू' इति जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'नादिचि' इति निषिद्धे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे

इन्, हन्, पूष्, अर्य् और शब्दके परे हुए 'अण्'को दीर्घ हो । यः सौ-इदम् शब्द-के दकारको यकार आदेश हो, 'सु' के परे रहनेपर ।

आपः । अपः ॥ **अपो भि** ।७।४।४८। अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अद्भिः । अद्भ्यः २ । अपाम् । अप्सु ॥ दिक् । दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् ॥ त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु । त्विट्सु ॥ 'ससजुषोरि'ति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ॥ आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् ॥ असौ । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । औङः शी । उत्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः २ । अमुयोः २ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु । इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

-कृते सस्य 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च रेफस्य विसर्गत्वे च 'स्याः' इति रूपम् । वाग् । 'वाच्+सु' इत्यत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते स् इत्यस्य 'हल्ङ्यादिना' लोपे चकारस्य 'चोः कुः' इति कुत्वेन कत्वे तस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति गत्वे 'वावसाने' इति विकल्पेन कत्वे 'वाक्' इति । विकल्पाभावपक्षे 'वाग्' इति । आपः । 'अप्+जस्' इत्यत्र 'अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृ०' इत्यादिना उपधादीर्घे कृते 'चुटू' इति जकारस्येत्सञ्ज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते, कृते च संयोगे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'आपः' इति । अद्भिः । 'अप्+भिस्' इत्यत्र 'अपो भि' इति पस्य तकारे 'झलां जशोऽन्ते' इति तस्य दत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते 'अद्भिः' इति । दिक् । 'दिश्-अतिसर्जने' 'ऋत्विक्०' इत्यादिना क्विनि तस्य सर्वस्यापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते, तस्यानुबन्धस्य लोपे कृते 'हल्ङ्यादिना' सलोपे कृते 'दिश्' इति जाते तत्र 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०' इति षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति डत्वे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति डस्य कुत्वेन गत्वे 'वावसाने' इति विकल्पेन कत्वे 'दिक्' इति । पक्षे-'दिग्' इति । दृक् । 'दृश्+सु' अत्र उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इति सलोपे 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०' इति षत्वे षस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति डत्वे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति (क्विन्प्रत्ययो यस्माद्विहित इति बहुव्रीह्याश्रयणात्) कुत्वेन गकारे 'वावसाने' इति गस्य कत्वे 'दृक्' इति, पक्षे 'दृग्' इति । सजूः । 'सजुष्+सु' अत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च स् इत्यस्य 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति लोपे 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे उकारलोपे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति जकारोत्तरवर्त्युकारस्य दीर्घत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'सजूः' इति रूपम् । इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

अपो—'अप्' शब्दको तकारान्त आदेश हो भकारादि प्रत्ययके परे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हलन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोरि'त्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् ॥ वाः । वारी । वारि । वारा । वार्भ्याम् ॥ चत्वारि ॥ किम् । के । कानि ॥ इदम् । इमे । इमानि ॥ (अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः) । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः २ ॥ व्योम । व्योम्नी—व्योमनी । व्योमानि ।

स्वनडुत् । सु-शोभनाः अनड्वाहः यस्य कुलस्येति बहुव्रीहौ, स्वनडुह् शब्दात् नपुंसकलिङ्गात् सावागते 'स्वनडुह्+सु' इति स्थिते अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सुलोपे 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति हस्य दत्वे 'वावसाने' इति दस्य तत्वे 'स्वनडुत्' इति । पक्षे—'स्वनडुद्' इति । स्वनडुही । 'स्वनडुह्+औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इति औस्थाने शयादेशे शकारस्य 'लशक्वतद्धिते' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे संयोगे च कृते 'स्वनडुही' इति । वाः । 'वार्+सु' इत्यत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सुलोपे पदान्तत्वात् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'वाः' इति रूपम् । वारी । 'वार्+औ' इत्यत्र 'औ' इत्यस्य स्थाने 'नपुंसकाच्च' इति शयादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे संयोगे च कृते 'वारी' इति । वारि । 'वार्+जस्' इत्यत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने शयादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च, कृते संयोगे 'वारि' इति । चत्वारि । 'चतुर्+जस्' इति स्थिते अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने शयादेशे कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि, मकारस्येत्संज्ञायां लोपे च मित्त्वादन्त्यादचः परे जाते 'इको यणचि' इति यणि संयोगे च कृते 'चत्वारि' इति रूपम् । इमे । 'इदम्+औ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'नपुंसकाच्च' इति 'शी' आदेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्गुणः' इति गुणे 'इदे' इति जाते 'दश्च' इति दस्य मत्वे 'इमे' इति । एनत् । 'इदम् अम्' इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इत्यमो लुकि, 'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इतीदम एनदादेशे 'वावसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'एनत्' इति । पक्षे—'एनद्' इति । एनेन । 'इदम्+टा' अन्वादेशे सति एनदादेशे त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति टास्थाने इनादेशे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एनेन' इति । व्योम्नीति । 'व्योमन्+औ' इत्यवस्थायां 'नपुंसकाच्चे'त्यादिना शयादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे 'विभाषा ङिश्योरि'ति उपधाया अकारस्य लोपे पक्षे संयोगे 'व्योम्नी' इति, लोपाभावे च व्योमनी इति रूपे भवतः । व्योमानि इति । व्योमन् शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति शयादेशे शलोपे सर्वनामस्थानसंज्ञायां

भाषा—अन्वादेश विषय रहने पर नपुंसक लिङ्गके 'इदम्' और 'एतद्' शब्दको

मन्म। (संबुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः)। हे मन्म। हे मन्मन्। मन्मणी। मन्माणि॥ रोऽसुपि। अहः। विभाषा ङिश्योः। अह्नी-अहनी। अहानि॥ अहन् ।८।२।६८। अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम्॥ दण्डि। दण्डिनी। दण्डीनि॥ सुपथि। टिलोपः-सुपथी। सुपन्थानि॥ ऊर्क्। ऊर्जी। ऊर्न्जि। नरजानां संयोगः॥ त्यद्। त्ये। त्यानि। तत्। ते। तानि। यत्। ये।

दीर्घे च कृते रूपं भवतीति। मन्मेति। मन्मन् इति नान्तं प्रातिपदिकम्। अस्य व्योमन् शब्दवद्रूपाणि। हे मन्म हे मन्मन् इति। अस्य सति नलोपे हे मन्म इति रूपम्। असति च लोपे हे मन्मन् इति रूपं स्पष्टमेवेति भावः। अहः। 'अहन् सु' 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'रोऽसुपि' इति नस्य रेफादेशे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे च 'अहः' इति। अह्नी। 'अहन्+औ' अत्र 'नपुंसकाच्च' इति 'शी' आदेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'विभाषा ङिश्योः' इति अनोऽकारस्य विकल्पेन लोपे 'अह्नी' इति। विकल्पाभावपक्षे—'अहनी' इति। भ्यामादौ हलि विशेषमाह—अहन्निति। 'ससजुषो रुः' इत्यतो रुरित्यनुवर्तते, 'स्कोः संयोगाद्योः' इत्यतः अन्त इति च, पदस्य इत्यधिकृतम्, 'अहन्' इति लुप्तषष्ठीकम्। तदाह—अहन्नित्यस्येत्यादिना। अहोभ्याम्। अहन्+भ्याम्' इत्यत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इतिपदसंज्ञायाम् 'अहन्' इति नस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति। सुपन्थानि। 'सुपथिन्+जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने शौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इति थकारान्तःपातिन इकारस्याकारे कृते 'सुपथन्+इ' इति जाते 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे 'सुपन्थानि' इति। ऊर्क्। 'ऊर्ज्+सु' अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'चोः कुः' इति जस्य कुत्वेन गत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन कत्वे 'ऊर्क्' इति। पक्षे—'ऊर्ग्' इति। ऊर्न्जि। 'ऊर्ज्+जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम्, शसः शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि सति जाते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे च कृते 'ऊर्न्जि' इति रूपम्। तानि। 'तद्+औ' अत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, जसः शौ, अनुबन्धलोपे, सर्वनामस्थानसंज्ञायाम्, 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि, उमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'

'ष्यत्' आदेश हो। सम्बु—सम्बुद्धिके परे नपुंसकलिङ्गमें नकारका लोप हो, विकल्पसे। अहन्—'अहन्' शब्द (के नकार) को 'रु' हो, पदान्तमें।

यानि ॥ एतत् । एते । एतानि ॥ ॥ 'अवङ् स्फोटायनस्ये'ति अवङ् ।

गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥
स्यमोः सुप्सु नव, षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

गवाक् गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ॥ यकृत् ॥

इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे सयोगे च कृते 'तानि' इति रूपम् । एतानि । 'एतद्+जस्' अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'जश्शसोः शिः' इति जसः शौ 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि उमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे सयोगे च कृते 'एतानि' इति । गवाक् । गामञ्चतीति विग्रहे क्विनि उपपदसमासे सुब्लुकि, 'गो अन्च्' इति स्थिते कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ, गो अन्च् सु' इत्यत्र 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नलोपे 'गो अच् सु' इत्यवस्थिते 'अवङ् स्फोटायनस्य' इत्यवङि ङस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति चस्य कत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति गत्वे 'वाऽवसाने' इति वा कत्वे 'गवाक्' इति । चर्त्वाभावपक्षे—'गवाग्' इति । गोची । 'गो अन्च् औ' इत्यत्र 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नलोपे 'नपुंसकाच्च' इति औस्थाने श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इति अचोऽकारस्य लोपे सयोगे च

गवाच्शब्द—गवाक्-गवाग्, गोअक्-गोअग्, गोऽक्-गोऽग्, गवाङ्, गोअङ्, गोऽङ् (९) गोची, गवाची, गोअची-गोऽची (४) गवाञ्चि, गोअञ्चि-गोऽञ्चि (३) गोचा, गवाचा, गोअचा गोऽचा (४), गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६), गवाग्भिः, गोअग्भिः-गोऽग्भिः, गवाङ्भिः, गोअङ्भिः गोऽङ्भिः (६), गोचे, गवाचे, गोअचे-गोऽचे (४) गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६), गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः-गोऽङ्भ्यः (६), गोचः, गवाचः, गोअचः-गोऽचः (४), गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६), गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः-गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः गोऽङ्भ्यः (६), गोचः, गवाचः, गोअचः-गोऽचः (४), गोचोः, गवाचोः, गोअचोः-गोऽचोः (४), गोचाम्, गवाचाम्, गोअचाम्-गोऽचाम् (४) गोचि, गवाचि, गोअचि-गोऽचि (४), गोचोः, गवाचोः, गोअचोः-गोऽचोः (४), गवाक्षु, गोअक्षु-गोऽक्षु, गवाङ्क्षु, गोअङ्क्षु-गोऽङ्क्षु (६) (मिलित्वा १०९)

शकृत्। शकृती। शकृन्ति। शकृद्भ्याम्॥ ददत्। ददती। **वा नपुंसकस्य** ।७।१।७९। अभ्यस्तात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य क्लीबस्य नुम्वा स्यात्सर्वनामस्थाने। ददन्ति-ददति॥ तुदत्। **आच्छीनद्योर्नुम्** ।७।१।८०। अवर्णान्ताद्ङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्वा, शीनद्योः। तुदन्ती-तुदती। तुदन्ति॥ भात्। भाती। भान्ति॥ पचत्। **शप्श्यनोर्नित्यम्** ।७।१।८१। शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्, शीनद्योः। पचन्ती। पचन्ति॥ दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति॥ धनुः। धनुषी। 'सान्ते'ति। दीर्घः। नुम्विसर्जनीयेति षः।

कृते 'गोची' इति रूपम्। गवाञ्चि। 'गोअन् च्+जस्' इति स्थिते 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नलोपे 'जश्शसोः शिः' इति जसः शौ कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि, ठमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'गो अन् च् इ' इति जाते 'अवङ्स्फोटायनस्य' इत्यवङि ङस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'गवान् च् इ' इति जाते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे संयोगे च कृते 'गवाञ्चि' इति भवति। शकृन्ति। अत्र जसः 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे अङ्गस्य च 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमागमश्च बोध्यः। ददन्ति। 'ददत्+जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने शौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषिद्धे 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पेन नुमि ठमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति अनुस्वारे, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'ददन्ति' इति। नुमभावे—'ददति' इति। पचन्ती। 'पचत्+औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इति औस्थाने श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि ठमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे अनुस्वारे परसवर्णे च कृते; कृते च संयोगे 'पचन्ती' इति। दीव्यत्। दिवुधातोः लटः शतरि, श्यन् 'हलि च' इति दीर्घः। दीव्यच्छब्दात् स्वमोर्लुगिति भावः। दीव्यन्ती। औङः श्याम्, 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि रूपम्। धनुः। 'धनुष्+सु' अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि, षस्य असिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे अनुबन्धलोपे

वा न—अभ्यस्त संज्ञकसे पर जो शतृप्रत्ययान्त क्लीव अंग उसको नुमागम हो, विकल्पसे, सर्वनामस्थानके परे।

आच्छी—अवर्णान्तसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अंग, उसको नुमागम हो, 'शी' और 'नदी'के परे विकल्पसे।

शप्—शप्-श्यन् संबन्धी अकारसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अंग, उसको

धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् ॥ एवं चक्षुर्हविरादय ॥ पयः । पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् ॥ सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि ॥ अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्वमत्वे । अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् ॥

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।



'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे च कृते 'धनुः' इति रूपम् । धनूंषि 'धनुस्+जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः शौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि, उमि गते मित्वादन्त्यादचः परे जाते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति सान्तसंयोगस्योपधाया दीर्घत्वे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे संयोगे च कृते 'धनूंषि' इति रूपम् । पयः । 'पयस्+सु' अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि, सस्य 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते रेफस्य 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे 'पयः' इति । पयांसि । 'पयस्+जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने शौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि उमि गते मित्वादन्त्यादचः परे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति सान्तसंयोगस्योपधाया दीर्घत्वे अनुस्वारे परसवर्णे च जाते संयोगे च कृते 'पयांसि' इति । सुपुमांसि । 'सुपुंस्+जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने शौ कृते शस्येत्संज्ञायाम्, लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'पुंसोऽसुङ्' इति असुङि, ङस्येत्संज्ञायां लोपे च उकारे गते 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इति सर्वस्यादेशे प्राप्ते 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे 'सुपुमस्+इ' इति जाते 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि, उमि गते, मित्वादन्त्यादचः परे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति सान्तसंयोगगतस्य नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे नस्यानुस्वारे च कृते 'सुपुमांसि' इति रूपम् । अमूनि । 'अदस्+जस्' अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि, उमि गते मित्वादन्त्यादचः परे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'अदानि' इति जाते 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इति दात्परस्याकारस्योत्वे दस्य च मत्वे 'अमूनि' इति रूपम् । इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।



नित्य नुमागम हो, 'शी' और 'शि' के परे ।

इस प्रकार हिन्दुवाली टीकामें हलन्त नपुंसकलिङ्ग समाप्त हुआ ।



अथाव्ययानि

स्वरादिनिपातमव्ययम् ।१।१।३७। स्वरादयो, निपाताश्चाऽव्ययसंज्ञाः स्युः। स्वर् । अन्तर् । प्रातर् । पुनर् । सनुतर् । उच्चैस् । नीचैस् । शनैस् । ऋधक् । ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् । चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । बहिस् । अवस् । समया । निकषा । स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्धा । अद्धा । सामि । वत् । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् । सना । सनत् । सनात् । तिरस् । उपधा । अन्तरा । अन्तरेण । ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वाहा । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् ।

स्वरादिनिपातमव्ययमिति । स्वर् आदिर्येषान्ते स्वरादयः, ते च ते निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः । फलितमाह—स्वरादय इति । स्वरादीन् पठति—स्वरित्यादिना । स्वरादीनां चादीनां च पृथक्पाठस्तु 'निपाता आद्युदात्ताः' इति स्वरभेदार्थः, चादी-

---

स्वरा—स्वरादि और निपात अव्यय संज्ञक हो ।

स्वर् (स्वः)-स्वर्ग, । अन्तर् (अन्तः)-मध्य । प्रातर् (प्रातः)-प्रातःकाल । पुनः-फिर । सनुतर् (सनुतः)-अन्तर्धान । उच्चस् (उच्चैः)-ऊर्ध्वभागमें । नीचैस्-(नीचैः)-अधोभागमें । शनैस् (शनैः)-धीरे-धीरे । ऋधक्-सचमुच । ऋते-बिना । युगपत्-एकसाथ । आरात्-दूर या समीप में । पृथक्-भिन्न (ह्यः)-ह्यस् पूर्व दिनमें । श्वः-पर दिन में । दिवा-दिन । रात्रौ-रातमें । सायम्-सन्ध्यामें । चिरम्—विलम्ब । मनाक्—थोड़ा । ईषत्—बहुत थोड़ा, किञ्चत । जोषम्—काना-फूसी । तूष्णीम्—चुप । बहिस् (बहिः), अवस् (अवः) बाहर । अधस् (अधः)-नीचे । समया, निकषा-समीप । स्वयम्-अपने ही । वृथा-व्यर्थ । नक्तम्-रात । न, नञ्—नहीं । हेतौ-कारण । इद्धा-प्रकाश्य । अद्धा-स्फुट । सामि-आधा । ब्राह्मणवत्-ब्राह्मण के समान । क्षत्रियवत्-क्षत्रिय के समान । सना, सनत् , सनात्-नित्य । उपधा-घूस, नजराना । तिरस् (तिरः) टेढ़ा, पराभव । अन्तरा-मध्य, बिना । अन्तरेण-बिना । ज्योक्-शीघ्र, सम्प्रति । कम्-जल, निन्दा, सुख । शम्-सुख, कल्याण । सहसा-अकस्मात् । विना-अभाव । नाना-अनेक । स्वस्ति-मङ्गल, शुभ । स्वाहा-देवहविर्दान में । स्वधा-पितृहविर्दान में । अलम्-भूषण, पर्याप्त (बल),व्यर्थ । वषट्, श्रौषट् , वौषट्-देवहविर्दान में । अन्यत्-और, दूसरा । अस्ति-सत्ता, विद्यमान । उपांशु-गुप्त । क्षमा-माफ । विहायसा-आकाश । दोषा—

प्रवाहुकम् । प्रवाहिका । आर्यहलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् । धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् । मा । माङ् । आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युगपत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण् । यत्र । कच्चित् । नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नकिः । नकिम् । आकीम् । माङ् । नञ् । यावत् । त्वै । न्वै । द्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । अलम् । वषट् । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह ॥ उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च । अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथा । कथाच । पाट् ।

नामसत्त्ववाचिनामेवाऽव्ययत्वम्, स्वरादीनां तु सत्त्ववाचिनामसत्त्ववाचिनां च तदिति

रात्रि । मृषा, मिथ्या–असत्य, झूठ । मुधा–व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन । पुरा–पहले । मिथो, मिथस् (मिथः)–परस्पर, एकान्त । प्रायस् (प्रायः)–सम्भव, हो सकता है । मुहुस् (मुहुः)–बार बार । प्रवाहुकम्–एक साथ, समान काल । आर्यहलम्–बलात्कार, जबर-दस्ती । अभीक्ष्णम्–पुन २ बार २ । साकम्, सार्धम्–साथ २ । नमस् (नमः)—नमस्कार, प्रणाम् । हिरुक्–बिना । धिक्–धिक्कार, छी छी । अथ–अनन्तर, और । (अथ किम्–और नहीं तो क्या ?) । अम्–शीघ्र, थोड़ा, किञ्चित् । आम्–हाँ, स्वीकार, मञ्जूर । प्रताम्–ग्लानि । प्रशाम्–न समान । प्रतान्–विस्तार । मा, माङ्–नहीं, अस्वीकार । च–पुनः, अथवा, और । वा–अथवा । ह–प्रसिद्ध । अह–अद्भुत, खेद । एव–अवश्य, ही । एवम्–इस प्रकार । नूनम्–निश्चय, तर्क । शश्वत्–सदा, साथ २, पुन २ । युगपत्–एक साथ । भूयस् (भूयः)–पुन, प्रचुर, दोबारा । कूपत्, सूपत्–प्रश्न, प्रशंसा । कुवित्–बहुत, प्रशंसा । नेत्–शङ्का । चेत् चण्–यदि । कच्चित्–प्रश्न, कोई । यत्र–जहाँ । नह–प्रत्यारम्भ । हन्त–हर्ष, विषाद । माकिः, माकिम्, नकिः—बिना, वर्जन । नञ्–नहीं । यावत्–जब तक । त्वै, द्वै, न्वै–वितर्क । रै–दान, हीन सम्बोधन । श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा–देवहविर्दान । अलम्–पर्याप्त । स्वधा, वषट्–पितृहविर्दान । तुम–तुम । तथाहि–जैसे, इस प्रकार । खलु, किल–निश्चय । अथ–अनन्तर । सुष्ठु–अच्छा । स्म–भूत काल । आदह–निन्दा ।

उपसर्ग—उपसर्ग प्रतिरूपक, विभक्त्यन्त प्रतिरूपक और स्वर प्रतिरूपक शब्दों का भी चादिगणमें पाठ समझना चाहिये । (प्रतिरूपकका अर्थ है 'सदृश')

अवदत्तम्–दिया । अहंयुः–अहङ्कारी । अस्तिक्षीरा–दूधवाली । अ–सम्बोधन । आ–वाक्य, स्मरण । इ–सम्बोधन, जुगुप्सा, विस्मय । ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ–संबोधन । पशु–सम्यक् । शुकम्–शीघ्र । यथाकथाच–जब कभी । पाट्, प्याट्, आङ्ग, हे, है, भो, अय–

प्याट् । अङ्ग । हे । हे । भोः । अये । द्य । विषु । एकपदे । युत् । आतः । चादिरप्याकृतिगणः । **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः ।१।१।३८।** यस्मात्सर्वा विभक्ति-र्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽप्यव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम् । तसिलादयः प्राक् पाशपः । शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः । अम् । आम् । कृत्वोऽर्थाः । तसिवती । नानाञौ—इति । एतदन्तमप्यव्ययम् । अत इत्यादि ॥ **कृन्मेजन्तः ।**

व्यवस्थार्थश्च । तद्धितेति । असर्वविभक्तिरिति बहुव्रीहिः । तत्र सर्वाविभक्तयो यस्मान्न भवन्तीति बहुवचनान्तविग्रहो नैव संभवति। अव्ययेभ्यः सप्तानामपि विभक्तीनां उत्प-त्यभ्युपगमात् । तथाहि 'तद्धितश्च' इति सूत्रे भाष्ये 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' 'बहु-षु बहुवचनम्'इति सूत्रविन्यासं भङ्क्त्वा 'एकवचनम्' 'द्वयोर्द्विवचनम्' 'बहुषु बहुव-चनम्'इति सूत्रविन्यासं कृत्वा एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते । द्विबह्वर्थयोस्तस्य द्विव-चनबहुवचने बाधके इत्यादि प्रपञ्चितम् । ततश्च एकवचनमित्यनेन ङ्याप्प्रातिपदिकात् एकवचनं भवतीति सामान्यविधिना द्वित्वबहुत्वाभावे एकवचनमिति फलति । एवं च द्वित्वबहुत्वाभावे सति एकत्वे तदभावे च एकवचनं भवतीति फलितोऽर्थः । तत्र द्वित्वबहुत्वयोः द्विवचनबहुवचनोपत्यैव ततोऽन्यत्र एकवचनस्य सिद्धत्वात् । 'एकवचनम्' इति सूत्रं कर्मत्वाद्यभावेऽपि प्रापणार्थं संपद्यते । तथाच अलिङ्गसंख्ये-भ्योऽव्ययेभ्यः एकवचनं प्रवर्तमानं विनिगमनाविरहात् सर्वविभक्त्येकवचनं भवति । अत एव 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणमर्थवत् । तस्मात् सर्वा विभक्तयो यस्मादिति न विग्रहः । किन्तु सर्वशब्दोऽत्र 'सर्वः पटो दग्धः' इतिवत् अवयव-कात्स्न्र्ये वर्तते । एवं च सर्वा वचनत्रयात्मिका विभक्तिः यस्मान्नोत्पद्यते, किन्तु एक-वचनान्येवोत्पद्यन्ते स तद्धितान्तोऽव्ययसंज्ञः स्यादित्यर्थः । परिगणनमिति । वार्तिक-मेतत् । तसिलादय इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'द्विश्योश्च धमुञ्' इति यावदित्यर्थः । शस्प्रभृतय इति । 'बह्वल्पार्थात्' इत्यारभ्य 'अव्यक्तानुकरणात्' इति डाजन्ता इत्यर्थः । अम् आमिति । 'अमु च छन्दसि' इत्यम् 'किमेत्तिङव्यय' इत्याम् गृह्यते । कृत्वोर्था इति । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' 'विभाषा बहोर्धा' इति त्रय इत्यर्थः । तसिवती । 'तेनैकदिक्'तसिश्च' इति तसिः 'तेन तुल्यम्'इत्यादिविहितः वतिश्च गृह्यते । 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः' इति तसादित्वादेव ग्रहणं सिद्धम् । नानाञाविति । 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह' इति

संबोधन । द्य—हिंसा । विषु—अनेक । एकपदे—सहसा । युत्—निन्दा । आतः, अतः—इसलिये ।

तद्धि—जिससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, ऐसा जो तद्धितान्त वह भी अव्यय संज्ञक हो । अम् , आम्—स्वीकार ।

कृन्मे—कृत् जो मान्त और एजन्त तदन्तकी भी अव्ययसंज्ञा हो ।

।१।१।३९। कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययम्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै॥ क्त्वातोसुन्कसुनः ।१।१।४०। एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः। अव्ययीभावश्च ।१।१।४१। अव्ययं स्यात्। अधिहरि॥ अव्ययादाप्सुपः ।२।४।८२। अव्ययाद्विहितस्याऽपः, सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्। अथ। विहितविशेषणान्नेह—अत्युच्चैसौ। अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति तथापि न गौणे। आप्ग्रहणं व्यर्थम्, अव्ययस्याऽलिङ्गत्वात्। तथा च श्रुतिः—

> 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
> वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ १ ॥
> वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।

विहितो मान्तादौ गृह्यते इति भावः। क्त्वातोसुन्कसुनः। ननु अव्ययानां लिङ्गाभावे 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु' इत्याथर्वणश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य परिहरति—सदृशमिति। त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु, सर्वेषु वचनेषु च यत् न व्येति विकारं न प्राप्नोति किन्तु सदृशम् एकप्रकारमेव भवति तदव्ययम् इति आथर्वणश्रुतियोजना। अथ प्रसङ्गादाह—वष्टीति। अव अपि इत्युपसर्गयोः अकारस्य लोपम्, हलन्तानाम् आपं

स्मारं स्मारम्–स्मरण कर करके। जीवसे–जीने के लिए। पिबध्यै–पीने के लिये।

क्त्वातो–क्त्वा प्रत्ययान्त, तोसुन् प्रत्ययान्त और कसुन् प्रत्ययान्तको भी अव्ययसंज्ञा हो।

कृत्वा–करके। उदेतोः–उदय होकर। विसृपः–फैलकर।

अव्य—अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा होती है।

अधिहरि–हरिमें।

अव्य—अव्यय से विहित 'आप्' और 'सुप्' का लुक् हो।

तत्र शालायाम्–उस घर में।

वगाहः, अवगाहः–स्नान। वाचा–वाणी। निशा–रात्रि। दिशा–दिशा। पिधानम्, अपिधानम्–ढकना।

सदृशं—जिस शब्दका तीनों लिङ्गोंमें, सब विभक्तियोंमें, सब वचनों में समान रूप हो एवं भी 'न व्येति'—विकारको प्राप्त न करे, वह अव्यय कहलाता है।

वष्टि—भागुरि आचार्य 'अव' 'अपि' उपसर्गके आदि अकारका लोप करते हैं। यथा–अव+गाहः = वगाहः। अपि+धानम् = पिधानम्। आचार्य भी हलन्त शब्दोंसे स्त्रीलिङ्गमें आप् (टाप्) भी करते हैं। यथा—वाच्+आ = वाचा। निश्+आ = निशा। दिश्+आ = दिशा। पाणिनि मुनिके मतसे अकारका लोपविधायक कोई सूत्र नहीं है, अतः अवगाहः और अपिधानम् ये भी रूप होते हैं।

आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥
अवगाहः। वगाहः। अपिधानम्। पिधानम् ॥ इत्यव्ययानि ॥
इति सुबन्तप्रकरणम्।

अथ तिङन्ते भ्वादयः

धातोः ।३।१।९१। अधिकारोऽयम्। वक्ष्यमाणाः प्रत्यया धातोर्ज्ञेयाः। लट्। लिट्। लुट्। लृट्। लेट्। लोट्। लङ्। लिङ्। लुङ्। लृङ्। एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः। लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ।३।४।६९। लकाराः

च, भागुरिनामक आचार्यः, वष्टि—इच्छतीत्यर्थः। एवशब्दस्तु पादपूरणः। अवेरप्युपसर्गे आदेरेवाकारस्य लोपः नान्त्यस्य, अपिना साहचर्यात्। वाचा निशा दिशेति। एतत्परिगणनमित्येके अत एव हरित्प्रभृतिषु न टाप्। अन्ये तु उदाहरणमात्रमिति वदन्ति। अत एव—'दिशा वाचा क्षुधा गिरा' इति वर्धमानः, शरदेति श्रीपतिदत्तश्चोदाजहार। वगाह इति। एतदप्युदाहरणमात्रं न तु परिगणनम्। अत एव 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यादिसिद्धमिति दिक्। इति अव्ययप्रकरणम्।

नोटः—(१) जातिवाचक शब्द, समूहार्थक शब्द और समष्टिबोधक शब्दोंकी यदि विभिन्नता दिखानी नहीं हो तो एकवचनमें ही प्रयोग होता है। यथा—वर्णानां ब्राह्मणः श्रेष्ठः, बलवती सेना, विद्वद्गणः आदि। एवं समाहार द्वन्द्व और द्विगु समाससे परिनिष्ठित शब्दोंका भी एकवचनमें ही प्रयोग होता है। यथा—पाणिपादम्, त्रिभुवनम् आदि। (२) अश्विनीकुमार तथा दम्पति, जम्पति शब्दोंका द्विवचनमें ही प्रयोग होता है। (३) दार, अक्षत, लाज, असु और प्राण शब्द नित्य पुंलिङ्ग और बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं। एवं अप्, वर्षा तथा सिकता शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होते हैं। अस्मद् शब्द तथा आदर अर्थमें अन्य शब्द भी विकल्पसे बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अव्ययप्रकरण समाप्त हुआ।

नोटः—प्रयोगकालमें धातुके उत्तर जो 'तिङ्' विभक्ति होती है; उस तिङ्विभक्तिसे जो पद निष्पन्न होता है वह 'तिङन्त' कहलाता है।

धातोः—यह अधिकार सूत्र है।

लट्—कालज्ञान एवं विधि आदिका अर्थज्ञान कराने के लिए धातुके बाद लडादि तिङ् विभक्तियाँ दस प्रकार की होती हैं। इनमें 'लेट्' का प्रयोग केवल वेदमें ही देखा जाता है।

लः—सकर्मक धातुसे कर्म-कर्तामें तथा अकर्मक धातुसे भाव और कर्तामें लकार हो।

नोटः—१ कर्तृवाच्यमें कर्ता प्रथमान्त और कर्म द्वितीयान्त तथा क्रियाके पुरुष-वचन कर्ताके अनुसार प्रयुक्त होते हैं। यथा—'इन्दुमती पुष्पं चिनोति' एवं कर्मवाच्यमें कर्ता

सकर्मकेभ्य कर्मणि, कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे, कर्तरि च। **वर्तमाने लट्** ।३।२।१२३। वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् ॥ अटावितौ । उच्चारणसामर्थ्यान्न लस्येत्त्वम् । भू सत्तायाम् । कर्तृविवक्षायां 'भू ल्' इति स्थिते । लस्य ।३।४।७७।

वर्तमाने लडिति । 'धातो ' इति सूत्रमातृतीयाध्यायसमाप्तेरधिकृतम् । वर्तमाने इति सप्तम्यन्तेति । वर्तमानेऽर्थे विद्यमानाद्धातो लडिति लभ्यते । फलितमाह—वर्त

तृतीयान्त और कर्म प्रथमान्त तथा क्रिया के पुरुष-वचन कर्मके अनुसार होते हैं। यथा—देवदत्तेन वेदाः पठ्यन्ते। एवं भाववाच्यमें कर्ता कर्मवाच्यवत् तृतीयान्त होता है पर कर्म नहीं होता तथा क्रिया सदैव प्रथमपुरुषकी एकवचनान्त ही होती है। यथा—'मया स्थीयते'। तथाऽऽह हरिकारिका—

'प्रयोगे कर्तृवाच्यस्य कर्तरि प्रथमा भवेत्। द्वितीया कर्मणि, तथा क्रिया कर्तृपदान्विता॥'
प्रयोगे कर्मवाच्यस्य तृतीया स्यात्तु कर्तरि। कर्मणि प्रथमा चैव क्रिया कर्मानुसारिणी॥'
कर्माभावः सदा भावे तृतीया चैव कर्तरि। प्रथमः पुरुषश्चैकवचनं च क्रियापदे॥'

फल और व्यापार धातुके अर्थ होते हैं—'फलव्यापारयोर्धातुः' व्यापारका आश्रय कर्ता और फलका आश्रय कर्म होता है। जिसका फल और व्यापार भिन्न २ हों उसे सकर्मक कहते हैं—'फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्'। यथा 'देवदत्तः तण्डुलं पचति' यहां विक्लित्ति रूप फल तण्डुलमें और पाकरूप व्यापार देवदत्तमें है। अतः 'पच्' धातुको सकर्मक समझना चाहिये।

जिसका फल और व्यापार एक ही आश्रयमें हो उसे अकर्मक कहते हैं—'फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्'। यथा—'देवदत्तः शेते' यहां विश्राम रूप फल और चक्षुर्निमीलनादि रूप व्यापार भी देवदत्तमें है अतः 'शीङ्' धातु अकर्मक है।

सामान्य नियम—साकांक्षित क्रिया 'सकर्मक', यथा—पठति, खादति आदि २, क्या पढ़ता है ? क्या खाता है ? एवं निराकांक्षित क्रिया 'अकर्मक', यथा—भागता है, हंसता है, यहाँ, क्या भागता है, क्या हंसता है, इत्यादि आकांक्षा ही नहीं उठती।

वर्त—वर्तमान क्रियावृत्ति धातुसे लट् लकार हो।

नोटः—जिसमें क्रियाका प्रारम्भ हो उसे 'वर्तमान' कहते हैं। वर्तमानके सामीप्य रहने पर भूत और भविष्यत् कालमें भी 'लट्' होता है। यथा—'इदानीमेव आगच्छामि' (अभी आता हूँ)। 'अयमहं गच्छामि' (मैं अभी जाऊँगा)। 'स्म' के योगसे भूतकालमें भी 'लट्' का प्रयोग होता है। यथा—'स पठति स्म' (उसने पढ़ा)। 'यावत्' के योगसे भविष्यत् कालमें भी 'लट्' का प्रयोग होता है। यथा—'स यावत् नागच्छति' (वह जब तक नहीं आवेगा)

लस्य—यह अधिकार सूत्र है। तिप्—लकारके स्थानमें तिबादि १८ आदेश हों।

इत्यधिकृत्य । **तिप्तस्झि-सिप्थस्थ मिब्वस्मस् तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्** ।३।४।७८। एतेऽष्टादश आदेशाः स्युः । **लः परस्मैपदम्** ।१।४।९९। लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः । **तङानावात्मनेपदम्** ।१।४।१००। तङ्प्रत्याहारः, शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसञ्ज्ञाऽपवादः । **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** ।१।३।१२। अनुदात्तेत, उपदेशे यो ङित्तदन्ताच्च धातोर्लस्य स्थाने आत्मनेपदं स्यात् । **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** ।१।३।७२। स्वरितेतो, ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले । **शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्** ।१।३।७८। आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि लस्य परस्मैपदं स्यात् । **तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः** ।१।४।१०१। तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः । **तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः** ।१।४।१०२। लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकमेकवचनादिसञ्ज्ञानि स्युः । **युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः** ।१।४।१०५। तिङ्वाच्यकारकवाचिनि

मानक्रियावृत्तेरिति । स्थानिन्यपि । स्थानम्–प्रसङ्गः । सोऽस्यातीति स्थानी, तस्मि-

---

नोटः—इन १८ हों को 'तिङ्' कहते हैं । आरम्भके 'ति' से लेकर अन्तिम 'ङ्' तक 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है ।

लः—लकारके स्थानमें तिबादि आदेशकी 'परस्मैपद' संज्ञा हो ।

तङा—'तङ्' प्रत्याहार और शानच्–कानच् (प्रत्ययों) की आत्मनेपदसंज्ञा हो ।

नोटः—'तातान्' के आदि तकारसे महिङ्के ङकार पर्यन्त ९ वोंको 'तङ्' कहते हैं । 'तङ्' भी प्रत्याहार कहा जाता है ।

अनुदात्त—अनुदात्तेत् जो धातु और उपदेशावस्थामें जो ङित्, तदन्त जो धातु, उससे पर लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो ।

स्वरित—स्वरितेत् और ञित् धातुसे आत्मनेपद हो—कर्तृगामी क्रियाफलमें ।

नोटः—जहां फलाकांक्षा रहती है वहां यदि कर्ता फलभागी हो तो उभयपदी धातुसे आत्मनेपद होता है और यदि फलभागी कोई दूसरा (यजमान) हो तो परस्मैपदका प्रयोग होता है । अतः सङ्कल्प वाक्यमें अपने लिये 'करिष्ये' और यजमानके लिये 'करिष्यामि' का प्रयोग किया जाता है ।

शेषा—आत्मनेपदके निमित्तसे हीन जो धातु, उससे कर्ता में परस्मैपद हो । तिङ्—'तिङ्' संबन्धी आत्मनेपद और परस्मैपदके जो तीन २ वे यथाक्रमसे प्रथम, मध्यम, उत्तम संज्ञक हों । तान्ये—लब्ध (प्राप्त) प्रथमादिसंज्ञक जो 'तिङ्' के तीन २ वचन वे प्रत्येक एकवचन, द्विवचन, बहुवचनसंज्ञक हों । युष्म—तिङ्वाच्य कारकवाची जो युष्मद् शब्द

युष्मद्यप्रयुज्यमाने, प्रयुज्यमाने च मध्यमः । अस्मद्युत्तमः ।१।४।१०७। तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः । शेषे प्रथमः ।१।४।१०८। मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् । भू+ति इति जाते । तिङ्शित्सार्वधातुकम् ।३।४।११३। तिङः, शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः । कर्तरि शप् ।३।१।६८। कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् । सार्वधातुकार्धधातुकयोः ।७।३।८४। अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशः । भवति । भवतः । झोऽन्तः ।७।१।३। प्रत्ययावयव

मिति विग्रहः । स्थानिपदस्य अप्रयुज्यमाने वैयाकरणनिकाये रूढिः । अपिना प्रयुज्यमान इति लभ्यते । तथाच तिङ्वाच्यम्—तिङर्थं, यत् कारकम् कर्ता, कर्म च, तद्वाचके युष्मच्छब्देऽप्रयुज्यमाने प्रयुज्यमाने च मध्यमः पुरुष इति निष्कृष्टोऽर्थः । भवति । भू सत्तायां धातुः । अयमकर्मकः । तस्मात् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्तरि 'खले कपोतक'न्यायेन दशापि लकाराः प्राप्ताः, एषां मध्यात् केनात्र भाव्यम् । 'वर्तमाने लट्' इत्यनेनात्र भूधातोर्वर्तमानक्रियावृत्तित्वाल्लटि सञ्जाते, 'भू लट्' इति स्थिते 'हलन्त्यम्' इति टस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति लकारोत्तरवर्तिनः अकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'भू ल्' इति जाते 'लस्य' इत्यधिकृत्य 'तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्' इत्येतेऽष्टादश लादेशाः प्राप्ताः । 'लः परस्मैपदम्' इत्यष्टादशानामप्येषां परस्मैपदसंज्ञा सञ्जाता, 'तङानावात्मनेपदम्' इति तङ्प्रत्याहारान्तःपातिनां नवानामात्मनेपदसंज्ञा सञ्जाता, एवं तिबादयः परस्मैपदसंज्ञाः, तादयश्चात्मनेपदसंज्ञाः, एषां मध्यादत्र परस्मैपदसंज्ञिनः प्रत्ययाः स्युः, किमुतात्मनेपदसंज्ञिनः ? इत्या-

---

वह प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी धातुसे मध्यम पुरुष हो । अस्म—तिङ्वाच्य कारकवाची जो अस्मद् शब्द वह प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी धातुसे उत्तम पुरुष हो । शेषे—मध्यम और उत्तम पुरुषके अविषयमें प्रथम पुरुष हो ।

नोट—विभक्तियोंमें ३ पुरुष होते हैं—प्रथम, मध्यम और उत्तम । क्रियाके साथ युष्मद् या अस्मद् शब्दसे भिन्न शब्दोंके प्रयोग रहने पर प्रथम पुरुष युष्मद् शब्दके प्रयोग रहने पर मध्यम पुरुष और अस्मद् शब्दके प्रयोग रहने पर उत्तम पुरुष होता है । तथा कर्ताका जो वचन रहे वही क्रियाका भी वचन होता है । यथा—

(१) बालकः पठति । बालकौ पठतः । बालकाः पठन्ति । (२) त्वं पठसि । युवां पठथः । यूयं पठथ । (३) अहं पठामि । आवां पठावः । वयं पठामः ।

तिङ्—धात्वधिकारमें उक्त तिङ्-शित् प्रत्ययोंकी सार्वधातुक संज्ञा हो ।

कर्त—कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे धातुसे 'शप्' प्रत्यय हो ।

सार्व—इगन्त अंगको गुण हो सार्वधातुक, आर्धधातुकके परे । झोऽन्तः—प्रत्ययावयव

झस्य अन्तादेशः स्यात्। अतो गुणे। भवन्ति। भवसि। भवथः। भवथ। अतो दीर्घो यञि ।७।३।१०१। अतोऽङ्गस्य दीर्घो, यञादौ सार्वधातुके परे। भवामि। भवावः। भवामः। स भवति। तौ भवतः। ते भवन्ति। त्वं भवसि। युवां भवथः। यूयं भवथ। अहं भवामि। आवां भवावः। वयं भवामः। शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ।८।४।१८। उपदेशे कादिखादिषान्तवर्जे गदनदादेरन्यस्मिन्धातौ परे उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्णत्वं वा स्यात्। प्रणिभवति। प्रनिभवति॥ परोक्षे

लिट्। तत्र 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' इत्यनेनास्य भूधातोरात्मनेपदनिमित्तहीनत्वा-त्कर्तरि परस्मैपदं प्राप्तम्, परस्मैपदसंज्ञिनां नवानां मध्यात्कतमेन भाव्यमित्याका-ङ्क्षायाम् 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' इत्यनेन क्रमात् त्रयाणां त्रिकाणां प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञासु जातासु च लब्धप्रथमादिसञ्ज्ञानां तिङ्त्रयाणां वचनानां प्रत्येकमेकवचनद्विवचनबहुवचनसञ्ज्ञासु अत्र प्रथमेन भाव्यम्, उत मध्यमेन, उत उत्तमेन, इति शङ्कायाम् 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषो भवितुं युक्तस्तत्रापि त्रीणि वचनानि, एषां मध्यात् कतमेन भाव्यमित्याकाङ्क्षायां 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्यनेनात्रैकवचनस्य विवक्षायां प्रथमपुरुषे तिपि जाते पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तिपः सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'भू ति' इति दशायां 'सार्व-धातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधे 'कर्तरि शप्' इति शपि शकारपकारयोरित्सञ्ज्ञायां लोपे च शित्त्वात् 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति भुवो उकारस्य गुणे—ओकारे जाते 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशे संयोगे च कृते 'भवति' इति रूपम्। भवामि। भूधातोर्लटि, तस्थाने मिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातु-कम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारपकारयोरित्सञ्ज्ञायां लोपे च, शित्त्वात् शपोऽकारस्यापि सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे च कृते 'भव+मि' इति जाते तत्र 'अतो दीर्घो यञि' इत्यदन्ता-ङ्गस्य दीर्घे 'भवामि' इति सिद्धम्। अत्रोक्तां प्रथममध्यमोत्तमपुरुषव्यवस्थां स्मारयि-तुमाह—स भवतीत्यादि। शेषे विभाषेति। अकखादाविति छेदः। 'नेर्गदनदे'ति पूर्वो-क्तधातुभ्यः अन्यः शेषः। तदाह—गदनदादेरन्यस्मिन्निति। प्रणिभवति, प्रपूर्वकनिपूर्व-

---

'झ' के स्थानमें 'अन्त' आदेश हो। अतो—अदन्त अङ्गको दीर्घ हो यञादि सार्वधातुकके परे। शेषे—उपदेशमें कादि, खादि षकारान्त जो धातु, उनसे अन्य जो गद-नदादि धातुओंसे भिन्न धातु, उनके परे उपसर्गस्थ (रेफ-षकार) निमित्तसे पर 'नि' के नकारको णत्व हो। विकल्पसे। परोक्षे—भूत अनद्यतन और परोक्षार्थ वृत्ति जो धातु उससे 'लिट्' लकार हो।

नोट:—अनद्यतन कालके दो भेद हैं—भूत और भविष्य। पूर्व दिन की आधी रात (१२ बजे) तक जो क्रिया हुई हो वह भूत अनद्यतन और आगामी (आज) रातके बारह

लिट् ।३।२।११५। भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात् । लस्य तिबादयः । परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ।३।४।८२। लिटस्तिबादीनां णलादयः स्युः । भू अ इति स्थिते । भुवो वुग्लुङ्लिटोः ।६।४।८८। भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि । एकाचो द्वे प्रथमस्य ।६।१।१। अजादेर्द्वितीयस्य ।६।१।२। इत्यधिकृत्य । लिटि धातोरनभ्यासस्य ।६।१।८। लिटि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य । भूव् भूव् अ इति स्थिते । पूर्वोऽभ्यासः ।६।१।४। अत्र ये द्वे तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् । हलादिः शेषः ।७।४।६०। अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यतेऽन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वलोपः । ह्रस्वः ।७।४।५९। अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात् । भवतेरः ।७।४।७३। भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याल्लिटि । अभ्यासे चर्च ।८।४।५४। अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च । 'झशां जशः, खयां चरः' इति विवेकः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः ।

अत्र भू सत्तायां धातोः कर्तरि लिपि (?) ... गुणे ... भवति आते 'दीपे विभाषा-' इति वैभाषिके णत्वे प्रतिभवतीति सिध्यति णत्वाभावे च प्रतिभवति इति द्वितीयं रूपं भवतीति व्यवस्था । बभूव । भूधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, इकारटकारयोरि-

---

होने के बाद जो क्रिया होने वाली हो वह भविष्यत् अनद्यतन (लुट्) की क्रिया कही जाती है । क्वचित्—'अतीतायाः रात्रेः पश्चार्धेन पूर्वार्धेन च आगामिन्याः (?) दिवसोऽद्यतनः, तद्भिन्नोऽनद्यतनः' । 'परोक्ष' उसको कहते हैं जिसमें वक्ता प्रत्यक्ष नहीं हो । एवं च सिद्ध यह हुआ कि परोक्ष और 'अनद्यतन' भूत कालमें 'लिट्' का प्रयोग हो । यथा—'रामो रावणं जघान ।' स्मरण रहे कि चित्तविक्षेपमें तथा किसी भी हालतमें स्वीकार नहीं करने पर प्रत्यक्ष (उत्तम पुरुष) में भी 'लिट्' का प्रयोग होता है । यथा—

(१) 'सुप्तोऽहं किल विललाप' (२) 'नाहं कलिङ्गान् जगाम' (कथार्थे देखो)

परस्मै—'लिट्' सम्बन्धी तिबादि नौ के स्थानमें णलादि नौ आदेश हो । भुवो—'भू' धातुको 'वुक्' का आगम हो, लुङ् और लिट् सम्बन्धी अच्के परे । एका—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' 'अजादेर्द्वितीयस्य' ये दोनों अधिकार सूत्र है । लिटि—लिट्के परे अनभ्यास (द्वित्वरहित) धात्ववयव प्रथम एकाच्को द्वित्व हो और (अजादि धातु रहे तो) आदिभूत अच्से पर द्वितीय एकाच्को द्वित्व हो । पूर्वो—यहाँ इस प्रकरण में जो दो (द्वित्व) विधान किये गये हैं, उनमें पूर्वकी अभ्याससंज्ञा हो । हलादि—अभ्यासका आदि हल् शेष रहे (बच जाय) और अन्य हल्का लोप हो । ह्रस्वः—अभ्यासके अच्को ह्रस्व हो । भव—भू धातुके अभ्यासके उकारको अकार आदेश हो, लिट्के परे । अभ्या—अभ्यासमें झलके स्थानमें 'चर्' आदेश हो और 'जश्' आदेश भी हो । अर्थात् 'झश्' के स्थानमें 'जश्' और

लिट् च ।३।४।११५। लिडादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् । आर्धधातुकस्येड् वलादेः ।७।२।३५। वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात् । बभूविथ । बभूवथुः । बभूव । बभूव । बभूविव । बभूविम ॥ अनद्यतने लुट् ।३।३।१५। भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् । स्यतासी लृलुटोः ।३।१।३३। धातोरेतौ स्तो, लृलुटोः परतः । शबाद्यपवादः । 'लृ' इति लृङ्लृटोर्ग्रहणम् ॥ आर्धधातुकं शेषः ।३।४।११४। तिङ्शिद्भ्योऽन्यो 'धातो'रिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् । लुटः प्रथमस्य डारौरसः ।२।४।८५। एते क्रमादादेशाः स्युः । डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भविता ॥ तासस्त्योर्लोपः ।७।४।५०। सादौ प्रत्यये परे ॥

रसंज्ञायां लोपे च लः स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तिपि, तत्स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' इति णलि, णकारस्य 'चुटू' इतीत्संज्ञायां, लस्य च 'हलन्त्यम्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति तयोर्लोपे, नित्यत्वाद् गुणवृद्धी बाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति भूधातोः वुगागमेऽनुबन्धलोपे कित्त्वात् अन्त्यावयवे 'भूव् + अ' इति जाते तत्र 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'भूव् भूव् अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यनेन पूर्वस्य 'भूव्' इत्यस्याभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति वलोपे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः' इति अभ्यासोकारस्य अकारे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्याससंज्ञकस्य भस्य बकारे 'बभूव' इति रूपम् । बभूविथ । भूधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि अनुबन्धलोपे तत्स्थाने मध्यमपुरुषैकवचनविवक्षायां सिपि, तस्य 'लिट् च' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' इति सिपः स्थाने थलादेशे लस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति थस्य इडागमेऽनुबन्धलोपे 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति वुगागमे कस्येत्संज्ञायां लोपे च कित्वादन्त्यावयवे जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति भूव् इत्यस्य द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः' इत्यभ्यासोकारस्याकारे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन बकारे 'बभूविथ' इति रूपम् । भविता । भूधातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि तस्य स्थाने प्रथमपुरुषस्यैक-

---

'खय्' के स्थानमें 'चर्' हो । लिट्—लिडादेश 'तिङ्' की आर्धधातुकसंज्ञा हो । आर्ध—वलादि आर्धधातुकको 'इट्' का आगम हो । अन—भविष्यत् अनद्यतन अर्थमें धातुसे 'लुट्' लकार हो । (यथा-श्वो गन्ताऽस्मि) । स्यता—धातुसे 'स्य' प्रत्यय और 'तासि' प्रत्यय हो—'ल' (लट् लङ्) और 'लुट्' के परे (यथाक्रमसे) । आर्ध—'तिङ्-शित् से भिन्न (शेष) को 'धातोः' इस अधिकारमें विहित प्रत्यय उसकी आर्धधातुकसंज्ञा हो । लुटः—'लुट्' लकार सम्बन्धी प्रथमपुरुषके स्थानमें क्रमसे डा, रौ, रस् आदेश हों । तास—तास् और

रि च ।७।४।५१। रादौ प्रत्यये तथा। भवितारौ। भवितारः। भवितासि। भवितास्थः। भवितास्थ। भवितास्मि। भवितास्वः। भवितास्मः॥ लृट् शेषे च ।३।३।१३। भविष्यदर्थाद्धातोर्लृट् क्रियार्थायां क्रियायामसत्यां, सत्यां च। स्यः। इट्। भविष्यति। भविष्यतः। भविष्यन्ति। भविष्यसि। भविष्यथः। भविष्यथ। भविष्यामि। भविष्यावः। भविष्यामः॥ लोट् च ।३।३।१६२। विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट्। आशिषि लिङ्लोटौ ।३।३।१७३। एरुः ।३।४।८६। लोट इकारस्य उः। भवतु। तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७।१।३५। आशिषि तुह्योस्तातङ् वा। परत्वात्सर्वादेशः।

एकवचनविवक्षायां तिप्प्रत्यये पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'स्यतासी लृलुटोः' इति तास्प्रत्यये कृते 'आर्धधातुकं शेषः' इति तास आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे अनुबन्धलोपे टित्वात्तास आद्यवयवे जाते 'भू इ तास् ति' इति स्थिते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डादेशेऽनुबन्धलोपे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'भविता' इति रूपम्। भविष्यति। भूधातोः 'लृट् शेषे च' इति लृटि ऋकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च लस्थाने 'तिप्तस्झि॰' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति प्राप्तं शपं बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये तस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमेऽनुबन्धलोपे टित्वादाद्यवयवे जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इतीगन्ताङ्गस्य 'भू' इत्यस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'भव् इ स्य ति' इति जाते संयोगे च कृते 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'भविष्यति' इति रूपम्। भवतु। सत्तार्थकभूधातोः 'लोट् च' इति 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति वा लोटि, ओकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च लस्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारपकारयोरित्सं-

---

…के इकारका लोप हो रादि प्रत्ययके परे।

रि च—तास् और अस्के सकारका लोप हो रादि प्रत्ययके परे।

लृट्—भविष्यत् अर्थमें धातुसे 'लृट्' लकार हो, चाहे क्रियार्थक क्रिया रहे या न रहे।

टिप्पणी—एक क्रिया यदि दूसरी क्रियाके लिये हो रही हो तो उस क्रियाको 'क्रियार्थक क्रिया' कहते हैं। यथा—'पठितुं गच्छति' यहाँ—'पठिष्यति'।

लोट्—विध्यादि अर्थमें धातुसे लोट् लकार हो। आशि—आशीर्वाद अर्थमें धातुसे लिङ् और लोट् लकार हों। एरुः—लोट् सम्बन्धी इकारको उकार हो। तुह्यो—आशीर्वाद

ननु 'ङिच्चे'त्यस्य अपवाद इति चेच्छृणु अनन्त्यार्थकार्युकाऽऽजादिष्विति इत्यत्र । भवतात् । लोटो लङ्वत् ।३।४।८५। लोटस्तामादयः, सलोपश्च । तस्थस्थमिपां तान्तन्ताऽमः ३।४।१०१। ङितश्चतुर्णां तसादीनां तामादयः स्युः । भवताम् । भवन्तु । सेर्ह्यपिच्च ।३।४।८७। लोटः सेर्हिः, सोऽपिच्च ॥ अतो हेः ।६।४।१०५। लुक् । भव । भवतात् । भवतम् । भवत ॥ मेर्निः ।३।४।८९। लोटः ॥ आडुत्तमस्य पिच्च ।३।४।९२। लोडुत्तमस्याट् स पिच्च । हिन्योरुत्वं न इकारोच्चारणसामर्थ्यात् । भवानि । ते प्राग्धातोः ।१।४।८०। ते = गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । आनि लोट् ।८।४।१६। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य लोडादेशस्य 'आनी'त्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । (दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो

ज्ञायां लोपे च, ङित्त्वात् 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' इति शपोऽकारस्यापि सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'भवति' इति जाते 'एरुः' इति तिप इकारस्य उत्वे 'भवतु' इति सिद्धम् । तातिपि तु 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' इति तु इत्यस्य सर्वस्य स्थाने ङित्त्वेऽप्येकारान्तत्वात्तातङादेशेऽनुबन्धलोपे 'भवतात्' इति भवति, तदभावे 'भवतु' इति च सिद्ध्यति । भवानि । भूधातोः 'लोट् च' इति लोटि तत्स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना उत्तमपुरुषैकवचने मिपि, अनुबन्धलोपे तस्य सार्वधातुकत्वे शपि, अनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकत्वे गुणेऽवादेशे 'भव + मि' इति जाते 'लोटो लङ्वत्' इति लङ्वदतिदेशेन 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति मिपोऽमादेशे प्राप्ते तं बाधित्वा 'मेर्निः' इति मेर्न्यादेशे, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् नेरिकारस्योत्वाभावे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'भव आ नि' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घे 'भवानि' इति रूपम् । प्रभवाणि । भूधातोर्लोटि, तत्स्थाने मिपि शपि गुणेऽवादेशे मेर्न्यादेशे आडागमे दीर्घे 'ते प्राग्धातोः' इति सूत्रबलात् प्र इत्युपसर्गस्य पूर्वमेव प्रयोगे 'आनि लोट्' इति णत्वे च कृते तत्साधु । दुरः षत्वेति । षत्वण-

---

अर्थमें 'तु' और 'हि' के स्थानमें विकल्पसे तातङ् आदेश हो । लोटो—लोट् के स्थानमें लङ्के समान कार्य (तामादि आदेश और वस्-मस्के सकारका लोप) हो । तस्थ—ङित् लकार सम्बन्धी तसादि (तस्-थस्-थ-मिप्) के स्थानमें तामादि (ताम्-तम्-त-अम्) आदेश हो । सेर्ह्य—लोट् सम्बन्धी 'सि' के स्थानमें 'हि' आदेश हो और वह 'अपित्' हो । अतो—अदन्त अङ्गसे पर 'हि' का लुक् हो । मेर्निः—लोट् सम्बन्धी 'मि' के स्थानमें 'नि' आदेश हो । आडु—लोट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुषको 'आट्' का आगम हो और वह आट् पित् हो । ते प्रा—गति संज्ञक और उपसर्ग संज्ञक पूर्वोक्त प्रादियोंका धातुसे पहले प्रयोग करना चाहिये । आनि—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर लोट्के स्थानमें हुआ 'आनि' के नकार को णकार हो । दुरः—षत्व और णत्वके विषयमें 'दुर्' को उपसर्ग का

वक्तव्यः) । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । (अन्तःशब्दस्याऽङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्) । अन्तर्भवाणि । नित्यं ङितः ।३।४।९९। सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः स्यात् । 'अलोऽन्त्यस्ये'ति सलोपः । भवाव । भवाम । अनद्यतने लङ् ।३।२।१११। अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् । लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ।६।४।७१। एष्वङ्गस्याट् । इतश्च ।३।४।१००। ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तस्य लोपः । अभवत् । अभवताम् । अभवन् । अभवः । अभवतम् । अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम ॥ विधिनिमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु

स्थयोः कर्तव्यमो॰ दुर उपसर्गत्वप्रतिषेध इत्यर्थः । दुःस्थितिः । अत्र 'उपसर्गात्सुनोति' इति षत्वं न भवति । दुर्भवानि । अत्र 'आनि लोट्' इति णत्वं न भवति । अन्तःशब्दस्येति । अङ्विधौ किविधौ णत्वे च कर्तव्ये अन्तर् इत्यस्य उपसर्गत्वमिष्यते । प्रादिष्वपाठादप्राप्ते वचनम् । अङ उदाहरणम्—'अन्तर्धा' इति । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् टाप् । किविधेरुदाहरणम्—'अन्तर्धिः' इति । 'उपसर्गे घोः किः' । अन्तर्भवाणि । अन्तरुपपदाद् भूधातोर्लोटि, उत्तमस्थाने मिपि, शपि, गुणेऽवादेशे आटि दीर्घे 'मेर्निः' इति मेर्न्यादेशे 'अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्ववाच्यम्' इति अन्तरित्यस्योपसर्गत्वे 'आनि लोट्' इति णत्वे 'अन्तर्भवाणि' इति रूपम् । अभवत् । भूधातोः 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, लस्य 'हलन्त्यम्' इति, ङकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य च 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे, ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'तिप्तस्झि॰' इति तिपि, पकारेत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च तस्य शित्वात् 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति भूधातोरूकारस्य गुणे ओकारे जाते 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'भवति' इति जाते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यङ्गस्याडागमे टस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्यन्तौ टकितौ' इति टित्वादाद्यवयवे जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'अभवत्' इति रूपं सिद्धम् । विधिनिमन्त्रणेत्यादि । 'धातोः' इत्यधिक्रियते । विधिः—प्रेरणम्,

---

प्रतिषेध करना चाहिये (उपसर्गसंज्ञा नहीं हो)। अन्तः—'अङ्' विधि, 'कि' विधि और 'णत्व' विधिके विषयमें अन्तर् शब्दको भी उपसर्ग कहना चाहिये। नित्यं—ङित् लकार सम्बन्धी सकारान्त उत्तम पुरुषके सकारका नित्य लोप हो। अन—अनद्यतन भूतार्थवृत्ति धातुसे 'लङ्' लकार हो। लुङ्—लुङ्, लङ्, लृङ्, के परे अङ्गको 'अट्' का आगम हो तथा वह उदात्त हो। इतश्च—ङित् लकार सम्बन्धी जो इकारान्त परस्मैपद, उसके अन्त्य (इकार) का लोप हो।

विधि—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थोंमें धातुसे

लिङ् ।३।३।१६१। एष्वर्थेषु धातोर्लिङ् । **यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ।३।४।१०३।** लिङः परस्मैपदानां यासुडागमो, ङिच्च । ङित्त्वोक्तेर्ज्ञायते—'क्वचिदनुबन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति प्रतिषेध' इति, तेन 'वक्ष्यमाणे'त्यत्र टित्त्वादुगित्त्वाच्च ङीब्न । **लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ।७।२।७९।** सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः । इति प्राप्ते । **अतो येयः ७।२।८०।** अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'यास्' इत्यस्य इय् । गुणः । **'लोपो व्योर्वलि'** । भवेत् । भवेताम् । **झेर्जुस् ।३।४।१०८।** लिङो झेर्जुस् । **उस्यपदान्तात् ।६।१।९६।** अपदान्तादवर्णादुसि परे पररूपमेकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । परत्वान्नित्यत्वाच्चाऽतो येय इति प्राञ्चः । यद्यप्यन्तरङ्गत्वात्पररूपं न्याय्यं, तथापि 'यास्' इत्यस्य 'इय्' इति व्याख्येयम् ।

भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । निमन्त्रणम्—नियोगकरणम् , आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । आमन्त्रणम्-कामचारानुज्ञा । अधीष्टः—सत्कारपूर्वको व्यापारः । इत्यादि । भवेत् । भूधातोः 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' इति लिङि इकारङकारयोरित्संज्ञायां लोपे च लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, पस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति शित्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'यासुट्परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि, अनुबन्धलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति यासः सस्य लोपे प्राप्ते 'अतो येयः' इति यासः स्थाने इयादेशे 'आद्गुणः' इति गुणे 'भवेय् त्' इति जाते 'लोपो व्यो॰

'लिङ्' लकार हो ।

नोट—विध्यादि अर्थोंमें 'लोट्' का भी विधान हो चुका है । अब यहाँ दोनोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—विधिः = प्रेरणम् , भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । जैसे—भवान् वस्त्रं क्षालयतु क्षालयेद्वा । निमन्त्रणं = नियोगकरणम् , आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । जैसे—इह मातामहश्राद्धे दौहित्रादयो भवन्तः भुञ्जन्ताम् वा भुञ्जीरन् । आमन्त्रणम् = कामचारानुज्ञा । जैसे-मत्पुत्रोत्सवे भवान् आगच्छतु, आगच्छेद्वा । अधीष्टः = सत्कारपूर्वको व्यापारः । जैसे—मदात्मजं चन्द्रशेखरं भवान् अध्यापयतु अध्यापयेद्वा । सम्प्रश्नः = सम्प्रधारणम् । जैसे किं भोः व्याकरणं भवान् अधीयीत । प्रार्थनं = याच्ञा । यथा—भवान् फलं मे ददातु दद्याद्वा ।

यासुट्—लिङ् लकार सम्बन्धी परस्मैपद को 'यासुट्' का आगम हो और वह ङित् हो । लिङः—'सार्वधातुक' लिङ् (विधिलिङ्) सम्बन्धी अनन्त्य सकारका लोप हो । अतो—'अत' से पर सार्वधातुकावयव 'यास्' को 'इय्' आदेश हो । झेर्जुस्—लिङ् लकार सम्बन्धी 'झि' के स्था नमें 'जुस्' हो । उस्य—अपदान्त अवर्णसे 'उस्' परे रहते पूर्व-परके स्थानमें पररूप

एरप्यलोपेऽस्यापवाद इय्। 'अतो येय' इत्यत्र तु सन्निपातार्थं। भवेयुः। भवेः। भवेतम्। भवेत। भवेयम्। भवेव। भवेम॥ लिङाशिषि ।३।४।११६। आशिषि लिङस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात्। किदाशिषि ।३।४।१०४। आशिषि लिङो यासुट् कित्स्यात्। 'स्कोः'रिति सलोपः। क्ङिति च ।१।१।५। गित्किन्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्। भूयास्ताम्। भूयासुः। भूयाः। भूयास्तम्। भूयास्त। भूयासम्। भूयास्व। भूयास्म। लुङ् ।३।२।११०। भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात्। माङि लुङ् ।३।३।१७५। माङ्युपपदे धातोर्लुङ् स्यात्। सर्वलकारापवादः। स्मोत्तरे लङ् च ।३।३।१७६। स्मोत्तरे माङि लङ् स्याल्लुङ् च। च्लि लुङि ।३।१।४३। शबाद्यपवादः। च्लेः सिच् ।३।१।४४। इचावितौ। गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७। एभ्यः परस्य सिचो लुक् स्यात् परस्मैपदेषु। गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते। भूसुवोस्तिङि ।७।३।८८। 'भू' 'सू' एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न। अभूत्। अभूताम्। अभूवन्। अभूः। अभूतम्।

इटि' इति सलोपे 'भवेत्' इति रूपं सिद्ध्यति। भूयात्। भूधातो 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि, तत्स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना तिपि 'लिङाशिषि' इति तिप आर्धधातुकत्वात् शबोऽभावे 'इतश्च' इतीकारलोपे यासुटि 'सुट्तिथोः' इति सुटि, अनुबन्धलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधे 'भूयात्' इति सिद्धम्। गापाविहेति। 'गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्' इति भाष्यादिस्वरसः। भूसुवोरिति। अत्र 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुण इति 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इत्यतो नेति सार्वधातुक इति चानुवर्तते। सू इत्यनेन षूङ् प्राणिगर्भविमोचने इत्यस्यैव ग्रहणमित्याह—भू सू एतयोरित्यादिना। अभूत्। भूधातोः 'लुङ्' इति लुङि 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे लुङस्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि इत्यादिसञ्ज्ञको विधाय

इय् आदेश हो। लिङा—आशीर्वाद अर्थमें लिङादेश 'तिङ्' की आर्धधातुकसंज्ञा हो। किदा—आशीर्वाद अर्थमें लिङ् सम्बन्धी यासुट् 'कित्' हो। क्ङिति—गित्, कित् और ङित् निमित्तक इग्लक्षण गुण वृद्धि नहीं हो। लुङ्—भूतार्थमें धातुसे लुङ् लकार हो। माङि—'माङ्' उपपद रहने पर धातुसे लुङ् लकार हो। स्मो—'स्म' शब्द (पदके) माङ्के उत्तर रहते धातुसे 'लङ्' तथा चकारात् लुङ् लकार हो। च्लि—धातुसे 'च्लि' प्रत्यय हो, लुङ्के परे। च्लेः—च्लिके स्थानमें 'सिच्' आदेश हो। गाति—इणादेश 'गा' धातु तथा 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' धातु एवं 'पा' और 'भू' धातुओंसे परे जो सिच् उसका लुक् हो, परस्मैपदके परे।

भूसु—'भू' तथा 'सू' धातुओंको गुण नहीं हो, सार्वधातुक तिङ्के परे। न मा—

अभूत । अभूवम् । अभूव । अभूम । न माङ्योगे ।६।४।७४। माङ्योगे अडाटौ न स्तः । मा भवान्भूत् । मा स्म भवत् । मा स्म भूत् ॥ लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ।३।३।१३९। हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं, तत्र भविष्यदर्थाद्धातोर्लृङ्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् । अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभविष्याम । 'सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम् । 'प्रणिभवति' इत्यादौ उपसर्गाणामसमस्तत्वेऽपि संहिता नित्या । तदुक्तम्—

'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥
धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्त्तते ।
विशिनष्टि तमेवाऽर्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा ॥ २ ॥ इति ।

तयोर्लोपे 'अभू स् ति' इति जाते 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति सलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणाभावे च 'अभूत्' इति । अभविष्यत् । भूधातुतः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङि तत्स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे शपं बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे गुणेऽवादेशे अडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'अभविष्यत्' इति रूपम् । सुवृष्टिश्चेदिति । सुवृष्टिर्भवेच्चेत् सुभिक्षमपि भवेदिति लिङर्थे लृङ्लकार इति भावः । प्रभवति, प्रणिभवति, इत्यत्रोपसर्गाणामसमस्तत्वेऽपि संहितायाः नित्यत्वम् । अन्यथा प्रनिभवति इत्यादौ संहिताऽविवक्षायामेव णत्वविकल्पे सिद्धे 'शेषे विभाषे' त्यादौ विभाषाग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अत एवोक्तम्—संहितैकपदे नित्येति । एकपदमित्यनेन अखण्डं पदं विवक्षितम् । 'नित्या समासे' इति लिङ्गात् । अखण्डत्वं च पदभिन्नोत्तरखण्डकत्वम् । धातूपसर्गयोरपि संहिताया नित्यत्वात् । प्रणिभवतीत्यादौ वैभाषिकणत्वार्थं विभाषाग्रहणं सार्थकम् ।

'माङ्' के योगमें अङ्गको 'अट्' या 'आट्' का आगम नहीं हो । लिङ्नि—भविष्यत् अर्थमें विद्यमान धातुसे हेतुहेतुमद्भावादि अर्थमें 'लृङ्'लकार हो क्रियाकी अनिष्पत्ति यदि गम्यमान रहे।

संहितैक—एक पदमें, धातु और उपसर्गकी तथा समासमें संहिता नित्य होती है । केवल वाक्यमें वक्ताकी इच्छापर रहती है । ('यथा–'हनुमती उवाच' अथवा 'हनुमत्युवाच')

धात्वर्थं—कोई उपसर्ग धातुके मुख्यार्थको बाधकर नवीन अर्थका बोध कराता है, कोई, धात्वर्थका ही अनुवर्तन करता है और कोई विशेषण होकर उसी धात्वर्थको और भी स्फुटित कर देता है । इस प्रकार उपसर्गकी गति तीन प्रकारकी होती है

सत्तार्थनिर्देशश्चोपलक्षणं, 'यागात्स्वर्गो भवती'त्यादौ 'उत्पद्यते' इत्याद्यर्थात्। उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः। प्रभवति। पराभवति। सम्भवति। अनुभवति। अभिभवति। उद्भवति। परिभवति—इत्यादौ विलक्षणार्थावगतेः। उक्तञ्च—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराऽऽहारसंहार-विहार-परिहारवत् ॥ १ ॥ इति।

अत सातत्यगमने। अतति। अततः। अतन्ति। अतसि। अतथः। अतथ। अतामि। अतावः। अतामः। अत आदेः ।७।४।७०। अभ्यासस्याऽऽदेरतो दीर्घं स्यात्। परत्वाऽपवादः। आत। आततुः। आतुः। आतिथ। आतथुः।

संहिता समासे नित्यत्वं भजते। वाक्ये तु सा विवक्षाधीना भवति। सत्तार्थेति। 'भू सत्तायाम्' इति केवलं सत्तार्थं भूधातोश्चेत् 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' इति उत्पत्त्यर्थं असङ्गतो भवेत्। अत एव धातूनां सत्तार्थनिर्देशः केवलम् उपलक्षणं मन्यते वैयाकरणैः। अर्थप्रदर्शनार्थं तस्यावश्यकत्वात्। उपसर्गेणेति। उपसर्गेण धातोः सम्बन्धे सति अर्थवैशिष्ट्यप्रतीयमानत्वाद् धातूनामनेकार्था इति सिद्धान्तितम्। साऽन्यार्थप्रतीतिस्तु उपसर्गवशादेव। अत उपसर्गा अर्थद्योतकाः न तु वाचकाः। तत्र वाचकत्वं चेत् स्वतन्त्रतया प्रादीनां तथाविधार्थविमर्शाभावात्। अत एव मृत्तिकायां घटजननशक्तिर्वर्तते न तु दण्डे, अत एव मृत्तिका घटसमवायिकारणम् इतिवत् अर्थस्य स्थितिः धातौ वर्तते, अत एव उपसर्गसंयोगे सति विशिष्टार्थप्रतीतिरिति अभिधावाच्यत्वं धातोरेव। द्योतकत्वं प्रादीनां सिद्धमेव। सातत्यगमनम्—निरन्तरगमनम्। अतति। अत् धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'तिप्तस्झि॰' इति तिपि, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसञ्ज्ञायाम् 'कर्तरि शप्' इति शपि 'शप्' इत्यनयोरित्सञ्ज्ञायां लोपे च शित्वात् शपः सार्वधातुकसञ्ज्ञायां निष्पन्ना 'अतति' इति रूपम्। आत। अत्-धातोर्लिटि तस्य स्थाने तिपि 'परस्मैपदानाम्' इत्यादिना तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससञ्ज्ञायाम् 'हलादि शेषः' इति लोपे 'अ अत् अ' इति जाते अभ्यासस्य दीर्घे सवर्णदीर्घे च तत्सिद्धिः।

उपसर्गेण—विविध उपसर्गोंके लगनेसे धात्वर्थ भी विविध अर्थोंमें परिवर्तित होता है। यथा—हरणार्थक 'हृ' धातुमें 'प्र' लगने पर 'प्रहार' (आघात), 'आ' लगनेपर 'आहार' (भोजन), 'सं' लगने पर 'संहार' (सर्वनाश), 'वि' लगनेपर 'विहार' (क्रीडा) और 'परि' लगने पर 'परिहार' (समाधान) आदि।

अत—अभ्यासके आदि अत् (ह्रस्व अकार) को दीर्घ हो।

आत । अाव । आतिव । आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु । **आडजादीनाम् ।६।४।७२।** अजादेरङ्गस्याऽऽट् लुङ्-लङ् लृङ्क्षु । आतत् । अतेत् । अत्यात । अत्यास्ताम् । लुङि सिचि इडागमे कृते । **अस्तिसिचोऽपृक्ते ।७।३।९६।** विद्यमानात्सिचोऽस्तेश्च परस्याऽपृक्तस्य हल ईडागमः । **इट ईटि ।८।२।२८।** इटः परस्य सस्य लोपः स्यादीटि । **(सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः)** आतीत् । आतिष्टाम् । **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ।३।४।१०९।** सिचोऽभ्यस्ताद्विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस् । आतिषुः । आतीः । आतिष्टम् । आतिष्ट ।

अतिता । अत्धातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि, तत्स्थाने तिपि 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसञ्ज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे अनुबन्धलोपे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डादेशेऽनुबन्धलोपे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे च तत्सिद्धिः । अतिष्यति । अत्धातोर्लृटि लृटस्तिपि, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे सस्य षत्वे च कृते 'अतिष्यति' इति रूपम् । अतेत् । अत् धातोर्लिङि, लिङस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे यासुडागमे उटि गते यास इयादेशे, गुणे, 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अतेत्' इति । अत्यात् । अत्धातोराशिषि लिङि, लिङस्तिपि, लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकत्वे शबभावे 'यासुट् परस्मैपदेषु०' इति यासुटि, उटि गते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे उटो लोपे 'अत्यास् स् त्' इति जाते 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारद्वयस्यापि निवृत्तौ, सिद्धिरत्वा 'अत्यात्' इति रूपम् । आतीत् । अत्धातोर्लुङि, लुङस्तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि इति गते 'अत्+स्+ति' इति जाते 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ, सिचः स आर्धधातुकसञ्ज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'आत्+इ+स्+ति' इति जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'तः' इत्यस्य 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इत्यपृक्तसञ्ज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'आत् इ स ई त्' इति जाते 'इट ईटि' इति, सलोपे, सलोपस्य त्रैपादिकत्वात् 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यसिद्धत्वेन दीर्घत्वाऽभावे प्राप्ते 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्यासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे 'आतीत्' इति रूपं सिद्धम् । आतीः । लुङि 'तः सिपि,

---

आडजा—अजादि अङ्गको आट्‌का आगम हो, लुङ्, लङ्, लृङ् के परे । अस्ति—विद्यमान 'सिच्' से पर और 'अस्' धातुसे पर अपृक्त 'हल्' को ईट् आगम हो । इट—'इट्' से पर 'सिच्' सम्बन्धी सकारका लोप हो, 'ईट्' के परे ।

सिज—'सिच्' से परे, अभ्यस्त संज्ञक' से पर तथा 'विद्' धातुसे पर 'ङित्'

आतिथम् । आतिथ । आतिथ्म । आतिथ्व । एवम्—अथ व्यथ नथ नाथ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु इत्यादि । भवतीत्यादि । षिध गत्याम् । पुगन्तलघूपधस्य च ।७।३।८६। पुगन्तस्य, लघूपधस्य चाऽङ्गस्येको गुणः, सार्वधातुकार्धधातुकयोः । 'धात्वादेरिति सः' । सेधति । असेधत् । सिषेध ॥

सेकृसृपसृस्तुद्रुश्रुस्तुस्त्याऽन्ये दन्त्याऽजन्तसादयः ।
षकाद्यः षोपदेशाः स्वष्कस्मिङ्स्वस्त्रस्वञ्जस्वपृस्मिङः ॥ १ ॥

ह्रस्व केवलदन्त्यो, न तु दन्त्योष्ठ्योऽपि, स्मङादीनां पृथग् ग्रहणात् । असंयोगाल्लिट् कित् १।२।५। असंयोगात्परोऽपित् लिट् कित्स्यात् । सिषिधतुः । सिषिधुः । सिषेधिथ । सिषिधथुः । सिषिध । सिषेध । सिषिधिव । सिषिधिम । सेधिता । सेधि

पठौ, लिपि, इटि, ईटि सत्योरे, सवर्णदीर्घे, आटि, वृद्धौ, 'इतम' इति सिप इकारस्य लोपे रुत्वे, विसर्गे च सतिसिद्धि । आतिथ्व । अथधातोर्लङ प्रथमपुरुषैकवचने तिपि समागते, तस्य सार्वधातुकसञ्ज्ञायाम् सति मात्रे शपं बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, आर्धधातुकसञ्ज्ञायां इडागमे, अङ्गस्य आडागमे वृद्धौ च, इकारलोपे रुत्व, सत्वे च कृते 'आतिथ्व' इति । सेधति । षिध्धातोर्लटि, लस्य स्थाने तिपि, सार्वधातुकसञ्ज्ञायां सति, अनुबन्धलोपे शिबाद्यार्धधातुकसञ्ज्ञायां 'धात्वादे षः सः' इति षस्य सत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधायाः गुणे मिलित्वा 'सेधति' इति रूपम् । सिषेध । षिध्धातोर्लिटि तत्स्थाने, तिपि, षस्य सत्वे 'लिट् च' इति तिपि आर्धधातुकत्वेन शपोऽभावे, तिप स्थाने 'परस्मैपदानां णल०' इत्यादिना णलादेशेऽनु-बन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्याससञ्ज्ञायाम् अभ्यासकार्ये च कृते 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे च 'सिषेध' इति । दन्त्यान्ते ते । दन्त्यस्य भव दन्त्यायौ, तौ अन्तौ—अन्ते विद्यमानौ यस्य स दन्त्या-अन्त, तथाविध ,स—सकार' आदिर्येषां ते दन्त्याजन्तसादयः । दन्त्यपरका अच्परकश्च सकार', तदादय एकाचो धातवः षोपदेशा इति पाठत् । अतिव्याप्तिदोष परिहर्तुम् स्मिङादीनां परिगणनम् इति सिद्ध् । सेधिता । षिध्धातोर्लुटि तिपि 'धात्वादे षः सः' इति षस्य सत्वे 'स्यतासी

अकार सम्बन्धी 'झि' को 'जुस्' आदेश हो । पुगन्त—पुगन्त और लघूपध जो अङ्ग उसकी इक को 'इक्' उसको गुण हो, सार्वधातुक, आर्धधातुक प्रत्यय के परे । सेकृसृप—सेकृ-सृप्-सृ-स्तृ-स्तृ-स्त्यै—धातुओं के अन्य को दन्त्यान्त तथा अजन्त सकारादि धातु और स्मिङ्-स्विद्-स्वद्-स्वञ्ज्-स्वप्-रिमङ्यन्त—ये षोपदेश हैं । अद्विचो-अवयोपदे एक अतिर

ष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् । सात्पदाद्योः ८।३।१११। सातेः, पदादेश्च सस्य षो न । इति निषेधे प्राप्ते । उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ।८।३।६५। उपसर्ग-

---

लृलुटोः' इति तासि 'आर्धधातुकं शेषः' इति तासेरार्धधातुकत्वे लघूपधगुणे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीटि 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति डादेशे डस्येत्संज्ञायां लोपे च डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'सेधिता' इति सिद्धम् । सेधिष्यति । षिध्धातोर्लृटि, तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये आर्धधातुकसंज्ञायाम् इटि गुणे षत्वे च तत्सिद्धिः । सेधतु । षिध्धातोर्लोटि लोटस्तिपि, शपि, सार्वधातुकसंज्ञायां गुणे षस्य सत्वे इकारस्योत्वे च तत्सिद्धिः । असेधत् । षिध्धातोर्लङि, लङस्तिपि, अटि, शपि, गुणे, षस्य सत्वे, 'इतश्च' इतीकारलोपे च कृते 'असेधत्' इति सिद्धम् । सेधेत् । षिध्धातोर्लिङि, लिङस्तिपि, षस्य सत्वे शपि, अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां गुणे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि, उटि गते 'अतो येयः' इति यास इयादेशे गुणे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'सेधेत्' इति रूपम् । सिध्यात् । षिध्धातोराशिषि लिङि, लिङस्तिपि, अनुबन्धलोपे 'लिङाशिषि' इति तिप आर्धधातुकत्वेन शपोऽभावे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि उटि गते 'किदाशिषि' इति यासुटः कित्वे, कित्वाद् गुणाऽभावे 'सुट् तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे उटि गते 'इतश्च' इतीकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारद्वयस्य लोपे 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे च निष्पन्ने 'सिध्यात्' इति रूपम् । असेधीत् । षिध्धातोर्लुङि, लुङस्तिपि, षस्य सत्वे अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा च्लौ, च्लेः सिचि, इचोरित्संज्ञायां लोपे च, स आर्धधातुकसंज्ञायाम् इटि, गुणे, 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे तस्य 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिद्धत्वेन सवर्णदीर्घे अडागमे 'असेधीत्' इति रूपम् । असेधिष्यत् । षिध्धातोर्लृङि, लृङस्तिपि, षस्य सत्वे, अनुबन्धलोपे तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते, तम्बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम्, इटि गुणे, अटि, षत्वे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'असेधिष्यत्' इति रूपम् । सात्पदाद्योरिति । षश्च न चेति अनुवर्तते तेन सातेः सस्य पदादेः सस्य च प्राप्तं षत्वं नेत्यर्थः फलितः । उपसर्गादिति । उपसर्गाच्चिमित्तादस्यनेनोपसर्गस्थादिणः परस्येति बोध्यम् ॥

(षिध सिध) 'इट्' 'किल' हो जाय—'सात्' प्रत्ययके सकारको तथा पदादिके सकारको 'षत्व' नहीं हो । उपसर्गा—उपसर्गस्थ निमित्त (इण्-कवर्ग) से पर सुनोत्यादिधातु-

इणन्निमित्तादेषां सस्य षः। सदिरप्रतेः ८।३।६६। प्रतिभिन्नादुपसर्गात्सदेः सस्य षः। स्तन्भेः ८।३।६७। स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः। अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ८।३।६८ अवात्स्तन्भेरेतयोरर्थयोः सस्य षः। वेश्च स्वनो भोजने ।८।३।६९। व्यवाभ्यां स्वनतेः सस्य षो, भोजने। परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ।८।३।७०। परिनिविभ्य एषामेषां सस्य षः स्यात्। निषेवति। प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि ।८।३।६३। 'सित'-शब्दात्प्राग्ये सुनोत्यादयस्तेषामड्व्यवायेऽपि सस्य षः स्यात्। न्यषेवत्। न्यषेवीत्। न्यषेविष्यत्। स्थादिष्वभ्यासेन चाऽभ्यासस्य ।८।३।६४। प्राक्सितात्स्थादिष्वभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वं स्यात्, एषामेव चाऽ

सदिरप्रतेः। अत्र 'निर्दिष्टमिति' इत्युदाहरणम्। सदिति पञ्चम्यर्थे प्रथमा। स्तन्भेरिति। 'स्तम्भुस्तुम्भु' इति सूत्रनिर्दिष्टस्य सौत्रधातोरर्थः। प्रतिपदोक्तग्रहणेन सौत्रस्य सौत्रस्यैव षत्वविधौ ग्रहणात् 'विस्तम्भते' इत्यादौ न षत्वमिति भावः। अवाच्चेति। अवोपसर्गपूर्वात् स्तम्भेः आलम्बनेऽविदूर्ये चार्थे सस्य षत्वं भवतीति भावः। वेश्चेति। चकारोऽवानुकर्षणार्थश्चकारः। परिनिविभ्य इति। सेवेत्यकार उच्चारणार्थः। षेवृ सेवने धातोरस्य ग्रहणम्। सितेत्यनेन षिञ् बन्धने इत्यस्य ग्रहणम्। स च क्तान्तो निरूप्यते। अस्यैव धातोः षत्वं प्रतिषिध्यते सयशब्दः। षिवु तन्तुसन्ताने। षह मर्षणे सुट् आगमः। 'स्तुस्वञ्जो' सिवादीनां चेति विकल्पार्थं पुनर्वचनम्। निषेवतीति। अत्र निपूर्वात् सिव् धातोः सेवति इतिरूपे सति 'उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिना षत्वमिति भावः। प्राक्सितादिति। सुनोत्यादय इति 'उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिसूत्रोक्ता इति शेषः। न्यषेवत् इत्यादि। नि+असेवत् नि+असेवीत्, नि+असेविष्यत् इति पदत्रयस्थितौ 'उपसर्गादि'ति प्राप्तं षत्वं न प्रसज्यते अडागमेन व्यवधानात्। अतः 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' इत्यनेनाऽटा व्यवधानेनाऽपि षत्वमिति प्रोक्तरूपसिद्धिः। स्थादिष्वेति। अभ्यासेनेति तृतीयान्तम्। प्राक्सितादित्यनुवर्तने उपसर्गादितिसूत्रस्थस्थाधातुमारभ्य परिनिविभ्यः सेवसितेत्यत्र सितशब्दात्प्राक् ये धातव उपात्तास्तेषु

सम्बन्धी सकारको षकार हो। सदिर—'प्रति' भिन्न उपसर्गस्थ निमित्तसे पर 'सद्' धातु सम्बन्धी सकारको षकार हो। स्तन्भे—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर सौत्र 'स्तम्भ' धातु सम्बन्धी सकारको षकार हो। अवाच्चा—'अव' उपसर्गसे पर 'स्तम्भ' धातु सम्बन्धी सकारको षकार हो, आलम्बन और अविदूर्य (सामीप्य) अर्थ में। वेश्च—'वि' तथा 'अव' उपसर्गसे पर 'स्वन्' धातु सम्बन्धी सकारको षकार हो। परिनि—परि, नि तथा वि उपसर्गोंसे पर 'सेव' आदि सम्बन्धी सकारको षकार हो। प्राक्—'सित' शब्दसे पूर्व सुनोत्यादि धातु सम्बन्धी सकारको 'अट्' के व्यवधान रहने पर भी षत्व हो। स्थादि—'स्था' धातुसे लेकर 'सित' शब्दसे पूर्व जो २ धातु हैं, केवल उन्हीं २ धातु सम्बन्धी सकारको अभ्यासके व्यवधान

-भ्यासस्य न तु सुनोत्यादीनाम्। निषिषेध। निषिषिधतुः। सेधतेर्गतौ ।८।३।११३। गत्यर्थस्य सेधतेः सस्य षो न। गङ्गां विसेधति॥ एवम्-चिती संज्ञाने। शुच शोके। गद व्यक्तायां वाचि। गदति। नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च ।८।४।१७। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्णः स्यात् गदादिषु परेषु। प्रणिगदति। कुहोश्चुः ।७।४।६२। अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः॥ अत उपधायाः ।७।२।११६। उपधाया अतो वृद्धिः स्याद् ञिति, णिति च प्रत्यये। जगाद। जगदतुः। जगदुः। जगदिथ। जगदथुः। जगद। णलुत्तमो वा ।७।१।९१। उत्तमो णल् वा णित्स्यात्। जगाद।

स्तु धातुष्वित्यर्थः। निषिषेधेति। 'नि+सिसेध' 'नि+सिसिधतुः' इत्यवस्थायां पूर्व-सकारस्य 'उपसर्गात्' इत्यनेन षत्वे सति नि+षिसेध, नि+षिसेधतुः' इति रूपे जाते षिण्यवधानेन अपरसकारस्य निपरकत्वाभावात्र षत्वप्राप्तिः। अतः 'स्थादिष्विति' सूत्रेणाऽभ्यासषिण्यवधानेऽपि षत्वं भवत्येवेति भावः। तेन निषिषेध—निषिषेधतुः इति रूपद्वयसिद्धिः। सेधतेर्गताविति। नरपरेस्यतो नेत्यनुवृत्तेः षत्वं नेति भावः। गङ्गां विसेधति इति। विपूर्वात् षिध् धातोः प्राप्तं उपसर्गादिति षत्वं, 'सेधतेर्गतौ' इत्यनेन वार्यते। तेन षिध् धातोर्गत्यर्थो ज्ञापितः तेन च गङ्गां विसेधतीत्यस्य गङ्गां गच्छतीत्यर्थः। एतदेव ज्ञापकं धातूनामनेकार्थे, इति 'उपसर्गा' इत्यत्र तस्य ग्रहणं चरितार्थमिति भावः। नेर्गदनदेति। अत्र 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इत्यत उपसर्गादिति चानुवर्तते। कल्पनया उपसर्गपदमत्र उपसर्गस्थ-परम्। तदेतदाह—उपसर्गस्थादित्यादिना। प्रणिगदति। अत्र 'नेर्गदनद०' इत्यादिना प्रोपसर्गस्थरेफात्परस्य नेर्नकारस्य णत्वम्। जगाद। गद् धातोर्लिटस्तिपि, 'परस्मैपदा-नाम्०' इति तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्या-सत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासगकारस्य चुत्वेन जकारे, जगद् अ इति स्थिते 'अत उपधायाः' इति उपधाभूताकारस्य वृद्धौ 'जगाद' इति सिद्धम्। जगाद—जगद। गद् धातोर्लिटो मिपि 'परस्मैपदानाम्०' इति मिपो णलादेशे ऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्या-सस्य चुत्वे 'णलुत्तमो वा' इति णलः पाक्षिके णित्वे 'अत उपधायाः' इति

रहने पर भी षत्व हो—(सुनोत्यादिको नहीं)। सेधते—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर गत्यर्थक 'सिध्' धातु सम्बन्धी सकारको षकार नहीं हो। नेर्गद—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर 'नि' के नकारको णकार हो, गद-नदादि धातुके परे। कुहो—अभ्यास सम्बन्धी कवर्ग और हकारको चवर्ग आदेश हो। अत—उपधा सम्बन्धी 'अत्' को वृद्धि हो, ञित्, णित्, प्रत्ययके परे। णल—उत्तम पुरुष सम्बन्धी 'णल्' को णिद्भाव हो, विकल्पसे।

अगद् । गदिता । गदिष्यति । गदतु । अगदत् । गदेत् । गद्यात् । **अतो हलादे र्लघोः** ।७।२।७। हलादेर्लघोरतो वृद्धिर्वेडादौ सिचि परस्मैपदे । अगादीत् । अग दीत् । अगदिष्यत् ॥ णद अव्यक्ते शब्दे । **णो नः** ।६।१।६५। धात्वादेर्णस्य न स्यात् । णोपदेशास्त्वनर्द् नाटि नाथ-नाध्-नन्द्-नक्क-नृ-नृत. ॥ **उपस र्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** ।८।४।१४। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्यात्समासेऽसमासेऽपि । प्रणदति । प्रणिनदति । नदति । ननाद **अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि** ।६।४।१२०। लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्याऽसंयुक्तहल्मध्यस्थस्यात एत्वमभ्यासलोपश्च किति लिटि । नेदतु

स्रुवौ 'अगाद्' इति, णित्वाभावे 'अगद्' इति च सिद्धम् । अगादीत् अगदीत् गद्धातोर्लुङस्तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे अटि, शप बाधित्वा च्लौ, च्लेः सिचि, इच इत्संज्ञायां लोपे च, तस्य आर्धधातुकसंज्ञायाम् इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य ईडागमे अनुबन्धलोपे 'अगद् इ स् ई त्' इति जाते 'इट ईटि' सलोप 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्य' इति सिज्लोपस्यासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे 'अतो हलादेर्लघो.' इति वाधिकवृद्धौ 'अगादीत्' इति,तदभावे 'अगदीत्' इति च सिद्धम् । णोपदेशास्त्विति । नर्द-शब्दे, नट-अवस्कन्दने, नाथृ नाधृ-याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु, टुनदि-समृद्धौ, नक्क-नाशने, नृ-नये नृती-गात्रविक्षेपे, एतेभ्योऽन्यो भिन्ना नकारादिधातवो णोपदेशपदेनोच्यन्ते इति भावः । प्रणदति । णद्धातोर्लटि, 'णो नः' इति नस्य नत्वे प्रथमपुरुषे कवचनविवक्षायां लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'नदति'इति रूपम् । तत्र प्रोपसर्गस्य योगे 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति प्रोपसर्गस्थरेफात्परस्य नद्धातोर्नस्य णत्वे च तत्सिद्धिः । प्रणिनदति । अत्र 'नेर्गदनद॰' इति णत्वम् । ननाद । णद्धातोर्लिटस्तिपि, 'णो न' इति णस्य नत्वे 'परस्मैपदानाम्॰' इति तिपो णलि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यास संज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति दलोपे 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ च विहितायां 'ननाद' इति रूपम् । नेदतुः । णद्धातोर्लिटस्तसि 'णो नः' इति णस्य नत्वे, तसः अतुसि, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये च कृते 'न नद् अतुस्' इति जाते, अत्र

अतो-हलादि सम्बन्धी लघु अकारको विकल्पसे वृद्धि हो, इडादिपरस्मैपदपरक 'सिच्' के परे । णो नः—धातुके आदि णकारको नकार हो । णोपदे—नर्द, नाटि, नाथृ, नाधृ नन्द, नक्क, नृ, नृत—इन धातुओंसे अन्य जो नकारादि धातु वे णोपदेश हैं । (उत्पत्ति अवस्थामें उनके आदिमें णकार ही था) । उपस—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर 'णोपदेश' धातुके नकारको णकार हो, समासमें, (अपि शब्दात्) असमासमें भी । अत—'लिट्' निमित्तक आदेश नहीं हुआ हो, ऐसा जो 'अङ्ग' तदवयव जो असंयुक्त हल्मध्यस्थ अकार

नेदुः । थलि च सेटि । ६।४।१२१। इड्वति थलि च प्रागुक्तं स्यात् । नेदिथ । नेदथुः । नेद । ननाद । ननद । नेदिव । नेदिम । नदिता । नदिष्यति । नदतु । अनदत् । नदेत् । नद्यात् । अनादीत् । अनदीत् । अनदिष्यत् ॥ श्च्युतिर् क्षरणे । (इर इत्संज्ञा वाच्या) । श्च्योतति । शर्पूर्वाः खयः ।७।४।६१। शिष्यन्तेऽभ्यासस्य । हलादिः शेषापवादः । चुश्च्योत । इरितो वा ।३।१।५७। इरितो धातोश्च्लेरङ् वा, परस्मैपदे । अश्च्युतत् । अश्च्योतीत् । यकाररहितोऽप्य-

---

'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति एत्वेऽभ्यासलोपे रुत्वे रेफस्य विसर्गे च 'नेदथुः' इति रूपम् । अनादीत्-अनदीत् । णद्धातोर्लुङस्तिपि, 'णो नः' इति णस्य नत्वे, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इच इत्संज्ञायां लोपे च, सस्य आर्धधातुकसंज्ञायाम् इडागमे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'इट ईटि' इति सिचो लोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्य सिद्धत्वात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'अ नद् ई त्' इति जाते 'अतो हलादेर्लघोः' इति वा वृद्धौ 'अनादीत्' इति रूपम् । पक्षे-वृद्ध्यभावे 'अनदीत्' इति । श्च्युतिर् क्षरणे । इर इत्संज्ञेति । धातोः इर इत्संज्ञा वाच्येत्यर्थः । तत्फलं तु लोपरूपम् । या संज्ञा सा फलवती इति प्रसिद्धत्वात् । शर्पूर्वा इति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते 'शर्पूर्वा' इत्यत्र शर्पूर्वो येभ्य इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन शर् न शिष्यते । चुश्च्योतेति । श्च्युतः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि तिपि 'परस्मैपदानाम्०' इति णलि णकारलकारयोरित्संज्ञायां लोपे 'लिटि धातोः०' इति धातोर्द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति पूर्वरूपस्याभ्याससंज्ञायां हलादिशेषं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् 'शर्पूर्वाः खयः' इति चकारशेषे 'चुश्च्युत्+अ' इति स्थिते 'पुगन्त०' इति लघूपधगुणे परेण संयोगे च कृते 'चुश्च्योत' इति रूपं सिध्यति । न च 'श्च्युत्+अ' इति स्थिते द्वित्वात्प्रागेव गुणः कथं नेति वाच्यम् । 'द्विर्वचनेऽचि' इति निषेधादिति दिक् । लुटि—श्च्योतिता । अग्रे—श्च्योतिष्यति, श्च्योततु, अश्च्योतत्, श्च्योतेत्, श्च्युत्यात् । इरितो वेति । 'धातोरेकाचः०' इत्यतः धातोरिति च्लेः सिजित्यतः च्लेरिति 'अस्यतिवक्ति०' इत्यतोऽङिति 'पुषादिद्युताद्ि०' इत्यतः परस्मैपदेष्वित्यनुवर्तन्ते । अश्च्युतदिति । श्च्युत्धातोर्लुङि तिपि पलोपे शप्प्रत्ययं बाधित्वा 'च्लि लुङि' इति

उसको एत्व हो और अभ्यासका लोप हो, कित्-लिट्के परे । थलि—सेट् (इट् सहित) 'थल्' के परे भी पूर्वोक्त प्रकारका एत्व हो । इर इत्सं—'इर्' की इत्संज्ञा हो—ऐसा कहना चाहिये । शर्पूर्वाः—अभ्याससम्बन्धी 'शर्' पूर्वक 'खय्' का शेष हो और अन्य हल्का लोप हो । इरितो—'इर्' इत्संज्ञक धातुसम्बन्धी 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो, विकल्पसे ।

यम् । श्चोतति । चुश्चोत । अश्चुतत् । अश्चोतीत् । च्युतिर् आसेचने । च्योतति । टुनदि समृद्धौ । आदिर्ञिटुडवः ।१।३।५। उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः । इदितो नुम् धातोः ।७।१।५८। नन्दति । ननन्द । नन्दिता । नन्दिष्यति । नन्दतु । अनन्दत् । नन्देत् । इदित्त्वान्नलोपो न । नन्द्यात् । अनन्दीत् । अनन्दिष्यत् ॥ एवं कुथि पुथि लुथि मथि हिंसासंक्लेशनयोः । षिधि गत्याम् । सेधति ।

च्लौ 'च्ले सिच्' इति सामान्यविधिं बाधित्वा 'इरितो वा' इति वैकल्पिकेऽङादेशे 'लुदिदङ्०' इत्यङ्प्रत्ययाडागमे सति 'अश्च्युतत्' इति रूपम् । अङभावे तु 'च्ले सिच्' इति सिचि 'आर्धधातुकं शेषः' इति तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्य' इति इडागमे तिप्यावयवे तिप्रत्ययस्य 'इतश्च' इति इकारस्य लोपे 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इत्यवशिष्टतकारस्यापृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्येडागमे रचु त+इस्+ई+त इति जाते 'इट ईटि' इति सलोपे प्रत्ययलक्षणेन सिच आर्धधातुकत्वमाश्रित्य 'पुगन्त' इति लघूपधगुणेऽङ्गस्य 'लुङ्लङ्०' इत्यडागमे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति उभयेकारयोर्दीर्घे च कृते 'अश्च्योतीत्' इति द्वितीयं रूपं सिध्यति । लृङि तु 'अश्च्योतिष्यत्' इत्यादि बोध्यम् । चकाररहितोऽप्ययमिति । अत एव श्च्युतिर् क्षरणे इति धातुः चकाररहितोऽपि अपठ्यत इत्यर्थः । तेन श्चुतिर् क्षरणे इति पाठः फलितः । तथा सति लडादिषु—श्चोतति—चुश्चोत—श्चोतिता—श्चोतिष्यति—श्चोततु—अश्चोतत्—श्चोतेत्—श्चुत्यात्—अश्चुतत्—अश्चोतीत्—अश्चोतिष्यत् इत्यादि रूपाणि श्च्युतिर्वद्भवन्ति इति भावः । 'च्योतति' इति । च्युतिर् आसेचने इति धातोः इर इत्संज्ञा वाच्या इति इर इत्संज्ञायां वर्तमाने लटि तिपि तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां कर्तरि शपि तस्य तिप्याः सार्वधातुकसंज्ञायां 'पुगन्त०' इति गुणे 'च्योतति' इति । नन्दति । टुनदि इत्यत्र 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति इकारस्य इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे टुनद् इति जाते, तस्य 'भूवादयो धातवः' इति धातुत्वे 'आदिर्ञिटुडवः' इति टुइत्यस्येत्संज्ञायां लोपे च ततो लटि, तत्स्थाने तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमि, उमि गते 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति अन्त्यादचः परे, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'नन्दति' इति रूपम् । कुथि, पुथि, लुथि, मथि, एवं रूपाणि लटि, कुन्थति, पुन्थति, लुन्थति, मन्थति । लिटि—चुकुन्थ, पुपुन्थ, लुलुन्थ, ममन्थ । लुटि—कुन्थिता, पुन्थिता, लुन्थिता, मन्थिता । लृटि-कुन्थिष्यति, पुन्थिष्यति, लुन्थिष्यति, मन्थिष्यति । लोटि-कुन्थतु, पुन्थतु, लुन्थतु, मन्थतु । लङि-अकुन्थत्, अपुन्थत्, अलुन्थत्, अमन्थत् । विधिलि-

---

आदि—उपदेशावस्थामें धातुके आदिमें वर्तमान 'ञि-टु-डु' की इत्संज्ञा हो ।
इदितो—'इदित' धातुको 'नुम्' का आगम हो ।

'भिदी'ति पाठान्तरम् । भिन्दति । गडि वदनैकदेशे । गण्डति । णदि आह्लादने । नन्दति । त्रदि चेष्टायाम् । त्रन्दति । कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च । क्लिदि परिदेवने । तकि कृच्छ्रजीवने । युगि जुगि बुगि वर्जने । अघि मण्डने । शिघि

ङि-कुन्येध्, लुन्थेत्, मन्येत् । आशीर्लिङि-कुन्थ्यात्, पुन्थ्यात्, लुन्थ्यात्, मन्थ्यात् । अत्राशीर्लिङि उपधानकारस्य लिङः 'क्ङिदाशिषि' इति किद्भावेऽपि 'अनिदितां हल०' इति नलोपो न शङ्क्यः । 'अनिदितां हल' इति सूत्रे इकारेत्संज्ञकानामनिदितामेवोपधान-कारस्य लोपो भवतीति स्पष्टार्थत्वात् । लुङि-अकुन्थीत्, अपुन्थीत्, अलुन्थीत्, अमन्थीत्, लृङि-अकुन्थिष्यत्, अपुन्थिष्यत्, अलुन्थिष्यत् । अमन्थिष्यत् । इत्यादि । बिन्दति । बिदि अवयवे अस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि 'इदितो नुम्०' इति नुमि रूपम् । लिटादिषु तु बिबिन्द, बिन्दिता, बिन्दिष्यति, बिन्दतु, अबिन्दत्, बिन्देत्, बिन्द्यात्, अबिन्दीत्, अबिन्दिष्यत् । भिदि पाठान्तरे तु भिन्दति, बिभिन्द, भिन्दिता, भिन्दिष्यति, भिन्दतु, अभिन्दत्, भिन्देत्, भिन्द्यात्, अभिन्दीत्, अभि-न्दिष्यत् । इत्यादि । गण्डतीति । गडि वदनैकदेशे अस्मात् धातोः इकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे वर्तमाने लटि तिपि शपि 'इदितो नुम्०' इति नुमि मकारस्य मित्त्वा-दकारवर्तिनोऽकारस्यान्त्यावयवे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति अनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि०' इति परसवर्णे कृते 'गण्डति' इत्यस्य सिद्धिः । लिटादिषु तु जगण्ड, गण्डिता, गण्डिष्यति, गण्डतु, अगण्डत्, गण्डेत्, गण्ड्यात्, अगण्डीत्, अगण्डिष्यत् । इत्यादि । नन्दतीति । णदि—आह्लादने इत्यस्माद्धातोरिकारस्येत्संज्ञायामिदितो नुमि मित्त्वादन्त्यावयवेऽनुस्वारे परसवर्णे वर्तमाने लटि तिपि शपि प्रोक्तं 'नन्दति' इति रूपं भवति । लिटादिषु—ननन्द, नन्दिता, नन्दिष्यति, नन्दतु, अनन्दत्, नन्देत्, नन्द्यात्, अनन्दीत्, अनन्दिष्यत् । त्रन्दतीति । त्रदि चेष्टायाम् । अस्माद्धा-तोरिदित्वान्नुमि अनुस्वारे परसवर्णे लटि तिपि शपि रूपम् । लिटादिषु—तत्रन्द, त्रन्दिता, त्रन्दिष्यति, त्रन्दतु, अत्रन्दत्, त्रन्देत्, त्रन्द्यात्, अत्रन्दीत्, अत्रन्दिष्यत् । इति । कदि, क्रदि, क्लदि इति । लट्—कन्दति, क्रन्दति । क्लन्दति । लिट्—चकन्द, चक्रन्द, चक्लन्द । लुट्—कन्दिता, क्रन्दिता, क्लन्दिता । लृट्—कन्दिष्यति, क्रन्दि-ष्यति, क्लन्दिष्यति । लोट्—कन्दतु, क्रन्दतु, क्लन्दतु । लङ्—अकन्दत्, अक्रन्दत्, अक्लन्दत् । विधिलिङ्—कन्देत्, क्रन्देत्, क्लन्देत् । आशीर्लिङ्—कन्द्यात्, क्रन्द्यात्, क्लन्द्यात् । लुङ्—अकन्दीत्, अक्रन्दीत्, अक्लन्दीत् । लृङ्—अकन्दिष्यत्, अक्र-न्दिष्यत्, अक्लन्दिष्यत् इत्यादि । क्लिदि—क्लिन्दति, चिक्लिन्द, क्लिन्दिता, क्लिन्दिष्यति, क्लिन्दतु, अक्लिन्दत्, क्लिन्देत्, क्लिन्द्यात्, अक्लिन्दीत्, अक्लिन्दिष्यत् । तकि-तङ्कति, ततङ्क, तङ्किता, तङ्किष्यति, तङ्कतु, अतङ्कत्, तङ्केत्, तङ्क्यात्, अतङ्कीत्, अतङ्किष्यत् । इत्यादि । युगि, जुगि, बुगि—लट्—युङ्गति,

आघ्राणे। मन्थ विलोडने। मन्थति। ममन्थ। किस्त्वान्नलोपः। मथ्यात्। अर्च पूजायाम्। अर्चति। तस्मान्नुड् द्विहलः।७।४।७१। द्विहलो धातोर्दीर्घीभूतादकारात् परस्य नुट्। आनर्च। आनर्चतुः। आनर्चुः। अर्चिता। अर्चिष्यति। अर्चतु। आर्चत्। अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चीत्। आर्चिष्यत्॥ एवम्—अर्ह गतौ याचने च।

शुञ्जति, गुञ्जति। लिट्—पुपुञ्ज, शुशुञ्ज, जुगुञ्ज। लुट्—पुञ्जिता, शुञ्जिता, गुञ्जिता। लृट्—पुञ्जिष्यति, शुञ्जिष्यति, गुञ्जिष्यति। लोट्—पुञ्जतु, शुञ्जतु, गुञ्जतु। लङ्—अपुञ्जत्, अशुञ्जत्, अगुञ्जत्। लिङ्—पुञ्जेत्, शुञ्जेत्, गुञ्जेत्। आशीर्लिङ्—पुञ्ज्यात्, शुञ्ज्यात्, गुञ्ज्यात्। लुङ्—अपुञ्जीत्, अशुञ्जीत्, अगुञ्जीत्। अपुञ्जिष्यत्, अशुञ्जिष्यत्, अगुञ्जिष्यत्। इत्यादि। मडि मण्डने। मण्डति, ममण्ड, मण्डिता, मण्डिष्यति, मण्डतु, अमण्डत्, मण्डेत्। मण्ड्यात्, अमण्डीत्, अमण्डिष्यत्। शिघि आघ्राणे—शिङ्घति, शिशिङ्घ, शिङ्घिता, शिङ्घिष्यति, शिङ्घतु, अशिङ्घत्, शिङ्घेत्, शिङ्घ्यात्, अशिङ्घीत्, अशिङ्घिष्यत्। इति। मन्थति। मन्थ विलोडने धातोः वर्तमाने लटि तिपि शपि मन्थति इति रूपम्। ममन्थेति। मन्थधातोः 'परोक्षे लिट्' इति परोक्षार्थे भूते लिटि तिपि णलि द्वित्वे हलादिशेषे परेण संयोगे 'ममन्थ' इत्यस्य सिद्धिः। अग्रे—मन्थिता, मन्थिष्यति, मन्थतु, अमन्थत्, मन्थेत्। मथ्यादिति। मन्थ विलोडने धातोः आशीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे 'यासुट् परस्मै०' इति यासुटि, तस्य यदागमन्यायेन प्रत्ययत्वात् किद्वत्वाच्च 'अनिदिताम्०' इति उपधाभूतनकारस्य लोपे मथ्यात् इति रूपं भवति। अमन्थीत्। अमन्थिष्यत्। इति। अर्चति। अर्चधातोर्लटि, लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, सार्वधातुकसञ्ज्ञायाम् 'अर्चति' इति रूपम्। आनर्च। अर्चधातोर्लिटि, लिटस्तिपि, 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थल०' इति तिपो णलि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे, 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'अत आदेः' इत्यभ्यासाकारस्य दीर्घे 'तस्मान्नुड्द्विहलः' इति नुट्यनुबन्धलोपे च तत्सिद्धिः। अर्चिता। अर्चधातोर्लुटस्तिपि, सार्वधातुकसञ्ज्ञायां शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासौ इकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'आर्धधातुकं शेषः' इति तास आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डादेशे 'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः' इत्यासित्यागस्य लोपे च कृते तत्सिद्धिः। आर्चीत्। अर्चधातोर्लुङस्तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ, च्लौ, च्ले. सिच्यनुबन्धलोपे इटि ईटि च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे सिज्लोपस्यासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे च कृते 'आर्चीत्' इति रूपम्। आर्चिष्यत्। लृङि, तिपि, स्ये, इटि, आटि, वृद्धौ, च्ले,

---

तस्मा—द्विहल् धातुका दीर्घीभूत अकारसे पर, नुट्का आगम हो (लिट् में)।

अत अदि बन्धने। वन षण सम्भक्तौ। वनति। ववान। न शसददवादिगुणानाम् ।६।४।१२६। शसेर्ददेर्वकारादीनां, गुणशब्देन भावितो योऽत्, तस्य च एत्वाभ्यासलोपौ न स्तः। ववनतुः। ववनुः। सनति। ससान। सेनतुः। सेनुः।

'इतश्च' इति तिप इकारलोपे च तत्सिद्धिः। अर्द गतौ, याचने च। अर्दति, आनर्द, अर्दिता, अर्दिष्यति, अर्दतु, आर्दत्, अर्देत्, अर्द्यात्, आर्दीत्, आर्दिष्यत्। अति, अदि बन्धने। अन्तति, अन्दति। आनन्त, आनन्द। अन्तिता, अन्दिता। अन्तिष्यति, अन्दिष्यति। अन्ततु, अन्दतु। आन्तत्, आन्दत्। अन्तेत्, अन्देत्। अन्त्यात्, अन्द्यात्। आन्तीत्, आन्दीत्। आन्तिष्यत्, आन्दिष्यत्। वनति इति। वन संभक्तौ, अस्माद्धातोः वर्तमाने लटि तिपि शपि 'वनति' इति रूपम्। ववानेति। वन धातोः 'परोक्षे लिट्' इति भूतपरोक्षे लिटि तिपि णलि द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अत उपधायाः' इति णलो णित्वादुपधावृद्धौ 'ववान' इति रूपं भवति। न शसेति। शस, दद, वादि, गुण एषां द्वन्द्वः। अवयवषष्ठी। गुणशब्देन विहित एव गुणोऽत्र गुणशब्देन विवक्षितः। अन्यथा शसिददिग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः। 'अत एकहल्मध्ये' इत्यतः अत इत्यनुवर्तते। 'घ्वसोरेद्धौ' इत्यत एदित्यनुवर्तते। अभ्यासलोपश्चेत्यपि अनुपज्यते। ववनतुरिति। वनसंभक्तावित्यतः परोक्षे लिटि तसि तत्र 'परस्मैपदानाम्' इति अतुसि 'लिटि धातोः' इति धातोर्द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति पूर्वस्याभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति आद्येतरहलो लोपे 'अत एकहल्०' इति प्राप्त एत्वाभ्यासलोपे परत्वात् अपवादत्वाच्च 'न शस' इत्यनेन बाधिते सस्य रुत्वे विसर्गे 'ववनतुः' इति रूपम्। ववनुरिति। वन धातोः परोक्षे लिटि झौ तस्योसि धातोर्द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'न शसेति' एत्वाभ्यासलोपाभावे रुत्वे विसर्गे 'ववनुः' इति रूपम्। अग्रे—वनिता, वनिष्यति, वनतु, अवनत्, वनेत्, वन्यात्, अवानीत्—अवनीत्, अवनिष्यत्। सनति इति। षण—सम्भक्तौ अस्मात् धातोः 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे ततः वर्तमाने लटि तिपि सार्वधातुकसञ्ज्ञायां शपि 'सनति' इत्यभीष्टरूपं सिध्यति। ससानेति। षण धातोः 'धात्वादेः०' इति षस्य सत्वे लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'ससान' इति रूपं भवति। सेनतुरिति। षण धातोः षस्य 'धात्वादेः' इति सत्वे 'परोक्षे लिट्' इति भूते लिटि 'तिप्तस०' इति तसि 'परस्मैपदानाम्०' इति अतुसि 'लिटि धातोः०' इति धातोर्द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति पूर्वस्याभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति हल्लोपे 'अत एकहल्मध्ये०' इति एत्वेऽभ्यासलोपे अतुसः सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'सेनतुः' इत्यस्य साधुत्वम्। सेनुरिति। षण धातोर्लिटि झौ उसि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे

न शस्—'शस्' धातु 'दद्' धातु तथा वकारादि धातु और 'गुण' शब्दसे विहित जो 'अकार' उसको एत्वाभ्यासलोप नहीं हो।

ये विभाषा ।६।४।४३। जनसनखनामात्वं वा स्याद् यादौ क्ङिति । सायात् । सन्यात् । व्रज व्रज गतौ । व्रजति । वव्राज । व्रजिता । व्रजिष्यति । व्रजतु । अव्रजत् । व्रजेत् । व्रज्यात् । वदव्रजहलन्तस्याचः ।७।२।३। एषामचो वृद्धिः स्यात् परस्मैपदे सिचि । अव्राजीत् । अव्रजिष्यत् ॥ कटे वर्षावरणयोः । कटति । चकाट । कटिता । कटिष्यति । कटतु । अकटत् । कटेत् । कट्यात् । ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ।७।२।५। हमयान्तस्य, क्षणादेर्ण्यन्तस्य, श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ सिचि । अकटीत् । अकटिष्यत् ॥ गुपू रक्षणे । गुपूधूपविच्छिपणि-

---

'अत एकहल्०' इति एत्वेऽभ्यासलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च विहिते 'सेनुः' इति अभीष्टं रूपं सिध्यति । अग्रे-सेनिथ, सेनथुः, सेन, ससान-ससन, सेनिव, सेनिम । सनिता, सनिष्यति, सनतु, असनत्, सनेत् । ये विभाषेति । अत्र 'जनसनखनां सञ्झलोः' इत्यतः जनसनखनामिति लभ्यते 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इत्यत आदिति लभ्यते, 'ये' इति 'अङ्गाक्षिप्तप्रत्ययात्' 'यस्मिन्विधि' इति परिभाषया तदादिविधिः । अत आह-जनसनखनामात्वं वा यादौ क्ङिति इति । सायादिति । षण धातोः षस्य सत्वे आशीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'यासुट् परस्मै०' इति यासुटि लिङ आर्धधातुकत्वाच्छपोऽभावे 'सन् + यास् + त्' इति स्थिते आशीर्लिङः कित्त्वात् 'ये विभाषा' इति वैभाषिके आत्वे 'स्कोः' इति सलोपे 'स + आ + यात्' इति स्थिते सवर्णदीर्घे 'सायात्' इत्येकं रूपं भवति । आत्वाभावे 'सन्यात्' इति द्वितीयं सिद्धमेव । अग्रे—असानीत्-असनीत्, असनिष्यत् । इति । व्रज गतौ । व्रजति, वव्राज, वव्रजतुः, व्रजिता, व्रजिष्यति, व्रजतु, अव्रजत्, व्रजेत्, व्रज्यात्, अव्राजीत्-अव्रजीत्, अव्रजिष्यत् । इति । अव्राजीत् । व्रज् धातोर्लुङि कर्तरि तिपि, अनुबन्धलोपे च तस्मिन् । अव्राजीत् । व्रज् धातोर्लुङि कर्तरि तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे अटि, च्लौ, च्लेः सिचि, इटि च 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीटि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'इट ईटि' इति सलोपे सिज्लोपस्यासिद्धत्वाभावात्सवर्णदीर्घे 'अव्राजीत्' इति रूपम् । चकाट । कटधातोर्लिटि तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासस्य 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासस्य चुत्वेन चकारे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'चकाट' इति रूपम् । अकटीत् । कटधातोर्लुङि कर्तरि, अनुबन्धलोपे अटि, 'इतश्च' इतीकारलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां

ये विभा—'जन्-सन्-खन्' धातुओं को आत्त्व हो, यकारादि कित्-ङित् के परे । वद-व्रज—वद्, व्रज् और हलन्त धातु के 'अच्' को वृद्धि हो, परस्मैपदपरक 'सिच्' के परे । ह्म्यन्त—हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त धातु तथा क्षण श्वस्-जागृ धातु और ण्यन्त धातु एवं श्वि धातु के 'अच्' को वृद्धि हो, परस्मैपदपरक 'सिच्' के परे । गुपू—'गुप्-धूप्-विच्छ्-पण्-पन्' धातुओं से 'आय'

पनिभ्य आयः ।३।१।२८। एभ्य 'आय' प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे। 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ती'ति न्यायात्। **सनाद्यन्ता धातवः ।३।१।३२।** सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञाः स्युः।

सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाऽऽचारक्विप् णिज्यङौ तथा।
यगाय-ईयङ्-णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ॥ १ ॥

'सनाद्यन्ता धातव' इत्यस्यानन्तरं 'भूवादय' इत्येव सूत्रयितुं युक्तम्। धातुत्वाल्लडादयः। गोपायति। **आयादय आर्द्धधातुके वा ।३।१।३१।** आर्द्धधातुकविवक्षायामायेयङ्णिङो वा स्युः। **(कास्यनेकाच आम्वक्तव्यो लिटि)** कास आम्विधानान्मस्य नेत्त्वम्। **अतो लोपः ।६।४।४८।** आर्द्धधातुकोपदेशे यदन्तं तस्यातो लोप आर्द्धधातुके। **आमः ।२।४।८१।** आमः परस्य लुक्। **कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ।३।१।४०।** आमन्ताल्लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते। तेषां द्वित्वादि। **उरत् ।७।४।६६।** अभ्यासस्य ऋतोऽत्स्यात्प्रत्यये। प्रत्यये किं-वमव। वृद्धिः। गोपायाञ्चकार। द्वित्वात्परत्वायणि प्राप्ते। **द्विर्वचनेऽचि ।१।१।५९।** द्वि-

---

शपि प्राप्ते तन्बाधित्वा च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, आर्धधातुकसंज्ञायाम् इति, ईटि च जाते 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' इति तन्निषेधे 'इट ईटि' इति सलोपे सिज्लोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'अकुटीत्' इति रूपम्। सनादय इति। सन् क्यच् काम्यच् क्यङ् क्यषोऽथाचारक्विप् णिज्यङौ तथा। यगायेयङ्णिङश्चेति द्वादशामी सनादयः। गोपायति। गुप् धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इति आय प्रत्यये 'आर्धधातुकं शेषः' इति तस्यार्धधातुकत्वेन 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति गोपाय इत्यस्य धातुसंज्ञायां धातुत्वाल्लटि, लटस्तिपि, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'गोपायति' इति रूपम्। गोपायाञ्चकार। गुप् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिट् प्राप्ते, तन्बाधित्वा

प्रत्यय हो, स्वार्थमें। सना—'सन्' से लेकर 'कमेर्णिङ्'सूत्रसे विहित 'णिङ्' पर्यन्त (द्वादश) प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा हो। सन्क्य–सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचारार्थक क्विप्, णिच्, यङ्, यक्, आय्, ईयङ्, णिङ्—ये द्वादश 'सनादि' हैं। आया—आर्धधातुककी विवक्षामें आय-ईयङ् प्रत्यय हों, विकल्पसे। कास्य—'कास्' धातु और 'अनेकाच्' धातुसे 'आम्' प्रत्यय हो, 'लिट्' परे। अतो—आर्धधातुकके उपदेश कालमें जो अदन्त, उसके अकारका लोप हो, आर्धधातुकके परे। आम—'आम्' से परे 'लिट्' का लुक् हो। कृञ्चा—आमन्तसे 'लिट्' परक 'कृ' 'भू' अस् धातुओंका अनुप्रयोग हो। उरत्—अभ्याससम्बन्धी ऋवर्णको 'अत्' आदेश हो, प्रत्ययके परे। द्विर्व—द्वित्वनिमित्तक 'अच्' के परे

त्वनिमित्तेऽपि परे अय आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये । गोपायाञ्चक्रतु । गोपायाञ्चक्रुः । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ।७।२।१०। उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च, ततः परस्य वलादेरार्धधातुकस्येण्न ।

ऊदॄदन्तैर्यौति रु क्ष्णु शीङ् स्नु नु क्षु श्वि डीङ् श्रिभिः ।
वृङ्वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥ १ ॥

कान्तेषु—शक्लेकः । चान्तेषु—पच् मुच् रिच् वच् विच् सिचः षट् । छान्तेषु—प्रच्छ्येकः । जान्तेषु—त्यज् निजिर् भज् भञ्ज् भुज् भ्रस्ज् मस्ज् यज् युज् रुज् रञ्ज् विजिर् स्वञ्ज् सञ्ज् सृजः पञ्चदश । दान्तेषु—अद् क्षुद् खिद् छिद् तुद् नुद् पद्य भिद् विद्य विनद् विन्द् शद् सद् स्विद्य स्कन्द् हदः षोडश । धान्तेषु—क्रुध् क्षुध् बुध्य बन्ध् युध् रुध् राध् व्यध् शुध् साध् सिध्या एकादश । नान्तेषु—मन्य हनौ द्वौ । पान्तेषु-

---

'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इति नित्यम् आयप्रत्यये प्राप्ते 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पेन आयप्रत्यये कृते तस्य आर्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इत्याम्प्रत्यये तस्य आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'आमः' इति लिटो लुकि, लिटः कृञ्प्रत्याहारत्वेन गोपायामित्यस्य कृदन्तत्वाभावात् अविशेषित्वेनैव प्रत्ययत्वे 'कृन्मेजन्तः' इति अव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्यापि लुकि 'गोपायाम्' इत्यत्र सिद्धे 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञि अनुप्रयुज्यमाने 'गोपायाम् कृ लिट्' इति जाते अत्र तिबादिष्वपि, तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'गोपायाम् कर् कृ अ' इति भूते 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासककारस्य चत्वे मस्य पदान्तत्वादनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति पाक्षिकेऽनुस्वारस्य परसवर्णे ञकारे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिं परत्वाद्बाधित्वा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'गोपायाञ्चकार' इति । अनुदात्ता के इत्याकाङ्क्षायामाह—ऊदॄदन्तैरिति । ऊकारान्ता, ॠकारान्ता, यु रु क्ष्णु शीङ् स्नु नु क्षु श्वि डीङ् श्रि वृङ् वृञ्

अयादेश नहीं हो, यदि द्वित्व कर्तव्य रहे । एकाच—उपदेशावस्थामें एकाच् और अनुदात्त जो धातु, उससे पर आर्धधातुकको इट् नहीं हो ।

ऊदॄ—दीर्घ ऊकारान्त और दीर्घ ॠकारान्त धातु, 'यु' धातु तथा रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, नु, क्षु, श्वि डीङ्, श्रि, वृङ्, वृञ् धातु—इनसे भिन्न जो एकाच् और अजन्त धातु, वे 'अनुदात्त' हैं ।

आप्-क्षिप्-छुप्-तप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश। भान्तेषु यभ्-रभ्-लभस्त्रयः। मान्तेषु-गम्-नम्-रम्-यमश्चत्वारः। शान्तेषु क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश। षान्तेषु-कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या एकादश। सान्तेषु घस्-वसती द्वौ। हान्तेषु दह्-दुह्-दिह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् ॥

गोपायाञ्चकर्थ। गोपायाञ्चक्रथुः। गोपायाञ्चक्र। गोपायाञ्चकार। गोपायाञ्चकर। गोपायाञ्चकृव। गोपायाञ्चकृम॥ गोपायाम्बभूव। गोपायामास। जुगोप। जुगुपतुः। जुगुपुः॥ **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ।७।२।४४।** स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात्। जुगोपिथ। जुगोप्थ। गोपायिता। गोपिता। गोप्ता।

एतान् धातून् वर्जयित्वा एकाचः अजन्तधातवः अनुदात्ता इति कारिकार्थः। गोपायाम्बभूव। गुप्धातोः पाक्षिके आयप्रत्यये गुणे धातुत्वाल्लिटि आम्प्रत्यये अल्लोपे लिटो लुकि, लिट्परभूप्रयोगे, लिटस्तिपो णलि भुवो 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुकि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे ह्रस्वेऽत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वे च 'गोपायाम्बभूव' इति रूपम्। गोपायामास। गुप्धातोरायप्रत्यये गुणे लिटि, आमि, अल्लोपे लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकास्धातोरनुप्रयोगे, लिटस्तिपो णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससञ्ज्ञायाम् 'हलादिः शेषः' इति सलोपे 'अत आदेः' इति दीर्घे सवर्णदीर्घे च मिलित्वा 'गोपायामास' इति रूपम्। जुगोप। गुप्धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति आयप्रत्ययाभावपक्षे लिटि तत्स्थाने तिपि, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानाम्०' इति णलि, अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति हलादेः शेषे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन जत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'जुगोप' इति सिद्धम्। जुगोपिथ-जुगोप्थ। आयप्रत्ययाभावे गुप्धातोर्लिटः सिप-स्थलि, अनुबन्धलोपे, द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च 'जुगुप्-थ' इति स्थिते 'लिट् च' इत्यार्धधातुकसञ्ज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति नित्यमिडागमे प्राप्ते तद्बाधित्वा 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति वा इडागमे अनुबन्धलोपे 'जुगोपिथ' इति रूपम्। इडागमाभावपक्षे—'जुगो-

---

अनुदात्ता—हलन्त धातुओंमेंसे एक सौ तीन धातु अनुदात्त हैं।

स्वरति—स्वरत्यादि धातु और ऊदित धातुओंसे पर वलादि आर्धधातुकको इट्का आगम हो, विकल्पसे।

नोटः—स्वरत्यादिसे 'स्वृ शब्दोपतापयोः'-स्वादि। 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने—अदादि

गोपायिष्यति । गोपिष्यति । गोप्स्यति । गोपायतु । अगोपायत् । गोपायेत् । गोपाय्यात् । गुप्यात् । अगोपायीत् । नेटि ।७।२।४। इडादौ सिचि हलन्तलक्षणा वृद्धिर्न

ष्य' इति रूपम् । गोपायिता । गुप्धातो 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्यये 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लुटि, तस्थाने तिपि, सार्वधातुकसञ्ज्ञायां शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि, तस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे तिपो डादेशेऽनुबन्धलोपे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'गोपायिता' इति रूपम् । आयप्रत्ययाभावपक्षे गुपो लुटस्तिपि तासि, आर्धधातुकत्वे 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति पाक्षिके इडागमेऽनुबन्धलोपे, गुणे, तिपो डादेशे, डित्वात् टिलोपे 'गोपिता' इति रूपम् । इडागमाभावपक्षे 'गोप्ता' इति रूपम् । गोपायिष्यति । गुप्धातो 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्यये 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लृटि तत्स्थाने तिपि स्ये प्रत्यये आर्धधातुकसञ्ज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे षत्वे च तत्सिद्धिः । आयप्रत्ययाभावपक्षे गुप्धातोर्लृटि, तिपि, स्ये, आर्धधातुकसंज्ञायां गुणे 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विकल्पेनेडागमे षत्वे च 'गोपिष्यति' इति । इडागमाभावपक्षे—गोप्स्यति । गोपायतु । गुप् धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इत्यायप्रत्यये कृते आर्धधातुकत्वे गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लोटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे तत्सिद्धिः । गोपाय्यात् । गुप्धातोरायप्रत्यये तस्यार्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वादाशीर्लिङस्तिपि, 'लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकत्वात् शबभावे यासुटि, उटि गते 'अतो लोपः' इति आयप्रत्ययस्याकारस्य लोपे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे च तत्सिद्धिः । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति आयप्रत्ययाभावे गुप्धातोराशीर्लिङस्तिपि अनुबन्धलोपे यासुटि, उट इत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'किदाशिषि' इति यासुटः कित्त्वात् गुणाभावे जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'गुप्यात्' इति रूपम् । अगोपायीत् । गुप्धातो 'आयादय आर्धधातुके वा' इति पाक्षिके आयप्रत्यये तस्यार्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसं-

---

'धूप् सन्तापे'-दिवादि और 'धूञ् कम्पने'-स्वादि तथा 'धूञ् कम्पने'-क्र्यादि का भी ग्रहण समझना चाहिये ।

नेटि—इडादि 'सिच्' के परे हलन्त लक्षण ('वदव्रजहलन्तस्याचः' से) वृद्धि नहीं हो ।

स्यात्। अगोपीत्। अगौप्सीत्। झलो झलि ८।२।२६। झलः परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि परे। अगौप्ताम्। अगौप्सुः। अगौप्सीः। अगौप्तम्। अगौप्त। अगौप्सम्। अगौप्स्व। अगौप्स्म। अगोपायिष्यत्। अगोपिष्यत्। अगोप्स्यत्। क्षि क्षये। क्षयति। चिक्षाय। चिक्षियतुः। चिक्षियुः। 'एकाच' इति निषेधे प्राप्ते।

इति संज्ञायां 'लुङ्' इति लुङि, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे, लुङः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे तस्य आर्धधातुकत्वाद् 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे, तस्य 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'इट ईटि' इति सलोपे सिज्लोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'अगोपायीत्' इति रूपम्। अगोपीत्, अगौप्सीत्। 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययाभावे गुप्धातोर्लुङस्तिपि, अटि, च्लौ, च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे आर्धधातुकसञ्ज्ञायां गुणे 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विकल्पेन इटि, 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषिद्धे 'अगोपीत्' इति रूपम्। इडागमाभावे—'अ गुप् स् ई त्' इति स्थिते 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'अगौप्सीत्' इति रूपम्। अगौप्ताम्। गुप्धातोर्लुङस्तसि अटि तसस्तामादेशे च्लौ, च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'झलो झलि' इति सलोपे 'अगौप्ताम्' इति सिद्धम्। अगोपायिष्यत्। गुप्धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इत्यायप्रत्यये तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'गोपाय' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्, धातुत्वाच्च लृङि, तस्य स्थाने तिपि, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यटि 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, 'आर्धधातुकं शेषः' इति स्यस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीटि 'अतो लोपः' इति यकारगताकारलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे च कृते 'अगोपायिष्यत्' इति रूपम्। अगोपिष्यत्। 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययाभावे 'अ गोप् स्य त्' इति स्थिते इटि च कृते षत्वे च 'अगोपिष्यत्' इति। अगोप्स्यत्। आयप्रत्ययाभावे इडभावे च 'अगोप्स्यत्' इति। क्षि क्षय इति। क्षयो नाशः, अकर्मकः। अन्तर्भावितण्यर्थस्तु सकर्मकः, नाशनमिति तदर्थः। चिक्षाय। चिधातोर्लिटस्तिपि तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति षलोपे 'क्षि क्षि अ' इति जाते 'कुहो

झलो—'झल्' से पर (सिच्सम्बन्धी) सकारका लोप हो 'झल्' के परे।

कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ।७।२।१३। क्रादिभ्य एव लिट इण् न स्यात्, अन्यस्मादनिटोऽपि स्यात्। **अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्** ।७।२।६१। उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट् ततः परस्य थल इण् न स्यात्। **उपदेशेऽत्वतः** ।७।२।६२। उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण् न। **ऋतो भारद्वाजस्य** ।७।२।६३। तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन। तेनान्यस्य

स्तु' इति कस्य चावे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ कृतायाम् 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे च कृते 'चिचाय' इति रूपम्। एकाच इति निषेधे इति। विधातोरेकाच्त्वात्, ऊदॄदन्तादिचतुर्दशभिन्नधातूनामनुदात्तत्वाभ्युपगमादिति भावः। कृसृ। कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रु इत्येषां समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी लिटीति पञ्चम्यर्थे सप्तमी। 'नेड्वशि कृति' इत्यतो नेति इडिति चानुवर्तते। 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति 'श्र्युकः किति' इति च सिद्धे नियमार्थमिदमत एवेत्याह—क्रादिभ्य एवेत्यादिना। अचस्ता-स्वदिति। अथालोऽपलोऽभावादातोरिति लभ्यते। अच इति तद्विशेषणम्। तदन्त विधिः। 'उपदेशेऽत्वत' इत्युत्तरसूत्रादुपदेश इत्यपकृष्यते, भाष्यप्रामाण्यात्। 'तासि च क्लृपः' इत्यतस्तासीत्यनुवर्तते। 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' इत्यत इडिति, 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इत्यतो नेति चानुवर्तते। तास्वदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः, तदाह—उपदेशेऽजन्त इति। उपदेशेऽत्वत इति। अत्वत इति छेदः। अत्-ह्रस्वाकारः स अस्य अस्तीति अत्वान् 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वाद् चरत्वम्। अच इति वर्जम् पूर्वसूत्रं तत्र यदनुवृत्तं तदप्यनुवर्तते। तदाह—उपदेशेऽकारवत इति। ऋत इति। तासौ नित्यमनिट इति, थलीति, नेति, इडिति चानुवर्तते। भारद्वाजस्य मते ऋदन्तादेव तासौ परस्य नेडिति फलितम्। ऋदन्तस्तावत् 'अचस्तास्वत्' इत्येव सिद्धम्। अतो नियमार्थमिदमित्याह—ऋदन्तादेवेति। अनृदन्तात्परस्य तु थल इट् स्यादेवेत्येवकारार्थः। तदाह अन्यस्य स्यादेवेति। ऋदन्तभिन्नात्परस्य थल इट् स्यादेवेत्यर्थः। अवसथेति। कृसृभृवृ-स्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटी'ति, 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यमि'ति, 'उपदेशेऽत्वत' इति, 'ऋतो

कृसृ—कृ आदि धातुओंसे पर ही 'लिट्' को इट् नहीं हो, पर क्रादिसे अन्य धातुओंके 'लिट्' आगे यह अनिट् भी क्यों न हो, इट् होगा ही। अच—उपदेशावस्थामें अजन्त जो धातु यदि 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् हो तो उससे पर 'थल्' को इट् नहीं हो। उपदेशे—उपदेशावस्थामें अकारवान् तथा 'तासि' प्रत्ययके परे रहते नित्य अनिट् जो धातु उससे पर जो 'थल्' उसको इट् नहीं हो। ऋतो—'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो ऋदन्त धातु उससे पर ही 'थल्' को 'इट्' नहीं हो, भारद्वाजके मतसे (अर्थात् विकल्पसे)।

स्यादेव । अयमत्र सङ्ग्रहः—

अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम् ।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥ १ ॥

चिक्षयिथ । चिक्षेथ । चिक्षियथुः । चिक्षिय । चिक्षाय—चिक्षय । चिक्षियिव । चिक्षियिम । क्षेता । क्षेष्यति । क्षयतु । अक्षयत् । **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ।७।४।२५।** अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद् यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयोः । क्षीयात् । **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ।७।२।१।** इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः परस्मैपदे सिचि । अक्षैषीत् । अक्षेष्यत् ॥ **तप** सन्तापे । तपति । तताप । तेपतुः । तेपुः ।

भारद्वाजस्ये'ति च सूत्रचतुष्टयस्य विषयाणां संग्रहो वक्ष्यत इत्यर्थः । अजन्त इति । यो धातुः ऋदन्तभिन्नोऽजन्तो, ह्रस्वाकारवान् वा तासौ नित्यानिट् सोऽयं थलि विकल्पितेट्क इति पूर्वार्धस्यार्थः । अत्र 'ईदृक्' । इत्यस्य तासौ नित्यानिडित्यर्थः । यः ऋदन्तस्तासौ नित्यानिट् सः थलि नित्यानिडित्यर्थः । 'अचस्तास्वत्' इति पाणिनिमते 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति भारद्वाजमतेऽपि तस्य अनिट्कत्वादिति भावः । क्राद्यन्य इति , क्राद्यष्टभ्योऽन्यो धातुः लिटि नित्यं सेडित्यर्थः । क्राद्यष्टस्य एव परस्य लिटि नेडिति 'कृसृभृवृ' इति सूत्रेण नियमितत्वादिति भावः । एवञ्च प्रकृते क्षिधातोरजन्तत्वात्तासौ नित्यानिट्त्वाच्च थल इति इड्विकल्प इति सिद्धम् । तदाह–चिक्षयिथ, चिक्षेथ इति । अक्षैषीत् । क्षिधातोः 'लुङ्' इति लुङि, तस्य स्थाने तिबादेशे अङ्गस्याडागमे, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, इडभावे, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि विहिते 'अ क्षि स् ई त्' इति जाते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, सस्य षत्वे च 'अक्षैषीत्' इति रूपम् । तेपतुः । तप्धातोर्लिटः स्थाने प्रथमपुरुषद्विवचने तसि, तसश्चातुसि, द्वित्वे अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति पलोपे 'तत्प्-अतुस्' इति जाते 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति लिटः कित्वे 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्यकारस्यैत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'तेपतुः' इति रूपम् ।

अजन्तो—अजन्त (या-पा-वा आदि) अथवा अकारवान् (पचादि) धातु तथा 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो धातु उसको 'थल्' में विकल्पसे 'इट्' होता है । तथा 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो ऋदन्त धातु वह 'थल्' में नित्यानिट् (इट्का नित्य निषेध) होता है । और कृ-सृ-भृ आदि आठ धातुओंसे भिन्न जो अनिट् धातु, वह 'लिट्' में सेट् ही होता है ।

अकृत्—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, यकारादि प्रत्ययके परे । परन्तु यकारादि 'कृत्' और सार्वधातुकके परे दीर्घ नहीं हो । सिचि-इगन्त अङ्गको वृद्धि हो, परस्मैपद 'सिच्' के परे ।

तेपिथ । ततप्थ । तप्ता । तप्स्यति । तपतु । अतपत् । तपेत् । तप्यात् । अताप्सीत् । अताप्साम् । अतप्स्यत् । **निसस्तपतावनासेवने** ।८।३।१०२। षः स्यात् । आसेवनं = पौनःपुन्यं, ततोऽन्यस्मिन्विषये । निष्टपति । **क्रमु पादविक्षेपे** । **वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः** ।३।१।७०। एभ्यः श्यन्वा, कर्तरि सार्वधातुके । पक्षे शप् । **क्रमः परस्मैपदेषु** ।७।३।७६। क्रमेर्दीर्घः, परस्मैपदे शिति । क्राम्यति । क्रामति । चक्राम । **स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते** ।७।२।३६। अत्रैवेट् । क्रमिता । क्रमिष्यति । क्राम्यतु । क्रामतु । अक्राम्यत् । अक्रामत् । क्राम्येत् । क्रामेत् । क्रम्यात् । अक्रमीत् । अक्रमिष्यत् ॥ **चमु छमु जमु झमु अदने** ।

अताप्सीत् । तप्धातोर्लुङस्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इषि गते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इण्निषेधे, अटि, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इत्यचो वृद्धौ 'अताप्सीत्' इति रूपम् । निसस्तपताविति । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकारात् । षः स्यादित्युक्तं सङ्गतम् । निसः सकारस्य षत्वं स्यात्तपधातौ परतः, पौनःपुन्यभिन्नार्थे गम्ये इति सूत्रार्थः फलितः । निष्टपतीति । निस्पूर्वात् तप्धातोर्लटि तिपि शपि 'निस् तपति' इति स्थिते 'निसस्तपतावनासेवने' इति सस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति तस्य ष्टुत्वेन टत्वे 'निष्टपति' इति मोक्षरूपसिद्धिः । प्रभाते निष्टपति सूर्यः अर्थात् प्रभाते सूर्यः निष्कृष्य तपति इत्यर्थः । क्राम्यति । क्रमु पादविक्षेपेऽर्थे धातुर्वर्तते, उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च तस्माल्लटस्तिपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः' इति श्यनि प्राप्ते, शस्य नस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'क्रम् य ति' इति स्थिते 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति क्रम उपधाया दीर्घत्वे च कृते 'क्राम्यति' इति रूपम् । पक्षे शपि दीर्घत्वे च—'क्रामति' इति रूपम् । स्नुक्रमोरिति । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । आत्मनेपदनिमित्तस्याभाव इति अनात्मनेपदनिमित्तम्, तस्मिन्निति अभावो नञर्थ इति 'अर्थाभावे अव्ययीभावेन सह नञ्तत्पुरुषो विकल्प्यते' इत्युक्तेः समासः । आत्मनेपदनिमित्ताभावे सति स्नुक्रमभ्यां परस्य वलाद्यार्धधातुकस्य इडागमः स्यादित्यर्थः । स्नुक्रमोरनुदात्तोपदेशानन्तर्भावादिटि सिद्धे वचनमिदं नियमयति—अत्रैवेडिति ।

निसस्त—पौनःपुन्यसे भिन्न अर्थमें 'निस्' के सकारको षत्व हो, 'तप्' धातु के परे । वा भ्राश—भ्राश, भ्लाश, भ्रम, क्रम, क्लम, त्रस, त्रुट् और लष् धातुओंसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे, विकल्पसे । क्रमः—'क्रम' धातुको दीर्घ हो, परस्मैपद 'शित्' के परे । स्नुक्रमो—आत्मनेपदनिमित्त हीन 'स्नु' और 'क्रम' धातुसे पर ही वलादि आर्धधातुक को

ष्ठिवुक्लमुचमां शिति ।७।३।७५। एषामचो दीर्घः स्याच्छिति । (आङि चम इति वक्तव्यम्) आचामति । आङि किम् ? चमति । विचमति । अचमीत् ॥ स्खल संचलने । स्खलति । चस्खाल । अतो ल्रान्तस्य ।७।२।२। अतः समीपौ यौ ल्रौ, तदन्तस्याङ्गस्यातो वृद्धिः, परस्मैपदपरे सिचि । अस्खालीत् । अस्खलि-

---

तेन 'उपस्नोप्यते जलेन' इति भावार्थलकारे इष्ण इति फलमित्यलम् । अक्रमीत् । क्रम्धातोर्लुङस्तिपि, अटि, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, इटि, तिप इकारलोपे इटि, सलोपे, 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणि०' इति निषिद्धे 'अक्रमीत्' इति । ष्ठिवुक्लमुचमां शिति । एषां शिति परतोऽचो दीर्घः स्यात् इति सूत्रार्थः । आचामति इति । आङ्पूर्वाच्चमुधातोर्लटि तिपि शपि तस्य शित्त्वेन 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' इति चमोरचो दीर्घत्वे 'आचामति' इति रूपं सिध्यति । आङि किमिति । आङि चमो दीर्घत्वमित्यर्थाभावे चमोरप्यनाङ्पूर्वाच्छिति परतः दीर्घत्वं प्रसज्येत । तेन च 'चमति' इत्यादिस्थले 'चामति' इति शब्दशास्त्रविरुद्धसिद्धिः स्यादतः 'आङि' इत्येव वक्तव्यमिति भावः । अत एव 'विचमति, चमति' इत्यादौ न दीर्घः । अग्रे तु-चचाम, चमिता, चमिष्यति, चमतु, अचमत्, चमेत्, चम्यात्, अचमीत् अत्र न वैकल्पिकवृद्धिः 'ह्म्यन्त' इति मान्तत्वेन तन्निषेधात् । अचमिष्यत् । छमु जमु झमु अदने । लट्-छमति, जमति, झमति । स्खलतीति । स्खल संचलने अस्माद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि 'तिप्तस्' इति तिपि 'लिङ्शित्' इति तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शस्य 'लशक्वे'ति इत्संज्ञायां लोपे 'स्खलति' इत्युक्तरूपस्य सिद्धिः । अतो ल्रान्तस्येति । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यनुवृत्तम् । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । 'ल्र अन्तस्य' इति छेदः । ल् च र् चेति समाहारद्वन्द्वात् षष्ठ्येकवचनं लुप्तम् । ल्रस्यान्तस्येति सामानाधिकरण्येनान्वयः अत इति व्यधिकरणषष्ठ्यन्तम् । तच्च अन्तस्येत्यत्रान्वेति । अन्तशब्दः समीपवर्तिवाची । तथा च अतः समीपवर्तिनो ल्रस्येति लभ्यते । ल्रस्येत्यङ्गविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । ततश्च अत्समीपवर्तिरेफलका-रान्तस्य अङ्गस्य सिचि वृद्धिरिति लभ्यते । अत इत्यावृत्तं वृद्धौ स्थानित्वेनान्वेति । अस्खालीत् । स्खलो लुङि च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि इचो लोपे 'आर्धधातुकं शेषः' इति सिच आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादे'रिति सिच इडागमे तिपस्तस्य 'अपृक्त एकाल्०' इति अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णदीर्घे वृद्धौ 'अस्खालीत्' इति । अत्र सिचि वृद्धि

श्ट् हो । ष्ठिवु—ष्ठिवु, क्लमु और चम् धातुओंके 'अच्' को दीर्घ हो 'शित्' के परे । आङि—यहाँ 'आङ्' उपसर्गक 'चम्' धातुको दीर्घ हो ऐसा कहना चाहिये । अतो—'अत्' के समीपवर्ती जो ल्रान्त, तदन्त जो अङ्ग, तत्सम्बन्धी जो 'अत्' उसकी वृद्धि हो, परस्मैपद

ष्यत् ॥ स्सर उपगतौ । अस्सारीत् ॥ पा पाने । पा घ्रा-ध्मा स्था-म्ना-दाण्-दृश्य-र्ति-सर्ति-शद्-सदां पिब-जिघ्र धम तिष्ठ मन-यच्छ-पश्य-ऋच्छ-धौ-शीय-सीदाः ।७।३।७८। पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः । पिबति । आत औ णलः ७।१।३४। आदन्ताद्धातोर्णल औकारादेशः स्यात् । पपौ । आतो लोप इटि च ।६।४।६४। अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः । पपतुः । पपुः । पपिथ । पपाथ । पपथुः । पप । पपौ । पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् । एर्लिङि ।६।४।६७। घुसंज्ञानां मास्थागापाजहातिसां चैत एत्वमार्धधातुके किति लिङि । पेयात् । 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणं', तेन 'पा रक्षणे'

'नेटि' इत्यनेन बाधित्वा 'अतो हलादेः' इति प्राप्तां विकल्पवृद्धिं 'अतो ल्रान्तस्य' इत्यनेन प्राप्तं भाव वृद्धेः प्रतिबन्ध इति भाव । अग्रे अस्खलिष्यदित्यादि । स्सर गतौ । स्सरति, तस्सार, स्सरिता, स्सरिष्यति, स्सरतु, अस्सरत्, स्सरेत्, स्सर्यात्, अस्सारीत् । अत्र नित्या वृद्धिः 'अतो ल्रान्तस्य' इति सूत्रात् । अस्सरिष्यत् । पाघ्रेति । पा घ्रा ध्मा स्था म्ना दाण् दृशि अर्ति सर्ति शद् सद् एषां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीद एषां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । यथासङ्ख्यमादेशाः । 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' इत्यतः शितीत्यनुवर्तते । स चासौ इच्चेति कर्मधारयः । अङ्गाक्षिप्तप्रत्ययविशेषणत्वात् तदादिविधिमाह—इत्संज्ञकेति । पिबति । पाधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटस्तिबादेशे सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'पाघ्राध्मास्थाम्ना॰' इत्यादिना पास्थाने पिबादेशे, पिबादेशस्यादन्तत्वाद् गुणाभावे 'पिब अ ति' इति स्थिते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'पिबति' इति । पपौ । पाधातोर्लिटस्तिपि तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे

'शित्' के परे । पाघ्रा—इत्संज्ञक शकारादि प्रत्ययके परे 'पा' आदि धातुओंको यथाक्रमसे पिबादि आदेश हो । (अर्थात् पाको पिब, घ्राको जिघ्र, ध्माको धम, स्थाको तिष्ठ, म्नाको मन, दाण्को यच्छ, दृशको पश्य, ऋको ऋच्छ, सृको धौ, शदको शीय और सदको सीद आदेश हो) । आत औ—आदन्त धातुसे पर 'णल' को औकार आदेश हो ।

आतो—अजादि क्ङित् आर्धधातुक और 'इट्' के परे आकारका लोप हो ।

एर्लि—घुसंज्ञक धातु तथा मा माने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे, पा पाने, ओहाक् त्यागे, और षोऽन्तकर्मणि-धातुओंके आकारको एत् हो, आर्धधातुक कित्-लिङ् के परे ।

नोट—पृष्ठ ७३ 'दाधाघ्वदाप्' से विहित 'घुसंज्ञक' अर्थात् डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे, डुधाञ् धारणपोषणयो और धेट् पाने का तथा 'माङ्स्थादिसे माङ्

इत्यस्य नैत्वम्। 'गातिस्थे'ति सिचो लुक्। अपात्। अपाताम्। **आतः** ।३।४।११०। सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस्। **उस्यपदान्तात्** ।६।१।९६। अपदान्ता-दवर्णादुसि पररूपमेकादेशः। अपुः। अपास्यत। ग्लै म्लै हर्षक्षये। ग्लायति। **आदेच उपदेशेऽशिति** ।६।१।४५। उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वं, न तु शिति। जग्लौ। ग्लाता। ग्लास्यति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्। **वाऽन्यस्य संयोगादेः** ।६।४।६८। घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वा, आर्धधातुके किति लिङि। ग्लेयात्-ग्लायात्। **यमरमनमातां सक् च** ।७।२।७३। एषां सक्

'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससञ्ज्ञायां 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'प पा अ' इति जाते 'आत औ णलः' इति णल औत्वे वृद्धौ च सत्यां 'पपौ' इति। अपात्। पाधातोर्लुङस्तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि, 'गातिस्थाघुपा०' इति सिचो लोपे, तिप इकारलोपे अङ्गस्याडागमे च कृते 'अपात्' इति। आत इति। 'झेर्जुस्' इति सूत्र-मनुवर्तते। 'आतः सिज्लुगन्तादिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकात् सिज्लुकीति लभ्यते। 'सिजभ्यस्त' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्। तदाह—सिज्लुकीत्यादिना। अपुः। पाधातोर्लुङः स्थाने प्रथमपुरुषवचने आडागमे झटि, च्लौ, च्लेः सिचि, 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः' इति सिचो लोपे 'आतः' इति झेर्जुसि जस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपत्वे सस्य रुत्वे विसर्गत्वे च 'अपुः' इति रूपम्। जग्लौ। ग्लैधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलादेशे 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे सति 'ग्ला अ' इति जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्या-सत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासह्रस्वत्वे 'हलादिः शेषः' इति ललोपे 'कुहोश्चुः' इति गस्य जत्वे 'आत औ णलः' इत्यौत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च सत्यां 'जग्लौ' इति रूपम्। ग्लाता। ग्लैधातोर्लुटस्तिपि, तासि, तिपो डात्वे, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति ग्लैधातोरात्वे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'ग्लाता' इति रूपम्। ग्लेयात्, ग्लायात्। ग्लैधातोराशीर्लिङस्तिपि, तस्य 'लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकत्वे, शबभावे यासुटि, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते

माने, छा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे, पा पाने, ओहाक् त्यागे और षो अन्तकर्मणि—इन धातुओं का ही ग्रहण करना चाहिये।

आतः—'सिच्' का 'लुक्' होने पर आदन्त धातुसे पर ही 'झि' को 'जुस्' हो। उस्य-अपदान्त अवर्णसे पर 'उस्' के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो। आदेच—उपदेशमें एजन्त धातुको आत्व हो किन्तु 'शित्' के परे नहीं हो। वाऽन्य—घु-मा-स्थादि धातुओंसे भिन्न संयोगादि आदन्त धातुओंके आकारको विकल्पसे एत्व हो, आर्धधातुक कित् लिङ्के परे। यम—यम्, रम्, नम् और आदन्त धातुको 'सक्' हो तथा (इन्हीं परस्मैपदी)

स्यात्, एभ्य सिच इट्, परस्मैपदेषु। अग्लासीत्। अग्लास्यत्॥ एवं म्लाय तीत्यादि॥ धेट् पाने। धयति। दधौ। धाता। धास्यति। धयतु। अधयत्। धयेत्। दाधा घ्वदाप् ।१।१।२०। दारूपा, धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युर्दाप्दैपौ विना। धेयात्। विभाषा घेट्श्व्योः ।३।१।४९। आभ्यां च्लेश्चङ् वा। चङि

च' इति सलोपे 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वे 'ग्लेयात्' इति। पक्षे धात्वादेरत्वाभावे 'ग्लायात्' इति। अग्लासीत्। ग्लैधातोर्लुङस्तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इति गते, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यटि, 'अ ग्लै स् त्' इति जाते 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति ग्लैधातोरात्वे 'यमरमनमातां सक् च' इति अङ्गस्य स कागमे सिचः सकारस्य इडागमे च कृते 'अ ग्लास् इ स् ति' इति जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे तस्यापृक्तसञ्ज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'इट ईटि' इति सिचः सकारस्य लोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सलोपस्य सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अग्लासीत्' इति रूपम्। म्लै-हर्षक्षये इत्यस्य तु—म्लायति, मम्लौ इत्यादि। धयति इति। धेट्—पानेऽस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे 'धयति' इति रूपं सिध्यति। दधाविति। धेट् पाने लिटि णलि शित्परत्वात् 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति आत्वे धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञायाम्—'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चरत्वे 'आत औ णलः' इति अकारान्ताद्धातोः परस्मिन् विद्यमाने णलि औत्वादेशे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'दधौ' इति रूपं प्रसिध्यति। धयिता—धयिष्यति-धयतु—अधयत्—धयेत्। दाधाघ्वेति। देत्यनेन स्वाभाविकाकारान्तयोः 'डुदाञ्-दाने-दाण्—दाने' इत्यनयोः, कृतात्वयोः दो—अवखण्डने, देङ्-रक्षणे इति लाक्षणिकयोश्च ग्रहणम्। 'अदाप्' इति निषेधात्। धेत्यनेनापि डुधाञ् इति स्वाभाविकाकारान्तस्य लाक्षणिकस्य कृतात्वस्य 'धेट्' पाने इत्यस्य च ग्रहणं भवति। 'अदाप्' इति निषेधात्। इति डुधाञ् डुदाञ् इत्यनयोरेव घुसंज्ञा स्याच्चेद् 'अदाप्' इति दाप्दैपोर्निषेधकरणं व्यर्थमेव स्यात्। अतो दाप्दैपौ स्वाभाविकलाक्षणिकाकारान्तयोर्निषेधवलादेव स्वाभाविकलाक्षणिकाकारान्तयोः दारूपधारूपयो धात्वोः घुसंज्ञा भवतीति प्रतीयते। अत एव 'अदाप्' इति निषेधस्य सार्थक्यम्। धेयादिति। धेट् पाने धातो आशीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति धेट आत्वे धा+त् इति जाते 'यासुट् परस्मै' इति तिपो यासुडागमे दिशाद्यावयवे लिङ आर्धधातुकत्वाच्छपोऽप्राप्तौ 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञायाम् 'एर्लिङि' इति एत्वे च कृते 'धेयात्' इत्यस्य सिद्धिः। विभाषा घेट्श्व्योरिति।

इन से पर जो 'सिच्' उसको इडागम हो, परस्मैपदके परे। दाधा—'दा' रूप तथा 'धा' रूप धातुओंकी घुसंज्ञा हो, दाप्—दैप्—को छोड़कर। विभा—'धेट्' और 'श्वि' धातुओंसे पर 'च्लि' को 'चङ्' हो, विकल्पसे। चङि—'चङ्' पर अनभ्यास धातुके प्रथम एकाच्को द्वि

।६।१।११। अनभ्यासधातववयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेर्द्वितीयस्य । अदधत् । अदधताम् । अदधन् । **विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः ।२।४।७८।** एभ्यः सिचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे । अधात् । अधाताम् । अधुः । पक्षे इट्सकौ । अधासीत् । अधासिष्टाम् । अधासिषुः ॥ **धै** न्यक्करणे ।

च्लि लुङीत्यनुवर्तते । 'णिश्रि' इत्यतः कर्तरि चङीति चानुवर्तते । अदधदिति । धेट्-पाने धातोः 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति आत्वे लुङि तिपि अनुबन्धलोपे मध्ये च्लौ 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति च्लेश्चङि 'चङि' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति पूर्वस्याभ्याससंज्ञायाम् 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चस्य दत्वे 'लुङ्लङ्' इति अङ्गस्याडागमे 'अ+दधा+अ+त्' इति जाते 'आतो लोप इटि च' इति आकारलोपे परेण संयोगे सति 'अदधत्' इति रूपं जायते । अदधतामिति । धेट् धातोरात्वे लुङि तसि 'तस्थस्थमिपां तांतंतामः' इति तसस्तामादेशे च्लौ 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति वैकल्पिके चङि 'चङि' इति धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वेऽभ्यासस्य चर्त्वेन दत्वे 'आतो लोप इटि च' इति आलोपे च कृते 'अदधताम्' इति रूपं भवति । अग्रे अदधन् इत्यादि । चङभावे—विभाषा घ्राधेट् शाच्छास इति । 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते । 'गातिस्था' इत्यतः सिचः परस्मैपदेष्विति चानुवर्तते । अधादिति । धेट्धातोः 'आदेच' इति आत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इति सिचो वैभाषिके लोपे अङ्गस्य 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे 'अधात्' इति रूपम् । अधातामिति । धेट्धातोरात्वे लुङि तसि 'तस्थस्' इति तामादेशे च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशे 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इति वैकल्पिकसिचो लुकि 'लुङ्लङ्' इति अङ्गस्याडागमे च कृते अधाताम्, इति रूपमिति भावः । अधुरिति । धेटः 'आदेच' इत्यात्वे लुङि 'आतः' इति झेर्जुसि च्लौ च्लेः सिचि 'विभाषा घ्राधेट्' इति सिचो लोपेऽङ्गस्याडागमे 'अ धा+उस्' इति स्थिते लुङो ङित्वेन 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे च कृते परेण संयोगे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'अधुः' इत्यभीष्टं रूपं संपद्यते । अग्रे अधाः इत्यादि स्पष्टमेव । सिचो लुगभावपक्षे तु-अधासीदिति । 'अ धा+स्+त्' इत्यवस्थायाम् तिपोऽपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'यमरमनमातां सक्च' इति सिच इडागमे धातोः सकागमे च 'अ-धा-स्-इ-स्-ई-त्' इति जाते 'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे कृते अधासीत् इत्यस्य सिद्धिः फलति । अधासिष्टामिति । 'अ+धा+स्+ताम्' इति सिचो लुगभावपक्षे

अजादिके द्वितीय एकाच्को द्वित्व हो । विभाषा घ्रा—'घ्रा' धातु, धेट् धातु, शो धातु, छो धातु और षो धातुओंसे पर 'सिच्' का लुक् हो विकल्पसे, परस्मैपदके परे ।

नोट—इस सूत्रमें घ्रा–गन्धोपादाने, धेट्–पाने, शो–तनूकरणे, छो छेदने और षो–अन्त·

धायति ॥ द्रै स्वप्ने । द्रायति ॥ ध्रै तृप्तौ । ध्रायति ॥ ध्यै चिन्तायाम् । ध्यायति । दध्यौ । रै शब्दे । रायति ॥ स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः । स्त्यायति । षोपदेशत्वापि ष्टत्वे कृते रूपं तुल्यम्, षोपदेशफलं तु 'तिष्ट्यासती'त्यादौ भविष्य-

---

'यमरमनमातां सक्च' इति धातोः सकागमे सिच इडागमे च टित्वकित्वाभ्यामाद्यन्तावयवे अ+धा+स्+इ+स+ताम् इति जाते 'आदेश' इति षत्वे 'अधासिष्+ताम्' इति स्थिते 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे च कृते 'अधासिष्टाम्' इति रूपं प्रसिध्यति । अधासिषुरिति । धेट् धातोः 'आदेच' इति आत्वे लुङि झौ सेटसि च्लौ च्ले. सिचि सिचो लोपाभावपक्षे तस्यार्धधातुकत्वात् 'यमरमनमातां सक्च' इति सकि इटि चाऽनुस्वाराऽगमे अ+धा+स्+इ+स्+उस्' इति जातेऽपरसकारस्या देशप्रत्यययोरिति षत्वे 'अधासिष्+उस्' इति स्थिते परेण संयोगे सत्व कृते विसर्गे च कृते 'अधासिषुः' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे अधासी-अधासिष्टम्-अधासिष्ट-अधासिषम्-अधासिष्व-अधासिष्म । अग्रे अधास्यदित्यादि । धायतीति ॥ धै न्यक्करणे अस्माल्लटि तिपि शपि 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे च कृते 'धायति' इति रूपं संपन्नं भवति । अग्रे दधौ-धाता-धास्यति-धायतु-अधायत्-धायात्-अधासीत्-अधास्यदित्यादि ॥ 'द्रायति' इति । द्रै स्वप्नेऽस्माद्धातोः लटि तिपि शपि आयादेशे 'द्रायति' रूपम् । अग्रे दद्रौ-द्राता-द्रास्यति-द्रायतु-अद्रायत्-द्रायेत्-द्रेयात्-द्रायात् अद्रासीत्-अद्रास्यत् इति । ध्रायतीति । ध्रै तृप्तौ धातोर्लटि तिपि शपि आयादेशे ध्रायतीति रूपम् । अग्रे दध्रौ ध्राता ध्रास्यति ध्रायतु अध्रायत्-ध्रायेत्-ध्रेयात् ध्रायात् अध्रासीत्-अध्रास्यदित्यादि । ध्यायतीति ॥ ध्यै चिन्तायाम् अस्मात् लटि तिपि शपि आयादेशे रूपम् । अग्रे दध्यौ ध्याता ध्यास्यति ध्यायतु-अध्यायत्-ध्यायेत्-ध्येयात् ध्यायात् अध्यासीत् अध्यास्यत् । रायतीति । रै शब्देऽस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि आयादेशे रूपं भवति । अग्रे ररौ राता रास्यति-रायतु-अरायत्-रायेत्-रायात्-अरासीत्-अरास्यत् । स्त्यायतीति ॥ स्त्यै ष्ट्यै—अनयोर्धात्वोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि 'धात्वादेः षः सः' इति अपरधातो षस्य सत्वे ष्टुत्वस्य निवृत्तौ उभयोरपि आयादेशे स्त्यायति इति रूपं भवति । षत्वपाठफलं तु षत्वे तिष्ट्यासति इत्यादावितिः । तिष्ट्यासतीति ॥ ष्ट्यै धातोः इच्छायामर्थे सन्प्रत्यये स्त्यास् इति सन्नन्ताल्लटि तिपि शपि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'शर्पूर्वाः' इति सकारयकारनिवृत्तौ 'तास्त्यासति' इति स्थितेऽभ्यासह्रस्वे 'सन्यतः' इति इत्वे सकारस्य इणः परत्वादादेशसकारत्वाच्च षत्वे तिष्ट्यासतीति रूपम् । स्वाभाविकसकारादित्वे तु आदेशसकारादित्वाभावात् षत्वं न स्यादतः 'ष्ट्यै' इति मूर्धन्यपाठस्यावश्यकतेति भावः । खायतीति ॥ खै खदने

कर्मणि—इन धातुओंका अर्थ समझना चाहिये ।

ति ॥ खै खदने । खायति ॥ क्षै जै षै क्षये । क्षायति । जायति । सायति । 'घुमास्थे'त्यत्र, 'विभाषा घ्राधेट्' इत्यत्र च स्यतेरेव ग्रहणं, न स्यस्य, तेन एत्वसिज्लुकौ न । सायात् । असासीत् । कै गै शब्दे ॥ शै श्रै पाके । पै ओवै शोषणे ॥ पायात् । अपासीत् । 'घुमास्थे'तीत्वं, तदपवाद 'एर्लिङी'त्येत्वं, 'गातिस्थे'ति सिज्लुक् च न, 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमि'ति पारूपस्य लाक्षणिकत्वात् ॥ ष्टै वेष्टने । स्तायति ॥ ष्णै वेष्टने, शोभायां चेत्येके । स्नायति ॥ दैप् शोधने । दायति । घुत्वाभावादेत्वसिज्लुकौ न । दायात् । अदासीत् ॥ घ्रा गन्धोपादाने । जिघ्रति । घ्रायात्-घ्रेयात् । अघ्रासीत् । अघ्रास्यत् । ध्मा शब्दाग्निसंयो-

---

अस्माद्धातोः वर्तमाने लटि तिपि शप्यायादेशे प्रोक्तं रूपं भवति । अग्रे चखौ-खाता-खास्यति-खायतु-अखायत्-खायेत्-खायात्-अखासीत्-अखास्यत् । क्षायति-जायति-सायतीत्यादि ॥ क्षै जै षै क्षये एतेषां लटि तिपि शपि- रूपाणि । क्षायति-जायति-'धात्वादेः षः सः' इति सः सायतीत्यादि । अग्रे चक्षौ-जजौ-ससौ । क्षाता—जाता-साता । क्षास्यति-जास्यति-सास्यति । क्षायतु-जायतु-सायतु । अक्षायत्-अजायत्-असायत् । क्षायेत्-जायेत्-सायेत् । क्षेयात्-क्षायात्-जायात्-सायात् । अक्षासीत्-अजासीत्-असासीत् । अक्षास्यत्-अजास्यत्-असास्यत् । कै गै—शब्दे-कायति-गायति । चकौ-जगौ । काता-गाता । कास्यति-गास्यति । कायतु-गायतु । अकायत्-अगायत् । कायेत्-गायेत् । कायात्-गेयात् । अकासीत् अगासीत् । अकास्यत्-अगास्यत् । शै श्रै—पाके । शायति-श्रायति । शशौ-शश्रौ । शाता-श्राता । शास्यति-श्रास्यति । शायतु-श्रायतु । अशायत्-अश्रायत् । शायेत्-श्रायेत् । शायात्-श्रेयात्-श्रायात् । अशासीत्-अश्रासीत् । अशास्यत्-अश्रास्यत् । पै ओवै शोषणे । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वार्थम् ओदित्वम् । पायति-वायति । पपौ-ववौ । पाता-वाता । पास्यति-वास्यति । पायतु-वायतु । अपायत्-अवायत् । पायेत्-वायेत् । पायात्—अत्र पूर्वलिङि इत्येत्वं न पारूपस्य लाक्षणिकत्वात् । वायात् । ष्टै = वेष्टने । स्तायति । तस्तौ । स्ताता । स्तास्यति । स्तायतु । अस्तायत् । स्तायेत् । स्तेयात्-स्तायात् । अस्तासीत् । अस्तास्यत् । स्नायतीति । ष्णै शोभायामित्यस्माद् वर्तमाने लटि तिपि शपि आयादेशे उक्तरूपम् । सस्नौ । स्नाता । स्नास्यति । स्नायतु । अस्नायत् । स्नायेत् । स्नेयात् स्नायात् । अस्नासीत् । अस्नास्यत् । दायतीति । दैप् शोधने अस्माद्धातोः लटि तिपि शप्यायादेशे प्रसिद्धं रूपम् । दायति । ददौ-दाता-दास्यति-दायतु-अदायत्-दायेत्-दायात्-अघुत्वादेत्वं नेति भावः । अदासीत् । जिघ्रतीति । घ्रा गन्धोपादानेऽस्माद्धातोर्लटि जिघ्रति इति रूपम् । अग्रे-जघ्रौ-घ्राता-घ्रास्यति-जिघ्रतु-अजिघ्रत्-जिघ्रेत्-घ्रेयात्-घ्रायात् । अघ्रासीत् । घ्रा

गयोः धमति ॥ ष्ठा गतिनिवृत्तौ । तिष्ठति । 'स्थादिष्वि'ति षत्वम् । अधितष्ठौ । 'उपसर्गादि'ति षत्वम् । अधिष्ठाता । स्थेयात् । षत्वे कृते प्रकृतिरटवर्गः स्यात् ।

उक्तं च—'नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
सकारजः शकारश्च षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥'

'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अस्थात् । म्ना अभ्यासे । मनति ॥ दाण् दाने । प्रणियच्छति ॥ ह्वृ कौटिल्ये । ह्वरति । ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ।७।४।१०।

धातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इकारलोपे च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि 'विभाषा घ्राधेट्' इति सिचो विकल्पलोपेऽडागमे 'अघ्रात्' इति, सिज्लोपाभावे इट्सकयोः कृतयोः 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णदीर्घे 'अघ्रासीदि'ति द्वितीयं रूपं सिध्यति । धमतीति । ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः अस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि 'पाघ्राध्मा' इति धमादेशे च कृते धमति इत्युक्तं रूपं सिध्यति । दध्मौ-ध्माता-ध्मास्यति-धमतु-अधमत्-धमेत्-ध्मायात्-ध्मेयात्-अध्मासीत्-अध्मास्यत् । तिष्ठतीति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ अस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि 'धात्वादेः षः सः' इति षकारस्य सकारादेशे ष्टुत्वनिवृत्तौ 'पाघ्राध्मा' इति तिष्ठादेशे सति 'तिष्ठति' प्रोक्तं रूपं सिध्यति । तस्थौ-स्थाता-स्थास्यति-तिष्ठतु-अतिष्ठत्-तिष्ठेत्-स्थेयात् । अधितष्ठौ-अत्र 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे रूपम् । अधिष्ठाता—अत्र 'उपसर्गात्सुनोति' इति षत्वे ष्टुत्वे रूपम् । अस्थादिति । ष्ठा—धातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इकारलोपे च्लौ सिचि 'गातिस्था' इति सिचो लुकि अडागमे कृते 'अस्थात्' इति रूपम् । अस्थास्यत् । अत्र ष्ठा—इत्यस्य 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वे कृतेऽपि ष्टुत्वेन जातस्य ठकारस्य निवृत्तिः कथं स्यात् प्रमाणाभावादिति चेन्न । 'नकारजौ' इति प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् । श्लोकार्थस्तु—धातुषु मध्ये झलि परतः यौ नकाराज्जातौ अनुस्वारपञ्चमौ तथा च सकाराज्जातः शकारस्तथा च षकारात्परो विद्यमानः तवर्गाज्जातो टवर्गोऽपि मूलरूपतां लभते इत्यर्थः । तेन 'ष्ठा' इत्यत्र षकारात्परो तवर्गस्थकारो मूलरूपतां भजते ठकारस्य थकाराज्जायमानत्वादिति भावः । मनतीति । म्ना अभ्यासे अस्माद्धातो लटि तिपि शपि 'पाघ्राध्मा' इति मनादेशे 'मनति' इति रूपम् । मम्नौ-म्नाता-म्नास्यति-मनतु-अमनत्-मनेत्-म्नेयात्-म्नायात्-अम्नासीत्-अम्नास्यत् । प्रणियच्छतीति । प्रनि-पूर्वाद् दाण् दाने धातोर्लटि तिपि शपि 'पाघ्राध्मा' इति यच्छादेशे प्रणियच्छति

नकारजौ—धातुओंमें झल्‌के परे रहने पर जो अनुस्वार और वर्गका पञ्चम वर्ण है वे नकारस्थानिक हैं तथा झकारके परे रहने पर जो शकार है वह सकारस्थानिक है और षकारसे परे जो टवर्ग है वह तवर्गस्थानिक है । ऋतश्च—ऋदन्त संयोगादि अङ्गको गुण हो.

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो, लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार जह्वरतुः । जह्वरुः । जह्वर्थ । जह्वरथुः । जह्वर । जह्वार-जह्वर । जह्वरिव । जह्वरिम । ह्वर्ता ।
ऋद्धनोः स्ये ।७।२।७०। ऋतो, हन्तेश्च स्यस्य इट् । ह्वरिष्यति । ह्वरतु । अह्वरत् । ह्वरेत् । **गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः ।७।४।२९।** अर्तेः, संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणो यकि, यादावार्धधातुके लिङि च । ह्वर्यात् । अह्वार्षीत् । अह्वरिष्यत् ॥ स्वृ शब्दोपतापयोः । स्वरति । 'स्वरती'ति वेट् । सस्वरिथ-सस्वर्थ । वमयोस्तु स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात् 'श्र्युकः किती'ति निषेधे

इति जाते 'नेर्गदनद' इति नेर्णत्वे प्रसिद्धं रूपं सिध्यति । अग्रे ददौ-दाता-दास्यति-यच्छतु-अयच्छत्-यच्छेत् । देयात् । अदात् । अदास्यत् । इत्यादि । जह्वार । ह्वृधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे, 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अत्वे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'ह्वर् ह्वृ अ' इति स्थिते 'हलादिः शेषः' इति वस्य रस्य च लोपे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे, 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'जह्वृ अ' इति जाते 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणे, अकारे रपरे च जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ च सत्याम् 'जह्वार' इति रूपम् । एवमेव जह्वरतुः, जह्वरुः, इति बोध्यम् । गुणोऽर्तीति । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । 'रीङ् ऋतः' इत्यतः ऋत इत्यनुवर्तते । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इत्यतोऽसार्वधातुकग्रहणमनुवर्तते । आर्धधातुके इति लभ्यते । 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इत्यत्र यकि लिङीति च लभ्यते । 'अयङ् यि क्ङिति' इत्यतो यीति सप्तम्यन्तमनुवर्तते । आर्धधातुकविशेषणत्वात्तदादिविधिस्तदाह—अर्तेरिति । अह्वार्षीत् । ह्वृधातोर्लुङिस्तिपि, मध्ये च्लौ, तस्य सिचि, इति गते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अडागमे 'अ ह्वृ स् ति' इति जाते सिचः सकारस्य आर्धधातुकत्वे इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ कृतायाम् 'अह्वार्षीत्' इति रूपम् । स्वरतीति । स्वृ शब्दोपतापयोरस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि शपः शित्त्वेन 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'स्वरति' इत्यस्य सिद्धिः । सस्वार-सस्वरतुः-सस्वरुः । सस्वरिथेति । स्वृधातोर्लिटि सिपि थलि धातोर्लिटि पूर्वोऽभ्यासे हलादिः शेषे इडागमे गुणे च कृते 'सस्वरिथ' इत्यस्य सिद्धिः । अत्र 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति

लिट् के परे । ऋद्ध—'ऋदन्त' धातु तथा 'हन्' धातुसे पर 'स्य' को इट् हो । गुणो—'ऋ' धातु और संयोगादि 'ऋदन्त' जो धातु उसको गुण हो 'यक्' के परे तथा यादि आर्धधातुक

प्राप्ते, क्रादिनियमान्नित्यमिट्। सस्वरिव। सस्वरिम। परत्वादृद्धनोरिति नित्यमिट्' स्वरिष्यति। अस्वारीत्, अस्वार्षीत्। स्मृ चिन्तायाम्। स्मरति। ह्वृ संवरणे ह्वरति॥ सृ गतौ। क्रादित्वान्नेट्। ससार। ससर्थ। ससृव। ससृम। रिङ् शयग्लिङ्क्षु ।७।४।२८। शे, यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्यान्न दीर्घः। स्रियात्। असार्षीत्। असरिष्यत्। शीघ्रगतौ तु 'पाघ्रे'ति शिति धावादेशः। धावति॥ गृ घृ सेचने। गरति। घरति। ध्वृ हूर्च्छने। ध्वरति॥ दृशिर् प्रेक्षणे। पश्यति। ददर्श। ऋदुपधेभ्यो लिटः

विकल्पेनेडागमे प्राप्ते क्रादिनियमेन तस्य बाधे सति 'स्वरतिसूति' इति वैकल्पिक इडागमे सस्वरिव-सस्वर्व इत्युभयरूपसिद्धिः। सस्वरतुः, सस्वर, सस्वार-सस्वर। सस्वरिवेति। अत्र पूर्ववद्गुणोऽद्भिन्वादिकार्ये कृते 'स्वरति' इति विकल्पेडागमं क्रादिनियमेन बाधित्वा नित्यमिटि सति प्रोक्तरूपस्य सिद्धिः। तथैव 'सस्वरिम' अत्रापि नित्यमिडिति भावः। स्वरिता-स्वर्ता। स्वरिष्यतीति। अत्र 'स्वरतिसूति' इति विकल्पं बाधित्वा परत्वात्। 'ऋद्धनोः स्ये' इति स्ये परतः नित्यमिटि उक्तरूपं भवति। स्वरतु-अस्वरत्-स्वरेत्-स्वर्यात्-अस्वारीत्-अस्वार्षीत् अस्वरिष्यत्। स्मृ चिन्तायाम्। स्मरति सस्मार स्मर्ता स्मरिष्यति स्मरतु-अस्मरत्-स्मरेत्-स्मर्यात्-अस्मार्षीत्-अस्मरिष्यत्। ह्वृ संवरणे—ह्वरति। जह्वार। ह्वर्ता। ह्वरिष्यति। ह्वरतु। अह्वरत्। ह्वरेत्। ह्वर्यात्। अह्वार्षीत्। अह्वरिष्यत्। सृ गतौ। सरति। ससार—सस्रतुः, सस्रुः। थलि ससर्थ, अत्र क्रादिनियमान्नेडिति भावः। सस्रथुः। सस्र। ससार-ससर। ससृव। ससृम। सर्ता। सरिष्यति। सरतु। असरत्। सरेत्। रिङ्शयगिति। शे यकि यादावार्धधातुके लिङि परतः ऋकारान्तस्य रिङादेश इति तदर्थः। स्रियादिति। सृधातोराशीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे 'यासुट् परस्मै' इति यासुटि सलोपे 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशे स्रियादिति रूपं भवति। अत्र रिङादेशविधानसामर्थ्यान्न दीर्घ इति भावः। असार्षीत्। असरिष्यत्। शीघ्रगतौ वेति। सृ शीघ्रगतौ इति पाठे सति सृधातोर्लटि तिपि शपि 'पाघ्राध्मा' इति धावादेशे धावति इति रूपं भवतीत्यर्थः। तेन सार्वधातुके धावतु-अधावत्-धावेत् इति रूपाणि। गृ घृ सेचने। गरति-घरति। जगार-जघार। गर्ता-घर्ता। गरिष्यति घरिष्यति। गरतु घरतु। अगरत् अघरत्। गरेत्-घरेत्। ग्रियात्-घ्रियात्। अगार्षीत्-अघार्षीत्। अगरिष्यत्-अघरिष्यत्। ध्वृ-हूर्च्छने- ध्वरति। दध्वार-ध्वर्ता-ध्वरिष्यति-ध्वरतु-अध्वरत्-ध्वरेत्-ध्वर्यात्-अध्वार्षीत्-अध्वरिष्यत्। पश्यतीति। दृशिर् प्रेक्षणे 'इर इत्संज्ञा वाच्या' इति

'लिङ्' के परे रङ्—'ऋत' को 'रिङ्' आदेश हो, शकार और 'यक्' के परे तथा यकारादि आर्धधातुक 'लिङ्' के परे। ऋदुप—ऋदुपध धातुओंसे परे जो 'लिट्' वह गुणकी अपेक्षासे

क्वित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन । ददृशतुः । ददृशुः । **विभाषा सृजिदृशोः** ।७।२।६५। आभ्यां थल इड् वा । **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** ।६।१।५८। अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति । दद्रष्ठ-ददर्शिथ । द्रष्टा । **षढोः कः सि** ।८।२।४१। षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे परे । द्रक्ष्यति । दृश्यात् । इरित्वादङ् वा । **ऋदृशोऽङि गुणः** ।७।४।१६। ऋवर्णान्तानां, दृशेश्च गुणः स्यादङि । अदर्शत् । अङभावे । **न दृशः** ।३।१।४७। दृशश्च्लेर्वक्ष्यमाणः क्सो न । अद्राक्षीत् । अद्रक्ष्यत् ।

वार्तिकेनेर इत्संज्ञायां लोपे लटि तिपि शपि 'पाघ्रा' इति पश्यादेशे 'पश्यति' इति रूपम् । लिटि ददर्श । थलि तु क्रादिनियमान्नित्यमिटि प्राप्ते वचनमाह—विभाषेति । सृजि दृशोः परतो यस्थल् तस्येडागमो वेत्यर्थः । सृजिदृशोरिति । झलादावकिति परतः सृजिदृशोर्धात्वोः अमागमो भवतीति तदर्थः । दद्रष्ठेति । दृशिर्धातोरिरित्संज्ञायां 'परोक्षे लिट्' इति लिटि सिपि । थलि द्वित्वे, उरदत्वे 'विभाषा सृजिदृशोः' इति इडागमाभावे 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यमागमे मित्वादन्त्यादचः परे यणि 'दद + रश् + थ' इति 'दद्रश् + थ' इति जाते ततो 'व्रश्चभ्रस्ज' इति शः षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे च कृते 'दद्रष्ठ' इत्यस्य सिद्धिः । इडागमे सति तु 'ददृश + इ + थ' इति 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे 'ददर्शिथ' इत्यपि द्वितीयं रूपं साधु । अग्रे लिटि सर्वं सुकरम् । लुटि-द्रष्टा । लृटि द्रक्ष्यतीति । दृश् धातोर्लृटि तिपि 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यविकरणे 'व्रश्चभ्रस्ज' इति तालव्यशकारस्य मूर्धन्यत्वे 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यमागमे यणि 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्ययोः' इति स्यस्य सकारस्य षत्वे कषयोर्योगे क्षत्वे च कृते द्रक्ष्यतीत्यस्य साधुत्वं सुस्पष्टम् । अग्रे पश्यतु-अपश्यत्-पश्येत्-दृश्यादिति । अत्र 'क्ङिति च' इति लिङः कित्वादमागमो नेति भावः । ऋदृशोऽङि गुण इति । ऋधातोः दृशिर् धातोश्च अङि परतः गुणः स्यात् इति सूत्रार्थः । अदर्शत् । दृशिधातोरिरि इत्संज्ञायां लुङि तिपि 'इतश्च' इति इलोपे च्लौ 'इरितो वा' इति च्लेर्वैभाषिकेऽङादेशे ङित्वेन गुणाप्राप्तौ 'ऋदृशोऽङि गुणः' इति गुणेऽडागमाटि कृते 'अदर्शत्' इति सिद्धिं गच्छति । अङोऽभावे 'अदृश्-च्लि-त्' इत्यवस्थायां 'शल इगुपधा' इति क्सादेशे प्राप्ते 'न दृशः' इति । दृश् धातोः प्राप्तो यः क्सादेशः स न भवतीति प्रकृतसूत्रार्थः । अतः क्सादेशाभावे सति व्रश्चभ्रस्ज इति शः षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्ययोः' इति सस्य षत्वे उभयोर्योगेन क्षत्वे 'वदव्रज' इति वृद्धौ तिपः 'अस्तिसिचो' इति ईडागमे कृते अद्रा-

---

या पूर्वविप्रतिषेध से 'कित्' ही हो । विभाषा—'सृज्' तथा 'दृश्' धातुसे पर 'थल्' को इट् हो, विकल्पसे । सृजि—'सृज्' धातु और 'दृश्' धातुको 'अम्' का आगम हो, झलादि किद्भिन्न प्रत्ययके परे । षढोः—षकार, ढकारको ककार आदेश हो, सकारके परे । ऋदृ—ऋवर्णान्त धातु और दृश् धातुको गुण हो, 'अङ्' के परे । न दृशः—दृश् धातुसे पर 'च्लि' के वक्ष्य

श्रु श्रवणे । श्रुवः शृ च ।३।१।७४। श्रुवः 'शृ' आदेशः श्नुप्रत्ययश्च, कर्तरि सार्वधातुके । शृणोति । सार्वधातुकमपित् ।१।२।४। अपित्सार्वधातुकं ङिद्वत्स्यात् । शृणुतः । हुश्नुवोः सार्वधातुके ।६।४।८७। जुहोतेः, श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्यासंयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके । शृण्वन्ति । शृणोषि । शृणुथः । शृणुथ । शृणोमि । लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ।६।४।१०७। असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो वा, म्वोः परयोः । शृण्वः — शृणुवः । शृण्मः — शृणुमः । शुश्राव शुश्रव । शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । शृणोतु शृणुतात् । शृणुताम् । शृण्वन्तु । उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ।६।४।१०६। असंयोगपूर्वात्प्रत्ययोतो हेर्लुक् । शृणु शृणुतात् । शृणुतम् । शृणुत । गुणावादेशौ । शृणवानि । शृणवाव । शृणवाम । अशृणोत् । अशृणुताम् । अशृण्वन् । अशृणोः । अशृणुतम् ।

णीत्' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे अङ्गस्येत्यादि । लोपश्चेति । 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' इति पूर्वसूत्रोक्त उकार अस्यपदेन परामृश्यते । प्रत्ययशब्द' प्रत्ययसम्बन्धिनि वर्तते । असंयोगपूर्वात् प्रत्ययादिति च उकारेऽन्वेति । स च अङ्गस्य विशेषणम् । तदन्तविधिस्तदाह—असंयोगेति । शृण्वः, शृणुवः । श्रुधातोर्लटो वसि, 'श्रुवः शृ च' इति श्रुवः शृ आदेशे तद्विषये श्नुप्रत्यये च कृते शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च शित्वात् सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकमपित्' इति श्नोर्ङित्वे 'क्ङिति च' इति गुणाभावे णत्वे च कृते 'शृ णु वस्' इति जाते 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' इति वा उकारलोपे, रुत्वे विसर्गे च 'शृण्वः' इति रूपम् । लोपाभावपक्षे 'शृणुवः' इति । एवमेव मसि ज्ञेयम् । शुश्राव । श्रुधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति आदिहल्शेषे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'शुश्राव' इति रूपम् । शृणवानि । श्रुधातोर्लोट उत्तमपुरुषैकवचने मिपि 'मेर्निः' इति मेः स्थाने नि आदेशे जाते 'श्रुवः शृ च' इति श्नुप्रत्यये शृ आदेशे च कृते अनुबन्धलोपे 'शृ नु नि' इति भूते अत्र 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति नेः आडागमे टित्वादाद्यावयवत्वे 'सार्वधातुकार्धं' इति गुणे अवादेशे 'शृणवानि'

मात्र 'यण्' आदेश नहीं हो । श्रुवः—'श्रु' धातुको 'शृ' आदेश हो तथा तत्सन्नियोगेन 'श्नु' प्रत्यय भी हो, कर्तृवाचक सार्वधातुकके परे । सार्व—'अपित्' सार्वधातुक ङित्वत् हो ।

हुश्नु—'हु' धातु तथा श्नुप्रत्ययान्त जो अनेकाच् 'अङ्ग' तदवयव जो असंयोगपूर्वक उवर्ण, उसको 'यण्' हो, अजादि सार्वधातुकके परे ।

लोपश्चा—असंयोगपूर्वक प्रत्ययके उकारका लोप हो, मकार और वकारके परे विकल्पसे । उतश्च—असंयोगपूर्वक प्रत्ययसम्बन्धी उकारसे पर, 'हि' का लुक् हो ।

अशृणुत । अशृण्वम् । अशृण्व-अशृणुव । अशृण्म-अशृणुम । शृणुयात् । शृणुयाताम् । उस्यपदान्तात् ।६।१।९६। अपदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः स्यात् । शृणुयुः । शृणुयाः । शृणुयातम् । शृणुयात । शृणुयाम् । शृणुयाव । शृणुयाम । श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत । गम्लृ सृप्लृ गतौ । इषुगमियमां छः ।७।३।७७। शिति । गच्छति । जगाम । गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ।६।४।९८।

इति । अशृण्व, अशृणुव । श्रुधातोर्लङो वसि, 'श्रुवः शृ च' इति आदेशे श्नुप्रत्यये च कृते, शलोपे अटि णत्वे 'नित्यं ङितः' इति सलोपे 'अ शृणु व' इति जाते 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' इत्युकारलोपे 'अशृण्व' इति, उकारलोपाभावे 'अशृणुव' इति बोध्यम् । एवं मसि-अशृण्म, अशृणुम इति । शृणुयात् । श्रुधातोर्लिङस्तिपि, 'श्रुवः शृ च' इति आदेशे श्नुप्रत्यये च कृते शलोपे णत्वे 'यासुट्परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि, उटि गते 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे च कृते 'शृणुयात्' इति रूपम् । उस्यपदान्तात् । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । 'आद्गुणः' इत्यस्मादादित्यनुवर्तते । 'एङि पररूपम्' इत्यस्मात्पररूपमिति । तदाह—अपदान्तादिति । उसीति । उसि यः अप उकारः तस्मिन् परत इत्यर्थः । श्रूयात् । श्रुधातोराशिषि लिङि, लिङस्तिपि, यासुटि, उटि गते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घे 'श्रूयात्' इति रूपम् । अश्रौषीत् । श्रुधातोः 'लुङ्' इति लुङि, 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना लुङस्तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, अडागमे 'अश्रुस् ति' इति जाते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे, अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, सिचः सकारस्य आर्धधातुकत्वादिटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इत्यनेन इटो निषेधे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'अश्रौषीत्' इति रूपम् । गच्छति । गम् धातोर्लटि तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारस्य पकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च शित्त्वात्सार्वधातुकत्वे 'गम् अ ति' इति स्थिते, 'इषुगमियमां छः' इति सर्वस्य गमः छादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति अन्त्यस्य मकारस्य स्थाने जाते 'गछति' इति भूते 'छे च' इति तुगागमे, कित्वादन्त्यावयवे जाते उकि गते, 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे 'गच्छति' इति रूपम् । जगाम । गम्धातोः लिटि तिपि, 'परस्मैपदानां

उस्य—अपदान्त अवर्ण से पर 'उस्' के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो ।
इषु – इष्, गम् और यम् धातुओंको छकारान्त आदेश हो, शित्प्रत्ययके परे ।
गमहनजनखन—गमादि धातुओंकी उपधाका लोप हो, अजादि कित्-ङित् प्रत्ययके

एषामुपधाया लोपः स्यादजादौ क्ङिति, न त्वङि। जग्मतुः। जग्मुः। जगमिथ जगन्थ। जग्मथुः। जग्म। जगाम-जगम। जग्मिव। जग्मिम। गन्ता। **गमेरिट् परस्मैपदेषु** ।७।२।५८। गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्। **पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु** ।३।१।५५। श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेॢदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत्। अगमिष्यत्। सर्पति। **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** ।६।१।५९। उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याम्वा झलादावकिति। स्रप्ता-सर्प्ता। स्रप्स्यति-

---

णलतुसुस्थल' इत्यादिना तिप स्थाने णलादेशे, 'चुटू' इति णकारस्येत्संज्ञायां 'हलन्त्यम्' इति लकारस्य चेत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति उभयोर्लोपे 'गम् अ' इति जाते 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासस्य हलादिशेषे 'ग गम् अ' इति भूते 'कुहोश्चुः' इति गकारस्य जत्वे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'जगाम' इति रूपम्। गन्ता। गम्धातोर्लुटस्तिपि, 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डादेशे डस्येत्संज्ञायां लोपे च, डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'गम् ता' इति जाते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति मस्यानुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे च कृते 'गन्ता' इति रूपम्। गच्छतु। गम्धातोर्लोटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति छादेशे 'छे च' इति तुगागमे उकि गते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे 'एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे 'गच्छतु' इति रूपम्। गच्छेत्। गम्धातोर्लिङस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति छादेशे 'छे च' इति तुकि, उकि गते, श्चुत्वे, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि, उटि गते 'अतो येयः' इति यास इयादेशे 'गच्छ इय् ति' इति जाते 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे 'गच्छेत्' इति रूपम्। सर्पतीति। सृप्लृ गतौ इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे कृते 'सर्पति' इत्यस्य सिद्धिः। ससर्प। अनुदात्तस्येति। अत्र 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यतः अम् इति अकिति इति चानुवर्तते 'उपदेशेऽजनु' इत्यतः उपदेश इति चानुवर्तते अत आह—उपदेश इति। स्रप्तेति। सृप्धातोरनुदात्तात् लुटि तिपि 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि 'लुट प्रथमस्य' इति डादेशे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे

परे। किन्तु 'अङ्' के परे नहीं हो। गमे—'गम्' धातुसे पर सादि आर्धधातुकको इट्का आगम हो, परस्मैपदके परे। पुषा—श्यन्विकरण पुषादि, द्युतादि तथा लृदित धातुओंसे पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो, परस्मैपदके परे। अनुदात्त—उपदेशावस्थामें जो

सर्प्स्यति । असृपत् । ञिक्ष्विदा अव्यक्ते शब्दे । क्ष्वेदति ॥ यभ मैथुने । यभति । येभिथ । यब्ध । यब्धा । झषस्तथोर्धोऽधः ।८।२।४०। झषः परयोस्तथयोर्धः स्यान्न तु दधातेः । ययब्ध । यब्धा । णम प्रह्वत्वे, शब्दे च । नेमिथ—ननन्थ । नन्ता । नंस्यति । अनंसीत । अनंसिषाताम् ॥ त्यज हानौ । त्यजति । तत्याज । तत्यजिथ—तत्यक्थ । त्यक्ता । अत्याक्षीत् । अत्याक्ताम् । अत्यक्ष्यत् । अक्षू व्याप्तौ । अक्षोऽन्यतरस्याम् ।३।१।७५। श्नुः स्याद्वा कर्तरि सार्वधातुके । पक्षे शप् । अक्ष्णोति । अक्षति । आनक्ष । आनक्षतुः । आनक्षुः । आनक्षिथ-आनष्ठ ।

'अनुदात्तस्य' इति वैभाषिकेऽमागमे यणि 'स्रप्ता' इति रूपं सिध्यति । यदाऽमागमो न स्यात्तदा 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे सति सर्प्ता इति द्वैतीयीकं रूपं सिध्यति । अग्रे स्रप्स्यति-सर्प्स्यति । सर्पतु । असर्पत् । सर्पेत् । सृप्यात् । असृपदिति । सृप्धातोः लुङि तिपि 'इतश्च' इति इलोपे च्लौ 'पुषादिद्युतादि' इति लृदित्वादङि ङित्वेन गुणाभावेऽङ्गस्याडागमे कृते 'असृपत्' इत्यस्य सिद्धिः फलम् । अग्रे असप्स्यत्-असर्प्स्यत् । क्ष्वेदतीति । ञिक्ष्विदा = अव्यक्ते शब्दे । अस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि 'पुगन्त' इति गुणे क्ष्वेदति इति सिद्धिमृच्छति । चिक्ष्वेद-क्ष्वेदिता-क्ष्वेदिष्यति-क्ष्वेदतु-अक्ष्वेदत्-क्ष्वेदेत्-क्ष्विद्यात्-अक्ष्विदत्-अक्ष्वेदिष्यत् । यभतीति । यभ-मैथुनेऽस्माद्धातोः लटि तिपि शपि रूपमेतत् । अग्रे ययब्ध-यब्धा-यप्स्यति-यभतु-अयभत्-यभेत्-यभ्यात्-अयाप्सीत्-अयप्स्यत् । णम-प्रह्वत्वे शब्दे च । नमति । ननाम-नेमतुः-नेमुः । नेमिथेति । णमधातोः 'णो नः' इति नत्वे लिटि सिपि थलि द्वित्वे भारद्वाजमते नेटि एत्वेऽभ्यासलोपे सति एकं रूपम् । यदेडागमो न तदा एत्वाभ्यासलोपावपि न थल इडभावात् । 'ननम् + थ' इत्यवस्थायां मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'ननन्थ' इति रूपं द्वैतीयीकम् । अग्रे नन्ता-नंस्यति-नमेतु-अनमत्-नमेत्-नम्यात्-अनंसीत्-अनंस्यत् । त्यज-हानौ-त्यजति-तत्याज-त्यक्ता-त्यक्ष्यति-त्यजतु-अत्यजत्-त्यजेत्-त्यज्यात्-अत्याक्षीत्-अत्यक्ष्यत् । अक्षोऽन्यतरस्यामिति । श्नुरिति अनुवर्तते । तथा च अक्षधातोः श्नुर्वा स्याच्छब्विषये इति तदर्थः । अक्ष्णोतीति । अक्षू-व्याप्तौ अस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि 'अक्षोऽन्यतरस्याम्' इति शपं बाधित्वा पूर्वं श्नौ तिपः सार्वधातुकत्वेन गुणे णत्वे अक्ष्णोति इति सिद्ध्यति । शपि तु अक्षति इत्येव साधु । आनक्षेति । लिटि तिपि णलि द्वित्वे 'अत आदेः' इत्यभ्यासस्य दीर्घः 'तस्मान्नुड्द्विहलः' इति नुटि द्वित्वादाथावयवे 'आनक्ष् अ' इति जाते परेण संयोगे रूपसिद्धिः । आनक्षतुः । 'आनक्षुः—भारद्वाजमते नेटि सति आनक्षिथ, तदभावे च आनक्ष् + थ इति स्थितौ संयो-

---

अनुदात्त ऋदुपध धातु, उसको 'अम्' का आगम हो, झलादि अकित्में परे । झषः—'झष्' से परे 'त' 'थ' को 'ध' हो—'दधाति' को छोड़कर । अक्षो—'अक्ष' धातुसे 'श्नु' प्रत्यय हो,

आक्षिता-अष्टा। अक्षिष्यति। 'स्कोः' इति कलोपः। षढोः कः सि ।८।२।४१। अक्ष्यति। अक्ष्णोतु। अक्ष्णुहि। अक्ष्णवानि। आक्ष्णोत्। आक्ष्णवम्-अक्ष्णुयात्। अक्ष्णुयाताम्। अक्ष्णुयुः। अक्ष्यात्। आक्षीत्। आक्षिष्टाम्। आष्टाम्। आक्षिषुः। तक्षू त्वक्षू तनूकरणे। तनूकरणे तक्षः ।३।१।७६। श्नुर्वा स्याद् विषये। तक्ष्णोति, तक्षति वा काष्ठम्। ततक्ष। ततक्षिथ ततष्ठ। अतक्षीत्। अतक्षिष्टाम्। अताक्षीत्। अताष्टाम्। तनूकरणे किम्? वाग्भिः सन्तक्षति। भर्त्सयतीत्यर्थः॥ रक्ष पालने। रक्षति॥ णिक्ष चुम्बने। प्रणिक्षति॥ वक्ष रोषे। संघाते इत्येके। वक्षति। मृक्ष संघाते। मक्ष इत्येके॥ तक्ष त्वचने। त्वचनं-संवरणम्, त्वचो ग्रहणं च। पक्ष परिग्रहे इत्येके॥ सूर्क्ष आदरे। सूर्क्षति। सुसूर्क्ष॥ काक्षि वाक्षि माक्षि काङ्क्षायाम्। द्राक्षि ध्राक्षि ध्वाक्षि घोरवाशिते च। चूष पाने। तूष तुष्टौ। पूष वृद्धौ। मूष स्तेये। लूष

शान्तलोपे ष्टुत्वे च कृते आनष्ट इत्यस्य सिद्धिः। आनक्षथुः-आनक्ष-आनक्ष-आनक्षिव आनक्षिम। अक्षितेति। अक्षूधातोर्लुटि तिपि डादेशे तासि डित्वाट्टिलोपे 'स्वरतिसूति' इति वलादेरार्धधातुकस्य विकल्पेन इडागमे सति 'अक्षिता' इति रूपम्। तदभावे च संयोगान्तलोपे कुत्वे 'अष्टा' इति द्वितीयं रूपं सिध्यति। अग्रे अक्षिष्यति-अक्ष्यति। अक्ष्णोतु-अक्षतु। आक्ष्णोत्-आक्षत्। अक्ष्णुयात्-अक्षेत्-अक्ष्यात्-आक्षीत्। आक्षिष्यत्-आक्ष्यत्। तनूकरणे तक्ष इति। तनूकरणार्थे वर्तमानो यस्तक्षधातुस्तस्मात् श्नुर्वा स्यादित्यर्थः। तक्ष्णोतीति। तक्षधातोर्लटि तिपि 'तनूकरणे तक्षः' इति विकल्पेन श्नुप्रत्यये 'तक्ष्-नु-ति' इति स्थिते गुणे णत्वे च कृते जाते 'तक्ष्णोति' इत्यस्य सिद्धिः। श्नोरभावे शपि तक्षति इति रूपम्। ततक्ष। तष्टा-तक्षिता। तक्षिष्यति-तक्ष्यति। तक्ष्णोतु-तक्षतु। अतक्ष्णोत्-अतक्षत्। तक्ष्णुयात्, तक्षेत्। तक्ष्यात्। अतक्षीत्-अताक्षीत्। वाग्भिः सन्तक्षति। अत्र तनूकरणार्थाभावेन न तक्षधातोः श्नुप्रत्ययः। रक्ष-पालने रक्षति-ररक्ष-रक्षिता-रक्षिष्यति। रक्षतु। अरक्षत्। रक्षेत्। रक्ष्यात्। अरक्षीत्। अरक्षिष्यत्। प्रणिक्षति। णिक्ष=चुम्बनेऽस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि 'प्र-निक्षति' इति जाते 'उपसर्गादसमासेऽपि' इति णत्वे 'प्रणिक्षति' इति रूपं भवति। अग्रे सुकरम्। वक्ष=रोषे, वक्षति। मृक्ष-संघाते, मृक्षति। मक्ष=इत्येके। मक्षति। तक्ष=त्वचने-तक्षति। पक्ष—परिग्रहे-पक्षति। सूर्क्ष=आदरे-सूर्क्षति। सुसूर्क्ष इत्यादि। काक्षि-वाक्षि-माक्षि=काङ्क्षायाम्, काङ्क्षति-वाङ्क्षति-माङ्क्षति। द्राक्षि-ध्राक्षि-ध्वाक्षि-घोरवाशिते काङ्क्षायां चेत्यर्थः। द्राङ्क्षति-ध्राङ्क्षति-ध्वाङ्क्षति। चूष=पाने-चूषति। तूष=तुष्टौ तूषति। पूष=वृद्धौ-पूषति। मूष=स्तेये-मूषति।

स्कोः'—संयोगादि सकार-ककारका लोप हो, झल् परे या पदान्तमें। षढोः'—षकार-ढकारको ककार हो, सकारके परे। तनू—'श्नु' प्रत्यय तनूकरण (सूक्ष्म) अर्थमें 'श्नु' प्रत्यय हो, 'तक्ष्' से विकल्पसे।

रूप भूषायाम्। शूप प्रसवे। यूप हिंसायाम्। जूप च॥ भूप अलङ्कारे। जि जये। जयति। सन्लिटोर्जेः।७।३।५७। सन्लिण्निमित्तादभ्यासात्परस्य जेः कुत्वम्। जिगाय। जिग्यतुः। जिगयिथ—जिगेथ। जीव प्राणधारणे। जीवति। पीव मीव तीव णीव स्थौल्ये। पीवति। पिपीव॥ मुर्वी बन्धने। उपधायां च।८।२।७८। धातोरुपधाभूतयो रेफवकारयोर्हल्परयोः परत इको दीर्घः स्यात्। मूर्वति॥ पूर्व पर्व मर्व पूरणे। पूर्वति। पर्वति। मर्वति। चर्व अदने। चर्वति। कप खप शिप जप क्षप शप वप मप रुप रिप हिंसायाम्। शेपति। शिशेप। शेप्टा। शल इगुपधादनिटः क्सः।३।१।४५। इगुपधो यः शलन्तस्तस्मादनिटश्च्लेः क्सादेशः। अशिक्षत्। तीषसहलुभरुषरिषः।७।२।४९। इच्छ-

---

लृङ्-रूप = भूषायाम्। रूपति-रूपति। शूप = प्रसवे-शूपति। यूप = हिंसायाम् यूपति। जूप = हिंसायामेवेत्यर्थः। जूपति। भूप = अलङ्कारे भूपति। जि = जये-जयति। 'सन्लिटोर्जेः'। अभ्यासादिति अनुवर्तते। जिगायेति। जिधातोर्लिटि तिपि णलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे जिजि+अ' इति जाते 'अचोञ्णिति' इति वृद्धौ आयादेशे 'जिजाय' इति जाते 'सन्लिटोर्जेः' इत्यभ्यासात्परस्य जकारस्य कुत्वेन गत्वे च कृते 'जिगाय' इत्यस्य सिद्धिः। जिग्यतुः-जिग्युः। जिगयिथ-जिग्यथुः-जिग्य-जिगाय-जिगय। जिग्यिव, जिग्यिम। जेता, जेष्यति। जयतु-अजयत्। जयेत्, जीयात्, अजैषीत्। अजेष्यत्। जीव = प्राणधारणे। जीवति। जिजीव। जीविता। जीविष्यति। जीवतु-अजीवत्-जीवेत्-जीव्यात्-अजीवीत्-अजीविष्यत्। पीव-मीव-तीव-णीव = स्थौल्ये—पीवति। मीवति। तीवति। नीवति। पिपीव। मिमीव। तितीव। निनीवेत्यादि। उपधायां चेति। धातोरित्यधिकाराद्धातोरिति। लभ्यते। हल्परयोरेफवकारयोरित्यनुवर्तते। इक् इत्यनुवर्तते दीर्घ इति च। मूर्वति इति। मुर्व धातोः लटि तिपि शपि 'उपधायां च' इति उकारस्य दीर्घे कृते 'मूर्वति' इत्यस्य सिद्धिः। मुमूर्वेत्यादि। पुर्व-पर्व-मर्व=पूरणे, पूर्वति। पर्वति। मर्वति। पुपूर्व-पपर्व-ममर्वेत्यादि। चर्व = अदने-चर्वति-चचर्वेत्यादि। कप्-खप्-शिप्-जप्-क्षप्-शप्-वप्-मप्-रुप्-रिप्-हिंसार्थाः। कपति-खपति-शेपति-जपति-क्षपति-शपति-वपति-मपति-रुपति-रिपति इत्यादि। शिशेप-शेप्टा-शेप्स्यति-शेपतु-अशेपत्-शेपेत्-शिप्यात्। शल इगुपधेति। च्लेरित्यनुवर्तते शल इति पञ्चमी। च्लेरिति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। अशिक्षदिति। शिप् धातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इति इलोपे च्लौ 'शल

सन्लि—'सन्' और 'लिट्' निमित्तक अभ्याससे पर 'जि' धातु को कुत्व हो। उप—धातुका उपधाभूत हल्परक 'रेफ' और 'वकार' के परे 'इक्' को दीर्घ हो। शल—इगुपध शलन्त धातुसे पर अनिट् 'च्लि' को 'क्स' आदेश हो। तीष—इषादिसे पर तादि आर्ध-

स्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा। रोषिता–रोष्टा। रेषिता–रेष्टा। भष भर्त्सने। भषति। पुष पुष्टौ। पोषिता। अनुदात्तेषु 'पुष्य' इति श्यना निर्देशादयमुदात्तः। अङ्विधौ दैवादिकस्य ग्रहणान्नाङ्। अपोषीत्। श्रिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे। श्रेषति। श्लेषति। प्रोषति। प्लोषति।

इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथात्मनेपदम्।

एध वृद्धौ। **टित आत्मनेपदानां टेरे** ।३।४।७९। टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम्। एधते। **आतो ङितः** ।७।२।८१। अतः परस्य ङितामात इय् स्यात्। एधेते। एधन्ते। **थासः से** ।३।४।८०। टितो लस्य थासः से स्यात्। एधसे।

इगुपधात्' इति क्सादेशे कलोपे 'षढोः कः सि' इति पूर्वषकारस्य कत्वे 'आदेशप्रत्ययोः' इति सकारस्य षत्वे कषयोर्योगेन क्षत्वे अडागमे सति अशिक्षत् इति सिद्धम्। अग्रे अरोक्षत्। तीषसहेति। तीति सप्तमी त् इत्यस्याप्यत्र तत्रविवक्षितत्वात् तथाविधि-विरम एव आह—तादेरिति। इडवेति अनुवर्त्यते। रोषितेति। रुष=हिंसायाम् अस्माद्धातोर्लुटि तिपि तासि डादेशे टिलोपे 'तीषसह' इति इड्विकल्पेनेटि 'पुगन्त' इति गुणे 'रोषिता' इति रूपम्। इडभावे तु ष्टुत्वे कृते 'रोष्टा' इत्यपि साधु। भष=भर्त्सने। भषति। पुष=पुष्टौ—पोषति। पुपोषेत्यादि। श्रिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु-दाहे। श्रेषति। श्लेषति। प्रोषति। प्लोषति। शिश्रेष शिश्लेष पुप्रोष-पुप्लोषेत्यादिकम्। इति परस्मैपदिनः।

एध वृद्धाविति। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड्भावविकाराः। तत्र चतुर्थावस्था वृद्धिः—उपचयः। एधते। एधधातौ अकार उच्चारणार्थः, तस्मिन् गते 'वर्तमाने लट्' इति लटि, टकारस्य 'हलन्त्यम्' इतीत्संज्ञायां लोपे लकारोत्तरवर्तिनः अकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'एध् ल्' इति भूते अत्र 'तिप् तस् झि॰' इत्यादिना सर्वे आदेशाः प्राप्ताः। तत्र 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इति एधधातोरनुदात्तेत्त्वात् 'तङानावात्मनेपदम्' इति त आतां झ इत्येतेषामात्मनेपदत्वात् तेषां प्राप्तिर्जाता। तत्र प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तङ्प्रत्यये 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वात् 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपश्शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'एध् अ त' इति जाते 'अचोऽन्त्यादि टि' इति तकारोत्तरवर्तिन अकारस्य टिसंज्ञायां 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टिसंज्ञकस्यैत्वे 'एधते' इति रूपम्।

धातुक को 'इट्' का आगम हो, विकल्पसे।

टित आत्मनेपदानां टेरे—'टित्' लकार सम्बन्धी आत्मनेपद के 'टि' को एत्व हो। आतो ङितः—'अत्' से पर 'ङित्' सम्बन्धी आकारको 'इय्' आदेश हो। थासः से—टित् लकारसम्बन्धी

एधेथे । एधध्वे । एधे । एधावहे । एधामहे । **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । ३ । १ । ३६ ।** इजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् लिटि । **आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६३ ।** आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात्कृञोऽप्यात्मनेपदं स्यात् । **लिटस्तझयोरेशिरेच् । ३ । ४ । ८१ ।** लिडादेशयोस्तझयोरेश् इरेच् एतौ स्तः । एकारोच्चारणं ज्ञापकं—'तङादेशानां टेरेत्वं ने'ति । तेन डारौरसो न । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चक्राते । एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे । एधाञ्चक्राथे । **इणः षीध्वं-लुङ्लिटां धोऽङ्गात् । ८ । ३ । ७८ ।** इणन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः । एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चकृवहे । एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास ।

आम्प्रत्ययवदिति तृतीयान्ताद्वतिः । अनुप्रयुज्यत इत्यनुप्रयोगः । कर्मणि घञ् । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । तदाह—आम्प्रकृत्येत्यादिना । एधाञ्चक्रे । एध् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि, 'आमः' इति लिटो लोपे, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञनुप्रयोगे 'एध् आम् कृ लिट्' इति जाते, लिटः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तादेशे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तकारस्य स्थाने एशादेशे कृते शलोपे च जाते 'एध् आम् कृ ए' इति स्थिते अत्र 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे प्राप्ते तं परत्वाद् बाधित्वा 'इको यणचि' इति प्राप्ते तस्य 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यनेन निषेधे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'एध् आम् कृ कृ ए' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे 'एध् आम् कर् कृ ए' इति भूते 'हलादिः शेषः' इति कअवशिष्टे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते, परन्तु 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति लिटः कित्त्वात् 'ग्क्ङिति च' इति निषेधे जाते, 'इको यण-चि' इति यणि, सर्वस्मिन् संयुक्ते कृते एधाम् इत्येवद्गतस्य मस्य 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति नित्ये परसवर्णे प्राप्ते 'वा पदान्तस्य' इति वा परसवर्णे 'एधाञ्चक्रे' इति रूपम् । एधाञ्चकृढ्वे । एध्धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि'

'थास्' के स्थानमें 'से' आदेश हो ।

इजा—ऋच्छ धातुसे भिन्न इजादि और गुरुमान् जो धातु उससे 'आम्' प्रत्यय हो, 'लिट्' के परे ।

आम्प्र—आम्प्रकृतिके तुल्य अनुप्रयुज्यमान 'कृञ्' धातु से भी आत्मनेपद हो ।

लिटस्तझयोरेशिरेच्—लिडादेश 'त' और 'झ' के स्थानमें (यथाक्रमसे) 'एश्' और 'इरेच्' आदेश हो । इणः—इणन्त अङ्गसे पर षीध्वं और लुङ्, लिट्-सम्बन्धी

अनुप्रयोगसामर्थ्यादस्तेर्भूभावो न, अन्यथा हि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' इति, 'कृभ्वस्ति' वा ब्रूयात्। एधिता। एधितारौ। एधितारः। एधितासे। एधितासाथे। धि च ८।२।२५। धादौ प्रत्यये सलोपः स्यात्। एधिताध्वे। ह एति ।७।४।५२। तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे। एधिताहे। एधितास्वहे। एधितास्महे। एधिष्यते।

इति लिट्परके कृञि अनुप्रयुक्ते, लिटो लस्य स्थाने मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि आदेशे जाते, 'एध् आम् ध्वम्' इति स्थिते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति कृञो द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इति ऋवर्णस्याकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे कर् इति जाते 'हलादिः शेषः' इति ककारावशिष्टे 'कुहोश्चुः' इति ककारस्य चकारे 'इण्षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्' इति धस्य ढत्वे मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति ध्वमोऽम्भागस्य एत्वे 'एधाञ्चकृढ्वे' इति रूपम्। एवमेव भू धातोः लिटि, 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि, 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यत्र कृञ प्रत्याहारः। तेन कृ भू अस् इत्येषां ग्रहणम्। अत्र लिट्परके भूधातौ अनुप्रयुक्ते सति 'एधाम् भू लिट्' इति जाते लिट इटि गते, ल स्थाने च भूधातो परस्मैपदत्वात् प्रथमपुरुषैकवचने तिबादेशे, तिप स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्' इत्यादिना णलि, अनुबन्धलोपे 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुगागमे, वकि गते, क्रियासन्तानाद्यर्थे जाते, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति भुवो द्वित्वे 'एधाम् भूव् भूव् अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति भू अवशिष्टे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः' इति भुव उकारस्य अत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बकारे 'एधाम् बभूव' इति जाते मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'एधाम्बभूव' इति। धि चेति। 'सः स्यार्धधातुके' इत्यतः स इत्यनुवर्तते। 'तासस्त्योर्लोपः' इत्यतो लोप इति। 'अल्विधिसप्तम्यो धीत्यनेन विशेष्यते। तदादिविधिः। तदाह—धादाविति। एधिताध्वे। एध् धातोर्लुटि, टिः गते, ल स्थाने मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि कृते, तासि, तस्य आर्धधातुकत्वे, इडागमे च जाते 'एधितास् ध्वम्' इति स्थिते 'धि च' इति सलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति ध्वमोऽम्भागस्य एत्वे 'एधिताध्वे' इति रूपम्। ह एतीति। ह इति प्रथमान्तम्। अकार उच्चारणार्थः। 'सः स्यार्धधातुके' इत्यतः स इति 'तासस्त्योर्लोपः' इत्यतः तासस्त्योरिति चानुवर्तते। तदाह—तासस्त्योरिति। एधिताहे। एध् धातोर्लुटि उत्तमपुरुषैकवचने इटि, तासि, इडागमे 'एधितास् इ' इति स्थिते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति इट इकारस्य एत्वे 'ह एति' इति सस्य हत्वे 'एधिताहे' इति रूपम्। एवं वहौ, महिङि

धकार से ढकार आदेश हो। धि च—धादि प्रत्ययके परे सकारका लोप हो। ह एति—'तास'

एधिष्येते । एधिष्यन्ते । एधिष्यसे । एधिष्येथे । एधिष्यध्वे । एधिष्ये । एधिष्यावहे । एधिष्यामहे । **आमेतः ।३।४।९०।** लोट एत आम् । एधताम् । एधेताम् । एधन्ताम् । **सवाभ्यां वामौ ।३।४।९१।** सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद्वाऽमौ स्तः । एधस्व । एधेथाम् । एधध्वम् । **एत ऐ ।३।४।९३।** लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । आमोऽपवादः । एधै । एधावहै । एधामहै । **आटश्च ।** ऐधत । ऐधेताम् । ऐधन्त । ऐधथाः ।

च परे साधनिका ज्ञेया । एधिष्यते । एध्धातोः 'लृट् शेषे च' इति लृटि, अनुबन्धलोपे प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इत्येत्वे 'एधिष्यते' इति रूपम् । आमेतः । आम् एतः इति पदच्छेदः । 'लोटो लङ्वत्' इत्यतो लोट इत्यनुवर्तते, तदाह—लोट एत इति । एधताम् । एध्धातोः, 'लोट् च' इति लोटि, ओकारस्य टस्य चेत्संज्ञायां लोपे च जाते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे कृते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तस्य सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपयोरित्सञ्ज्ञकत्वे लोपे च, शित्वाच्छस्यापि सार्वधातुकत्वे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति तकाराकारस्यैत्वे 'एधते' इति जाते 'आमेतः' इति एकारस्यामादेशे 'एधताम्' इति रूपम् । सवाभ्यां वामाविति । सश्च वश्च सवौ ताभ्यामिति विग्रहः । अकारावुच्चारणार्थौ । वश्च अम् च वामौ 'लोटो लङ्वत्' इत्यस्मात् लोट इति, 'आमेतः' इत्यस्मादेत इति चानुवर्तते । तदाह—सवाभ्यां परस्येति । एधस्व । एध्धातोर्लोटो मध्यमपुरुषैकवचने थास्यागते शपि, अनुबन्धलोपे 'थासः से' इति थासः सेत्वे 'एधसे' इति जाते 'सवाभ्यां वामौ' इति सकारात्परस्यैकारस्य वादेशे 'एधस्व' इति रूपम् । एत ऐ । ऐ इति लुप्तप्रथमाकम् । 'लोटो लङ्वत्' इत्यस्माल्लोट इति 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्यस्मादुत्तमस्येति चानुवर्तते । तदाह—लोडुत्तमस्येति । एधै । एध् धातोः 'लोट् च' इति लोटि, ओटि गते लः स्थाने उत्तमपुरुषैकवचने इटि समागते, टस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारस्य पकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'एध् अ इ' इति जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति इट इकारस्य एत्वे, एकारस्य 'एत ऐ' इति ऐत्वे, 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति उत्तमपुरुषस्य एइत्यस्य आडागमे टित्त्वादाद्यावयवे जाते, 'एध आ ऐ' इति स्थिते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'एध ऐ' इति भूते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'एधै' इति रूपम् । ऐधत । एध्धातोः 'अनद्यतने लङ्' इति लङि ङकाराकार-

---

और 'अस्ति' के सकारको हकार आदेश हो 'एत' के परे । आमे—लोट् लकार सम्बन्धी एकारको 'आम्' आदेश हो । सवा—सकार और वकारसे पर लोट् सम्बन्धी एकार को (यथाक्रमसे), 'व' और 'अम्' आदेश हो । एत ऐ—लोट् लकारके [illegible] उत्तम पुरुषके

ऐधेथाम् । ऐधध्वम् । ऐधे । ऐधावहि । ऐधामहि । लिङः सीयुट् ।३।४।१०२। (लिङः सलोपोऽनन्त्यस्येति) सलोपः । लोपो व्योर्वलि ।६।१।६६। एधेत । एधेयाताम् । झस्य रन् ।३।४।१०५। लिङो झस्य रन् । एधेरन् । एधेथाः । एधेयाथाम् । एधेध्वम् ॥ इटोऽत् ।३।४।१०६। लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात् । एधेय । एधेवहि । एधेमहि । सुट् तिथोः ।३।४।१०७। लिङस्तथोः सुट् स्यात् । यलोपः । एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् । एधिषीध्वम् । एधिषीय । एधिषीवहि । एधिषीमहि । ऐधिष्ट । एधिषाताम् । आत्मने

योरित्संज्ञायां लोपे च, ल स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना तादेशे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि शपयोरित्संज्ञायां लोपे च 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे 'आ एध् अ त' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ, मिलित्वा 'ऐधत' इति रूपम् । एधेत । एधधातोः 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' इति लिङि, इङि गते, ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे कृते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च 'एध् अ त' इति जाते 'लिङः सीयुट्' इति तकारस्य सीयुडागमे, उटि गते टित्वादाद्यवयवे, 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एधेत' इति रूपम् । झस्य रनिति । 'लिङः सीयुट्' इत्यतो लिङ इत्यनुवर्तते । तदाह—लिङो झस्येति । लिङादेशस्य झस्येत्यर्थः । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । इटोऽत् । इट्, अत इति छेदः । 'लिङ सीयुट्' इत्यतो लिङ इत्यनुवर्तते । तदाह—लिङादेशस्येति । सुट्तिथोः । लिङस्सीयुट्' इत्यतो लिङ इत्यनुवर्तते । तिश्च थ् चेति द्वन्द्वात् षष्ठीद्विवचनम् । इकार उच्चारणार्थः । तदाह—लिङस्तथोरिति । एधिषीष्ट । एध् धातोः 'आशिषि, लिङ्लोटौ' इत्याशिषि, लिङि इङि गते ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते जाते 'लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकत्वे, 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते, टित्वादाद्यवयवे 'एध् सीय् त' इति जाते 'सुट् तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे, उटि गते टित्वादाद्यवयवे यकारस्य 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे, तकारस्य ष्टुत्वे 'एधिषीष्ट' इति रूपम् । ऐधिष्ट । एधधातोः 'लुङ्' इति लुङि, उङि गते, ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते, तस्य सार्वधातुकत्वे, शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'च्लि-

---

एकारको ऐकार आदेश हो । लिङ—लिङादेशको सीयुट्का आगम हो, आत्मनेपदमें । लोपो—यकार और वकारका लोप हो 'वल्' के परे । झस्य—लिङ् लकार-सम्बन्धी 'झ' को 'रन्' आदेश हो । इटोऽत्—लिङादेश 'इट्' के स्थानमें 'अत्' आदेश हो । सुट्—'लिङ्' लकार-संबन्धी तकार-थकारको 'सुट्' का आगम हो । आत्मने—वनकारसे पर आत्मने

ऽऽत्मनेपदेष्वनतः ।७।१।५। अनकारात्परस्याऽऽत्मनेपदेषु झस्य अत् स्यात् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः । ऐधिषाथाम् । ऐधिढ्वम् । ऐधिषि । ऐधिष्वहि । ऐधिष्महि । ऐधिष्यत । ऐधिष्येताम् । ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः । ऐधिष्येथाम् । ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये । ऐधिष्यावहि । ऐधिष्यामहि । **कमु कान्तौ । कमेर्णिङ्** ।३।१।३०। स्वार्थे । कामयते । **अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु** ।६।४।५५। एषु णेरय् आदेशः ।

लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, 'एध् स् त' इति स्थिते 'आर्धधातुकं शेषः' इति सिच आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे, तकारस्य 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे, 'आडजादीनाम्' इत्यङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐधिष्ट' इति । रूपम् । आत्मनेपदेष्वनत इति । 'झोन्तः' इत्यतो झ इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । आत्मनेपदेष्विति षष्ठ्यर्थे सप्तमी । आत्मनेपदावयवस्य झकारस्येति लभ्यते । 'अदभ्यस्तात्' इत्यतः अदिस्यनुवर्तते । न अत् अनत् तस्मादिति विग्रहः । तदाह—अनकारादित्यादिना । ऐधिषत । एध्धातोर्लुङः प्रथमपुरुषबहुवचने झे समागते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, सिचः सस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्य अत् आदेशे 'आडजादीनाम्' इत्यङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सिचः सस्य षत्वे मिलित्वा 'ऐधिषत' इति रूपम् । ऐधिढ्वम् । एध्धातोर्लुङो मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि कृते, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, इडागमे, 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ, 'ऐधि स् ध्वम्' इति जाते 'धि च' इति सलोपे 'इणः षीध्वं लुङ्लिटाम्' इति ध्वमो धकारस्य ढत्वे 'ऐधिढ्वम्' इति रूपम् । ऐधिष्यत । एध्धातोः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङ्, अनुबन्धलोपः, ङः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये सस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'आडजादीनाम्' इति आडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐधिष्यत' इति रूपम् । कमु कान्ताविति । कान्तिरिच्छा, 'स्वर्गकामः' इत्यादौ कमेरिच्छायां प्रयोगबाहुल्यदर्शनात् । 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः । कमेर्णिङ् । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे-स्वार्थ इति । अर्थविशेषानिर्देशादिति भावः । कामयते । उकारस्येत्सञ्ज्ञकत्व-

---

पदसम्बन्धी 'झ' को 'अत्' आदेश हो । कमेर्णि—'कम्' धातुसे 'णिङ्' प्रत्यय हो, स्वार्थ में । अया—'आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णुके परे 'णि' को अय आदेश हो ।

नोटः—आम्-'कारयामास' । अन्त-'गण्डयन्तो मण्डयन्तः (तृभूवहि० इस उणादिसूत्र से 'झच्' और 'झोन्तः' से अन्तादेश) । आलु—'स्पृहयालुः' ('स्पृहिगृहिपति०' इस सूत्रसे

कामयाञ्चक्रे । 'अयादय' इति वा णिङ् । चकमे । चकमाते । चकमिरे । चकमिषे । चकमाथे । चकमिध्वे । चकमे । चकमिवहे । चकमिमहे । कामयिता । कमिता ।

धातो 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसञ्ज्ञायां लटि अनुबन्धलोपे 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्तर्येव अनुदात्तङित 'आत्मनेपदम्' इति कामिधातो ङित्वात् आत्मनेपदस्य प्राप्तौ 'तङानावात्मनेपदम्' इति तङ आत्मनेपदसञ्ज्ञत्वात् लस्थाने सर्वस्मिन् प्राप्ते प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'कामि त' इति स्थिते, तत्र तकारस्य 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि शपयोरित्सञ्ज्ञायां लोपे च शित्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'कामयते' इति रूपम् । अथान्यदपि । अय् इति स्थिते । 'णेरनिटि' इत्यतो णेरित्यनुवर्तते । तदादेः णेरयादेशः स्यादिति । कामयाञ्चक्रे । कम धातो 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धित्वे 'कामि' इति भूते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'परोक्षे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इत्यामि, 'णेरनिटि' इति लोपे प्राप्ते तमबाधित्वा 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' इति णिङ इकारस्य अयादेशे 'कामय आम् लिट्' इति जाते 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञोऽनुप्रयोगे कृते, लिटो लस्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे कृते, तस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि कृते शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति कृञो द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासस्थऋवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे च कृते 'कामयाम् कर् कृ ए' इति भूते 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'कुहोश्चुः' इति ककारस्य चत्वे 'इको यणचि' इति यणि, मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'कामयाञ्चक्रे' इति रूपम् । चकमे 'आयादय आर्धधातुके वा' इति आयादेशाभावपक्षे कम्धातो 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, इटि गते, ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, तस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि, अनकारस्यास्यादेशे शस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'कम् कम् ए' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति मकारलोपे 'कुहोश्चुः' इति ककारस्य चत्वे मिलित्वा 'चकमे' इति रूपम् । कामयिता । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसञ्ज्ञायां 'ण्वुल्तृचौ'

'जागृच्') । आढ्य—'स्वदाढ्य' ('सुदधिमनिभ्य इत्थ आढ्य' इस उणादि सूत्र से 'आढ्य') । इत्नु—'स्तनयित्नु' ('स्तनिहृषिपुषि०' इस उणादि सूत्र से 'इत्नुच्') इष्णु—'पारयिष्णु' ('णिश्छन्दसि' से 'इष्णुच्')—इस प्रकार उदाहरण समझना चाहिये ।

कामयिष्यते। कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयेत। कामयिषीष्ट। कमि-

---

लुट्' इति लुटि, उटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासि, तासः 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे, 'काम् इ इ तास् त' इति स्थिते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तस्य स्थाने डात्वे, डस्येत्संज्ञायां लोपे च, 'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः' इति टिसंज्ञकस्य तासः आस् इत्येतस्य लोपे 'कामयिता' इति रूपम्। कामयिष्यते। कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते, णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते, तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'लृट् शेषे च' इति लृटि, लृटो लः स्थाने तादेशे, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, स्यस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कामीत्यस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'कामयि स्य त' इति जाते, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'कामयिष्यते' इति रूपम्। अग्रे रूपाणि—कामयिष्येते, कामयिष्यन्ते। कामयिष्यसे, कामयिष्येथे, कामयिष्यध्वे। कामयिष्ये, कामयिष्यावहे, कामयिष्यामहे। कामयताम्। कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि, णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'लोट् च' इति लोटि, ओटि, गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, तस्य 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि शपयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते अकारेऽवशिष्टे, तस्य शित्त्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कमेरिकारस्य गुण, 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे, 'कामयत' इति जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टिसंज्ञकस्य तकाराकारस्य एत्वे 'आमेतः' इति एकारस्यामि, 'कामयताम्' इति रूपम्। अकामयत। कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि, गते, णगते च 'अत उपधायाः' इति कमेरुपधायाः वृद्धौ, 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति कामेर्धातुत्वे 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, इङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते, शित्वात् शपोऽकारस्य सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कमेरिकारस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'कामयत' इति जाते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यङ्गस्याडागमे 'अकामयत' इति रूपम्। कामयेत। कम् धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'विधिनिमन्त्रणे'ति लिङि, इङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, तस्य 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्व-

षीष्ट । णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ।३।१।४८। ण्यन्तात् , श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् कर्त्रर्थे लुङि । अ कामि अ त इति स्थिते—णेरनिटि ।६।४।५१। अनिडादावार्ध-

---

धातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपपोरित्संज्ञायां लोपे च, शित्त्वात्तस्यापि सार्व-धातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कामेरिकारस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'कामय त' इति जाते 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते 'टित्त्वादा-द्यावयवे जाते 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इत्यनेन सलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे, 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'कामयेत' इति सिद्धम् । कामयिषीष्ट । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति नित्ये णिङि प्राप्ते, 'आयादय आर्धधातुके वा' इति वा णिङि, ङि गते, णलोपे च 'अत उपधायाः' इति कम उपधाया वृद्धौ, 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति कामेर्धातुत्वे, तस्मात् 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि, इङि गते, ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'लिङाशिषि' इति तस्यार्धधातुकसंज्ञायां 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटि गते, टित्त्वादाद्यावयवे 'कामि सीय् त' इति जाते, यदागमन्यायेन आगमस्य–सीयुटः सीयविशिष्टस्य आर्धधातुकत्वेन 'आर्धधातुकस्ये-ड्वलादेः' इति इडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे—'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सुटः सस्य षत्वे तकारस्य ष्टुत्वे 'कामयिषीष्ट' इति । कमिषीष्ट । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति णिङभावे कम्-धातो 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि, लिङो ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, 'आर्धधातुकं शेषः' इति आर्धधातुकत्वे, 'लिङः सीयुट्' इति लिङः स्थानिकतस्य सीयुटि, उटि गते, यदागमन्यायेन सीयुट आर्धधातुकत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे, 'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'कम् इ सी स् त' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति उभयत्र सकारयोः षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति तस्य ष्टुत्वे 'कमिषीष्ट' इति रूपम् । णिश्रिद्रुस्रुभ्य इति । णि श्रि द्रु स्रु एषां द्वन्द्वः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया णीति तदन्तग्रहणम् । 'च्लि लुङि' इत्यतो लुङीति, 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति चानुवर्तते । तदाह—ण्यन्तादित्यादिना । णेरनिटीति । अनग्लोप इति च्छेदः । चङ् परो यस्मात् इति विग्रहः । तेन णेरपस्य लाभः । स च अङ्गस्येति द्वयमप्यनुवर्तते । तत्र णावित्यावृत्तौ एकं चङ्युनौ इत्यत्रान्वेति । तथा च चङ्परे णौ यदङ्गं तस्मिन्परत इति लभ्यते । द्वितीयं तु अनग्लोपे इत्यत्रान्वेति । तथा च णौ परतः यः अग्लोपः, तदभावे सतीति लभ्यते । अङ्गस्येत्यावृत्तौ एकं उपधायाः इत्यत्रान्वेति । निमित्तनिमित्तिभावे षष्ठी । तथा च अङ्गसंज्ञानिमित्तभूते

णिश्रि—ण्यन्त धातु तथा 'श्रि–द्रु–स्रु' धातुओं से पर 'च्लि' को 'चङ्' आदेश हो, कर्तृ-

धातुके परे णेर्लोपः । **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ।७।४।१।** चङ्परे णौ यदङ्गं, तस्योपधाया ह्रस्वः चङि । **सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ।७।४।९३।** चङ्परे णौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपेऽसति । **सन्यतः ।७।४।७९।** अभ्यासस्यातः इत्सनि । **दीर्घो लघोः ।७।४।९४।** लघोरभ्यासस्य दीर्घः, सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिङभावपक्षे—(कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः) चेरभावान्न दीर्घसन्वद्भावौ । अचकमत । अकामयिष्यत । अकमिष्यत ॥ **भाम** क्रोधे । भामते । बभामे । **क्षमूष्** सहने । क्षमते । चक्षमे । चक्षमिषे—

चङ्परके वर्णे परे इति लभ्यते । चङ्परकश्च वर्णः अर्थात् णेरिकार एवेति भावः । अचीकमत । कम् धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, ङकारे गते, णलोपे च 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे, 'लुङ्' इति लुङि ङकारे गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि चस्य ङस्य चेत्संज्ञायां लोपे च कृते 'काम् इ अ त' इति जाते 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे जाते 'काम् अ त' इति भूते 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति प्रत्ययलक्षणेन णेश्चङ्परत्वादुपधाया ह्रस्वत्वे 'कम् अ त' इति जाते 'चङि' इति कमो द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति मलोपे 'क-कम् अ त' इति भूते 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे कृते 'सन्यतः' इत्यभ्यासाकारस्य इत्वे 'चि कम् अ त' इति जाते 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासेकारस्य 'चि' इत्यस्य दीर्घे कृते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यङ्गस्य अडागमे टित्वादाद्यावयवे जाते 'अचीकमत' इति रूपम् । एवमेवाग्रेऽपि साधनिका ऊह्या । रूपाणि त्वित्थम्—अचीकमत, अचीकमेताम्, अचीकमन्त । अचीकमथाः, अचीकमेथाम्, अचीकमध्वम् । अचीकमे, अचीकमावहि, अचीकमामहि । अचकमत । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति णिङभावे रूपम् । भाम-क्रोधे धातोः वर्तमाने लटि तङि टेरेत्वे शपि 'भामते' इति भवति । लिटि भामधातोर्द्वित्वे पूर्वस्याऽभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे 'बभामे' इति रूपम् । लुङादिषु तु भामिता-भामिष्यते-भामताम्-अभामत-भामेत-भामिषीष्ट-अभामिष्ट -अभामिष्यत-इत्यादि । क्षमत इति । क्षमूष्-सहने इत्यर्थकाद्धातोर्लटि तङि टेरेत्वे

र्थक 'लुङ्' के परे । णेर—अनिडादि आर्धधातुकके परे 'णि' का लोप हो । णौ—'चङ्' परक जो 'णि' तत्परक जो 'अङ्ग' उसकी उपधाको ह्रस्व हो । सन्व—'चङ्' परक जो 'णि' तत्परक जो 'अङ्ग' तदवयव जो लघुपरक अभ्यास उसको सन्वद्भाव हो—'णि' के परे यदि 'अक्' का लोप नहीं हुआ हो तो । सन्य—अभ्यास-सम्बन्धी 'अत' को 'इत्व' हो, 'सन्' के परे । दीर्घो—अभ्यासावयव लघुको दीर्घ हो, सन्वद्भावके विषयमें । कमेः—'कम्' धातुसम्बन्धी

चक्षमे । चक्षमाथे । चक्षमिवहे । म्वोश्च ।८।२।६५। मान्तस्य धातोर्मस्य नः स्यात् म्वोः परयोः । चक्षण्वहे । चक्षमिमहे । चक्षण्महे ॥ गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च । गाधते ॥ बाधृ लोडने । लोडनं—प्रतिघातः । बाधते । नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याऽऽशीःषु । (आशिषि नाथ इति वाच्यम्) अस्याऽऽशिष्येवात्मनेपदं स्यात् । नाथते । अन्यत्र—नाथति । नाधते ॥ दध धारणे । दधते ॥ स्कुदि आ-

---

शपि क्षमते इति रूपम् । क्षमते इति ॥ क्षमूष् धातोर्लिटि तङि 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशादेशे धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वेऽभ्यासचर्त्वे 'चक्षम् ए' योगे सयोगे लक्ष्यभीष्टं रूपं सिध्यति । अग्रे चक्षमाते—चक्षमिरे । चक्षमिषे इति । क्षमूष् धातोर्लिटि थासि 'थासः से' इति से आदेशे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे चर्त्वे । 'स्वरतिसूति' इति ऊदित्त्वाद् वैकल्पिके इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे सति 'चक्षमिषे' इति रूपं सिद्धं भवति । असति इडागमे 'चक्षम्+से' इति स्थितौ नस्यानुस्वारे कृते 'चक्षंसे' इत्यपि साधु विशिष्टम् । अग्रे चक्षमाथे, चक्षमिध्वे—चक्षन्ध्वे । चक्षमे—चक्षमिवहे—चक्षमिमहे । अत्र सति इडागमे एते रूपे भवतः ।·असति इडागमे । म्वोश्चेति । मो नो धातोरित्यनुवर्तते तदाह—मान्तस्येति । 'चक्षम्–वहे–चक्षम्–महे' इति स्थितौ चक्षण्महे इत्युभयरूपसिद्धिः । लुडादिषु—क्षमिता–क्षन्ता । क्षमिष्यते–क्षंस्यते । क्षमताम् । अक्षमत । क्षमेत । क्षमिषीष्ट–क्षंसीष्ट । अक्षमिष्ट–अक्षंस्त । अक्षमिष्यत—-अक्षंस्यत । गाधत इति । गाधृ–प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे चास्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तङि टेरेत्वे शपि सति 'गाधते' इत्यस्य सिद्धिः सुस्पष्टा । अग्रे जगाधे–गाधिता–गाधिष्यते । गाधताम् । अगाधत । गाधेत । गाधिषीष्ट । अगाधिष्ट । अगाधिष्यत । बाधत इति । बाधृ–लोडनेऽस्माद्धातोर्लटि तङि शपि टेरेत्वे च कृते 'बाधते' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे—बबाधे । बाधिता । बाधिष्यते । बाधताम् । अबाधत । बाधेत । बाधिषीष्ट–अबाधिष्ट–अबाधिष्यत । नाथति इति । नाथृ–याच्ञोपतापैश्वर्येषु–एष्वेवार्थेषु सत्सु नाथधातोः परस्मैपदमन्यत्राशीरर्थे । आत्मनेपदं भवति । अतो लटि तिपि शपि नाथति, इति रूपं भवति । आशीरर्थे तु 'आशिषि नाथ इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन आत्मनेपदे लटि शपि नाथते इति रूपं भवति । अग्रे रूपाणि नाथति–ननाथ–नाथिता–नाथिष्यति–नाथतु–अनाथत्–नाथेत्–नाथ्यात्–अनाथीत्–अनाथिष्यत् । आशीरर्थे तु–नाथते–ननाथे–नाथिता–नाथिष्यते–नाथताम् अनाथत–नाथेत नाथिषीष्ट–अनाथिष्ट अनाथिष्यत । नाधते इति । नाधृ–याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु । अस्माद्धातोः

'थिक्' को 'चङ्' हो—ऐसा कहना चाहिये । म्वोश्च—मान्तधातुके मकारको नकार आदेश हो, मकार और वकारके परे । आशि–'नाथ' धातुसे 'आशिष्' अर्थमें ही आत्मनेपद हो ।

प्रवणे। आप्रवणम्—उत्प्लवनमुद्धरणं च। स्कुन्दते। चुस्कुन्दे॥ श्विदि श्वैत्ये। श्विन्दते। शिश्विन्दे॥ वदि अभिवादनस्तुत्योः। वन्दते। ववन्दे॥ भदि कल्याणे सुखे च। भन्दते। बभन्दे॥ मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। मन्दते। ममन्दे॥ स्पदि किंचिच्चलने। स्पन्दते। स्पन्देते। पस्पन्दे॥ मुद हर्षे। मोदते।

लटि तङि शपि टेरेत्वे च कृते प्रसिद्धं रूपं सिध्यति। अग्रे ननाधे-नाधिता-नाधिष्यते-नाधताम्-अनाधत-नाधेत-नाधिषीष्ट-अनाधिष्ट-अनाधिष्यत। दधत इति। दध-धारणेऽस्माद्धातोर्लटि तङि शपि टेरेत्वे च विहिते प्रोक्तं 'दधते' इति रूपं सिध्यति। अग्रे ददधे-दधिता-दधिष्यते-दधताम्-अदधत-दधेत-दधिषीष्ट-अदधिष्ट-अदधिष्यत। स्कुन्दत इति। स्कुदि—आप्रवणेऽस्माद्धातोर्लटि तङि शपि इदित्वात् 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमि मित्त्वादन्त्यादचः परे अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'स्कुन्दते' इत्यस्य साधुत्वम्। चुस्कुन्दे इति। स्कुदि—आप्रवणेऽस्मान्नुमि लिटि तङि धातोः 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञायां 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति चकारे 'लिटस्तझयोः' इति एशादेशे च कृते 'चुस्कुन्दे' इत्यस्य सिद्धिः फलितेति भावः। अग्रे स्कुन्दिता—स्कुन्दिष्यते-स्कुन्दताम्-अस्कुन्दत। स्कुन्देत। स्कुन्दिषीष्ट-अस्कुन्दिष्ट-अस्कुन्दिष्यत। श्विन्दत इति। श्विदि-श्वैत्येऽस्मादिदित्वान्नुमि लटि तङि शपि टेरेत्वे च कृते 'श्विन्दते' इत्यस्य सिद्धिः। शिश्विन्दे इति। श्विदि धातोरिदित्वान्नुमि लिटि तिङि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति वलोपे 'लिटस्तझयोः' इति एशादेशे च कृते 'शिश्विन्दे' इति रूपं भवति। अग्रे। श्विन्दिता-श्विन्दिष्यते-श्विन्दताम्-अश्विन्दत-श्विन्देत-श्विन्दिषीष्ट-अश्विन्दिष्ट-अश्विन्दिष्यत। वन्दत इति। वदि-अभिवादनस्तुत्योरस्माद्धातोर्लटि तङि शपि टेरेत्वे च कृते 'वन्दते' इति रूपं प्रसिध्यति। अग्रे ववन्दे-वन्दिता-वन्दिष्यते-वन्दताम्-अवन्दत-वन्देत-वन्दिषीष्ट-अवन्दिष्ट-अवन्दिष्यत। भन्दत इति। भदि-कल्याणे सुखे चेत्यस्माद्धातोर्लटि तिङि शपि टेरेत्वे 'भन्दते' इति सिध्यति। बभन्दे इति। भदि धातोरिदित्वान्नुमि लिटि तङि धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याऽभ्यासत्वे चर्त्वेन भस्य बत्वे 'लिटस्तझयोः' इति तस्यैशादेशे च कृते 'बभन्दे' इत्यस्य साधुत्वं स्पष्टम्। अग्रे भन्दिता-भन्दिष्यते-भन्दताम्-अभन्दत-भन्देत-भन्दिषीष्ट-अभन्दिष्ट-अभन्दिष्यत। मदि-मन्दते-ममन्दे-मन्दिता-मन्दिष्यते-मन्दताम्-अमन्दत-मन्देत-मन्दिषीष्ट-अमन्दिष्ट-अमन्दिष्यत। स्पदि-स्पन्दते-पस्पन्दे अत्र 'शर्पूर्वाः खयः' इति विशेषः-स्पन्दिता-स्पन्दिष्यते-स्पन्दताम्-अस्पन्दत-स्पन्देत-स्पन्दिषीष्ट-अस्पन्दिष्ट-अस्पन्दिष्यत। मोदत इति। मुद-हर्षेऽस्माद्धातोर्लटि तङि शपि शपः शित्वात् 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां मुद उकारस्य च 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' इत्युपधासंज्ञात्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूकारस्य गुणेनौकारे च कृते 'मोदते' इति

मुमुदे ॥ उर्द माने, क्रीडायां च । ऊर्दते । ऊर्दाञ्चक्रे । कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव । कूर्दते । खूर्दते । गूर्दते । गोदते । जुगुदे । षूद क्षरणे । सूदते । सुषूदे । ह्राद अव्यक्ते शब्दे । ह्रादते । जह्रादे । ह्लादी सुखे च । चादव्यक्ते शब्दे । ह्लादते ॥ स्वाद आस्वादने । स्वादते । पर्द कुत्सिते शब्दे । गुदरवे इत्यर्थः । पर्दते । पपर्दे ॥ यती प्रयत्ने । यतते । येते । श्रथि शैथिल्ये । श्रन्थते ॥ ग्रथि कौटिल्ये । ग्रन्थते ।

रूपं निष्पद्यते । अग्रे 'मुमुदे-मोदिता-मोदिष्यते-मोदताम्-अमोदत-मोदेत-मोदिषीष्ट-अमोदिष्ट-अमोदिष्यत । ऊर्दते इति । उर्द-माने क्रीडायां चास्माद्धातोर्लटि तङि शपि टेरेत्वे 'उपधायां च' इति पूर्वोकारदीर्घत्वे च कृते 'ऊर्दते' इत्यस्य सिद्धिः । ऊर्दाञ्चक्रे इति । उर्द धातो' 'उपधायां च' इति उपधाभूतोकारस्य दीर्घे लिटि तत' 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इति आमि 'आमः' इति लिटो लुक् 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति कृधातोरनुप्रयोगे लिट स्थाने तङि 'लिटस्तझयो' इति एशादेशे कृधातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे उरदत्वे हलादि. शेषे अभ्यासस्य चर्त्वेन चकारे 'इको यणचि' इति यणि 'ऊर्दाञ्चक्रे' इति साधुत्वं गच्छति । भूधातोरनुप्रयोगे तु 'ऊर्दाम्बभूवे' असधातोरनुप्रयोगे सति 'ऊर्दामासे' इति रूपे भवतः अग्रे ऊर्दिता-ऊर्दिष्यते । ऊर्दताम्-औदत-ऊर्देत-ऊर्दिषीष्ट-और्दिष्ट-और्दिष्यत । कुर्द-खुर्द-गुर्द-गुद—क्रीडायामेवात्र रेफविशिष्टानां धातूनां 'उपधायां च' इति दीर्घत्वेन कूर्दते-खूर्दते-गूर्दते इति रूपाणि । गुद धातोस्तु लघूपधत्वेन 'पुगन्त' इति गुणे सति 'गोदते' इति रूपं, शेषं प्राग्वत् । अग्रे चुकूर्दे-चुखूर्दे-जुगूर्दे-जुगुदे । कूर्दिता-खूर्दिता-गूर्दिता-गोदिता । कूर्दिष्यते—खूर्दिष्यते-गूर्दिष्यते-गोदिष्यते । कूर्दताम्-खूर्दताम्-गूर्दताम्-गोदताम् । अकूर्दत-अखूर्दत-अगूर्दत-अगोदत । कूर्देत-खूर्देत-गूर्देत-गोदेत । कूर्दिषीष्ट-खूर्दिषीष्ट-गूर्दिषीष्ट-गुदिषीष्ट । अकूर्दिष्ट-अखूर्दिष्ट-अगूर्दिष्ट-अगोदिष्ट । अकूर्दिष्यत-अखूर्दिष्यत-अगूर्दिष्यत-अगोदिष्यत । षूद—क्षरणे-सूदते-सुषूदे-सूदिता-सूदिष्यते-सूदताम् । असूदत-सूदेत-सूदिषीष्ट असूदिष्ट-असूदिष्यत । ह्राद = अव्यक्ते शब्दे, ह्रादते-जह्रादे-ह्रादिता-ह्रादिष्यते-ह्रादताम्-अह्रादत-ह्रादेत-ह्रादिषीष्ट-अह्रादिष्ट-अह्रादिष्यत । ह्लादी सुखे च, ह्लादते-जह्लादे-ह्लादिता-ह्लादिष्यते-ह्लादताम्-अह्लादत-ह्लादेत ह्लादिषीष्ट-अह्लादिष्ट-अह्लादिष्यत । स्वाद = आस्वादे, स्वादते-सस्वादे-स्वादिता-स्वादिष्यते-स्वादताम्-अस्वादत-स्वादेत-स्वादिषीष्ट-अस्वादिष्ट-अस्वादिष्यत । पर्द—कुत्सित शब्दे, पर्दते-पपर्दे-पर्दिता-पर्दिष्यते-पर्दताम्-अपर्दत-पर्देत-पर्दिषीष्ट अपर्दिष्ट अपर्दिष्यत । यती प्रयत्ने, तङि शपि यतते इति रूपं भवति । येते इति । यती प्रयत्नेऽस्माद्धातोर्लिटि तङि 'लिटि धातो' इति धातोः द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अत एकहल्मध्ये' इति अभ्यासलोपे धातोरकारस्यैत्वे 'लिटस्तझयो' इति टेरेत्वे च कृते—

कत्थ श्लाघायाम् । कत्थते । चकत्थे ॥ श्लोकृ सङ्घाते । सङ्घातो ग्रन्थः । स चेह ग्रथ्यमानस्य व्यापारो, ग्रन्थितुर्वा । आद्येऽकर्मको, द्वितीये सकर्मकः । श्लोकते । शुश्लोके ॥ शकि शङ्कायाम् । शङ्कते । शशङ्के ॥ अकि लक्षणे । अङ्कते । आनङ्के । वकि वकि श्वकि त्रकि ढौकृ त्रौकृ ष्वष्क वस्क मस्क टिकृ टीकृ तिकृ

येते-येताते-येतिरे-येतिषे-येताथे-येतिध्वे-येते-येतिवहे-येतिमहे इत्यादि । लुडादिषु यतिता-यतिष्यते-यतताम्-अयतत-यतेत-यतिषीष्ट-अयतिष्ट-अयतिष्यत । श्रथि-शैथिल्ये इदित्वान्नुमि श्रन्थते-शश्रन्थे-श्रन्थिता-श्रन्थिष्यते-श्रन्थताम्-अश्रन्थत-श्रन्थेत-श्रन्थिषीष्ट-अश्रन्थिष्ट-अश्रन्थिष्यत । ग्रथि-कौटिल्यं, इदित्वान्नुमि, ग्रन्थते जग्रन्थे-ग्रन्थिता-ग्रन्थिष्यते । ग्रन्थताम्-अग्रन्थत-ग्रन्थेत-ग्रन्थिषीष्ट-अग्रन्थिष्ट-अग्रन्थिष्यत । कत्थ-श्लाघायाम् , कत्थते-चकत्थे-कत्थिता-कत्थिष्यते-कत्थताम्-अकत्थत-कत्थेत-कत्थिषीष्ट-अकत्थिष्ट-अकत्थिष्यत । श्लोकृ-संघाते, श्लोकते-शुश्लोके-श्लोकिता-श्लोकिष्यते-श्लोकताम्-अश्लोकत-श्लोकेत-श्लोकिषीष्ट-अश्लोकिष्ट-अश्लोकिष्यत । शकि-शङ्कायाम, इदित्वान्नुम्यनुस्वारे परसवर्णे, शङ्कते-शशङ्के-शङ्किता-शङ्किष्यते-शङ्कताम्-अशङ्कत-शङ्केत-शङ्किषीष्ट-अशङ्किष्ट-अशङ्किष्यत । अकि-लक्षणे इदित्वान्नुमि अनुस्वारे परसवर्णे, अङ्कते । आनङ्के।अङ्क्द्वित्वे सति 'अत आदेः' इति अभ्यासस्य दीर्घे 'तस्मान्नुड्द्विहलः' इति नुडागम इति भावः । अङ्किता-अङ्किष्यते-अङ्कताम्-आङ्कत-अङ्केत-अङ्किषीष्ट-आङ्किष्ट-आङ्किष्यत । वकि-वकि-श्वकि-त्रकि-ढौकृ-त्रौकृ-ष्वष्क-वस्क-मस्क-टिकृ-टीकृ-तिकृ-तीकृ-रघि-लघि-गत्यर्थाः, इदित्वान्नुमि-वङ्कते-वङ्कते-श्वङ्कते-त्रङ्कते-ढौकते-त्रौकते । ष्वष्कते-अत्र 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे प्राप्ते 'सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां सत्वनिषेधः' इति वार्तिकेन षस्य सत्वनिषेधे तङि शपि टेरेत्वे प्रोक्तं रूपमिति भावः । वस्कते-मस्कते-टेकते-टीकते-तेकते-तीकते-रङ्घते-लङ्घते । इति लट् । लिटि वकङ्के-ववङ्के-शश्वङ्के-तत्रङ्के-डुढौके-तुत्रौके, अत्र अभ्यासह्रस्वे प्राप्ते 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इत्यनेनोकार इति भावः । षष्वष्के-अत्रापि न धातोः षस्य सः 'सुब्धातु' इति वार्तिकेन निषेधात् । ववस्के-ममस्के-टिटेके-टिटीके-तितेके-तितीके-ररङ्घे-ललङ्घे । इति लिट् । वङ्किता-वङ्किता-श्वङ्किता-त्रङ्किता-ढौकिता-त्रौकिता-ष्वष्किता-वस्किता-मस्किता-टेकिता-टीकिता, तेकिता-तीकिता-रङ्घिता-लङ्घिता । इति लुट् । वङ्किष्यते-वङ्किष्यते-श्वङ्किष्यते-त्रङ्किष्यते-ढौकिष्यते-त्रौकिष्यते ष्वष्किष्यते-वस्किष्यते-मस्किष्यते-टेकिष्यते-टीकिष्यते-तेकिष्यते-तीकिष्यते-रङ्घिष्यते-लङ्घिष्यते । वङ्कताम्-वङ्कताम्-श्वङ्कताम्-त्रङ्कताम्-ढौकताम्-त्रौकताम्-ष्वष्कताम्-वस्कताम्-मस्कताम्-टेकताम्-टीकताम्-तेकताम्-तीकताम्-रङ्घताम्-लङ्घताम् । अवङ्कत-अवङ्कत-अश्वङ्कत-अत्रङ्कत-अढौकत-अत्रौकत-अष्वष्कत-अवस्कत-अमस्कत-अटेकत-अटीकत-अतेकत-अतीक-

तीकृ रघि लघि गत्यर्थाः । कङ्कते । वङ्कते । श्वङ्कते । त्रङ्कते । ढौकते । डुढौके । त्रौकते । तुत्रौके । (सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां सत्वनिषेधः ।) ष्वष्कते । पष्वष्के । वस्कते । ववस्के । मस्कते । ममस्के । टेकते । टीकते । तेकते । तीकते । रङ्घते । लङ्घते ॥ श्लाघृ कत्थने । श्लाघते । शश्लाघे । पचि व्यक्तीकरणे । पञ्चते । पपञ्चे ॥* ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु । अर्जते । नुड्विधौ ऋकारैकदेशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते । तेन द्विहल्त्वान्नुट् । आनृजे । ऋजि भृजी भर्जने । ऋञ्जते । ऋञ्जाञ्चक्रे । आर्ञ्जत । भर्जते ॥ एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ । एजते । एजाञ्चक्रे । भ्रेजते । बिभ्रेजे ।

त-अरङ्घत-अलङ्घत । कङ्केत-वङ्केत-श्वङ्केत-त्रङ्केत-ढौकेत-त्रौकेत-ष्वष्केत वस्केत मस्केत-टेकेत टीकेत तेकेत-तीकेत-रङ्घेत-लङ्घेत। कङ्किषीष्ट वङ्किषीष्ट-श्वङ्किषीष्ट-त्रङ्किषीष्ट-ढौकिषीष्ट-त्रौकिषीष्ट-ष्वष्किषीष्ट-वस्किषीष्ट-मस्किषीष्ट टेकिषीष्ट टीकिषीष्ट-तेकिषीष्ट-तीकिषीष्ट-रङ्घिषीष्ट-लङ्घिषीष्ट-अकङ्किष्ट-अवङ्किष्ट-अश्वङ्किष्ट-अत्रङ्किष्ट-अढौकिष्ट-अत्रौकिष्ट-अष्वष्किष्ट-अवस्किष्ट-अमस्किष्ट-अटेकिष्ट-अटीकिष्ट-अतेकिष्ट-अतीकिष्ट-अरङ्घिष्ट-अलङ्घिष्ट। अकङ्किष्यत-अवङ्किष्यत-अश्वङ्किष्यत-अत्रङ्किष्यत-अढौकिष्यत-अत्रौकिष्यत-अष्वष्किष्यत-अवस्किष्यत-अमस्किष्यत-अटेकिष्यत-अटीकिष्यत-अतेकिष्यत-अतीकिष्यत-अरङ्घिष्यत-अलङ्घिष्यत । श्लाघृ-कत्थने, श्लाघते-शश्लाघे श्लाघिता-श्लाघिष्यते श्लाघताम् अश्लाघत श्लाघेत श्लाघिषीष्ट-अश्लाघिष्ट अश्लाघिष्यत। पचि-व्यक्तीकरणे। इदित्वान्नुम्, पपञ्चे पञ्चते पञ्चिता पञ्चिष्यते-पञ्चताम्-अपञ्चत-पञ्चेत-पञ्चिषीष्ट-अपञ्चिष्ट-अपञ्चिष्यत। अर्जते इति ॥ ऋजधातोर्लटि तङि शपि शपः शित्त्वेन सार्वधातुकत्वात् 'पुगन्त' इति गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे टेरत्वे 'अर्जते' इति रूपं सिध्यति। आनृजे इति ॥ ऋज धातोर्द्वित्वे 'ऋज्+ऋज्+लिट्' इति जाते 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्याकारादेशे रपरत्वे हलादिः शेषे 'अ+ऋज्+लिट्' इति जाते 'अत आदेः' इति पूर्वाकारस्य दीर्घे ऋजधातोरेकहल्त्वेऽपि 'नुड्विधौ ऋकारैकदेशो हल्त्वेन गृह्यते' इति वार्तिकवचनात् ऋजो द्विहल्त्वात् 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति दीर्घीभूतात्परस्य नुटि टित्वेनाद्यावयवत्वे 'लिटस्तझयोः' इति एशादेशे 'आनृजे' इति रूपं भवति। अथ अर्जिता-अर्जिष्यते-अर्जताम्-आर्जत-अर्जेत-ऋजिषीष्ट-आर्जिष्ट-आर्जिष्यत। ऋजि भृजी भर्जने, ऋञ्जते-लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि शेषम् । एधाञ्चक्रेवदूह्यम् । ऋञ्जाञ्चक्रे ऋञ्जाम्बभूव-ऋञ्जामास-ऋञ्जिता-ऋञ्जिष्यते-ऋञ्जताम्-आर्ञ्जत-ऋञ्जेत-ऋञ्जिषीष्ट-आर्ञ्जिष्ट-आर्ञ्जिष्यत। भृजी, भर्जते अत्र 'पुगन्त' इति गुणः । बभृजे। भर्जिता-भर्जिष्यते-भर्जताम्-अभर्जत-भर्जेत-भृजिषीष्ट-अभर्जिष्ट-अभर्जिष्यत। एजृ-भ्रेजृ-भ्राजृ-दीप्तौ। एजते-

---

सुब्धा—सुब्धातु (नामधातु), 'ष्ठिवु' धातु तथा 'ष्वष्क' धातु सम्बन्धी षकारको सत्व नहीं हो

भ्राजते। बभ्राजे॥ **वेष्ट** वेष्टने। वेष्टते। विवेष्टे॥ **चेष्ट** चेष्टायाम्। चेष्टते। चिचेष्टे। **स्फुट** विकसने। स्फोटते। पुस्फुटे॥ **टुवेपृ** कम्पने। वेपते॥ **कपि** चलने। कम्पते॥ **भिक्ष** भिक्षायामलाभे लाभे च। भिक्षते। बिभिक्षे॥ **दीक्ष** मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु। दीक्षते। दिदीक्षे॥ **भाष** व्यक्तायां वाचि। भाषते। बभाषे। **वर्ष** स्नेहने। वर्षते। ववर्षे। **ईह** चेष्टायाम्। ईहते। ईहाञ्चक्रे। **गर्ह गल्ह** कुत्सायाम्। गर्हते। गल्हते॥ **काश्टृ** दीप्तौ। काशते। **ऊह** वितर्के। ऊहते। ऊहाञ्चक्रे। कथम्—'अनुकम्प्यूहति पण्डितो जनः' इति। अनुदात्तेत्त्वलक्षण-

---

भ्रेजते-भ्राजते। एजाञ्चक्रे (इजादेश्चेति आम्), बिभ्रेजे-बभ्राजे। एजिता-भ्रेजिता-भ्राजिता। एजिष्यते-भ्रेजिष्यते-भ्राजिष्यते। एजताम्-भ्रेजताम्-भ्राजताम्। ऐजत-अभ्रेजत-अभ्राजत। एजेत-भ्रेजेत-भ्राजेत। एजिषीष्ट-भ्रेजिषीष्ट-भ्राजिषीष्ट। ऐजिष्ट-अभ्रेजिष्ट-अभ्राजिष्ट। ऐजिष्यत-अभ्रेजिष्यत-अभ्राजिष्यत। वेष्ट-वेष्टने। वेष्टते-विवेष्टे-वेष्टिता-वेष्टिष्यते-वेष्टताम्-अवेष्टत-वेष्टेत-वेष्टिषीष्ट-अवेष्टिष्ट-अवेष्टिष्यत। चेष्ट-चेष्टायाम्। चेष्टते-चिचेष्टे-चेष्टिता-चेष्टिष्यते-चेष्टताम्-अचेष्टत-चेष्टेत-चेष्टिषीष्ट-अचेष्टिष्ट-अचेष्टिष्यत। स्फुट-विकसने-'पुगन्त' इति गुणः स्फोटते। पुस्फोटे (शर्पूर्वाः खयः), स्फोटिता-स्फोटिष्यते-स्फोटताम्-अस्फोटत-स्फोटेत-स्फुटिषीष्ट-अस्फोटिष्ट-अस्फोटिष्यत। टुवेपृ-कम्पने। वेपते-विवेपे-वेपिता-वेपिष्यते-वेपताम्-अवेपत वेपेत-वेपिषीष्ट-अवेपिष्ट-अवेपिष्यत। कपि-चलने। इदित्वान्नुम् कम्पते-चकम्पे-कम्पिता-कम्पिष्यते-कम्पताम्-अकम्पत-कम्पेत-कम्पिषीष्ट-अकम्पिष्यत। भिक्ष-भिक्षते-बिभिक्षे-भिक्षिता-भिक्षिष्यते-भिक्षताम्-अभिक्षत-भिक्षेत-भिक्षिषीष्ट-अभिक्षिष्ट-अभिक्षिष्यत। दीक्ष-दीक्षते-दिदीक्षे-दीक्षिता-दीक्षिष्यते-दीक्षताम्-अदीक्षत-दीक्षेत-दीक्षिषीष्ट-अदीक्षिष्ट-अदीक्षिष्यत। भाष-भाषते-बभाषे-भाषिता-भाषिष्यते-भाषताम्-अभाषत-भाषेत-भाषिषीष्ट-अभाषिष्ट-अभाषिष्यत। वर्षस्नेहने वर्षते-ववर्षे वर्षिता-वर्षिष्यते-वर्षताम्-अवर्षत-वर्षेत-वर्षिषीष्ट-अवर्षिष्ट-अवर्षिष्यत। ईह-ईहते-ईहाञ्चक्रे—ईहिता—ईहिष्यते—ईहताम्—ऐहत-ईहेत-ईहिषीष्ट-ऐहिष्ट—ऐहिष्यत। गर्ह-गल्ह-कुत्सायाम्। गर्हते-गल्हते। जगर्हे-जगल्हे। गर्हिता-गल्हिता। गर्हिष्यते-गल्हिष्यते। गर्हताम्-गल्हताम्। अगर्हत-अगल्हत। गर्हेत-गल्हेत। गर्हिषीष्ट-गल्हिषीष्ट। अगर्हिष्ट-अगल्हिष्ट। अगर्हिष्यत-अगल्हिष्यत। काश्टृ-दीप्तौ। काशते-चकाशे-काशिता-काशिष्यते-काशताम्-अकाशत-काशेत-काशिषीष्ट-अकाशिष्ट-अकाशिष्यत। ऊह-वितर्के। ऊहते-ऊहाञ्चक्रे-ऊहिता-ऊहिष्यते-ऊहताम्-औहत-ऊहेत-ऊहिषीष्ट-औहिष्ट-औहिष्यत। कथमिति। 'अनुकम्प्यूहति पण्डितो जनः' अत्र श्लोकपङ्क्तौ ऊहवितर्केऽस्य धातोरनुदात्तेत्त्वेनात्मनेपदत्वात्कथम् 'ऊहति'

आत्मनेपदमनित्यम् । चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकात् । तेन 'उदयति यदि भानु'–'स्फायद्विमौक्तिकमन्धि'रित्यादि सिद्धमित्याहुः ॥ अय गतौ । अयते ॥ उपसर्गस्यायतौ ।८।२।१९। अयतावुपसर्गरेफस्य लत्वम् । प्लायते । पलायते । दयायासश्च ।३।१।३७। एभ्य आम् लिटि । अयाञ्चक्रे । अयिता । अयिष्यते । अय-

---

इत्युक्तम् ? 'ऊहते' इत्यस्यैव सम्यक्त्वादिति चेत् । चक्षिङ् धातोरपि अनुदात्तेत्त्वेनैवात्मनेपदे सिद्धे पुनरपि तदर्थं ङित्करणं व्यर्थं, तदेव व्यर्थं सत् परिभाषां ज्ञापयति 'अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यं भवति' अत 'ऊह' धातोरपि अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तत्वेन तस्य आत्मनेपदस्यानित्यत्वं स्पष्टमेव । अत आत्मनेपदाभावे परस्मैपदे सति 'ऊहति' इत्यपि साधुत्वेन श्लोके तत्पाठात् दोष इति भावः । ज्ञापकत्वञ्च=वाक्यचतुष्टयत्वम्—(१) आदौ वैयर्थ्यम् । (२) पश्चाद्वाक्यान्तरकल्पना । (३) स्वांशे चरितार्थत्वम् । (४) अन्यत्र फलमिति । चक्षिङ ङित्करणं ज्ञापकं कथमिति चेत् । चक्षिङ् धातोरनुदात्तेत्त्वेनैवात्मनेपदे सिद्धे पुनरपि आत्मनेपदार्थं ङकारग्रहणं व्यर्थमिति आदौ वैयर्थ्यसिद्धिः । तदनु ङकारग्रहणस्य वैयर्थ्यात्कल्प्यते अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमनित्यमिति वाक्यान्तरकल्पनासिद्धिः ततः । परमनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्यानित्यत्वेनात्मनेपदे अप्राप्ते आत्मनेपदविधानार्थं 'चक्षिङ' ङित्करणं चरितार्थमिति स्वांशे चरितार्थत्वसिद्धिः । अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्य अनित्यत्वे सिद्धे 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' 'उदयति यदि भानु' इत्यत्र ऊह धातोः अय धातोश्चानुदात्तेत्त्वादात्मनेपदाभावेऽपि न क्षतिः । तेनात्मनेपदाभावेऽपि एते प्रयोगाः साधव एव । तथा च 'स्फायद्वि'त्यत्रापि अनुदात्तेत्त्वाच्छानचा भाव्यम् । न तु शत्रा । किन्तु अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्यानित्यत्वेन शतृप्रत्यये सत्यपि न बाधः । तेन आत्मनेपदाभावे परस्मैपदं सिद्धमिति 'ऊहति, उदयति, स्फायन्' इत्यादौ ज्ञापकफलं सिद्धमिति अन्यत्र फलसिद्धिः इत्यलम् । अयाञ्चक्रे । अय् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि कृते 'दयायासश्च' इत्यामि कृते 'अय् आम् लिट्' इति स्थिते 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञि प्रयुक्ते, लिटो तः स्थाने ते, तस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि, शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'अयाम् कृ कृ ए' इति स्थिते 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्याकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'हलादिः शेषः' इति कावशिष्टे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'इको यणचि' इति यणि, 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति वा परसवर्णे कृते 'अया-

---

उपस—'अय्' धातुपरक उपसर्ग-सम्बन्धी रेफको लत्व हो ।
दया—दय-अय् और आस् धातुओंसे 'आम्' प्रत्यय हो 'लिट्' के परे ।

ताम् । आयत । अयेत । अयिषीष्ट ॥ विभाषेटः ।८।३।७९। इणः परो य इट्, ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य वा ढः । अयिषीढ्वम् । अयिषीध्वम् । आयिष्ट । आयिढ्वम् । आयिध्वम् । आयिष्यत ॥ द्युत दीप्तौ । द्योतते । द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ।७।४।६७। अभ्यासस्य । दिद्युते । द्योतिता । द्योतिष्यते । द्योतताम् । अद्योतत । द्योतेत । द्योतिषीष्ट । द्युद्भ्यो लुङि ।१।३।९१। द्युतादिभ्यः परस्मैपदं वा स्याल्लुङि । 'पुषादी'त्यङ् । अद्युतत् । अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत । एवं— श्विता

ङ्क्ते' इति रूपम् । अयिषीष्ट । अयधातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि इङि गते, लः स्थाने तादेशे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते, टित्वादाद्यावयवे, 'सुट् तिथोः' इति सुडागमे, उटि गते, टित्वादाद्यावयवे 'लिङाशिषि' इति तस्यार्धधातुकत्वे यदागमन्यायेन सीयुटोऽप्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इडागमे सीयुटः सस्य षत्वे, 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे, सुटः सस्यापि 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति तकारस्य ष्टुत्वे 'अयिषीष्ट' इति रूपम् । द्योतते । द्युत्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते, तस्य 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च, शित्वात् शपोऽकारस्यापि सार्वधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति द्युत उकारस्य गुणे 'द्योतत' इति जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'द्योतते' इति । दिद्युते । द्युत्धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, इटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य स्थाने एशि कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'द्युत्, द्युत् ए' इति स्थिते 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' इति अभ्यासयकारस्य इकाररूपे सम्प्रसारणे जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति द्युत उकारस्य पूर्वरूपे 'दिउत् द्युत् ए' इति जाते 'हलादिः शेषः' इति तलोपे मिलित्वा 'दिद्युते' इति रूपम् । अद्युतत् । द्युत धातोर्लुङि, उङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदसञ्ज्ञकतिपि, 'द्युत ति' इति स्थिते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, तस्य 'च्लेः सिच्' इति सिचि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' इति अङादेशे ङस्येत्संज्ञायां लोपे च ङित्वाद् गुणाभावे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यस्याडागमे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'अद्युतत्' इति रूपम् । अद्युतत्, अद्युतताम्, अद्युतन् । अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत । अद्युतम्, अद्युताव,

---

विभा—'इण्' से पर जो 'इट्' उससे पर जो षीध्वं लुङ्-लिट् सम्बन्धी धकार उसको ढकार हो, विकल्पसे । द्युत—'द्युत' धातु और णिजन्त 'स्वप्' के अभ्यासको सम्प्रसारण हो । द्युद्भ्यो—द्युतादिसे परस्मैपद हो, लुङ्के परे विकल्पसे ।

वर्णे । ञिमिदा स्नेहने । ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः । मोहनयोरित्येके । ञिक्ष्विदा चेत्येके । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च ॥ घुट परिवर्तने ॥ शुभ दीप्तौ । क्षुभ संचलने । णभ तुभ हिंसायाम् । स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसने । ध्वंसु गतौ च । स्रम्भु विश्वासे । वृतु वर्तने । वर्तते । ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन । ववृते । वर्तिता । वृद्भ्यः स्यसनोः ।१।३।९२। वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं, स्ये, सनि च । न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ।७।२।५९। वृतु वृधु शृधु स्यन्दूभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण्न स्यात्तङानयोरभावे । वर्त्स्यति । वर्तिष्यते ।

वर्त्स्यताम् । इति रूपाणि । आत्मनेपदपक्षे । मधोक्षिट । ञिदा वर्णे इति । श्वेतवर्णकरणे श्वेतीभवने चेत्यर्थः । ञिश्विदा । 'अत्र 'आदिर्ञिटुडवः' इति ञेरित्संज्ञा ज्ञेया । आकारस्यापीत्संज्ञा षकारस्य 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वमपि बोध्यम् । रुच दीप्तावभिप्रीतौ चेति । अभिप्रीतिः—प्रीतिविषयीभवनम् । दीप्तौ—रोचते सूर्यः इत्युदाहरणम् । प्रकाशते इत्यर्थः । अभिप्रीतौ—हरये रोचते भक्तिः इत्युदाहरणम् । वर्तते । वृत् धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि ल स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते, तस्य 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च, शित्त्वात्तस्यापि सार्वधातुकत्वे, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति धातोः ऋकारस्य गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते सिद्धिरिति 'वर्तते' इति रूपम् । वृद्भ्यः स्यसनोरिति । बहुवचनाद् वृतादिभ्य इति गम्यते । 'शेषात्कर्तरि' इत्यतः परस्मैपदमित्यनुवर्तते, 'वा क्यषः' इत्यतो वेति च तदाह वृतादिभ्य इति । न वृद्भ्य इति । 'सेऽसिचि' इति सूत्रात् से इति, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यत 'आर्धधातुकस्येट्' इति चानुवर्तते । तदाह—सकारादेरार्धधातुकस्येति । वर्त्स्यति । वृत्धातोर्लृटि, अनुबन्धलोपे 'वृत् लृ' इति स्थिते 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इति वा परस्मैपदे प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, प्रगते 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये स्यस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे प्राप्ते 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इति तस्य निषेधे कृते लघूपधगुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'वर्त्स्यति' इति । वर्तिष्यते । आत्मनेपदपक्षे रूपम् ।

ऋदुप—ऋदुपध (ह्रस्व ऋकारोपध) धातुओंसे पर जो लिट् (लिट्स्थानिक आदेश) उसका पूर्वविप्रतिषेधेन अर्थात् गुणप्राप्तिसे पूर्व ही 'कित्' हो । वृद्भ्य.—वृतादि पाँच धातुओंसे परस्मैपद हो, 'स्य' तथा 'सन्' के परे, विकल्पसे ।

नोट.—'वृतु-वृधु-शृधु-स्यन्दू-कृपू-' ये पाँच धातु वृतादि हैं ।

न वृ—वृतादि चार धातुओंसे पर सादि आर्धधातुकको 'इट्' नहीं हो, 'तङ्' और 'आन' के अभावमें ।

वर्त्तताम् । अवर्त्तत । वर्त्तेत । वर्त्तिषीष्ट । अवृतत् । अवर्त्तिष्ट । अवर्त्स्यत् । अवर्त्तिष्यत । एवं—वृधु वृद्धौ । शृधु शब्दकुत्सायाम् ॥ स्यन्दू प्रस्रवणे । स्यन्दते । सस्यन्दे । सस्यन्दिषे । सस्यन्त्से । सस्यन्दिध्वे । सस्यन्ध्वे । स्यन्दिता । स्यन्ता । 'वृद्भ्यः स्यसनोरि'ति परस्मैपदे कृते ऊदित्त्वलक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं बाधित्वा चतुर्ग्रहणसामर्थ्यान्न वृद्भ्य इति निषेधः । स्यन्त्स्यति । स्यन्दिष्यते । स्यन्त्स्यते । स्यन्देत । स्यन्दिषीष्ट । स्यन्त्सीष्ट । 'द्युद्भ्यो लुङि'ति परस्मैपदपक्षेऽङ् । नलोपः । अस्यदत् । अस्यन्दिष्ट । अस्यन्त । अस्यन्त्साताम् । अस्यन्त्सत । अस्यन्थाः । अस्यन्द्ध्वम् । अस्यन्त्सि । अस्यन्त्स्यत् । अस्यन्दिष्यत । अस्यन्त्स्यत । **अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ।८।३।७२।** एभ्यः परस्याप्राणिकर्तृकस्य स्यन्दतेः सस्य षो वा । अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते वा जलम् । अप्राणिषु किम् ? अनुस्यन्दते

अवृतत् । वृत्धातोर्लुङि अनुबन्धलोपे कः स्थाने 'द्युद्भ्यो लुङि' इति वा परस्मैपदे तिपि अनुबन्धलोपे, च्लौ, 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेरङि अङ्गस्याडागमे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अवृतत्' इति रूपम् । 'अवर्तिष्ट' इति । अत्र लुङस्ते, च्लौ, च्लेः सिचि, इटि गते सिचः सकारस्येडागमे गुणे अडागमे सिचः सकारस्य षत्वे ष्टुत्वे च रूपम् । अवर्त्स्यत् । वृत्धातोर्लृङि कृते 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इति परस्मैपदत्वे लृङो लस्य तिपि च कृते 'वृत् स्य ति' इति जाते स्यस्यार्धधातुकत्वादिटि प्राप्ते 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इति तस्य इटो निषेधे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे अडागमे 'अवर्त्स्यत्' इति रूपम् । पक्षे लृङस्ते स्ये इटि गुणे षत्वे अटि च कृते 'अवर्तिष्यत' इति रूपम् । वृधु = वृद्धौ । वर्धते । ववृधे । वर्धिता । वर्त्स्यति—वर्धिष्यते । वर्धताम् । अवर्धत । वर्धेत । वर्धिषीष्ट । अवृधत्–अवर्धिष्ट । अवर्त्स्यत्–अवर्धिष्यत । शृधु = शब्दकुत्सायाम् । शर्धते । शशृधे । शर्धिता–शर्त्स्यति–शर्धिष्यते । शर्धताम् । अशर्धत । शर्धेत । शर्धिषीष्ट, अशृधत्–अशर्धिष्ट । अशर्त्स्यत्–अशर्धिष्यत । स्यन्दू=प्रस्रवणे । स्यन्दते । सस्यन्दे । स्यन्दिता–स्यन्ता । स्यन्त्स्यति–स्यन्दिष्यते । स्यन्दताम् । अस्यन्दत । स्यन्देत । स्यन्त्सीष्ट–स्यन्दिषीष्ट । अस्यदत्–अस्यन्दिष्ट–अस्यन्त । अस्यन्त्स्यत्–अस्यन्दिष्यत–अस्यन्त्स्यत । अनुविपर्यभिनिभ्य इति । 'सस्य षः' इत्यनुवर्तते । एभ्य उपसर्गेभ्यः परस्य स्यन्दतेः सस्य षत्वं स्यादप्राण्यर्थे गम्ये इति भावः । अनुष्यन्दत इति । स्यन्दूधातोर्लटि तङि शपि टेरेत्वे 'अनुविपर्यभिनिभ्यः' इति षत्वे 'अनुष्यन्दते' इति

अनु—'अनु-वि-परि-अभि-नि' इन उपसर्गों से पर अप्राणिकर्तृक 'स्यन्द' धातु

द्युतादि ॥ कृपू सामर्थ्ये । कृपो रो लः ८।२।१८। कृपः उः रः लः इति छेदः । कृपे रेफस्य लः । कृपेर्ऋकारस्यावयवो यो र् = रेफसदृशस्तस्य च ऌ = लकारसदृशः स्यात् । कल्पते । चक्लृपे । चक्लृपिषे । चक्लृप्से । इत्यादि 'स्यन्दि' वत् । **लुटि च क्लृपः ।१।३।९३।** लुटि, स्यसनोश्च क्लृपेः परस्मैपदं वा । **तासि च क्लृपः ।७।२।६०।** क्लृपेः परस्य तासेः, सादेरार्द्धधातुकस्येण्न, तङानयोरभावे । कल्प्तासि । कल्पितासे । कल्प्तासे । कल्प्स्यति । कल्पिष्यते । कल्प्स्यते । कल्पिषीष्ट ।

सिध्यति । धात्वभावे तु अनुदात्तत्वेति सिद्धमेवेति भाव । कृपो रो ल इति । र इति षष्ठी अत आह-रेफस्येति । कल्पत इति । कृपू सामर्थ्ये अस्माद्धातोः लटि तङि शपि 'पुगन्त' इति गुणे रपरत्वे 'कर्प्-अ-त' इति जाते 'कृपो रो लः' इति रस्य लत्वे टेरेत्वे 'कल्पते' इति सिध्यति । चक्लृपे-चक्लृपाते-चक्लृपिरे । चक्लृपिषे-चक्लृप्से अत्र 'दीर्घोदिताद्वेट्' इत्यनेन रूपद्वयम् । चक्लृपाथे-चक्लृपिध्वे । चक्लृपे चक्लृपिवहे-चक्लृप्वहे । चक्लृपिमहे-चक्लृप्महे । लुटि चेति । सूत्रस्य स्यसनो इत्यत्र स्यसनोरित्यनुपज्यते । परस्मैपदमित्यप्यनुवर्तते । क्लृप इति पञ्चमी । तासि च क्लृप इति । क्लृप इति पञ्चमी अत आह-क्लृपः परस्येति । कल्प्तासि । कृपूधातोर्लुटि आत्मनेपदे प्राप्ते तद्बाधित्वा 'लुटि च क्लृप' इति वैकल्पिके परस्मैपदे सिपि तासि 'स्वरति' इति वैकल्पिकेडागमे प्राप्ते 'तासि च क्लृप' इति तासि परत्वे इडागमाभावे 'पुगन्त' इति गुणे रपरत्वे 'कृपो रो लः' इति लत्वे 'कल्प्तासि' इति सिध्यति । आत्मनेपदे तु थासि 'थासः से' इति 'से' आदेशे तासि 'स्वरति' वेटि 'कल्पितासे' । इडभावे 'कल्प्तासे' इति रूपद्वयमपि साधु । कल्प्स्यतीति । कृपूधातोर्लृटि 'लुटि च क्लृप' इति चकारात् स्ये परतः परस्मैपदे तिपि 'स्यतासी' इति स्यप्रत्यये 'स्वरति' इति वेटि प्राप्ते 'तासि च क्लृप' इति इडागमनिषेधे 'पुगन्त' इति गुणे रपरत्वे 'कृपो रो लः' इति रस्य लत्वे 'कल्प्स्यति' इति रूपम् । परस्मैपदाभावे 'कल्प्स्य-ते' इति स्थिते 'स्वरति' इति वेटि कल्पिष्यते-कल्प्स्यते' इति रूपद्वयम् । कल्पताम् । अकल्पत-कल्पेत । कल्पिषीष्टेति । क्लृप्+सी+स+त इति स्थिते 'स्वरति' इति वेटि 'पुगन्त' इति गुणे 'कृपो रो ल' इति लत्वे उभयोरपि षत्वे ष्टुत्वे 'कल्पिषीष्ट' इति

सम्बन्धी सकारको षत्व हो, विकल्पसे । कृपो—'कृप्' धातु के रेफको लत्व हो तथा 'कृप्' के ऋकारावयव जो रेफसदृश भाग उसको लकारसदृश आदेश हो । लुटि—क्लृप् धातुसे परस्मैपद हो, 'लुट्' 'स्य' और 'सन्' के परे विकल्पसे । तासि—'क्लृप्' धातुसे पर 'तास्' और सादि आर्धधातुकको 'इट्' नहीं हो, 'तङ्' और 'मान' के अभावमें ।

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ।१।२।११। इक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङ्, आत्मनेपदपरः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः । क्लृप्सीष्ट । अक्लृप्त । अकल्पिष्ट । अक्लृप्त । अकल्प्स्यत् । अकल्पिष्यत । अकल्प्स्यत । इति द्युतादयः ।

अथात्मनेपदम् ।

दद दाने । ददते । दददे । दददाते । दददिरे । ददिता । ददिष्यते । ददताम् । अददत । ददेत । ददिषीष्ट । अददिष्ट । अददिष्यत ॥ त्रपूष् लज्जायाम् । त्रपते । तॄफलभजत्रपश्च ।६।४।१२२। एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च, किति लिटि, सेटि थलि च । त्रेपे । त्रपिता । त्रप्ता । त्रपिष्यते । त्रप्स्यते । त्रपताम् । अत्र-

---

रूपं भवति । इडभावे तु—लिङ्सिचाविति । इक्समीपादिति, झलादीति, किदिति चानुवर्तते । क्लृप्सीष्टेति । 'क्लृप्-सी-स्-त' इत्येतस्यायां 'कृपो रो लः' इति लत्वे 'स्वरतीति' इडभावे 'पुगन्त' इति गुणे प्राप्ते तं 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति लिङः कित्वेन 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधे षत्वे ष्टुत्वे 'क्लृप्सीष्ट' इति रूपम् । अक्लृपदिति । कृपधातोः 'द्युद्भ्यो लुङि' इति लुङि परस्मैपदे तिपि 'इतश्च' इतीलोपे 'पुषादिद्युताद्ि' इति च्लेः स्थानेऽङादेशे ङित्वेन गुणाभावे 'अक्लृपत्' इति प्रथमं रूपम् । आत्मनेपदे तु 'अक्लृप्+इ+स्+त' इति जाते 'पुगन्त' इति गुणे षत्वे ष्टुत्वे च 'अकल्पिष्ट' इति । 'स्वरति' इतीडभावे तु 'अक्लृप्+स्+त' इति स्थिते 'झलो झलि' इति सलोपे 'अक्लृप्त' इति तृतीयं रूपं भवतीति भावः । अग्रे—अकल्प्स्यत्-अकल्पिष्यत-अकल्प्स्यत' इति रूपाण्यूह्यानि ।

दद-दाने । दानञ्च—स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनमिति भावः । दददे । ददधातोर्लिटस्तादेशस्य एशि, द्वित्वे अभ्यासकार्ये च जाते 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति एत्वेऽभ्यासलोपे, 'न शसददवादिगुणानाम्' इति निषेधात् । तॄफलभजत्रपश्चेति । 'अत एकहल्मध्ये' इत्यत अत इति, लिटीति चानुवर्तते । 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्यतः एदिति, अभ्यासलोपश्चेति च, 'गमहन' इत्यस्मात् कितीति, 'थलि च सेटि' इति सूत्रञ्चानुवर्तते । तदाह—एषामत इति । त्रेपे । त्रपधातोर्लिटस्तादेशस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि, जाते 'त्रप् ए' इति स्थिते 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'तॄफलभजत्रपश्च' इति त्रप अकारस्यैत्वे अभ्यासलोपे च कृते सिद्धिरूपा 'त्रेपे' इति । त्रपिता । त्रपधातोर्लुटस्तादेशस्य स्थाने डात्वे तासि, विकल्पेनेट्-

---

लिङ्—इक्समीप 'हल्' से पर जो झलादि 'लिङ्' और आत्मनेपदपरक झलादि 'सिच्' वह कित् हो । तॄफ—'तॄ-फल-भज-त्रप्' इन धातुओं को एत्वाभ्यासलोप हो, कित्-लिट्-सेट् थल्के परे ।

पत । त्रपेत । त्रपिषीष्ट । त्रप्सीष्ट । अत्रपिष्ट । अत्रप्त । अत्रपिष्यत । अत्रप्स्यत ॥ घट चेष्टायाम् । घटते । जघटे । व्यथ भयसञ्चलनयोः । व्यथते । व्यथो लिटि ।७।४।६८। व्यथेरभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि परे । हलादि शेषापवादः । विव्यथे । प्रथ प्रख्याने । प्रथते । पप्रथे ॥ प्रस विस्तारे । प्रसते । पप्रसे । म्रद मर्दने । म्रदते । स्खद स्खदने । स्खदन—विदारणम् । स्खदते । क्रप कृपायां गतौ च । क्रपते । ञित्वरा सम्भ्रमे । त्वरते । टुभ्राजृ टुभ्राशृ टुभ्लाशृ दीप्तौ । भ्राजते ।

प्यादिमस्यापि टेर्लोपे 'त्रप् त आ' इति जाते 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विकल्पेनेडागमे 'त्रपिता' इति रूपम् । इडागमाभावे 'त्रप्ता' इति । त्रपिषीष्ट । त्रपधातोराशिषि लिङस्तादेशे तस्यार्धधातुकत्वे सीयुटि, उटि गते 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति वा इटि 'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे 'त्रप् इ सी स् त' इति जाते इण्निमित्तके सीयुट सस्य षत्वे, सीयुट इण्निमित्तके सुट सस्य षत्वे, तकारस्य ष्टुत्वे च जाते 'त्रपिषीष्ट' इति रूपम् । इडभावे—'त्रप्सीष्ट' इति । अत्रपिष्ट । त्रप्धातोर्लुङस्तादेशे च्लौ, च्लेः स्थाने सिचि, इचि गते, 'स्वरतिसूति०' इति इडागमे अङ्गस्याडागमे षत्वे ष्टुत्वे च 'अत्रपिष्ट' इति रूपम् । अत्रप्त । त्रप्धातोर्लुङस्तादेशे च्लौ च्लेः सिचि इचि गते इडभावे अङ्गस्याडागमे च कृते 'अ त्रप् स् त'—इति जाते 'झलो झलि' इति सलोपे 'अत्रप्त' इति रूपम् । घट—चेष्टायाम् । घटते-जघटे-घटिता-घटिष्यते-घटताम्-अघटत-घटेत घटिषीष्ट-अघटिष्ट-अघटिष्यत । व्यथ-भय-सञ्चलनयोः । व्यथते । व्यथो लिटीति । अभ्यासस्येति सम्प्रसारणमिति चानुवर्तते, अत आह व्यथेरभ्यासस्येति । विव्यथ इति । व्यथधातोर्लिटि तङि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषमपवादत्वाद्बाधित्वा 'व्यथो लिटि' इत्यनेन सम्प्रसारणे 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति ज्ञापकात् परस्यैव यकारस्य पूर्वसम्प्रसारणे 'व्-इ-थ्+व्यथ्+त' इति स्थिते 'हलादि-शेष' इति थलोपे 'लिटस्तझयोः' इति तस्याने एशादेशे विहिते 'विव्यथे' इति । व्यथिता-व्यथिष्यते-व्यथताम्-अव्यथत-व्यथेत-व्यथिषीष्ट-अव्यथिष्ट-अव्यथिष्यत । प्रथ-प्रख्याने । प्रथते-पप्रथे-प्रथिता-प्रथिष्यते-प्रथताम्-अप्रथत-प्रथेत-प्रथिषीष्ट-अप्रथिष्ट-अप्रथिष्यत । प्रस=विस्तारे । प्रसते-पप्रसे-प्रसिता-प्रसिष्यते-प्रसताम्-अप्रसत-प्रसेत-प्रसिषीष्ट-अप्रसिष्ट-अप्रसिष्यत । म्रद=मर्दने-म्रदते-मम्रदे-म्रदिता-म्रदिष्यते-म्रदताम्-अम्रदत-म्रदेत-म्रदिषीष्ट-अम्रदिष्ट-अम्रदिष्यत । स्खद=स्खदने । स्खदते-चस्खदे-स्खदिता स्खदिष्यते स्खदताम्-अस्खदत-स्खदेत स्खदिषीष्ट अस्खदिष्ट अस्खदिष्यत । क्रप=कृपायां गतौ च । क्रपते-चक्रपे-क्रपिता-क्रपिष्यते-क्रपताम्-अक्रपत-क्रपेत-क्रपिषीष्ट-अक्रपिष्ट-अक्रपिष्यत । ञित्वरा-सम्भ्रमे । त्वरते-तत्वरे-त्वरिता-त्वरि-

---

व्यथो—व्यथ् धातुके अभ्यासको सम्प्रसारण हो 'लिट्' के परे ।

फणां च सप्तानाम् ।६।४।१२५। फण्-राजृ-भ्राजृ-भ्राशृ-भ्लाशृ-स्यमु-स्वन्—एषां वा एत्वाभ्यासलोपौ स्तः, किति लिटि, सेटि थलि च । भ्रेजे । बभ्राजे । 'वा भ्राश' इति श्यन्वा । भ्राश्यते । भ्राशते । भ्रेशे । बभ्राशे । भ्लाश्यते । भ्लाशते । भ्लेशे । बभ्लाशे । **रमु** क्रीडायाम् । रमते । रेमे । रन्ता । **जभी जृभि** गात्रविनामे । **रधिजभोरचि** ।७।१।६१। रधिजभोरचि नुम् । जम्भते । जजम्भे । जृम्भते । जजृम्भे ॥ इत्यात्मनेपदिनः ।

अथोभयपदिनः

श्रिञ् सेवायाम् । श्रयति । श्रयते । शिश्राय । शिश्रिये । श्रयितासि । श्रयि-

---

ष्यते-स्वरताम्-अस्वरत-स्वरेत । स्वरिषीष्ट-अस्वरिष्ट-अस्वरिष्यत । टुभ्राजृ-टुभ्राशृ-टुभ्लाशृ-दीप्तौ । भ्राजते । भ्राश्यते-भ्राशते [वाभ्राशभ्लाशेति श्यन्विकल्पः, पक्षे शप्] भ्लाश्यते-भ्लाशते । फणां च सप्तानामिति । फणामिति षष्ठीबहुवचनम् । एत्वाभ्यासलोपौ किति लिटि इति चानुवर्तते । भ्रेज इति । टुभ्राजृ धातोरनुबन्धलोपे लिटि तङि 'लिटि धातो'रिति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यासलोपे 'लिटस्तझयो'रिति एशादेशे 'भ्रेजे' इत्यस्य सिद्धिः । असति एत्वाभ्यासलोपे हलादिः शेषे अभ्यासस्य जश्त्वेन भस्य बत्वे कृते 'बभ्राजे' इति रूपम् । भ्रेश इति । पूर्ववत् 'फणां च सप्तानाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपे 'भ्रेशे' इति रूपम् । तदभावे च बभ्राशे । भ्लेश इति । अत्रापि 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यासलोपेन 'भ्लेशे' इति रूपम् । तदभावे 'बभ्लाशे' इति रूपम् । भ्राजिता-भ्राशिता-भ्लाशिता । भ्राजिष्यते-भ्राशिष्यते-भ्लाशिष्यते । भ्राजताम्-भ्राश्यताम्-भ्राशताम्-भ्लाश्यताम्-भ्लाशताम् । अभ्राजत-अभ्राश्यत-अभ्राशत-अभ्लाश्यत-अभ्लाशत । भ्राजेत-भ्राश्येत-भ्राशेत-भ्लाश्येत-भ्लाशेत । भ्राजिषीष्ट-भ्राशिषीष्ट-भ्लाशिषीष्ट । अभ्राजिष्ट-अभ्राशिष्ट-अभ्लाशिष्ट । अभ्राजिष्यत-अभ्राशिष्यत-अभ्लाशिष्यत । रमुधातोः रमते । रेमे-एत्वाभ्यासलोपौ । रन्ता-रंस्यते-रमताम्-अरमत-रमेत-रंसीष्ट-अरंस्त-अरंस्यत । रधिजभोरचि इति । नुमित्यनुवर्तते । रधिजभोर्धात्वोर्नुमागमः स्यात् अचि परत इत्यर्थः । जभी-जृभि-गात्रविनामे । गात्रस्य विनामः वक्रभावः । जम्भते इति । जभीधातोर्लटि तङि 'रधिजभोरचि' इति नुमि मित्वादन्त्यादचः परत्वेऽनुस्वारे परसवर्णे टेरेत्वे कृते 'जम्भते' इत्यस्य सिद्धिः । जजम्भे-जम्भिता-जम्भिष्यते-जम्भताम्-अजम्भत-जम्भेत-जम्भिषीष्ट-अजम्भिष्ट-अजम्भिष्यत । जृभि । जृम्भते-जजृम्भे-जृम्भिता-जृम्भिष्यते-जृम्भताम्-अजृम्भत-जृम्भेत-जृम्भिषीष्ट-अजृम्भिष्ट-अजृम्भिष्यत । इत्यात्मनेपदिप्रक्रिया ।

शिश्राय । श्रिधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, लिटो लः स्थाने कर्तृगामिक्रियाफ-

---

फणा—फणादि सात धातुओंको भी एत्वाभ्यास लोप हो, कित्-लिट्-सेट् थल्के परे । रधि—'रध्' और 'जभ्' धातुको नुमागम हो, अजादि प्रत्ययके परे ।

ताऽसे। श्रयिष्यति। श्रयिष्यते। श्रयतु। श्रयताम्। अश्रयत्। अश्रयत। श्रयेत्। श्रयेत। श्रीयात्। श्रयिषीष्ट। चङ्। अशिश्रियत्। अशिश्रियत। अश्रयिष्यत्॥ अश्रयिष्यत॥ मृङ् मरणे। मरति। मरते। ममार। मम्रतु। मम्रु। ममर्थ। मम्रथ। मम्रम। मम्रे। ममृषे। मर्तासि। मर्तासे। मरिष्यति। मरिष्यते। मरतु। मरताम्। अमरत्। अमरत। मरेत्। मरेत। म्रियात्। उश्च।१।२।१२। ऋवर्णात्परौ झला-

---

लाभावे प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, परस्मैपदानां 'णलतुसुस्थलथुसणल्वमा' इति तिपो णलि णकारस्य लकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'श्रि श्रि अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेष' इति 'शि' अवशिष्टे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे 'एचोऽयवायाव' इत्ययादेशे 'शिश्रय् अ' इति जाते 'अत उपधाया' इत्युपधाकारस्य वृद्धौ 'शिश्राय' इति। अशिश्रियत्। श्रिधातोर्लुङस्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेः स्थाने चङि, चकारस्य ङकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च कृते, 'श्रि' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च कृते 'शि श्रि अ ति' इति जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अडागमे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि 'अशिश्रियत्' इति रूपम्। अशिश्रियत। श्रिधातोर्लुङस्त, च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि, द्वित्वे, अभ्यासकार्ये, अडागमे, 'अशि श्रि अ त' इति स्थिते 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि, 'अशिश्रियत' इति रूपम्। मरति। स्वरितानुबन्धपदम्। तत्र कर्तृगामिक्रियाफलाभावे मृधातो 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटो लः स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, शपि, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे 'मरति' इति रूपम्। कर्तृगामिक्रियाफले तु मृधातोर्लटस्ते शपि गुणे रपरे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते, 'मरते' इति रूपम्। ममार। मृधातो 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, प्रथमपुरुषैकवचने परस्मैपदसञ्ज्ञके 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना तिपि, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमा' इति णलि, णस्य लस्य चेत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'लिङ् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्यात्वे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'मर् मृ अ' इति जाते 'हलादि शेष' इति मअवशिष्टे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासमस्य चत्वे 'ममृ अ' इति स्थिते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ऋकारस्य गुणे अकारे जाते 'उरण् रपर' इति रपरे मूल 'अत उपधाया' इति वृद्धौ कृतायां 'ममार' इति रूपम्। म्रियात्। मृधातोराशीर्लिङस्तिपि यगते 'लिङाशिषि' इति तिप आर्धधातुकत्वे

अर्थ—ऋवर्णसे पर जो झलादि 'लिङ्' और आत्मनेपदपरक झलादि 'सिच्' वह कित् हो।

द्वी लिङ् आत्मनेपदपरः 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इत्येतौ कितौ स्तः। भृषीष्ट। भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्।
ह्रस्वादङ्गात् ।८।२।२७। सिचो लोपो, झलि। अभृत। अभरिष्यत। अभरिष्यत॥
हृञ् हरणे। हरति। हरते। जहार। जह्रतुः। जह्रुः। जहर्थ। जह्रिव। जह्रिम। जह्रे। जह्रिषे। हर्ता। हर्तासि। हर्तासे। हरिष्यति। हरिष्यते॥ **धृञ् धारणे**। धरति॥ **णीञ् प्रापणे**। नयति। नयते। निनाय। **डुपचष् पाके**। पचति पचते। पपाच। पेचिथ। पपक्थ। पेचे। पक्ता। पक्ष्यति। पक्ष्यते। अपाक्षीत्।

'किदाशिषि' इति यासुटि, उटि गते यासुटः कित्त्वात् गुणाभावे 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति ऋकारस्य रिङि कृते ङस्येत्संज्ञायां लोपे च जाते तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'भ्रियात्' इति। भृषीष्ट। भृधातोराशीर्लिङस्ते सीयुटि, उटि गते, यलोपे 'सुट् तिथोः' इति तस्य सुडागमे, उटि गते, 'भृ सी स् त' इति जाते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इटो निषेधे 'उश्च' इति कित्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति प्राप्तगुणस्य 'क्ङिति च' इति निषेधे, षत्वे पुनः षत्वे ष्टुत्वे च 'भृषीष्ट' इति रूपम्। अभार्षीत्। भृधातोर्लुङस्तिपि, च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, अटि तिप इकारलोपे 'अ भृ स् त्' इति स्थिते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, रपरत्वे षत्वे च 'अभार्षीत्' इति रूपम्।
ह्रस्वादङ्गादिति। ह्रस्वान्तादित्यर्थः। सिच इति भाष्यम्। 'झलो झलि' इत्यतो झलीति 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यतो लोप इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—सिचो लोपो झलीति। जहार। हृधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलादेशे, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्याकारे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'हर् हृ अ' इति स्थिते 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासहस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'जहृ अ' इति भूते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरत्वे च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'जहार' इति। पेचिथ। पच्धातोर्लिटस्सिपि, सिपः थलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति चलोपे 'प पच् थ' इति जाते 'लिट् च' इति थल आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति तस्य निषेधे क्रादिनियमान्नित्ये इट्त्वे प्राप्ते भारद्वाजनियमात् वा इटि कृते 'थलि च सेटि' इति एत्वेऽभ्यासलोपे च 'पेचिथ' इति रूपम्। इडागमाभावपक्षे सेट्थलभावात् एत्वाभ्यासलोपाभावेन 'प पच् थ' इत्यत्र 'चोः कुः' इति कुत्वे 'पपक्थ' इति रूपम्।

ह्रस्वा—ह्रस्वान्त अङ्ग से पर 'सिच्' का लोप हो, 'झल्' के परे।

अपक्षाताम् । भज सेवायाम् । भजति । भजते । भेजे । भक्ता । भक्तासि । भक्तासे । भक्ष्यति । भक्ष्यते । भजतु । भजताम् । अभाक्षीत् । अभक्त । अभक्षाताम् । अभक्ष्यत् । अभक्ष्यत ॥ यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु । यजति । यजते । लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ।६।१।१७। वच्यादीनां, ग्रहादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि । इयाज । वचिस्वपियजादीनां किति ।६।१।१५। वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं, किति ।

पेचे । पच्धातोर्लिटस्ते, तस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि, जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति चलोपे 'पपच् ए' इति भूते 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति पचः अकारस्यैत्वे अभ्यासलोपे च जाते सयुक्ते कृते सति 'पेचे' इति रूपम् । भेजे । भज्धातोर्लिटस्ते, 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य स्थाने एशि, जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च 'बभज् ए' इति स्थिते 'तॄफलभजत्रपश्च' इति भकारोत्तरवर्तिनि अकारस्यैत्वे अभ्यासलोपे च 'भेजे' इति । अभाक्षीत् । भज्धातो 'लुङ्' इति लुङि, लुङः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि जाते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, सिचः सार्वधातुकत्वे, इति प्राप्ते 'एकाच' इति तस्य निषेधे अटि, तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अभज् स् त्' इति जाते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपरतकारस्य ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ, जस्य कुत्वे, षत्वे, सस्य षत्वे च 'अभाक्षीत्' इति रूपम् । लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् । 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति सूत्रोपात्ता, 'ग्रहिज्यावयि' इति सूत्रोपात्ताश्च उभयशब्देन गृह्यन्ते । तदाह—वच्यादीनां ग्रहादीनाञ्चेति । इयाज । यज्धातो, 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, लिटो लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' इति तिपो णलि णस्य लस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'यज् अ' इति जाते 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वेन शपोऽभावे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति जलोपे 'य यज् अ' इति भूते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'

लिट्य—वच्यादि और ग्रहादि धातुओंके अभ्यासको सम्प्रसारण हो, 'लिट्' के परे ।

नोट—वच्यादिसे वचि, स्वपि और यजादि अर्थात् 'यजदेवपूजा०' से लेकर 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' पर्यन्त का ग्रहण होता है । जैसा कि—'यजिर्वपिर्वहिश्चैव' ऐसा सूत्रमें कहा जायगा । एवं ग्रहादिसे 'ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जति' का ग्रहण समझना चाहिए ।

वचि—वचि-स्वपि और यजादि को सम्प्रसारण हो, 'कित्' के परे ।

'यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ इत्यपि ।
ह्वेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव' ॥ १ ॥

ईजतुः । ईजुः । इयजिथ—इयष्ठ । ईजे । यष्टा । 'षढोः कः सि' । यक्ष्यति । यक्ष्यते । यजतु । यजताम् । अयजत् । अयजत । यजेत् । यजेत । इज्यात् । यक्षीष्ट । अयाक्षीत । अयष्ट ॥ वह प्रापणे । वहति । वहते । उवाह । ऊहतुः ।

इति अभ्यासयकारस्य सम्प्रसारणेन इकारे जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ मिलित्वा 'इयाज' इति रूपम् । वचिस्वपीति । वचिस्वपीति इका निर्देशः । सौत्रः सम्प्रसारणाभावः । आदिशब्दो यजिनैव सम्बध्यते, न तु वचिस्वपिभ्याम् , तथा सति हि वच्यादेः स्वप्यादेर्यजादेश्चेत्यर्थः स्यात् । तथा सति पृथक्स्वपिग्रहणं व्यर्थं स्यात् , अदादिगणे लुग्विकरणे 'वच परिभाषणे'इत्यारभ्य पठितस्य 'ञिष्वप् शये' इत्यस्य वच्यादिग्रहणेनैव सिद्धेः । तदाह—वचिस्वप्योर्यजादीनाञ्चेति । यजादिपदेन-यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ्व्येञ इत्यपि । ह्वेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव ॥ १ ॥ इति नव ग्राह्याः । इयजिथ । यज्धातोर्लिटः सिप् , 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थल' इत्यादिना सिपः स्थाने थलि, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे सिपः पित्त्वात् 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्वाभावे प्रथमतः 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'यज यज् थ' इति जाते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'इयज् थ' इति भूते 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते, 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इटो निषेधे क्रादिनियमात्प्राप्तेऽपि, 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' इति निषेधे ... नित्यमिटि प्राप्ते, भारद्वाजनियमेन वा इडागमे, 'इयजिथ' इति रूपम् । इडागमाभावे 'इयज् थ' इति स्थिते 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज' इत्यादिना षत्वे थस्य 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे च 'इयष्ठ' इति रूपम् । ईजे । यज्धातोर्लिटस्ते, तस्यार्धधातुकत्वे 'असंयोगाल्लिट्कित्' इति कित्वे च 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'इज् त' इति जाते द्वित्वे, अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'इ इज् त' इति भूते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घ'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य स्थाने एशि आगते संयोगे च कृते 'ईजे' इति रूपम् । अयाक्षीत् । यज्धातोर्लुङस्तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि, इति गते सिचः सस्यार्धधातुकत्वे 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इडभावे अटि तिपः इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तस्य ईडागमे 'अयज् ई त्' इति जाते 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज' इति जस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे कात्परकत्वात् सिचः सकारस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे क्षसंयोगे क्षे जाते 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'अयाक्षीत्' इति रूपम् । उवाह—वह्धातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, द्वित्वे, 'वह 'वह् अ' इति भूते 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य

ऊहुः । उवहिथ । 'हो ढः' । झषस्तथोर्धोऽधः ।८।२।४०। झषः परयोस्तथोर्धः स्यात्, न तु दधातेः । 'ष्टुना ष्टुः' । ढो ढे लोपः ।८।३।१३। ढस्य लोपः स्याड्ढे परे । सहिवहोरोदवर्णस्य ।६।३।११२। अनयोरवर्णस्य ओत्स्यात् ढलोपे । उवोढ । ऊहे । वोढा । वक्ष्यति । वक्ष्यते । वहतु । वहताम् । अवहत् । अवहत ।

सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति हलोपे 'उ वह् अ' इति स्थिते 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'उवाह' इति । उवहिथ । वह्धातोर्लिटि सिपि, सिपस्थलादेशे, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इटो निषेधे 'कृसृभृवृ' इति क्रादिनियमादिटि प्राप्ते 'उपदेशेऽत्वतः' इति थल इटो निषेधे 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति नियमात् भारद्वाजमतेन इटि जाते 'वह् इ थ' इति भूते पित्वात् किदभावेन प्रथमतो द्वित्वे अभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति हलोपे 'उवहिथ' इति रूपम् । झषस्तथोरिति । झष इति पञ्चमी । तश्च थ् चेति द्वन्द्वः । तकारादकार उच्चारणार्थः । तकारथकारयोरिति लभ्यते । अधः इति षष्ठ्यन्तम् । धाधातुभिन्नस्येति लभ्यते । तदाह—झषः परयोरिति । सहिवहोः । ढलोप इति । 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यस्मात् ढलोपे इत्यनुवृत्तेरिति भावः । उवोढ । वह्धातोर्लिटि सिपि, सिपस्थलि, 'एकाच' इति इडभावे प्राप्ते क्रादिनियमादिटि प्राप्ते 'उपदेशेऽत्वतः' इति इटो निषेधे थल स्थानिवत्त्वेन पित्वात् 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति किदभावे, अत 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति न सम्प्रसारणम्, किन्तु 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति हलोपे 'उ वह् थ' इति जाते 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थकारस्य धकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे 'ढो ढे लोपः' इति ढलोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति पूर्वस्याणो दीर्घे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इति अकारस्य ओत्वे 'उवोढ' इति रूपम् । ऊहे । वह्धातोर्लिटस्ते, 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य स्थाने एशि, जाते 'वह् ए' इति स्थिते 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति लिटः कित्वात् 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये सवर्णदीर्घे च 'ऊहे' इति । अवाक्षीत् । वह्धातोर्लुङि तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि, इषि गते, अटि, तिप इकारलोपे

झषस्तथोः—'झष्' से पर 'त' और 'थ' को 'ध' हो, परन्तु 'दधाति' को नहीं हो । ढो ढे लोपः—ढकारका लोप हो, ढकारके परे । सहिवहोः—'सह्' और 'वह्'

वहेत् । वहेत । उह्यात् । वक्षीष्ट । अवाक्षीत् । अवोढाम् । अवाक्षुः । अवाक्षीः । अवोढम् । अवोढ । अवाक्षम् । अवाक्ष्व । अवाक्ष्म । अवोढ । अवक्षाताम् । अवक्षत । अवोढाः । अवक्षाथाम् । अवोढ्वम् । अवक्षि । अवक्ष्वहि । अवक्ष्महि । अवक्ष्यत् । अवक्ष्यत ॥ डुवप् बीजसन्ताने । बीजसन्तानं = क्षेत्रे विकिरणं, गर्भाधानं च । अयं छेदनेऽपि । केशान्वपति । वपते । उवाप । ऊपे । वप्ता । वप्स्यति । वप्स्यते । उप्यात् । वप्सीष्ट । प्रण्यवाप्सीत् । अवप्त ॥ **वेञ् तन्तुसन्ताने ।** वयति । वयते । **वेञो वयिः ।२।४।४१।** स्याल्लिटि । इकार उच्चारणार्थः ।

'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'अ वह् स् ई त्' इति स्थिते 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वकाराकारस्य वृद्धौ 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे, 'षढोः कः सि' इति ढस्य कत्वे कात्परकत्वात् 'आदेशप्रत्यययोः' इति सिचः सस्य षत्वे कृष्योगे क्षे जाते संयोगे कृते 'अवाक्षीत्' इति। अवोढ । वह्धातोर्लुङस्ते च्लौ च्लेः सिचि, इचो लोपे अटि, 'अवह् स् त' इति स्थिते 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झलो झलि' इति सलोपे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति धस्य ष्टुत्वेन ढकारे 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढस्य लोपे 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इति वकाराकारस्य ओकारे 'अवोढ' इति। डुवप्–बीजसंताने । वपति–वपते । उवापेति । वप्धातोर्लिटि तिपि णलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासवकारस्य संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे हलादिः शेषेण पकारलोपे 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ 'उवाप' इति रूपं निष्पद्यते । ऊपे इति । वप्धातोर्लिटि तङि 'लिटस्तझयोः' इति एशादेशे धातोर्द्वित्वे 'वप्–वप्–ए' इति स्थिते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासस्य संप्रसारणे हलादिः शेषे 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति परस्य वकारस्यापि यजादित्वात्संप्रसारणे सवर्णदीर्घे कृते 'ऊपे' इत्यस्य सिद्धिः । वप्ता । वप्स्यति-वप्स्यते । वपतु-वपताम् । अवपत्–अवपत । वपेत्–वपेत । कित्त्वात्संप्रसारणम् , उप्यात्–वप्सीष्ट । अवाप्सीत् । 'प्रण्यवाप्सीत्' अत्र 'नेर्गदनद' इति णत्वमूह्यम् । 'अ-वप्–स्–त' इत्यवस्थायां 'झलो झलि' इति सलोपे 'अवप्त' इत्यस्य निष्पत्तिः । अवप्स्यत्–अवप्स्यत । वेञ् = तन्तुसंताने—वयतीति । वेधातोर्लटि तिपि शपि 'वयति-वयते' । वेञो वयिः । लिटि वेञ्धातोर्वयादेशः स्यादिति सूत्रार्थः । उवायेति । वेञ्धातोर्लिटि तिपि णलि 'वेञो वयिः' इति वयादेशे लिटिधातोरिति धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे ग्रहिज्यादित्वात् 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति संप्रसारणे हलादिः शेषे 'उवय्-अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इत्यतो वृद्धौ 'उवाय' इत्यस्य निष्पत्तिरिति भावः ।

धातु के अवर्ण को 'ओत्' हो, ढलोप होने पर । वेञो—'वेञ्' को 'वय्' आदेश हो, 'लिट्'

उवाय । ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ।६।१।१६। वयतेः किति सम्प्रसारणम् । इति यकारस्य प्राप्ते—लिटि वयो यः ।६।१।३८। वयो यस्य सम्प्रसारणं न स्याल्लिटि । ऊयतुः । ऊयुः । वश्चास्यान्यतरस्यां किति ।६।१।३९। वयो यस्य वो वा स्यात्किति लिटि । ऊवतुः । ऊवुः । वयस्तासावभावात्थलि नित्यमिट् । उवयिथ । स्थानिवत्त्वेन मित्त्वात् । ऊये । ऊवे । वयादेशाभावे । वेञः ।६।१।४०। वेञः संप्रसारणं न स्याल्लिटि । ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ । ववाथ । ववे । ववाते । वविरे । वाता । ऊयात् ।

आत्मनेपदे तूभयोरपि यकारयोः सम्प्रसारणे प्राप्ते—ग्रहिज्येति । ग्रहिज्यादिधातूनां कि-ति ङिति च सम्प्रसारणं स्यादिति सूत्रार्थः । लिटि वय इति । ग्रहिज्येति प्राप्तं सम्प्रसारणं वेञ्धातोरादेशभूतस्य यकारस्य न भवति किन्तु यकारस्य यकार एव तिष्ठते न वि-कृतिमापद्यत इति सूत्रार्थः स्पष्टः । ऊयतुरिति । वेञ्धातोर्लिटि तसि अतुसि 'वेञो व-यिः' इति वयादेशे, धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यास' इत्यभ्याससम्प्रसारणे हलादिः शेषेऽवस्य वकारस्यापि 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे सवर्णदीर्घे रुत्वे विसर्गे च कृते 'ऊयतुः' इति सिध्यति । ननु 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति ज्ञापकेन परस्यैव यण पूर्वं सम्प्रसारणं भवति इति 'ग्रहिज्या' इत्यनेन प्राप्तं सम्प्रसारणं यकारस्यैव स्यान्न तु वकारस्येति चेन्न, 'लिटि वयो यः' इति सम्प्रसारणनिषे-धबलात् । ऊयुः । वश्चास्येति । किति लिटि परतः आदेशभूतस्य वयो यस्य वो वा स्यादिति सूत्रार्थः । तेन ऊयतुः–ऊवतुः–ऊयुः–ऊवुः इत्यादीनां सिद्धिः । थलि तु पित्त्वेन कित्त्वाभावात् न 'वश्चास्य' इति वादेशः किन्तु यकार एव तिष्ठते तेन 'उवयिथ' इत्येकमेव रूपं परस्मैपदे । आत्मनेपदे तु ऊये, ऊवे । अत्रोभयोरपि वकारयोः सम्प्रसारणे दीर्घयकारस्य 'वश्चास्यान्य' इति वैकल्पिके वादेशे रूपफलम् । वेञ । वयाद्यादेशा-भावे केवलं वेञ्धातोः प्राप्तं सम्प्रसारणं न भवत्युभयोरपि यण्वोरिति सूत्रार्थः । ववौ–ववतुः–ववुः–वविथ ववाथ–ववथुः–वव । ववौ–वविव–वविम । ववे ववाते–वविरे । व-विषे–ववाथे–वविध्वे । ववे–वविवहे–वविमहे । वाता । वास्यति–वास्यते । वयतु–वय-ताम् । अवयत् अवयत । वयेत्–वयेत । ऊयादिति । वेञ्धातोर्लिङि तिपि 'इतश्च' इलोपे 'यासुट् परस्मै' इति यासुटि 'वा+यास्+त्' इति जाते 'स्कोः' इति सलोपे 'किदा-शिषि' इति यासुटः कित्त्वात् 'ग्रहिज्या' इति वस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृत्सार्वधातु-

---

के परे । ग्रहि—ग्रहिज्यादि धातुओंको सम्प्रसारण हो, कित ङित्के परे । लिटि—'वय्' के यकारको संप्रसारण नहीं हो, 'लिट्' के परे । वश्चा—'वय्' के यकारको वकार आदेश हो, विकल्पसे, किट्के परे, विकल्पसे । वेञ—'वेञ्' धातुको सम्प्रसारण नहीं हो, लिट्के परे ।

वासीष्ट। इट्स्कौ। अवासीत्। अवासिष्टाम्। अवासिषुः। अवास्त। अवासाताम्। व्येञ् संवरणे। व्ययति। व्ययते। **न व्यो लिटि** ।६।१।४६। व्येञ आत्वं न स्याल्लिटि। परमपि हलादिः शेषं बाधित्वा यस्य संप्रसारणम्, 'उभयेषां' ग्रहणसामर्थ्यात्। अन्यथा वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चानुवृत्त्यैव सिद्धे, किं तेन?। विव्याय। विव्यतुः। विव्युः। **इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्** ।७।२।६६। अद्-ऋ-व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट्। विव्ययिथ। विव्यथुः। विव्य। विव्याय। विव्यय। विव्यिव।

कयोर्दीर्घः' इति दीर्घे कृते 'ऊयात्' इत्यस्य निष्पत्तिः। वासीष्ट। अवासीत्-अवासिष्टाम्-अवासिषुः। अवासीः-अवासिष्टम्-अवासिष्ट। अवासिषम्-अवासिष्व-अवासिष्म। अवास्त-अवासाताम्-अवासत। अवास्थाः-अवासाथाम्-अवास्ध्वम्। अवासि-अवास्वहि-अवास्महि। अवास्यत्-अवास्यत। व्येञ्=संवरणे। व्ययति-व्ययते। न व्यो लिटीति। व्ये इत्यस्य कृतात्वस्य षष्ठ्यन्तस्य व्य इति निर्देशः। 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति सूत्रात् आदिति अनुवर्तते, अत आह-आत्वमिति। परमपीति णलि 'व्ये अ' इति स्थिते वृद्धौ द्वित्वे सति 'लिट्यभ्यास' इत्यभ्यासयकारस्य संप्रसारणे पूर्वरूपे उत्तरखण्डस्य आयादेशे विव्यायेति वक्ष्यति। तदयुक्तम्, संप्रसारणात्प्राक्हलादिःशेषेण यकारस्य निवृत्तौ वकारस्य सम्प्रसारणेनोकारे सति 'उव्याय'इत्यापत्तिः स्यादत आह-परमपि हलादिः शेष बाधित्वा यस्य संप्रसारणमिति। उभयेषामिति। 'लिट्यभ्यासस्य' इति सूत्रेऽभ्यासस्येति ग्रहणसामर्थ्यादिति भावः। तदेवोपपादयति—अन्यथेति। 'वचिस्वपि' इत्यस्य 'ग्रहिज्या'इत्यस्य च स्वरितत्वादनुवृत्त्यैव सिद्धेः 'लिट्यभ्यासस्य' इति सूत्रे उभयेषां ग्रहणं पुनर्विधानार्थम्। तथाच वाच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य संप्रसारणं स्याल्लिटि इति द्विर्विधानं लब्धम्। तत्र द्वितीयं विधानं नियमार्थम् उभयेषां संप्रसारणमेव स्यान्नेतरदिति। तेनाभ्यासे एतत्संप्रसारणविषये कार्यान्तरनिवृत्तिः सिद्धेत्यर्थः। विव्यायेति। व्येञ् धातोर्द्वित्वे 'लिट्यभ्यासस्य' इति अभ्याससंप्रसारणे, पूर्वरूपे 'विव्ये+अ' इति जाते वृद्धौ आयादेशे 'विव्याय' इत्यस्य सिद्धिः। अग्रे—विव्यतुः-विव्युः, अत्र'वचिस्वपि'इति सम्प्रसारणे द्वित्वे यणि रूपे भवतः। इडत्त्यर्तीति। थलिति, इडिति चानुवर्तते अत आह-एभ्य इति। विव्ययिथेति। लिटि सिपि थलि धातोर्द्वित्वे अभ्याससंप्रसारणे 'इडत्त्यर्ति' इति थल इडागमे अयादेशे 'विव्ययिथ'इति सिध्यति। विव्यथुः-विव्य। विव्याय-विव्यय-'णलुत्तमो वा'। विव्यिव-विव्यिम। विव्ये-विव्याते-विव्यिरे। विव्यिषे-विव्याथे-विव्यिध्वे। विव्ये-विव्यिवहे-विव्यिमहे। व्याता-व्यास्यति। व्ययतु-व्ययताम्। अव्ययत्-अव्ययत। व्ययेत्-व्ययेत।

न व्यो—'व्येञ्' धातुको 'आत्व' नहीं हो, लिट्के परे। इडत्त्यर्ति—अद और ऋ धातुओंसे पर 'थल्'को नित्य इडागम हो।

विव्यिरे । विव्ये । व्याता । व्यास्यति । वीयात् । व्यासीष्ट । अव्यासीत् । अव्यास्त । ह्वेञ् स्पर्धायां, शब्दे च । ह्वयति । ह्वयते । **अभ्यस्तस्य च ।६।१।३३।** अभ्यस्तीभविष्यतो ह्वेञः सम्प्रसारणं स्यात् । जुहाव । जुहुवे । ह्वाता । ह्वास्यति । ह्वास्यते । **लिपिसिचिह्वश्च ।३।१।५३।** च्लेरङ् । **आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।३।१।५४।** अह्वत् । अह्वताम् । अह्वत । अह्वत । अह्वास्त । राजृ दीप्तौ । राजति । राजते । रराज । रेजतुः । रराजतुः । रेजुः । रराजुः । रेजे । रराजे । हिक्क अव्यक्ते शब्दे ।

वीयादिति । व्येधातोर्लिङि तिपि 'इतश्च' इति इलोपे 'यासुट्परस्मै' इति यासुटि 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'स्कोः' इति सलोपे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घे 'वीयात्' इत्यस्य साधुत्वम् । व्यासीष्ट । अव्यासीत्-अव्यास्त । अव्यास्यत्-अव्यास्यत । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च । ह्वयति-ह्वयते । अभ्यस्तस्य चेति । ह्वेञ इति सम्प्रसारणं चेत्यनुवर्तते, अत आह—अभ्यस्तीभविष्यतो ह्वेञः सम्प्रसारणमिति । जुहावेति । ह्वेञ्धातोर्लिटि तिपि णलि 'अभ्यस्तस्य च' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आवादेशे रूपं भवति । अग्रे जुहुवतुः । जुहुवुः । जुहविथ-जुहोथ-जुहुवथुः-जुहुव । जुहाव-जुहव-जुहुविव-जुहुविम । जुहुवे-जुहुवाते-जुहुविरे । जुहुविषे-जुहुवाथे-जुहुविध्वे । जुहुवे-जुहुविवहे-जुहुविमहे । ह्वाता । ह्वास्यति-ह्वास्यते । ह्वयतु-ह्वयताम् । अह्वयत्-अह्वयत । ह्वयेत्-ह्वयेत । हूयात्-ह्वासीष्ट । लिपिसिचीति । च्लेरङ् इत्यनुवर्तनादाह—च्लेरङ् स्यादिति । आत्मनेपदेष्वन्यतरस्यामिति । आत्मनेपदे च्लेरङ् वा स्यादित्यर्थः । परस्मैपदे तु नित्यमेवाङ् इति भावः । अह्वदिति । ह्वेञ् धातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'लिपिसिचि' इत्यादिना अङ्प्रत्ययागमे आलोपे 'अह्वत्' इत्यस्य सिद्धिः । आत्मनेपदे सति 'आत्मनेपदेष्वन्य' इति अङादेशे 'अह्वत' इति मध्यम रूपम् । अङभावे तु 'अ+ह्वा+स्+त' इति स्थितौ 'अह्वास्त' इति रूपम् । अह्वास्यत्-अह्वास्यत । राजृ = दीप्तौ राजति-राजते । रराज-रेजतुः-अत्र 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यासलोपविकल्पे रूपं शेषं सुगमम् । रेजे-रराजे । राजिता । राजिष्यति-राजिष्यते । राजतु-राजताम् । अराजत्-अराजत । राजेत्-राजेत । राज्यात्-राजिषीष्ट । अराजीत्-अराजिष्ट । अराजिष्यत्-अराजिष्यत । हिक्क = अव्यक्ते शब्दे । हिक्कति-हिक्कते । जिहिक्के । हिक्किता । हिक्किष्यति-हिक्किष्यते । हिक्कतु-हि

अभ्य—अभ्यस्तसंज्ञक (अभ्यस्त संज्ञाकी सम्भावना रहने पर) 'ह्वेञ्' धातुको संप्रसारण हो । लिपि—लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातुओंसे पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो । आत्म—'लिपिसिचिह्व' से विहित 'अङ्' आत्मनेपदमें विकल्पसे हो ।

हिक्कति । हिक्कते । अञ्चु गतौ, याचने च । अञ्चति । अञ्चते । 'अचु' इत्येके । 'अचि' इत्यपरे । डुयाचृ याच्ञायाम् । याचति । याचते । बुधिर् बोधने । बोधति । बोधते । इरित्वादङ् वा । अबुधत् । अबोधीत् । अबोधिष्ट ॥ खनु अवदारणे । खनति । खनते । चखान । चख्नतुः । चख्नुः । चख्ने । खायात् । खन्यात्- चीवृ आदान संवरणयोः । चीवति । चीवते । चायृ पूजा-निशामनयोः । चायति-

---

क्कताम् । अहिक्कत्-अहिक्कत । हिक्केत्-हिक्केत । हिक्क्यात्-हिक्किषीष्ट । अहिक्कीत् । अहिक्किष्ट । अहिक्किष्यत्-अहिक्किष्यत । अञ्चु = गतौ याचने च । अञ्चति-अञ्चते । आनञ्च-आनञ्चे । अञ्चिता । अञ्चिष्यति-अञ्चिष्यते । अञ्चतु-अञ्चताम् । आञ्चत्-आञ्चत । अञ्चेत्-अञ्चेत । अच्यात्-अञ्चिषीष्ट । आञ्चीत्-आञ्चिष्ट । आञ्चिष्यत्-आञ्चिष्यत । डुयाचृ=याच्ञायाम् । याचति-याचते । ययाच-ययाचे । याचिता । याचिष्यति-याचिष्यते । याचतु-याचताम् । अयाचत्-अयाचत । याचेत्-याचेत । याच्यात्-याचिषीष्ट । अयाचीत्-अयाचिष्ट । अयाचिष्यत्-अयाचिष्यत । बुधिर् = बोधने । बोधति-बोधते । बुबोध-बुबुधे । बोधिता । बोधिष्यति-बोधिष्यते । बोधतु-बोधताम् । अबोधत्-अबोधत । बोधेत्-बोधेत । बुध्यात्-बोधिषीष्ट । अबोधीत्-अबुधत् (इरितो वा), अबोधिष्ट । अबोधिष्यत्-अबोधिष्यत । खनु = अवदारणे । खनति-खनते । चखान । चख्नतुः । चख्नुः । अत्र 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' इत्युपधालोपः । चख्ने-चख्नाते-चख्निरे । खनिता । खनिष्यति-खनिष्यते । खनतु-खनताम्, अखनत्-अखनत । खनेत्-खनेत । खायात्-खन्यात् 'ये विभाषा' इत्यात्वविकल्पः । खनिषीष्ट । अखनिष्यत्-अखनिष्यत । चीवृ=आदानसंवरणयोः । चीवति-चीवते । चिचीव-चिचीवे । चीविता । चीविष्यति-चीविष्यते । चीवतु-चीवताम् । अचीवत्-अचीवत । चीवेत्-चीवेत । चीव्यात्-चीविषीष्ट । अचीवीत्-अचीविष्ट । अचीविष्यत्-अचीविष्यत । चायृ = पूजानिशामनयोः । चायति-चायते । चचाय-चचाये । चायिता । चायिष्यति-चायिष्यते । चायतु-चायताम् । अचायत्-अचायत । चायेत्-चायेत । चाय्यात्-चायिषीष्ट । अचायीत्-अचायिष्ट । अचायि-

---

नोटः—कर्तृ-कर्मवाच्यादिके विषयमें पहले लिखा जा चुका है (पृ० १४२ देखो) अब यहाँ क्रियापदके रूप बनानेके कुछ नियम लिखे जाते हैं:—(१) कर्मवाच्यका या भाववाच्यके रूपोंमें धातुसे 'य' लगाकर आत्मनेपदके प्रत्यय लगाये जाते हैं । इन रचनाओंमें धातुसे गणचिह्न (अ, अय, आदि) नहीं लगाये जाते । जैसेः—भू=भूयते । गम्=गम्यते । (२) इकारान्त तथा उकारान्त धातुओंके स्वरको दीर्घ हो जाता है । जैसेः—जि-जीयते । स्तु=स्तूयते । (३) कुछ आकारान्त धातुओंके आकारको ईकार हो जाता है । जैसेः—स्था=स्थीयते । दा=दीयते । गा=गीयते । मा=मीयते । (४) ऐ और ओ जिन धातुओंके अन्तमें हों उनको आकारान्त ही समझना चाहिये । जैसेः—गै=गीयते । सो=

चायते । व्यय गतौ । व्ययति । व्ययते । विव्याय । विव्यये । दाशृ दाने । दाशति । दाशते । भेषृ भये । गतावित्येके । भेषति । भेषते । अस गतिदीप्त्यादानेषु । असति । असते । आस । आसे । अयं षान्तोऽपि । स्पश बाधनस्पर्शनयोः । स्पर्शनं-ग्रन्थनम् । स्पशति । स्पशते । लष कान्तौ । लष्यति । लषति । लष्यते । लषते । चष भक्षणे । चषति । चषते । छष आदान-संवरणयोः । छषति । छषते ॥ दासृ

व्यत्-अचायिष्यत । व्यय गतौ । व्ययति-व्ययते । विव्याय-विव्यये । व्ययिता । व्ययिष्यति-व्ययिष्यते । व्ययतु-व्ययताम् । अव्ययत्-अव्ययत । व्ययेत्-व्ययेत । व्ययात्-व्ययिषीष्ट । अव्ययीत्-अव्ययिष्ट । अव्ययिष्यत्-अव्ययिष्यत । दाशृ=दाने । दाशति-दाशते । ददाश-ददाशे । दाशिता । दाशिष्यति-दाशिष्यते । दाशतु-दाशताम् । अदाशत्-अदाशत । दाशेत्-दाशेत । दाश्यात्-दाशिषीष्ट । अदाशीत्-अदाशिष्ट । अदाशिष्यत्-अदाशिष्यत । भेषृ=भये । भेषति-भेषते । बिभेष-बिभेषे । भेषिता । भेषिष्यति-भेषिष्यते । भेषतु-भेषताम् । अभेषत्-अभेषत । भेषेत्-भेषेत । भेष्यात्-भेषिषीष्ट । अभेषीत्-अभेषिष्ट । अभेषिष्यत्-अभेषिष्यत । अस—गतिदीप्त्यादानेषु । असति-असते । आस-आसे । असिता । असिष्यति-असिष्यते । असतु-असताम् । आसत्-आसत । असेत्-असेत । अस्यात्-असिषीष्ट । आसीत्-आसिष्ट । आसिष्यत् आसिष्यत । स्पश-बाधनस्पर्शनयोः । स्पशति-स्पशते । पस्पाश-पस्पशे । स्पशिता । स्पशिष्यति-स्पशिष्यते । स्पशतु-स्पशताम् । अस्पशत्-अस्पशत । स्पशेत्-स्पशेत । स्पश्यात्-स्पशिषीष्ट । अस्पशीत्-अस्पशिष्ट । अस्पशिष्यत्-अस्पशिष्यत । लष=कान्तौ । लष्यति-लषति, लष्यते-लषते, अत्र 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलष' इति श्यन् विकल्पः । ललाष-लेषे । लषिता । लषिष्यति-लषिष्यते । लषतु लषताम् । अलषत्-अलषत । लषेत्-लषेत । लष्यात् । लषिषीष्ट । अलाषीत्-अलषीत् । अलषिष्ट । अलषिष्यत् अलषिष्यत । चष=भक्षणे । चषति-चषते । चचाष-चेषे । चषिता । चषिष्यति-चषिष्यते । चषतु-चषताम् । अचषत् अचषत । चषेत्-चषेत । चष्यात्-चषिषीष्ट । अचाषीत्-अचषीत्-अचषिष्ट । अचषिष्यत्-अचषिष्यत । छष=आदानसंवरणयोः । छषति-छषते । चछाष-छेषे । छषिता । छषिष्यति-छषिष्यते । छषतु-छषताम् । अछषत्-अछषत । छषेत्-छषेत । छष्यात्-छषिषीष्ट । अछाषीत्-अछषीत् । अछषिष्ट । अछषिष्यत्-अछषिष्यत । दासृ=दाने । दासति-दासते । ददास-ददासे । दासिता । दासिष्यति-दासिष्यते । दासतु-दासताम् । अदासत्-अदासत । दासेत्-दासेत । दास्यात्-दासिषीष्ट । अदासीत्-अदासिष्ट । अदासिष्यत्-अदासिष्यत ।

सीदते । (५) ऋकारान्त धातुओंके 'ऋ' को 'रि' हो जाता है । जैसे,—कृ=क्रियते । हृ=ह्रियते । (६) कुछ धातुओंके 'य व र ल' के स्थानमें यथाक्रमसे 'इ उ ऋ लृ' हो जाते हैं ।

दाने । दासति । दासते ॥ धावु गतिशुद्धयोः । धावति । धावते ।

इति भ्वादिप्रकरणम् ॥

अथ अदादिप्रकरणम्

ऋतेरीयङ् ।३।१।२९। स्वार्थे । ऋतिः-सौत्रः । जुगुप्सायामिति बहवः । कृपायां चेत्येके । ऋतीयते । ऋतीयाञ्चक्रे । 'आयादय' इति ईयङभावपक्षे शेषत्वात् परस्मैपदम् । द्वित्वेऽभ्यासलोपे च जाते, 'ऋत्' । 'तस्मान्नुड्द्वि'इति नुट् । गुणः । आनर्त्त । अर्त्तिष्यतीत्यादि ॥ अद भक्षणे । अदिप्रभृतिभ्यः शपः

धावु-गतिशुद्धयोः । धावति-धावते । दधाव-दधावे । धाविता । धाविष्यति-धाविष्यते । धावतु-धावताम् । अधावत्-अधावत । धावेत्-धावेत । धाव्यात्-धाविषीष्ट । अधावीत्-अधाविष्ट । अधाविष्यत्-अधाविष्यत ।

अथ लुग्विकरणान् धातून् निरूपयितुमुपक्रमते—ऋतेरीयङिति । ऋतिः=जुगुप्सायाम् कृपायां वा । अयं सौत्रो धातुः न तु धातुपाठपठितः । तान्तोऽयम् ऋतेरिति तु इकारनिर्देशविशिष्टा षष्ठी । अहेतुनिर्देशात्स्वार्थे इति सूत्रार्थः । ऋतीयते इति । ऋत् धातोः लटि तङि शपि 'ऋतेरीयङ्' इतीयङो ङित्त्वेनान्त्यावयवे टेरेत्वे च कृते 'ऋतीयते' इति सिद्ध्यति । ऋतीयाचक्रे । ऋत्धातोरीयङि लिटि ऋतीय इति जाते 'कास्प्रत्ययादाम आम्रचकृच्छ्रः' इत्यनेकाच्त्वादामि 'आमः' इति लोपे 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे 'लिटि धातोः' इति कृञो द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषे अभ्यासचर्त्वे मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'ऋतीयाञ्चकृ—लिट्' इति जाते तङि 'लिटस्तझयोः' इत्येशादेशे शित्त्वात्सर्वादेशे यणि 'ऋतीयाञ्चक्रे' इत्यस्य सिद्धिः । 'आयादय आर्धधातुके वा' इतीयङभावे तु ऋत्धातोर्लिटि तिपि णलि द्वित्वे उरदत्वे हलादिशेषे 'अ ऋत्-अ' इति जाते 'अत आदेः' इत्यभ्यासातो दीर्घे 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुटि 'नुगन्त' इति गुणे 'आनर्त' इति प्रभवति । अत्र नात्मनेपदम्, आत्मनेपदनिमित्तत्वाभावात् । अत एव कर्तरि परस्मैपदम् । ऋतीयिता-अर्तिता । ऋतीयिष्यते-अर्तिष्यति । ऋतीयताम् । आर्तीयत । ऋतीयेत । ऋतीयिषीष्ट । अर्त्यात् । आर्तीयिष्ट । आर्तीयिष्यत-आर्तिष्यत् । अद भक्षणे इति । अनिटयम् । अदिप्रभृतिभ्य इति । 'ण्यक्षत्रियार्षञितः' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं

जैसेः—यज्=इज्यते । वप्=उप्यते । इत्यादि (इस परिवर्तनको संप्रसारण कहते हैं)।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भ्वादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

ऋतेः—'ऋत' धातुसे 'ईयङ्' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । अदि—अदादि गणपठित धातुओंसे

।२।४।७२। लुक् स्यात्। अत्ति। अत्तः। अदन्ति। अत्सि। अत्थः। अत्थ। अद्मि। अद्वः। अद्मः। लिट्यन्यतरस्याम् ।२।४।४०। अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि। जघास। उपधालोपः। घस्य चर्त्वम्। शासिवसिघसीनां च ।८।३।६०। इण्कुभ्यां परस्य षः। जक्षतुः। जक्षुः। भारद्वाजनियमात्थलि नित्यमिट्—जघसिथ॥ आद। आदतुः। आदुः। 'इडत्त्यर्तिव्ययतीनामि'ति नित्यमिट्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति। अत्तु। अत्तात्। अत्ताम्। अदन्तु॥ हुझल्भ्यो हेर्धिः ।६।४।१०१। होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि। अत्तात्। अत्तम्। अत्त। अदानि। अदाव। अदाम। अदः सर्वेषाम् ।७।३।१००। अदः परस्यापृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात्, सर्वमतेन। आदत्। आत्ताम्। आदन्। आदः। आत्तम्। आत्त।

व्याख्या—लुक् स्यादिति। अदिप्रभृतिभ्यः परस्य शपो लुगिति फलितम्। अत्ति। अद्—भक्षणे, अस्माद् धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, अटयोरित्संज्ञायां लोपे च, ल- स्थाने, 'तिप्तस्झि' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, पगते 'अद् ति' इति जाते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तिपः सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति तिपि परे शपि जाते 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'खरि च' इति दस्य चर्त्वे, 'अत्ति' इति रूपम्। जघास। अद् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, लिटो ल- स्थाने प्रथमपु- रुषैकवचने तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिट्यन्यतरस्याम्' इति अदो घस्लृ आदेशे जाते ऌकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'घस् अ' इति स्थिते 'लिटि धातोरनभ्यास स्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति सलोपे 'कुहोश्चुः' इति घस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'अत उपधायाः' इति घकाराकार स्य वृद्धौ 'जघास' इति रूपम्। आद। घस्लादेशाभावपक्षे—अद्धातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति दलोपे 'अत आदेः' इति अभ्यासाकारस्य दीर्घे आकारे जाते 'अत उपधायाः' इति अद उपधाया वृद्धौ 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'आद' इति रूपम्। अत्स्यति। अद्धातोर्लृटस्तिपि पगते स्ये, इडभावे, 'खरि च' इति दस्य चर्त्वे 'अत्स्यति' इति रूपम्। अत्तु। अद्धातोर्लोटस्तिपि, पगते शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'खरि च' इति दस्य चर्त्वे, 'एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे 'अत्तु' इति रूपम्। 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' इति तो स्था- ने तातङि 'अत्तात्' इति। अदः सर्वेषामिति। अदः इति पञ्चमी। 'तस्मादित्युत्तरस्य

पर 'शप्' का लुक् हो। लिट्य—'अद्' को 'घस्लृ' आदेश हो, 'लिट्' के परे, विकल्पसे। शासि—इण्-कवर्गसे पर 'शास्' और 'वस्' धातुसम्बन्धी सकारको षकार आदेश हो। हुझ—'हु' धातु और झलन्त धातुओंसे पर 'हि' को 'धि' आदेश हो। अदः—'अद्' धातुसे

आदम्। आद्व। आद्य। अद्यात्। अद्याताम्। अद्युः। अद्याः। अद्यात्। अद्यास्ताम्। अद्यासुः। लुङ्सनोर्घस्लृ।२।४।३७। अदः लुङि घस्लृ-अघसत्। आत्सपद्॥ हन हिंसागत्योः। हन्ति। अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति।६।४।३७। 'अनुनासिके'ति लुप्तषष्ठीकं, वनतीतरेषां विशेषणम्। अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ क्ङिति परे। यमि-रमि-नमि-गमि हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। तनु षणु क्षणु क्षिणु ऋणु तृणु घृणु—वनु मनु-तनोत्यादयः हतः। घ्नन्ति। हंसि। हथः। हथ। हन्मि। हन्वः।

इति परिभाषया परस्येति लभ्यते। 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतोऽपृक्ते इति 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते। सप्तमीद्वयं च षष्ठ्या विपरिणम्यते। 'अङ्गार्ग्यगालवयोः' इत्यतः अडित्यनुवर्तते। गार्ग्यगालवयोरनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सर्वेषामिति, तदाह—अदः परस्येत्यादिना। अद्यात्। अद्धातोर्लिङस्तिपि, शपि, शपो लुकि, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि, डटि, गते, टित्त्वाद्याद्यवयवे जाते 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अद्यात्' इति रूपम्। अघसत्। अद्धातोः 'लुङ्' इति लुङि, गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'तिप्तस्झि' इत्यादिना तिपि, पगते 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति अदः स्थाने घस्लृ इत्यादेशे कृते लृकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति प्राप्ते तद्बाधित्वा 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेः स्थाने अङि, ङगते अङ्गस्य अडागमे जाते, तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अघसत्' इति रूपम्। हन्ति। हन्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, अटि गते लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि पगते, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, सिद्धित्वा 'हन्ति' इति रूपम्। अनुदात्तोपदेशेति। 'अनुनासिक इति लुप्तषष्ठीकं पदं वनतीतरेषां विशेषणम्। वनधातोस्तु अनुनासिकान्तत्वाद्य विशेषणम्। अव्यभिचाराद्। तदेवाह—अनुनासिकान्तानामेषामिति। अनुदात्तोपदेशान् अनुनासिकान्तान् दर्शयति—यमिरमीति। अनुदात्तोपदेशेषु एतेषामेव षण्णामनुनासिकान्तत्वादिति भावः। अथ तनोत्यादीननुनासिकान्तान् दर्शयति—तनुषणुक्षणुक्षिणिति एतेऽष्टौ तनोत्यादयोऽनुनासिकान्ता इत्यर्थः। घ्नन्ति। हन्धातोर्लटो झौ, शपि शपो लुकि, 'झोऽन्तः' इति झस्य अन्तादेशे 'हन् अन्ति' इति जाते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति अन्तेः सार्वधातुकत्वे 'सार्व-

---

पर अपृक्त सार्वधातुकको 'अट्' का आगम हो, सभी आचार्योंके मतसे। लुङ्—'अद्' धातुको 'घस्लृ' आदेश हो, 'लुङ्' और 'सन्' के परे। अनु—अनुनासिकान्त जो अनुदात्तोपदेश और तनोत्यादि (तनु विस्तारे आदि) धातु तथा 'वन्' धातु, इनके अनुनासिकका

हन्मः। **वमोर्वा** ।८।४।२३। उपसर्गस्थान्निमित्तात्हन्तेर्नस्य णो वा स्याद्वमोः परयोः। प्रहण्मि। प्रहन्मि। प्रहण्व। प्रहन्वः। प्रहण्मः। प्रहन्मः। जघान। जघ्नतुः। जघ्नुः। **अभ्यासाच्च** ।७।३।५५। अभ्यासात्परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ। जघन्थ। जघ्नथुः। जघ्न। जघान। जघन। जघ्निव। जघ्निम। हन्ता हनिष्यति। हन्तु। हतात्। हताम्। घ्नन्तु। **हन्तेर्जः** ।६।४।३६। हन्तेर्जः स्यात् हौ परे। **असिद्धवदत्राऽऽभात्** ।६।४।२२। इत ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेराभीयम्।

धातुकमपित्' इति अन्तेर्ङित्त्वे 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' इति हन उपधालोपे 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हस्य कुत्वेन घकारे 'घ्नन्ति' इति रूपम्। वमोर्वेति। हन्तेरत्पूर्वस्येति सूत्राद्धन्तेरिति अनुवर्तते। णत्वमित्यपि। तेनोपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेः वमोः परतो नस्य णत्वं वा स्यादिति सूत्रार्थः फलितः। प्रहण्मि प्रहन्मि। प्रोपसृष्टाद्धन्तेर्लटि मिपि शिपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शब्लुकि प्रोपसर्गस्थरेफमाश्रित्य हन्धातोर्नकारस्य मकारे परत्वेन 'वमोर्वा' इति सूत्रेण वैकल्पिके णत्वे 'प्रहण्मि-प्रहन्मि' इति रूपद्वयं सिद्ध्यति। तद्वत् 'प्रहण्व प्रहण्मः' अत्रापि वैकल्पिकं णत्वमवसेयम्। जघान। हन् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, इटि गते प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुस' इत्यादिना तिपो णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति नलोपे 'ह हन् अ' इति जाते 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासहकारस्य चुत्वेन झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जकारे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हनो हस्य कुत्वेन घत्वे 'जघान' इति रूपम्। अभ्यासाच्चेति। 'हो हन्ते' इत्यनुवर्तते। 'चजोः कु घिण्यतोः' इत्यतः कुग्रहणञ्च। तदाह—अभ्यासात्परस्येत्यादिना। जघनिथ। हन्धातोर्लिटि सिपि सिपः स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुस' इत्यादिना थलि, उगते 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे भारद्वाजनियमादिड्विकल्पे, द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च जाते 'ज हन् इ थ' इति स्थिते ञ्णित्प्रत्ययपरत्वाभावान्नकारपरत्वाभावाच्च 'हो हन्ते' इति कुत्वाप्राप्तौ 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वे 'जघनिथ' रूपम्। इडभावे पूर्ववत्प्रसाध्य 'जघन्थ' इति रूपम्। हन्तेर्ज इति। 'शा हौ' इत्यतो हौ इत्यनुवृत्तिमभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—हौ परे इति। असिद्धवदत्रेति। षष्ठस्य चतुर्थपादे इदं सूत्रम् 'श्नान्नलोपः' इति सूत्रात्पूर्वं पठितम्। आभादित्यभिविधावाङ्। अस्येत्यधिकारमभिव्याप्येत्यर्थः।

लोप हो, झलादि कित्-ङित्के परे। वमो—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर 'हन्' धातुके नकारको णकार हो, वकार-मकारके परे, विकल्पसे। अभ्या—अभ्याससे पर 'हन्' धातुके हकारको कुत्व हो। हन्ते—'हन्' धातुको 'ज' आदेश हो 'हि' के परे। असि—समानाश्रय 'आभीय' कार्य कर्तव्य हो तो तत्समानाश्रय आभीय शास्त्र असिद्ध हो। (इस सूत्रसे लेकर अध्यायके

समानाश्रये तस्मिन्कर्त्तव्ये तदसिद्धं स्यात् ।—इति अस्यासिद्धत्वान्न हेर्लुक्। जहि। हतात्। हतम्। हत। हनानि। हनाव। हनाम। अहन्। अहताम्। अघ्नन्। अहन्। अहतम्। अहत। अहनम्। अहन्व। अहन्म। हन्यात्। आर्द्धधातुके २।४।३५। इत्यधिकृत्य। हनो वध लिङि ।२।४।४२। लुङि च २।४।४३। वधादेशोऽदन्तः। 'आर्द्धधातुके' इति विषयसप्तमी, तेनार्द्धधातुकोपदेशेऽकारान्तत्वादतो लोपः। वध्यात्। वध्यास्ताम्। अवधीत्। अहनिष्यत्॥ यु मिश्रणामिश्रणयोः। उतो

भाधिकारश्च आपादपरिसमाप्तेरिति सिद्धान्तः। तथा च आपादपरिसमाप्तेरिति लभ्यते। जहि। हन्धातोर्लोटः सिपि शपि शपो लुकि, 'सेर्ह्यपिच्च' इति सिपः सेः स्थाने हौ कृते 'हन् हि' इति भूते 'हन्तेर्जः' इति हनः स्थाने जादेशे जाते 'ज हि' इति स्थिते अत्र 'अतो हेः' इति अतः परस्य हेर्लुक् न भवति। 'असिद्धवदत्राभात्' इति जादेशस्य असिद्धत्वात्। तेन 'जहि' इति रूपं सिद्धम्। हन्यात्। हन् धातोर्लिङस्तिपि, शपि, शपो, लुकि, यासुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे 'इतश्च'इति तिप इकारलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'हन्यात्' इति रूपम्। लुङि चेति। हनो वधादेशः स्यात्। लुङीत्यर्थः स्पष्टः। वध्यात्। हन्धातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि, लिङो लः स्थाने तिपि, 'लिङाशिषि' इति तिप आर्धधातुकत्वे 'हनो वध लिङि' इति हनः स्थाने वधादेशे 'किदाशिषि' इति यासुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे 'वध यास् ति'इति जाते 'अतो लोपः'इति वधाकारस्य लोपे तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'वध्यात्' इति रूपम्। अवधीत्। हन् धातोः 'लङ्' इति लुङि, 'लुङि च' इति हनः स्थाने वधादेशे कृते लुङो लः स्थाने तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अटि, 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अ वध् स् त्' इति स्थिते सिचः सकारस्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि, 'अतो लोपः' इति वधाकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्य सिद्धत्वात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे, अवधीत्' इति रूपम्। यु मिश्रणामिश्रणयोः। अमिश्रणं पृथक् भावः। सेडयम्। उतो वृद्धिर्लुकीति। 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति अचिवर्जमनुवर्तते। लुकीति विषयसप्तमी, हर्ल-

---

तृतीय पादकी समाप्ति पर्यन्त 'आभीय' कहलाता है) आर्ध—यह अधिकार सूत्र है। हनो वध लिङि,। लुङि च—हन् धातु को 'वध' आदेश हो, लिङ् और लुङ्के परे। उतो—लुक्के विषयमें (हस्व) उकारको वृद्धि हो, हलादि पित् सार्वधातुकके परे-अभ्यस्त-

उतो वृद्धिर्लुकि हलि ।७।३।८९। लुग्विषये उतो वृद्धिः स्यात् पिति हलादौ सार्वधातुके, न त्वभ्यस्तस्य । यौति । युतः । युवन्ति । यौषि । युथः । युथ । यौमि । युवः । युमः । युयाव । युयुवतुः । युयुवुः । युयविथ । युयोथ । युयुवथुः । युयुव । युयाव । युयव । युयुविव । युयुविम । यविता । यविष्यति । यौतु । युतात् । अयौत् । अयुताम् । अयुवन् । युयात् । इह वृद्धिर्न, भाष्ये 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्ने'ति व्याख्यानात् । विशेषविहितेन ङित्त्वेन पित्त्वस्य बाधात् । युयाताम् । युयुः । यूयात् । यूयास्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयविष्यत् । या प्रापणे । याति । यातः । यान्ति । ययौ । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयाताम् । **लङः शाकटायनस्यैव** ।३।४।१११। आदन्तात्परस्य लङो झेर्जुस् वा । अयुः । अयान् । यायात् । यायाताम् । यायुः । यायात् । यायास्ताम् । यायासुः । अयासीत् । अयासिष्टाम् । अयास्यत् । एवं—वा

भावादस्य लुकः परत्वासम्भवात् । तदाह—लुग्विषय इत्यादिना । यौति । युधातोर्लटस्तिपि, शपि, शपो लुकि, 'यु ति' इति स्थिते 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति यौते-रुकारस्य वृद्धौ 'यौति' इति रूपम् । युयाव । युधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च 'यु यु अ' इति भूते 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे 'युयाव' इति रूपम् । अयावीत् । यु धातोः 'लुङ्' इति लुङि, लुङो स्थाने तिपि, च्लौ, च्लेः सिच्, इचि गते अटि, तिप इकारलोपे सिचः सस्य इटि तिपस्तस्य ईटि, 'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे सिज्लोप एकादेशे कर्तव्ये सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अ यु ई त्' इति जाते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ आवादेशे च 'अयावीत्' इति रूपम् । या-प्रापणे । प्रापणमिह गतिः । णिजर्थस्तु अविवक्षित इति भावः । ययौ । याधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, 'आत औ णलः' इति औ आदेशे द्वित्वे अभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्य अचो ह्रस्वत्वे 'य या औ' इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ययौ' इति रूपम् । लङः शाकटायनस्यैवेति । 'झेर्जुस्' इति 'आतः' इति चानुवर्तते । तदाह—आदन्तादिति । अयुः । याधातोर्लङो झौ शपि, शपो लुकि अटि, 'अ या झि' इति जाते 'लङः शाकटायनस्यैव' इति झेर्जुसि, 'चुटू' इत्येत्संज्ञायां लोपे च 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपे उस सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'अयुः' इति रूपम् । जुसोऽभावे 'झोऽन्तः' इत्यन्तादेशे इकारलोपे तलोपे च जाते सवर्णदीर्घे च कृते 'अयान्' इति रूपम् । यायात् । याधातोर्लिङस्तिपि, शपि, शपो लुकि, यासुटि, उटि गते 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'यायात्' इति रूपम् ।

ईंसक धातुको छोड़कर । टीका—आदन्त धातुसे पर 'लङ्' सम्बन्धी 'झि' को जुस् हो ।

गतिगन्धनयोः । भा दीप्तौ । ष्णा शौचे । 'वाऽन्यस्य संयोगादेः'रित्येत्त्वम् । स्नेयात् । स्नायात् । श्रा पाके । द्रा कुत्सायां गतौ । प्सा भक्षणे । पा रक्षणे । रा दाने । ला आदाने । दाप् लवने । ख्या प्रकथने । अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः । ख्याति ॥ विद ज्ञाने । विदो लटो वा ।३।४।८३। वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः । वेद । विदतुः । विदुः । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विद्व । विद्म । पक्षे —वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ।३।१।३८। एभ्यो लिटयाम् वा स्यात् । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः । विदाञ्चकार ।

अयासीत् । याधातोर्लुङस्तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि इचि गते अटि, तिप इकारलोपे 'अ या स् त्' इति स्थिते अत्र 'यमरमनमातां सक्च्' इत्यनेन सिचः सकारस्य इडागमे आकारान्तधातोः सकागमे 'अ यास् इ स् त्' इति भूते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे एकादेशे कर्तव्ये सिज्लोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'अयासीत्' इति रूपम् । अयं सार्वधातुक इति । अत्र प्रमाणम्-'सस्थानत्वं नमः ख्यात्रे' इति वार्तिकम्, तद्भाष्यञ्च । सस्थानो-जिह्वामूलीयः । स नेति ख्याञादेशस्य खशादित्वे प्रयोजनमित्यर्थः । विद ज्ञाने । सेडयं धातुः, अनिट्सु लुग्विकरणस्याग्रहणात् । विदो लटो वेति । 'परस्मैपदानां णलतुस्' इत्यादिसूत्रमनुवर्तते । विद इति पञ्चमी । तदाह—वेत्तेर्लट इति । विद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, अटि गते लः स्थाने 'तिप्तस्झि' इत्यादिना तिपि, 'विदो लटो वा' इति तिपः स्थाने णलि, णस्य लस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्व' इति सार्वधातुकत्वे, 'कर्तरि शप्' इति शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति विद उपधाया इकारस्य गुणे वेद इति रूपम् । विदतुः । विद्धातोर्लटस्तसि, शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'विदो लटो वा' इति विकल्पेन तसोऽतुसि, अतुसः सस्य रुत्वे, रेफस्य विसर्गत्वे च 'विदतुः' इति रूपम् । उपविदजागृभ्य इति । 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' इत्यतः आम् लिटीत्यनुवर्तते । तदाह—एभ्यो लिटीति । विदाञ्चकार । विद्धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, 'उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' इति आमि, 'आमः' इति लिटो लुकि, अत्र आमः आर्धधातुकत्वेऽपि विद उपधायाः लघूपधगुणो न । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानात् । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञि अनुप्रयुक्ते 'विदाम् कृ लिट्' इति जाते लिटो लः स्थाने तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे

विकल्पसे । विदो—'विद्' धातुसे पर 'लोट्' सम्बन्धी परस्मैपदको णलादि आदेश हो, विकल्पसे । उप-इत्, विद् और जागृ धातुओंसे 'आम्' प्रत्यय हो, 'लिट्' के परे, विकल्पसे ।

विवेद । वेदिता । वेदिष्यति । विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ।३।१।४१। वेत्तेर्लोट्याम्, गुणाभावो लोटो लुक्, लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते । पुरुषवचने न विवक्षिते । इतिशब्दात् । तनादिकृञ्भ्य उः ।३।१।७९। तनादेः, कृञश्च उप्रत्ययः स्यात् । शपोऽपवादः । विदाङ्करोतु । अत उत्सार्वधातुके ।६।४।११०। उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत्स्यात्सार्वधातुके क्ङिति । विदाङ्कुरुतात् । विदाङ्कुरुताम् । विदाङ्कुर्वन्तु । 'उतश्चे'ति हेर्लुक् । आभीयत्वेन लुकोऽसिद्धत्वादुत्वम् । विदाङ्कुरु ।

'हलादि शेष' इति हलोपे 'विदाम् क कृ अ' इति भूते 'कुहोश्चु' इति अभ्यासकस्य चुत्वेन चकारे कृ इत्यस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे अकारे 'उरण् रपर' इति रपरे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ आमो मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च 'विदाञ्चकार' इति रूपम् । विवेद । विद्धातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, द्वित्वे अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च जाते 'लिट् च' इति णलोऽकारस्यार्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'विवेद' इति रूपम् । विदाङ्कुर्वन्त्विति । 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्युत्तरमिदं सूत्रम् । इति शब्द प्रकारे । एवञ्जातीयक वैकल्प्येन प्रत्येतव्यमित्यर्थ, वेत्तेरिति । लुग्विकरणात् विद्धातो लोटि परे आम्प्रत्ययो निपात्यत इत्यर्थं । लोडन्तेति । आमन्ताद्विदे लोडन्तकृञ्धातो अनुप्रयोगश्च निपात्यत इत्यर्थ । पुरुषेति । कुर्वन्त्विति प्रथमपुरुषो बहुवचनञ्च न विवक्षितमित्यर्थं । तयोस्तु नान्तरीयकमुच्चारणमिति भाव । तनादिकृञ्भ्य इति शपोऽपवाद इति । अनेन शब्विषय एवास्य प्रवृत्तिरिति सूचितम् । 'सार्वधातुके यक्' इत्यत सार्वधातुकग्रहणस्य 'कर्तरि शप्' इत्यत कर्तरीत्यस्य चानुवृत्तेरिति भाव । विदाङ्करोतु । विद्धातोर्लोटि, 'विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इत्यामि, 'आम' इति लोटो लुकि, लोट्परके कृञि प्रयुक्ते 'विदाम् कृ लोट्' इति स्थिते लोट स्थाने तिपि, तिप सार्वधातुकत्वात् शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा 'तनादिकृञ्भ्य उ' इत्युकारे कृते 'विदाम् कृ उ ति' इति जाते 'आर्धधातुक शेष' इति उकारस्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति उभयत्र गुणे 'एरु' इति तिप इकारस्योत्वे मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे सयोगे च कृते 'विदाङ्करोतु' इति रूपम् । अत उत् । उप्रत्ययान्तस्येति । 'उतश्च प्रत्ययात्' इत्यत तदनुवृत्तेरिति भावः । कृञोऽकारस्य उदिति । 'नित्य करोते' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भाव । क्ङितीति । 'गमहन' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भाव । विदाङ्कुरुतात् । विद्धातोर्लोटि, 'विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इति आमि, 'आम' इति लोटो लुकि, लोट्-

विदां—'लोट्' के परे—'विद्' धातुसे 'आम्' गुणका अभाव और 'लोट्' का लुक् एवं लोडन्त कृधातुका अनुप्रयोग निपातन हो, विकल्पसे । तना—तनादिगण पठित धातु और 'कृञ्', धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे । अत—उप्रत्ययान्त कृञ् धातुके

विदाङ्करवाणि । वेत्तु । अवेत् । अवित्ताम् । अविदुः । **दश्च** ।८।२।७५। धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि रुर्वा । अवेः । अवेत् । विद्यात् । विद्याताम् । विद्युः । विद्यात् । विद्यास्ताम् । विद्यासुः । अवेदीत् । अवेदिष्यत् । **अस् भुवि** । अस्ति । **श्नसोर-ल्लोपः** ।६।४।१११। श्नस्यास्तेश्चातो लोपः, सार्वधातुके क्ङिति । स्तः । सन्ति । 'तासस्त्योरि'ति सलोपः । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः । **अस्तेर्भूः** ।२।४।५२। अस्तेर्भूः आर्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु । स्तात् ।

परककृञि चानुप्रयुक्ते 'विदाम् कृ लोट्' इति जाते, लोटस्तिपि 'एरुः' इति उत्वे, तातङि, शपं बाधित्वा 'तनादिकृञ्भ्य उः' इति उविकरणे कृते तस्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे च कृते 'अत उत्सार्वधातुके' इति ककाराकारस्य उत्वे, मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'विदाङ्कुरुतात्' इति रूपम् । दश्चेति । 'सिपि धातोरुर्वा' इत्यनुवृत्तम् । द इति षष्ठ्यन्तेन धातुर्विशेष्यते । तद-न्तविधिः । 'पदस्य' इत्यधिकृतम् । तदाह -धातोर्दस्य पदान्तस्येति । अवेः विद्धा-तोर्लङस्सिपि, शपि, शपो लुकि, अटि सिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'पुगन्तलघू-पधस्य च' इति उपधागुणे 'अवेद् स्' इति भूते 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सिपः सस्य लोपे 'दश्च' इति विदेर्दस्य वा रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'अवेः' इति रूपम् । रुत्वाभावपक्षे—'अवेत्' इति । अवेदीत् । विद् धातोः 'लुङ्'इति लुङि लकारे उङावितौ लस्य तिबादेशे, च्लौ, च्लेः सिचि, इचोर्लोपे 'आर्धधातुक-स्येड्वलादेः' इतीटि 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्तसञ्ज्ञकस्य तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि' इति इटः परस्य सिचः सकारस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः'इति सवर्णदीर्घत्वे 'पुगन्त-लघूपधस्य च'इति लघूपधस्येकारस्य गुणे 'अवेदीत्'इति। अस्ति। अस्भुविधातोर्लटि तिपि शपि शपो लुकि 'अस्ति' इति। श्नसोरल्लोप इति। अत् इति लुप्तषष्ठी पदम् । श्न अस् अनयोर्द्वन्द्वात्षष्ठीद्विवचनम् । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । श्नेति श्नम्प्रत्ययैकदेशनिर्देशः । 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इत्यनुवर्तते 'गमहन' इत्यतः क्ङितीति । तदाह—श्नस्येत्यादिना । स्तः । अस् धातोस्तसि 'श्न-सोरल्लोपः' इत्यस्तेरकारलोपे सस्य विसर्गे 'स्तः' इति । बभूव । अस्धातो र्लिटो लः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशे, अनुबन्धलोपे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'अस्तेर्भूः' इति असधातोः स्थाने 'भू' इत्यादेशे 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति

'अत्' को 'उत्' आदेश हो, सार्वधातुक कित्-ङित्के परे । दश्च—धातुके पदान्त दकारको 'रुत्व' हो, 'सिप्'के परे, विकल्पसे । श्नसो—'श्नम्'प्रत्यय और 'अस'धातुके अकारका लोप हो, सार्वधातुक ङित्-कित्के परे। अस्ते—'अस्' धातुको 'भू'आदेश हो, आर्धधातुकके परे।

स्ताम् । सन्तु । **घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च** ।६।४।११९। घोरस्तेश्चैत्वं हौ, अभ्यासलोपश्च । आभीयत्वाद्धेर्धिः । एधि । स्तात् । स्तम् । स्त । असानि । असाव । असाम । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः । भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् । **उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः** ।८।३।८७। उपसर्गेणः प्रादुसश्च परस्यास्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे । निष्यात् । प्रादुष्यात् । निःषन्ति । प्रादुः-

---

वुगागमे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः' इति भुव ऊकारस्य अकारे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासभकारस्य बकारे 'बभूव' इति रूपम् । लुटि— भविता । लृटि—भविष्यति । अस्तु । अस्धातोः 'लोट् च' इति लोटि लोपे लः स्थाने तिपि, शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'अस् ति' इति स्थिते 'एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे 'अस्तु' इति रूपम् । 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' इति तोः स्थाने तातङि, तस्य ङित्वात् 'श्नसोरल्लोपः' इति अस्तेरकारलोपे । 'स्तात्' इति पदे रूपम् । स्ताम् । लोटस्तसि, शपि, शपो लुकि, 'लोटो लङ्वत्' इति लङ्वद्भावात् 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति तसस्तामादेशे 'श्नसोरल्लोपः' इति अस्तेरकारस्य लोपे सति रूपम् । सन्तु । झौ 'झोऽन्तः' इत्यन्तादेशे 'एरुः' इति उत्वे असोऽकारलोपे रूपम् । घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चेति । घु अस् अनयोर्द्वन्द्वः । 'एत् हौ' इति च्छेदः । एधि । अस्धातोर्लोटि सिपि 'सेर्ह्यपिच्च' इति सिपो हिरादेशः स च अपित् 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति सस्य एत्वे, एत्वस्यासिद्धत्वाद् 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धौ, 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'एधि' इति जायते । तातङ्पक्षे परेण तातङा बाधादेत्वाभावे 'स्तात्' इति रूपम् । असानि । अस्धातोर्लोटो मिबादेशे 'मेर्निः' इति मिपो निरादेशे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति आटि 'असानि' इति बोध्यम् । आसीत् । अस्धातोर्लङस्तिपि इलोपे 'आडजादीनाम्' इति आटि 'आटश्च' इति वृद्धौ, शपो लुकि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्तसञ्ज्ञकस्य तकारस्य ईटि 'आसीत्' इति । उपसर्गप्रादुर्भ्यामिति । इण् इत्यनुवर्तते । सच उपसर्गविशेषणं तेन उपसर्गस्य च इण्प्रत्याहारिको वर्णस्तस्मात्परस्यास्तेः सस्य षत्वं स्याद्यकारेऽचि च परतः इत्येकोऽर्थः । द्वितीयस्तु प्रादुषोऽव्ययात्परस्यास्तेः सस्य षत्वं स्यात् यकारे अचि वा परत इति द्वितीयोऽर्थः फलितः । अत्र उपसर्गं इणः परत सकारव्यवधानेऽपि यकारे परत षत्वं स्यादेव 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यादि'ति भावः । निष्यात्-

---

घ्वसो—घुसंज्ञक धातु और 'अस' धातुको 'एत्व' और अभ्यासका लोप हो, 'हि' के परे।
उपस—उपसर्गसंबन्धी 'इण्' से पर और 'प्रादुस्' (शब्द अव्यय) से पर 'अस्' धातुके

वन्ति। यच्परे किम्? अभिस्तः। रु शब्दे। तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके।७।३।९५। एभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य हलादेस्तिङ ईड् वा स्यात्। 'नाभ्यस्तस्ये' त्यतोऽनुवृत्तिसम्भवे पुनः 'सार्वधातुक'ग्रहणमपिदर्थम्। रवीति। रौति। रुवीतः। रुतः। हलादेः किम्? रुवन्ति। तिङः किम्? शाम्यति। सार्वधातुके किम्? आशिषि—रूयात्। विध्यादौ तु–रुयात्। रुवीयात्। अरावीत्। अरविष्यत्। 'तु' इति सौत्रो धातुः गतिवृद्धिहिंसासु। तवीति। तौति। तुवीतः। तुतः। तुवन्ति। तुताव। तोता। तोष्यति। णु स्तुतौ। नौति। नुनाव। नविता। टु क्षु शब्दे। क्षौति। चुक्षाव। क्षविता। क्ष्णु तेजने। क्ष्णौति। क्ष्णविता। अक्ष्णावीत्। ष्णु प्रस्रवणे। स्नौति। सुष्णाव। स्नविता। षु प्रसवैश्वर्ययोः। प्रसवोऽभ्यनु·

प्रादुःष्यात्। अत्र निस् स्यात्, प्रादुस् स्यात् इति स्थिते उभयोरपि सकारयोः रुत्वे विसर्गे 'उपसर्गप्रादुर्भ्यां' इति ततःपरस्यासधातोः सस्य षत्वे निःष्यात्-प्रादुः-ष्यात् इति रूपे। निःषन्ति।–प्रादुःषन्ति। अत्रापि असधातोरच्परकत्वात्। उपसर्गस्थेणः परे सस्य सत्वात्तस्य षः इति भावः। तुरुस्तुशम्यम इति। ईड्वेत्यनुवर्तनादाह-एभ्यः सार्वधातुकस्य हलादेस्तिङि ईड् वेति। रवीतीति। रु शब्देऽस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि शपो लुकि 'तुरुस्तुशम्यम' इति ईडागमे गुणेऽवादेशे 'रवीति' इति रूपम्। ईडभावे तु 'रु-ति' इति स्थिते 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति वृद्धौ 'रौति' इति द्वितीयं रूपं भवति। रुवीतः इति। अत्रापि ईटि सति 'अचि श्नु' इत्युवङि 'रुवीतः' इति रूपं तदभावे 'रुतः',इति रूपम्। रुवन्ति। अत्र नेट् हल्परकत्वाभावात्। रुराव। रविता। रविष्यति। रवीतु–रौतु। अरवीत्–अरौत्। रुयात्-रुवीयात्। अरावीत्। अरविष्यत्। इति। तुः सौत्रः गतिवृद्धिहिंसासु। तुधातोः लटि तिपि शपि शब्लुकि 'तुरुस्तु' इतीडागमे गुणेऽवादेशे 'तवीति' तदभावे 'उतो वृद्धिः' इति वृद्धौ 'तौति' इति रूपम्। अग्रे तवीतः–तुतः। तुवन्ति। तुताव। तोता। तोष्यति। तवीतु–तौतु। अतावीत्-अतौत्। तुयात्-तुवीयात्। तूयात्। अतौषीत्। अतोष्यत्। णु–स्तुतौ। नौति। नुनाव। नविता। नविष्यति। नौतु। अनौत्। नुयात्। नूयात्। अनावीत्। अनविष्यत्। टुक्षु = शब्दे। क्षौति चुक्षाव–क्षविता–क्षविष्यति–क्षौतु–अक्षौत्–क्षुयात्–क्षूयात्। अक्षावीत्–अक्षविष्यत्। क्ष्णु = तेजने–क्ष्णौति। चुक्ष्णाव। क्ष्णविता। क्ष्णविष्यति। क्ष्णौतु। अक्ष्णौत्। क्ष्णुयात्। क्ष्णूयात्। अक्ष्णवीत्। अक्ष्णविष्यत्। ष्णु-प्रस्रवणे। स्नौति। सुष्णाव। स्नविता। स्नविष्यति। स्नौतु। अस्नौत्। स्नुयात्। स्नूयात्। अस्नावीत्। अस्नविष्यत्। षु प्रसवैश्वर्ययोः। सौति। सु

सकारको षकार हो, यकार और अच्के परे। तुरुस्तु–'तु-रु-स्तु-शमि-अम्' इन धातुओंसे

स्नानम् । स्तौति । सुत । सुषाव । सोता । असौषीत् । कु शब्दे । कौति । चुकाव । कोता । इण् गतौ । एति । इतः । **इणो यण्** ।६।४।८१। अजादौ प्रत्यये परे । इयङोऽपवादः । यन्ति । **अभ्यासस्यासवर्णे** ।६।४।७८। अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि परे । इयाय । **दीर्घ इणः किति** ।७।४।६९। इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात् किति लिटि परे । ईयतुः । ईयुः । इययिथ । इयेथ । एता । एष्यति । एतु । ऐत् । ऐताम् । आयन् । इयात् । ईयात् । **एतेर्लिङि** ।७।४।२४। उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्व स्यादार्धधातुके किति लिङि । निरियात् । अन्तःइ-

---

धाव—सोता—सोष्यति सौतु असौत्—सुयात् सूयात्—असौषीत्—असोष्यत् । कु—शब्दे । कौति । चुकाव । कोता । कोष्यति । कौतु । अकौत् । कुयात् । कूयात् । अकौषीत् । अकोष्यत् । इत्यादि । इणो यण् । अत्र 'अचि श्नुधातु०' इत्यतोऽचि इत्यनुवर्त्य अङ्गाधिकारात्तिस्य प्रत्ययविशेषणत्वात्तदादिविधिरित्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे अजादौ प्रत्यये परे इति । यन्ति । तस्यर्थकादिण्धातोर्लटि, झौ, झेरन्तादेशे, शपो लुकि इयङादेशं बाधित्वा 'इणो यण्' इति यणि च कृते तत्सिद्धिः । अभ्यासस्यासवर्णे इति । 'अचि श्नुधातु०' इत्यतोऽचीति य्वोरियङुवङावितिं चानुवर्तते । इश्च उश्च यू तयोरिति विग्रहः । अभ्यासविशेषणमिदम् । तेन तदन्तविधिरिति यावत् । दीर्घ इण इति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यत अभ्यासस्येति 'व्यथो लिटि' इत्यतो लिटीति चानुवर्तते । तदाह—इणोऽभ्यासस्येति । ईयतु । इणो लिटस्तसोऽतुसि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'इ इ अतुस्' इति जाते 'इणो यण्' इति यणि 'दीर्घ इण' किति' इति दीर्घे रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः । इययिथ । इणो लिट सिप थलि द्वित्वे भारद्वाजनियमात् पाक्षिके इटि गुणेऽयादेशे, 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति इयङि, च 'इययिथ' इटि, इडभावपक्षे तु गुणे अभ्यासस्य इयङि 'इयेथ' इति । आयन् । इणो लङो झौ झस्यान्तादेशे इकारस्य 'इणो यण्', इति यणि तस्याचीयत्वेनासिद्धत्वादाटि च तत्सिद्धिर्ज्ञेया । एतेर्लिङि । 'उपसर्गादृस्व ऊहते' इत्यतः उपसर्गादृस्व इति 'केऽणः' इत्यतः अण इति 'अयङ् यि क्ङिति' इत्यत क्ङितीति चानुवर्तते तदाह—उपसर्गात्परस्येति । निरियात् । निरुपसर्गपूर्वाद् इण्धातोराशीर्लिङस्तिप इलोपे यासुटि तस्यार्धधातुकत्वे कित्वे सलोपे 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे 'एतेर्लिङि' इति ह्रस्वत्वे निरियादिति निष्पन्नम् । ननु 'अभीयात्' इत्य-

---

पर हलादि तिङ् सार्वधातुकको ईडागम हो, विकल्पसे । इणो—'इण्' धातुको 'यण्' हो, अजादि प्रत्ययके परे । अभ्या—अभ्याससम्बन्धी इवर्ण उवर्णको इयङ्–उवङ् आदेश हो, असवर्ण 'अच्' के परे ।

दीर्घ इण. किति—'इण्' धातुके अभ्यास को दीर्घ हो, कित्-लिट्के परे । एतेर्लि—उपसर्गसे पर 'इण्' धातुके 'अण्' को, ह्रस्व हो, आर्धधातुक कित्-लिङ्के परे ।

चश्च ।६।१।८५। योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात् । उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् । अधीयात । अणः किम् ? समेयात् । 'समीया'दिति प्रयोगस्तु भौवादिकस्य । इणो गा लुङि ।२।४।४५। इणो गादेशः स्याल्लुङि । 'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अगात् । अगाताम् । अगुः । ऐण्यत । इक् स्मरणे । अयमधिपूर्व एव, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'ति लिङ्गात् । अन्यथा हीगर्थेत्येव ब्रूयात् । (इणवदिक इति वक्तव्यम्) अधियन्ति अध्यगात् । केचित्तु आर्द्धधातुकाधिकारोक्तस्यैवातिदेशमाहुः । तन्मते यण्न । तथा च भट्टिः-'समीतयो राघवयोरधीय-

त्रापि ह्रस्वः स्यादित्यत आह—उभयत इति । अत्र एकादेशस्य ईकारस्य पूर्वान्तत्वे उपसर्गानुप्रवेशादिण्धातुत्वं न सम्भवति । परादित्वेन इण्धातुत्वाश्रयणे तु नोपसर्गात्परत्वम् । उपसर्गैकदेशस्य इकारस्य ईकारात्मना सत्त्वेन अम् इत्यस्य उपसर्गत्वाभावात् । एकादेशस्य आदिवत्त्वमाश्रित्य इण्धातुत्वम्, अन्तवत्त्वमाश्रित्य तस्य उपसर्गानुप्रवेशश्चेत्यपि न सम्भवति । पूर्वपरशब्दाभ्याम् अन्तादिशब्दाभ्याञ्च विरोधस्य पुरःस्फूर्तिकतया विरुद्धातिदेशद्वयस्य युगपदसम्भवादित्यर्थः । समेयादिति । सम् आ इयात् समेयादित्यत्र एकारस्य अनण्त्वान्न ह्रस्वः । प्रत्याहारसूत्रादन्यत्र पूर्वेणैव णकारेण प्रत्याहाराश्रयणादिति भावः । इणो गा लुङि । इण्धातोः गा इत्यादेशः स्याल्लुङीति सूत्रार्थः स्पष्टः । ऐण्यत । इण्धातोर्लृङस्तिपि, स्ये आटि, वृद्धौ सत्यां परत्वे, तिप इकारलोपे च 'ऐण्यत' इति रूपम् । इक् = स्मरणेऽयमप्यधिपूर्वः । 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' अत्राधिपूर्वादेव इक् धातोर्विधानात् । इणवदिति । षष्ठ्यन्तादृतिः । इणो यत्कार्यम् 'इणो यण्' इत्यादि तदिको भवतीत्यर्थः । अध्येति-अधीतः-अधियन्ति । अत्र इणवद्भावात् 'इणो यण्' इति यणि रूपम् । अध्येषि-अधीथः-अधीथ-अध्येमि-अधीवः-अधीमः । अधीयाय-अधीयतुः-अधीयुः । अधीययिथ-अधीयेथ-अधीयथुः-अधीय । अधीयाय-अधीयय-अधीयिव-अधीयिम । अध्येता-अध्येष्यति । अध्येतु-अधीतात्-अधीताम्-अधियन्तु । अधीहि-अधीतात्-अधीतम्-अधीत । अध्ययानि-अध्ययाव-अध्ययाम । अध्यैत्-अध्यैताम्-अध्यायन् । अध्यैः-अध्यैतम्-अध्यैत । अध्यायम्-अध्यैव-अध्यैम । अध्यगात्—अत्र इण् भावे सति 'इणो गा लुङि' इति गादेशे तिपि 'इतश्च' इलोपेऽङ्गस्याडागमे च्लौ सिचि 'गातिस्था०' इति सिचो लुकि 'अध्यगात्' इत्यस्य सिद्धिः । शेषम् इणवदिति भावः । अध्यैष्यत । केचित्त्विति । 'आर्धधातुके' इत्यधिकारे 'इणो गा लुङि' इति सूत्रे एतद्वार्तिकपाठस्य भाष्ये दर्शनात्तदधिकारोक्तानामेव कार्याणामुपस्थितत्वात् । तन्मते यण्नेति । इणो

उभय—उभयतः आश्रयणमें अन्तादिवद्भाव नहीं हो । इणो—'इण्' को 'गा' आदेश हो लुङ् के परे । इणव—'इण्' धातु के समान 'इक्' धातु को भी कार्य हो-ऐसा कहना चाहिये ।

ञि'ति । वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु । प्रजनो गर्भग्रहणम् । असनं-क्षेपणम् । वेति । वीतः । वियन्ति । वेषि । वेमि । वीहि । अवेत् । अवीताम् । अवियन् । अटि सत्यनेकाच्त्वाद्यणिति केचित् । अव्यन् । अत्र ईकारोऽपि धातु-न्तर प्रक्लिप्यते । एति । ईत । इयन्ति । ईयात् । ऐषीत् । वच परिभाषणे । वक्ति । वक्तः । अयमन्तिपरो न प्रयुज्यते । बहुवचनपर इत्यन्ये । झिपर इत्यपरे । वक्तु । वग्धि । वच्यात् । उच्यात् । अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ।३।१।५२। एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् । वच उम् ।७।४।२०। वच उमागमः स्यादङि । अवोचत् । अवक्ष्यत् । मृजू शुद्धौ । मृजेर्वृद्धिः ।७।२।११४। मृजेरिको वृद्धिः स्याद्धातुप्रत्यये । 'व्रश्चे'ति षः । मार्ष्टि मृष्टः । (क्ङित्यजादौ वेष्यते) मार्जन्ति । मृजन्ति ।

इण् इत्यस्य 'आर्धधातुके' इत्यधिकारोक्तत्वाभावाच्चातिदेश इति भावः । तेन ङोऽन्तादेशे इयङि सवर्णदीर्घेऽपीयन्नीत्यपि स्यात् । तस्मात्कृते यणो लुकि इका-रस्येयङि सवर्णदीर्घे अधीयन्निति वाच्यन्तात् सुपुत्पत्तौ 'अधीयन्' इति स्यात् । तेन भट्टीकृत 'ससीतयो राघवयोरधीयन्' इति प्रयोगोपपत्ति भवति । षष्ठी तु 'अधीगर्थ-दयेशां कर्मणि' इति सूत्रेण बोध्या । राघवौ स्मरन्निति तदर्थः । वेति । वीधातो' लटि तिपि शपि शब्लुकि गुणे रूपम् । वीत । वियन्ति—अत्र एकाच्त्वेन यणभावादियङि रूपं । वेषि—वीथ—वीथ । वेमि वीव वीमः । आर्धधातुके नास्ति अस्य प्रयोग 'अजे-र्व्यघञपोः' इति सूत्रभाष्यरीत्या इति शब्देन्दुशेखरे प्रदर्शितम् । लोट्—वेतु-वीताद् वी-ताम्-वियन्तु । वीहि—वीतात्—वीतम् वीत । वयानि वयाव वयाम । अवेत्-अवीताम्-अवियन्—अत्र प्राग्वदियङि कृते ततोऽडागमे रूपम् । अडागमे सति तु अनेकाच्त्वाद्यणेव स्यात् तेन च 'अव्यन्' इति द्वितीय रूपम् । ई प्रक्षेपे तु एति-इत-इयन्ति-इयात् इत्यादिरूपम् । वच=परिभाषणे अस्य प्रयोग । बहुवचने वा झौ वा अन्ति परे न भवतीति मतत्रयम् । तेन वक्ति—वक्त । उवाच । वक्ता । वक्ष्यति । वक्तु—वग्धि । व च्यात् । उच्यात् । अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् इति । च्लेरित्यनुवर्त्यते अत आह—च्लेरिति । वच उमिति । अङि परतः वच्धातोः उमादेशः स्यादिति भावः । अवोचदिति । 'अ वच्+च्लि+त्' इत्यवस्थायाम् 'अस्यतिवक्ति' इति च्लेरङादेशे 'वच उम्' इति उमि मित्वादन्त्यादचः परे गुणे च कृते 'अवोचत्' इति सिध्यति । अवक्ष्यत् । मृजू= शुद्धौ । ऊदिदयम् । मृजेर्वृद्धिरिति । मृजेरिको वृद्धि स्याद्धातुप्रत्यये परतः इत्यर्थः । मार्ष्टि इति । मृजू शुद्धौ अस्माद्धातोः तिपि शपि शब्लुकि 'मृजेर्वृद्धि' इति वृद्धौ 'व्रश्च भ्रस्ज' इति षत्वे ष्टुत्वे रूपसिद्धिः । मृष्ट । 'क्ङित्यजादाविति । 'मृजेर्वृद्धि.' इत्यनेन

अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्यः—इन धातुओं से पर 'च्लि'को 'अङ्' आदेश हो । वच—'वच्' को 'उम्' आगम हो, 'अङ्' के परे । मृजे—'मृज'के 'इक्'को वृद्धि हो, धात्वधिकार विहित [प्रत्यय के परे । क्ङित्य—अजादि क्ङित्-ङित् प्रत्यय के परे 'मृज्'के 'इक्'को वृद्धि हो, विकल्पसे ।

मार्ष्टि। ममार्ज। ममृजतुः। ममार्जतुः। ममार्जिथ। ममार्ष्ठ। मार्जिता। मार्ष्टा। मार्ष्टु। मृड्ढि। अमार्ट्। अमार्ड्। अमार्जम्। अमार्जीत्। 'षढोः कः सि' अमार्क्षीत्। अमार्क्षत्। अमार्जिष्यत्। रुदिर् अश्रुविमोचने। रुदादिभ्यः सार्वधातुके ।७।२।७६। रुद् स्वप् श्वस् अन् जक्ष् एभ्यो वलादेः सार्वधातुकस्येट् स्यात्। रोदिति। रुदितः। हौ—परत्वादिटि धित्वं न। रुदिहि। रुदश्च पञ्चभ्यः ।७।३।९८। रुदादेः परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्यापृक्तस्य ईट् स्यात्। अड् गार्ग्यगालवयोः ।७।३।९९ अरोदीत्। अरोदत्। अरुदिताम्। अरुदन्।

विहिता वृद्धिः क्ङित्यजादौ वा भवतीत्यर्थः। तेन मृजन्ति-मार्जन्ति। ममार्ज-ममृजतुः-ममृजुः। ममार्जिथ-ममार्ष्ठ-अत्रेड्विकल्पः ऊदित्वात्। मार्जिता-मार्ष्टा। मार्जिष्यति-मार्क्ष्यति। मार्ष्टु। मृड्ढीति। 'मृज्-हि' इत्यवस्थायां 'व्रश्च' इति षत्वे 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति धित्वे ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे जश्त्वेन षस्य डकारे रूपं सिद्धम्। अमार्ट् इति। मृजधातोर्लङि तिपि शपि शब्लुकि 'इतश्चे'ति इलोपेऽङ्गस्याडागमे 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ संयोगान्तलोपे 'वाऽवसाने' इति दत्वे तदभावे जश्त्वेन डत्वे अमार्ट्-अमार्ड् इति रूपद्वयं साधु। अमार्जीत् । मृजधातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ सिचि इटि ईटि अडागमे 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घः 'अमार्जीत्' इति रूपम्। इडभावे तु 'अमार्क्षीत्' इति रूपम्। अमार्क्षत्। अमार्जिष्यत्। रुदादिभ्य इति। इड् वलादेरित्यनुवृत्ति मत्वाऽऽह—वलादेरिति। रोदितीति। रुद्धातोर्लटि तिपि शपि शब्लुकि 'रुद्-ति' इति जाते 'रुदादिभ्यः' इति इडागमे 'पुगन्त' इति गुणे 'रोदिति' इति रूपम्। अग्रे रुदितः-रुदन्ति। रोदिषि-रुदिथः-रुदिथ। रोदिमि-रुदिवः-रुदिमः। रुरोद। रोदिता। रोदिष्यति। रोदितु। रुद्-हि इति स्थिते आह 'हुझल्भ्यो' इति धिभावं बाधित्वा परत्वादिटि 'रुदिहि' इति रूपं भवति। रुदश्चेति। 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः पितीति सार्वधातुके इति च 'उतो वृद्धिः' इत्यतो हलीति 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतः अपृक्ते इति 'ब्रुव ईट्' इत्यतः ईडिति चानुवर्तते। रुद इति पञ्चमी। अत आह—रुदादिभ्य इति सिध्यतिम्। शेषं पूरयति-हलादेरिति। 'अड्गार्ग्येति। अनयोर्मते रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य अपृक्तस्येडागमः स्यादिति स्पष्टोऽर्थः। अरोदीदिति। रुदो लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ सिचि 'रुदश्च' इतीडागमे 'अरुद्-ई-त्' इति जाते 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे 'अरोदीत्' इति रूपम्। 'अड्गार्ग्यगालवयोः'

रुदादि—रुदादि पाँच धातुओं से पर वलादि सार्वधातुकको 'इट्' का आगम हो। रुदश्च—रुदादि पाँच धातुओंसे पर अपृक्त संज्ञक हलादि पित् सार्वधातुकको 'ईट्' का आगम हो। अड्—रुदादि पाँच धातुओंसे पर अपृक्तसंज्ञक हलादि पित् सार्वधातुकको 'अट्' का आगम हो, गार्ग्य

अरोदी । अरोद । प्रकृतिप्रत्ययविशेषापेक्षाभ्यामडीड्भ्यामन्तरङ्गत्वाद्यासुट्, 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषणात् । रुद्यात् । अरुदत्-अरोदीत् । अरोदिष्यत । **ञिष्वप् शये ।** स्वपिति । स्वपितः । सुष्वाप । सुषुपतुः । सुष्वपिथ । सुष्वप्थ । **सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः ।८।३।८८।** एभ्य सुप्यादेः सस्य ष'

इत्यट्पक्षे तु 'अरोदत्' इति द्वितीयं रूपम् । अरुदिताम् । अत्र 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमे रूपम् । 'अरुदन्' । अरोदीः अरोदः । अत्र 'अड्गार्ग्ये'ति पक्षे द्वितीय रूपम् । 'रुदश्च पञ्चभ्यः' इतीडागमपक्षे अरोदी इति रूपम् । अरुदितम्—अरुदित । अरोदम् । अरुदिव । अरुदिम । प्रकृतिप्रत्ययेति । ननु लिङि तिपि यासुट बाधित्वा परत्वात् 'अड्गार्ग्य' इति 'रुदश्च' इति अडीटौ स्यातामित्यत आह—प्रकृतिप्रत्ययेति—इत्यादिपिरसार्वधातुकापेक्षत्वात्चेत्यपि ज्ञेयम् । असिद्धमिति । परस्परापेक्षया व्याप्यनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वं, व्यापकनिमित्तकत्वं बहिरङ्गत्वमित्युपसर्गः । विकल्पोपस्थितिकत्वं बहिरंगस्यासिद्धत्वे बीजम् । रुद्यादिति । रुदिर् धातो लिङि तिपि अन्तरङ्गत्वादीटमट च बाधित्वा यासुटि कृते 'स्कोः' इति सलोपे कृते 'रुद्यात्' इति रूपम् । अरुददिति । रुदिर्धातो लुङि तिपि च्लौ 'इरितो वा' इत्यङि ङित्वाद् गुणाभावे 'इतश्च' इलोपे 'अरुदत्' इत्येकं रूपं भवति, अङभावे 'अरुद् सिच् त्' इति स्थिते च्ले सिचि । 'रुदश्च' इति तस्येडागमे । 'आर्धधातुकस्ये'ति सिच इति 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णदीर्घे 'पुगन्त' इति गुणे 'अरोदीत्' इति द्वितीय रूपं भवति । अरोदिष्यत्, इत्यादि । स्वपितीति । ञिष्वप्—शयेऽस्माद्धातोः लटि तिपि शपि शब्लुकि 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे 'स्वप्—ति' इति जाते 'रुदादिभ्य ' इतीडागमे 'स्वपिति' इत्येकमेव रूपम् । अग्रे 'स्वपितः' अत्र 'रुदादिभ्यः' इतीडिति भाव । स्वपन्ति । स्वपिषि—स्वपिथ'—स्वपिथ । स्वपिमि—स्वपिव —स्वपिम । सुष्वापेति । स्वप्धातोर्लिटि तिपि णलि 'लिटि धातो ' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे प्राप्ते त बाधित्वा 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'सु-स्वप्—अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ आदेशसकारत्वात् 'आदेशप्रत्ययो ' इति सकारस्य षत्वे कृते च 'सुष्वाप' इति रूपम् । सुषुपतुरिति । 'स्वप्—अतुस्' इत्यवस्थायां 'वचिस्वपि' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे सुप्—अतुस् इति जाते 'लिटि धातो ' इति द्वित्वे हलादिशेषे आदेशसकारस्य षत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'सुषुपतुः' इति रूपम् । एवं सुषुपुः । सुष्वपिथ 'सुष्वप्थ' अत्र थेट् भारद्वाजमतेन । सुषुपथुः—सुषुप । सुष्वाप सुष्वप, सुषुपिव सुषुपिम । सुविनिर्दुर्भ्य इति । कृतसम्प्रसारणस्य स्वप्धातोः सुपी-

---

और गाल्वके मतसे । सुवि—'सु-वि-निर्-दुर्' इन उपसर्गोंसे पर सुप्यादि (सुपि-सूति-सम) के सकारको षत्व हो ।

स्यात् । 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते ।' क्किति लिटि—परत्वात्सम्प्रसारणे, षत्वे च कृते द्वित्वम् । पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने । सुषुपुपतुः । सुषुपुः । अकिति तु—द्वित्वेऽभ्यासस्य संप्रसारणम् । षत्वस्यासिद्धत्वात्ततः पूर्वं 'हलादिः शेषः' नित्यत्वाच्च । ततः सुपिरूपाभावान्न षः । सुषुष्वाप । स्वप्ता । अस्वपीत् । अस्वपत् । स्वप्यात् । सुप्यात् । सुप्यास्ताम् । सुषुप्यात् । अस्वाप्सीत् । अस्वप्स्यत् । श्वस प्राणने । प्राणनं—जीवनम् । श्वसिति । श्वसितः । शश्वास । श्वसिता । श्वसिष्यति । श्वसितु । अश्वसीत् । अश्वसत् । अश्वसिताम् । अश्वसन् । श्वस्यात् । श्वस्याताम् । श्वस्युः । श्वस्यात् । श्वस्यास्ताम् । श्वस्यासुः । 'ह्म्यन्तेति' ति न वृद्धिः । अश्वसिष्यत् । अन च । अनिति । आन । अनिता । अनिष्यति । आनीत् । आनत् । अनितेः ।८।४।१९। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यानितेर्नस्य णः स्यात् । प्राणिति ।

इत्यनेन ग्रहणं सूतीत्यनेन सूतिशब्दः कृदन्तो गृह्यते । समेत्यनेनापि समशब्दस्य ग्रहणम् । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । 'सहेः साडः सः' इत्यतः स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते, मूर्धन्य इत्यधिकृतम् । सुषुप्तिः-सुषूतिः-सुषमः विषमः-दुःषमः, इति उदाहरणानि । पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते तत उपसर्गेण, पूर्वं धातुः उपसर्गेण युज्यते ततः साधनेनेति पक्षद्वयं तत्र लक्ष्यानुरोधाद्यथायस्येति । 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण' इति पक्षमवलम्ब्यते । ततश्च द्वित्वात्प्रागेव परत्वात्संप्रसारणे सति सुप् इत्युपसर्गपूर्वकत्वमादाय षत्वे च कृते सति पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् 'षुप्' इत्यस्य कृतषत्वस्य द्वित्वे सति खण्डद्वयेऽपि षकारश्रवणं निर्बाधमेव । अत एव 'सुषुषुपतुः' अत्र न दोषः । एतत्षत्वं किति परत एव अकिति तु 'सुषुष्वाप' इत्यादौ न षत्वं पित्वेन कित्त्वाभावात् । स्वप्ता । स्वप्स्यति । स्वपितु । अस्वपीत्-अस्वपत् । स्वप्यात् । सुप्यात् । 'सुषुप्यात्' अत्र 'सुविनिर्दुर्भ्यः' इति षत्वमवसेयम् । अस्वप्स्यत् । श्वसिति । श्वस-प्राणनेऽस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि शब्लुकि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमे 'श्वसिति' इति रूपम् । अग्रे सुकरम् । शश्वास । श्वसिता । श्वसिष्यति । श्वसितु । अश्वसीत्-अश्वसत् । श्वस्यात् । अश्वसीत् । अन च, प्राणने इत्यर्थः । तेन रुदादित्वात् वलादौ सार्वधातुक इटि 'अनिति, अनितः' इत्यादि । आन । आनतुः । अनिता । अनिष्यति । अनितु । आनीत्-आनत् । 'रुदश्च' इति इट् 'अड्गार्ग्येति अडागमश्च बोध्यः । अनितेरिति । 'रषाभ्याम्' इत्यनुवर्तते 'उपसर्गादसमा' इत्यतः उपसर्गादिति, तदाह—उपसर्गस्थादिति । प्राणिति । प्रपूर्वकअनधातोर्लटि तिपि शपि लुकि

नोट :—'सुपि' से 'स्वप्' धातु, 'सूति' से 'सूति' शब्द और 'सम' से 'सम' शब्दका ग्रहण करना चाहिये । तीनोंके उदाहरण—'सुषुप्तिः, सुषूतिः, सुषमः' आदि हैं ।

अनितेः—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर 'अन्' धातुके नकारको णकार हो ।

जक्ष भक्षहसनयोः । जक्षिति । जक्षितः । अदभ्यस्तात् ।७।१।४। अभ्यस्तात्परस्य झस्य अत्स्यात् । अन्तापवादः । जक्षति । जक्षीत । अजक्षीत् । अजक्षताम् । 'सिजभ्यस्तेति' जेर्जुस् । अजक्षुः । जागृ निद्राक्षये । जागर्ति । जागृतः । जाग्रति । 'उषविदे'त्याम्वा । जागराञ्चकार । जजागार । जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु ।७।३।८५। जागर्तेर्गुणः स्याद् विचिण्णल्ङिद्भ्योऽन्यस्मिन्वृद्धिविषये, प्रति-

सवर्णदीर्घे 'रुदादिभ्यः' इति सिप इटि 'अनिते.' इति णत्वे प्रोक्त रूप भवति । अ-न्यात् । आनीत । आनिष्यत् । जक्ष=भक्षहसनयोः । अक्षधातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि शब्लुकि 'रुदादिभ्यः' इति इटि 'जक्षिति' इत्यस्य सिद्धिः । जक्षितः । 'अदभ्यस्तादिति' 'झोऽन्त' इत्यत झस्यानुवृत्तिः । अभ्यस्तसंज्ञकात्परस्य झस्यातः स्यादित्यर्थः । जक्षतीति । जक्षधातोर्लटि झौ 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इत्यति 'ज-क्षति' इति रूप प्रसिध्यति । जजक्ष । जक्षिता । जक्षिष्यति । जक्षितु । अजक्षीत्-अज-क्षत् । अत्र क्रमेण 'रुदश्च' 'अड्गार्ग्य' इत्यादौ बोध्यौ । अजक्षिताम् । अजक्षुरिति । जक्षधातोर्लङि झौ शपि शब्लुकि अडागमे 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तत्वे 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति झस्य जुसि अकारलोपे रुत्वे विसर्गे 'अजक्षु' इति प्रभवति रूपम् । जक्ष्यात् । अजक्षीत् । अजक्षिष्यत्, इत्यादि । जागृ=निद्राक्षये । जागर्तीति । जागृधातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि शब्लुकि 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे 'जागर्ति' इति रूपम् । जागृतः । जाग्रति, अत्र 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झस्यातिः रूपम् । जागर्षि-जागृथः-जागृथ । जागर्मि-जागृवः-जागृमः । जागराञ्चकारेति । अत्र-लिटि 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्य' इत्यामि तस्यार्धधातुकत्वाद् गुणे 'जागराम् लिट्' इति जाते 'आमः' इति लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति कृञोऽनुप्रयोगे तिपि णलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिः शेषत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन ककारस्य चत्वे 'जागराम्-चकृ-अ' मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'अचोञ्णिति' इति वृद्धौ 'जागराञ्चकार' इत्येकं रूप, अन्ये जागराम्बभूव-जागरामास । जजागारेति । 'आमादय आर्धधातुके वा' इत्याम भावे लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे ह्रस्वे 'जजागृ-अ' इति जाते 'अ-चो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'जजागार' इति रूपम् । जाग्रोऽविचिण्णिति । जाग्र इति षष्ठी । 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुण इति, तदाह-जागर्तेर्गुणः स्यादिति 'अविचिण्णल्ङित्सु' इति छेदः । वि-चिण्-णल्-ङित् एषां द्वन्द्वे नञ्समासः । चिण्णल्पर्युदासाद् वृद्धिविषयेऽ

अद्—अभ्यस्त संज्ञकसे पर 'झ' को 'अत्' आदेश हो ।

जाग्रो—'जागृ' धातुको गुण हो, वि, चिण्, और णल्से भिन्न वृद्धिविषयक प्रत्यय तथा ङित्से भिन्न प्रतिषेध विषयक प्रत्ययके परे ।

षेधविषये च । जजागरतुः । जजागरुः । जागरिता । जागरिष्यति । अजागः । अजागृताम् । अभ्यस्तत्वाज्जुस् । **जुसि च ।७।३।८३।** अजादौ जुसि इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । अजागरुः । अजादौ किम् ? जागृयुः । आशिषि तु—जागर्यात् । जागर्यास्ताम् । जागर्यासुः । अजागरीत् । **दरिद्रा दुर्गतौ ।** दरिद्राति । **इद्दरिद्रस्य ।६।४।११४।** दरिद्रातेरिकारः स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके । दरिद्रितः । **श्नाभ्यस्तयोरातः ।६।४।११२।** श्नाभ्यस्तयोरातो लोपः स्यात् क्ङिति सार्वधातुके । दरिद्रति । अनेकाच्त्वादाम् । दरिद्राञ्चकार 'आत औ णलः' इत्यत्र 'ओ' इत्येव सिद्धे 'औ' विधानं दरिद्रातेरालोपे कृते श्रवणार्थम् अत एव ज्ञापकादाम्नेत्येके ।

ष्यस्य प्रवृत्तिः । ङित्पर्युदासात् गुणप्रतिषेधविषयेऽप्यस्य प्रवृत्तिः । जजागरतुः । जजागृ-अतुस् इत्यवस्थायां 'जाग्रो' इति गुणे रपरत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे जजागरतुरिति सिध्यति । जजागरुः, अत्रापि 'जाग्रो' इति गुणः । जजागरिथ, जजागरथुः, जजागर । जजागार-जजागर-जजागरिव-जजागरिम । जागरिता-जागरिष्यति-जागर्तु । अजाग इति । जागृधातोर्लङि सिपि गुणे 'इतश्च' इलोपे 'हल्ङ्यादि'लोपेऽड्-स्याडागमे रेफस्य विसर्गे 'अजागः' इति रूपम् । जुसि चेति । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुणपदमनुवर्तते । 'इको गुणवृद्धी' इकःपदस्य तदन्तविधिः । अजागरुरिति । जागृधातोर्लङि झौ 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'जुसि च' इत्यनेन गुणेऽङ्स्याडागमे 'अजागरुः' इति रूपम् । जागृयात् । जागर्यात्, अत्र 'जाग्रो' इति गुणः । अजागरीत् । अजागरिष्यत् । दरिद्रा = दुर्गतौ-दरिद्राति । इद्दरिद्रस्येति । 'गमहन' इत्यतः क्ङिति 'ई हल्यघोः' इत्यतः हलीति 'अत उत्' इत्यतः सार्वधातुके इति । दरिद्रितः इति । 'दरिद्रा-तस्' इत्यवस्थायाम् 'इद्दरिद्रस्य' इति इकारे रूपम् । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यालोपे प्राप्ते तद् बाधनार्थमेतदिति । श्नाभ्यस्तयोरिति । 'अत्र 'गमहन' इत्यतः 'क्ङिति' 'लोप' इति चानुवर्तते । 'अत उत्' इत्यतः सार्वधातुकेति । दरिद्रति । दरिद्रा-झि इत्यवस्थायां 'जक्षित्यादयः' इत्यभ्यस्तत्वे झस्य 'अदभ्यस्तात्' इत्यति 'श्नाभ्यस्तयोः' इत्यालोपे 'दरिद्रति' इति रूपम् । दरिद्राञ्चकार-दरिद्राम्बभूव-दरिद्रामास । 'आत औ णलः' इति ज्ञापकादाम्नेति पक्षे 'ददरिद्रौ' इति रूपम् । दरिद्रिता । दरिद्रिष्यति । दरिद्रातु । अदरिद्रात् । दरिद्रियात् । दरिद्र्यात् । अदरिद्रीत् । अदरिद्रासीत् । चकास्-चकास्ति । चकासांचकार । चकासिता । चकासिष्यति । चकास्तु । चकाद्धि-अत्र चकास्-हि इति स्थिते 'हुझल्भ्यो' इति हेर्धित्वे जश्त्वेन सकारस्य दकारे 'चकाद्धि'

जुसि—इगन्त अंगको गुण हो, अजादि 'जुस्'-प्रत्ययके परे । इद्—'दरिद्रा' धातुके आतको 'इत्' हो, हलादि कित्-ङित् सार्वधातुकके परे । श्ना—'श्ना'प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक धातुके

ददरिद्रौ । (दरिद्रातेरार्द्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः । लुङि वा) (सनि, ण्वुलि, ल्युटि च न) दरिद्रिता । अदरिद्रात् । अदरिद्रिताम् । अदरिद्रुः । दरिद्रियात् । दरिद्र्यात् । दरिद्रीत । पक्षे—इट्सकौ । अदरिद्रासीत् । चकासृ दीप्तौ । चकास्ति । चकासत । चकासति । चकासाञ्चकार । चकासिता । चकास्तु । 'धि चे'ति सलोपः धिच एवेत्येके । तन्मते—चकाद्धि । 'चकाधि' इत्येव तु भाष्यम् । तिप्यनस्ते. ।८।२।७३। पदान्तस्य सस्य दः स्यात्तिपि, न स्वरे । अचकात् । अचकाद् । अचकास्ताम् । अचकासुः । सिपि धातो रुर्वा ।८।२।७४। पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्यात्सिपि । पक्षे दः । अचकाः । अचकात् । अचकाद् । शासु अनुशिष्टौ । शास्ति । शास इदङ्हलोः ।६।४।३४। शास उपधाया इः स्यादङि, हलादौ । क्ङिति च । 'शासिवसी'ति ष । इष्टम् । शिष्टः । शासति । शशास । शशासतुः । शास्तु शिष्टात् । शिष्टाम् । शासतु । शा हौ ।६।४।३५।

इति रूपम् । यदा 'धि च' इत्यनेन सलोपः स्यात्तदा 'चकाधि' इत्येव रूपम् । तिप्यनस्ते । न अस्ति अनस्तिस्तस्येति विग्रहः । पदस्येत्यधिकृतम् । 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतः अन्ते इत्यनुवर्तते । 'ससजुषो' इति स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते 'वसुस्रंसु' इत्यतो द इति अचकादिति । चकासृधातोर्लङि तिपि 'इतश्च' इलोपेऽङ्गस्याडागमे हल्ङ्यादिलोपे 'तिप्यनस्ते.' इति सस्य दत्वे 'वावसाने' इति वा तकारे 'अचकात्-अचकाद्' इति । सिपि धातोरिति । पदस्येति अधिकृतम् । 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतोऽन्ते इति 'ससजुषो' इत्यत स इति । अचकः इति । चकासृधातोर्लङि सिपि शपि शब्लुकि 'चकास्-सिप्' पलोपे 'इतश्च' इलोपे हल्ङ्यादिलोपे 'सिपि धातो रुर्वा' इति सस्य रुत्वपक्षे 'अचकाः' इति रूपम् । यदा रुत्वं न स्यात्तदा पक्षे दत्वे अचकादिति रूपम् । अचकासीत् । अचकासिष्यत् । शासु-अनुशिष्टौ-शास्ति । शास इदङ्हलोरिति । 'अनिदिताम्' इत्यत उपधाया क्ङितीत्यनुवर्तते । शिष्ट इति । शास्-तस् इति जाते 'शास इदङ्हलोः' इतीत्वे सस्य षत्वे ष्टुत्वे रुत्वे विसर्गे 'शिष्टः' इति रूपम् । शासतीति । अत्र जक्षित्यादित्वादभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इत्यति रूपम् । शशास । शासिता । शासिष्यति । शास्तु । शाधि । हौ परतः शास् इत्यस्य शादेश

आकारका लोप हो, कित्-ङित् सार्वधातुकके परे । दरिद्रा—आर्धधातुककी विवक्षामें दरिद्राधातुके आकारका लोप (नित्य हो) हो, परन्तु 'लुङ्'के परे विकल्पसे हो । सनि-सन्, ण्वुल् और ल्युट् के परे 'दरिद्रा' धातुके आकारका लोप नहीं हो । तिप्य-पदान्त सकारको दकार आदेश हो, 'तिप्'के परे—'अस' धातुके सकारको छोड़कर । सिपि—धातुके पदान्त सकार को रुत्व हो, सिप्'के परे, विकल्पसे । पक्षमें दकार भी हो । शास्—'शास्' धातुकी उपधाके 'इत्' हो, 'अङ्'के परे और हलादि कित् ङित्प्रत्ययके परे । शा हौ—'शास' को 'शा' आदेश

शास्तेः शादेशः स्याद्धौ परे। तस्याऽऽभीयत्वेनासिद्धत्वाद्धेर्धिः। शाधि। शशात्। अशाद्। अशिष्टाम्। अशासुः। अशाः। अशात्। शिष्यात्। **सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च** ।३।१।५६। एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्कर्त्रर्थे लुङि। अशिषत्। अशासिष्यत् ॥

इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथाऽऽत्मनेपदप्रक्रिया। शीङ् स्वप्ने। **शीङः सार्वधातुके गुणः** ।७।४।२१। शीङो गुणः स्यात्सार्वधातुके। 'क्ङिति च' त्यस्यापवादः। शेते। शयाते। **शीङो रुट्** ।७।१।६। शीङः परस्य झादेशस्यातो रुट्। शेरते। शेषे। शयाथे। शेध्वे। शये। शेवहे। शेमहे। शिश्ये। शयिता। शयिष्यते। शेताम्। अशेत। अशया-

---

इत्यर्थः। तेन शास् हि इत्यवस्थायां 'शा हि' इति जाते सलोपमाश्रित्य तस्यासिद्धत्वात् 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति धित्वे 'शाधि' इति रूपम्। अशात्। अशाः-अशात्। शिष्यात्-अत्र 'शास इदङ्हलोः' इति इकारः। सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च। च्लेरङ् इत्यनुपज्यते। अशिषत्-शास् धातोः लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपेऽङ्गस्याडागमे 'शास इत्' इति इ आदेशे च्लौ तत्स्थाने 'सर्तिशास्ति' इति अङादेशे 'अशिषत्' इति रूपम्। अशासिष्यत्, इत्यादि। इति परस्मैपदम्।

शेते। शीङ् धातोः लटि, तत्स्थाने शीङो ङित्वात् 'अनुदात्तङित' इत्यात्मनेपदे प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'त'प्रत्यये, शपि, शपो लुकि, तस्य अपित्सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वेन गुणाभावे प्राप्ते 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च 'शेते' इति रूपम्। शीङो रुडिति। 'झोऽन्तः' इत्यतो 'झ' इत्यनुवर्तते। 'अदभ्यस्तात्' इत्यतः अदिर्त्यनुवृत्तं पञ्च्या विपरिणम्यते। तदाह—शीङः परस्य झादेशस्येति। शेरते। शीङो लटो झप्रत्यये, शपो लुकि 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्यातादेशे टेरेत्वे 'शीङो रुट्' इति रुटि, रुटि गते टित्त्वादाद्यावयवे आते सति 'शेरते' इति रूपम्। शिश्ये। शीङो लिटस्ते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य स्थाने एशि गते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'शिश्ये' इति रूपम्। शेताम्। लोटस्ते, शपि, शपो लुकि, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे, टेरेत्वे 'आमेतः' इति एकारस्यामि कृते रूपम्। अशेत। शीङो लङि, लङस्ते, शपि, शपो लुकि,

---

हो, 'हि'के परे।

सर्ति- सर्ति (सृ), शास्ति (शास्) और अर्ति (ऋ) धातुसे पर 'च्लि'को 'अङ' आदेश हो, कर्त्रर्थक लुङ्के परे।

शीङः सार्वधातुके गुणः—'शीङ्' धातुको गुण हो, सार्वधातुकके परे।

शीङो—'शीङ्'से पर झादेश 'अत'को 'रुट्'का आगम हो।

ताम् । अशेरत । शयीत । शयीयाताम् । शयीरन् । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अशयिष्यत । इङ् अध्ययने । इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । अधीते । अधीयाते । अधीयते । गाङ् लिटि ।२।४।४९। इङो गाङ् स्याल्लिटि । अधिजगे । अध्येता । अध्येष्यते । अधीताम् । अधीष्व । अधीयाथाम् । अधीध्वम् । अध्ययै । अध्ययावहै । अध्ययामहै । अध्यैत । अध्यैयाताम् । अध्यैयत । अध्यैथाः । अध्यैयाथाम् । अध्यैध्वम् । अध्यैयि । अध्यैवहि । अध्यैमहि । अधीयीत । अधीयीयाताम् । अधीयीरन् ।

ञादि, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'अशेत' इति रूपम् । शयीत । शीङो लिङस्तप्रत्यये शपो लुकि 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते टित्वादाद्यवयवे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे अयादेशे यलोपे च तत्सिद्धिः । शयिषीष्ट । शीङित्यस्माद्धातोराशीर्लिङस्ते सीयुटि उटो लोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीटि 'एचोऽयवायावः' इति अयि 'शय् इ सीय् त' इति स्थिते 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटावितौ सस्य षत्वे तस्य ष्टुत्वे च विहिते 'शयिषीष्ट' इति वेद्यम् । अशयिष्ट । शीङो लुङस्ते च्लौ च्लेः सिच् इति च्लेः सिजादेशे इडागमे इटि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे सकारस्य षत्वे ष्टुत्वे च विहिते अडागमे 'अशयिष्ट' इति । अधीते । अधिपूर्वकात् इङ् अध्ययने इति धातोर्लटि तादेशे टेरेत्वे च कृते 'इको यणचि' इति यणं बाधित्वा सवर्णदीर्घे 'अधीते' इति वेदनीयम् । गाङ् लिटि । 'इङश्च' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । स्थानिवत्त्वादेव ङित्त्वे सिद्धे ङित्करणं 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यत्र 'इणो गा लुङि' इत्यस्य ग्रहणाभावार्थमिति भाष्यम् । अधिजगे । अधिपूर्वादिङो लिटि 'गाङ् लिटि' इति इङो गाङादेशेऽनुबन्धलोपे लिटो त स्थाने ते, तस्य एशि, गात इत्यस्य द्वित्वे अभ्यासस्य, ह्रस्वे, चुत्वे, 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे च तत्सिद्धिः । अध्येता । अधिपूर्वादिङो लुटस्ते तासि, 'अधि इ तास् त' इति स्थिते 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तस्य स्थाने डात्वे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे, तास आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'अधि ए त आ' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि, 'अध्येता' इति । अध्येष्यते । अधिपूर्वादिङो लृटस्ते, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये टेरेत्वे सस्य षत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'इको यणचि' इति यणि च कृते 'अध्येष्यते' इति । अधीताम् । अधिपूर्वादिङो लोटि, लोटो, त' स्थाने ते, शपि, शपो लुकि, टेरेत्वे 'आमेतः' इत्येकारस्यामि, धातूपसर्गयोः सवर्णदीर्घे च जाते 'अधीताम्, इति रूपम् । अध्यैत । अधिपूर्वादिङो लङस्तप्रत्यये शपो लुकि आटि इङो यणि च तत्सिद्धिः । अधीयीत । अधिपूर्वात् इङो लिङस्तप्रत्यये शपो लुकि

गाङ्—'इङ्'को 'गाङ्' आदेश हो, 'लिट्'के परे ।

अधीयीध्वम् । अध्येषीष्ट । **विभाषा लुङ्लृङोः ।२।४।५०।** इणो गाङ् । **गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् ।१।२।१।** गाङादेशात्कुटादिभ्यश्चाऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः । **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि ।६।४।६६।** एषामात ईत्स्याद्धलादौ क्ङित्यार्धधातुके । अध्यगीष्ट । अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत । अध्यैष्यत ॥ **ईर गतौ, कम्पने च** । ईर्ते । ईराञ्चक्रे । ईरिता । ईरिष्यते । ईर्ताम् । ईर्ष्व । ईर्ध्वम् । ऐरिष्ट । **कश गतिशासनयोः** । कष्टे । कशाते । **ईड स्तुतौ** । ईट्टे । **ईशः से ।७।२।७७।** ईड-

---

सीयुटि सुटि सलोपे यलोपे इयङि सवर्णदीर्घे च तत्साधु । अध्येषीष्ट । इङ आशीर्लिङस्ते सीयुटि उटि गते यलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'अधि ए सी स् त' इति स्थिते 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटि गते यणि च कृते 'अध्ये सी स् त' इति जाते द्वयोः सकारयोः षत्वे ष्टुत्वे च विहिते 'अध्येषीष्ट' इति निष्पद्यते । विभाषा लुङ्लृङोः । शेषं पूरयति—इणो गाङ् वा स्यादिति । 'इङश्च' इत्यतो 'गाङ् लिटि' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः । गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् । ञ् च ण् च ञ्णौ तौ इतौ यस्य स ञ्णित् स न भवतीति अञ्णित्, गाङ् च कुटादयश्चेति द्वन्द्वात्पञ्चमी । गाङिति ङकारानुबन्धनात् 'इणो गा लुङि' इत्यस्य न ग्रहणमित्युक्तम् । नापि गाङ् गतौ, इत्यस्यात्र ग्रहणम् । तत्र ङकारस्यात्मनेपदप्रापणेन चरितार्थत्वात् । इङादेशस्य गाङो ङकारो नात्मनेपदप्रापणेन चरितार्थः—स्थानिवत्त्वेनैव तत्सिद्धेः । तदाह—गाङादेशादिति । घुमास्थागापाजहातिसां हलि । षोऽन्तकर्मणि इत्यस्य कृतात्वस्य निर्देशः । घु मा स्था गा पा जहाति सा एषां द्वन्द्वात् षष्ठी । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । 'आतो लोप इटि च' इत्यतः आत इति 'ईद्यति' इत्यतः ईदिति 'अनुदात्तोपदेश' इत्यतः क्ङिति इति चानुवर्तते । तदाह—एषामित्यादिना । अध्यगीष्ट । अधिपूर्वकादिङ्धातोर्लुङि तप्रत्यये 'विभाषा लुङ्लृङोः' इतीङो गाङादेशे इटि च्लेः सिचि 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' इति सिचो ङित्वे 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इति ईत्वे यणि षत्वे ष्टुत्वे च 'अध्यगीष्ट' इति । गाङोऽभावे आटि वृद्धौ पूर्वोक्तकार्ये च 'अध्यैष्ट' इति निष्पन्नम् । अध्यगीष्यत । इङो लृङस्ते समागते 'विभाषा लुङ्लृङोः' इति गाङादेशे तस्य ङित्वे आकारस्येकारे अटि यणि सस्य षत्वे च कृते 'अध्यगीष्यत' इति । गाङादेशाभावे—आटि वृद्धौ यणि स्ये सस्य षत्वे च कृते 'अध्यैष्यत' इति । ईर गतौ कम्पने च—ईर्ते । ईराञ्चक्रे । ईरिता । ईरिष्यते । ईर्ताम् । ऐरः । ईरिषीष्ट । ऐरिष्ट । ऐरिष्यत । ईड-स्तुतौ, ईट्टे-ईडाते—

विभा—'इङ्'को 'गाङ्' आदेश हो, लुङ्-लृङ्के परे, विकल्पसे । गाङ्—'इङ्' स्थानिक 'गाङ्' और कुटादिसे पर ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय 'ङित्' हो । घुमा—घुसंज्ञक धातु तथा मा, स्था, गा, पा, हा, और 'षो' धातुके आकारको 'ईत्व' हो, हलादि कित्ङित् आर्धधातुकके परे । ईशः—ईश्, ईड् और 'जन्' धातुसे पर सार्वधातुक 'से' और 'ध्वे' शब्दको 'इट्'का आगम हो।

जनोर्ध्वे च ।७।२।७८। ईडीड्जनो सेध्वेशब्दयो सार्वधातुकयोरिट् स्यात् । योगविभागो वैचित्र्यार्थ । ईडिषे । ईडिध्वे । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्—ईडिध्व । ईडिष्वम् । विकृतिग्रहणेन प्रकृतेरग्रहणात्—ऐड्ढ्वम् । ईश ऐश्वर्ये ईष्टे । ईशिषे । ईशिध्वे ॥ आस उपवेशने । आस्ते । दयायासश्चेत्याम् । आसाञ्चक्रे । आस्स्व । आध्वम् । आसिष्ट । आङः शासु इच्छायाम् । आशास्ते । आशासाते । आशासे । वस आच्छादने । वस्ते । वस्से । वध्वे । ववसे । वसिता ॥ णिसि चुम्बने । निंस्ते । णिजि शुद्धौ । 'चो कु' । निङ्क्ते । निङ्क्ष्वे । निनिञ्जे । निञ्जिता । निञ्जिष्यते । पृजी वर्जने । पृङ्क्ते । पृञ्जाते । इदित्त्वमित्यन्ये । पृक्ते । पृची संपर्चने । पृक्ते । पपृचे । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । सूते । सुषुवे । सुषुवाते । सुषुविरे । सुषुविषे । सोता । सविता । 'भुसुवो'रिति गुणनिषेधः । सुवै । सविषीष्ट । सोषीष्ट । असविष्ट । असोष्ट ॥ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अयं दर्शनेऽपि । इकारोऽनुदात्तो नुमर्थ । नुम्तु न, 'अनन्येदित' इति व्याख्यानात् । ङकारस्तु । 'अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्य'मिति ज्ञापनार्थः । तेन 'स्फायत्तिमिरौघमन्ध'मित्यादिसिद्धि । 'स्कोः'रिति कलोप । चष्टे । चक्षाते । 'आर्द्धधातुके' । चक्षिङः ख्याञ् ।२।४।५४। वा लिटि ।२।४।५५। अत्र भाष्ये 'क्शा'दयमादेश । असिद्धकाण्डे- शस्य यो वा'

ईट्टे । ईश से, ईडजनोर्ध्वे चेति इडित्यनुवर्तते । ईडिषे । अत्रेदागम 'ईडजनोर्ध्वे च' इत्यनेन । ईडाथे । ईडिध्वे, अत्रापीट् । ईडे । ईड्वहे ईड्महे । ईडे । ईडिता । ईडिष्यते । ईट्टाम् । ऐट्ट, इत्यादि । ईश=ऐश्वर्ये, ईष्टे । ईशे । ईशिध्वे 'ईशिषे' अत्रेट् इत्यादि । आस=उपवेशने आस्ते । 'दयायासश्च इत्यामि आसाञ्चक्रे, इति रूपम् । आसिता । आसिष्यते । आस्ताम् । आस्स्व । आध्वम् । लुङि आसिष्ट इत्यादि । आङ् शासु= इच्छायाम् । आशास्ते । वस=आच्छादने । वस्ते । ववसे । वसिता । वसिष्यते । वस्ताम् । अवस्त । वसिषीष्ट । अवसिष्ट । अवसिष्यत । णिसि=चुम्बने । निंस्ते । निनिंसे । निंसिता । निंसिष्यते । निंस्ताम् । अनिंस्त । निंसिषीष्ट । अनिंसिष्ट । अनिंसिष्यत । णिजि=शुद्धौ । निङ्क्ते । निनिञ्जे । निञ्जिता । निञ्जिष्यते । निङ्क्ताम् । अनिङ्क्त । निञ्जिषीष्ट । अनिञ्जिष्ट । अनिञ्जिष्यत । पृजी=वर्जने । पृक्ते । पृची-पृक्ते । पपृचे । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । सूते-सुवाते-सुवते । सुषुवे । सोता-सविता 'स्वरति' इति वेट् । सोष्यते-सविष्यते । सूताम्-असूत । सविषीष्ट । असविष्ट । असोष्ट । असविष्यत । असोष्यत । चक्षिङ्=व्यक्तायां वाचि । चष्टे । चक्षिङः ख्याञ् वा लिटीति । आर्धधातुके चक्षिङः ख्याञ् आदेशः स्याल्लिटि तु वा । चख्यौ । चचक्षे । खशादिरयमादेश इति मते

चक्षि—'चक्षिङ्' धातुको 'ख्याञ्' (ख्याञ्) आदेश हो । वा लि—'लिट्'के परे

इति स्थितम्। निरवात्पदद्वयम्। चख्यौ। चख्ये। चक्शौ। चक्शे। 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादे'रिति तु न, चर्त्वस्यासिद्धत्वात्। चचक्षे। ख्याता। क्शाता। ख्यास्यति। ख्यास्यते। क्शास्यति। क्शास्यते। चष्टाम्। अचष्ट। चक्षीत। ख्यायात्। ख्येयात्। क्शायात्। क्शेयात्। 'अस्यतिवक्ती'त्यङ्। अख्यत्। अख्यत। 'समरने'तीट्-चक्षौ। अक्शासीत्। अक्शास्त। (वर्जने ख्शाञ् नेष्टः)। समचक्षिष्टेत्यादि। इत्यात्मनेपदप्रक्रिया।

अथोभयपदप्रक्रिया।

द्विष अप्रीतौ। द्वेष्टि। द्विष्टे। दिद्वेष। दिद्विषे। द्वेष्टा। द्वेक्ष्यति। द्वेष्टु-द्विष्टात्। द्विड्ढि। द्विषव। द्वेषाणि। द्वेषै। अद्वेट्। **द्विषश्च** ।३।४।११२। द्विषः परस्य लङो झेर्जुस् वा। अद्विषुः। अद्विषन्। अद्विष्टम्। अद्विषम्। द्विषीत। द्विक्षीष्ट। 'शल इगुपधे'ति क्सः। अद्विक्षत्। अद्वेक्ष्यत। दुह प्रपूरणे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घः। 'झषस्तथोर्धोऽधः'। दोग्धि। दुग्धः। दुहन्ति। 'एकाचो बशो भषि'ति दकारस्य धकारः। धोक्षि। दुग्धः। दुग्ध। दोह्मि। दुह्वः। दुह्मः। दुग्धे। दुहाते। दुहते। धुक्षे। दुहाथे। धुग्ध्वे। दुहे। दुह्वहे। दुह्महे। दुदोह। दुदुहे। दोग्धा। धोक्ष्यति।

चक्शौ-चक्शे-चचक्षे। ख्याता-क्शाता। ख्यास्यति-ख्यास्यते-क्शास्यते। चष्टाम्। अचष्ट। चक्षीत। ख्यायात्-ख्येयात् 'वान्यस्य संयोगादेः'। अख्यत्-अख्यत। अक्शासीत्-अक्शास्त।

द्विष्। द्वेष्टि-द्विष्टे। दिद्वेष-दिद्विषे। द्वेष्टा। द्वेक्ष्यति-द्वेक्ष्यते। द्विष्टाम्-द्वेष्टु। सिपि द्विड्ढि। अद्वेट्-अद्वेड्। सौ तु-'द्विषश्चेति। अत्र झेर्जुसिति अनुवर्तते अत आह-लङो झेर्जुसिति। तेन 'अद्विषुः' इति सिध्यति। अयं जुसादेशो विकल्पेन भवति तदभावे अद्विषन्। 'अद्विक्षत्'। अत्र शल इगुपधेति क्सादेश इति भावः। दोग्धि। दुह् प्रपूरणे इत्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि समागते शपो लुकि 'दादेर्धातोर्घः'इति हस्य घत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'दुघ् धि' इति जाते 'झलां जश् झशि' इति घस्य गत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे। 'दोग्धि' इति। दुदोह दुहेर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, धातोर्द्वित्वे हलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दुदोह' इति। धोक्ष्यति। दुह्धातोर्लृटस्तिपि, स्ये, इडभावे, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति दस्य भष्भावेन धत्वे 'खरि च' इति घस्य कत्वे कारपरकत्वात्षत्वे क्षसंयोगे च 'धोक्ष्यति' इति रूपम्।

'ख्याञ्' आदेश विकल्पसे हो। वर्जं—वर्जन अर्थमें 'ख्याञ्' आदेश नहीं हो।

द्विषः—'द्विष्' धातुसे पर 'लङ्' सम्बन्धी 'झि'को 'जुस्' आदेश हो, विकल्पसे।

धोक्ष्यते । दोग्धु । दुग्धात् । दुग्धाम् । दुहन्तु । दुग्धि । दुग्धात् । दुग्धम् । दुग्ध । दोहानि । दुग्धाम् । दुहाताम् । दुहताम् । धुक्ष्व । दुहाथाम् । धुग्ध्वम् । दोहै । दोहावहै । दोहामहै । अधोक् । अधोग् । अदुग्धाम् । अदुहन् । अदोहम् । अदुग्ध । अदुहाताम् । अदुहत । अदुग्धा । अदुहाथाम् । अधुग्ध्वम् । दुह्यात् । दुहीत । 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' । धुक्षीष्ट । 'शल इगुपधे'ति क्सः । अधुक्षत् । लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ।७।३।७३। एषां क्सस्य लुग्वा, दन्त्ये तङि । अधुक्षत-अदुग्ध । क्सस्याचि ।७।३।७२। अजादौ तङि क्सस्य लोपः स्यात् ।

धोक्ष्यते । आत्मनेपदिप्रत्यये लृटस्ते, टेरेत्वे शेषं पूर्ववत् । अधोक् । दुह्धातोर्लङस्तिपि, शपो लुकि, अड्डागमे, 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति तलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो' इति भष्भावेन दस्य धत्वे जश्त्वेन गकारे तस्य चर्त्वेन ककारे 'अधोक्' इति रूपम् । अदुहत । लङो झे, शपो लुकि 'आत्मनेपदेष्वनतस्याम्' इति अतादेशे अटि च कृते रूपम् । धुक्षीष्ट । दुह्धातोराशीर्लिङस्ते, सीयुटि, सुटि गते 'लिङ्सिचावात्मने०' इति किङ्कित्त्वे 'क्ङिति च' इति गुणाभावे 'लोपो व्योर्वलि' इति य् लोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो०' इति भष्भावे 'खरि च' इति घस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे कृष्योगे षे 'सुट्तिथोः' इति सुटि, तटि गते टित्वाद्याद्यवयवे, सस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टु' इति ष्टुत्वे च कृते 'धुक्षीष्ट' इति रूपम् । अधुक्षत् । दुहो लुङस्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्ले क्सादेशे कृते दुह् क्स इति स्थिते ककारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो०' इति भष्भावेन दस्य धत्वे 'धुघ् स् ति' इति जाते 'खरि च' इति घस्य कत्वे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अडागमे तिप इकारलोपे सस्य षत्वे क्षोः संयोगे क्षे च कृते 'अधुक्षत्' इति रूपम् । दन्त्ये तङीति । दन्त्यादौ तङी त्यर्थः । प्रत्ययादर्शनार्थात्सर्वादेशोऽयं लुक् । अदुग्ध । दुह् धातोः लुङ आत्मनेपदिप्रत्यये ते समागते च्लौ 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्सादेशे 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहा आत्मनेपदे दन्त्ये' इति क्सस्य लुकि 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'झषस्तथो र्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति घस्य गत्वे अटि च 'अदुग्ध' इति रूपम् । क्सस्य लुगभावे 'अधुक्षत' इति रूपम् । क्सस्याचीति । अचीत्यस्याङ्गाक्षिप्तप्रत्ययविशेषणत्वात् तदादिविधिः । 'घोर्लोपो लेटि वा' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते ।

लुग्वा—दुहादि धातुसे पर 'क्स' का 'लुक्' हो, दन्त्य तङ्के परे विकल्पसे ।
क्स—'क्स' (क्सके 'अ') का लोप हो, अजादि 'तङ्'के परे ।

अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अधुक्षथाः-अदुग्धाः । अधुक्षाथाम् । अधुक्षध्वम्-अधुग्ध्वम् । अधुक्षि । अधुक्षावहि-अदुह्वहि । अधुक्षामहि । अधोक्ष्यत् । अधोक्ष्यत । एवं दिह उपचये । उपचयो-वृद्धिः । प्रणिदेग्धि । देग्धु-दिग्धि । लिह आस्वादने । 'हो ढः' । 'ढो ढे लोपः' । लेढि । लीढः । लिहन्ति । लेक्षि । लीढे । लिहाते । लिहते । लिक्षे । लिहाथे । लीढ्वे । लेढु । लीढात् । लीढाम् । लिहन्तु । लीढि । लेहानि । लीढाम् । अलेट्—अलेड् । अलीढाम् । अलिक्षत्-अलिक्षत । अलीढ । अलेक्ष्यत्—अलेक्ष्यत । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ।३।४।८४।

तदाह—अनादावित्यादिना । अलोऽन्त्यस्येति । अन्त्यस्याकारस्य लोप इति भावः । अधुक्षाताम् । दुहो लुङि आतामि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्से, कलोपे 'दुह् स आताम्' इति स्थिते 'क्सस्याचि' इति सलोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्याकारलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे, दस्य भष्भावेन धत्वे 'खरि च' इति घस्य कत्वे कात्परकत्वात् सस्य षत्वे कषसंयोगेन क्षे जाते अटि च कृते क्सस्य कित्वाद्गुणाभावे 'अधुक्षाताम्' इति रूपम् । अधोक्ष्यत् । दुह्धातोः 'लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ' इति लृङि, अनुबन्धलोपे लृङि लः स्थाने तिपि, स्ये इडभावे स्यस्यार्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति भष्भावेन दस्य धत्वे घस्य चर्त्वेन कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति कात्परकत्वात्सस्य षत्वे कषसंयोगे क्षे जाते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे अटि च कृते 'अधोक्ष्यत्' इति रूपम् । एवमात्मनेपदेऽपि—'अधोक्ष्यत' इति रूपम् । लिलेह । लिह्धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, लिटस्तिपि 'परस्मैपदानां णलतुस्' इत्यादिना तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'लि लिह् अ' इति स्थिते 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'लिलेह' इति रूपम् । आत्मनेपदे-लिलिहे । अलिक्षत् । लिह्धातोः 'लुङ्' इति लुङि लुङस्तिपि च्लौ, 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः स्थाने क्से, कलोपे हस्य ढत्वे ढस्य 'षढोः कः सि' इति कत्वे कात्परत्वात्सस्य षत्वे कषयोगे क्षे अटि च 'अलिक्षत्' इति रूपम् । अलीढ । लिहधातोर्लुङः स्थाने आत्मनेपदसंज्ञके ते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः स्थाने, 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्से, कलोपे 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति सलुकि, हस्य ढत्वे तस्य धत्वे धस्य ष्टुत्वे ढलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति पूर्वस्याणो दीर्घे 'अलीढ' इति रूपम् । लुगभावे हस्य ढत्वे 'षढोः कः सि' इति ढस्य कत्वे कात्परकत्वात्सस्य षत्वे 'अलिक्षत' इति च रूपम् । ब्रुवः पञ्चानामिति । 'परस्मैपदानां णलतुस्०' इत्यत

ब्रुवः—'ब्रू' धातुसे पर लट्लकार-सम्बन्धी तिबादि पाँचको णलादि आदेश हो,

ब्रुवो लडादेशानां तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाऽऽहादेशः। अकार उच्चारणार्थः। आह। आहतुः। आहुः। आहस्थः ।८।२।३५। चर्त्वम्। आत्थ। आहथुः। ब्रुव ईट् ।७।३।९३। ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात्। ब्रवीति। ब्रूतः। ब्रुवन्ति। ब्रूते। ब्रुवाते। ब्रुवते। ब्रुवो वचिः ।२।४।५३। ब्रुवो वच्यादेशः स्यादार्धधातुके। उवाच। ऊचतुः। ऊचुः। उवचिथ–उवक्थ। ऊचे। वक्ता। वक्ष्यति–वक्ष्यते। ब्रवीतु। ब्रूतात्। ब्रूताम्। ब्रुवन्तु। ब्रूहि–ब्रूतात्। ब्रूतम्। ब्रूत। ब्रवाणि। ब्रवाव। ब्रवाम। ब्रूताम्। ब्रवै। अब्रवीत्। अब्रूताम्। अब्रूत। ब्रूयात्। ब्रुवीत। उच्यात्।

उत्तरसूत्रमिदम्। 'विदो लटो वा' इत्यतो लटो वेत्यनुवर्तते। तदाह—ब्रुवो लट इति। आह। ब्रूधातोर्लटस्तिपि, शपो लुकि 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इति तिपो णलि, ब्रुव आहादेशे च कृते णलोऽनुबन्धलोपे 'आह' इति रूपम्। आहस्थ इति। आह धात्वन्तम्। आत्थ। ब्रुवो लटः सिपि शपो लुकि 'ब्रुवः पञ्चानाम्०' इति सिपस्थलि ब्रुव आहादेशे च 'आहस्थः' इति हस्य थत्वे तस्य 'खरि च' इति चर्त्वेन तकारे 'आत्थ' इति रूपम्। ब्रुव ईट्। 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः पितीति 'उतो वृद्धि०' इत्यतो हलीति चानुवर्तते। तदाह—ब्रुवः परस्येत्यादिना ब्रवीति। ब्रूधातोर्लटस्तिपि, शपो लुकि आहादेशाभावपक्षे 'ब्रुव ईट्' इति तिप ईटि, टकारे टित्वात् तिप आद्यावयवे जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ब्रुव उकारस्य गुणेऽवादेशे च कृते 'ब्रवीति' इति रूपम्। ब्रुवो वचिरिति। ब्रुवो वचिरादेशः स्यादार्धधातुके इत्यर्थः। इकार उच्चारणार्थः। उवाच। ब्रूधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, तत्स्थाने तिपि 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'ब्रुवो वचिः' इति ब्रूस्थाने वच् आदेशे, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे द्वित्वे अभ्यासत्वे 'वच् वच् अ' इति जाते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवस्य सम्प्रसारणत्वे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति चलोपे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'उवाच' इति रूपम्। वक्ष्यति। ब्रूधातोर्लृट स्तिपि स्ये 'ब्रुवो वचिः' इति ब्रुवो वचादेशे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे, सस्य षत्वे कषसंयोगे क्षे कृते। वक्ष्यतीति। ब्रवीतु। ब्रुवो लोटि, तिपि 'ब्रुव ईट्' इति ईटि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवि 'एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे 'ब्रवीतु' इति रूपम्। तातङि—ब्रूतात्। उच्यात्। ब्रूधातोराशीर्लिङस्तिपि, यासुटि, उटो लोपे 'ब्रुवो वचिः' इति वचौ, 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'उच् यास् ति' इति स्थिते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'उच्यात्' इति रूपम्।

विकल्पसे और 'ब्रू' को 'आह' आदेश भी हो। आहः—'आह्'को थकारान्त आदेश हो, 'झ'के परे। ब्रुव—'ब्रू' धातुसे पर हलादि। 'पित्'को 'ईट्' का आगम हो। ब्रवो—'ब्रु'को

वक्षीष्ट। अवोचत। अवोचत। अवदयत्। (चर्करीतञ्च)। 'चर्करीत'मिति यङ्लुगन्तं तददादौ बोध्यम्। ऊर्णुञ् आच्छादने। **ऊर्णोतेर्विभाषा** ।७।२।६। ऊर्णोतेर्वृद्धिर्वा स्याद्धलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णौति। ऊर्णोति। ऊर्णुतः। ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुते। ऊर्णुवाते। ऊर्णुवते। (**ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम्**) **नन्द्राः संयोगादयः** ६।१।३। अचः परा संयोगादयो न-द-रा द्विर्न भवन्ति। 'नु' शब्दस्य द्वित्वम्। णत्वस्यासिद्धत्वात्। 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति त्वनित्यम्, 'उभौ साभ्यासस्ये'ति लिङ्गात्। ऊर्णुनाव। ऊर्णुनुवतुः। ऊर्णुनुवुः। **विभाषोर्णोः**

आत्मनेपदे—ते समागते सीयुटि उटो लोपे 'ब्रू सी त' इति दशायां 'ब्रुवो वचिः' इति वचादेशे 'चोः कुः' इति कुत्वे 'सुट् तिथोः' इति सुटि उदावित्तौ, सकारद्वयस्य षत्वे, 'वक्षीष्ट' इति रूपं ज्ञेयम्। अवोचत। ब्रुवो लुङस्तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'ब्रुवो वचिः' इति वचादेशे 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेरङादेशे कृते 'वच् अ ति' इति जाते तिप इकारलोपे 'वच उम्' इति उमि 'व उम् च् अ त्' इति जाते मलोपे आद्गुणे अटि च कृते 'अवोचत्' इति रूपं साधु। ऊर्णोतेर्विभाषा। 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इत्यतो वृद्धिरिति हलीति चानुवर्तते 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः पिति सार्वधातुके इति च, इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—वृद्धिर्वा स्यादित्यादिना। ऊर्णौति। ऊर्णुञ् आच्छादने इत्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि समागते, शपि शपो लुकि च 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वृद्धौ 'ऊर्णौति' इति। वृद्ध्यभावे गुणे च कृते 'ऊर्णोति' इति। नन्द्राः संयोगादयः।'एकाचो द्वे' इत्यनुवर्तते। 'अजादेर्द्वितीयस्य' इत्यतः अजादेरिति। अच्चासौ आदिश्चेति कर्मधारयात्पञ्चमी न् द् र् एषां द्वन्द्वः। तदाह—अचः परा इति। ऊर्णुनाव। ऊर्णुधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि चागते 'ऊर्णु अ' इति स्थिते 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इति आमि प्राप्ते 'ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्' इति निषेधे 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति सरेफस्य णोर्द्वित्वे प्राप्ते 'नन्द्राः संयोगादयः' इति रेफस्य द्वित्वाभावे णत्वस्यासिद्धत्वाद् नुशब्दस्य द्वित्वे, प्रथमनस्य 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति परत्वात् गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इति आवि कृते 'ऊर्णुनाव' इति रूपम्। विभाषोर्णोः। 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतो ङिदित्यनुवर्तते

वचादेश हो, आर्धधातुकके परे। चर्क—'चर्करीतम्' इस यङ्लुगन्त धातुओंको भी अदादिमें समझना। ऊर्णो—'ऊर्णु' धातुको वृद्धि हो, हलादि पित् सार्वधातुकके परे, विकल्पसे। ऊर्णो०—'ऊर्णु' धातुको 'आम' नहीं हो, लिट्के परे। नन्द्राः—'अच्'से परे संयोगादि नकार दकार और रेफको द्वित्व नहीं हो। विभा—'ऊर्णु' धातुसे पर इडादि प्रत्यय 'ङित्' हो, विकल्पसे।

।१।२।३। ऊर्णोतेः परः इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात् । ऊर्णुनुविथ । ऊर्णुनविथ । ऊर्णुविता ऊर्णविता । ऊर्णोतु ऊर्णौतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवै । **गुणोऽपृक्ते** ।७।३।९१। ऊर्णोतेर्गुणः स्यादपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके । वृद्ध्यपवादः । और्णोत् । और्णोः । और्णुतम् । ऊर्णुयात् । ऊर्णुयाताम् । ऊर्णुयुः । ऊर्णुयाः । इह वृद्धिर्न, 'ङिच्च पिन्न' इति व्याख्यानात् । ऊर्णूयात् । ऊर्णूयास्ताम् । ऊर्णूयासुः । ऊर्णुविषीष्ट । ऊर्णविषीष्ट । और्णुवीत् । और्णुविष्टाम् । **ऊर्णोतेर्विभाषा** ।७।२।६। ऊर्णोतेरिडादौ परस्मैपदपरे सिचि वा वृद्धिः स्यात् । पक्षे गुणः । और्णावीत् । और्णाविष्टाम् । और्णवीत् । और्णविष्टाम् ॥ इत्यदादि

अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

हु दानाऽऽदानयोः । **जुहोत्यादिभ्यः श्लुः** ।२।४।७५। जुहोत्यादिभ्यः परस्य शपः श्लुः स्यात् । **श्लौ** ।६।१।१०। धातोर्द्वे स्तः श्लौ । जुहोति । जुहुतः । 'हुश्नु

'विज इट्' इत्यत इडिति, इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—इडादीति । गुणोऽपृक्ते । 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इत्यत ऊर्णोतेरिति 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः 'पिति सार्वधातुके' इति 'उतो वृद्धिः' इत्यतः हलीति चानुवर्तते, तदाह-ऊर्णोतेरित्यादिना । और्णोत् । लङस्तिपि शपो लुकि आटि तिप इकारलोपे 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति प्राप्ते तम्बाधित्वा 'गुणोऽपृक्ते' इति गुणे । 'आटश्च' इति वृद्धौ 'और्णोत्' इति । ऊर्णोतेर्विभाषा । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यनुवर्तते, 'नेटि' इत्यतः । इटीति च । तदाह—इडादाविति । और्णावीत् । ऊर्णुधातोर्लुङस्तिपि, अनुबन्धलोपे वृद्धौ च्लेः सिचि इचि गते 'और्णु स् त्' इति स्थिते सिचः तस्य इटि तिपस्तकारस्य ईटि 'विभाषोर्णोः' इतीटो ङित्वाद् गुणाभावे उवङि 'इट ईटि' इति सलोपे दीर्घे च 'और्णुवीत्' इति । ङित्वाभावपक्षे गुणं बाधित्वा 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वा वृद्धावावादेशे और्णावीत्' इति च सिद्धम् । इत्यदादयः ।

शप इति । 'अदिप्रभृतिभ्यः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । श्लाविति । शेष पूर॰

गुणो—'ऊर्णु' धातुको गुण हो, अपृक्तसंज्ञक हलादि 'पित्' सार्वधातुकके परे । ऊर्णो-'ऊर्णु' धातुको वृद्धि हो, इडादि परस्मैपद परक 'सिच्' के परे, विकल्पसे ।

इस प्रकार 'लघुमणी' टीका में अदादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

श्लौ—जुहोत्यादि गणपठित धातुओंसे विहित 'शप्'का 'श्लु' (लोप) हो । श्लौ—धातुको

वो'रिति यण्। जुह्वति। **भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ।३।१।३९।** एभ्यो लिट्याम् वा स्यादामि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार। जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु। जुहुतात्। जुहुताम्। जुह्वतु। हेर्धिः। जुहुधि। आटि परत्वाद् गुणः। जुहवानि। अजुहोत्। अजुहुताम्। परत्वाज्जुसि चेति गुणः। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्। **ञिभी भये।** बिभेति। **भियोऽन्यतरस्याम्**

श्यति—धातोर्द्वे स्त इति। 'एकाचो द्वे' इत्यतः 'लिटि धातोः' इत्यतश्च तदनुवृत्तिरिति भावः। जुहोति। हुधातोर्लटस्तिपि, शपि 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति शपः श्लौ, 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'हु हु ति' इति जाते 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'जुहोति' इति। जुह्वति। हुधातोर्लटो झौ, शपः श्लौ, द्वित्वेऽभ्यासत्वे पूर्ववद्भ्यासकार्ये च कृते, 'जुहु झि' इति स्थिते 'उभेऽभ्यस्तम्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झेरतादेशे 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' इति यणि 'जुह्वति' इति सिद्धम्। भीह्रीभृहुवामिति। भी ह्री भृ हु एषां द्वन्द्वात्पञ्चम्यर्थे षष्ठी। 'कास्प्रत्ययात्' इत्यत आम् लिटीत्यनुवर्तते। तदाह—एभ्य इति। श्लुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिरित्यभिप्रेत्य आह—आमि श्लाविव कार्यं चेति। जुहवाञ्चकार। हुधातोर्लिटि 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इति पाक्षिके आमि श्लुवद्भावे च द्वित्वेऽभ्यासकार्ये चुत्वेन झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन जकारे गुणेऽवादेशे 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपो णलि द्वित्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे गुणे रपरे च, 'जुहवाम् च कर् अ' इति स्थिते 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इति अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति वैकल्पिके परसवर्णे 'जुहवाञ्चकार' इति रूपं निष्पन्नम्। आमोऽभावपक्षे तु लिटस्तिपो णलि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे परत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते 'कृताकृतप्रसङ्गी विधिर्नित्यः' इति नियमेन 'अचो ञ्णिति' इति नित्यत्वात् वृद्धौ, आवादेशे च 'जुहाव' इति निष्पन्नम्। अहौषीत्। जुहोतेर्लुङि, अटि, तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि इत्संज्ञायां तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ च 'अहौषीत्' इति। बिभेति। ञिभी भये इत्यस्माद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटस्तिपि शपि 'आदिर्ञिटुडवः' इति ञिकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्वित्वे 'भी भी ति' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः'

द्वित्व हो 'श्लु'के परे (श्लुके विषयमें)। **भीह्री**—भी, ह्री, भृ और 'हु' धातुसे 'लिट्' के परे विकल्पसे 'आम्' प्रत्यय हो और 'आम्'के परे, 'श्लु'की तरह द्वित्वादि कार्य भी हो। **भियो**—'भी' धातुको 'ह्रस्व' हो, हलादि कित्-ङित् सार्वधातुकके परे विकल्पसे।

। ६ । ४ । ११५ । भिय इद्वा स्याद्धलादौ सार्वधातुके किङति । बिभितः । बिभीतः । 'एरनेकाच' इति यण् । बिभ्यति । बिभयाञ्चकार । बिभाय । भेता । भेष्यति । बिभेतु । बिभितात् । बिभीतात् । बिभिताम् । बिभीताम् । अबिभेत् । बिभियात् । बिभीयात् । भीयात् । अभैषीत् । अभेष्यत् । ह्री लज्जायाम् । जिह्रेति । जिह्रीतः । जिह्रियति । जिह्रयाञ्चकार । जिह्राय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्रेतु । जिह्रीयात् । अजिह्रेत् ।

इत्यभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'बिभेति' इति । भियोऽन्यतरस्याम् । 'इद्दरिद्रस्य' इत्यत इदिति, 'गमहन' इत्यतः क्ङिति इति 'ईहल्यघोः' इत्यतः हलीति 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—स्याद् वा इत्यादिना । बिभितः । तसि, शपः श्लुत्वे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासस्याचो ह्रस्वत्वे, भस्य बत्वे 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति-ईकारस्य इकारे 'बिभितः' इति । इकाराभावपक्षे तु 'बिभीतः' इति । बिभ्यति । भी धातोर्द्वित्वे ह्रस्वत्वे भस्य बत्वे 'उभेऽभ्यस्तम्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झेरति 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि च कृते 'बिभ्यति' इति । बिभयाञ्चकार । भियो लिटि समागते 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इत्यामि, आमः श्लुवद्भावात् 'श्लौ' इति द्वित्वे, 'भी भी आम् लिट्' इति स्थिते अभ्यासस्याचो ह्रस्वे, भस्य बत्वे, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे च कृते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे, 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'बि भी आम् क कृ लिट्' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे च 'बिभयाम् क कृ लिट्' इति स्थिते लिटस्तिपि, तिपो णलि, 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे, सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे 'बिभयाञ्चकार' इति साधु । आमोऽभावपक्षे—लिट तिपि, तिपो णलि धातोर्द्वित्वे, अभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे, भस्य बत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'बिभाय' इति । अभैषीत् । भीधातोर्लुङि अटि लुङः तिपि, तिप इकारलोपे, च्लौ, च्लेः सिचि, इत्यादितो 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि सस्य षत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अभैषीत्' इति रूपम् । जिह्रेति । ह्री लज्जायाम् इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे 'ह्री ह्री ति' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याचो ह्रस्वत्वे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'जिह्रेति' इति । जिह्रयाञ्चकार । ह्रीधातोर्लिटि 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इत्यामि श्लुवद्भावाच्च धातोर्द्वित्वे 'ह्री ह्री आम् लिट्' इति जाते अभ्यासत्वे ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति जत्वे 'आमः'

जिह्रीयात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् । पॄ पालन-पूरणयोः । **अर्तिपिपर्त्योश्च** ।७।४।७७। अभ्यासस्य इत्स्यात् श्लौ । पिपर्ति । **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** ।७।१। १०२। अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ऋदन्तस्याङ्गस्य उत्स्यात् । **हलि च** ।८।२।७७। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि । पिपूर्तः । पिपुरति । पपार । **शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा** ।७।४।१२। शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा स्यात् किति लिटि । पप्रतुः । पप्रुः ।

इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट् परकृञोऽनुप्रयोगे च 'जि ह्री आम् कृ लिट्' इति भूते, लिटः तिपि, णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति कृञो द्वित्वेऽभ्यासत्वे उरदत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चुत्वे 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणेऽयादेशे 'जिह्रयाम् च कृ अ' इति जाते, पुनः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन कृ इत्यस्य गुणे रपरे च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इति अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे ञकारे च जाते 'जिह्रयाञ्चकार' इति । आमभावपक्षे लिटस्तिपि णलि धातोर्द्वित्वे श्लोपे हस्य झत्वे जत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'जिह्राय' इति सिद्धम् । अह्रैषीत् । ह्रीधातोर्लुङस्तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि, इत्वो लोपे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि सस्य षत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ अटि च 'अह्रैषीत्' इति रूपम् । अर्तिपिपर्त्योश्चेति । 'अत्र लोपः' इत्यस्मादभ्यासस्येति 'भृञामित्' इत्यस्माद् इदिति 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यतः श्लाविति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—अभ्यासस्येत्यादिना । पिपर्ति । पॄ-पालनपूरणयोरित्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि, शपि, शपः श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्वित्वे 'प पॄ ति' इति स्थिते 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इत्यभ्यासस्येकारान्तादेशे 'पिपॄ ति' इति जाते 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणे 'पिपर्ति' इति साधु । उदोष्ठ्यपूर्वस्येति । 'ऋत इद्धातोः' इत्यतः ऋत इत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतमिहानुवृत्तमावर्तते । एकमङ्गावयवषष्ठ्यन्तम्, ओष्ठ्यस्य विशेषणम् 'अपरं तु ऋता विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—अङ्गावयवौष्ठ्येत्यादिना । हलि च । 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इत्यनुवर्तते । 'सिपि धातोः' इत्यतो धातोरिति च । तत्र र्वोरित्यनेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—रेफवान्तस्येत्यादिना । पिपूर्तः । पॄधातोर्लटस्तसि, श्लौ 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इत्यभ्यासस्येकारान्तदेशे रपरत्वे हलादिशेषे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उत्वे, रपरे च कृते 'हलि च' इति दीर्घत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'पिपूर्तः' इति रूपं भवति । शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा । शॄ दॄ पॄ एषां द्वन्द्वः । लिटीति । 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतः तदनुवृ-

---

अर्ति-'ऋ' धातु और 'पॄ' धातुके अभ्यासको 'इत्व' हो, श्लु'के विषयमें । उदोष्ठ्य-अङ्गावयव ओष्ठ्य पूर्वक ऋदन्त अङ्गको 'उत्' आदेश हो । हलि—रेफान्त और वान्त धातु संबन्धी उपधा 'इक्' को दीर्घ हो 'हल्'के परे । शॄदॄ—'शॄ-दॄ-पॄ' धातुको ह्रस्व हो,

ऋच्छत्यॄताम् ।७।४।११। तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोॠतां च गुणो लिटि । पपरतुः । पपरुः । वॄतो वा ।७।२।३८। वृङ्वृञ्भ्यामॄदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि । परिता । परीता । परिष्यति । परीष्यति । पिपर्तु । पिपुरतु । पिपूर्हि । अपिपः । अपिपूर्ताम् । अपिपरुः । पिपूर्यात् । पिपूर्युः । पूर्यात् । अपारीत् । सिचि च परस्मैपदेषु ।७।२।४०। अत्र वॄत इटो न दीर्घः । अपारिष्टाम् । अपरिष्यत् । अपरीष्यत् । ओहाक् त्यागे । जहाति । जहातेश्च ।६।४।११६। इत्स्याद्वा हलादौ क्ङिति सार्वधातुके । जहितः । ई हल्यघोः ।६।४।११३। श्नाभ्यस्तयोरात ईत्स्यात्सार्वधातुके क्ङिति हलि । जहीतः । जहति । जहौ । हाता । हास्यति । जहातु । जहितात् ।

सेटीति भावः । ऋच्छत्यॄताम् । 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतो लिटीति, 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इत्यतो गुण इति चानुवर्तते इति भावः । अपिपः । पॄधातोर्लङस्तिपि शपि तस्य श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इति अभ्यासस्य इत्त्वादेशे तिप इकारलोपे 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणे रपरत्वे 'अपिपर् त्' इति जाते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति त्लोपे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे कृते 'अपिपः' इति साधु । अपारीत् । पॄधातोर्लुङस्तिपि च्लौ, च्लेः सिचि, इचो लोपे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ अडागमे, 'अपारीत्' इति । सिचि च परस्मैपदेषु । अत्रेति । परस्मैपदपरके सिचि वृङ्वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्च परस्य इटो दीर्घो नेत्यर्थः । जहातेश्च । 'ई हल्यघोः' इत्यत इदिति 'भियोऽन्यतरस्याम्' इत्यत 'अन्यतरस्याम्' इति 'गमहन' इत्यत क्ङिति, 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यत हलीति चानुवर्तते, तदाह—इत्स्यादिति । जहितः । तसि शपः श्लौ, द्वित्वे ह्रस्वे ह्रस्य झत्वे, झस्य जत्वे 'सार्वधातुकमपित्' इति तसो ङिद्वत्त्वे 'जहातेश्च' इति हकारोत्तरवर्तिन आकारस्य इकारादेशे 'जहितः' इति । ई हल्यघोः । ई इति लुप्तप्रथमाकम् । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यनुवर्तते । 'गमहन' इत्यतः क्ङितीति 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते तदाह—श्नाभ्यस्तयोरित्यादिना । पक्षे—'ई हल्यघोः' इति आकारस्य ईकारे 'जहीतः' इति सिद्धम् । जहौ । हाधातोर्लिट् लकारे, तस्य तिबादेशे तिपः स्थाने णलि जाते 'हा अ' इति दशा।

कित-ङित्के परे, विकल्पसे । ऋच्छ—तुदादिका 'ऋच्छ' धातु, 'ऋ' धातु और दीर्घ ॠकारान्त धातुको गुण हो, लिट् के परे । वॄतो—'वृङ्' धातु, 'वृञ्' धातु और दीर्घ ॠदन्त धातुसे पर 'इट्'को दीर्घ हो, विकल्पसे, पर लिट्‌के परे नहीं हो । सिचि—परस्मैपदपरक 'सिच्'के परे 'वॄतो वा' से विहित 'इट्'को दीर्घ नहीं हो । जहा—'हा' धातुको 'इत्त्व' हो, हलादि 'कित-ङित' के परे, विकल्पसे । ई ह—'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक आकारको 'ईत्व' हो, हलादि

जहीतात् । **आ च हौ** ।६।४।११७। जहातेर्हौ परे आत्स्यात् । चादीदितौ । जहाहि । जहिहि । जहीहि । अजहात् । अजहुः । **लोपो यि** ।६।४।११८। जहातेरालोपो, यादौ सार्वधातुके । जह्यात् । 'एर्लिङि' । हेयात् । अहासीत् । अहास्यत् । ऋ गतौ 'अर्त्तिपिपर्त्योश्चे'त्यभ्यासस्य इकारः । **'अभ्यासस्यासवर्णे'** । इयर्त्ति । इयृतः । इय्रति । आर । आरतुः । आरुः । 'इडत्त्यर्ती'ति नित्यमिट् । आरिथ । अर्त्ता । अरिष्यति । इयर्तु । इयराणि । ऐयः । ऐयृताम् । ऐयरुः । इयृयात् । 'गुणोऽर्त्ती'ति गुणः । अर्यात् । 'सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्चे'त्यङ् । आरत् । **'ऋद्धनोः स्ये'** । आरिष्यत् । इति परस्मैपदिनः ।

यां 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासस्य ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे, झस्य जत्वे 'जहा अ' इति स्थिते 'आत औ णलः' इति णल औत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'जहौ' इति। आ च हौ। 'जहातेश्च' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। जहाहि। हाधातोर्लोट् स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिबादेशे 'सेर्ह्यपिच्च' इति सिपः स्थाने ह्यादेशे शपि, शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याचो ह्रस्वत्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'आ च हौ' इति आत्वे 'जहाहि' इति । इकारे विहिते तु 'जहिहि' ईत्वे च 'जहीहि' इति रूपत्रयं बोध्यम् । अग्रे रूपाणीत्थम्—जहितात्-जहीतात्। जहिताम्-जहीताम्, जहित-जहीत । जहानि, जहाव, जहाम । लोपो यि । 'जहातेश्च' इत्यतो जहातेरिति 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यतः आत इति 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते । यि इति सप्तम्यन्तं सार्वधातुकविशेषणम् । तदादिविधिस्तदाह—जहातेरित्यादिना । अहासीत् । हाधातोर्लुङ्लकारे अटि लः स्थाने तिपि च्लौ च्लेः सिचि इचो लोपे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'यमरमनमातां सक् च' इति धातोः सगागमे सिच इटि च 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे च उक्तरूपं सिद्धम्। ऋ गतौ । इयर्ति इति । ऋधातोर्लिटि तिपि शपि 'जुहोत्यादिभ्यः' 'श्लुः' इति श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वे 'ऋ ऋ ति' इति जाते 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इति अभ्यासे इकारादेशे रपरत्वे हलादिशेषत्वे अभ्यासस्येयङि 'इय्-ऋ ति' गुणे च इयर्ति । इयृतः । इय्रति अत्र जक्षित्यादित्वादभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झस्यात्। आर आरतुः आरुः। आरिथ । अर्ता । अरिष्यति । इयर्तु । ऐय इति । लङि तिपि इतश्च इलोपे धातोर्द्वित्वे 'अर्तिपिपर्त्योश्च' अभ्यासेकारे रपरत्वे हलो लोपे अभ्यासस्येयङि 'इय्-ऋ-त्' इति जाते अङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ ऋकारस्य गुणे रपरत्वे 'हल्ङ्याब्' इति लोपे रस्य विसर्गे 'ऐयः' इति रूपम् । ऐयृताम् । ऐयरुः । इयृयात् । अर्यात् । आरत् । आरिष्यत् ।

'कित्-ङित्' सार्वधातुकके परे । आ च—'हा' (ओहाक्) धातुको 'आत्व' हो, चकारात् 'इत्व' और 'ईत्व' भी हो । लोपो—'हा' धातुके आकारका लोप हो, यकारादि सार्वधातुकके परे ।

अथात्मनेपदिनः ।

माङ् माने, शब्दे च । **भृञामित्** ।७।४।७६। भृञ् माङ् ओहाङ् एषामभ्यासस्येत्स्याच्छ्लौ । ई '**हल्यघोः**' । मिमीते । मिमाते । 'श्नाभ्यस्तयो'रिति आतो लोपः । मिमते । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत । मिमीत । मासीष्ट । अमास्त । अमास्यत । **ओहाङ् गतौ** । जिहीते । जिहाते । जिहते । जहे । हाता । हास्यते । जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत । इत्यात्मनेपदिनः ।

भृञामित् । भृञामिति बहुवचनात् भृञादीनामिति लभ्यते 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतः अभ्यासस्येति 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यतः त्रयाणां श्लौ इति चानुवर्तते तदाह—भृञ् माङ इत्यादिना । मिमीते । माङ्धातोर्लट्लकारे तत्स्थाने ते शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्य इत्वे 'ई हल्यघोः' इति आकारस्य ईत्वे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च विहिते 'मिमीते' इति साधु । मिमीताम् । माधातोर्लोटस्तादेशे समागते शपि, शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'भृञामित्' इति इत्वे 'ई हल्यघोः' इति आकारस्य ईत्वे 'मिमी त' इति स्थिते टेरेत्वे 'आमेतः' इति एकारस्य स्थाने आमि 'मिमीताम्' इति रूपम् । अमास्त । माधातोर्लुङि लटि ल स्थाने तादेशे च्लौ च्लेः सिचि इत्यादिना 'अमास्त' इति । अमासाताम्, अमासत, अमास्थाः, अमासाथाम्, अमाध्वम् । अमासि, अमास्वहि, अमास्महि । इति । जिहीते । ओहाङ् गतौ अस्मात् धातोः लटि समागते ल स्थाने ते शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे 'अभ्याससंज्ञायां' 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्य इकारे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'ई हल्यघोः' इत्याकारस्य ईत्वे टेरेत्वे च कृते 'जिहीते' इति । जहे । ओहाङ् गतौ अस्मात् लिटि ते समागते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्थाचो ह्रस्वे कृते 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'जहा त' इति जाते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्यैशि 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे 'जहे' इति । जिहीताम् । हाधातोर्लोटस्तादेशे समागते शपि, शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृञामित्' इति अभ्यासस्य इत्वे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे झस्य जत्वे 'ई हल्यघोः' इति ईकारे टेरेत्वे 'आमेतः' इति लोट एकारस्य आमि च कृते 'जिहीताम्' इति रूपम् । जिहीत । ओहाङ्धातोर्विधिलिङि, लिङ् तादेशे शपि शपः श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये हस्य झत्वे झस्य जत्वे सीयुटि, सुटो लोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इति आकारलोपे 'जिहीत' इति ।

सूत्रार्थ—भृञ्, माङ् और ओहाङ् धातु सम्बन्धी अभ्यासको 'इत्' हो 'श्लु' के विषयमें ।

अथोभयपदिनः ।

डुभृञ् धारण-पोषणयोः । बिभर्त्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभृते । बिभ्राते । बिभ्रते । बिभराञ्चकार । बभार । बभर्थ । बभृव । बभृम । बिभराञ्चक्रे । बभ्रे । भर्त्ता । भरिष्यति । भरिष्यते । बिभर्तु । बिभृहि । बिभराणि । बिभृताम् । बिभृध्वम् । अबिभः । अबिभृताम् । अबिभरुः । अबिभृत । बिभृयात् । बिभ्रीत । 'रिङ्शये'ति रिङ् । भ्रियात् । (**'उश्च'**) । भृषीष्ट । अभार्षीत् । **'ह्रस्वादङ्गात्'** । अभृत । अभरिष्यत् । अभरिष्यत । **डुदाञ्** दाने । प्रणिददाति । दत्तः । ददति । दत्ते । ददाते । ददते । ददौ । ददे । दाता । दास्यति । दास्यते । ददातु । **घ्वसोरे-**

बिभर्ति । भृञ्धातुतो लटि, तिपि, शपि, शपः श्लुत्वे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृञामित्' इति इत्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'बिभर्ति' इति रूपम् । बिभ्रति । झौ समागते । श्लौ, द्वित्वादिकार्यं च कृते 'भृञामित्' इति अभ्यासस्य इत्वे 'उभेऽभ्यस्तम्' इति अभ्याससंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झस्याति 'इको यणचि' इति यणि 'बिभ्रति' इति । बिभराञ्चकार । भृञो लिटि 'भीह्रीभृहुवां०' इत्यामि श्लुवद्भावे, द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'भृञामित्' इति इत्वे च कृते, पुनः धातोश्च गुणेऽकारे रपरे च 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपि, तिपो णलि द्वित्वादिकार्ये 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणेऽकारे रपरे च उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इति आमो मकारस्य अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे चोक्तं रूपं सिद्धम् । आमोऽभावपक्षे तु—धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृ भृ अ' इति स्थिते 'उरत्' इति अकारे रपरे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे परत्वात् 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणे 'अत उपधायाः' इति उपधाया वृद्धौ जातायां 'बभार' इति रूपम् । आत्मनेपदे-'बिभराञ्चक्रे—बभ्रे' इति रूपद्वयं ज्ञेयम् । बिभ्रीत । विधिलिङस्ते शपि शपः श्लुत्वे द्वित्वादिकार्यं सीयुटि टावितौ 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इको यणचि' इति यणि 'बिभ्रीत' इति रूपम् । अभार्षीत् । बिभर्तेर्लुङि अटि लः स्थाने तिपि च्लौ च्लेः सिचि इचावितौ तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अभार्षीत्' इति । अभृत । आत्मनेपदे लुङस्तादेशे च्लौ च्लेः सिचि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लुकि 'उश्च' इति कित्वाद् 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधे 'अभृत' इति । ददाति । डुदाञ् दाने इति धातुतो लटस्तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याचो ह्रस्वे 'ददाति' इति । दत्ते । आत्मनेपदे लटि तादेशे टेरेत्वे द्वित्वे

द्धावभ्यासलोपश्च'। देहि। दत्ताम्। अददात्। अदत्ताम्। अददुः। अदत्त। दद्यात्। ददीत। 'एर्लिङि'। देयात्। दासीष्ट। 'गातिस्थे'ति सिचो लुक्। अदात्। अदाताम्। अदुः। स्थाघ्वोरिच्च १।२।१७। अनयोरिदन्तादेशः स्यात्, सिच्च कित्स्यादात्मनेपदेषु। अदित। अदास्यत्। अदास्यत। डुधाञ् धारण-पोषणयोः। दधाति। दधस्तथोश्च।८।२।३८। द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष्,

---

अभ्यासादिकार्ये कृते 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपे 'खरि च' इति दस्य तत्वे 'दत्थः' इति। ददौ। दाधातुतो लिटस्तिपि णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'आत औ णलः' इति णलः स्थाने औत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ददौ' इति। अददात्। लङि अटि तिपि शपि शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे तिप इकारलोपे 'अददात्' इति। दद्यात्। विधि-लिङस्तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे यासुटि उटावितौ तिप इकारलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्या-कारलोपे च 'दद्यात्' इति। आत्मनेपदे-द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिङः सीयुट्' इति सीयु-डागमेऽनुबन्धलोपे यलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'श्नाभ्यस्त-योरातः' इति अभ्यस्तसञ्ज्ञकत्वादाकारलोपे 'ददीत' इति। आशीर्लिङि—'देयात्' 'एर्लिङि' इति आकारस्य एत्वम्, स्कोरिति सलोपश्चेति विशेषः। आत्मनेपदे—सीयुट्, सुट्, षत्वष्टुत्वे च विशेषः—'दासीष्ट' इति ज्ञातम्। अदात्। लुङि अटि तिपि च्लौ च्लेः सिचि 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञायां 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि 'अदात्' इति। स्थाघ्वोरिच्च। 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतः किदिति 'हनः सिच्' इत्यतः सिजिति चानुवर्तते तदाह—अनयो-रित्यादिना। अदित। आत्मनेपदे-लुङस्तादेशे च्लौ च्लेः सिचि 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञकत्वात् 'स्थाघ्वोरिच्च' इति इदन्तादेशे सिचः कित्वे च 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचः सलोपे विहिते 'अदित' इति निष्पन्नं भवति। दधाति। डुधाञ् धार-णपोषणयोरिति धातुतो लटस्तिपि शपि शपः श्लौ द्वित्वादिकार्ये कृते 'अभ्यासे चर्च' इति धकारस्य दकारे 'दधाति' इति। दधस्तथोश्च। धा धातोः कृतद्वित्वस्य 'दध' इति षष्ठ्यन्तम्। 'एकाचो बशो' इत्यतो झषन्तस्य बशो भष् इत्यनुवर्तते। तथ् अनयोर्द्वन्द्वात् सप्तमीद्विवचनम्। तकारादकार उच्चारणार्थः। तकारथकार-

---

स्था—'स्था' धातु और घुसंज्ञक धातुको इदन्तादेश हो और धातुसे पर जो 'सिच्' वह 'कित्' हो आत्मनेपदके परे।

दधस्त—द्विरुक्त (कृतद्वित्व) झषन्त 'धाञ्' धातुके 'बश्' को भष् हो, तकार, थकार, सकार और 'ध्व'के परे।

तथयोः स्ध्वोश्च परतः। धत्तः। दधति। दधासि। धत्थः। धत्ते। दधाते। धत्से। धद्ध्वे। 'घ्वसो'रित्येत्वम्। धेहि। अदधात्। अधत्ताम्। अदधुः। अदधाः। अधत्तम्। अधत्त। अदधाम्। अदध्व। अदध्म। अधत्त। अदधाताम्। अदधत। अधत्थाः। अदधाथाम्। अधद्ध्वम्। अदधि। अदध्वहि। अदध्महि। दध्यात्। दधीत। दधीयाताम्। धेयात्। धासीष्ट। अधात्। अधाताम्। अधित। अधिषाताम्। अधास्यत्। अधास्यत। **णिजिर् शौच-पोषणयोः। निजां त्रयाणां गुणः श्लौ।७।४।७५।** णिज्-विज्-विषामभ्यासस्य गुणः स्याच्छ्लौ। नेनेक्ति। नेनिक्तः। नेनिजति। नेनिक्ते। निनेज। निनिजे। नेक्ता २। नेक्ष्यति। नेक्ष्यते। नेनेक्तु।

योरिति लभ्यते, चकारात् स्ध्वोरिति समुच्चीयते। सकारे ध्वशब्दे चेति लभ्यते तदाह—द्विरुक्तस्येत्यादिना। धत्तः। धाधातोः तसि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य दत्वे 'दध् तस्' इति जाते 'दधस्तथोश्च' इति दस्य धत्वे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यालोपे 'खरि च' इति धस्य तत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'धत्तः' इति। अधात्। दधातेर्लुङि अटि तिपि तिप इलोपे च्लौ, च्लेः सिचि 'गातिस्थाघुपा०' इति सिचो लोपे 'अधात्' इति। अधित। धाञ आत्मनेपदे, लुङस्तादेशे च्लौ च्लेः सिचि इचो लोपे 'स्थाघ्वोरिच्च' इति इदन्तादेशे सिचः कित्त्वे च कित्त्वात् 'क्ङिति च' इति गुणाभावे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे चाटि 'अधित' इति। निजां त्रयाणां गुणः श्लौ। निजामिति बहुवचनात् तदादीनां ग्रहणम् 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यत 'अभ्यासस्येत्यनुवर्तते तदाह—णिजविजित्यादिना। नेनेक्ति। 'णिजिर् शौचपोषणयोरित्यस्माद् धातोर्लटि समागते 'इर इत्संज्ञा वाच्या' इति इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'णो नः' इति धात्वादेर्णस्य नत्वे लटस्तिपि शपि शपः श्लौ धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यभ्यासस्य गुणे 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'नेनेक्ति' इति। निनेज। निजधातोर्लिटि, लिटः तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये जलोपे 'नि निज् अ' इति स्थिते 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे संयोगे च 'निनेज' इति। निनिजे। आत्मनेपदे तादेशे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति त इत्यस्य स्थाने एशादेशे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'निनिजे' इति रूपं बोध्यम्। नेनेग्धि। लोटः सिपि शपि शपः श्लुत्वे 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्हित्वे धातोर्द्वित्वे जलोपे 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इति अभ्यासगुणे 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धिरादेशे

निजां—'णिज्' विज् और विष् धातुके अभ्यासको 'गुण' हो, श्लुके विषयमें।

नेनिग्धि । नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके । ७ । ३ ।८७। अभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके लघूपधगुणो न । नेनिजानि । नेनिजाम् । अनेनेक् । अनेनिजाम् । अनेनिजु । अनेनिजम् । अनेनिज । नेनिज्यात् । नेनिजीत । निज्यात् । निक्षीष्ट । अनिजत् । अनैक्षीत् । अनिक्त । अनेक्ष्यत् । अनेक्ष्यत । एवं-विजिर् पृथग्भावे । विष्लृ व्याप्तौ ॥ इति जुहोत्यादि ।

'चो: कुः' इति जस्य गत्वे 'नेनेग्धि' इति रूपम् । नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके । 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुण इति 'पुगन्त' इत्यतो लघूपधस्येति चानुवर्तते, इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—लघूपधेति । नेनिजानि । मिपि 'मेर्निः' इति मेर्निरवे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति आटि द्वित्वेऽभ्यासकार्ये अलोपे 'निजां त्रयाणाम्' इति अभ्यासस्याचो गुणे 'पुगन्तलघू०' इति गुणे प्राप्ते 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति गुणाभावे नेनिजानि इति । अनेनेक् । लङि अटि तिपि शप श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इति अभ्यासस्य गुणे 'अ ने निज् ति' इति स्थिते तिप इलोपे 'चो: कुः' इति कुत्वेन जस्य गत्वे 'खरि च' इति चर्त्वेन कत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'अने नेक् त्' इति व्यवस्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तलोपे 'अनेनेक्' इति रूपं भवति । अनेनिक्त । आत्मनेपदे तादेशे शप श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे ऽभ्यासकार्ये 'चो: कुः' इति कुत्वेन गत्वे तस्य चर्त्वेन कत्वे 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इति अभ्यासगुणेऽटि 'अनेनिक्त' इति । अनिजत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सति 'इरितो वा' इति च्लेरङि तिप इकारलोपे 'अनिजत्' इति । अङभावपक्षे-च्लेः सिचि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'चो: कुः' इति कुत्वेन गत्वे 'खरि च' इति चर्त्वेन गस्य कत्वे, सिच सस्य षत्वे कषसंयोगे क्षकारे अटि च 'अनैक्षीत्' इति । अनिक्त । आत्मनेपदे लुङि अटि लुङस्तादेशे च्ले सिचि झलो लोपे 'झलो झलि' इति सलोपे 'चो: कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वे 'अनिक्त' इति । एवं विजिर् पृथग्भावे विष्लृ-व्याप्तौ च वेवेक्ति इत्यादि रूपाणि बोध्यानि । इति जुहोत्यादयः ।

भाष्य—अभ्यस्तसंज्ञक धातुको 'लघूपध' गुण नहीं हो, अजादि 'पित्' सार्वधातुकके परे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें जुहोत्यादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ दिवादिप्रकरणम्

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। **दिवादिभ्यः श्यन्** ।३।१।६९। दिवादिभ्यः श्यन्प्रत्ययः स्यात् कर्तरि सार्वधातुके। शपोऽपवादः। 'हलि चे'ति दीर्घः। दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्। एवं-षिवु तन्तुसन्ताने। **सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि** ।८।३।७१। परिनिविभ्यः परेषामेषामड्व्यवायेऽपि वा सस्य षः। पर्यषीव्यत्। पर्यसीव्यत्। **नृती** गात्रविक्षेपे। नृत्यति। ननर्त। नर्तिता। **सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः** ।७।२।५७। एभ्यः सिज्भिन्नस्य सादेरार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात्। नर्तिष्यति। नर्त्स्यति। नृत्यात्। अनर्तीत्। अन-

---

दिवादिभ्यः श्यन्निति। 'कर्तरि शप्' इत्यतः कर्तरीति 'सार्वधातुके यक्' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्याह-शपोऽपवाद इति। दिदेव। दिवु धातोर्लिटस्तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दिदेव' इति। अदेवीत्। लुङि अटि तिपि इकारलोपे च्लौ सिजादेशे इचावितौ 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' सलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'अदेवीत्' इति। सिवादीनां वेति। 'परिनिविभ्यः' इत्यतः परिनिविभ्यः 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' इत्यधिकृतम्। अत आह—सस्य षः स्यादिति। सीव्यति। सिषेव। सेविता। सेविष्यति। सीव्यतु। असीव्यत्। सीव्येत्। सीव्यात्। असेवीत्। असेविष्यत्। पर्यषीव्यदिति। परि+असीव्यत् इत्यवस्थायां 'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि' इति वैभाषिके सस्य षत्वे यणि पर्यषीव्यत्—षत्वाभावे पर्यसीव्यत् इति रूपद्वयं साधु। नृत्यति। नृती-गात्रविक्षेपे इति धातोर्लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि श्यनः अपित्वेन ङित्वान्न गुणः, 'नृत्यति'। ननर्त। नृती गात्रविक्षेपे इत्यस्माद्धातोर्लिटस्तिपि तिपो णलि धातोर्द्वित्वे तलोपे 'उरत्' इति अभ्यासऋकारस्य अदादेशे रपरे हलादिशेषे गुणे 'ननर्त'इति। सेऽसिचि इति। से असिचि इति छेदः। सप्तमी षष्ठ्यर्थे। कृतचृतच्छृदतृदनृत एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी। 'उदितो वा' इत्यतो वेति 'आर्धधातुकस्येडि'ति चानुवर्तते तदाह—एभ्य इत्यादिना। अनर्तीत्। नृतो लुङस्तिपि च्लौ च्लेः सिचि इचो. लोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट

दिवा—दिवादिगण पठित धातुओंसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे। सिवा—परि, नि और 'वि' उपसर्गोंसे पर सिवादि (सिवु–सह–सुट्–स्तु–स्वञ)के सकारको 'अट्'के व्यवधानमें भी षत्व हो, विकल्पसे। सेऽसि—कृत–चृत–छृद–तृद–नृत धातुओंसे

सिष्यत् । अनस्यत् । **असी** उद्वेगे । 'वा भ्राशे'ति श्यन् वा । अस्यति । असति । तत्रास । **वा जॄभ्रमुत्रसाम्** ।६।४।१२४। एषां किति लिटि सेटि, 'थलि' च एत्वाभ्यासलोपौ वा स्तः । त्रेसतु । तत्रसतु । त्रेसिथ । तत्रसिथ । त्रसिता । **शो** तनूकरणे । **ओतः श्यनि** । ७ । ३ । ७१ । ओतो लोपः स्यात् श्यनि । श्यति । श्यतः । श्यन्ति । 'आदेच उपदेशेऽशिति' । शशौ । शशतुः । शशुः । शाता । शास्यति । श्यतु । अश्यत् । श्येत् । शायात् । 'विभाषा घ्राधे'ति सिचो वा लुक् । अशात् । अशाताम् । लुगभावे 'यमरमे'ति इट्सकौ । अशासीत् । अशासिष्टाम् । अशास्यत् । **छो** छेदने । छ्यति । चच्छौ । चच्छतुः । **षो** अन्तकर्मणि । स्यति । ससौ । अभिष्यति । अभिषसौ । साता । सास्यति । स्यतु । अभ्यष्यत् । सेयात् । **दो** अवखण्डने । द्यति । ददौ । प्रणिदाता । दास्यति । देयात् । अदात् । अदास्यत् । **व्यध** ताडने । 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम् । विध्यति । विव्याध । विविधतुः ।

ईटि' इति सलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे अटि च 'अनर्तीत्' इति । त्रस्यति । त्रसी उद्वेगे इति धातोः लटस्तिपि 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः' इति वैकल्पिकेन श्यनि 'त्रस्यति' इति । श्यनोऽभावपक्षे चापि त्रसति । वा जॄभ्रमुत्रसाम् 'अत एकहल्मध्ये' इत्यतो लिटि इति 'थलि च सेटि' इति चानुवर्तते । 'श्वसोरेद्धौ' इत्यतः एदिति 'गमहन' इत्यतः क्ङितीति च । तदाह—एषामिति । ओतः श्यनि । 'घोर्लोपो लेटि वा' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति-लोपः स्यादिति । श्यति । शो तनूकरणे इत्यस्माद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि 'ओतः श्यनि' इति ओवर्तिन ओकारस्य लोपे 'श्यति' इति बोध्यम् । शशौ । लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्व' इति अभ्यासस्याचो ह्रस्वत्वे 'श शा अ' इति स्थिते 'आत औ णलः' णलः औकारे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'शशौ' इति । विध्यति । व्यध ताडने इति धातोर्लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'व्यध् य ति' इति स्थिते श्यनोऽपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वम्, ङित्वात् 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' इति सम्प्रसारणे 'व् इ अ ध् य ति' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'विध्यति' इति रूपम् । विव्याध । व्यधधातोर्लिटस्तिपि तिपा णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषेऽर्थात् धलोपे 'व्य व्यध् अ' इति स्थिते 'लिट्य-

---

पर 'सिच्'भिन्न सकारादि आर्धधातुकको 'इट्'का आगम हो, विकल्पसे । वा जॄ—जॄ, भ्रम् और त्रस् धातुको एत्वाभ्यासलोप हो, कित्-लिट् और सेट् थलके परे, विकल्पसे ।

ओतः—ओकारका लोप हो, 'श्यन्'के परे ।

विविधुः । विव्यद्ध । विव्यधिथ । व्यद्ध । व्यत्स्यति । विध्येत् । विध्यात् । अव्यात्सीत् । **पुष** पुष्टौ । पुष्यति । पुपोष । पुपोषिथ । पोष्टा । पोक्ष्यति । 'पुषादी' त्यङ्-आपरस्मैपदात् । अपुषत् । अपोक्ष्यत् । **शुष** शोषणे । शुष्यति । शुशोष । शोष्टा । शोक्ष्यति । शुष्यतु । अशुष्यत । अशुषत् । अशोक्ष्यत । **णश** अदर्शने । नश्यति । ननाश । नेशतुः । नेशुः । **रधादिभ्यश्च** ।७।२।४५। रध् नश् तृप् दृप् द्रुह्-मुह् ष्णुह्-ष्णिह-एभ्यो वलाद्यार्द्धधातुकस्य वेट् स्यात् । नेशिथ । **मस्जिनशोर्झलि** । ७ । १ । ६० । मज्जिनशोर्नुम् स्यात् झलि । ननंष्ठ । नेशिव-नेश्व । नेशिम नेश्म । नशिता । नंष्टा । नशिष्यति । नङ्क्ष्यति । नश्यतु । अनश्यत् ।

भ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासस्य सम्प्रसारणे 'व् इ अ व्यध् अ' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'व् इ व्यध् अ' मिलित्वा 'विव्यध् अ' इति स्थिते 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'विव्याध' इति रूपं ज्ञेयम् । अव्यात्सीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ च्लेः सिचि तिप इकारलोपे अनिट्त्वादिडभावे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्तसंज्ञकस्य तकारस्य ईटि विहिते 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ, 'खरि च' इति धस्य त[illegible] 'अव्यात्सीत्' इति। पुपोष। लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्तलघूपधस्य' इति गुणे 'पुपोष' इति सिद्धं भवति । पुपोषिथ । थलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'आर्धधातुकस्येड्' इति इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'कृसृभृवृस्तु' इति नित्यमिट् । अजन्तत्वःभावात् 'ऋतो भारद्वाजस्य' इत्यस्य नात्र प्रसक्तिः । 'पुगन्त' इति गुणे 'पुपोषिथ' इति रूपम् । अपुषत् । पुषधातोर्लुङि, अटि तिपि तिप इकारलोपे च्लौ 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः' इति पुषादिगणपाठात् च्लेरङि ङित्वाद् गुणाभावे 'अपुषत्' इति। अपुषताम्, अपुषन् । शुशोष। शुषो लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्त' इति गुणे 'शुशोष' इति साधु । नश्यति । णानुबन्धकात् णश् धातुतो लटि लटस्तिपि श्यनि 'णो नः' इति णस्य नत्वे 'नश्यति' इति रूपम् । ननाश । नश्धातोर्लिटस्तिपि णलि णलावितौ 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'ननाश' इति रूपं बोध्यम् । रधादिभ्यश्च । 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनुवर्तते 'स्वरतिसूतिसूयति' इत्यतो वेति चेत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति— वलाद्यार्धधातुकस्येति । मस्जिनशोर्झलि । 'इदितो नुम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।

रधा—रधादि धातुओंसे पर वलादि आर्धधातुकको इडागम हो, विकल्पसे ।

मस्जि—'मस्ज' तथा 'नश्' धातुको नुमागम हो, झलादि प्रत्ययके परे ।

नश्येत् । नश्यात् । अनशत् । प्रणश्यति । **नशेः षान्तस्य ।८।४।३६।** षान्तस्य नशेर्णत्वं न स्यात् । प्रनंष्टा । 'अन्त' ग्रहणं भूतपूर्वप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रनङ्क्ष्यति । रध हिंसा-संराद्ध्योः । रध्यति । **रधिजभोरचि ।७।१।६१।** रधिजभोरचि नुम् स्यात् । ररन्ध । ररन्धतुः । ररन्धिथ । ररद्ध । ररन्धथुः । ररन्धिव ररन्ध्व । **नेट्यलिटि रधेः ।७।१।६२।** लिड्वर्जे इटि रधेर्नुम्न स्यात् । रधिता रद्धा । रधिष्यति-रत्स्यति । अङि नुम् । 'अनिदिता'मिति नलोपः । अरधत् ॥ तृप प्रीणने । तृप्यति । ततर्प । ततृपतुः । ततृपुः । रधादित्वाद्वेट् । तत्रप्थ-ततर्पिथ-ततर्प्थ । तर्पिता-तर्प्ता-त्रप्ता । (**स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा**

प्रणश्यति। अत्र 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वं बोध्यम्। नशेः षान्तस्येति। 'रषाभ्याम्' इत्यतो ण इति। 'न माभूपू' इत्यतः नेति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति-णत्वं न स्यादिति। प्रनष्टेति। 'प्र+नष्टा' इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गादसमासे' इति णत्वे प्राप्ते 'नशेः षान्तस्य' इति निषेधात् न भवति इति भावः। अन्तग्रहणमिति। पूर्वं षकारस्य सतः इदानीमादेशवशेन षान्तत्वाभावेऽपि णत्वनिषेधप्राप्त्यर्थमन्तग्रहणमित्यर्थः। प्रनङ्क्ष्यति। अत्र षस्य कत्वे कृतेऽपि भूतपूर्वगत्या षान्तत्वान्न णत्वमिति भावः। रधिजभोरचीति। रध हिंसायामिति श्यन्विकरणस्य चतुर्थ्यन्तस्येका निर्देशः। 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते। अत आह—नुम् स्यादिति। ररन्धेति। रधधातोर्लिटि तिपि णलि 'रधिजभोरचि' इति नुमि मित्त्वादन्त्यादचः परत्वे द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे रूपसिद्धिः। ररन्धतुः। ररन्धुः। ररन्धिथ-ररद्ध। अत्र वेट् भारद्वाजमताश्रयणात्। ररन्धथुः। ररन्ध। ररन्ध। ररन्धिव-ररन्ध्व। अत्रेड्विकल्पः 'रधादिभ्यश्च' इति प्रतिज्ञानात्। ररन्धिम-ररन्ध्म। रधिता-रद्धा। रधिष्यति-रत्स्यति। अत्रेड्विकल्पः 'रधादिभ्यश्च' इति तथा प्रतिपादनात्। रध्यतु। अरध्यत्। रध्येत्। रध्यात्। अङि पुषादित्वादङि नुमि 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'अरधत्' इति रूपम्। अरधिष्यत्-अरत्स्यत्। तृप प्रीणने, प्रीणनं तृप्तिस्तर्पणं च। तृप्यति। ततर्प। ततृपतुः। ततृपुः। तत्रप्थ-ततर्पिथ-ततर्प्थ। अत्र क्रमशः 'रधादिभ्यश्च' इतीडभावे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य' इत्यमि यणि प्रथमं 'तत्रप्थ' रूपम्। इटि सति गुणे द्वितीयं 'ततर्पिथ' इति रूपम्। इडभावेऽम्यभावे च 'ततर्प्थ' इति तृतीयं रूपमवगमेयम्। एवं तर्पिता-तर्प्ता-त्रप्ता। तर्पिष्यति-तर्प्स्यति-त्रप्स्यति। तृप्यतु। अतृप्यत्। तृप्येत्। तृप्यात्। 'स्पृशमृश' इति सिचि इटि सति गुणेऽटि

नशेः—षान्त 'नश्' धातुको 'णत्व' नहीं हो।

रधि—'रध्' धातु और 'जभ्' धातुको नुमागम हो, अजादि प्रत्ययके परे। नेट्य—लिट् भिन्न 'इट्'के परे 'रध्' धातुको नुम् नहीं हो। स्पृश—स्पृशादि

धात्वः) अतर्पीत्-अत्राप्सीत्-अताप्सींत्-अतृपत्। **दृप** हर्ष-मोहनयोः। मोहनं-गर्वः। दृप्यति इत्यादि। **'रधादित्वादिमौ वेट्कावमर्थमनुदात्तता'**। **द्रुह** जिघांसायाम्। द्रुह्यति। दुद्रोह। दुद्रुहतुः। दुद्रुहुः। 'वा द्रुहे'ति वा घः। पक्षे ढः। **'झषस्तथोर्धोऽधः'** दुद्रोहिथ-दुद्रोग्ध-दुद्रोढ। दुद्रुहथुः। दुद्रुह। दुद्रोह। दुद्रुहिव। दुद्रुहिम। द्रोहिता-द्रोग्धा। द्रोढा। द्रोहिष्यति-ध्रोक्ष्यति। ढत्वघत्वयोस्तुल्यं रूपम्। अद्रुहत्। अद्रोहिष्यत्-अध्रोक्ष्यत्। **मुह** वैचित्त्ये। वैचित्त्यम्-अविवेकः। मुह्यति। मुमोह। मुमुहतुः। मुमुहुः। मुमोहिथ-मुमोग्ध-मुमोढ। मोहिता मोग्धा-मोढा। मोहिष्यति-मोक्ष्यति। मुह्यतु। अमुह्यत्। मुह्येत्। मुह्यात्। अमुहत्। अमोहिष्यत्-अमोक्ष्यत्। **ष्णुह** उद्गिरणे। स्नुह्यति। सुष्णोह। सुष्णुहतुः। सुष्णुहुः। सुष्णोहिथ-सुष्णोग्ध-सुष्णोढ। सुष्णुहथुः। सुष्णुह। सुष्णोह। सुष्णुहिव-सुष्णुह्व। सुष्णुहिम-सुष्णुह्म। स्नोहिता-स्नोग्धा-स्नोढा। स्नोहिष्यति-स्नोक्ष्यति। स्नुह्यतु। अस्नुहत्-अस्नोहिष्यत्-अस्नोक्ष्यत्। **ष्णिह** प्रीतौ। स्निह्यति। सिष्णेह। सिष्णिहतुः। सिष्णिहुः। सिष्णेहिथ-सिष्णेग्ध-सिष्णेढ। स्नेहिता-स्नेग्धा-स्नेढा। स्नेहिष्यति-स्नेक्ष्यति। स्निह्यतु। अस्निहत। अस्नेहिष्यत्-अस्नेक्ष्यत्। **वृत्**। रधादयः समाप्ताः। **तुष** तुष्टौ। तुष्यति। तुतोष। तोष्टा। तोक्ष्यति। तुष्यतु। **दुष** वैकृत्ये। दुष्यति। दुदोष। दोष्टा।

'अतर्पीत्' इत्येकं रूपम्। सिजभावे।'अताप्सीत्' इति द्वितीयं रूपम्। अमि सति तु 'अत्रप्सीत्' इति तृतीयं रूपं भवति। पुनरपि पुषादिङि अतृपत् इति चतुर्थं रूपम्। अत्रप्स्यत् अतप्स्यंत्-अतर्पिष्यत्। इत्यादि। दृप हर्षमोहनयोः दृप्यति। पूर्ववत्। ननु रधादित्वादेव वेट्कत्वादनिट्कारिकासु तृप्यतिदृप्यत्योः पाठो व्यर्थ इत्यत आह-रधादित्वादिमौ वेट्कौ अमर्थमनुदात्तेति। द्रुह जिघांसायाम्—द्रुह्यति। दुद्रोह। दुद्रुहतुः। दुद्रुहुः। दुद्रोग्धेति। द्रुहधातोर्लिटि सिपि थलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'दुद्रुह्-थ' इति जाते 'रधादिभ्यश्च' इति इड्विकल्पे 'पुगन्त' इति गुणे 'दुद्रोहिथ' इति प्रथमं रूपम्। इडभावे 'दुद्रोह्-थ 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' इति हस्य विकल्पेन घत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति घस्य गत्वे 'दुद्रोग्ध' इति द्वितीयं रूपम्। घत्वस्य विकल्पत्वात् 'हो ढः' इति ढत्वे 'झषस्तथोः' इति थस्य धत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्यापि ढत्वे 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढस्य लोपे 'पुगन्त' इति गुणे 'दुद्रोढ' इति तृतीयं रूपम्। दुद्रुहथुः-

---

धातुसे पर 'च्लि'को 'सिच्' हो, विकल्पसे। रधादित्वा—रधादि गणमें पठित होनेसे ये

दोद्यति । दुष्यतु । श्लिष आलिङ्गने । श्लिष्यति । **श्लिष आलिङ्गने ।३।१। ४६।** श्लिषश्च्लेः क्सः स्यादालिङ्गने । 'अश्लिक्षत् कन्या देवदत्त'। आलिङ्गने किम् ? समश्लिषज्जतु काष्ठम् । प्रत्यासत्ताविह श्लिषिः । क्रुध क्रोधे । क्रुध्यति । चुक्रोध । क्रोद्धा । क्रोत्स्यति । क्रुध्यतु । क्षुध बुभुक्षायाम् । क्षुध्यति । चुक्षोध । क्षोद्धा । क्षोत्स्यति । शुध शौचे । शुध्यति । शुशोध । शोद्धा । शोत्स्यति । षिधु संराद्धौ । सिध्यति । सिषेध । सेद्धा । सेत्स्यति । असिधत् । असेत्स्यत् । शमु उपशमे । **शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ।७।३।७४।** शम्-तम्-दम्-श्रम्-भ्रम्-क्षम्-

---

दुदुह । दुदोह-दुदुहिव-दुदुहिम । द्रोहिता-द्रोग्धा-द्रोढा । द्रोहिष्यति-ध्रोक्ष्यति । द्रुह्यतु । अद्रुह्यत् । द्रुह्येत् । द्रुह्यात् । अद्रुहत् 'पुषादित्' । अद्रोहिष्यत् अध्रोक्ष्यत् । श्लिष आलिङ्गन इति । च्लेरिति 'शल इगुपधा' इत्यतः क्स इत्यनुवर्तते । तथा च 'शल इगुपधा' इत्यनेनैव क्सप्रत्यये सिद्धे पुनरपि क्सविधानं पुषादित्वो बाधनार्थम् । स च बाधः क्सश्च श्लिषधातोरालिङ्गनार्थे गम्य एव स्यान्नान्यथा । अश्लिक्षत्कन्यामिति । श्लिषधातोर्लुङि तिपि 'इतश्चे'ति इलोपे च्लौ 'श्लिष आलिगने' इति क्सादेशेऽडागमे 'अश्लिष्-स त्' इति जाते 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सकारस्य षत्वे उभयोः संयोगेन क्षत्वे 'अश्लिक्षत्' इति रूपम् । कन्यां देवदत्त इति पदप्रयोगं तु श्लिषधातोरालिंगनार्थस्फोरणायेति बोध्यम् । देवदत्तकर्तृककन्याकर्मक आलिंगनानुकूलो व्यापार इति शाब्दबोधः । समश्लिषज्जतु काष्ठमिति । सम्-आङ्-पूर्वकात् श्लिषधातोर्लुङि तिपि । इतश्चेति इलोपे च्लौ पुषादित्वादङि समश्लिषत् इति सिद्धम् । अत्र श्लिषः संयोगार्थत्वेनालिंगनार्थाभावात् क्सः । जतु=लाक्षा-सा च काष्ठञ्चेति समाहारद्वन्द्वः । प्रत्यासत्तौ= संयोगार्थे इति शेषः । श्लिषः संयोगार्थत्वात् क्सः । न च 'श्लिष आलिंगने' इति क्साभावे, 'शल इगुपधा' इति क्सः स्यात् तु पुषादङ् इति चेन्न विप्रतिषेधेन यद्बाधितं तद्बाधितमेवेति नियमात् । क्रुध क्रोधे—क्रुध्यति । चुक्रोध । क्रोद्धा । क्रोत्स्यति । क्रुध्यतु । अक्रुध्यत् । क्रुध्येत् । क्रुध्यात् । अक्रुधत् । अक्रोत्स्यत् । इत्यादि । क्षुध=बुभुक्षायाम्-क्षुध्यति—चुक्षोध-क्षोद्धा-क्षोत्स्यति-क्षुध्यतु-अक्षुध्यत्-क्षुध्येत्-क्षुध्यात्-अक्षुधत्—अक्षोत्स्यत् । शुध=शौचे=शुध्यति-शुशोध-शोद्धा-शोत्स्यति-शुध्यतु-अशुध्यत्-शुध्येत्-शुध्यात्-अशुधत्-अशोत्स्यत् । षिधु=संराद्धौ=सिध्यति-सिषेध-सेद्धा-सेत्स्यति-सिध्यतु असिध्यत्-सिध्येत्-सिध्यात्-असिधत्-असेत्स्यत् ।

दोनों (तृप, दृप्) धातु वेट् (विकल्पसे इट्को प्राप्त करनेवाले) हैं । केवल आगममात्र होनेके लिये इनका अनुदात्त धातुओंमें पाठ है ।

श्लिष—'श्लिष्' धातुसे पर 'च्लि'को 'क्स' आदेश हो, आलिंगन अर्थमें । शमा—शमादि

क्रम्-मदामचो दीर्घः श्यनि । प्रणिशाम्यति । शशाम । शेमतुः । शेमुः । शेमिथ । शमिता । शमिष्यति । शाम्यतु । अशमत् । अशमिष्यत् । **तमु** काङ्क्षायाम् । ताम्यति । तताम । तमिता । तमिष्यति । ताम्यतु । अतमत् । अतमिष्यत् । **दमु** उपशमे । दाम्यति । ददाम । दमिता । दमिष्यति । दाम्यतु । अदमत् । अदमिष्यत् । **श्रमु** तपसि, खेदे च । श्राम्यति । शश्राम । श्रमिता । श्रमिष्यति । श्राम्यतु । अश्रमत् । अश्रमिष्यत् । **भ्रमु** अनवस्थाने । 'वा भ्राशे'ति श्यन्वा । भ्राम्यति-भ्रमति । **'वा जॄभ्रमुत्रसाम्'** । भ्रेमतुः-बभ्रमतुः । पुषादित्वादङ् । अभ्रमत् । शेषं भ्वादिवत् । **क्षमू** सहने । क्षाम्यति । चक्षाम । चक्षमतुः । चक्षमुः । चक्षमिथ-चक्षन्थ । चक्षमिव-चक्षण्व । चक्षमिम-चक्षण्म । क्षमिता-क्षन्ता । क्षमिष्यति-क्षंस्यति । क्षाम्यतु । अयं न पित् । **'अपितः क्षाम्यतेः क्षान्तिः, क्षमूषः क्षमतेः क्षमा'** । **क्लमु** ग्लानौ । 'ष्ठिवुक्लमु चमामि'ति दीर्घः । क्लाम्यति । चक्लाम । क्लमिता । क्लमिष्यति । क्लाम्यतु । अक्लमत् । अक्लमिष्यत् । **मदी** हर्षे । माद्यति । ममाद । मदिता । अमदत् । **असु** क्षेपणे । अस्यति । आस । असिता । असिष्यति ।

अस्यतेस्थुक् ।७।४।१७। अस्यतेस्थुक् स्यात् अङि । 'अस्यती'त्यङ् । आस्थत् ।

क्रमुमंक्षो चेत्येतेष्टौ शमादय इति स्थितिः । शमु=उपशमे । उपशमो-नाशः इन्द्रियनिग्रहश्च । शाम्यतीति । शम्धातोर्लटि तिपि दिवादित्वात् श्यनि । 'शमामष्टानाम्' इति दीर्घे शाम्यति इत्यस्य सिद्धिः । प्रणिशाम्यति । 'नेर्गदनद' इति नेर्णत्वम् । शशाम-शेमतुः । शमिता । शमिष्यति । शाम्यतु । अशाम्यत् । शाम्येत् । शम्यात् । अशमत् । अशमिष्यत् । तमु कांक्षायाम् । ताम्यति । तताम-तेमतुः । तमिता । तमिष्यति । ताम्यतु । अताम्यत् । ताम्येत् । तम्यात् । अतमत् । अतमिष्यत् । दमु=उपशमे । दाम्यति । ददाम-देमतुः । दमिता । दमिष्यति । दाम्यतु । अदाम्यत्-दाम्येत्-दम्यात्-अदमत्-अदमिष्यत् । श्रमु=तपसि खेदे च । श्राम्यति-शश्राम-श्रमिता-श्रमिष्यति-श्राम्यतु । अश्राम्यत्-श्राम्येत्-श्रम्यात्-अश्रमत्-अश्रमिष्यत् । भ्रमु=अनवस्थाने = भ्राम्यति-बभ्राम-भ्रमिता-भ्रमिष्यति-भ्राम्यतु - अभ्राम्यत - भ्राम्येत्-भ्रम्यात्—अभ्रमत्-अभ्रमिष्यत् । क्षमू सहने-क्षाम्यति-चक्षाम-क्षन्ता-क्षमिष्यति-क्षंस्यति, क्षाम्यतु-अक्षाम्यत्-क्षाम्येत्-क्षम्यात्-अक्षमत्-अक्षंस्यत्-अक्षमिष्यत् । क्लमु=क्लाम्यति । चक्लाम । क्लमिता-क्लमिष्यति-क्लाम्यतु-अक्लाम्यत्-क्लाम्येत्-क्लम्यात्-अक्लमत्-अक्लमिष्यत् । मदी=हर्षे-माद्यति-ममाद-मदिता-मदिष्यति-माद्यतु-अमाद्यत्-माद्येत्-मद्यात्-अमदत्-अमदिष्यत् । असु=क्षेपणे । अस्यति-आस-असिता-असिष्यति-अस्यतु-आस्यत्-अस्येत्-अस्यात् । अस्यतेस्थुगिति । 'ऋदृशोऽ-

---

आठ धातु-सम्बन्धी अच्को दीर्घ हो, 'श्यन्'के परे । अस्य—'अस्' धातुको 'थुक्'का आगम

यसु प्रयत्ने । **यसोऽनुपसर्गात् ।३।१।७१। संयसश्च ।३।१।७२।** यसोऽनुपसर्गात्, संयसश्च श्यन्वा । यस्यति-यसति । संयस्यति-संयसति । अनुपसर्गात्किम् ? प्रयस्यति । जसु मोक्षणे । जस्यति । जजास । अजसत् । तसु उपक्षये । दसु च । तस्यति । ततास । अतसत् । दस्यति । ददास । अदसत् । वसु स्तम्भे । वस्यति । 'न शसददे'ति निषेध । ववास । अवसत् । 'वशादि'रिति मते तु—वेसतु । वेसु । व्युष विभागे । व्युष्यति । वुव्योष । प्लुस प्रेरणे । प्लुस्यति । पिप्लोस । अप्लुसत् । कुस संश्लेषणे । कुस्यति । चुकोस । कोसिता । अकुसत् । बुस उत्सर्गे । बुस्यति । बुबोस । अबुसत् । मुस खण्डने । मुस्यति । मुमोस । मसी परिणामे । परिणामो—विकारः । मस्यति । ममास । अमसत् । लुठ विलो

टि पुष.' इत्यतोऽङि इत्यनुवर्तते । आस्थदिति । आ-अस्-अ-त् इत्यवस्थायाम् 'अस्यतेस्थुक्' इति थुगागमे किरवादन्यायवदे 'आस्थ' इति पूर्वो 'आस्थत्' इति रूपं भवति । आसिष्यत् । 'यसोऽनुपसर्गात्' 'संयसश्च' । सूत्रद्वयमिदम् । 'दिवादिभ्यः श्यन्' 'वा भ्राश' इत्यत्र श्यनो निवृत्तौ आह-श्यन् वा स्यादिति । अनुपसर्गायसः श्यन्वा स्यादिति प्रथमसूत्रार्थः । सोपसर्गात्तु नित्य एव श्यन्, अनुपसर्गादिति पर्युदासात् । संपूर्वाद्विकल्पेन श्यनि प्राप्ते द्वितीयसूत्रम् । यस्यति-यसति-संयसति-संयस्यति । प्रयसु=प्रयत्ने धातुः । प्रयस्यति । अत्र तु न श्यन्विकल्पः उपसर्गादितीत् । जसु=मोक्षणे-जस्यति-जजास जसिता-जसिष्यति-जस्यतु-अजस्यत्-जस्येत्-जस्यात् अजसत्-अजसिष्यत् । तसु-दसु=उपक्षये=तस्यति-दस्यति । ततास-ददास । तसिता-दसिता । तसिष्यति-दसिष्यति । तस्यतु-दस्यतु । अतस्यत्-अदस्यत् । तस्येत्-दस्येत् । तस्यात्-दस्यात् । अतसत्-अदसत् । अतसिष्यत्-अदसिष्यत् । वसु=स्तम्भे-वस्यति-ववास-ववसतु । वसिता-वसिष्यति-वस्यतु-अवस्यत्-वस्येत्-वस्यात्—अवसत्-अवसिष्यत् । वशादिमते केवलं किति-वेसतु—वेसु· इति वैशिष्ट्यम् । व्युष=विभागे व्युष्यति-विव्योष-व्युषिता व्युषिष्यति-व्युष्यतु अव्युष्यत्-व्युष्येत्-व्युष्यात्-अव्युषत्-अव्युषिष्यत् । प्लुस=प्रेरणे=प्लुस्यति । पिप्लोस । प्लोसिता-प्लोसिष्यति । प्लुस्यतु-अप्लुस्यत् । प्लुस्येत्-प्लुस्यात्-अप्लुसत्-अप्लोसिष्यत् । बुस=उत्सर्गे=बुस्यति-बुबोस । बोसिता-बोसिष्यति बुस्यतु अबुस्यत् बुस्येत् बुस्यात्-अबुसत्-अबोसिष्यत् मुस=खण्डने=मुस्यति-मुमोस मोसिता मोसिष्यति मुस्यतु अमुस्यत् मुस्येत् मुस्यात् अमुसत्-अमोसिष्यत् । मसी=परिणामे=मस्यति ममास-मसिता-मसिष्यति-मस्यतु-अमस्यत्-मस्येत्-मस्यात्-अमसत्-अमसिष्यत् । लुठ विलोडने=लुठ्यति-लुलोठ-

---

हो, 'श्यन्' परे । यसो—अनुपसर्गक 'यस्' धातुसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

संयसश्च—'सम्' पूर्वक 'यस्' धातुसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

टने। लुट्यति। लुलोट। उच समवाये। उच्यति। गुणः। 'अभ्यासस्यासवर्णे'। उवच्। उवोच। ऊचतुः। ऊचुः। गा भवानुचत्। भृशु भ्रंशु अधःपतने। भृश्यति। बभर्श। अभृशत्। 'अनिदितामि'ति नलोपः। भ्रश्यति। बभ्रंश। अभ्रशत्। वृश वरणे। वृश्यति। ववर्श। अवृशत्। कृश तनूकरणे। कृश्यति। चकर्श। ञितृषा पिपासायाम्। तृष्यति। ततर्ष। हृष तुष्टौ। श्यन्नन्ते भौवादिकाद्विशेषः। हृष्यति। जहर्ष। अहृषत्। रुष रिष हिंसायाम्। रुष्यति। रुरोष। रिष्यति। रिरेष। 'तीषसहे'ति वेट्। रोषिता-रोष्टा। रेषिता-रेष्टा। कुप क्रोधे। कुप्यति। चुकोप। गुप व्याकुलत्वे। गुप्यति। जुगोप। लुभ गार्ध्ये। गार्ध्यमाकाङ्क्षा। लुभ्यति। लुलोभ। लोभिता-लोब्धा। लोभिष्यति। लुभ्यतु। भ्वादेरवृत्कृतत्वाल्लोभतीत्यप्याहुः। क्षुभ संचलने। क्षुभ्यति। चुक्षोभ। णभ तुभ हिंसायाम्। क्लिदू आर्द्रीभावे। क्लिद्यति। चिक्लेद। चिक्लेदिथ। चिक्लेत्थ। चिक्लिदिव चिक्लिद्व। चिक्लिदिम

लोठिता-लोठिष्यति-लुठ्यतु-अलुठ्यत्-लुठ्येत् लुठ्यात्-अलुठत्-अलोठिष्यत्। उच= समवाये= उच्यति-उवोच-उचिता-उचिष्यति-उच्यतु-औच्यत्-उच्येत्-उच्यात्-औचत्-औचिष्यत्-भृशु-भ्रंशु=अधः पतने। भृश्यति-भ्रश्यति। बभर्श-बभ्रंश। भर्शिता-भ्रंशिता। भर्शिष्यति। भ्रंशिष्यति। भृश्यतु-भ्रश्यतु। अभृश्यत्-अभ्रश्यत्। भृश्येत्-भ्रश्येत्-भृश्यात्-भ्रश्यात्-अभृशत्-अभ्रशत् अभर्शिष्यत्-अभ्रंशिष्यत्। कृश्=तनूकरणे-कृश्यति-चकर्श-कर्शिता-कर्शिष्यति। कृश्यतु-अकृश्यत्-कृश्येत्-कृश्यात्-अकृशत्-अकर्शिष्यति। ञितृषा=पिपासायाम्। तृष्यति-ततर्ष-तर्षिता-तर्षिष्यति-तृष्यतु-अतृष्यत्-तृष्येत्-तृष्यात्-अतृषत्-अतर्षिष्यत्। हृष=तुष्टौ=हृष्यति-जहर्ष-हर्षिता-हर्षिष्यति-हृष्यतु-अहृष्यत्-हृष्येत्-हृष्यात्-अहृषत्-अहर्षिष्यत्। रुष रिष-हिंसायाम्। रुष्यति-रिष्यति-रुरोष-रिरेष-रोषिता-रोष्टा-रेषिता-रेष्टा अत्र 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति वेट्। रोषिष्यति-रोक्ष्यति-रेषिष्यति-रेक्ष्यति। रुष्यतु-रिष्यतु। अरुष्यत्-अरिष्यत् रुष्येत्-रिष्येत्-रुष्यात्-रिष्यात् अरुषत्-अरिषत्। अरोषिष्यत्-अरेषिष्यत्। कुप= क्रोधे-कुप्यति-चुकोप-कोपिता-कोपिष्यति-कुप्यतु—अकुप्यत्—कुप्येत्—कुप्यात्-अकुपत्-अकोपिष्यत्। गुपि=व्याकुलत्वे=गुप्यति-जुगोप-गोपिता-गोपिष्यति। गुप्यतु-अगुप्यत्-गुप्येत्-गुप्यात्-अगुपत्-अगोपिष्यत्। लुभ-गार्ध्ये=लुभ्यति-लुलोभ-लोभिता-लोब्धा 'अत्र तीषसह' इतीड्विकल्पः। लोभिष्यति-लोप्स्यति। लुभ्यतु-अलुभ्यत्-लुभ्येत्-लुभ्यात्-अलुभत्-अलोभिष्यत्-अलोप्स्यत्। क्षुभ=संचलने=क्षुभ्यति-चुक्षोभ-क्षोभिता-क्षोभिष्यति-क्षुभ्यतु-अक्षुभ्यत्-क्षुभ्येत्-क्षुभ्यात्-अक्षुभत्-अक्षोभिष्यत्। क्लिदू=आर्द्रीभावे=क्लिद्यति-चिक्लेद-क्लेदिता-क्लेत्ता-क्लेदिष्यति-क्ले-

चिक्लिद । क्लेदिता क्लेत्ता । क्लेदिष्यति क्लेत्स्यति । ञिमिदा स्नेहने । **मिदेर्गुणः ।७।३।८२।** मिदेरिको गुणः स्यादित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । मेद्यति । मिमेद । अमिदत् । ञिक्ष्विदा स्नेहन-मोचनयोः । क्ष्विद्यति । चिक्ष्वेद । ऋधु वृद्धौ । ऋध्यति । आनर्ध । आर्धत् । गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । गृध्यति । जगर्ध । अगृधत् । शुषु । पुषादयः समाप्ताः । इति परस्मैपदिनः ।

अथ आत्मनेपदिनः ।

षूङ् प्राणिप्रसवे । सूयते । सुषुवे । 'स्वरती'ति विकल्पं बाधित्वा 'श्र्युकः किती'ति निषेधे । प्राप्ते । क्रादिनियमान्नित्यमिट् । सुषुविषे । सुषुविवहे । सुषुविमहे । सोता । सविता । सविष्यते । सोष्यते । दूङ् परितापे । दूयते । दुदुवे । दीङ् क्षये । दीयते । **दीङो युडचि क्ङिति ।६।४।६३।** दीङः परस्याजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट् स्यात् । (वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ) दिदीये ।

ध्यति-क्लिद्यतु-अक्लिद्यत्-क्लिद्येत्-क्लिद्यात्-अक्लिदत्-अक्लेदिष्यत्-अक्लेत्स्यत् । मिदेर्गुण इति । मिदेर्गुणो भवति इक इत्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परत इत्यर्थः । ञिमिदा-स्नेहने=मेद्यति-मिमेद-मेदिता-मेदिष्यति-मेद्यतु-अमेद्यत्-मेद्येत् मिद्यात्-अमिदत्-अमेदिष्यत् । ञिक्ष्विदा-स्नेहनमोचनयोः क्ष्विद्यति-चिक्ष्वेद-क्ष्वेदिता-क्ष्वेदिष्यति-क्ष्विद्यतु-अक्ष्विद्यत्-क्ष्विद्येत्-क्ष्विद्यात्-अक्ष्विदत् अक्ष्वेदिष्यत् । ऋधु=वृद्धौ=ऋध्यति-आनर्ध-अर्धिता-अर्धिष्यति-ऋध्यतु-आर्ध्यत्-ऋध्येत्—ऋध्यात्—आर्धत्—आर्धिष्यत् । गृधु-अभिकाङ्क्षायां=गृध्यति-जगर्ध-गर्धिता-गर्धिष्यति—गृध्यतु—अगृध्यत्-गृध्येत्-गृध्यात्-अगृधत् अगर्धिष्यत् । इत्यादि ।

सूयते । षूङ्-प्राणिप्रसवे इत्यो लटि, तादेशे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरत्वे 'धात्वादेः षः सः' इति षात्वे षकारस्य सकारे 'सूयते' इति रूपम् । असविष्ट । लुङि अटि च्लस्तादेशे च्लेः सिचि, सिच आर्धधातुकत्वे 'स्वरति' इति विकल्पेनेटि 'सार्वधातु॰' इति गुणेऽवादेशे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे च 'असविष्ट' इति । इडभाव-पक्षे-'असोष्ट' इति रूपं बोध्यम् । दीङो युडचि क्ङिति । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् अत्र विशेष्यते । तदादिविधिः । दीङ इति पञ्चमी । सप्तमी षष्ठ्यर्थे तदाह— दीङः परस्येत्यादिना । दिदीये । लिटि तादेशे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे

मिदे-'मिद्' धातु-सम्बन्धी 'इक्'को गुण हो, शकारेत्संज्ञक शकारादि प्रत्ययके परे ।
दीङो-'दीङ्' धातुसे पर अजादि कित्-ङित् आर्धधातुकको 'युट्'का आगम हो ।
वुग्युट्-उवङ् और यण् कर्तव्यमें वुक् तथा युट्का आगम सिद्ध हो रहे (असिद्ध न हो) ।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ।६।१।५०। एषामात्वं ल्यपि, चादशित्येज्निमित्ते । दाता । दास्यते । अदास्त । **डीङ्** विहायसा गतौ । डीयते । डिड्ये । **पीङ्** पाने । पीयते । पिप्ये । **माङ्** माने । मायते । ममे । माता । **प्रीङ्** प्रीतौ । सकर्मकः । प्रीयते । पिप्रिये । **जनी** प्रादुर्भावे । **ज्ञाजनोर्जा ।७।३।७९।** अनयोर्जादेशः स्यात् शिति परे । जायते । 'गमहनजने'त्युपधाया लोपः । **'स्तोः श्चुना श्चुः'** । जज्ञे । जनिता । जनिष्यते । **दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ।३।१।६१।** एभ्यश्च्लेश्चिण्वा स्यादेकवचने तशब्दे परे । **चिणो लुक्**

'डिडी त' इति स्थिते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्थाने एशि 'दीङो युडचि क्ङिति' इत्यजादेरार्धधातुकस्य युटि प्राप्ते 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति परत्वाद्यणि प्राप्ते 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' इति नियमत्वात् युटि । टकार इत् । उकार उच्चारणार्थः 'डिड्ये' इति सिद्धम् । मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च । 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यतः आदित्यनुवर्तते । तदाह—एषामात्वं स्यात् ल्यपीति । अदास्त । लुङि तादेशे च्लौ, च्लेः सिचि, 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इतीकारस्यात्वे 'स्थाघ्वोरिच्च' इति इत्वादेशे प्राप्ते 'स्थाघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः' इतीत्वनिषेधे जाते 'अदास्त' इति सिद्धम् । पीयते । पानार्थकात् पीङ्धातुतो लटि, ते टेरेत्वे श्यनि श्यनोऽपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वात् 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधे 'पीयते' इति रूपम् । पिप्ये । लिटि ते द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि 'एरनेकाच' इति यणि 'पिप्ये' इति रूपम् । जायते—प्रादुर्भावार्थकात् ईदनुबन्धकात् जनीधातोर्लटि तादेशे टेरेत्वे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'ज्ञाजनोर्जा' इति जन् इत्यस्य स्थाने जादेशे 'जायते' इति रूपम् । जज्ञे । जनीधातोर्लिटि तादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलादिः शेषः' इति नलोपे 'ज जन् त' इति स्थिते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तकारस्यैशि 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' इति जन्धातोरुपधायाः अकारलोपे 'ज ज् न् ए' इति स्थिते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे जकारञकारयोः संयोगे ज्ञे 'जज्ञे' इति रूपम् । दीपजनेत्यादि । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति 'चिण् ते पदः' इत्यस्मात् चिण् ते इति चानुवर्तते । तदाह—एभ्यश्च्लेरिति । चिणो लुगिति । चिण इति पञ्चमी, तदाह-

---

मीनाति—मीनाति (मीञ् हिंसायाम्), मिनोति (डुमिञ् प्रक्षेपणे) और 'दीङ्' धातुको आत्व हो, 'ल्यप्'के परे । चकारात्-एज्निमित्तक अशित् प्रत्ययके विषयमें ।

ज्ञाज—'ज्ञा' धातु और 'जन्' धातुको 'जा' आदेश हो, शित् प्रत्ययके परे ।

दीप—दीपादि धातुओंसे पर 'च्लि'को 'चिण्' आदेश हो, एकवचन 'त' शब्दके परे, विकल्प से । चिणो—'चिण्'से पर 'त' शब्दका लुक् (लोप) हो ।

।६।४।१०४। चिण परस्य 'त' शब्दस्य लुक् स्यात् । 'अत उपधाया' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् । जनिवध्योश्च ।७।३।३५। जनिवध्योश्च न वृद्धिश्चिणि, ञ्णिति कृति च । अजनि । अजनिष्ट । अजनिष्यत । दीपी दीप्तौ । दीप्यते । दिदीपे । दीपिता । अदीपि । अदीपिष्ट । अदीपिष्यत । पद गतौ । पद्यते । पेदे । पत्ता । पद्येत । पत्सीष्ट । चिण् ते पदः ।३।१।६०। पदश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे । अपादि । अपत्साताम् । अपत्सत । खिद दैन्ये । खिद्यते । चिखिदे । खेत्ता । खेत्स्यते । विद सत्तायाम् । विद्यते । विविदे । वेत्ता । वित्सीष्ट । अवित्त । बुध अवगमने । बुध्यते । बुबुधे । बोद्धा । 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्ये'ति भष्भावः । भोत्स्यते । भुत्सीष्ट । अबोधि । अबुद्ध । अभुत्साताम् । अभोत्स्यत । युध संप्रहारे । युध्यते ।

चिण परस्येति । जनिवध्योश्चेति । 'अत उपधाया' इत्यत उपधाया इति 'मृजेर्वृद्धि' इत्यतो वृद्धिरिति 'नोदात्तोपदेशस्य' इत्यतो नेति 'आतो युक्' इत्यत 'चिण्कृतो'रिति 'अचो ञ्णिति' इत्यतो ञ्णिति इति चानुवर्तते तदाह—जनिवध्योरिति । अजनि । जनीप्रादुर्भावे धातोर्लुङि तादेशे च्लौ 'दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण च्लेश्चिणि अनुबन्धलोपे 'अत उपधाया' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'जनिवध्योश्च' इति निषेधे 'चिण् ते पद' इति तलोपेऽडटि अजनि इति । चिणोऽभावपक्षे [illegible] च्लेः सिचि 'आर्धधातुकस्येड्वलादे' इति इटि षत्वे ष्टुत्वे च 'अजनिष्ट' इति रूपम् । अपादि । लुङि तादेशे च्लौ 'चिण् ते पद' इति च्लेश्चिण् अनुबन्धलोपे 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'अत उपधाया' इति वृद्धौ 'अपादि' इति सिद्धम् । विद्यते । विद्धातोर्लटि तादेशे टेरेत्वे श्यनि श्यनोऽपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वाद् 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधे 'विद्यते' इति । बोद्धा । लुटि, तादेशे, तासि तस्य डादेशे टेर्लोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन दकारे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'बोद्धा' इति । भोत्स्यते । लृटि ते स्ये आर्धधातुकत्वे इडागमाभावे 'एकाचो बशो भष्०' इति बस्य भत्वे लघूपधगुणे 'खरि च' इति चर्त्वे 'भोत्स्यते' इति । अबोधि । लुङि अटि तादेशे च्लौ च्लेस्तु 'दीपजनबुधपूरितायि०' इति चिण्विकल्पे 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'अबोधि' इति रूपम् । चिणोऽभावपक्षे—अबुद्ध । 'झलो झलि' इति सलोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन दकारे 'अबुद्ध' इति रूपं सिद्धम् ।

जनि—'जन्' और 'वध'को वृद्धि नहीं हो, 'चिण्'के परे और ञित्-णित्-कित्के परे ।

चिण्—'पद्' धातुसे परे 'च्लि'को 'चिण्' आदेश हो, एकवचन 'त' शब्दके परे ।

युयुधे । योद्धा । अयुध्यत । युध्येत । युत्सीष्ट । अयुद्ध । अयुत्स्यत । कथं युध्यतीति । युधमिच्छतीति क्यच् । 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमि'ति वा । सृज विसर्गे । अकर्मकः । सृज्यते । ससृजे । 'सृजिदृशोर्झल्यमकिती'त्यमागमः । स्रष्टा । स्रक्ष्यते । सृक्षीष्ट । 'लिङ्सिचा'विति कित्त्वम् । असृष्ट । असृक्षाताम् । मीङ् हिंसायाम् । हिंसाऽत्र प्राणवियोगः । मीयते । मिम्ये । मीयताम् । अमीयत । मीयेत । मेषीष्ट । अमेष्ट । अमेषाताम् । रीङ् स्रवणे । रीयते । लीङ् श्लेषणे । लीयते ।

युयुधे । युध्धातोर्लिटि तादेशे तकारस्यैशि, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'युयुधे' इति । अयुद्ध । युध्धातोर्लुङि ते च्लौ, च्लेः सिचि 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्वाद् गुणाभावे 'झलो झलि' इति सिचः सलोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति धत्वे जश्त्वे 'अयुद्ध' इति । ससृजे । सृजधातोर्लिटि तादेशे तकारस्यैशादेशे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'ससृजे' इति रूपम् । ससृजिषे । लिटो मध्यमपुरुषैकवचने थासि 'थासः से' इति थासः से इत्यादेशे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अत्वादेशे रपरे च कृते, 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे क्रादिनियमाद् इटि, षत्वे च 'ससृजिषे' इति रूपं बोध्यम् । स्रष्टा । सृजधातोर्लुटि तादेशे, डादेशे, तकारस्य तासे टिलोपे च सानुस्वारसत्वे ... 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इति अमि अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परेऽकारे जाते 'सृ अ ज् ता' इति स्थिते 'इको यणचि' इति ऋकारस्य रेफादेशे 'व्रश्चभ्रस्जसृज०' इति षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वेन टकारे 'स्रष्टा' इति । स्रक्ष्यते । लृटि तादेशे स्ये प्रत्यये 'सृज् स्य त' इति स्थिते टेरेत्वे 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यमि अनुबन्धलोपे 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति मित्वेनान्त्यादचः परोऽकारो जातः, तेन 'सृ अ ज् स्य ते' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि 'स्रज्स्यते' इति दशायाम् 'व्रश्च' इति षत्वे 'षढोः कः सि' इति कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे कृषसंयोगे क्षे 'स्रक्ष्यते' इति । सृक्षीष्ट । सृजधातोराशीर्लिङि तादेशे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटावितौ 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटो लोपे 'व्रश्चे'ति जस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे ककारपरकत्वात्सस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे ष्टुत्वे च 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्वात् 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधे 'सृक्षीष्ट' इति सिद्धम् । असृष्ट । सृज्धातोर्लुङि अडागमे तादेशे च्लौ, च्लेः सिजादेशे 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्वात् गुणाभावे 'झलो झलि' इति सलोपे 'व्रश्चे'ति जस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे 'असृष्ट' इति । मीङ् हिंसायाम् । मीयते । मिम्ये । माता । मास्यते । मीयताम् । अमीयत । मीयेत । मासीष्ट । अमासिष्ट । अमास्त । अमास्यत । रीङ् स्रवणे । रीयते । रिरिये । रेता ।

विभाषा लीयतेः ।६।१।५१। 'लीयते'रिति यका निर्देशो, न तु श्यना । लीलीङोरात्वं वा स्यादेज्विषये, ल्यपि च । लेता । लाता । लेष्यते । लास्यते । एज्विषये किं ? लीयते । लिल्ये । व्रीङ् वृणोत्यर्थे । व्रीयते । विव्रिये । इत्यात्मनेपदिनः ।

अथोभयपदिनः ।

मृष तितिक्षायाम् । मृष्यति । मृष्यते । ममर्ष । ममर्षिथ । ममृषे । ममृषिषे । मर्षितासि । मर्षितासे । मर्षिष्यति । मर्षिष्यते । मृष्यतु । णह बन्धने । नह्यति । नह्यते । ननाह । नेहिथ । 'नहो धः' इति धः । ननद्ध । नेहे । नद्धा । नत्स्यति । नत्स्यते । अनात्सीत् । अनद्ध । रञ्ज रागे । 'अनिदितामि'ति नलोपः । रज्यति । रज्यते । ररञ्ज । ररञ्ज । ररङ्क्थ । रङ्क्ता । शप आक्रोशे । शप्यति । शप्यते । शशाप । शेपतुः । शेपुः । शेपे । शेपाते । शक विभाषितो मर्षणे । विभाषित इति उभयपदीत्यर्थः । शक्यति, शक्यते, हरिं द्रष्टुं भक्तः । शशाक । शेकिथ । शशक्थ । शेके । शक्ता । शक्ष्यति । शक्ष्यते । पुषादित्वादङ् । अशकत् । अशक्त । सेट्कोऽ

रेष्यते । रीयताम् । अरीयत । रीयेत । रीषीष्ट । अरीष्ट । अरेष्यत । लीङ् श्लेषणे । लीयते । लिल्ये । 'विभाषा लीयतेरि'ति । लीयतेरित्यनेन लीलीङोर्ग्रहणम् । अत आह—लेता-लाता अयैज्निमित्तत्वेन वैकल्पिके आत्वे रूपद्वयं सुस्पष्टमेवेति भावः । लास्यते-लेष्यते । लीयताम् । अलीयत । लीयेत । लेषीष्ट-लासीष्ट । अलासीत-अलेष्ट । अलास्यत-अलेष्यत । व्रीङ् वृणोत्यर्थे । व्रीयते । विव्रिये अत्रेयङ् संयोगेन यणभावात् । व्रेता । व्रेष्यते । व्रीयताम् । अव्रीयत । व्रीयेत । व्रेषीष्ट । अव्रेष्ट । अव्रेष्यत । इत्यादि ।

ममर्ष । मृष्धातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति रपरेऽकारादेशे 'हलादिः शेषः' इति रषयोर्लोपे 'पुगन्ते'ति गुणे 'ममर्ष' इति । ननाह । लिटि तिपि णलि अनुपधलोपे द्वित्वे कृतेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'ननाह' इति । अनात्सीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सिजादेशे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति हलन्तत्वमाश्रित्य वृद्धौ 'नहो धः' इति हस्य धकारे 'खरि च' इति धस्य तकारे 'अनात्सीत्' इति रूपम् । आत्मनेपदे—अनद्ध । रञ्ज=रागे=रज्यति-रज्यते । अत्र श्यनः शित्वेन सार्वधातुकत्वात्सार्वधातुकत्वेन अपित्वेन च ङित्वात् 'अनिदिताम्' इति नलोपो बोध्यः । ररञ्ज । ररञ्जे । रङ्क्ता । रङ्क्ष्यति-रङ्क्ष्यते । रज्यतु-रज्यताम् । अरज्यत्-अरज्यत । रज्येत् । रज्येत । रज्यात् । रङ्क्षीष्ट । अरङ्क्त अराङ्क्षीत् । अरङ्क्ष्यत् । अरङ्क्ष्यत । शप आक्रोशे । शप्यति । शप्यते । शशाप-शेपे । शक=विभाषितोऽमर्षणे । विभाषितस्य उभयपदत्वम् । तेन शक्यति शक्यते । शशाक शेके । शक्ता । शक्ष्यति शक्ष्यते ।

विभाः-'ली' और 'लीङ्' धातुको आत्व हो, 'एच्'के विषयमें, 'ल्यप्'के परे, विकल्पसे । शक-मर्ष

यमित्येके । तन्मते नाऽनिट्‌केषु लृदित्पठितः । शकिता । शकिष्यति । शकिष्यते ।

इति दिवादिप्रकरणम् ॥ ४ ॥

अथ स्वादिप्रकरणम्

षुञ् अभिषवे । अभिषवः—स्नपनं, पीडनं, स्नानं, सुरासन्धानं च । तत्र स्नानेऽकर्मकः । **स्वादिभ्यः श्नुः ।३।१।७३।** स्वादिभ्यः श्नुः स्यात् कर्त्तरि सार्वधातुके । शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः 'हुश्नुवो'रिति यण् । सुन्वन्ति । सुनोषि । सुनुथः । सुनुथ । सुनोमि 'लोपश्चास्ये'ति प्रत्ययोतो लोपः । सुन्वः—सुनुवः । सुन्मः—सुनुमः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुनुषे । सुन्वाथे । सुनुध्वे । सुन्वे । सुन्वहे—सुनुवहे । सुन्महे—सुनुमहे । सुषाव । सुषुवे । सोता । सोता । सोष्यति । सोष्यते । सुनोतु । 'उतश्चे'ति हेर्लुक् । सुनु । सुनवानि । सुनवाव । सुनवाम । सुनुताम् । सुनवै । सुनवावहै । सुनवामहै । असुन्वि । सुनुयात् । सूयात् । सोषीष्ट । **स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ।७।२।७२।** एभ्यः सिच इट् स्यात्परस्मैपदे । असावीत् । असोष्ट । अभिषुणोति । 'प्राक्सितादि'ति षत्वम् । अभ्य-

---

शक्यतु-शक्यताम् । अशक्यत् । अशक्यत । शक्येत्-शक्येत । शक्यात् । शक्षीष्ट । पुषादित्वादङि अशकत् । अशक्त । अशक्यत् । अशक्यत । इत्यादि । इति दिवादिः ।

स्वादिभ्यः श्नुरिति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे स्वादिभ्यः श्नुः स्यादित्यर्थः । सुनोति । 'षुञ् अभिषवे धातुतो लटि तिपि 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति श्नौ शब्लोपे, 'धात्वादेः षः सः' इति धात्वादेः षस्य सकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे च 'सुनोति' इति रूपम् । सुन्वः, सुनुवः । अत्र 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति उकारलोपविकल्पः । एवम् सुन्मः, सुनुमः । सुषाव । षुञ्धातोर्लिटि, तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे, धात्वादेः षस्य सत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आवादेशे 'सुषाव' इति रूपम् । सुषुवतुः, सुषुवुः । सुषुविथ-सुषोथ । सुषुवथुः, सुषुव । 'सुषाव, सुषव, सुषुविव, सुषुविम । आत्मनेपदे-सुषुवे । स्तुसुधूञ्भ्य इति । 'इडत्यर्ति' इत्यत इडित्यनुवर्तते । 'अञ्जेः सिचि' इत्यतः सिजित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते तदाह—एभ्यः सिच इति । असावीत । लुङि अटि तिपि च्लौ, च्लेः सिचि 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' इति इटि

ण (सहन) अर्थमें 'शक्' धातु उभयपदी है ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें दिवादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

स्वादि—स्वादि-गणपठित धातुओंसे 'श्नु' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

स्तुसु—'स्तु-सु-धू-' इन धातुओंसे पर 'सिच्'को इट हो, परस्मैपदके परे ।

धुनोत् । सुनोतेः स्यसनोः ।८।३।११७। स्ये सनि च परे सुनोतेः सस्य षो न स्यात् । विसोष्यति । षिञ् बन्धने । विसिनोति । सिनुते । सिषाय । सिष्ये । चिञ् चयने । प्रणिचिनोति । चिनुते । विभाषा चेः ।८।३।५८। अभ्यासाच्चेः कुत्वं वा स्यात् सनि, लिटि च । चिकाय । चिचाय । चिक्ये । चिच्ये । अचैषीत् । अचेष्ट ॥ स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति । स्तृणुते । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरुः । 'ऋतश्च संयोगादेरि'ति गुणः । तस्तरे । 'गुणोऽर्ती'ति गुणः । स्तर्यात् ।

'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ सवर्णदीर्घे च 'असावीत्' इति रूपम् । आत्मनेपदे—असोष्ट । अभिषुणोति । अभि-सुनोति-इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गात्सुनोति' इति षत्वे 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे च कृते 'अभिषुणोति' इत्यस्य सिद्धिः । अभ्यषुणोत् । अत्र अडागमव्यवधानेऽपि 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपी'ति षत्वे णत्वे चोक्तरूपस्य सिद्धिः । सुनोतेरिति । सुनोतेः परतः स्यसनोः सतो सस्य षत्वं नेत्यर्थः । विसोष्यतीति । 'वि-सोष्यति' इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गात्' इति प्राप्तं षत्वं 'सुनोतेः स्यसनोः' इत्यनेन निषिध्यते इति भावः । तेन विसोष्यतीत्यत्र न षत्वमित्यर्थः । षिञ् बन्धने । सिनोति । विसिनोति—अत्र न षत्वम् 'उपसर्गात्' इति सूत्रे तस्याग्रहणादिति भावः । चिनोति । चिञ् चयने धातोर्लटि तिपि 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति श्नौ शलोपे श्नोरपित्त्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वे, ङित्त्वात् धात्वादिकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति प्राप्तस्य गुणस्य अभावे, तिपः पित्त्वेन श्नोरुकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे च कृते 'चिनोति' इति रूपम् । आत्मनेपदे-चिनुते । विभाषा चेरिति । 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इत्यतः कुग्रहणमनुवर्तते । 'अभ्यासाच्च' इत्यतः अभ्यासादिति, 'सन्लिटोर्जेः' इत्यतः सन्लिटोरिति च । तदाह—अभ्यासादित्यादिना । चिकाय । चिञ् धातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'विभाषा चेः' इति कुत्वेन चकारस्य ककारे 'चि कि अ' इति स्थिते 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'चिकाय' इति साधु । कुत्वाभावे—चिचाय । तस्तार । स्तृञ्धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातो०' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋकारस्य अकारादेशे रपरे च 'शर्पूर्वाः खयः' इति खयः शेषेऽर्थात् सलोपे 'हलादिः शेषः' इति सलोपे 'त स्तृ अ' इति स्थिते 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणे रपरे 'त स्तर् अ' इति स्थिते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ साध्यं 'तस्तार'

सुनोतेः—'स्य' और 'सन्'के परे 'षुञ्' धातु-सम्बन्धी सकारको षत्व नहीं हो ।

विभा—अभ्यासके पर 'चि' धातु सम्बन्धी चकारको कुत्व हो, सन् और लिट्के परे, विकल्पसे ।

ऋतश्च संयोगादेः ।७।२।४३। ऋदन्तात्संयोगादेर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि । स्तरिषीष्ट । स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट । अस्तृत । धुञ् कम्पने । धुनोति । धुनुते । दुधाव । दुधुवे । अधौषीत् । अधोष्यत् । धूञ् कम्पने । धूनोति । धूनुते । 'स्वरतिसूती'ति वेट् । दुधविथ । दुधोथ । क्ङिति लिटि तु । **श्र्युकः क्किति** ।७।२।११। श्रिञ्, एकाच उगन्ताश्च—गित्कितोरिण्न स्यात् । इति प्राप्ते । क्रादिनियमान्नित्यमिट् । दुधुविव । दुधुविम । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । कृञ् हिंसायाम् । कृणोति । कृणुते । चकार । चकर्थ । चक्रे । क्रियात् । कृषीष्ट । अकार्षीत् । अकृत ॥ वृञ्

इति । ऋतश्च संयोगादेरिति । 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इत्यनुवर्तते । 'इट् सनि वा' इत्यत इड्वेति, तदाह—ऋदन्तादित्यादिना । स्तरिषीष्ट । आशिषि लिङि, लिङस्तादेशे सीयुडागमेऽनुबन्धलोपे 'सुट्तिथोः' इति सुटि उदाहृतौ 'ऋतश्च संयोगादेः' इति विकल्पेनेटि कृते 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणे उभयोः सकारयोः षत्वे ष्टुत्वे 'स्तरिषीष्ट' इति । इडभावपक्षे—'उश्च' इति कित्वाद् गुणाभावे 'स्तृषीष्ट' इति । अस्तारीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ, च्लेः सिचि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रज' इति वृद्धौ तिपः इलोपे 'अस्तारीत्' इति सिद्धम् । इटोऽभावात् 'नेटि' इति वृद्धिनिषेधो नाशङ्क्यः । अस्तरिष्ट, अस्तृत । आत्मनेपदे—लुङि अटि तादेशे च्लौ सिचि, अनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'ऋतश्च संयोगादेः' इति इटि षत्वे ष्टुत्वे च 'अस्तरिष्ट' इति । इडभावे च्लेः सिचि 'उश्च' इति कित्वाद् गुणाभावे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपे, अटि 'अस्तृत' इति । धूनोति । धूञ् कम्पने धातोर्लटि तिपि श्नौ श्नुव उकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'धूनोति' इति । आत्मनेपदे—धूनुते । दुधाव । लिटि तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य जश्त्वेन दत्वे 'दु धू अ' इति दशायाम् 'अचो ञ्णिति' इति 'कृताकृतप्रसङ्गी विधिर्नित्यः' इति न्यायेन नित्यत्वात् वृद्धौ आवि 'दुधाव' इति । श्र्युकः क्किति । अत्र 'एकाच उपदेशे' इत्यत एकाच् इति 'नेड्वशि कृति' इत्यतो नेडित्यनुवर्तते । तदाह—इड् नेति । अधावीत् । लुङि, लुङः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे तिपः इकारलोपे 'अधू त्' इति जाते च्लौ, च्लेः सिचि 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' इति सिचः परत्वान्नित्यमिटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ आवि अडागमे 'अधावीत्' इति । आत्मनेपदे लुङि—अधविष्ट, अधोष्ट । अत्र 'स्वरति' इति वेट् । कृणोति । कृञ् हिंसायाम्—लटि तिपि 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति श्नौ गुणे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'कृणोती'ति रूपम् । आत्मनेपदे 'कृणुते' इति रूपम् । चकार-चक्रे ।

ऋतश्च—संयोगादि ऋदन्त धातुसे पर 'लिङ्' और 'सिच्'को इडागम हो, 'तङ्'के परे, विकल्पसे । श्र्युकः क्किति—श्रिञ् एकाच् और उगन्त धातुओं से पर गित्-कित्

वरणे । वृणोति । वृणुते । बभूथाऽऽततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे ।७।२।६४। एषां वेदे इडभावो निपात्यते । तेन भाषायां थलीट् : ववरिथ । ववृव । ववृम । ववृवहे । 'वृतो वा' । वरीता । वरिता । लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ।७।२।४२। इड् वृङ्भ्यामृदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि । न लिङि ।७।२।३९। वृतो लिङ इटो न दीर्घः । वरिषीष्ट । वृषीष्ट । अवारीत् । अवरिष्ट-अवरीष्ट । अवृत । अवरिष्यत-अवरीष्यत । टुदु उपतापे । दुनोति । दुनुत । दुन्वन्ति । दुदाव । दोता । हि गतौ, वृद्धौ च । हिनुमीना ।८।४।१५। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यैतयो

कर्ता । करिष्यति-करिष्यते । कृणोतु-कृणुताम् । अकृणोत्-अकृणुत । कृणुयात्—कृण्वीत । क्रियात्-कृषीष्ट । अकार्षीत्-अकृत । वृञ् वरणे । वृणोति-वृणुते । ववार—वव्रे । वरिता-वरीता । वरिष्यति । वरीष्यति । वरिष्यते-वरीष्यते । वृणोतु-वृणुताम् । अवृणोत्-अवृणुत । वृणुयात्-वृण्वीत । बभूथेति । निगमे=वेदे । बभूथ—आततन्थ जगृम्भ—ववर्थ—एते निपाता स्युः । अतो वृञ धातोः लिटि परत थलि 'ववर्थेति' सिध्यति । किन्तु ताहशगुणविशिष्टेडागमरहितो निपातः केवल वेदे एव प्रसज्यते न तु लौकिके प्रयोगे, अत आह—लोक इति । 'ववरिथ' 'ववृव' इति रूपद्वय थलि परत । अन्यथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति निषेधापत्ते । लिङ्सिचोरिति 'वृतो वे'त्यत 'वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्चेति लभ्यते इट्वेत्यनुवर्त्यते, अत आह—इड्वृङ्भ्यामिति । वरिषीष्टेति । वृ-सी-स्—त' इति जाते 'लिङ्सिचो ' इति इटि गुणे रपरत्वे ऽवमयो सस्य षत्वे ष्टुत्वे 'वरिषीष्ट' इति रूपम् । अन्यथा इडागमाभावे कित्वेन गुणाभावे 'वृषीष्ट' इति द्वितीय रूप प्रभवति । अवारीत् । अवरिष्ट । अवृत । अत्र 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लुकि 'उश्च' कित्वेन गुणाभावश्चेति भाव । न लिङीति । 'वृतो वे'त्यत वृत इति लभ्यते दीर्घो नेति विधान न लिङीति निषेध । तेन वरिषीष्ट । इत्यादौ न दीर्घः । टुदु= उपतापे । दुनोति । दुदाव । दविता । दविष्यति । दुनोतु । अदुनोत् । दुनुयात् । दूयात् । अदावीत् । अदविष्यत् । हिनुमीनेति । उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्येति लभ्यते । श्नुविकरणाद् हिधातोः श्नाविकरणात्मीधातोर्नस्य णत्व भवति स नकारः उपसर्गस्य

प्रत्ययको इट् का आगम नहीं हो । बभूथा—बभूथ, आततन्थ, जगृम्भ और ववर्थ इन वेदके प्रयोगोंमें इट्का अभाव निपातन हो । लिङ्सिचो—इङ्, वृञ् तथा दीर्घ ऋकारान्त धातुओंसे पर लिङ् और सिच्को इट्का आगम हो, तङ्के परे, विकल्पसे । न लिङि—'इङ्, वृञ् और दीर्घ ऋकारान्त धातुओंसे पर लिङ् सम्बन्धी इट्को दीर्घ नहीं हो ।

हिनुमीना—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर 'हिनु' और 'मीना' सम्बन्धी नकारको णकार हो ।

र्नस्य णः स्यात्। प्रहिणोति। **हेरचङि** ।७।३।५६। अभ्यासात् परस्य हिनोतेर्हस्य कुत्वं स्यान्नतु चङि। जिघाय। **आप्लृ** व्याप्तौ। आप्नोति। आप्नुतः। आप्नुवन्ति। आप्नुवः। आप्ता। आप्नुहि। लृदित्त्वादङ्। आपत्। **शक्लृ** शक्तौ। शक्नोति। शशाक। अशकत्। **राध-साध** संसिद्धौ। राध्नोति। **राधो हिंसायाम्** ।६।४।१२३। राधो हिंसायाम् एत्त्वाभ्यासलोपौ स्तः, किति लिटि, सेटि थलि च। अपरेधतुः। अपरेधुः। रेधिथ। राद्धा। साध्नोति। ससाध। साद्धा। असात्सीत्। असाद्धाम्। असात्स्यत्। **ञिधृषा** प्रागल्भ्ये। धृष्णोति। दधर्ष। धर्षिता। **दम्भु** दम्भने। 'अनिदिताम्'इति नलोपः। दभ्नोति। ददम्भ। (**श्रन्थि-ग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा** ।) कित्त्वपक्षे नलोपः। तस्याऽऽभीयत्वादसिद्धत्वेनैत्त्वाभ्यासलोपयोरप्राप्तौ—। (**दम्भेश्च एत्त्वाभ्यासलोपौ वक्तव्यौ** ।) देभतुः। ददम्भतुः। देभुः। ददम्भुः। दम्भिष्यति। दभ्यात्। **तृप** प्रीणने। **क्षुभ्नादिषु च** ।८।४।३९। क्षुभ्नादिषु नस्य न णत्वम्। तृप्नोति। ततर्प। तर्पिता। **अशू** व्याप्तौ, संघाते च। अश्नुते। **अश्नोतेश्च** ।६।४।७२।

रेफषकारात्परश्चेत्। प्रहिणोतीति। प्रपूर्वकाद् हि धातोः वर्तमाने लटि तिपि श्नौ गुणे 'हिनुमीना' इति णत्वे 'प्रहिणोति' इति रूपं सिद्ध्यति। हेरचङि। 'चजोः कु०' इति सूत्रात्कुरित्यनुवर्तते। 'अभ्यासाच्च' इत्यतः अभ्यासादिति। 'हो हन्तेः' इत्यतो ह इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते। जिघायेति। हि धातोः लिटि तिपि णलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अभ्यासे चर्चे'ति चर्त्वे 'हेरचङि' इति अभ्यासात्परस्य हकारस्य कुत्वेन घकारे वृद्धौ आयादेशे 'जिघाय' इति। अपरेधतुरिति। 'अप्=रध्-रध्-अतुस्' इत्यवस्थायां 'राधो हिंसायाम्' इत्यनेनैत्वाभ्यासलोपे रुत्वविसर्गौ 'अपरेधतुः' इति। क्षुभ्नादिषु चेति। क्षुभ्नादिगणपठितानां धातूनां णत्वं नेत्यर्थः। तृप्नोतीति। तृप प्रीणनेऽस्माल्लटि तिपि श्नौ गुणे 'ऋवर्णान्नस्य' इति णत्वे प्राप्ते 'क्षुभ्नादिषु च' इति सूत्रेण णत्वनिषेधे प्रोक्तं रूपं सिध्यति। ततर्प-तर्पिता-त्रप्ता-तर्प्ता-इत्यादीनि रूपाणि बोध्यानि। अशू व्याप्तौ संघाते च। अश्नुते। अश्नोतेश्चेति। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते। 'तस्मान्नुड्' इति च। तच्छब्देन 'अत आदेः' इत्यनेन

हेरचङि—अभ्याससे पर 'हिनोति' के हकारको कुत्व हो, चङ्के परे छोड़कर। राधोहिंसार्थक 'राध्' धातुको एत्वाभ्यास लोप हो, कित् लिट् सेट् थल्के परे।

श्रन्थि—श्रन्थ, ग्रन्थ, दम्भ और स्वञ्ज धातुसे पर जो 'लिट्' वह कित् हो, विकल्पसे।

'दम्भेश्च—'दम्भ' धातुको एत्वाभ्यासलोप हो, कित् लिट् सेट् थल्के परे। क्षुभ्ना—

दीर्घादभ्यासात्परस्य नुट् स्यात्। आनशे। अशिता। अष्टेति प०। अष्टा। अशिष्यते। अक्ष्यते। अश्नुताम्। आश्नुत। अश्नुवीत। अक्षीष्ट। अशिषीष्ट। आशिष्ट-आष्ट। आक्षाताम्। आशिष्यत-आक्ष्यत। इति स्वादयः ॥ ५ ॥



अथ तुदादिप्रकरणम्

तुद व्यथने। तुदादिभ्यः शः।३।१।७७। शपोऽपवादः। तुदति। तुदतः। तुदते। तुतोद। तुतोदिथ। तुतुदे। तोत्ता। तोत्स्यति। तोत्स्यते। तुदतु। तुदताम्। अतौत्सीत्। अतुत्त। णुद प्रेरणे। नुदति। नुदते। नुनोद। नुनुदे। नोत्ता। नोत्स्यति। नोत्स्यते। भ्रस्ज पाके। 'ग्रहिज्या'ऽऽदिना' इति संप्रसारणम्। सस्य श्चुत्वेन शः। तस्य जश्त्वेन जः। भृज्जति। भृज्जते। भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्।६।४।४७। भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादार्धधातुके। मित्वादन्त्यादचः परः। स्थानषष्ठीनिर्देशाद्रोपधयोर्निवृत्तिः। बभर्ज। बभर्जतुः।

कृतदीर्घो अकारः परामृश्यते, तदाह—दीर्घादिति। आनशे। अशधातोर्लिटि तकि धातोर्द्वित्वे हलादिशेषे 'अत आदेः' इत्यभ्यासाकारदीर्घे 'अश्नोतेश्च' इति नुटि 'लिटस्तझयोः' इत्येशादेशे 'आनशे' इत्यस्य सिद्धिः। इति स्वादि।

तुदादिभ्यः श इति। कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे तुदादिभ्यः शः स्यात् स्वार्थे इत्यर्थः। तुदति। तुदधातोर्लटि, तिपि, तिपः सार्वधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणं बाधित्वा निरवकाशात् 'तुदादिभ्यः शः' इति शे कृते तस्य अपित्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वाद् गुणाभावे 'तुदति' इति रूपं सिद्धम्। अतौत्सीत्। लुङि तिपि च्ले सिचि इटो लोपे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रज' इति वृद्धौ 'खरि च' इति चर्त्वे अडागमे च 'अतौत्सीत्' इति। आत्मनेपदे—अतुत्त। भ्रस्जो रोपधयोरिति। भ्रस्ज इत्यवयवषष्ठी। रोपधयोः इति स्थानषष्ठी, रश्च उपधा च तयोरिति विग्रहः। रेफादकार उच्चारणार्थः। रेफस्य उपधायाश्च स्थाने इति लभ्यते 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्, तदाह—भ्रस्जे रेफस्येत्यादिना। मित्वादन्त्यादचः परः इति। 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति परिभाषयेति भावः। बभर्ज।

अश्नादि गणपठितके नकारको णत्व नहीं हो। अश्नो—'अश्' धातुका अभ्याससम्बन्धी दीर्घ आकारसे पर 'नुट्' का आगम हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्वादिप्रकरण समाप्त हुआ।

तुदा—तुदादि गणपठित धातुओंसे 'श' प्रत्यय हो। भ्रस्जो—'भ्रस्ज' धातुके रेफ और

बभर्जुः । बभर्जिथ । बभर्ष्ठ । रमभावपक्षे-बभ्रज्ज । बभ्रज्जतुः । बभ्रज्जुः । बभ्रज्जिथ । 'स्कोरि'ति सलोपः । 'व्रश्चे'ति षः । बभ्रष्ठ । बभर्जे । बभर्जाते । बभर्जिरे । बभ्रज्जे । बभ्रज्जाते । बभ्रज्जिरे , भर्ष्टा । भ्रष्टा । भर्क्ष्यति । भ्रक्ष्यति । (क्ङिति रमागमं बाधित्वा संप्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन ।) भृज्ज्यात् । भृज्ज्यास्ताम् । भृज्ज्यासुः । भर्क्षीष्ट । भ्रक्षीष्ट । अभार्क्षीत् । अभ्राक्षीत् । अभर्ष्ट । अभ्रष्ट । अभर्क्ष्यत् । अभ्रक्ष्यत् । अभर्क्ष्यत । अभ्रक्ष्यत । कृष विलेखने । कृषति । कृषते । चकर्ष । चकृषे । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' । क्रष्टा । कर्ष्टा । कृक्षीष्ट । 'स्पृशमृशे'ति सिज् वा । पक्षे क्सः । सिचि अम्वा । अक्राक्षीत् । अका-

---

भ्रस्ज्धातोर्लिटि तिपि, तिपो णलि 'लिटि धातोः' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'भ्रस्ज् भ्रस्ज् अ' इति स्थितौ 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'भ भ्रस्ज् अ' इति जाते 'अभ्यासे चर्च' इति भकारस्य बकारे विहिते 'ब भ्रस्ज् अ' इति स्थिते 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' इति रेफस्य उपधाभूतसकारस्य च स्थाने रमि प्राप्ते 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इत्यनेनादेशात् भकारान्तर्गताकारात्परस्यैव रमागमे अमालितौ लोपे च स्थानषष्ठीनिर्देशात् रेफस्योपधाभूतसकारस्य च निवृत्तौ 'बभर्ज' इति रूपम् । रमोऽभावपक्षे तु 'बभ्रस्ज् अ' इति स्थिते हलादिशेषे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे श्चुत्वेन सस्य शत्वे 'झलां जश् झशि' इति शस्य जत्वेन जाते 'बभ्रज्ज' इति रूपम् । अभार्क्षीत् । अभ्राक्षीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि इडभावे लोपे च रमि रोपधयोर्निवृत्तौ च 'व्रश्च' इति जस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे सस्य षत्वे तिप इकारलोपे इति 'अभर्क्षत्' इति वृद्धौ 'अभार्क्षीत्' इति । रमोऽभावपक्षे तु 'स्कोः' इति सलोपे जस्य षत्वे षस्य कत्वे सिचः सस्य षत्वे कृष्संयोगे च 'अभ्रक्ष' इति वृद्धौ 'अभ्राक्षीत्' इति । अभर्ष्ट । लुङि अटि तादेशे च्लौ सिचि रमि रोपधयोर्निवृत्तौ च 'झलो झलि' इति सिचः सकारस्य लोपे 'अभर्ज्' इति जस्य षत्वे ष्टुत्वे 'अभर्ष्ट' इति । रमोऽभावे तु च्लौ सिचि 'झलो झलि' इति सलोपे जस्य षत्वे ष्टुत्वे 'स्कोः' इति धातोरादेः सकारस्य लोपे 'अभ्रष्ट' इति रूपम् । लृङि---अभर्क्ष्यत् , अभ्रक्ष्यत् , आत्मनेपदे-अभर्क्ष्यत, अभ्रक्ष्यत इति । चकर्ष लिटि तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'कृष् कृष्' इत्यभ्यासऋकारस्य अकारे रपरे च 'हलादिः शेष' इति रेफषकारयोर्लोपे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे 'चकर्ष' इति रूपम् । अक्राक्षीत् । कृष्धातोर्लुङि अटि तिपि अनुबन्धलोपे तिप इकारलोपे च्लेः सिचि प्राप्ते तं बाधित्वा 'स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः' इति वार्तिकेन वैकल्पिके च्लेः सिचि इडभावे लोपे च 'अनुदात्तस्य चर्दु०'

उपधाके स्थानमें 'रम्'का आगम हो, आर्धधातुकके परे, विकल्पसे । क्ङिति---'कित्-ङित्'

क्षीत् । अक्रुक्षन् । अक्रुष्ट । अक्रुक्षाताम् । अक्रुक्षत । क्सपक्षे-अक्रुक्षत । अक्रुक्षाताम् । अक्रुक्षन्त । मिल सङ्गमे । मिलति । मिलते । मिमेल । मिमिले । मेलिता । अमेलीत् ॥ मुच्लृ मोक्षणे । शे मुचादीनाम् ।७।१।५९। मुच्लुप्विद्लिप्सिच्कृत्खिद्पिशां नुम् । मुञ्चति । मुञ्चते । मुमुचे । मोक्ता । मोक्ष्यति । मोक्ष्यते । मुच्यात् । 'लिङ्सिचा'विति कित्त्वम् । मुक्षीष्ट । अमुचत् । अमुक्त । अमुक्षाताम् । लुप्लृ छेदने । लुम्पति । लुम्पते । लुलोप । लुलुपे । लोप्ता २ । लोप्स्यति । लोप्स्यते । अलुपत् । अलुप्त । विद्लृ लाभे । विन्दति । विन्दते । विवेद । व्याघ्रभूतिमते सेट् । वेदिता २ । वेदिष्यति । वेदिष्यते । भाष्यमतेऽनिट् । परिवेत्ता । परिवेदने । ज्येष्ठं परित्यज्य दारानग्नींश्च लब्धवानित्यर्थः । षिच क्षरणे । सिञ्चति । सिञ्चते । सिषेच । सिषिचे । 'लिपिसिचो'त्यङ् । असिचत् । तङि तु

इति वैकल्पिकेऽपि 'अ कृ क्स् प् स त्' इति स्थिते मध्येत्संज्ञायां लोपे च मित्त्वादन्त्या-च परे अच्परत्वात् 'इको यणचि' इति यणि 'अकृप्स्त्' इति जाते 'षढोः कः सि' इति धातो षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति मिच मकारस्य षत्वे 'क्षसंयोगे' षकारे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि अनुबन्धलोपे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति हलन्तत्वमाश्रित्य वृद्धौ 'अक्राक्षीत्' इति रूपम् । अमोऽभावपक्षे तु 'हलन्तलक्ष-णायां वृद्धौ अक्राक्षीत् इति । सिचोऽभावपक्षे—'शल इगुपधादनिट क्सः' इति च्ले-क्सादेशे 'क्ङिति च' इति कस्येत्संज्ञायां लोपे च 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे सस्य षत्वे गुणाभावे 'अकृक्षत्' इति । अमेलीत् । लुङि अटि तिपि तिप इकारलोपे च्लौ च्ले सिचि 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'आर्ध-धातु' इति इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'अमेलीत्' इति । शे मुचादीनामिति । नुम् स्यादिति शेषपूरणमिदम् । 'इदितो नुम्' इत्यतस्तद-नुवृत्तेरिति भावः । मुञ्चति । मुच्ल मोक्षणे धातुतो लटि तिपि अनुबन्धलोपे 'तुदादिभ्य श' इति शेऽनुबन्धलोपे शित्त्वादपित्त्वेन ङित्त्वाद् गुणाभावे, 'शे मुचादीनाम्' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'नश्चापदान्तस्य' इति अनुस्वारे परसवर्णे च जाते 'मुञ्चति' इति । अमुचत् । मुच्धातोर्लुङि अटि तिपि अनुबन्धलोपे च्लौ 'पुषादिद्युताद्यॢदितः' इति च्लेरङि ङित्त्वाद् गुणाभावे 'अमुचत्' इति । अमुक्त । लुङि अटि तादेशे च्लौ च्ले-सिचि 'अ मुच् स् त' इति स्थिते 'झलो झलि' इति सलोपे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे 'अमुक्त' इति । लिपिसिचीति । लिपि सिचि इत्यनयोः समाहारद्वन्द्वात् प्रत्येकवचनम् । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्य' इत्यतोऽङिति चानुवर्तते । तदाह—अङ् स्यादिति । असिचत् । लुङि अटि तिपि तिप इकारलोपे

आर्धधातुकके परे इमागमको बाधकर पूर्वविप्रतिषेधेन सम्प्रसारण ही हो । शे मुच—मुचादि

धा–असिचत। असिक्त॥ **लिप उपदेहे।** उपदेहो–वृद्धिः। लिम्पति। लिम्पते। लिलेप। लिलिपे। लेप्ता। लेप्स्यति। लेप्स्यते। 'लिपिसिचिह्वश्चे'त्यङ्। अलिपत्। अलिपत। अलिप्त॥ इत्युभयपदिनः॥

अथ परस्मैपदिनः १

कृती छेदने। कृन्तति। चकर्त्त। कर्त्तिता। 'सेऽसिची'ति वेट्। कर्त्तिष्यति। कर्त्स्यति। अकर्त्तीत्। **खिद परिदेवने।** खिन्दति। चिखेद। खेत्ता। खेत्स्यति। **पिश अवयवे।** पिंशति। पिपेश। पेशिता। **ओव्रश्चू छेदने।** 'ग्रहिज्या'। वृश्चति। लिट्यभ्यासस्येति सम्प्रसारणं–रेफस्य ऋकारः। 'उरत्'। तस्य 'अचः परस्मिन्नि'ति स्थानिवद्भावात् 'सम्प्रसारणे सम्प्रसारण'मिति वस्योत्वं न–। वव्रश्च। वव्रश्चिथ। वव्रष्ठ। व्रश्चिता। व्रष्टा। व्रश्चिष्यति। व्रक्ष्यति। वृश्चतु। वृश्च्यात्।

च्लौ 'लिपिसिचिह्वश्च' इत्यङि अनुबन्धलोपे ङित्वाद्गुणे 'असिचत्' इति। असिचत। लुङि आदेशे च्लौ 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति च्लेरङि अटि अनुबन्धलोपे ङित्वाद् गुणाभावे 'असिचत' इति रूपम्। अङभावे च्लौ, च्लेः सिचि 'झलो झलि' इति सिचः सलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वेऽटि 'असिक्त' इति। चकर्त। कृती छेदने धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे सति 'पुगन्त०' इति गुणे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति रेफात्परस्य तकारस्य द्वित्वे 'चकर्त्त' इति। लुङि—अकर्तीत्। लुङि अटि तिपि ठिप इकारलोपे च्लौ, च्लेः सिचि 'आर्धधातुकस्येड्' इति इटि 'अस्तिसिचः' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'पुगन्त' इति गुणे 'अकर्त्' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषिद्धे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'अकर्तीत्' इति रूपम्। वृश्चति। ओव्रश्चू छेदने इति धातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे शस्यापित्त्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वात् 'ग्रहिज्या०' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च 'वृश्चति' इति रूपम्। वव्रश्च। ओव्रश्चू धातोरनुबन्धलोपे लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च 'वृश्च् व्रश्च् अ' इति स्थिते 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अकारादेशे रपरे 'वर्श्च् व्रश्च् अ' इति जाते 'हलादिः शेषः' इति हल्लोपे 'वव्रश्च' इति रूपम्। वव्रश्चिथ। लिटि थलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'वृश्च् व्रश्च् थ' इति जाते 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्याकारादेशे रपरे च कृते 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'स्वरतिसूयतिधूञूदितो वा' इति ऊदित्त्वात् थल इडागमे 'वव्रश्चिथ' इति रूपम्। इडभावपक्षे—धातोर्द्वित्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे अभ्यासऋवर्णस्य 'उरत्' इति अकारादेशे रपरत्वे च

धातुको नुमागम हो, 'श' प्रत्ययके परे।

अव्रश्चीत्। अव्राक्षीत्। व्यच व्याजीकरणे। विचति। विव्याच। विविचतुः। विविचुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्याचीत्। अव्यचीत्। 'व्यचेः कुटादित्वमनसी'ति तु नेह प्रवर्तते, 'अनसी'ति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्। उछि उञ्छे। 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलमि'ति यादवः। उञ्छति। उञ्छाञ्चकार। उञ्छिता। ऋछ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। 'छे च'। ऋच्छति। 'ऋच्छत्यॄतामि'ति गुणः परत्वाण्णल्यपि भवति। द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्। आनर्च्छ। आनर्च्छतुः। ऋच्छिता। उज्झ उत्सर्गे। उज्झति। उज्झाञ्चकार। लुभ विमोहने। लुभति। लुलोभ। 'तीषसहे'ति वेट्। लोभिता। लोब्धा। लोभिष्यति। तृप तृम्फ तृप्तौ। तृपति। ततर्प। तर्पिता। अतर्पीत्। तृम्फति। शस्य ङित्वादनिदितामिति नलोपः। (शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः।)

'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे सत्वस्यासिद्धत्वात् 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इति चकारस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति षस्य टत्वे 'वव्रष्ठ' इति। विचति। व्यच्धातोर्लटि तिपि शपोऽनुबन्धलोपे शित्वादपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वात् 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'विचति' इति रूपम्। विव्याच। व्यच्धातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'वि व्यच् अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'विव्याच' इति रूपम्। अव्याचीत् अव्यचीत्। लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि इकारचकारयोर्लोपे च 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धौ 'अव्याचीत्' इति। वृद्ध्यभावे 'अव्यचीत्' इति। व्यचेः कुटादित्व मिति। 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इत्यस्यात्र प्रवृत्तिर्न भवति। पर्युदासेन असुन्भिन्नस्य कृत्प्रत्ययस्यैव ग्रहणात्। उञ्छति। उछिधातोरनुबन्धलोपे लटि तिपि शपोऽनुबन्धलोपे इदित्वात् 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमि अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे नुमोऽनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'उञ्छति' इति रूपम्। आनर्च्छ। ऋच्छ धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ऋच्छ् ऋच्छ् अ' इति जाते 'उरत्' इति अभ्यासऋकारस्य अकारादेशे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च जाते 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'अ ऋच्छ् अ' इति स्थिते 'अत आदेः' इति अभ्यासस्य आत्वे 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुटि अनुबन्धलोपे 'आ न् ऋच्छ् अ' इति जाते 'ऋच्छत्यॄताम्' इति गुणे रपरे 'आनर्च्छ' इति रूपम्। लोभिता, लोब्धा। लुभधातोर्लुटि तिपि तासि तस्यार्ध-

---

शे इ—तृम्फादि धातुओं को नुमागम हो, 'श' प्रत्यय के परे।

आदिशब्दः प्रकारे। प्रकारो भेदसादृश्ये। तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः। ततृम्फ। तृफ्यात्। **मृड** सुखने। **पृड** च। मृडति। पृडति। ममर्द। **शुन** गतौ। शुनति। शुशोन। **इष** इच्छायाम्। 'इषुगमी'ति छः। इयेष। 'तीषे'ति वेट्। एषिता। एष्टा। एषिष्यति। इष्यात्। ऐषीत्। ऐषिष्यत्। **कुट** कौटिल्ये। 'गाङ्कुटादी'ति ङित्त्वम्। चुकुटिथ। चुकोट। चुकुट। कुटिता। **पुट** संश्लेषणे। पुटति। पुपोट। पुटिता। **स्फुट** विकसने। स्फुटति। पुस्फोट। स्फुटिता। **स्फुर स्फुल** सञ्चलने। स्फुरति। स्फुलति। **स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः।८।३।७६।** निर्निविभ्यः परयोः स्फुरतिस्फुलत्योः सस्य षत्वं वा स्यात्। निष्फुरति। निःस्फुरतीत्यादि। **णू** स्तवने। 'परिणूतगुणोदयः।' नुवति। नुवतः। नुवन्ति। नुनाव। नुविता॥ इति कुटादयः।

टुमस्जो शुद्धौ। मज्जति। ममज्ज। 'मस्जिनशो'रिति नुम्। (**मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः।**) संयोगादिलोपः। ममङ्क्थ। ममज्जिथ। मङ्क्ता।

धातुकार्ये 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति इड्विकल्पे 'पुगन्त' इति गुणे तिपो डात्वे टिलोपे च 'ओषिता' इति। इडभावे 'ढ्रषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति सस्य चत्वे 'पुगन्त' इति गुणे ओष्टा। इच्छति। इष इच्छायां धातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति षकारस्य छकारे 'छे च' इति तुकि अनुबन्धलोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन चकारे 'इच्छति' इति रूपम्। लिटि इयेष। लिटि तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'इ इष् अ' इति जाते 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति इयङि 'इयेष' इति। स्फुरतिस्फुलत्योरिति। 'मूर्धन्य' इत्यधिकृतम्। 'सिवादीनां वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते। तदाह—षत्वं वा स्यादिति। निःष्फुरति निःस्फुरति। निरपूर्वकस्फुर्धातोर्लटि तिपि से 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति। धातोस्सकारस्य वा षत्वे 'निःष्फुरति' इति, तदभावे तु 'निःस्फुरति' इति। नुनाव। णूधातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्यं 'कृताकृतप्रसङ्गी विधिर्नित्यः' इति नित्यत्वात् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'नु नौ अ' इति जाते 'एचोऽयवायावः' इति आवि 'नुनाव' इति रूपम्।

ममज्ज। मस्ज्धातोर्लिटि तिपि णलि 'मस्ज् अ' इति जाते 'लिटि धातोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'म मस्ज् अ' इति जाते श्चुत्वेन सस्य शत्वे 'झलां जश् झशि' इति जत्वे 'ममज्ज' इति रूपम्। मङ्क्ता। मस्ज् धातोर्लुटि

स्फुर—निर्, नि और वि' उपसर्गसे पर 'स्फुर' और 'स्फुल' धातुके सकारको षत्व हो, विकल्पसे।

मस्जे—'मस्ज' धातुके अन्त्य (जकार) से पूर्व नुम् हो।

मङ्क्ष्यति। 'चोः कुरि'ति कुत्वेन जस्य गः। तस्य 'खरि चे'ति कः। 'अनुस्वारस्य ययी'त्यनुस्वारस्य ङः। अमाङ्क्षीत्। अमाङ्क्ताम्। अमाङ्क्षुः। रुजो भङ्गे। रुजति। रुरोज। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्॥ भुजो कौटिल्ये। भुजति। बुभोज इत्यादि रुजिवत्। विश प्रवेशने। विशति। विवेश। वेष्टा। अविक्षत्। मृश आमर्शने। आमर्शनं-स्पर्शः। मृशति। ममर्श। म्रष्टा। मर्ष्टा। म्रक्ष्यति। मर्क्ष्यति। मृशतु। अमृशत्। मृशेत्। मृश्यात्। 'अनुदात्तस्य चर्दुपधे'त्यम्। 'स्पृशमृशे'ति च्लेः सिज्वा। अम्राक्षीत्। अमार्क्षीत्। 'शल इगुपधे'ति क्सः। अमृक्षत्। षद्लृ विश

तिपि शपि अनुबन्धलोपे तिपो डादेशे टेर्लोपे अभयद्रूपे 'मस्जिनशोर्झलि' इति सूत्रेण धातोरन्त्यात् परे नुमि प्राप्ते 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः' इति वार्तिकबलात् अनुबन्धलोपे 'स्कोः' इति सलोपे 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वेऽनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'मङ्क्ता' इति। अमाङ्क्षीत्। मस्जधातोर्लुङि अटि तिपि सिचि इकारलोपे च्लेः सिचि इत्यादितो तिपोऽपृक्तस्य ईटि 'मस्जिनशोर्झलि' इति नुमि 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः' इति वार्तिकबलात् सकारात्परे जाते 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सस्य लोपे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गकारस्य कत्वे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे 'अमाङ्क्षीत्' इति। अरौक्षीत्। लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि 'अस्तिसिचः' इति ईटि 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वे तिपि इलोपे सकारस्य षत्वे क्ष् संयोगे च 'वदव्रज०' इति वृद्धौ विहितायां 'अरौक्षीत्' इति रूपम्। आमर्शन इति। आमर्शनं स्पर्शः। म्रष्टा। मृशधातोर्लुटि तिपि अनुबन्धलोपे तासि तिपो डादेशे टेर्लोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति विकल्पेन अमि अनुबन्धलोपे मित्त्वात् 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति नियमेन अन्त्यात् परे जाते 'मृ अ श् ता' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि अनुबन्धलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज०' इति षत्वे ष्टुत्वे च 'म्रष्टा' इति। अमोऽभावपक्षे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'मर्ष्टा' इति रूपम्। अम्राक्षीत्। मृशधातोर्लुङि अटि तिपि अनुबन्धलोपे च्लौ 'स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः' इति वार्तिकेन विकल्पेन च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकेऽमि मलोपे 'मृ अ श् स् ति' इति स्थिते तिप इलोपे यणि 'व्रश्च०' इति षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे सस्य षत्वे 'अस्तिसिचः' इति ईटि 'वदव्रज०' इति वृद्धौ 'अम्राक्षीत्' इति रूपम्। अमोऽभावपक्षे वैकल्पिके च्लेः सिचि कृते हलन्तलक्षणवृद्धौ अमार्क्षीत्। इति। सिजभावे च 'शल इगुपधात्' इति च्लेः क्सादेशेऽनुबन्धलोपे 'व्रश्च०' इति षत्वे 'षढोः कः सि' इति सस्य

रणगत्यवसादनेषु । विशरणं—दुःखम् । 'पाघ्राध्मे'ति सीदादेशः । सीदति । **सदिरप्रतेः ।८।३।६६।** निषीदति । न्यषीदत् । **सदेः परस्य लिटि ।८।३।११८।** सदेरभ्यासात्परस्य सस्य षत्वं न स्याल्लिटि । निषसाद । ससाद । सेदतुः । सेदुः । सेदिथ-ससत्थ । सत्ता । सत्स्यति । लृदित्वादङ्—असदत् । **शद्लृ** शातने **शदेः शितः ।१।३।६०।** शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः । शीयते । शीयताम् । अशीयत । शीयेत । शशाद । शत्ता । शत्स्यति । अशदत् । अशत्स्यत् । **कॄ** विक्षेपे । **ॠत इद्धातोः ।७।१।१००।** ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इः स्यात् । किरति । (**इत्त्वोत्त्वाभ्यां गुणवृद्धी विप्रतिषेधेन ।**) वृद्धिः । चकार । चकरतुः । चकरुः । '**वॄतो वा**' । करिता । करीता । 'हलि चे'ति दीर्घः । कीर्यात् । अकारीत् । **किरतौ**

कारे कात्परकत्वात् सस्य षत्वे कृत्संयोगे दे 'अमृक्षत' इति । सीदति । षद्धातोर्लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मा०' इति सदः सीदादेशे संयोगे च कृते 'सीदति' इति रूपम् । शदेः शित इति । 'अनुदात्तङित' इत्यतः आत्मनेपदमित्यनुवर्तते । श् इत् यस्य सः शित् । शप् विवक्षितः । शिति विवक्षिते सतीत्यर्थः । तिङुत्पत्तेः पूर्वं सार्वधातुकाश्रयस्य शपोऽसम्भवात् । तदाह—शिद्भाविन इति । शीयते । शद्लृ शातने इति धातोर्लटि 'शदेः शितः' इति आत्मनेपदत्वे ते समागते 'तुदादिभ्यः शः' इति शेऽनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मास्थाम्ना' इति शदः स्थाने शीयादेशे 'टित आत्मनेपदानाम्' इति टेरेत्वे 'शीयते' इति । ॠत इद्धातोरिति । ॠत इति धातोर्विशेषणम् । तदन्तविधिः । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । तदाह—ॠदन्तस्येति । किरति । कॄ विक्षेपे धातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'ॠत इद्धातोः' इति ॠत इदादेशे 'उरण् रपरः' इति रपरे च कृते 'किरति' इति रूपम् । अकारीत् । लुङि अटि तिपि सिप इलोपे च्लौ च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे 'आर्धधातुकं शेषः' इति सिच आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्' इति सिचः सस्य इटि अनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति इकारस्य ईकारेण सह दीर्घे

सदिर—'प्रति' भिन्न 'सद' धातुके सकारको षकार हो ।

सदेः परस्य—अभ्याससे पर 'सद'के सकारको षकार नहीं हो 'लिट्'के परे ।

शदेः शितः—शिद्भावी 'शद्' धातुसे 'तङ्' और 'आन' हो ।

ॠत—(दीर्घ) ॠदन्त धातुके अङ्ग (ॠ) को 'इत्व' हो ।

—इत्वो—इत्व और उत्वकी अपेक्षया पूर्वविप्रतिषेधेन गुण और वृद्धि ही हों ।

किरतौ—'उप' उपसर्गसे पर 'कृ' धातुको सुडागम हो, छेदन अर्थ यदि गम्यमान रहे ।

लवने ।६।१।१४०। उपात्किरतेः सुट् स्याच्छेदनेऽर्थे । उपस्किरति । (अड्भ्यासव्यवायेऽपि सुट्कात्पूर्व इति वक्तव्यम् ।) उपास्किरत् । उपचस्कार । **हिंसायां प्रतेश्च** ।६।१।१४१। उपात्प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम् । उपस्किरति । प्रतिस्किरति ॥ गॄ निगरणे । **अचि विभाषा** ।८।२।२१। गिरते रेफस्य लत्वं वा स्यादजादौ प्रत्यये परे । गिरति । गिलति । जगार । जगाल । जगरिथ । जगलिथ । गरिता । गरीता । गलिता । गलीता । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । 'ग्रहिज्ये'ति संप्रसारणम् । पृच्छति । पप्रच्छ । पप्रच्छतुः । पप्रच्छुः । प्रष्टा । प्रक्ष्यति । अप्राक्षीत् ॥ इति परस्मैपदिनः ।

'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अकारीत्' इति रूपम् । उपादिति । 'उपात् प्रतियत्ने' इत्यतस्तदनुवर्तत इति भावः । सुडिति । 'सुट्कात्पूर्वः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । उपस्किरति । 'उप किरति' इति स्थिते 'किरतौ लवने' इति सुटि उपस्थितौ टित्वादाद्यवयवे 'उपस्किरति' इति । 'अड्भ्यासव्यवायेऽपि' इति वार्तिकम् । 'सुट्कात्पूर्वः' इत्यनुवृत्तिलभ्यम् । उपास्किरत् । इत्यत्र 'उप अ किरत्' इति दशायां 'अड्भ्यासव्यवायेऽपि सुट्कात्पूर्व इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेनाड्व्यवधाने सत्यपि ककारात्पूर्वं सुडागमे विहिते 'उपास्किरत्' इति रूपम् । उपचस्कार । 'उप चकार' इति दशायाम् 'अड्भ्यासव्यवायेऽपि सुट्कात्पूर्व इति वक्तव्यम्' इति अभ्यासकृतव्यवधानेऽपि कात्पूर्वमेव सुटि जाते 'उपचस्कार' इति । हिंसायां प्रतेश्चेति । चकारादुपादिति समुच्चीयते, तदाह—उपादिति । उपस्किरति । 'उप किरति' इति स्थिते 'हिंसायां प्रतेश्च' इति सुटि उपस्किरति, प्रतिस्किरति इति । अचि विभाषेति । 'ग्रो यङि' इत्यतः ग्र इत्यनुवर्तते । 'कृपो रो लः' इत्यतो रो ल इति, तदाह—गिरतेरिति । पृच्छति । प्रच्छधातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे शस्यापित्त्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वात् 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे पृच्छति । पप्रच्छ । प्रच्छधातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उरत्त्वे रपरे च हलादिशेषे 'पप्रच्छ' इति रूपम् । अप्राक्षीत् । प्रच्छधातोर्लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि 'व्रश्च०' इति छस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे सस्य षत्वे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रज०' इति वृद्धौ 'अप्राक्षीत्' इति ।

अड्भ्या—'अट्' और 'अभ्यास' के व्यवधानमें भी 'उप' से पर 'कृ' धातुको सुट् हो और वह 'सुट्' ककारसे पूर्व हो—ऐसा कहना चाहिये । हिंसा—'उप' तथा 'प्रति' उपसर्गके पर 'कॄ' धातुको 'सुट्' हो, हिंसा अर्थमें । अचि—'गॄ' धातुके रेफको 'लत्व' हो, अजादि प्रत्ययके परे ।

अथाऽऽत्मनेपदिनः।

दृङ् आदरे। आद्रियते। आदद्रे। आदद्रिषे। आदर्त्ता। आदरिष्यते। धृङ् अवस्थाने। ध्रियते। दध्रे। मृङ् प्राणत्यागे। **म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च** ।१।३।६१। लुङ्लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङानौ, नान्यत्र। ङित्त्वं स्वरार्थम्। 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु'। इयङ्। म्रियते। ममार। मम्रर्थ। मम्रिव। मम्रिम। मर्त्ता। मरिष्यति। मृषीष्ट। अमृत। अमरिष्यत्। पृङ् व्यायामे। प्रायेणायं 'व्याङ्' पूर्वः। व्याप्रियते। व्यापप्रे। व्यापप्राते। व्यापरिष्यते। 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिज्लोपः। व्यापृत। व्यापृषाताम्। **जुषी** प्रीतिसेवनयोः। जुषते। जुजुषे। जोषिता। **ओविजी** भयसञ्चलनयोः। प्रायेणायमुत्पूर्वः। उद्विजते। **विज इट्** ।१।२।२। विजेः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत् स्यात्। उद्विजिता। उद्विजिष्यते। **ओलजी ओलस्जी** व्रीडायाम्। लजते। लेजे। लज्जते। ललज्जे॥ इति तुदादिः॥ ६॥

म्रियतेर्लुङ्लिङोश्चेति। 'अनुदात्तङितः' इत्यतः आत्मनेपदमित्यनुवर्तते। चकारेण 'घादेः शितः' इत्यतः शित इत्यनुकृष्यते। प्रकृतिभूतादित्यध्याहार्यम्। तदाह—लुङ्लिङोरिति। म्रियते। मृङ्धातोर्लटि, लटस्थाने 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' इति ते 'तुदादिभ्यः शः' इति शेऽनुबन्धलोपे 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशे ङलोपे 'अचिश्नु०' इति इयङि 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'म्रियते' इति रूपम्। ममार। मृङ्धातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'ममार' इति। व्यापप्रे। लिटि तादेशे तस्य एशादेशे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे हलादिशेषे यणि च 'व्यापप्रे' इति रूपम्। विज इट् इति। 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतः ङिदित्यनुवर्तते। तदाह—विजेः पर इडादिः। उद्विजिता। लुटि तादेशे तासि इटि तिपो डात्वे तासः डित्वाट्टेर्लोपे 'विज इट्' इति इटो ङित्त्वाद् गुणाभावे 'उद्विजिता' इति रूपम्। ओलजी-ओलस्जी-व्रीडायाम्। ओदितौ। लजते। लज्जते। लेजे-ललज्जे। लजिता-लज्जिता। लजिष्यते-लज्जिष्यते। लजताम्-लज्जताम्। अलजत-अलज्जत। लजेत-लज्जेत। लजिषीष्ट-लज्जिषीष्ट। अलजिष्ट। अलज्जिष्ट। अलजिष्यत। अलज्जिष्यत। इत्यादि। इति तुदादयः।

म्रियते—लुङ्, लिङ् और 'शित' प्रत्ययके प्रकृतिभूत 'मृङ्' धातुसे ही 'तङ्' तथा 'आन' (आत्मनेपद) हो—अन्यत्र नहीं। विज इट्—'विज्' धातुसे पर इडादि प्रत्यय 'ङिद्वत्' हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तुदादिप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ रुधादिप्रकरणम्

तत्रोभयपदिनः ।

रुधिर् आवरणे । रुधादिभ्यः श्नम् ।३।१।७८। रुधादिभ्यः श्नम् स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । मित्वादन्त्यादचः परः । नित्यत्वाद् गुणं बाधते । रुणद्धि । 'श्नसोरल्लोपः' । 'झरो झरी'ति धलोपः । णत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारः । परसवर्णः । तस्यासिद्धत्वाण्णत्वं न । 'न पदान्ते'ति सूत्रेणानुस्वारपरसवर्णयोरल्लोपो न स्थानिवत् । रुन्द्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि । रुन्द्धः । रुन्द्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्ध्मः । रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्द्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्महे । रुरोध । रुरुधे । रोद्धा । रोत्स्यति । रोत्स्यते । रुणद्धु । रुन्धात् । रुन्द्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम । रुन्द्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत्, द् । अरुन्द्धाम् । अरुन्धन् । 'दश्चे'ति रुः । अरुणः । अरुणत्, द् । अरुन्द्धम् । अरुन्द्ध । अरुणधम् । अरुन्ध्व । अरुन्ध्म । अरुन्द्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्द्धाः । अरुन्धाथाम् । अरुन्द्ध्वम् । अरुन्धि । अरुन्ध्वहि । अरुन्ध्महि । समानाश्रये आभीयत्वेन अल्लोपस्यासिद्धत्वादनिदितामिति नलोपो न । रुन्ध्यात् । रुन्धीत । रुध्यात् । रुत्सीष्ट । अरुधत् । अरौत्सीत् । 'लिङ्सिचा'विति कित्त्वम् । अरुद्ध । अरोत्स्यत् । अरोत्स्यत । भिदिर् विदारणे । भिनत्ति । भिन्ते । छिदिर्

रुधादिभ्य श्नमिति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे रुधादिभ्यः श्नम् प्रत्ययः स्यात् इत्यर्थः । यथा—शपोऽपवाद इति । रुणद्धि । रुधिर् आवरणे इति धातुतो लटि तिपि 'रुधादिभ्य श्नम्' इति श्नमि अनुबन्धलोपे 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति सूत्रबलात् अन्त्यादचः परे श्नमि प्रत्यये कृते 'रु न ध् ति' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तिपस्तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति धस्य दत्वे 'रुणद्धि' इति रूपम् । रुरोध । रुध्धातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासस्य हलादिशेषे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'रुरोध' इति रूपम् । अरुणत्, अरुणद् । रुध्धातोर्लङि, तिपि, तिप इकारलोपे श्नमि अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'अरुनध्त्' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यो' तलोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति धस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य तत्वे जाते 'अरुणत्, अरुणद्' इति । भिनत्ति । भिदिर्धातोर्लटि तिपि श्नमि अनुबन्धलोपे 'खरि च' इति दस्य तत्वे 'भिनत्ति'

रुधादि—रुधादि गणपठित धातुओंसे 'श्नम्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

द्वैधीकरणे। छिनत्ति। छिन्त्ते। **युजिर् योगे।** युनक्ति। युङ्क्ते। **रिचिर् विरेचने।** रिणक्ति। रिङ्क्ते। रिरेच। रिरिचे। रेक्ता। अरिणक्। अरिचत्। अरैक्षीत्। अरिक्त। **विचिर् पृथग्भावे।** विनक्ति। विङ्क्ते। **क्षुदिर् संपेषणे।** क्षुणत्ति। क्षुन्ते। क्षोत्ता। अक्षुदत्। अक्षौत्सीत्। अक्षुत्त। **उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः।** छृणत्ति। छृन्त्ते। चच्छर्द। 'सेसिची'ति वेट्। चच्छृदिषे। चच्छृत्से। छर्दिता। छर्दिष्यति। छर्त्स्यति। अच्छृदत्। अच्छर्दीत्। अच्छर्दिष्ट। **उतृदिर् हिंसाऽनादरयोः'।** तृणत्ति। तृन्त्ते।

अथ परस्मैपदिनः।

कृती वेष्टने। कृणत्ति। आर्द्धधातुके तौदादिकवत्। **तृह हिसि हिंसायाम्।**

तृणह इम् ।७।३।९२। तृहः श्नमि कृते इम् स्याद्धलादौ पिति। तृणेढि। तृण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतृणेट्। **श्नान्नलोपः** ।६।४।२३। श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। हिनस्ति। जिहिंस। हिंसिता। **उन्दी क्लेदने।** उनत्ति। उन्तः। उन्दन्ति। उन्दा-

---

इति। एव छिदिर्धातोरपि बोध्यम्। युनक्ति। युजिर्योगे धातोर्लटि तिपि श्नमि अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे, 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वे 'युनक्ति' इति रूपम्। चच्छर्द। छृद्धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'धातो'-'र्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋकारस्य अत्वादेशे रपरे हलादिशेषे 'पुगन्त' इति गुणे रपरे 'अभ्यासे चर्च' इति छस्य चत्वे 'छे च' इति तुकि 'स्तोः' श्चुना' इति श्चुत्वेन तस्य चत्वे 'चच्छर्द' इति रूपम्।

तृणेढि। तृह् धातोर्लटि तिपि श्नमि अनुबन्धलोपे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति नस्य णत्वे 'तृण ह ति' इति दशायां 'तृणह इम्' इति इमागमे, 'तृण इ ह् इति' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तिपस्तकारस्य धकारे ष्टुत्वेन धकारस्य ढत्वे, 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढस्य लोपे कृते 'तृणेढि' इति। अतृणेट्। लङि अटि तिपि तिप इलोपे श्नमि अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'तृणह इम्' इति इमागमे आद्गुणे णत्वे हस्य ढत्वे हल्ङ्यादिना तलोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति पदान्तत्वात् ढस्य डत्वे 'वाऽवसाने' इति डस्य टत्वे 'अतृणेट्' इति। श्नान्नलोप इति। श्नम्प्रत्ययैकदेशस्य श्न इत्यस्य श्नादिति पञ्चमी। नेति लुप्तषष्ठीकम्। तदाह-श्नमः परस्य नस्येति। हिनस्ति। हिसिहिंसायां धातोर्लटस्तिपि श्नमि अनुबन्धलोपे 'इदितो नुम धातोः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'हिन न् स् ति' इति स्थिते 'श्नान्नलोपः' इति नलोपे 'हिनस्ति' इति। उनत्ति। उन्दी क्लेदने इत्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा श्नमि कृते

तृणः—'तृह्' धातुसे 'श्नम्' करने पर इमागम हो, हलादि 'पित्'के परे। श्नान्न—'श्नम्'

चकार । औनत् । औन्ताम् । औन्दन् । औनः-औनत् । औनदम् । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । अनक्ति । अङ्क्तः । अञ्जन्ति । आनञ्ज । आनञ्जिथ । आनङ्क्थ । अञ्जिता । अङ्क्ता । अङ्ग्धि । अनजानि । आनक् । अञ्जेः सिचि ।७।२।७१। अञ्जेः सिचो नित्यमिट् । आञ्जीत् । तञ्चू सङ्कोचने । तनक्ति । तङ्क्ता ।

दकारतकारयोर्लोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'श्नान्नलोपः' इति नलोपे 'खरि च' इति दस्य चर्त्वेन तकारे च कृते 'उनत्ति' इति रूपम् । उन्दाञ्चकार—उन्द् इत्यस्माद्धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि 'आमः' इत्यनेन लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यनेन लिट्परके कृञोऽनुप्रयोगे कृते 'उन्दाम् कृ लिट्' इति जाते, लिटस्तिपि तिपो णलि धातोर्द्वित्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरे च कृते 'हलादिः शेषः' इत्यनेन रलोपे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरे च मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'उन्दाञ्चकार' इति रूपम् । औनत् । उन्द्धातोर्लङि तिपि शपि प्राप्ते तं बाधित्वा श्नमि कृते अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'उनन्द् ति' इति जाते 'श्नान्नलोपः' इत्यनेन नलोपे च कृते अटि प्राप्ते तं बाधित्वा अजादित्वात् 'आडजादीनाम्' इत्यनेनाटि 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ 'खरि च' इति तस्य चर्त्वे 'इतश्च' इति तिप इलोपे 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन पूर्वतकारस्य लोपे च कृते 'औनत्' इति रूपम् । अनक्ति । ऊकारेत्संज्ञक 'अञ्ज्' इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि श्नमि कृते अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे जाते 'श्नान्नलोपः' इति नलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वेन जस्य गकारे गस्य चर्त्वेन ककारे 'अनक्ति' इति सिद्ध्यति । आनञ्ज । अञ्ज्धातोर्लिटि तिपि तिपो णलि च कृते धातोर्द्वित्वेऽभ्याससञ्ज्ञायाम् 'हलादिः शेषः' इत्यनेन लोपे 'अ अञ्ज् अ' जाते 'अत आदेः' इत्यनेन दीर्घे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घे च कृते 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इत्यनेन नुटि उदावितौ टित्वाद् आद्यावयवे च जाते, कृते च संयोगे 'आनञ्ज' इति । आनक्—अञ्ज्धातोर्लङि तिपि शपि प्राप्ते तं बाधित्वा श्नमि कृते अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'श्नान्नलोपः' इत्यनेन नलोपे 'इतश्च' इति इकारस्य लोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इत्यनेन तलोपे 'चोः कुः' इत्यनेन जस्य कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इत्यनेन गस्य कत्वे 'आडजादीनाम्' इत्यनेनाडागमे 'आनक्' इति । अञ्जेः सिचीति । 'इडत्यर्ति' इत्यत इडित्यनुवर्त्तते । ऊदित्वादेव सिद्धे नित्यार्थमिदम् । तदाह—अञ्जेरित्यादिना । आञ्जीत् । अञ्ज्धातोर्लुङि लस्थाने तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इत्यनेन सिजादेशे इचावितौ तयोर्लोपे च तिप इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमेऽनुबन्धलोपे 'इट ईटि' इति सूत्रेण सिचः सस्य लोपे 'आडजादीनाम्'

से पर नकारका लोप हो । अञ्जे—'अञ्ज' धातुसे पर 'सिच्'को नित्य इडागम हो ।

तविता । **ओविजी** भयसञ्चलनयोः । विनक्ति । विङ्क्तः । 'विज इडि'ति ङित्त्वम् । विविजिथ । विजिता । अविनक् । अविजीत् । **शिष्लृ** विशेषणे शिनष्टि । शिंष्टः । शिंषन्ति । शिनक्षि । शिशेष । शिशेषिथ । शेष्टा । शेक्ष्यति । हेर्धिः । जश्त्वम् । ष्टुत्वम् । 'झरो झरी'ति वा डलोपः । अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' । शिण्ढि । शिण्ड्ढि । शिनषाणि । अशिनट् । शिंष्यात् । शिष्यात् । लृदित्वादङ् । अशिषत् । अशेक्ष्यत् । एवं—**पिष्लृ** संचूर्णने । पिनष्टि । पिपेष । **भञ्जो** आमर्दने । भनक्ति । बभञ्ज । बभञ्जिथ । बभङ्क्थ । भङ्क्ता । **भुज** पालनाभ्यवहा-

---

इत्यादि च कृते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'आजीत्' इति । विनक्ति । ओकार-ईकारेत्संज्ञकविज् इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा श्नमि कृते अनुबन्धलोपे मित्त्वादन्त्यादचः परे 'चोः कुः' इत्यनेन जस्य कुत्वेन गकारे 'खरि च' इत्यनेन गस्य कत्वे कृते 'विनक्ति' इति । विविजिथ । विज्धातोर्लिटि मध्यमपुरुषैकवचने सिपस्थलि कृते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेनेडागमे 'विज इट्' इत्यनेन इटो ङित्वात् गुणाभावे 'विविजिथ' इति । अविजीत् । विज्धातोर्लुङस्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशे इत्यावितौ, सिच आर्धधातुकत्वादिटि तिप इकारस्य लोपे कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे च कृते 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सलोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे अटि च 'अविजीत्' इति । शिनष्टि । लृकारेत्संज्ञकशिष् इत्यस्माद्धातोर्लटि लटो लस्थाने तिपि शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा श्नमि कृते, अनुबन्धलोपे मित्त्वादन्त्यादचः परे तकारस्य ष्टुत्वे च कृते 'शिनष्टि' इति । शिण्ढि । शिष्धातोर्लोटि, लः स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा श्नमि कृतेऽनुबन्धलोपे मित्त्वादन्त्यादचः परे 'सेर्ह्यपिच्च'इति सेर्हिभावे 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धिभावे 'झलां जश् झशि' इति षस्य डत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति धेर्धस्य ष्टुत्वे 'झरो झरि सवर्णे' इति डलोपे नस्यानुस्वारे तस्य परसवर्णे च कृते 'शिण्ढि' इति । अशिनट् । शिष्धातोर्लङि तिपि अनुबन्धलोपे श्नमि अनुबन्धलोपे मित्त्वात् अन्त्याचः परे कृते 'इतश्च' इति तिप इलोप 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तलोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य जश्त्वेन डकारे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे, अटि च कृते 'अशिनट्' इति । चर्त्वाभावे—'अशिनड्' इति । बभञ्जिथ । भञ्ज्धातोर्लिटि, लिटो लः स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, सिपः स्थाने थलि, धातोर्द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हल्लोपे इटि प्राप्ते 'उपदेशेऽत्वतः' इति निषेधे 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति वेटि 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य जश्त्वेन बकारे 'बभञ्जिथ' इति । इडभावे—जस्य गत्वे गस्य कत्वे नस्यानुस्वारे 'अनु-

रुधो। भुनक्ति। बुभोज। भोक्ता। भोक्ष्यति। भुनक्तु। अभुनक्। **भुजोऽनवने** ॥१।३।६६॥ भुजोऽनवने तङानौ स्तः। ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम्? महीं भुनक्ति।

अथात्मनेपदिनः।

ञिइन्धी दीप्तौ। इन्द्धे। इन्धाते। इन्धते। इन्त्से। इन्धाञ्चक्रे। इन्धिता। इन्द्धाम्। इन्धाताम्। इन्धताम्। इनधै। ऐन्ध। ऐन्धाताम्। ऐन्धत। ऐन्द्धाः। **विद विचारणे।** विन्ते। वेत्ता। **खिद दैन्ये।** खिन्ते। चिखिदे। खेत्ता। खेत्स्यते। खिन्ताम्। अखिन्त। इति रुधादयः ॥ ७ ॥

कारस्य यरि परसवर्णं' इति परसवर्णे च कृते 'रुन्द्ध्व' इति। भुनक्ति। भुज् धातोर्लटस्तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा श्नमि कृतेऽनुबन्धलोपे 'चोः कुः' अस्य कुत्वेन गत्वे गस्य 'खरि च' इति चर्त्वे 'भुनक्ति' इति। अभुनक्। भुज्धातोर्लङस्तिपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते श्नमि कृते अनुबन्धलोपे अडागमे 'इतश्च' इति तिप इलोपे तस्य 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति लोपे जस्य कुत्वे चर्त्वे च कृते 'अभुनक्' इति। भुजोऽनवने। अवनम्-रक्षणम्, ततोऽन्यत्र भुजेरात्मनेपदमित्यर्थः। भुङ्क्ते-भुज्धातोर्लट्लकारे 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदे तप्रत्यये श्नमि कृतेऽनुबन्धलोपे 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'चोः कुः' इति कुत्वे चर्त्वे च कृते अनुस्वारे परसवर्णे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति एत्वे च 'भुङ्क्ते' इति। इह उपयोगो भुजेरर्थः। धातूनामनेकार्थत्वात्। 'महीं भुनक्ति' इत्यत्रावनार्थकत्वान्न तङ्।

इन्धाञ्चक्रे। इन्ध्धातोर्लिटि 'इजादेश्च' इत्यामि 'आमः' इत्यनेन लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यनेन लिट्परककृञनुप्रयोगे तस्थाने ए कृते 'इन्धाम् कृ ए' इति जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यनेनाभ्यासऋवर्णस्याकारादेशे रपरे च कृते 'हलादिः शेषः' इत्यभ्यासलोपे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्यनेन तस्य एशादेशे 'इको यणचि' इति यणि मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'इन्धाञ्चक्रे' इति। विन्ते-विद्धातोर्लटि त स्थाने तादेशे, श्नमि अनुबन्धलोपे [illegible] परे 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'खरि च' इति चर्त्वे 'झरो झरि सवर्णे' इति पूर्वतकारस्य लोपे एत्वे च कृते 'विन्ते' इति। इति रुधादयः।

भुजो—अनवन (रक्षणसे भिन्न) अर्थमें 'भुज्' धातुसे आत्मनेपद हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें रुधादि प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ तनादिप्रकरणम्

(अथ स्वरितेतो, ञितश्च—उभयपदिनः)

तनु विस्तारे । **तनादिकृञ्भ्य उः ।३।१।७९।** तनादेः, कृञश्च उः प्रत्ययः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके । तनोति । तनुते । ततान । तेने । तनिता । तनिष्यति । तनिष्यते । तनोतु । तनुताम् । अतनोत् । अतनुत । तनुयात् । तन्वीत । तन्यात् । तनिषीष्ट । अतनीत् । अतानीत् । **तनादिभ्यस्तथासोः ।२।४।७९।** तनादेः सिचो वा लुक् स्यात्तथासोः । 'अनुदात्तोपदेशे'ति नलोपः । अततं । अतनिष्ट । अतथाः । अतनिष्ठाः । अतनिष्यत् । अतनिष्यत । षणु दाने । सनोति । सनुते ।

तनादिकृञ्भ्य उः । तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यादिति सूत्रार्थः । शपोऽपवाद इति । अनेन शब्विषय एवास्य प्रवृत्तिरिति सूचितम् । 'सार्वधातुके यक्' इत्यतः सार्वधातुक इति 'कर्त्तरि शप्' इत्यतः कर्त्तरीति चानुवृत्तेरिति भावः । तनोति । तन् इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युप्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे च कृते 'तनोति' इति । तनुते । तन् इत्यस्माद्धातोरात्मनेपदे लटस्ते प्रत्यये 'कर्त्तरि शप्' इति शप्प्राप्ते तम्बाधित्वा 'तनादिकृञ्भ्य उः' इति उविकरणे, प्रत्ययस्य तस्य सार्वधातुकत्वात 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वाद् गुणाभावे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'तनुते' इति । अतानीत् । तन्धातोर्लुङि लुङो लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशे इत्वाविती, इटि कृते, तिप इकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे, सवर्णदीर्घे 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धौ च 'अतानीत्' इति । वृद्ध्यभावे—'अतनीत्' इति । तनादिभ्यस्तथासोरिति । 'गातिस्था०' इत्यतः सिच इति 'ण्यक्षत्रियार्ष०' इत्यतो लुगिति 'विभाषा घ्राधेट्०' इत्यतो विभाषेति चानुवर्तते । तदाह—तनादेरित्यादिना । अतत । तन्धातोर्लुङि, लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे अडागमे अनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिजादेशे इत्वाविती 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति सिचो लुकि 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' इत्यनुनासिकनकारस्य लोपे 'अतत' इति । सिचो लोपाभावे

तनादि—तनादिगण पठित धातु और कृञ् धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

नोट।—तनादि कहनेसे 'कृञ्' धातुका भी ग्रहण होता ही फिर 'कृञ्'का पृथक् उपादान क्यों किया गया, इससे सिद्ध होता है कि 'गणकार्यमनित्यम्'—गणकार्य अनित्य है ।

तना—तनादिसे पर 'सिच्'का लुक् (लोप) हो 'त' और 'थास्'के परे, विकल्पसे ।

'ये विभाषे'त्यात्त्वम् । सायात् । सन्यात् । **जनसनखनां सञ्झलोः** ।६।४।४२। एषामाकारोऽन्तादेशः स्याज्झलादौ सनि, झलादौ क्ङिति च । असात । असनिष्ट । असाथाः । असनिष्ठाः । **क्षणु हिंसायाम्** । क्षणोति । क्षणुते । 'ह्म्यन्ते'ति न वृद्धिः । अक्षणीत् । अक्षत । अक्षणिष्ट । अक्षथाः । अक्षणिष्ठाः । **क्षिणु च** । उप्रत्यये लघूपधगुणो वा । क्षिणोति । क्षेणोति । क्षेणिता । अक्षेणीत् । अक्षित । अक्षेणिष्ट । **तृणु अदने** । तृणोति । तर्णोति । तृणुते । तर्णुते । **घृणु दीप्तौ** । घृणोति । घर्णोति । **डुकृञ् करणे** । करोति । 'अत उत्सार्वधातुके' ।

इटि सस्य षत्वे ष्टुत्वे च 'असनिष्ट' इति । सायात् षणधातोराशीर्लिङि, लिङो लस्थाने तिपि तिपो यासुडागमे अनुबन्धलोपे धातोः सत्वे णस्य नत्वे च कृते 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'अलोऽन्त्यस्य' इति सूत्रसहकारेण 'ये विभाषा' इति नस्यात्वे सवर्णदीर्घे च कृते 'सायात्' इति । आत्वाभावे 'सन्यात्' इति । असानीत् षण्धातोर्लुङस्तिपि अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते 'धात्वादेः षः सः' इति षकारस्य सकारे णस्य नत्वे च जाते, च्लौ, च्लेः सिजादेशे इडागमे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीटि 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे च 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धौ 'असानीत्' इति । वृद्ध्यभावे 'असनीत्' इति । जनसनखनां सञ्झलोरिति । 'विड्वनोः' इत्यत आदित्यनुवर्तते । तदाह—एषामाकारोऽन्तादेश इति । सन् झलौ इत्यनयोः द्वन्द्वात् सप्तमीद्विवचनम् । सनि झलि चेति लभ्यते । 'अनुदात्तोपदेश०' इत्यत झलि क्ङितीत्यनुवर्तते । तत्र झलीत्यनुवृत्तेन सन् विशेष्यते । तदादिविधिः । झलादौ सनीति लभ्यते तत्र क्ङितीत्यनुवृत्तं तु प्रत्ययत्वेन विशेष्यते । तदादिविधिः । झलादौ क्ङितीति लभ्यते । तदाह—झलादौ सनीत्यादिनेति । असात । षण्धातोर्लुङो लस्थाने आत्मनेपदे तादेशे अडागमे अनुबन्धलोपे धातोः षकारस्य सत्वे णस्य नत्वे च कृते च्लौ, च्ले सिजादेशे 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति सिचो लोपे 'जनसनखनां सञ्झलोः' इत्यात्वे सवर्णदीर्घे च 'असात' इति । असनिष्ट । षण्धातोर्लुङि लस्थाने ते कृते धात्वादेः षस्य सत्वे णस्य नत्वे च कृते अडागमे च्लौ, च्लेः सिजादेशे इडागमे सिचः 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे सस्य षत्वे च कृते 'असनिष्ट' इति । अक्षणीत् । क्षण्धातोर्लुङि, लुङो लस्थाने तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे च्लौ, च्ले सिजादेशे इडागमे, सिचः सकारस्य 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे च कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीटि 'इट ईटि' इति सिचो लोपे, वृद्धौ प्राप्तायां 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' इति निषेधे 'अक्षणीत्' इति । करोति । कृधातोर्लटस्तिपि सार्वधातुकत्वे, शपमबाधित्वा 'तनादिकृ

भावार्थ—जन्, सन् और खन् धातुको आकारान्त आदेश हो, झलादि 'सन्' और झलादि

कुरुतः । 'हलि चेति दीर्घे प्राप्ते- । **न भकुर्छुराम् ।८।२।७९।** भस्य, कुर्छुरोश्चोप· धाया न दीर्घः । कुर्वन्ति । **नित्यं करोतेः ।६।४।१०८।** करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो, म्वोः । कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । चकार । चकर्थ । चकृव । चकृम । चक्रे । कर्ता । करिष्यति । करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत् । अकुरुत । **ये च ।६।४।१०९।** कृञ उलोपो, यादौ प्रत्यये । कुर्यात् । कुर्वीत । क्रियात् । कृषीष्ट । अकार्षीत् । अकृत । अकरिष्यत् । अकरिष्यत । **संपरिभ्यां करोतौ**

ञ्भ्य उः' इत्युप्रत्यये उकारस्यार्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे उकारस्यापि गुणे कृते 'करोति' इति । कुरुतः । कृधातोर्लटि, लटो लः स्थाने तस्प्रत्यये 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युविकरणे ऋकारस्य गुणे रपरे च कृते 'करुतस्' इति जाते 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यनेन कृञोऽकारस्योत्वे च कृते 'कुरुतः' । इति सिद्ध्यति । न भकुर्छुराम् । 'र्वोरुपधायाः' इत्यतः उपधाया इति दीर्घ इति चानुवर्तते । तदाह— भस्येत्यादिना । नित्यं करोतेरिति । 'उतश्च प्रत्ययात्' इत्यनुवर्तते, 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यतो लोप इति, म्वोरिति च । तदाह—करोतेरिति । कुर्वः । कृधातोर्लटि, लटो लः स्थाने वसादेशे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युविकरणे तस्य आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ऋकारस्य गुणे रपरे च कृते 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यनेनाकारस्य उकारे 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यनेन उकारस्य लोपविकल्पे प्राप्ते 'नित्यं करोतेः' इत्यनेन नित्यलोपे कृते सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च कृते 'कुर्वः' इति सिद्ध्यति । कुरुते । कृधातोर्लटि लटो लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युप्रत्यये गुणे रपरे च कृते अकारस्योत्वे टेरेत्वे च कृते 'कुरुते' इति सिद्ध्यति । ये चेति । 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यतो लोप इति, अस्येति चानुवर्तते । अस्येत्यनेन पूर्वसूत्रे उत इत्युपात्तः परामृश्यते । 'नित्यं करोतेः' इत्यतः करोतेरित्यनुवर्त्तते । अङ्गाक्षिप्तः प्रत्ययो यकारेण विशेष्यते । तदादिविधिः । तदाह— कृञ उलोप इति । कुर्यात् । कृधातोर्विधिलिङि, लिङो लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इति उविकरणे तस्य आर्धधातुकत्वात् गुणे रपरे च कृते 'करु ति' इति जाते 'अत उत्सार्वधातुके' इति ककारोत्तरवर्तिनः 'अकारस्य उकारे यासुडागमे उटावितौ 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'कुरु या त्' इति जाते 'ये च' इत्यनेन उकारस्य लोपे च कृते 'कुर्यात्' इति । अकार्षीत् । कृधातोर्लुङि लुङो लः स्थाने तिपि 'हलन्त्यम्' इति तिपः पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशे इचावितौ, सिचः सस्य आर्धधातुकत्वादिटि

कित्-ङित् प्रत्ययके परे । न भकु—भसंज्ञक और 'कुर्, छुर्'की उपधाको दीर्घ नहीं हो । नित्यं—'कृ' धातुके प्रत्ययसम्बन्धी उकारका लोप हो, यकारादि प्रत्ययके परे । संपरि–'सम्'

भूषणे ।६।१।१३७। समवाये च ।६।१।१३८। आभ्यां परस्य करोतेः सुट् भूषणे, सङ्घाते चार्थे। संस्करोति। अलङ्करोतीत्यर्थः। संस्कुर्वन्ति। सङ्घीभवन्तीत्यर्थः। संपूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुट्। 'संस्कृतं भक्षाः' इति ज्ञापकात्। उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च ।६।१।१३९। कृञः सुट् स्यात्, चात्प्रागुक्तयोरर्थयोः। प्रतियत्नो गुणाधानम्। विकृतमेव वैकृतं विकारः। वाक्याध्याहारः आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्। उपस्कृता कन्या। उपस्कृता ब्राह्मणाः। एधोदकस्योपस्कुरुते। उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं ब्रूते।

(अथ द्वावनुदात्तेतौ) वनु याचने। वनुते। ववने। मनु अवबोधने। मनुते। मेने। मनिता। मनिष्यते। मनुताम्। अमनुत। मन्वीत। मनिषीष्ट॥ इति तनादि ॥ ८ ॥



प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'हलश्च' इति तिपस्तेरिकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ सस्य षत्वे च कृते, अङ्गस्य अडागमे अनुबन्धलोपे टित्वादाद्यवयवे जाते 'अकार्षीत्' इति सिध्यति। अकृत। कृधातोर्लुङि ल स्थाने आत्मनेपदे तादेशे अङ्गस्य अडागमे च कृते च्लौ, च्लेः सिजादेशे च कृते इत्संज्ञायां 'उश्च' इति सिचः कित्त्वाद् गुणाभावे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे च कृते 'अकृत' इति। सम्परिभ्यामिति। अत्र सूत्रे 'समवाये च' इत्यत्र च 'सुट्कात्पूर्वः' इत्यतः 'नित्यं करोतेः' इत्यतश्च तदनुवृत्तिरिति भावः। संस्करोति। इत्यत्र सम्पूर्वस्य कृधातोः 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुटि, टकारेत्संज्ञायां टित्वादाद्यवयवे च जाते 'संस्करोति' इति सिध्यति। उपस्कृता कन्येति। उपेत्युपसर्गपूर्वकात् कृधातोः क्तप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे स्त्रीत्वविवक्षायां टापि तत प्रकृतसूत्रेण सुटि च कृते टकारेत्संज्ञायां 'उपस्कृता कन्या' इति 'अलङ्कृता' इति हि तात्पर्यं। एवं सर्वत्र सुटि कृते ज्ञेयम्। 'उपस्कृता ब्राह्मणाः' सङ्घीभूता इत्यर्थं। 'एधोदकस्योपस्कुरुते' गुणमाधत्ते। 'उपस्कृतं भुङ्क्ते' विकृतमित्यर्थः। 'उपस्कृतं ब्रूते' वाक्याध्याहारेण ब्रूते इत्यर्थं। मन्वीत। मनुधातोर्विधिलिङि लिङो ल स्थाने तादेशे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युविकरणे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि टकारेत्संज्ञायां 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे च कृते 'मनु ई त' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि च कृते 'मन्वीत' इति सिध्यति। इति तनादयः।



और 'परि' पूर्वक 'कृ' धातुको 'सुट्' हो, भूषण और सङ्घात अर्थमें। उपात्—'उप' उपसर्गसे पर 'कृ' धातुको 'सुट्' हो, प्रतियत्नादि अर्थमें, चकारात् भूषण और सङ्घात अर्थमें।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तनादिप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ क्र्यादिप्रकरणम्

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये । क्र्यादिभ्यः श्ना ।३।१।८१। क्र्यादिभ्यः श्ना स्यात्, कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । क्रीणाति । 'ई हल्यघोः' । क्रीणीतः । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' । क्रीणन्ति । क्रीणासि । क्रीणीथः । क्रीणीथ । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीमः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीषे । क्रीणाथे । क्रीणीध्वे । क्रीणे । क्रीणीवहे । क्रीणीमहे । चिक्राय । चिक्रियतुः । चिक्रियुः । चिक्रयिथ । चिक्रेथ । चिक्रिये । क्रेता । क्रेष्यति । क्रेष्यते । क्रीणातु । क्रीणीतात् । क्रीणीताम् ॥ क्रीणीताम् । क्रीणाताम् । क्रीणताम् ॥ क्रीणीयात् । क्रीणीत । क्रीयात् । क्रेषीष्ट । अक्रैषीत् । अक्रेष्ट । अक्रेष्यत् । अक्रेष्यत । प्रीञ् तर्पणे, कान्तौ च । प्रीणाति । प्रीणीते । श्रीञ् पाके । श्रीणाति । श्रीणीते । मीञ् हिंसायाम् । प्रमीणाति । प्रमी-

---

क्र्यादिभ्यः श्नेति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे क्र्यादिभ्यः श्नाप्रत्ययः स्यात् स्वार्थे । क्रीणाति । डकार-ढकार-ञकारेत्संज्ञकक्रीधातोर्लटि, लटो लः स्थाने तिपि, शपि प्राप्ते तद्बाधित्वा 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकत्वे क्रीधातुगतस्य ईकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते किन्तु श्नाप्रत्ययस्य अपित्सार्वधातुकत्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वात् 'क्ङिति च' इति निषेधे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नकारस्य णत्वे च कृते 'क्रीणाति' इति । चिक्राय । क्रीधातोर्लिटि लिटो लः स्थाने तिपि, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानाम्०' इति णलि कृते अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे च कृते 'हलादिः शेषः' इति लोपे, चुत्वे वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे च 'चिक्राय' इति सिद्ध्यति । चिक्रिये । क्रीधातोर्लिटि लिटो लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे तप्रत्ययस्यैशादेशे च कृते 'अचि श्नुधातु' इति इयङि 'चिक्रिये' इति सिद्ध्यति । अक्रैषीत् । क्रीधातोर्लुङि लुङो लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते च्लौ, च्लेः सिचि इत्संज्ञायामितौ सस्य षत्वे 'इतश्च' इति तिप इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्येडागमे च कृते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अक्रैषीत्' इति सिद्ध्यति । अक्रेष्ट । क्रीधातोर्लुङि, लुङो लः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये; च्लौ च्लेः सिचि च कृते इत्संज्ञायामितौ गुणे सस्य षत्वे ष्टुत्वे अडागमे च कृते 'अक्रेष्ट' इति रूपम् । प्रमीणाति—प्रोपसर्गपूर्वकात् ञकारेत्संज्ञकमीधातोर्लटि लटो लः स्थाने तिपि,

---

क्र्यादि—क्र्यादि गणपठित धातुओंसे 'श्ना' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

णीते। 'हिनुमीना' इति णत्वम्। 'मीनाती त्यात्त्वम्। ममौ। मिम्यतु। ममिथ। ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति। मीयात्। मासीष्ट। अमासीत्। अमासिष्टाम्। अमास्त। षिञ् बन्धने। सिनाति। सिनीते। सिषाय। सिष्ये। सेता॥ स्कुञ् आप्रवणे। स्तन्भु स्तम्भु स्कम्भु स्कुम्भु स्कुञ्भ्यः श्नुश्च ।३।१।८२। स्तन्भ्वादिभ्य श्नु स्यात्। चात्-श्ना। स्कुनोति। स्कुनुते। स्कुनाति। स्कुनीते। चुस्काव। चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्। अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वार सौत्रा सर्वे रोधनार्था परस्मैपदिन। हलः श्न. शानज्झौ ।३।१।८३। हल परस्य श्न'

अनुबन्धलोपे श्नाप्रत्यये शास्येरसञ्ज्ञायां लोपे च कृते 'हिनुमीना' इति नस्य णत्वे 'प्रमीणाति' इति सिद्ध्यति। ममौ—मीधातोर्लिटि लिटो ल स्थाने तिपि, णला देशे च कृते 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इति मीधातोरात्वे तस्य द्वित्वेऽभ्यास संज्ञायामभ्यासकार्ये ह्रस्वे च कृते 'म मा अ' इति जाते 'आत औ णल' इति णलोऽकारस्य औकारे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ममौ' इति रूपम्। स्तन्भुस्तम्भुरक म्भति। एभ्यः श्नुप्रत्ययः स्यात्, चात् श्नाप्रत्ययोऽपीति सूत्रार्थ। अत्र सूत्रे 'क्र्यादिभ्य श्ना' इत्यस्मात् 'श्ना' इत्यनुवर्तते इति भाव। स्कुनोति। अकारोत्त शकरकुधातोर्लटि लटो ल स्थाने तिपि, 'स्तन्भुस्तम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्य श्नुश्च' इति श्नुप्रत्यये, शास्येरसञ्ज्ञायां लोपे च कृते, तिप सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुका र्धधातुकयोः' इति गुणे 'स्कुनोति' इति रूपम्। पक्षे-'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्र त्यये 'स्कुनाति' इति। स्कुनुते। स्कुधातोर्लटि, लटो ल स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये तस्य कर्तृकमार्धधातुकत्वात्तस्मिन् परे श्नुप्रत्यये च कृते अनुबन्धलोपे ङित्वाद् गुणा भावे टेरेत्वे च 'स्कुनुते' इति। श्नाप्रत्यये तु 'ई हल्यघोः' इतीत्वे 'स्कुनीते' इति अस्कौषीत्। स्कुधातोर्लुङि, लुङो ल स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे, अडागमे च कृते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्ले सिचि च कृते, इडादिभ्यो तिप इलोपे 'अस्तिसिचोऽ पृक्ते' इत्यनेन ईडागमे तस्य षत्वे 'सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अस्कौषीत्' इति। अस्कोष्ट। आत्मनेपदे तु स्कुधातोर्लुङि, लुङो ल स्थाने तप्रत्यये, अडागमे च कृते च्लौ, च्ले. सिचि च कृते इडाविनी गुणे तस्य षत्वे ष्टुत्वे च विहिते 'अस्कोष्ट' इति। इक वन इति। स्तभान। स्तन्भुधातोर्लोटि, ल स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, श्नाप्रत्यये 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नलोपे 'सेर्ह्यपिच्च' इति लोट सेर्हिभावे 'हलः श्नः शानज्झौ' इति शानजादेशेऽनुबन्धलोपे 'अतो

स्तन्भु—स्तन्भादि धातुओंसे 'श्नु' प्रत्यय हो चकारात्–'श्ना' प्रत्यय भी हो।
हलः —'हल्' से पर 'श्ना' के स्थानमें 'शानच्' आदेश हो, 'हि' के परे।

शानजादेशः स्याद्धौ परे । स्तभान । जॄस्तन्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च ।३।१।५८। एभ्यश्च्लेरङ् वा । व्यष्टभत् । अस्तम्भीत् । युञ् बन्धने । युनाति । युनीते । योता । क्नूञ् शब्दे । क्नूनाति । क्नूनीते । क्नविता । द्रूञ् हिंसायाम् । द्रूणाति । द्रूणीते । पूञ् पवने । प्वादीनां ह्रस्वः ।७।३।८०। पूञ् लूञ् स्तॄञ् कॄञ् वॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ जॄ झॄ धॄ नॄ कॄ ॠ गॄ ज्या री ली व्ली प्ली एषां चतुर्विंशतेर्ह्रस्वः स्यात् शिति । पुनाति । पुनीते । पविता । लूञ् छेदने । लुनाति । लुनीते । स्तॄञ् आच्छादने । स्तृणाति । स्तृणीते । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरे । स्तरिता । स्तरीता । स्तृणीयात् । स्तृणीत । 'ॠत इद्धातोः' । स्तीर्यात् । स्तरिषीष्ट । स्तीर्षीष्ट ॥ 'सिचि च परस्मैपदेषु' । अस्तारीत् । अस्तारिष्टाम् । अस्तारिषुः । अस्तरिष्ट । अस्तीर्ष्ट । कॄञ् हिंसायाम् । कृणाति । कृणीते । चकार ।

हेः' इति हेर्लुकि च कृते 'स्तभान' इति रूपम् । जॄस्तन्भु । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति, 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यतः अङिति 'इरितो वा' इत्यतो वेति चानुवर्तते तदाह—एभ्यश्च्लेरङ् वेति । जॄष् वयोहानौ, स्तन्भुः सौत्रो धातुः, म्रुचुम्लुचू गत्यर्थौ ग्रुचु, ग्लुचु स्तेयकरणे, ग्लुञ्चु गतौ, इत्येतेभ्य इत्यर्थः । व्यष्टभत् । विपूर्वकात् स्तन्भुधातोर्लुङि, लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते, च्लौ, च्लेः सिचि प्राप्ते तद्बाधित्वा 'जॄस्तन्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च' इति च्लेरङि कृते, 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'स्तन्भेः' इति सस्य षत्वे ष्टुत्वे कृते णिति तिप इलोपे 'व्यष्टभत्' इति । अङोऽभावे—च्लेः सिचि, इडादिकौ इडागमे कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे कृते अडागमे च 'अस्तम्भीत्' इति सिद्ध्यति । प्वादीनां ह्रस्व इति । 'ष्ठिवुक्लमुचमाम्' इत्यतः शितीत्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—शिति परे इति । पुनाति । पवनार्थकञकारेत्संज्ञक पू इत्यस्माद्धातोर्लटि, तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तमपवाद्य श्नाप्रत्यये शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते, 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'पुनाति' इति सिद्ध्यति । स्तीर्षीष्ट । 'स्तॄ' इत्यस्माद्धातोर्विधिलिङि, लः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये सीयुडागमे टटावित्तौ 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुडागमे उटावित्तौ 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इति विकल्पेनेडागमे गुणे 'वॄतो वा' इति वा दीर्घे प्राप्ते 'न लिङि' इति निषेधे द्वयोः सकारयोः षत्वे ष्टुत्वे च विहिते 'स्तरिषीष्ट' इति । इडभावे—'ॠत इद्धातोः' इतीत्वे 'हलि च' इति दीर्घे च कृते 'उश्च' इति कित्वाद् गुणाभावे 'स्ती-

---

जॄस्त—'जॄ' आदि धातुओंसे पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो, विकल्पसे ।
प्वादी—पूञादि धातुओंको ह्रस्व हो, 'शित्' प्रत्ययके परे ।

चकरे । वृञ् वरणे । वृणाति । वृणीते । ववार । ववरे । वरिता । वरीता । 'उदो-ष्ठ्य'त्युत्वम् । वूर्यात् । वरिषीष्ट । वूर्षीष्ट । अवारीत् । अवारिष्टाम् । अवरिष्ट । अवरीष्ट । अवूर्ष्ट । धूञ् कम्पने । धुनाति । धुनीते । दुधविथ । दुधोथ । दुधुविव । धोता । धविता । स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । ग्रह उपादाने । गृह्णाति । गृह्णीते । जग्राह । जगृहे । ग्रहोऽलिटि दीर्घः ।७।२।

षीष्ट' इति च सिद्ध्यति । वरीता । 'वृ' धातोर्लुटि ल स्थाने तिपि, तास् प्रत्यये, तिपो डादेशे, डित्वाट्टिलोपे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे 'वृतो वा' इति विकल्पेन दीर्घे 'वरीता' इति । दीर्घाभावे—'वरिता' इति । वूर्यात् । वृधातोराशीर्लिङि, तिपि, अनुबन्धलोपे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुडागमे उटाविति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे यासुटः ङित्वाद् गुणाभावे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे 'हलि च' इति दीर्घे च विहिते, 'वूर्यात्' इति सिद्ध्यति । अवारीत् । 'वृ' इत्यस्माद्धातोर्लुङि, लः स्थाने तिपि, इकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च कृतेऽडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लौ च्लेः सिजादेशे च कृते इकारविसौ तयोर्लोपे च सिच सकारस्य आर्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेन इडागमे तिप इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ सवर्णदीर्घे च कृते 'अवारीत्' इति । धुनाति । कम्पनार्थक 'धू' इत्यस्माद्धातोर्लटि लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां, शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्यये, शस्येत्संज्ञायां लोपे च, कृते 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'धुनाति' इति सिद्ध्यति । अधविष्ट । 'धू इत्यस्माद्धातोर्लुङि, आत्मनेपदे तप्रत्यये अडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्ले, सिजादेशे इकारविसौ तयोर्लोपे च, 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विकल्पेनेडागमे गुणे अवादेशे सस्य षत्वे ष्टुत्वे च कृते 'अधविष्ट' इति सिद्ध्यति । इडभावे तु—अधोष्ट इति । गृह्णाति । उपादानार्थक 'ग्रह' इत्यस्माद्धातोर्लटि, लटो ल स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकसंज्ञायां, शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा श्नाप्रत्यये, शस्येत्संज्ञायां लोपे च, जाते श्नाप्रत्ययस्य सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वात् 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे नस्य णत्वे च कृते 'गृह्णाति' इति रूप सिद्ध्यति । ग्रहोऽलिटि दीर्घ इति । ग्रह इति दिग्योगे पञ्चमी । 'आर्धधातुकस्येड्वला-दे' इत्यत इडित्यनुवृत्त षष्ठयन्त विपरिणम्यते । 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इत्यत

ग्रहोऽलिटि—एकाच् 'ग्रह्' धातुसे विहित 'इट्' को दीर्घ हो, 'लिट्' में छोड़कर ।

२७। एकाचो ग्रहो विहितस्येटो दीर्घो, न तु लिटि। ग्रहीता। गृह्णातु। गृहाण। गृह्यात्। ग्रहीषीष्ट। 'ह्म्यन्ते'ति न वृद्धिः। अग्रहीत्। अग्रहीष्टाम्। अग्रहीष्ट। अग्रहीषाताम्। इत्युभयपदिनः।

अथ परस्मैपदिनः।

कुष निष्कर्षे। कुष्णाति। कोषिता। **निरः कुषः** ।७।२।४६। निरुपपदात् कुषो वलादेरार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात्। निष्कोषिता। निष्कोष्टा। निरकोषीत्। 'शल इगुपधा'दिति क्सः। निरकुक्षत्। **अश** भोजने। अश्नाति। आश। अशिता। अशिष्यति। अश्नातु। अशान। **ज्ञा** अवबोधने। 'ज्ञाजनोर्जा'इति जादेशः। जानाति। जज्ञौ। 'वाऽन्यस्ये'त्येत्वम्। ज्ञेयात्। ज्ञायात्। **पॄ** पालनपूरणयोः। पृणाति। शॄ

एकाच इति च तदाह—एकाच इत्यादि। ग्रहीता। ग्रहधातोर्लुटि, लः स्थाने तिपि, तास्प्रत्यये, तिपो डादेशे, डित्वाट्टिलोपे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इति इटो दीर्घे 'ग्रहीता' इति सिद्ध्यति। गृहाण। ग्रहधातोर्लोटि, मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, अनुबन्धलोपे 'सेर्ह्यपिच्च' इति ह्यादेशे 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्यये अनुबन्धलोपे ङित्वात्सार्वधातुकत्वे ङित्वे सम्प्रसारणे च कृते 'हलः श्नः शानज्झौ' इति शानआदेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च जाते नस्य णत्वे 'अतो हेः' इति हेर्लुकि च कृते 'गृहाण' इति सिद्ध्यति। अग्रहीत्। ग्रहधातोर्लुङि लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिजादेशे, इचावितौ तयोर्लोपे च कृते 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे तिपः इकारस्य लोपे तस्यापृक्तसंज्ञायाम्' 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमे, च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे सिज्लोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति प्राप्तायाः वृद्धेः 'नेटि' इत्यनेन निषेधे 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' इत्यनेन निषिद्धे 'अग्रहीत्' इति सिद्ध्यति।

निरःकुष इति। 'आर्धधातुकस्येड्वलादे' रित्यनुवर्तते। 'स्वरतिसूति' इत्यतो वेति च। तदाह—निरुपपदादिति। निष्कोषितेति। निर्पूर्वात्कुषधातोर्लुटि तिपि तासि 'लुटः प्रथमस्य' इति डादेशे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'निरः कुष' इति पाक्षिक इटि 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे निरो रस्य विसर्गे 'इदुदुपधस्य' इति विसर्गस्य षत्वे 'निष्कोषिता' इति रूपम्। यदा इडागमो न स्यात्तदा 'निष्कोष्-ता' इत्यवस्थायां ष्टुत्वे 'निष्कोष्टा' इति द्वितीयं रूपम्। निरकोषीत। निर्+अ+कुष्+स्+ई+त इत्यवस्थायां सिचः 'निरः कुषः' इति इडागमे 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णे

निरः—'निर्' उपसर्ग 'कुष्' धातुसे पर वलादि आर्धधातुकको 'इट्' का आगम

हिंसायाम् । शृणाति । 'शॄदॄप्रां ह्रस्वो वे'ति ह्रस्वपक्षे यण् । शश्रतुः । शशरतुः । दॄ विदारणे । दृणाति । दद्रतुः । ददरतुः । जॄ वयोहानौ । जृणाति । मुष स्तेये । मुष्णाति । मोषिता ॥ पुष पुष्टौ । पुष्णाति । पोषिता । बन्ध बन्धने । बध्नाति । बबन्ध । बबन्धिथ । बबन्द्ध । बन्द्धा । भन्त्स्यति । अभान्त्सीत् । अबान्धाम् । अभान्त्सुः । क्लिशू विबाधने । क्लिश्नाति । क्लेशिता । क्लेष्टा अक्लेशीत् । अक्लिक्षत् । इति परस्मैपदिनः ।

अथात्मनेपदिनः ।

वृङ् संभक्तौ । वृणीते । ववे । ववृषे । ववृढ्वे । वरिता । वरीता । अवरिष्ट । अवरीष्ट । अवृत ॥ इति क्रयादिः ॥

अथ चुरादिप्रकरणम्

चुर स्तेये । सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्ण-

दीर्घे 'पुगन्त' इति गुणे 'निरकोषीत्' इति रूपम् । 'निर कुष' अनेनेड्विकल्पविधाना यदा इडागमो न स्यात्तदा 'शल इगुपधा' इति क्स आदेशे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति कात्परस्य सकारस्य षत्वे उभयोः संयोगेन क्षत्वे 'निरकुक्षत्' इति रूपम् । इति क्र्यादयः ।

चुर स्तेय इति । रेफादकार उच्चारणार्थः, नत्वित्संज्ञकः, प्रयोजनाभावात् । सत्यापेति । सत्याप पाश रूप वीणा तूल श्लोक सेना लोमन् त्वच वर्मन् वर्ण चूर्ण चुरादय एभ्यो

हो, विकल्पसे । क्लिश्नाति—'वाव' इस सूत्रसे यहाँ इट्का निषेध होता है ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें क्र्यादि प्रकरण समाप्त हुआ ।

सत्याप—'सत्याप' आदि शब्दोंसे तथा चुरादि गणपठित धातुओंसे 'णिच्' प्रत्यय हो ।

और —इस सूत्रमें—सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच्, वर्मन्, वर्ण, चूर्ण, चुरादि—इन सबों का द्वन्द्वसमास समझना चाहिये । 'णिच्' के परे निम्न कार्य होते हैं —

(१) धातुके उपधा अकार और अन्त्य स्वरकी वृद्धि होती है तथा उपधा लघु स्वरको गुण हो जाता है । (२) पूर्ववर्ती (अदन्त धातुके) अकारका लोप हो जाता है ।

(३) 'कृत्' का 'कीर्त' और 'क्लृप' का 'कल्प' हो जाता है ।

चुर्णचुरादिभ्यो णिच् ।३।१।२५। एभ्यो णिच् स्यात् स्वार्थे। 'पुगन्ते'ति गुणः। 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वम्। तिप्शबादि। गुणायादेशौ। चोरयति। **णिचश्च १।३।७४।** णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले। चोरयते। चोरयामास। चोरयिता। चोर्यात्। चोरयिषीष्ट। 'णिश्री'ति चङ्। 'णौ चङी'ति ह्रस्वः। 'चङी'ति द्वित्वम्। 'हलादिः शेषः'। 'दीर्घो लघो' रित्यभ्यासस्य दीर्घः। अचू-

---

इन्दुमती—चुरादिभ्यो णिच् इति। चुरादिभ्यः इति पञ्चमी। तदाह—एभ्यो णिच् स्यादिति। चोरयति। चुरधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि प्राप्ते तं बाधित्वा 'सत्यापपाशरूपवीणा०' इति चुरादित्वात् स्वार्थे णिचि, णचयोरित्संज्ञायां लोपे च 'चुर् इ' इत्यत्र णिच इकारस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति चुर उपधाया गुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् धातुत्वाल्लटि अनुबन्धलोपे लः स्थाने तिपि पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'कर्तरि शप्' इति शपि शपयोरित्संज्ञायां लोपे च शित्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'चोरे अ ति' जाते 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे सिद्धि-र्वा 'चोरयति' इति रूपम्। णिचश्चेति। 'अनुदात्तङितः' इत्यत आत्मनेपदमिति 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इति चानुवर्तते। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया णिजन्तादिति लभ्यते। तदाह—णिजन्तादित्यादिना। चोरयामास चुर्धातोः स्वार्थे णिचि, धातुसंज्ञायाम् 'परोक्षे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' इत्यामि तस्य आर्धधातुकत्वे तत्परे चोरिधातोर्गुणे अयादेशे च कृते 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परासोऽनुप्रयोगे कृते 'चोरयाम् अस् लिट्' इति जाते लिटो लः स्थाने तिपि तिपो णलि द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये संयोगे च कृते तत्सिद्धिः। चोरयिषीष्ट। चोरीति पूर्ववत्प्रसाध्य तस्य धातुत्वात् आशिषि लिङि आत्मनेपदे ते आर्धधातुकत्वे सीयुटि उटि गते टित्वादाद्यावयवे 'चोरि सी त' इति भूते तस्य सुडागमे सीयुट इडागमे प्रकृतेर्गुणे अयादेशे सीयुटस्तस्य षत्वे तस्य ष्टुत्वे च रूपम्। अचूचुरत्। चोरीति पूर्ववत्प्रसाध्य तस्य धातुत्वात् लुङस्तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे तस्य सार्वधातुकत्वे शपं बाधित्वा च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेः चङि अनुबन्धलोपे 'णेर-निटि' इति णिलोपे स्थानिवद्भावेन 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति चोर उपधाया ह्रस्वे 'चुर् अ त्' इति जाते 'चङि' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् अभ्यासकार्ये च कृते 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासोकारस्य दीर्घे अङ्गस्य अडागमे च 'अचूचुरत्' इति। चिति स्मृत्याम्। इदित्वान्नुमि णिचि

णिचश्च—णिजन्तसे आत्मनेपद हो, कर्तृगामी क्रियाफल में।

चुरत्। चिति स्मृत्याम्। चिन्तयति। अचिचिन्तत्। 'चिन्ते'ति पठितव्ये इदित्करणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम्। तेन 'चिन्त्यादि'त्यादौ नलोपो न। चिन्तति। चिन्तेदित्यादि। यत्रि सङ्कोचे। यन्त्रयति। 'यन्त्रे'ति पठितुं शक्यम्। यत्तु 'इदित्करणादयन्त्रीत्'ति माधवेनोक्तं तच्चिन्त्यम्। एवं—कुद्रि अनृतभाषणे। तत्रि कुटुम्बधारणे। मत्रि गुप्तपरिभाषणे। तन्त्रयते। मन्त्रयते। (एतौ आत्मनेपदिनौ)। स्फुडि परिहासे। स्फुण्डयति। पीड अवगाहने। भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडा

तस्मात् 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'चिन्तयति' इत्यस्य निष्पत्तिः। 'णिचश्च' इति कर्तृगामिनि फले तु 'चिन्तयते' इति प्रयोगसिद्धिः। अचिचिन्तत्। चिति धातोर्लुङि णिचि लुङि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' इति चङि 'चिन्ति' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादि-शेषादौ, अडागमे 'अ-चि+चिन्त+अ+त्' इति भूते 'अचिचिन्तत्' इति रूपं सम्भवति। 'णिचश्च' इति कर्तृगामिनि फले तु 'अचिचिन्तत' इत्येव रूपं ज्ञेयम्। अवशिष्टरूपाणि—चिन्तयामास-मासे-बभूव-चिचिन्त। चिन्तिता-चिन्तयिता। चिन्तयिष्यति—चिन्तिष्यति। चिन्तयतु। अचिन्तयत्। चिन्तयेत्। चिन्त्यात्—अचिन्तिष्यत्-अचिन्तयिष्यत्। इति बोध्यानि। 'चिन्ते'ति पठितव्ये। चिति इति इदित्करणं मास्तु प्रक्रियालाघवात् 'चिन्त' इत्यस्यैव उचितत्वात्। न च नलोपार्थं तस्यावश्यकता। णौ हित्वकित्वयोरभावेन तस्या अप्रवृत्तेः। नापि आशीर्लिङि तत्प्राप्तिः चुरादिणिचो नित्यत्वेन 'आयादय' इत्यस्याभावे लोपस्याप्राप्तत्वादिति भावः। एवं चेदित्करणं व्यर्थं सत् इदितो णिचः पाक्षिकत्वं ज्ञापयति। इति वाक्यान्तरकल्पनया तन्त्रति-मन्त्रति-प्रयोगाणां सिद्धिः सम्भवति। यत्रि=सङ्कोचे। यन्त्रयति—यन्त्रति। यन्त्रयामास-ययन्त्र। यन्त्रयिता-यन्त्रिता। यन्त्रयिष्यति-यन्त्रिष्यति। यन्त्रयतु-यन्त्रतु-अयन्त्रयत्-अयन्त्रत्। यन्त्रयेत्-यन्त्रेत्-यन्त्र्यात्। अययन्त्रत्। अयन्त्रीत्। अयन्त्रयिष्यत्-अयन्त्रिष्यत्। कुद्रि=अनृतभाषणे। कुन्द्रयति। कुन्द्रति। कुन्द्रयामास। चुकुन्द्र। कुन्द्रयिता। कुन्द्रिता। कुन्द्रयिष्यति। कुन्द्रिष्यति। कुन्द्रयतु। कुन्द्रतु। अकुन्द्रयत्-अकुन्द्रत्। कुन्द्रयेत्-कुन्द्रेत्-कुन्द्र्यात्-अचुकुन्द्रत्। अकुन्द्रीत्। अकुन्द्रयिष्यत्-अकुन्द्रिष्यत्। तत्रि=कुटुम्बधारणे। मत्रि=गुप्तपरिभाषणे। तन्त्रयते-मन्त्रयते। तन्त्रयामासे-मन्त्रयाम्बभूवे। मन्त्रयाञ्चक्रे। तन्त्रयिता-मन्त्रयिता। तन्त्रयिष्यते-मन्त्रयिष्यते। तन्त्रयताम्-मन्त्रयताम्। अतन्त्रयत-अमन्त्रयत। तन्त्रयेत-मन्त्रयेत। तन्त्रयिषीष्ट-मन्त्रयिषीष्ट। अततन्त्रत-अममन्त्रत। अतन्त्रयिष्यत-अमन्त्रयिष्यत। स्फुडि=परिहासे। स्फुण्डयति-स्फुण्डति। स्फुण्डयामास-पुस्फुण्ड-स्फुण्डयिता-स्फुण्डिता। स्फुण्डयि-

भ्राज—भ्राजादि धातुओंकी उपधाको ह्रस्व हो, चङ्परक 'णि' के परे, विकल्पसे।

मन्यतरस्याम् ।७।४।३। एषामुपधाया ह्रस्वो वा, चङ्परे णौ । अपीपिडत् । अपिपीडत् । प्रथ प्रख्याने । प्रथयति । अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम् ।७।४।९५। एषामभ्यासस्याकारश्चङ्परे णौ । इत्वापवादः । अपप्रथत् । पृथ प्रक्षेपे । पर्थयति । उर्ऋत् ।७।४।७। उपधाया ऋवर्णस्य ऋद्वा, चङ्परे णौ । इररारामप-

---

ष्यति-स्फुण्डिष्यति । स्फुण्डयतु = स्फुण्डतु । अस्फुण्डयत्-अस्फुण्डत् । स्फुण्डयेत्-स्फुण्डेत् । स्फुण्ड्यात् । अपुस्फुण्डत्-अस्फुण्डीत् । अस्फुण्डयिष्यत्-अस्फुण्डिष्यत् । पीड = अवगाहे । पीडयति । पीडयांचकार । पीडयिता-पीडयिष्यति । पीडयतु । अपीडयत् । पीडयेत् । पीड्यात् । भ्राजभासेति । 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्यनुवर्तते । नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अपिपीडदिति । पीडधातोश्चुरादित्वाण्णिचि सनाद्यन्ताधातुसंज्ञायां लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ सिचं बाधित्वा 'णिश्रि' इति चङि 'पीड्-इ-अ-त्' इति स्थिते 'भ्राजभास' इति ह्रस्वे 'णेरनिटि' इतीलोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वोऽभ्यासे हलादिः शेषे ह्रस्वे 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अपीपिडत्' इत्येकं रूपम् । असति 'भ्राजभास' इत्युपधाह्रस्वे, लघुत्वाभावेन सन्वद्भावाभावे दीर्घाप्राप्तौ 'अपिपीडत्' इत्येव द्वितीयं रूपम् । अपीडयिष्यत् । प्रथ = प्रख्याने । प्रथयति । प्रथयामास । प्रथयिता । प्रथयिष्यति । प्रथयतु । अप्रथयत् । प्रथयेत् । प्रथ्यात् । 'अत्स्मृदृत्वरेति' । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतस्तदनुवृत्तेरत आह-अभ्यासस्येति । 'सन्वल्लघुनि' इत्यतश्चङ् परे इति चानुवर्तते । इत्वस्यापवादः । अपप्रथदिति । प्रथधातोर्णिचि सनाद्यन्ताद्धातुत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे च्लौ 'णिश्रि' इति चङि 'चङि' इति द्वित्वे 'णेरनिटि' णिलोपे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वेऽस्य लघुत्वात् 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे सति 'सन्यतः' इतीत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा अत्स्मृदृत्वरेति अभ्यासात्वादेशेऽङ्गस्याडागमे 'अपप्रथत्' इति रूपं भवति । अप्रथयिष्यत् । पृथ = प्रक्षेपे । पर्थयति-पर्थयामास । पर्थयिता-पर्थयिष्यति-पर्थयतु-अपर्थयत्-पर्थयेत्-पृथ्यात् । उर्ऋदिति । उरिति ऋशब्दस्य षष्ठ्यन्तं रूपम् । 'णौ चङि' इत्यनुवर्तते 'जिघ्रतेर्वा' इत्यतो वेति च । अपीपृथदिति । पृथधातोर्णिचि धातुत्वे लुङि तिपि च्लौ 'णिश्रि' इति चङि इलोपे णिचमाश्रित्य गुणे प्राप्ते तं बाधित्वा 'उर्ऋत्' इति ऋकारादेशेन गुणाभावे 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिः शेषत्वेऽङ्गस्याडागमे लघुत्वात् 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे 'सन्यतः' इति इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अपीपृथत्' इति प्रथमं रूपम् । यदा तु णिचमाश्रित्य प्रत्ययलोपमाश्रित्य लघूपधगुणे सति रेफविशिष्टथकारपरकत्वे-

---

अत्स्मृ—'स्मृ' आदि धातुओंके अभ्यासको अकारान्त आदेश हो, चङ्परक 'णि' के परे । उर्ऋत्—उपधा ऋवर्णको 'ऋत्' आदेश हो, चङ्परक 'णि' के परे, विकल्पसे ।

थः । अपीपृथत् । अपपर्थत् । लुण्ठ स्तेये । लुण्ठयति । अलुलुण्ठत् । तड आघाते । ताडयति । अतीतडत् । मडि भूषायां, हर्षे च । मण्डयति । अममण्डत् । भडि कल्याणे । भण्डयति । अबभण्डत् । छर्द वमने । छर्दयति । अचच्छर्दत् । चुद संचोदने । चोदयति । अचूचुदत् । पाल रक्षणे । पालयति । अपीपलत् । पूज पूजायाम् । पूजयति । अपूपुजत् । कॄत संशब्दने । उपधायाश्च ।७।१।१०१। धातोरुपधाया ॠत इत् । रपरत्वम् । 'उपधायां चे'ति दीर्घः । कीर्तयति । अचीकृतत् । अचिकीर्तत् । म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि । म्लेच्छयति । अमिम्लेच्छत् । ईड

त्वं परिहायाकारस्य लघुत्वेन सन्वद्भावाभावात् इत्वाद्यभावे 'अपपर्थत्' इति द्वितीयं रूपं भवति । अपर्थयिष्यत् । लुण्ठ = स्तेये । लुण्ठयति । लुण्ठयामास । लुण्ठयिता । लुण्ठयिष्यति । लुण्ठयतु । अलुण्ठयत् । लुण्ठयेत् । लुण्ठ्यात् । अलुलुण्ठत् । अलुण्ठयिष्यत् । तड = आघाते । ताडयति । अत्र णिचि णित्त्वेन 'अत उपधायाः' इति वृद्धिर्विशेषः । ताडयामास । ताडयिता । ताडयिष्यति । ताडयतु । अताडयत् । ताडयेत् । ताड्यात् । अतीतडत् । अताडयिष्यत् । मडि = भूषायां हर्षे च । इदित्वान्नुमि मण्डयति—मण्डति—मण्डयामास-ममण्ड—मण्डयिता-मण्डिता । मण्डयिष्यति-मण्डिष्यति । मण्डयतु—मण्डतु । अमण्डयत् । अमण्डत्—मण्डयेत्—मण्डेत् । मण्ड्यात् । अममण्डत् । अमण्डीत् । अमण्डयिष्यत् । अमण्डिष्यत् । भडि = कल्याणे । भण्डयति-भण्डति । भण्डयामास—बभण्ड-भण्डयिता-भण्डिता—भण्डयिष्यति-भण्डिष्यति । भण्डयतु-भण्डतु । अभण्डयत्-अभण्डत्-भण्डयेत्-भण्डेत् । भण्ड्यात् । अबभण्डत् । अभण्डीत् । अभण्डयिष्यत्-अभण्डिष्यत् । छर्द = वमने । छर्दयति-छर्दयामास-छर्दयिता-छर्दयिष्यति । छर्दयतु । अच्छर्दयत् । छर्दयेत्-छर्द्यात्-अचच्छर्दत् । अच्छर्दयिष्यत् । चुद = संचोदने । 'पुगन्त' इति गुणे चोदयति-चोदयामास-चोदयिता-चोदयिष्यति-चोदयतु-अचोदयत् चोदयेत्-चोद्यात् । अचूचुदत् । अचोदयिष्यत् । पूज-पूजायाम् । पूजयति । पूजयामास । पूजयिता । पूजयिष्यति । पूजयतु । अपूजयत् । पूजयेत् । पूज्यात् । अपूपुजत् 'अत्र' 'भ्राजभास' इति ह्रस्वः । अपूजयिष्यत् । उपधायाश्चेति । धातोरित्यधिकाराल्लभ्यते इत्यादेश इत्यर्थः । कीर्तयति । कॄतधातोर्णिचि 'उपधायाश्च' इतीत्वे रपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घे णिचि सति गुणेऽयादेशे 'कीर्तयति' इति रूपम् । कीर्तयाञ्चकार । कीर्तयिता । कीर्तयिष्यति । कीर्तयतु । अकीर्तयत् । कीर्तयेत् । कीर्त्यात् । अचीकृतत् । अचिकीर्तत्-अत्र विकल्पेन 'उर्ऋत्' इति ऋकारादेशे सति प्रथमं रूपम् । तदभावे च 'उपधायाश्च' इति विहितेत्वविशिष्टं द्वितीयं रूपमवसेयम् । अकीर्तयिष्यत् । म्लेच्छ = अव्यक्तायां वाचि । म्लेच्छयति ।

उपधा—उपधाभूत धातुसम्बन्धी दीर्घ ऋकारको 'इत' हो ।

स्तुतौ । ईडयति । ऐडिडत् । पिडि सङ्घाते । पिण्डयति ॥ रुप रोपे । रोपयति । अरूरुपत् । तुल उन्माने । तोलयति । अतूतुलत् ॥ शुल्ब माने । शुल्बयति । अशुशुल्बत् । घुषिर् विशब्दने । घोषयति । अजूघुषत् । **पट पुट लुट तुजि मिजि पिजि लुजि भजि लघि त्रसि पिसि कुसि दसि कुशि घट घटि बृहि बर्ह बल्ह गुप धूप विच्छ चीव पुथ लोकृ लोचृ णद कुप तर्क वृतु वृधु** भाषार्थाः । पाटयति । पोटयति । लोटयति । तुञ्जयति । एवं परेषाम् । घाटयति । घण्टयति । **नाग्लोपिशास्वृदिताम्** ।७।४।२। णिच्यग्लोपिनः, शास्तेर्ऋदितां चोप-

---

म्लेच्छयाञ्चकार । म्लेच्छयिता । म्लेच्छयिष्यति । म्लेच्छयतु । अम्लेच्छयत् । म्लेच्छयेत् । म्लेच्छ्यात् । अमिम्लेच्छत्, संयोगपरत्वेन गुरुत्वात् न सन्वद्भावः । अम्लेच्छयिष्यत् । ईड=स्तुतौ । ईडयति । ईडयाञ्चकार । ईडयिता । ईडयिष्यति । ईडयतु । ऐडयत् । ईडयेत् । ईड्यात् । ऐडिडत् । ऐडयिष्यत् । पिडि=संघाते । पिण्डयति । पिण्डति । पिण्डयांचकार-पिपिण्ड । पिण्डयिता-पिण्डिता । पिण्डयिष्यति-पिण्डिष्यति । पिण्डयतु-पिण्डतु । अपिण्डयत्-अपिण्डत् । पिण्डेत्-पिण्डयेत् । पिण्ड्यात् । अपिपिण्डत्-अपिण्डीत् । रुप=रोपे । रोपयति । रोपयांचकार । रोपयिता । रोपयिष्यति । रोपयतु । अरोपयत् । रोपयेत् । रुप्यात् । अरूरुपत् । अरोपयिष्यत् । तुल-उन्माने । तोलयति । तोलयांचकार । तोलयिता । तोलयिष्यति । तोलयतु । अतोलयत् । तोलयेत् । तुल्यात् । अतूतुलत् । अतोलयिष्यत् । शुल्ब=माने । शुल्बयति-शुल्बयाञ्चकार । शुल्बयिता शुल्बयिष्यति । शुल्बयतु । अशुल्बयत्-शुल्बयेत् । शुल्ब्यात् । अशुशुल्बत् । अशुल्बयिष्यत् । घुषिर्=विशब्दने । घोषयति । घोषयांचकार । घोषयिता । घोषयिष्यति । घोषयतु । अघोषयत् । घोषयेत् । घुष्यात् । अजूघुषत् । अघोषयिष्यत् । पट=पाटयति । पुट=पोटयति । लुट=लोटयति । तुजि=तुञ्जयति । तुञ्जति । मिजि=मिञ्जयति-मिञ्जति । पिजि=पिञ्जयति-पिञ्जति । लुजि=लुञ्जयति-लुञ्जति । भजि=भञ्जयति-भञ्जति । लघि=लङ्घयति-लङ्घति । त्रसि=त्रंसयति । त्रंसति । पिसि=पिंसयति । पिंसति । कुसि=कुंसयति-कुंसति । दसि=दंसयति-दंसति । कुशि=कुंशयति-कुंशति । घट=घाटयति । घटि=घण्टयति-घण्टति । बृहि=बृंहयति । बृंहति । बर्हयति । बल्ह=बल्हयति । गुप-गोपयति । धूप-धूपयति । विच्छ=विच्छयति । चीव-चीवयति । पुथ=पोथयति । लोकृ=लोकयति । लोचृ-लोचयति । णद-नादयति । कुप=कोपयति । तर्क=तर्कयति । वृतु=वर्तति । वर्तयति । वृधु=वर्धति । वर्धयति । एवं लिडादिषु पूर्ववदूह्यम् । नाग्लोपीति । 'णौ चङ्युपधायाः' इत्यनुवर्तते । आदित्याद्वर्तते । । एवमग्लोपिन इत्य-

---

नाग्लो—'णिच्' परक अग्लोपी धातु और शास् तथा ऋदित् धातुकी उपधाको ह्रस्व नहीं

धाया ह्रस्वो न, चङ्परे णौ। अलुलोकत्। अलुलोचत्। वर्त्तयति। वर्द्धयति। आ धृषाद्वा (ग०)। इत ऊर्ध्वं विभाषितणिचो, धृषधातुमभिव्याप्य। युज पृच संयमने। योजयति। योजति। अयौक्षीत्। पर्चयति। पर्चति। पर्चिता। अपर्चीत्। अर्च पूजायाम्। अर्चयति। षह मर्षणे। साहयति। स एवाय नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्॥ वृञ् आवरणे। वारयति। वारयते। वरति। वरते। जॄ वयो-

---

आन्वेति। द्वितीये तु निषेधे परनिमित्तम्। तदाह णिच्येति। अलुलोकत्-अलुलोचत्। अत्र लोकृलोचृधात्वोः परतः णिचि चङि सति उपधाया ऋदित्त्वात् 'उरृत्' इति उपधा ह्रस्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'नाग्लोपि' इति निषेधे लघूपधाभावात्सन्वद्भावाभावे सति दीर्घाभावे प्रोक्ते रूपे भवतः। विभाषितणिचमाह-इत इति। युज-पृच संयमने। योजयति-योजति। पर्चयति पर्चति। योजयाञ्चकार युयोज पर्चयाञ्चकार पपर्च। योजयिता योजिता पर्चयिता पर्चिता। योजयिष्यति योजिष्यति। पर्चयिष्यति पर्चिष्यति। योजयतु-योजतु-पर्चयतु-पर्चतु। अयोजयत्-अयोजत्। अपर्चयत् अपर्चत् योजयेत् योजेत्-पर्चयेत्-पर्चेत् युज्यात् पृच्यात्। अयूयुजत् अयौक्षीत्-अपीपृचत् अपिपर्चत् अपर्चीत्। अयोजयिष्यत्-अयोजिष्यत्-अपर्चयिष्यत्-अपर्चिष्यत्। अर्च=पूजायाम्। अर्चयति-अर्चति। अर्चयामास-आनर्च। अर्चयिता-अर्चिता। अर्चयिष्यति—अर्चिष्यति। अर्चयतु-अर्चतु। आर्चयत्-आर्चत्। अर्चयेत्-अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चिचत्। आर्चीत्। आर्चयिष्यत्=आर्चिष्यत्। षह=मर्षणे। साहयति-सहति। अस्य धातोः विभाषितणिच्त्वम् उदाहरणेन समर्थयति 'स एवाय नागः सहति कलभेभ्यः परिभव'मित्यादिना अत्र 'सहति' इति णिज्रहितं षहधातोरेव रूपमन्यथा तद्रूपलाभेनानुपपत्तेः। साहयाञ्चकार-ससाह। साहयिता सहिता-साहयिष्यति-सहिष्यति-साहयतु-सहतु-असाहयत्-असहत्-साहयेत्—सहेत्-सह्यात्-असीषहत्-असहीत्-असाहीत्-असाहयिष्यत् असहिष्यत्। वृञ्=आवरणे। वारयति वरति वरते। वारयामास-ववार। ववरे। वारयिता-वरिता-वरीता। वरिष्यति वरीष्यति-वारयिष्यति-वरिष्यते। वरीष्यते। वारयतु-वरतु-वरताम्। अवारयत्-अवरत्-अवरत। वारयेत्-वरेत्-वरेत। वर्यात् वरिषीष्ट-वरीषीष्ट। अवीवरत्-अवारीत्-अवरिष्ट-अवरीष्ट। अवारयिष्यत्-अवरिष्यत् अवरीष्यत् अवरिष्यत अवरीष्यत। जॄ वयोहानौ। जारयति जरति। जारयामास-जजार-जारयिता जरिता जारयिष्यति-जरिष्यति जारयतु-जरतु। अजारयत्-अजरत्। जारयेत् जरेत्। जॄयात्। अजीजरत्-अजारीत्। अजारयिष्यत् अजरि

हो, चङ्परक 'णि' के परे। आधृषाद्वा—'युज-पृच संयमने' से लेकर 'धृष प्रहसने' धातु पर्यन्त सभी धातुओं से णिच् विकल्प से हो।

हानौ। जारयति। जरति। **शिष** असर्वोपयोगे। शेषयति। शेषति। शेष्टा। अशिक्षत्। **तप** दाहे। तापयति। तपति। तप्ता। **तृप** तृप्तौ। तर्पयति। तर्पति। **हिंसि** हिंसायाम्। हिंसयति। हिंसति। **अर्ह** पूजायाम्। आर्हयति। **छद** अपवारणे। छादयति। छदति। छदते। **धूञ्** कम्पने। (धूञ्प्रीञोर्नुक्) णौ। धूनयति। धवति। धवते केचित्तु 'धूञ्प्रीणो' रिति पठित्वा प्रीणातिसाहचर्याद् धूनातेरेव नुकमाहुः। धावयति। अयं स्वादौ, क्र्यादौ, तुदादौ च। स्वादौ—ह्रस्वश्च। तथा च कविरहस्ये—

> 'धूनोति चम्पकवनानि, धुनोत्यशोकं,
> चूतं धुनाति, धुवति स्फुटितातिमुक्तम्।

ष्यत्। शिष=असर्वोपयोगे। शेषयति-शेषति। शेषयांचकार-शिशेष-शेषयिता-शेष्टा। शेषयिष्यति-शेक्ष्यति। शेषयतु-शेषतु। अशेषयत्-अशेषत्। शेषयेत्-शेषेत्। शिष्यात्। अशिशेषत्-अशिक्षत्। अशेषयिष्यत्-अशेक्ष्यत्। तप=दाहे-तृप=तृप्तौ। तापयति-तपति-तर्पयति-तर्पति। तापयांचकार-तताप-तर्पयांचकार-ततर्प। तापयिता-तप्ता-तर्पयिता-तर्पिता-त्रप्ता-तर्प्ता। तापयिष्यति। तप्स्यति-तर्पयिष्यति-तर्पिष्यति-त्रप्स्यति-तर्प्स्यति। तापयतु तपतु-तर्पयतु-तर्पतु। अतापयत्-अतपत्-अतर्पयत्-अतर्पत्। तापयेत् तर्पयेत् तपेत्-तर्पेत्। तप्यात् तृप्यात्। अतीतपत्। अताप्सीत्-अतप्सीत्। अतीतृपत्-अततर्पत्-अतार्प्सीत् अत्राप्सीत्-अतृपत् अतापयिष्यत्-अतप्स्यत्-अतर्पयिष्यत्-अतर्पिष्यत्-अत्रप्स्यत्-अतर्प्स्यत्। हिसि=हिंसायाम्-हिंसयति-हिंसति। हिंसयांचकार- जिहिंस। हिंसयिता-हिंसिता-हिंसयिष्यति-हिंसिष्यति। हिंसयतु हिंसतु। अहिंसत्। अहिंसयत्। हिंसयेत्-हिंसेत्। हिंस्यात्। अजिहिंसत्-अहिंसीत्। अहिंसयिष्यत्। अहिंसिष्यत्। अर्ह=पूजायाम्। अर्हयति-अर्हति। अर्हयामास-आनर्ह। अर्हयिता-अर्हिता। अर्हयिष्यति-अर्हिष्यति-अर्हयतु-अर्हतु-आर्हयत्-आर्हत्-अर्हयेत्-अर्हेत्-अर्ह्यात्। आर्जिहत्-आर्हीत्। अर्हयिष्यत्। आर्हिष्यत्। छद=अपवारणे। छादयति-छदति-छदते। छादयामास-चच्छाद-चच्छदे। छादयिता-छदिता। छादयिष्यति-छदिष्यति-छदिष्यते। छादयतु-छदतु-छदताम्। अच्छादयत्-अच्छदत्-अच्छदत छादयेत् छदेत् छदेत। छद्यात्-छदिषीष्ट। अचीछदत्। अच्छादीत्-अच्छदीत्-अच्छदिष्ट। अच्छादयिष्यत्-अच्छदिष्यत्-अच्छदिष्यत। धूञ्=कम्पने। 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' वार्तिकमेतत् णिचि सत्येव नुक्साहचर्यनियमादिति भावः। धूनयति। धूधातोर्णिचि नुकि धातुत्वे लटि शपि गुणेऽयादेशे 'धूनयती'ति।

धूञ्—'धूञ्' और 'प्रीञ्' धातुको 'नुक्' का आगम हो, 'णिच्'के परे।

वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्,
यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च' ॥

प्रीञ् तर्पणे । प्रीणयति । प्रीणयते । प्रयति । प्रयते । वच परिभाषणे । वाचयति । वचति । वक्ता । अवाक्षीत् । मान पूजायाम् । मानयति । मानति । मानिता । भू प्राप्तौ । आत्मनेपदी । भावयते । भवते । णिच्सन्नियोगेनैवात्मनेपदमित्येके । भवति । मार्ग अन्वेषणे । धृष प्रसहने । धर्षयति । धर्षति ।

अथादन्ताः ।

कथ वाक्यप्रबन्धे । अल्लोपः । अचः परस्मिन्पूर्वविधौ ।१।१।५७। परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात्, स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इति स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः । कथयति । अग्लोपित्वाद्दीर्घसन्वद्भावौ न । अचकथत् ।

मान=पूजायाम् । मानयति-मानति । मानयाञ्चकार-ममान । मानयिता-मानिता । मानयिष्यति-मानिष्यति । मानयतु-मानतु । अमानयत्-अमानत् । मानयेत्-मानेत् । मान्यात् । अमीमनत् । अमानीत् । अमानयिष्यत्-अमानिष्यत् । भू=प्राप्तौ । भावयते-भवते । भावयाञ्चक्रे-बभूवे । भावयिता-भविता । भावयिष्यते-भविष्यते भावयताम्-भवताम् । अभावयत-अभवत । भावयेत-भवेत । भावयिषीष्ट-भविषीष्ट । अबीभवत । अभविष्ट । अभावयिष्यत-अभविष्यत । यदा णिच्सन्नियोगे आत्मनेपदं तदा—भवति । बभूव । भविता । भविष्यति । भवतु । अभवत् । भवेत् । भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् । मार्ग=अन्वेषणे । मार्गयति-मार्गति । मार्गयामास-ममार्ग । मार्गयिता । मार्गिता । मार्गयिष्यति-मार्गिष्यति । मार्गयतु-मार्गतु । अमार्गयत् । अमार्गत् । मार्गयेत्-मार्गेत् । मार्ग्यात् । अममार्गत्-अमार्गीत् । अमार्गयिष्यत्-अमार्गिष्यत् । धृष=प्रसहने । धर्षयति-धर्षति । धर्षयामास-दधर्ष । धर्षयिता-धर्षिता । धर्षयिष्यति-धर्षिष्यति । धर्षयतु-धर्षतु । अधर्षयत्-अधर्षत् । धर्षयेत्-धर्षेत् । धृष्यात् । अदीधृषत्-अदधर्षत्-अधर्षीत् । अधर्षयिष्यत्-अधर्षिष्यत् ।

कथयति । कथ इत्यकारान्तादस्माण्णिचि अनुबन्धलोपे 'अतो लोपः' इति थकारोत्तरवर्तिन अकारस्य लोपे कृते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् तदभावे जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् लटि, ल' स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां गुणे अयादेशे च कृते 'कथयति' इति रूपम् । अचकथत् । कथ इत्यकारान्तधातोर्णिचि अल्लोपे

अचः—परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् हो, स्थानीभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्टको यदि विधि (कार्य) कर्तव्य हो ।

गण संख्याने । गणयति । **ई च गणः** ।७।४।९७। गणेरभ्यासस्य ईत्स्यात्, चादत्, चङ्परे णौ । अजीगणत् । अजगणत् । **रच** प्रतियत्ने । रचयति । अररचत् । **कल** गतौ, संख्याने च । कलयति । अचकलत् । **मह** पूजायाम् । महयति । **सूच** पैशुन्ये । सूचयति । अषोपदेशत्वान्न षः । असुसूचत् । **कुमार** क्रीडायाम् । कुमारयति । अचुकुमारत् । **ऊन** परिहाणे । ऊनयति । 'ओः पुयण्जी'ति सूत्रे 'पययो'रिति वक्तव्ये वर्ग-प्रत्याहारजग्रहो लिङ्गं—'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' इति । यत्र द्विरुक्तावभ्यासोत्तरखण्डस्याद्योऽच् प्रक्रियायां, परिनिष्ठितरूपे वा अवर्णो लभ्यते तत्रैवायं निषेधः, ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वात् । तेनाचिकीर्त्तदित्यादि सिद्धम् । प्रकृते तु 'न' शब्दस्य द्वित्वम् । तन उत्तरखण्डे अल्लोपः । औननत् ।

तस्य स्थानिवद्भावात् वृद्ध्यभावे धातुत्वाल्लुङस्तिप इलोपे अटि च्लेः स्थाने 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' इति चङि द्वित्वे अभ्यासत्वेऽभ्यासकार्यं चुत्वे च कृते 'अ च कथ् अ त्' इति भूते अत्र थकारोत्तरवर्तिनः अकारस्य णिजिनिमित्तेन लोपित्वात् । 'सन्वल्लघुनि०' इति सन्वद्भावाभावेन 'सन्यतः' इतीत्वस्य 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घस्य चाप्राप्तौ 'अचकथत्' इति रूपम् । ई च गण इ'त । 'सन्वल्लघुनि' इत्यतः चङ्परे इति, 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येति चानुवर्तते । अजीगणदिति । गणधातोर्णिचि 'अल्लोपे तस्य स्थानिवत्त्वात् वृद्ध्यभावे लुङस्तिप इकारलोपेऽटि च्लेश्चङि द्वित्वे अभ्यासत्वे इत्वादेः सैवे चुत्वे अल्लोपित्वाद्दीर्घसन्वद्भावयोरभावे 'ई च गणः' इति ईत्वे 'अजीगणत्' इति रूपम् । पक्षे 'अजगणत्' इति । औननदिति । ऊनधातोर्णिचि लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्रि' इति चङि 'णेरनिटि' इति णिचो लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य 'चङि' इत्यनेन अकारविशिष्टस्य नकारस्य द्वित्वे 'ऊ-न-न-अ-त्' इति जाते अङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'औननत्' इति रूपम् । ननु अत्र द्वित्वात्पूर्वम् अल्लोपे कृते तदनु इकारविशिष्टस्य द्वित्वे सति 'औनिनत्' इति रूपं स्यात् । नच तथा कर्तव्ये 'द्विर्वचनेऽचि' इति निषेधप्रसङ्गः । अल्लोपनिमित्तस्य णिचो द्वित्वनिमित्तत्वाभावात् । इति चेन्न 'णिच्यजादेशो न द्वित्वे कार्ये इति' इति द्वित्वात्प्रागेवाजादेशनिषेधात् । न च 'णिच्यजादेश' इत्यप्रामाणिकम् । 'ओः पुयण्' इति सूत्रे 'ओः पययोः' इत्येव वक्तव्ये वर्गप्रत्याहारजकारग्रहणं णिच्यजादेशो नेति ज्ञापयति, इति ज्ञापकस्य प्रमाणत्वेन विद्यमानत्वात् । औनयिष्यत् । ध्वन = शब्दे । ध्वनयति । ध्वनयामास । ध्वनयिता । ध्वनयिष्यति । ध्वनयतु । अध्वनयत् । ध्वनयेत् । ध्वन्यात् । अदध्वनत् । अध्वनयिष्यत् । सूत्र = वेष्टने । सूत्रयति । सूत्रयांचकार । सूत्रयि-

---

ई च—'गण' धातुके अभ्यासको 'ईत्व' हो और चकारात्—'अत्' भी हो, चङ्परक 'णि' के परे ।

ध्वन शब्दे । ध्वनयति । अदध्वनत् । सूत्र वेष्टने । सूत्रयति । मूत्र प्रस्रवणे । मूत्रयति । अदन्तत्वसामर्थ्याण्णिजिवकल्पः । मूत्रति ।

आ गर्वादात्मनेपदिनः ।

पद गतौ । पदयते । अपपदत ॥ गृह ग्रहणे । गृहयते । मृग अन्वेषणे । मृगयते । शूर वीर विक्रान्तौ । शूरयते । वीरयते ॥ गर्व माने । गर्वयते ॥

इति चुरादिः ॥ १० ॥

अथ णिजन्तप्रक्रिया

स्वतन्त्रः कर्ता ।१।४।५४। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् । तत्प्रयोजको हेतुश्च ।१।४।५५। कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् ।

ता । सूत्रयिष्यति सूत्रयतु । असूत्रयत् । सूत्रयेत् । सूत्र्यात् । असुसूत्रत् । असूत्रयिष्यत् । मूत्र = प्रस्रवणे । मूत्रयति-मूत्रति । मूत्रयाचकार-मुमूत्र । मूत्रयिता—मूत्रिता । मूत्रयिष्यति—मूत्रिष्यति । मूत्रयतु मूत्रतु । अमूत्रयत् । अमूत्रत् । मूत्रयेत्—मूत्रेत् । मूत्र्यात् । अमुमूत्रत्—अमूत्रीत् । अमूत्रयिष्यत्-अमूत्रिष्यत् । पद=गतौ । पदयते—पदयांचक्रे । पदयिता । पदयिष्यते । पदयताम् । अपदयत । पदयेत । पदयिषीष्ट । अपपदत । अपदयिष्यत । गृह=ग्रहणे । गृहयते । गृहयांचक्रे । गृहयिता । गृहयिष्यते । गृहयताम् । अगृहयत । गृहयेत । गृहयिषीष्ट । अजगृहत । अगृहयिष्यत । मृग=अन्वेषणे मृगयते । मृगयांचक्रे । मृगयिता । मृगयिष्यते । मृगयताम् । अमृगयत । मृगयेत । मृगयिषीष्ट । अमृगयिष्यत । शूर—वीर विक्रान्तौ । शूरयते-वीरयते । शूरयांचक्रे—वीरयांचक्रे । शूरयिता-वीरयिता । शूरयिष्यते—वीरयिष्यते । शूरयताम् । वीरयताम् । अशूरयत-अवीरयत । शूरयेत-वीरयेत । शूरयिषीष्ट-वीरयिषीष्ट । अशुशूरत-अविवीरत । अशूरयिष्यत-अवीरयिष्यत । इति चुरादिः ।

स्वतन्त्र कर्तेति । कारकाधिकारात् क्रियाजनने स्वातन्त्र्यमिह विवक्षितमित्याह—क्रियायामिति । 'स्वातन्त्र्यमिह प्राधान्यम्' इति भाष्ये स्पष्टम् । ननु 'स्थाली पचति' इत्यादौ कथं स्थाल्यादीनां कर्तृत्वम्, स्वातन्त्र्याभावादित्यत आह—विवक्षितोऽर्थ इति । 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति भाष्यादिति भावः । स्वातन्त्र्यञ्च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम । अथ 'हेतुमति च' इति णिज्विधिं वक्ष्यन् हेतुसंज्ञामाह—तत्प्रयोजको

अदन्तत्व—वस्तुतस्तु धातोरन्त उदात्तो णिच्याम् च फलम् बोध्यम् ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें चुरादिगण समाप्त हुआ ।

स्वतन्त्र —क्रियामें स्वातन्त्र्येण विवक्षित जो अर्थ वह कर्तृसंज्ञक हो । तत्प्रयो—कर्ताका

हेतुमति च ।३।१।२६। प्रयोजकव्यापारे प्रेरणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात् । भवन्तं प्रेरयति—भावयति । **ओः पुयण्ज्यपरे** ।७।४।८०। सनि परे यदङ्गं तदवयवाऽभ्यासोवर्णस्य इत्स्यात्पवर्गयण्जकारेष्ववर्णपरेषु परतः । अबीभवत् । अपीपवत् ।

हेतुश्चेति । 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति पूर्वसूत्रोपात्तः कर्ता तच्छब्देन परामृश्यते । तस्य कर्तुः, प्रयोजकः—प्रवर्तयिता तत्प्रयोजकः । तदाह—कर्तुः प्रयोजक इत्यादिना । हेतुमति चेति । 'सत्यापपाश' इत्यतो णिजित्यनुवर्तते । 'हेतुः—प्रयोजकः' आधारतया अस्यास्तीति हेतुमान् प्रयोजकनिष्ठः प्रेषणादिव्यापारः तस्मिन् वाच्ये णिच् स्यादित्यर्थः । 'धातोरेकाचो हलादेः' इत्यतो धातोरित्यनुवर्तते । तदाह—प्रयोजकव्यापार इति । भवन्तमिति । देवदत्तो यज्वा भवति । तं प्रेरयति याजक इत्याद्यर्थे भूधात्वर्थस्य भवनस्य मुख्यकर्ता यज्वा तस्य यज्वभवने प्रवर्तयिता याजकादिः प्रयोजकः, तन्निष्ठायां प्रेरणायां भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि वृद्धौ, आवादेशे च भावि इति णिजन्तम् । तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, तिपि शपि गुणे अयादेशे च 'भावयति' इति भवन्तं प्रेरयतीति फलितोऽर्थः । ओः पुयणिति । उ इत्यस्य ओः इति षष्ठी । पुयण्जि इति च्छेदः । पुश्च यण् च ज् च इति समाहारद्वन्द्वात्सप्तमी । अः परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । 'सन्यतः' इत्यस्मात्सनीत्यनुवर्तते । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यस्मादभ्यासस्येति 'भृञामित्' इत्यस्मादिदिति चानुवर्तते । तदाह—सनि परे इत्यादिना । अबीभवत् । भू इत्यस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् पूर्वं वृद्ध्यभावे 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वात्लुङ्स्तिप इलोपे अटि च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'अ भू अ त्' इति स्थिते 'द्वित्वे कार्ये णौ अच आदेशस्य निषेधाद्' वृद्ध्यावादेशाभ्यां प्रागेव भू इत्यस्य 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे अभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन भस्य बत्वे 'अ बु भू अ त्' इति जाते प्रत्ययलक्षणत्वात् वृद्धौ आवादेशे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति उपधाह्रस्वे 'अ बु भव् अ त्' इति भूते 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इत्यभ्यासोकारस्य इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे च 'अबीभवत्' इति रूपम् । कर्तृगामिनि क्रियाफले 'अबीभवत' इत्यात्मनेपदविशेषः । अपीपवदिति । पूञ् पवने धातोर्णिचि लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ चङि 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'चङि' इति द्वित्वेऽङ्गस्याडागमे ह्रस्वे णिचमाश्रित्य 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ आवादेशे 'णौ

प्रयोजक (प्रेरणा करनेवाला) 'हेतु'संज्ञक और 'कर्तृ'संज्ञक हो । हेतु—प्रयोजक का प्रेरणादि व्यापार वाच्य रहने पर धातुसे 'णिच्' प्रत्यय हो । ओः पु—'सन्' परक जो अंग, तदवयव जो अभ्यासावयव उकार, उसको इत् हो, अवर्णपरक पवर्ग, यण् और जकारके परे ।

'मूङ् बन्धने'। अमीमवत्। अयीयवत्। रु शब्दे। अरीरवत्। अलीलवत्। अजीजवत्। 'पुयण्जी'ति किम्? बुभावयिषति। अपरे किम्? बुभूषति। स्रवतिशृणोति द्रवति-प्रवति-प्लवति च्यवतीनां वा।७।४।८१। एषामभ्यासो-कारस्येत्त्वं वा स्यात् सनि अवर्णपरे यक्षरे परे। असिस्रवत्। असुस्रवत्। इत्यादि। अवर्णपरे किम्। शुश्रूषते। णिजन्ताण्णिच् परत्वाद् वृद्धौ प्राप्तायाम्-'यल्लोपादियङ्ल्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेने'ति णिलोपः। चोरयति। 'णौ चङी'ति ह्रस्वः। 'दीर्घो लघो'रिति दीर्घः। न चाग्लोपित्वाद् द्वयोर-

---

चङि' इति ह्रस्वे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इति उकारस्येत्वे 'दीर्घो लघोः इति दीर्घे 'अपीप वत्' इति रूपम्। अयीयवदिति। युञ्मिश्रणामिश्रणयोरस्माद्धातोर्हेतुमति णिचि लुङि तिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे च्लौ चङि 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'चङि' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इति अभ्यासस्येत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे प्रत्ययलोपमाश्रित्य णित्वेन वृद्ध्यावादेशौ 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति ह्रस्वेऽड-स्यागमे 'अयीयवत्' इति रूपम्। अरीरवदिति। रु शब्देऽस्माद्धातोर्हेतुमति णिचि सनाद्यन्तत्वाद् धातुत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ च्लेश्चङि 'चङि' इति द्वित्वेऽडागमे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इति उकारस्थाने इकारादेशे 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घत्वे णेर्लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्ध्यावादेशौ उपधाह्रस्वे 'अरीर-वत्' इति अलीलवत्। अजीजवत्। 'लु-लु-इ-अ-त्' इत्यवस्थायां तथा 'जु-जु-इ-अ-त्' इत्यवस्थायां 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य णित्वाद् वृद्धौ आवादेशे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इति अभ्यासस्येत्वे 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'णौ चङि' इति ह्रस्वे 'अलीलवत्, अजीजवत्' इति उभयोरपि सिद्धिः सफला। स्रवतिशृणोतीति। अपर इत्यनुवर्तते न तु पुयण्ज इति। पवर्गजकारयोरसंभवात्। स्रवत्यादौ यण् सत्त्वेऽपि व्यभिचारात्। असिस्रवदिति। स्रु=प्रस्रवणेऽस्मा-द्धातो णिचि लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्रि' इति च्लेश्चङि 'चङि' इति द्वित्वे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धौ 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'स्रवति शृणोति' इति पाक्षिकेऽभ्यासेत्वे 'असिस्रवत्' इति। यदाऽभ्यासेत्वं न स्यात्तदा असुस्रवत्। इति च स्पष्टमेवेति भावः। चोरयतीति। चुरधातो चुरादिभ्यो णिचि तस्य सना-द्यन्तत्वाद्धातुत्वे सति हेतुमति णिचि 'चुर्-इ-इ' अत्र 'णेरनिटि' इत्यनेन पूर्वणेर्लोपे प्राप्ते तं बाधित्वा 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ च परत्वात्प्राप्तायां 'यल्लोपादिति' वार्तिकेन वृद्धेः पूर्वं णिलोपविधानसामर्थ्यात् पूर्वणेर्लोपे धातुत्वे लटि तिपि शपि 'पुगन्त' इति गुणे तथा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे कृते 'चोरयति' इति

स्रवति—अवर्णपरक धातुओंके अभ्यास संबन्धी उकारको इत्व हो, उसके परे तथा अवर्णान्त

प्यसम्भवः, ण्याकृतिनिर्देशात्। अचूचुरत्। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः/१/ णौ च संश्चङोः।२।४।५१। सन्परे, चङ्परे च णौ श्वयतेः संप्रसारणं वा स्यात्। 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवद्' इति वचनात्सम्प्रसारणम्। पूर्वरूपम्। अशूशवत्। अलघुत्वान्न दीर्घः। अशिश्वयत्। स्तम्भुसिवुसहां चङि।८।३।११६। उपसर्गनिमित्तस्य एषां सस्य षो न स्याच्चङि। अवातस्तम्भत्। पर्यसीषिवत्। न्यसी-

रूपम्। अचूचुरदिति। 'चुर्-इ-इ' इत्यवस्थायां वृद्धिं बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन णेर्लोपे पुगन्तगुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्रि' इति चङि 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासकार्ये हलादिशेषत्वे 'सन्वत्' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अचूचुरत्' इति रूपं निष्पद्यते। न चात्र पूर्वणेर्लोपेनाग्लोपित्वात्सन्वद्भावो न स्यादिति वाच्यम्। णिसदृशाकृतिर्यस्य तस्मिन् परतः सन्वद्भावविधानात्। 'णौ च संश्चङोः'। 'विभाषा श्वेः' इति सूत्रमनुवर्तते। श्वङः संप्रसारणमिति। अशूशवदिति। श्विधातोः हेतुमति णिचि सनादित्वाद्धातुत्वे लुङि तिपि इलोपे वृद्धिं 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवद्' इति वार्तिकबलात् बाधित्वा 'णौ च संश्चङोः' इति पूर्वं संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'णेरनिटि' णेर्लोपे 'चङि' इति द्वित्वे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धावावादेशे ह्रस्वे लघुपरकत्वात्सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घेऽङ्गस्याडागमे 'अशूशवत्' इति रूपम्। यदा संप्रसारणं न स्यात् 'श्-वि-श्वि-अ-त्' इत्यवस्थायां हलादिशेषे णिलोपमाश्रित्य वृद्धौ आयादेशे 'णौ चङि' ह्रस्वे 'अशिश्वयत्' इति द्वितीयं रूपं भवति। स्तम्भुसिवुसहां चङीति। 'उपसर्गनिमित्तस्य प्रतिषेधः' इति वार्तिकम्। 'सहेः साडः सः' इत्यतः स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते। मूर्धन्य इत्यधिकृतम्। अवातस्तम्भत्। अवपूर्वात् स्तम्भधातोर्णिचि लुङि तिपि इलोपे च्लौ चङि णेर्लोपे धातोर्द्वित्वेऽङ्गस्याडागमे 'अवातस्तम्भत्' इति रूपम्। अत्र 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' इत्यनेन प्राप्तं षत्वं 'स्तम्भुसिवुसहां चङि' इत्यनेन निषिध्यते। पर्यसीषिवत्। 'परि-अ-सि-सिव्-अ त्' इत्यवस्थायां सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यपरसकारस्य षत्वे यणि 'पर्यसीषिवत्' इति रूपम्। अत्र 'परिनिविभ्यः' इति प्राप्तं षत्वं 'स्तम्भुसिवुसहां चङि' इति निषिध्यते। न्यसीषहत्। निपूर्वात् 'षह' मर्षणे धातोर्णिचि लुङि तिपि च्लौ चङि द्वित्वेऽडागमे 'नि-अ-स-सह्-अत्' इति जाते सन्वद्भावे 'सन्यतः' इत्त्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे यणि परसकारस्य षत्वे 'न्यसीषहत्' इति रूपम्। अत्र प्रथमसकारस्य प्राप्ते 'परिनिविभ्यः' इति षत्वं 'स्तम्भुसिवुसहां चङि' इति निषिध्यते।

भालक्षरके परे, विकल्पसे। णौ च-'सन्' और 'चङ्' परक 'णि' परमें रहने पर 'श्वि' धातुको संप्रसारण हो, विकल्पसे। स्तम्भु—उपसर्गस्थ निमित्तके पर स्तम्भादि धातुके सकार को

पदत्। स्वापेश्चङि। ६।१।१८। ण्यन्तस्य स्वापेश्चङि सम्प्रसारणं स्यात्। असूषुपत्। हनस्तोऽचिण्णलोः। ७। ३। ३२। हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्याच्चिण्णल्वर्जे ञिति णिति च परे। घातयति। अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ। ७। ३।३६। एषां पुक् स्याण्णौ। स्थापयति। तिष्ठतेरित्। ७।४।५। तिष्ठतेरुपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अतिष्ठिपत्। घ्रापयति। जिघ्रतेर्वा। ७। ४। ६। जिघ्रतेरुपधाया इत्वं वा स्याच्चङ्परे णौ। अजिघ्रिपत्। अजिघ्रपत्। शाच्छासाह्वाव्या-

---

स्वापेश्चङीति। ण्यन्तस्य स्वापे सम्प्रसारणं स्याच्चङि इति सूत्रार्थः। 'स्वापि' इति ण्यन्तविशिष्टाल्लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ चङि 'स्वापेश्चङि' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'चङि' इति द्वित्वे हलादिशेषे अडागमे 'अ-सु-सुप्-अत्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'सन्वत्' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घत्वे 'असूषुपत्' इति रूपं भवति। हनस्तोऽचिण्णलोरिति। हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्यात् चिण्णल्वर्जे ञिति णिति च परतः। घातयतीति। हनधातोर्हेतुमण्णौ धातुत्वे लटि तिपि शपि 'हन्-इ-अ-ति' इति जाते 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति हनस्तकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन हस्य घत्वे 'अत उपधायाः' इति दीर्घे 'घाति-अ-ति' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे 'घातयति' इति रूपम्। लुङि 'अजीघतत्' इति रूपमवसेयम्। अतिष्ठिपत्। स्थाधातोर्णिचि पुकि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति चङि अनुबन्धलोपे 'णिच्य आदेशो न स्यात्, द्वित्वे कार्ये' इति निषेधात् इत्वापेक्षया पूर्वं 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपेऽभ्यासह्रस्वे चर्त्वे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति उपधाया ह्रस्वे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति इत्वे षत्वे ष्टुत्वे 'तिष्ठतेरित्' इति इत्वे च 'अतिष्ठिपत्' इति रूपम्। अत्र केचित् 'ओण् अपनयने' इत्यत्र 'आदिरकरणात्सिद्धात्' 'उपधाकार्यं द्वित्वात्प्रबलम्' इति कल्पनया पूर्वं 'तिष्ठतेरित्' इति इत्वं ततो द्वित्वमिति न समीचीनमिति प्रामाणिकाः। तत्र प्रमाणमन्यत्र स्पष्टम्। जिघ्रतेर्वा। घ्राधातोरुपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अजिघ्रिपत्। घ्राधातोर्णिचि 'अर्तिह्री' इति पुकि सनादित्वाद्धातुत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्रि' इति चङि अडागमे 'अ-घ्राप्-इ-अ-

---

त्व नहीं हो, 'चङ्'के परे। स्वापे—ण्यन्त 'स्वप्' धातुको सम्प्रसारण हो 'चङ्' के परे। हनस्तो—'हन्' धातुको तकारान्त आदेश हो, 'चिण्' तथा 'णल्' वर्जित ञित्-णित् प्रत्ययके परे। अर्ति—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आदन्त धातुको 'पुक्' का आगम हो, 'णि' के परे। तिष्ठ—'स्था' धातुकी उपधाको 'इत्व' हो, चङ्परक 'णि' के परे। जिघ्र—'घ्रा' धातुको उपधाको 'इत्व' हो, चङ्परक 'णि' के परे, विकल्पसे। शाच्छा—शो, छो, षो,

वेपां युक्।७।३।३७। एषां युक् स्याण्णौ। शाययति। अशीशयत्। छाययति।
ह्वः सम्प्रसारणम्।६।१।३२। सन्परे चङ्परे च णौ ह्वः सम्प्रसारणं स्यात्।
(काण्यादीनां वेति वक्तव्यम्) काण्यादीनां चङ्परे णौ उपधाया ह्रस्वो वा स्यात्। ण्यन्ताः कणरणभणश्रणलुपहेठाः षड् भाष्ये उक्ताः। ह्वायिवाणिलोठिलोपय-श्चत्वारोऽधिका न्यासे। चाणिलोटी अप्यन्यत्र। इत्थं काण्यादयो द्वादश। अजूहवत्। अजुहावत्। पाययति। **लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य।७।४।४।** पिबतेरुपधाया लोपः स्यादभ्यासस्य ईदन्तादेशश्च चङ्परे णौ। अपीप्यत्। **(पातेर्णौ लुग्वक्तव्यः)** पुकोऽपवादः। पालयति। **वो विधूनने जुक्।७।३।३८।** वातेर्जुक् स्याण्णौ

त्' इति जाते 'जिघ्रतेर्वा' इति उपधाया इत्वे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे पूर्वोऽभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'कुहोश्चुः' इति जस्वे 'अ-जि-घ्रिप्-अत्' इति जाते 'अजिघ्रिपत्' इत्येकं रूपं भवति। यदा तु इत्वं न स्यात्तदा 'णौचङि' इति ह्रस्वत्वे 'सन्यतः' इति इत्वे 'अजिघ्रपत्' इति द्वितीयं रूपं भवति। शाच्छासेति। पुकोऽपवादः। णौ परत एषां धातूनां युगागमो भवतीति भावः। शाययतीति। शो तनूकरणेऽस्माद्धातोः णौ 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे पुगागमं बाधित्वा 'शाच्छासा' इति युगागमे 'शायि' इति जाते सनादित्वेन धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'शाययति' इति। ह्वाययति। ह्वेञ्-धातोर्णिचि 'आदेच' इत्यात्वे 'शाच्छासा' इति युकि 'ह्वायि' इति जाते धातुत्वे लटि तिपि शपि अयादेशे 'ह्वाययति' इति रूपं भवति। ह्वः सम्प्रसारणमिति। 'णौ च संश्चङोः' इत्यनुवर्त्यते। ह्व इति षष्ठी। ह्वेञः संप्रसारणं स्यात्। पाययतीति। पा धातोर्णिचि 'शाच्छासा' इति युकि लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'पाययति' इति रूपं भवति। लोपः पिबतेरिति। 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्यतः णौ चङीति अनुवर्त्यते। अपीप्यदिति। पाधातोर्णिचि 'शाच्छासा' इति युकि 'पायि' इति जाते लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्रि' इति चङि 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अ-पा-पाय्-अ-त्' इति जाते 'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य' इति अभ्यासस्येदादेशे धातोश्चोपधालोपे, 'अपीप्यत्' इति रूपं भवति। पाल=रक्षणे। पालयति। वो विधूनने जुगिति। वा=गतिगन्धनयोः। अस्माज्जुक्स्यात् विधूननार्थे णौ परतः। वाधातोर्णौ जुकि 'वाजि' इति जाते लटि तिपि

शेञ्, व्येञ्, वेञ् और पा धातुको 'युक्' का आगम हो, 'णि' के परे। ह्वः सम्प्र—'ह्वेञ्' धातुको संप्रसारण हो, सन्परक और चङ्परक 'णि' के परे। काण्या—काण्यादि धातुओंकी उपधाको 'ह्रस्व' हो, चङ्परक 'णि' के परे। लोपः—'पा' धातुकी उपधाका लोप हो और अभ्यासको ईदन्तादेश हो, चङ्परक 'णि' के परे। पातेर्णौ—'पा' धातुको 'लुक्' का आगम हो, 'णि' के परे। वो विधू—'वा' धातुको विधूनन अर्थमें 'जुक्' का आगम हो, 'णि' के

कम्पेऽर्थे । धाजयति । विधूनने किम् ? केशान्वापयति । **शदेरगतौ तः** ।७।३।४२। शदेर्णौ तोऽन्तादेशः स्यान्न तु गतौ । शातयति । गतौ तु—गाः, शादयति गोविन्दः । गमयतीत्यर्थः । **रुहः पोऽन्यतरस्याम्** । ७ । ३ । ४३ । रुहः पकारोऽन्तादेशो वा स्याण्णौ । रोपयति । रोहयति । **दोषो णौ** ।६।४।९०। दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्याण्णौ । दूषयति । **वा चित्तविरागे** ।६।४।९१। दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्याद्वा, णौ चित्तविरागे । विरागोऽप्रीतता । दुष वैकृत्ये । चित्तं दूषयति, दोषयति वा कामः । **उभौ साभ्यासस्य** । ८ । ४ । २१ । साभ्यासस्यानितेरुभौ नकारौ णत्वं प्राप्नुतो निमित्ते सति । प्राणिणत् । **णौ गमिरबोधने** । २ । ४ । ४६ । इणो गमिः स्याण्णावबोधने । गमयति । बोधने तु—प्रत्याययति । घट चेष्टायाम् ।

धापि गुणेऽयादेशे 'धाजयति' इति रूपं भवति । 'केशान्वापयति' अत्र न जुक् विधूननाभावात् । किन्तु आदन्तत्वात्पुगेव । शदेरगताविति । शद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अस्य णौ परतस्तकारादेशः स्यादित्यर्थः । शद्धातोर्णौ 'शदेरगतौ तः' इत्यनेन दस्य स्थाने तकारादेशे 'अत उपधायाः' इति उपधाया दीर्घत्वे 'शाति' लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'शातयति' इति रूपम् । अयं तकारादेशः गतिभिन्नार्थ एव स्यात् । गतौ तु 'शादयति' इत्येव रूपं भवति । रुह पोऽन्यतरस्यामिति । रुहधातोः पकारान्तादेशः स्याण्णौ विकल्पेन । रुहधातोर्णौ 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन हस्य पत्वे 'पुगन्त' इति गुणेऽयादेशे 'रोपयति' इति एकं रूपम् । यदा पकारादेशो न स्यात्तदा 'रोहयति' इति तु भवत्येवेति दिक् । दोषो णौ । दुष्धातोरुपधाया ऊदादेशः स्याण्णौ परत इत्यर्थः । दूषयतीति । दुषधातोर्हेतुमण्णिचि 'दोषो णौ' इत्यनेनोपधाया ऊदादेशे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'दूषयति' इति । वा चित्तविरागे । अत्र 'दोषो णौ' इत्यनुवर्तते । चित्तविरागार्थे गम्ये दुष्धातोरुपधाया ऊदादेशो वा स्यादिति सूत्रार्थः । णौ गमिरबोधन इति । इण्=गतावस्य गमिरादेशो भवति अबोधनार्थे गम्ये णौ परतः । इण् धातोर्णौ 'णौ गमि' इति गम्यादेशे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'गमयति' इति रूपम् । बोधने तु-प्रत्याययति । प्रति-इण्धातोर्णिचि 'अचोऽञ्णिति' इति वृद्धौ अयादेशे 'प्रति-आयि' यणि 'प्रत्यायि' अस्माल्लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'प्रत्याययति' इति रूपं भवति । 'मितां ह्रस्वः' विधास्यमानं ह्रस्वत्वं परिकल्प्य मित्स

परे । शदे—'शद्' धातुको गतिभिन्न अर्थमें तकारान्त आदेश हो, 'णि' के परे । रुह—'रुह' धातुको पकारान्त आदेश हो, 'णि' के परे, विकल्पसे । दोषो—'दुष' धातुकी उपधाको 'ऊत्' आदेश हो, 'णि' के परे । वा चित्त—'दुष्' धातुकी उपधाको ऊत्व हो, चित्तविराग (इच्छाविरह) अर्थमें, विकल्पसे । उभौ—रेफ-निमित्तसे पर 'अन्' धातुके अभ्यास सहित दोनों नकारको णत्व हो । णौ गमि—अबोधन अर्थमें 'इण्' धातुको 'गम्' आदेश हो,

(ग०) घटादयो मितः । जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च । एते मितः । (ग०) ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा । अनुपसर्गादेषां मित्त्वं वा । ग्लास्नावनुवमां च । अनुपसर्गादेषां मित्त्वं वा । न कम्यमिचमाम् । अमन्तत्वात्प्राप्तं मित्त्वमेषां न । यमोऽपरिवेषणे । यच्छतेर्भोजननोऽन्यत्र मित्त्वं न । स्खदिरवपरिभ्यां च । स्खदिरवपरिभ्यां परीभूतो मित् न । मितां ह्रस्वः । ६ । ४ । ९२ । घटादीनां, ज्ञपादीनां च णावुपधाया ह्रस्वः । घटयति । अजीघटत् । ज्ञप ज्ञाने, ज्ञापने च । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् । रभेरशब्लिटोः । ७ । १ । ६३ । रभेर्नुमचि, न तु शब्लिटोः । लभेश्च । ७ । १ । ६४ । लभेर्नुम् स्यादचि, न तु शब्लिटोः । अररम्भत् । अललम्भत् । ईर्ष्ययति । (ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति वक्तव्यम्) तृतीयव्यञ्ज-

---

ञ्जकानां परिगणनं ससूत्रं विधत्ते । घटादयो मित इत्यारभ्य 'जनीजृष्' इति यावत् । केषाञ्चित् वैकल्पिकं मित्त्वं मत्वा आह 'ज्वलह्वल' इत्यारभ्य 'ग्लास्ना' इति यावत् । आद्यानामनीप्सितानां मित्त्वं निषेधयति । 'न कम्यमि' इत्यतः 'स्खदिरव' इत्यन्तं यावत् । अजिज्ञपत् । ज्ञप् इत्यस्माण्णिचि उपधावृद्धौ ह्रस्वे 'ज्ञपि' इति जाते धातुत्वा-ल्लुङ्स्तिप इकारलोपेऽटि च्लेश्चङि 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यास-कार्ये 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'सन्यतः' इति अभ्यासस्याकार-स्येत्वे लघुत्वाभावात् 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घाभावे 'अजिज्ञपत्' इति रूपम् । रभेरशब्लिटोरिति । 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते 'रधिजभोरचि' इत्यतः 'अचि' इत्यनुवर्तते । अररम्भत् । रभधातोर्णिचि 'रभेरशब्लिटोः' इति नुमि मित्त्वादन्त्यादय-वेऽनुस्वारे परसवर्णे लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे 'णेरनिटि' इति णेर्लोपेऽङ्स्याडागमे 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'अररम्भत्' इति रूपं भवति । अत्र संयोगपरत्वेन ह्रस्वाभावान्न सन्वत्त्वम् । लभेश्चेति । लभेरपि नुम्, अचि परतः न तु शब्लिटोः । अललम्भत् । 'अलम्भ अत्' इत्यवस्थायां 'चङि' द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'अललम्भत्' इति,रूपम् । अत्रापि दीर्घत्वान्न सन्वद्भावः । ईर्ष्ययति ।

'णि'के परे । घटादयो—भ्वाद्यन्तर्गत घटादि गणपठित धातु 'मित' हो । जनी—जनी-जृष् आदि धातु तथा अमन्त धातु भी 'मित' हो । ज्वल—अनुपसर्गक ज्वल-ह्वल आदि धातु विकल्पसे 'मित' हो । ग्लास्ना—अनुपसर्गक ग्ला-स्ना आदि धातु 'मित' हो, विकल्पसे । न कम्य—अमन्त होने पर भी कम्यादि धातु 'मित' नहीं हो । यमो—अपरिवेषण अर्थमें 'यम्' धातु 'मित' नहीं हो । स्खदिर—अव-परि उपसर्गसे पर 'स्खद्'धातु 'मित' नहीं हो । मितां—घटादि और ज्ञपादि धातुओंकी उपधाको 'ह्रस्व' हो 'णि' के परे । रभेर—'रभ' धातुको 'नुम्' हो, 'शप्' और 'लिट्' सम्बन्धीसे भिन्न अच् के परे । लभेश्च—'लभ्' धातुको भी 'नुम्' हो, 'शप्' और 'लिट्' सम्बन्धी भिन्न अच्के परे । ईर्ष्यं—'ईर्ष्ययति'के

नस्य, तृतीयैकाच इति वार्यम् । आद्ये यकारस्य द्वित्वं वारयितुमिदम् । द्वितीये त्वजादेर्द्वितीयस्येत्यस्याऽपवादतया मध्यन्ते प्रवर्तते । ऐर्ष्यियत् । द्वितीयव्याख्यायां णिजन्ताच्चङि यकार एवाभ्यासे श्रूयते, हलादि शेषात् । द्वित्वं तु द्वितीयस्यैव, तृतीयभावेन प्रकृतवार्तिकाऽप्रवृत्ते । ऐर्ष्यिष्यत् ॥ इति ण्यन्तप्रकरणम् ।

अथ सन्नन्तप्रकरणम्

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ।३।१।७। इषिकर्मणो धातोरिषिणैककर्तृकात् सन्स्यादिच्छायाम् । धातोर्विधेरिह सन आर्धधातुकत्वम् । **पठ** व्यक्तायां वाचि । इट् । **सन्यङोः ।६।१।९।** सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य । 'सन्यतः' । पठितुमिच्छति-पिपठिषति । कर्मणः किम् ?

ईर्ष्य-ईर्ष्यायाम् । अस्माण्णौ लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'ईर्ष्ययति' इति रूपम् । ऐर्ष्यियदिति । ईर्ष्यधातोर्णिचि लुङि तिपि 'इतश्च' इत्लोपे च्लौ 'णिश्रि' इति चङि 'ईर्ष्य्-इ-अ-त्' इति जाते यकारविशिष्टस्य द्वितीयाचो द्वित्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति वाच्यम्' इत्यनेन यकारविशिष्टकारस्य द्वित्वे 'ईर्ष्-यि-यि-अ-त्' इति जाते 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'ईर्ष्यिय्-अत्' इति स्थिते 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐर्ष्यियत्' इत्येकं रूपं भवति । यदा तु यकारविशिष्टस्य द्वित्वमिति पक्षः स्वीक्रियते तदा 'आ-ईर्ष्यि-ष्यि-अत्' इत्यवस्थायां हलादि शेषेण षलोपे 'णेरनिटि' इत्यनेन च णेर्लोपे 'आटश्च' वृद्धौ 'ऐर्ष्यिष्यत्' इति द्वितीयं रूपं सम्पद्यते । इति णिजन्तप्रक्रिया ।

धातो कर्मण इति । 'गुप्तिज्किद्भ्यः' इत्यतः सन्नित्यनुवर्तते । इच्छाया श्रुतत्वात्तां प्रत्येव कर्मत्वं विवक्षितम् । तथा समानकर्तृकत्वमपि इच्छानिरूपितमेव विवक्षितम् । कर्मेति स्ववाचकशब्दद्वारा धातौ सामानाधिकरण्येनान्वेति । तथा च इच्छासमानकर्तृकत्वे सति इच्छाकर्मीभूतो यो व्यापारः तद्वाचकाद्धातोरिच्छायां सन् वा स्यादिति फलति । तदाह-इषि कर्मण इत्यादि । इषिणा एककर्तृकात् इषिकर्मीभूतव्यापारवाचकाद्धातोरित्यर्थः । पिपठिषति । पठ् इत्यस्मात् 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां

तृतीय व्यञ्जन या तृतीय यकारको द्वित्व हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें ण्यन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

धातो —(इषि)-इच्छा क्रियाके कर्मीभूत जो इच्छा क्रियाके कर्ता, तत् समान कर्ता है जिसका, उस धातुसे 'सन्' प्रत्यय हो, इच्छा अर्थमें, विकल्पसे । सन्यङो —सन्नन्त तथा यङन्त धातुके प्रथम एकाचको द्वित्व हो और अजादि धातुके द्वितीय एकाचको द्वित्व हो ।

गमनेनेच्छति इति करणान्मा भूत्। समानकर्तृकात् किम्? 'शिष्याः पठन्त्वि'तीच्छति गुरुः। 'वा'ग्रहणात्पक्षे वाक्यमपि।

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः, सन्नन्तान्न सनिष्यते॥ १॥

तेन—पिपठिषितुमिच्छतीति वाक्यमेव। **'लुङ्सनोर्घस्लृ'।** **सः स्यार्द्धधातुके** ।७।४।४९। सस्य तः स्यात्सादावार्द्धधातुके। अत्तुमिच्छति—जिघत्सति। 'ईर्ष्यतेस्तृतीयस्ये'ति थिसनोर्द्वित्वम्। ईर्ष्यियिषति। 'एकाच' इति नेट्। **अज्झनगमां सनि** ।६।४।१६। अजन्तानां, हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो, झलादौ सनि। **इको झल्** ।१।२।९। इगन्ताज्झलादिः सन्कित् स्यात्। कर्त्तुमिच्छति चिकीर्षति। जिघांसति।

वा' इति सन्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'पठ् स' इति जाते 'आर्धधातुकं शेषः' इति आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे टलोपे टित्वादाद्यावयवे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'पठ् पठ् इ स्' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति ठलोपे 'सन्यतः' इतीत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'पिपठिष अ ति' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'पिपठिषति' इति रूपम्। जिघत्सति। अद् इत्यस्माद्धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सन्प्रत्यये 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इत्यदो घस्लादेशेऽनुबन्धलोपे 'घस् स' इति भूते अत्र सनस्सस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'जघस्' इति जाते अभ्याससकारस्य 'सः स्यार्धधातुके' इति तकारे 'जिघत्स' इति भूते 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वाल्लटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'जिघत्सति' इति रूपम्। चिकीर्षतीति। कृधातोः 'धातोः कर्मणः' इत्यादिना सनि अनुबन्धलोपे आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीण्निषेधे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे 'इको झल्' इति कित्वाद्गुणाभावे 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरे 'किर् स' इति भूते द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलि च' इति दीर्घे षत्वे च कृते 'चिकीर्ष' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'चिकीर्षति'

शैषि—शैषिक प्रत्ययान्तसे पुनः सरूप शैषिक प्रत्यय नहीं हो और मत्वर्थीय-मतुप् आदि, प्रत्ययान्तसे भी सरूप मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं हो तथा सन्नन्तसे पुनः सन्नन्त प्रत्यय नहीं हो। सः स्या—सकारको तकार आदेश हो, सादि आर्धधातुकके परे। अज्झ—अजन्त धातु तथा 'हन्' धातु और अजादि (इण्-इक्-इङ) धातके स्थानमें आदेश 'गम्' को दीर्घ हो,

सनि च ।२।४।४७। इणो गमिः स्यात्सनि, न तु बोधने । जिगमिषति । बोधने तु—प्रतीषिषति । **इङश्च** ।२।४।४८। इङो गमिः स्यात्सनि । अधिजिगांसते । **रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च** ।१।२।८। एभ्यः सन्, क्त्वा च कितौ स्तः । रुरुदिषति । विविदिषति । मुमुषिषति । **सनि ग्रहगुहोश्च** ।७।२।१२। ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण्न स्यात् । 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम् । सन्यतस्यासिद्धत्वादभ्यासाभावः । जिघृक्षति । **हलन्ताच्च** ।१।२।१०। इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन्कित् । गुह्

इति सिद्धम् । सनि चेति । 'णौ गमिरबोधने' इति सर्वमनुवर्तते । जिगमिषति । इण् धातोः 'धातोः कर्मणः' इति 'सनि च' इति गम्यादेशे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'सन्यतः' अभ्यासस्येत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति सन इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'जिगमिष' इति सनाद्यन्ता धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि 'अतो गुणे' पररूपे 'जिगमिषति' इति रूपं भवति । बोधने तु—प्रतीषिषति । इण्धातोः सनि तस्य आर्धधातुकत्वादिटि गुणात्पूर्वं 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'प्रति-इ-षि-ष-अ-ति' इति जाते सवर्णदीर्घे 'अतो गुणे' पररूपे 'प्रतीषिषति' इति रूपम् । इङश्चेति । 'णौ गमि' इत्यतः 'सनि च' इत्यतश्च तदनुवृत्तेर्गमिः स्यादित्यन्वयः । अधिजिगांसते । अधिपूर्वकादिङ् अध्ययने धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सनि 'इङश्च' इति गमादेशे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वेन जत्वे 'सन्यतः' इति इत्वे 'अधिजिगम्-स' इति जाते 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे 'अधिजिगांस' अस्मात्सन्नन्तात् लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदत्वेन तङि 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे शपि पररूपे 'अधिजिगांसते' इति रूपं सिध्यति । रुदविदेति । असंयोगाल्लिट् कित् इत्यतः किदिति लभ्यते । रुद्-विद्-मुष्-एभ्यो धातुभ्यः सनि सन आर्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषत्वे 'रुरुदिषति' 'विविदिषति' 'मुमुषिषति' इति रूपत्रयं सिध्यति । अत्र न लघूपधगुणः 'रुदविदमुष' इति सूत्रेण कित्वविधानात् 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधात् । सनिग्रहगुहोश्चेति । 'श्र्युकः किति' इत्यतः किसीत्यनुवर्तते 'नेड्वशि' इत्यतः नेडिति चानुवर्तते । जिघृक्षतीति । ग्रह्धातोः सनि 'रुदविदमुष' इत्यादिना सनः कित्वे 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणेन रेफस्य ऋत्वे 'गृह्-स' इत्यवस्थायां सस्य षत्वे परत्वात्प्राप्ते-

इत्यादि 'सन्'के परे । सनि च—'इण्' धातुको 'गम्' आदेश हो, 'सन्'के परे, किन्तु बोधार्थमें नहीं हो । इङश्च—'इङ्' धातुको 'गम्' आदेश हो, 'सन्'के परे । रुद—'रुद' आदि धातुओंसे पर 'सन्' और 'क्त्वा' कित् हो । सनि—ग्रह्, गुह् और उगन्त धातुओंसे पर 'सन्' को 'इट्' नहीं हो । हलन्ताच्च—इक् समीप हल्से पर झलादि सन् कित् हो ।

संवरणे । जुघुक्षति । सुषुप्साति । **किरश्च पञ्चभ्यः** ।७।२।७५। कॄ गॄ दृ धृङ् प्रच्छ एभ्यः सन इट् । पिपृच्छिषति । चिकरिषति । जिगरिषति । जिगलिषति । अत्रेटो दीर्घो नेष्टः । **पूर्ववत्सनः** ।१।३।६२। सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । दिदरिषते । दिधरिषते । बुभूषति । **सनीवन्तर्द्धभ्रस्जद-**

पि ढत्वदृष्ट्याऽसिद्धत्वात्पूर्वं 'हो ढः' इति ढत्वे 'एकाचो' इति भष्त्वे 'षढोः कः सि' इति सकारे परतः ढस्य ककारे सनः सस्य षत्वे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इत्याद्येतरेषां हलां लोपे 'अभ्यासे चर्च' इति गस्य जत्वे 'सन्यत' इतीकारे 'जि-घृक्-ष' कषयोर्योगेन क्षत्वे कित्वेन गुणाभावे लटि तिपि शपि उक्तं रूपं भवति । हलन्ताच्चेति । 'रुदविद' इत्यतः 'असंयोगाल्लिट् कित्' इत्यतश्च किदित्यनुवर्तते । जुघुक्षति । गुहू=संवरणे धातोः सनि षत्वस्यासिद्धत्वात् 'हो ढः' इति ढत्वे 'एकाचो' इति भष्भावेन गस्य घत्वे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे हलादिःशेषत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति घस्य जत्वे 'जु-घुढ्-स' इति जाते 'षढोः कः सि' इति कत्वे षत्वे क्षत्वे ततः परं लटि तिपि शपि पररूपे 'जुघुक्षति' इति रूपम् । सुषुप्सतीति । स्वप्धातोः सनि तस्य 'रुदविद' इति कित्वे 'वचिस्वपि' इति संप्रसारणे पररूपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिःशेषत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'सुषुप्सति' इति रूपम् । किरश्च पञ्चभ्य इति । किर इति पञ्चमी । किरादिभ्यः पञ्चभ्यः इति विवक्षितम् । 'स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि' 'इडत्यर्ति' इत्यत इडित्यनुवर्तते । पिपृच्छिषतीति । प्रच्छधातोः सनि 'रुदविद' इति सनः कित्वात् 'ग्रहिज्या' इति संप्रसारणे पूर्वरूपे 'सन्यङोः' द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिःशेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे लटि तिपि शपि पररूपे सनः 'किरश्च पञ्चभ्यः' इतीडागमे षत्वे 'पिपृच्छिषति' इति रूपम् । चिकरिषति-जिगरिषति-जिगलिषति । चकृ-स-जगृ-स इत्यवस्थायां 'किरश्च पञ्चभ्यः' इति इडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे 'चिकरिष जिगरिष' इति जाते लटि तिपि शपि पररूपे 'चिकरिषति' 'जिगरिषति' इति रूपे भवतः । यदा तु 'जिगरिषति' अत्र 'अचि विभाषा' इति गिरतेः रेफस्य लत्वं स्यात्तदा 'जिगलिषति' इति रूपं भवति । अत्र 'वॄतो वा' इति प्राप्तं वैकल्पिकं दीर्घम् 'अत्रेटो दीर्घो नेष्टः' इत्यनेन निषिध्यते । 'पूर्वत्सन इति' । सन इति

किरश्च—'कॄ' आदि पांच धातुओंसे पर सन्को इट् हो ।

पूर्व—'सन्'से पूर्व (सन् प्रकृतिभूत) जो धातु, उसी[illegible] सन्नन्तसे भी आत्मनेपद हो ।

नोटः—जिस धातुसे सन् किया जाय, वह धातु [illegible]नेपद हो तो सन्नन्तसे भी आत्मनेपद होता है ।

सनि—इवन्त और ऋधादि धातुओंसे पर 'सन्' को इट् हो, विकल्पसे

म्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ।७।२।४९। इवन्तेभ्य, ऋधादिभ्यश्च सन इड् वा । इडभावे 'हलन्ताच्चे'ति कित्त्वम् । **च्छ्वोः शूडनुनासिके च ।६।४।१९।** सतुक्कस्य छस्य, वस्य च क्रमात् श् ऊठ् एतावादेशौ स्तोऽनुनासिके, क्वौ, झलादौ क्ङिति च । यण् । द्वित्वम् । दुद्यूषति । दिदेविषति । **स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् ।८।३।६१।** अभ्यासेण परस्य स्तौतिण्यन्तयोरेव सस्य षः, षभूते सनि, नान्यस्य । तुष्टूषति । **'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्'** इत्युत्त्वम् । सुष्वापयिषति । सिषाधयिषति । स्तौतिण्योः किम् ? सुस्यूषति । सिसेविषति । **आप्ज्ञप्यृधामीत् ।७।४।५५।** एषामच ईत्स्यात्सादौ सनि । **अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।७।४।५८।** 'सनि मीमे'त्यारभ्य यदुक्तं तत्राभ्यासस्य लोपः स्यात् । आप्तुमिच्छति ईप्सति । अर्दितुमिच्छति-ईर्त्संति । अर्दिधिषति । बिभ्रजिषति । बिभर्जिषति । बिभ्रक्षति ।

पञ्चमी । पूर्वेण पर्वस्य वा तुल्यं पूर्ववत् । पूर्वपदेन धातुर्गृह्यते । दिदरिषते-दिधरिषते । दृ धृङ्=अनयोर्धात्वोः सनि 'किरश्च पञ्चभ्य' इतीटि 'सन्यङो' द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे हलादिशेषत्वे 'सन्यत' इतीत्वे षत्वे 'दिदरिष' 'दिधरिष' इति जाते लटि 'पूर्ववत्सन' इत्यात्मनेपदे तङि शपि पररूपे टेरेत्वे च कृते 'दिदरिषते' 'दिधरिषते' इति भवतः । च्छ्वोः शूडिति । चकारेण तुगागमोऽनुमीयतेऽत आह—सतुक्कस्येति । दिदेविषति । दिवधातोः सनि 'सनीवन्तर्ध' इतीटि 'सन्यङो' इति द्वित्वे हलादिशेषत्वे 'सन्यत' इतीत्वे 'पुगन्त' इति गुणे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'दिदेविषति' । यदा 'सनीवन्तर्ध' इति नेट् स्यात्तदा 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति ऊठि 'द्यू' इत्यस्य द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे लटि तिपि शपि पररूपत्वे 'दुद्यूषति' इति रूपम् । स्तौतिण्योरेवेति । 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' इत्यधिकृतम् । 'इण्को' इति च । तुष्टूषतीति । स्तुधातोः सनि 'स्तौतिण्योः' इति षत्वे ष्टुत्वे 'अज्झन' इति दीर्घे लटि तिपि शपि रूपम् । 'सिषाधयिषतीति' । साध धातोः सनि 'सन्यङो' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे ह्रस्वे 'सन्यत' इतीत्वे इटि गुणेऽयादेशे 'स्तौतिण्यो' इति षत्वे 'सिषाधयिष' इति सन्नन्तात् लटि तिपि शपि पररूपे 'सिषाधयिषति' इति रूपम् । आप्ज्ञप्यृधामिति । 'सनि मीमा' इत्यतः सनीति अच इति चानुवर्तते । अत्र लोप इति । 'सनि मीमा' 'आप्ज्ञप्यृ' 'दम्भ इच्च' 'मुचोऽकर्मकस्य' इति कार्यचतुष्टयमत्रेत्यनेन परामृश्यते । ईप्सतीति । आप्लृ= लम्भनेऽस्मात्सनि 'सन्यङो' इति द्वित्वात्पूर्वं 'आप्ज्ञप्यृ' इतीत्वे ततो द्वित्वे 'अत्र

च्छ्वो—'तुक्'सहित छकार-वकारको क्रमसे 'श्' और 'ऊठ्' आदेश हो, अनुनासिकके परे और झलादि कित्-ङित् प्रत्ययके परे । स्तौति—अभ्यास सम्बन्धी 'इण्' से पर स्तु धातु और ण्यन्त धातुके ही सकारको षत्व हो, षभूत सन्के परे । आप्ज्ञ—आप्, ज्ञप् और ऋध धातुके अच्को ईत् हो, सकारादि सन्के परे । अत्र—'सनि मीमा' इस सूत्र से लेकर जो

विभर्क्षति। **दम्भ इच्च** ।७।४।५६। दम्भेरच इस्यात्, ईच्च, सादौ सनि। 'हल-न्तादि'त्यत्र हल्ग्रहणं जातिपरम्। तेन सनः कित्त्वान्नलोपः। धिप्सति। धीप्सति। दिदम्भिषति। शिश्रीषति। शिश्रयिषति। 'उदोष्ठ्ये'त्युत्त्वम्। सुस्वूर्षति। सिस्वरिषति। युयूषति। यियविषति। 'विभाषोर्णोः' इति ङित्। ऊर्णुनूषति। ऊर्णुनुविषति। ऊर्णुनविषति। बुभूर्षति। विसरिषति। ज्ञीप्सति। जिज्ञपयिषति। सिपासति। सिस-

---

लोप' इति लोपे लटि तिपि शपि पूर्वरूपे 'ईप्सति' इति रूपं भवति। अर्दिधिषति। ऋधेः सनि 'सनीव' इतीटि द्वित्वे उरदत्वे रपरत्वे दत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'अर्दिधिषति' इति रूपम्। यदा नेट् स्यात्तदा 'आज्ञप्यृधामीत्' इतीदादेशे रपरत्वे द्वित्वे चर्त्वे 'अत्र लोप' इत्यभ्यासलोपे, लटि तिपि शपि पररूपे 'ईर्त्सति' इत्यपि द्वितीयं रूपम्। बिभ्रज्जिषति। भ्रस्ज धातोः सनि 'सनीव' इति वैकल्पिके इटि ततो द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे अभ्यासचर्त्वे सस्य श्चुत्वेन शत्वे तस्य जश्त्वेन जत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'बिभ्रज्जिषति' इत्येकं रूपम्। 'भ्रस्जो रोपधयोः' इति रमागमपक्षे 'बिभर्जिषति' इति रूपम्। इडभावे रमागमाभावे च 'बिभ्रक्षति' इति रूपं साधु। रमागमपक्षे 'बिभर्क्षति' इति चतुर्थं रूपम्। दम्भ इच्चेति। 'सनि मीमा' इत्यतः सनि अच इति चानुवर्तते। धिप्सति। दम्भधातोः सनि 'सनीव' इति पाक्षिके इटि द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'दिदम्भिष' इति जाते लटि तिपि शपि पररूपे 'दिदम्भिषति' इति रूपम्। यदेडागमो न स्यात्तदा 'दम्भ इच्च' इति इति 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्त्वे 'अनुनासिकस्य' इति मलोपे ततः 'एकाचो बशो' इति भष्भावेन दस्य धत्वे चर्त्वेन भस्य पत्वे द्वित्वे 'अत्र लोप' इति अभ्यासलोपे 'धिप्सति, धीप्सति' इति रूपद्वयं सिध्यति। शिश्रीषति। श्रिञ् सेवायां धातोः सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'अज्झन' इति दीर्घे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'शिश्रीषति' इति रूपम्। ततः परं यदा 'सनीव' इति इडागमः स्यात्तदा गुणेऽयादेशे 'शिश्रयिषति' इति रूपम्। सुस्वूर्षति। स्वृधातोः सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'उदोष्ठ्य' इत्युति रपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे रूपम्। सनीव इतीटि सति गुणे रपरत्वे 'सिस्वरिषति' इत्यपि साधु। युयूषतीति। युधातोः सनि 'सनीव' इतीडभावे द्विरवे 'अज्झन' इति दीर्घे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपत्वे युयूषति। यदा इडागमः स्यात्तदा गुणेऽयादेशे द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे 'यियविषति' इति रूपं सिध्यति। ऊर्णुनुविषति। ऊर्णुञ् धातोः सनि 'सनीव' इतीड-भावे नुशब्दस्य द्वित्वे 'अज्झन' इति दीर्घे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'ऊर्णुनूषति'

चार (दस्, ईत्स, रत्स, ग्रन) बने करते हैं, वहां (उनके होनेपर) अभ्यासका लोप हो।
दम्भ—'दम्भ' धातुके 'अच्'के स्थान इत् तथा ईत् भी हो, सादि सन्‌के परे।

निपति । (आशङ्कायां सन्वक्तव्यः) श्वा मुमूर्षति । (तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सनो वेड् वाच्यः) तनोतेर्विभाषा ।६।४।१७। तनोतेरुपधाया दीर्घो वा स्याज्झलादौ सनि । तितांसति । तितंसति । तितनिषति । पत्ल पिपतिषति । सनि

इत्येकं रूपं भवति। यदा 'सनीवन्त' इतीडागमः स्यात्तदा 'विभाषोर्णोः' इति ङित्त्वे च ऊर्णुनुविषति । अत्र 'उवङादेशः स्पष्टः'। यदा ङित्वं न स्यात्तदा गुणेऽवादेशे 'ऊर्णुनविषति' इति रूपं स्पष्टम्। बिभरिषति । भृञ्धातोः सनि 'सनीवन्त' इति इटि गुणे रपरत्वे द्वित्वे अभ्यासकार्ये 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'बिभरिषति'। इडभावे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे रपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घे द्वित्वे हलादिःशेषत्वे चर्त्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे च कृते 'बुभूर्षति' इति रूपम्। जिज्ञपयिषति । ज्ञपि धातोः सनि 'सनीवन्त' इति इटि द्वित्वे हलो लोपे चर्त्वे जत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे गुणेऽयादेशे लटि तिपि शपि पररूपे 'जिज्ञपयिषति' इति रूपं सिध्यति। इडागमो न स्यात्तदा 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इति ईत्वे ततो द्वित्वे 'अत्र लोपः' इति अभ्यासलोपे लटि तिपि शपि पररूपे 'ज्ञीप्सति' इति रूपम्। सिसनिषति। सन्धातोः सनि 'सनीवन्त' इति इटि द्वित्वे हलो लोपे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'सिसनिषति' इति रूपम्। यदा नेट् स्यात्तदा 'जनसनखनां' इति आत्वे द्वित्वे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे 'सिषासति' इति द्वितीयं रूपम्। आशङ्कायामिति। आशङ्काविषयक्रियाबोधकधातोः सन्नित्यर्थः। मुमूर्षति। मृङ्=प्राणत्यागेऽस्माद्धातोः सनि उत्वे रपरत्वे 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिःशेषत्वे इत्वे झलन्तत्वात् लटि तिपि शपि पररूपत्वे 'मुमूर्षति' इत्येकमेव रूपं भवति। श्वेतिपदं तु मरणप्राङ्गविषयकत्वं स्फोरणार्थमित्यवधेयम्। तनोतेरिति। 'नोपधायाः' इत्यतः 'हलोपे' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः। अज्झन इत्यतः झलीति अनुवर्तते। तितनिषति। तनोतेः सनि 'तनिपति' इति वैकल्पिके इटि 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिःशेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे 'तितनिष' इति जाते धातुत्वाल्लटि तिपि शपि पररूपे 'तितनिषति' इत्येकं रूपं भवति। इडभावे— तितांसतीति। तनोतेः सनि 'तनिपति' इडभावे 'तनोतेर्विभाषा' इति दीर्घे ततो द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलो लोपे ह्रस्वत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारे 'तितांस' इति जाते धातुत्वाल्लटि तिपि शपि पररूपे 'तितांसति' इति द्वितीयं रूपम्। इडभावे दीर्घाभावे च 'तितंसति' इति तृतीयं रूपं प्रसिद्धमेव। पिपतिषति। पत्धातोः सनि 'तनिपति' इति वेटि द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे

आशं—आशङ्का अर्थमें भी धातुसे 'सन्' प्रत्यय हो। तनिपति—तनादि धातुओं से पर 'सन्'को इट् हो, विकल्पसे। तनो—'तन' धातुकी उपधाको दीर्घ हो, झलादि सन् के परे, विकल्पसे। सनि—'मी' आदि धातुओंके 'अच्'को 'इस्' आदेश हो, सकारादि सन्के परे।

मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् ।७।४।५४। एषामच इस् स्यात्सादौ सनि। अभ्यासलोपः। सलोपः। पित्सति। दिदरिद्रिषति। दिदरिद्रासति। **मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा** । ७ । ४ । ५७। मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा स्यात् सादौ सनि। अभ्यासलोपः। मोक्षते, मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव। अकर्मकस्य किम्? मुमुक्षति वत्सं कृष्णः। **इट् सनि वा** ।७।२।४१। वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च सन इड् वा। विवरिषते।

षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'पिपतिषति' इति रूपं भवति। इडभावे तु—सनि मीमेति। 'अत्र लोपः' इत्यतः अभ्यासलोप इति लभ्यते। 'सः सि' इत्यतः सादि इति लभ्यते। इडागमरहित इत्यर्थः। पित्सति। पतधातोः सनि 'सनिमीमा' इति अचः स्थाने इसादेशे द्वित्वे 'अत्र लोप' इत्यभ्यासलोपे 'पिस् त स' इति जाते 'हलन्ताच्च' इति किस्वे 'स्कोः' इति सलोपे 'पित्स' इत्यवशिष्टे लटि तिपि शपि पररूपे 'पित्सति' इति रूपं भवति। दिदरिद्रिषति। दरिद्राधातोः सनि 'तनिपति' इडागमे 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'सन्यतः' इतीत्त्वे षत्वे 'दिदरिद्रिष' इति जाते लटि तिपि शपि 'दिदरिद्रिषति' इति रूपं भवति। यदेडागमो न स्यात्तदा 'दिदरिद्रासति' इति द्वितीयं रूपं सिद्धम्। मुचोकर्मकस्येति। 'सः सि' इत्यतः सि 'सनि मीमा' इत्यतः सनीति चानुवर्तते। 'हलन्ताच्च' इति किस्वेन गुणप्राप्तौ वचनमिदम्। मुमुक्षत इति। मुच्लृधातोः सनि 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा' इति वैभाषिके गुणे द्वित्वे 'अत्र लोप' इति लोपे 'चोः कुः' इति कुत्वेन चस्य कत्वे सस्य षत्वे उभयोः संयोगेन क्षत्वे लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'मोक्षते' इति प्रथमं रूपम्। यदा गुणो न स्यात्तदाऽभ्यासलोपोऽपि न स्यात्। अतः 'मुमुक्षते' इति सुकरमेव। वत्सः स्वयमेवेति पदत्रयं तु धातोरकर्मकत्वस्फोरणायेति बोध्यम्। सकर्मकमुदाहरति। मुमुक्षति वत्सं कृष्ण इति। अत्र केवलं परस्मैपदभेदो गुणराहित्यं चेति बोध्यम्। इट् सनि वेति। वृतो वेत्यतः। 'वृत' इत्यनुवर्तते। 'सनि ग्रहगुहोश्च' इत्यस्यापवादः। विवरिषते। वृञ्धातोः सनि 'इट् सनि वा' इति इटि गुणे रपरत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे उरदत्वात्मङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'विवरिषति' इत्येकं रूपम्। 'वृतो वा' इति दीर्घपक्षे च 'विवरीषते' इति रूपम्। यदा परस्मैपदं तदा 'विवरिषति' 'विवरीषति' इति रूपद्वयं भवति। यदेडागमो न स्यात्तदा 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे 'हलि च' इति दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे हलो लोपे षत्वे लटि तङि शपि टेरेत्वे पररूपत्वे 'वुवूर्षते'। परस्मैपदे तु 'वुवूर्षति' इत्यादि रूपाणि जायन्ते।

मुचो—अकर्मक 'मुच्' धातुको गुण हो, सकारादि सन्‌के परे, विकल्पसे। इट् सनि—वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातुओंसे पर सन्‌को इट् हो, विकल्पसे।

विपरीषते । शुश्रूषते । विवरिषति । तितरिषति । तितरीषति । तितीर्षति ।

स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि ।७।२।७४। स्मिङ् पूङ् ऋ अञ्जु अश्-एभ्य सन इट् । सिस्मयिषते । पिपविषते । अरिरिषति । अञ्जिजिषति । अशिशिषति । **गुप** गोपने । **तिज** निशाने । **कित** निवासे, रोगापनयने च । **मान** पूजायाम् । **बध** बन्धने । **दान** खण्डने । **शान** तेजने । **गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ।३।१।५। मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य ।३।१।६।** सूत्रद्वयोक्तेभ्य सन् स्यात् मानादीनामभ्यासस्येकारस्य दीर्घश्च । **गुपेर्निन्दायाम् । तिजेः क्षमायाम् । कितेर्व्याधिप्रतीकारे,** निग्रहे अपनयने, नाशने, संशये च । **मानेर्जिज्ञासायाम् । बधेश्चित्तविकारे । दानेरार्जवे । शानेर्निशाने ।** गुपिप्रभृतय स्त्रियो निन्दाद्यर्थका एवानुदात्तेतो दानशानौ तु स्वरितेतौ । एष्वर्थेषु एते नित्यसन्नन्ता । अर्थान्तरे त्वनुबन्धकाद्यु दय । अनुबन्धस्य केवलेऽचरितार्थत्वात्सन्नन्तात्पदव्यवस्था । 'धातो'रित्यविहितत्व

तितरिषति । तृधातो सनि इटि गुणे रपरत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'सन्यत' इतीत्त्वे प ...टि तिपि शपि पररूपे 'तितरिषति' इत्येक रूप भवति । 'वृतो वा' इति ... तु 'तितरीषति' इति द्वितीयं रूप भवति । यदा इडागमो न स्यात्तदा 'अ... इद्धातो ' इतीति रपरत्वे ततो द्वित्वे हलो लोपे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'ति... र्षति' इति रूप भवति । स्मिपूङिति । 'इडत्यर्ति' इत्यत इडिति अनुवर्त्य... सिस्मयिषते । स्मिङ् धातोः सनि 'स्मिपूङ्' इति इटि गुणेऽयादेशे द्वित्वेऽभ्या... कार्ये 'सन्यत' इतीत्वे षत्वे लटि 'पूर्ववत्सन' इति तङि टेरेत्वे शपि गुणे पर... 'सिस्मयिषते' । पिपविषते । पूङ्धातो सनि 'स्मिपूङ्' इतीटि गुणेऽवादेशे द्वि... 'सन्यत ' इतीत्वे लटि तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'पिपविषते' इति रूपम् । अ... रिषति । ऋधातो सनि 'स्मिपूङ्' इति इटि गुणे 'रि' इत्यस्य द्वित्वे षत्वे ल... तिपि शपि पररूपे रूपम् । अञ्जिजिषति-अशिशिषति । अञ्ज्—अश् इति धात्वो स... 'स्मिपूङ्' इतीटि 'जि=शि' इत्यनयोर्द्वित्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'अञ्जि... षति' 'अशिशिषति' इति । गुप्तिजिति । एभ्यो धातुभ्य सन् स्यादित्यर्थः । मान... ति । एभ्यो धातुभ्य सन् स्यात्सनि चाभ्यासस्य दीर्घः स्यादित्यर्थ । ... सन्निति 'गुप्तिज्' इत्यतोऽनुकृष्यते । गुपादीनां सन्व्यवस्थामाह 'गुपेर्निन्दाया... सन् इत्यर्थ । 'तिजेः क्षमायाम्' । 'कितेर्व्याधिप्रतीकारे' । 'बधेश्चित्तविकारे'

स्मिपूङ्—'स्मिङ्' आदि धातुओंसे पर सन्को इट् हो ।

गुप्तिज्मान्बध—इन सूत्रद्वयोक्त गुपादि सात धातुओंसे सन् प्रत्यय ... और मान्, बध दान् और शान् धातुओंसे सन् तथा सन्-सन्नियोगशिष्टेन धातुओं अभ्यासस्थ इकारको दीर्घ भी हो ।

त्वनोऽत्र नार्द्धधातुकत्वम् । तेनेड्गुणौ न । जुगुप्सते । तितिक्षते । चिकित्सति । मीमांसते । बीभत्सते । दीदांसति । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । णिचि तु—गोपयति । गोपयते इत्यादि । इति सन्नन्तप्रकरणम् ।



अथ यङन्तप्रकरणम्

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ।३।१।२२। पौनःपुन्ये, भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् । **गुणो यङ्लुकोः ।७।४।८२।** अभ्यासस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वाल्लडादयः । ङिदन्तत्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनरतिशयेन वा भवति—बोभूयते । बोभूयाञ्चक्रे । अबोभूयिष्ट । धातोः किम् ? आर्द्धधातुकत्वं यथा

'दानेरार्जवे' । 'शानेर्निशाने' । एतानि लक्ष वार्तिकानीत्यवसेयम् । एतेष्वेव वार्तिकार्थेषु सत्सु एतेषां धातूनां अनुदात्तेत्त्वमवधेयमन्यथा परस्मैपदमेवेति भावः । नित्यसन्नन्तत्वमपि अनुदात्तेत्त्वसत्व एव नान्यथा । जुगुप्सते । गुपधातोर्निन्दायाम् सनि द्वित्वेऽभ्यासकार्ये चर्त्वे 'हलन्ताच्च' किंत्वाद् गुणाभावे । 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदे लङि टेरेत्वे 'जुगुप्सते' इति रूपम् । तितिक्षते । तिज धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति सनि द्वित्वे 'हलन्ताच्च' इति किंत्वेन गुणाभावे 'चोः कुः' इति कुत्वे षत्वे चत्वे 'तितिक्षते' इति रूपम् । चिकित्सति । कितधातोः 'गुप्तिज्' इति सनि द्वित्वे कुत्वे किंत्वेन गुणाभावे लटि तिपि शपि पररूपे 'चिकित्सति' इति रूपम् । मीमांसते । मानधातोः 'मानेर्जिज्ञासायाम्' इति सनि द्वित्वे हस्वे हलो लोपे 'सन्यतः' इतीत्वे 'मान्बधदान्' इति दीर्घे लटि तङि शपि पररूपे 'मीमांसते' इति रूपम् । 'बीभत्सते' बधधातोः 'बधेश्चित्तविकारे' इति सनि द्वित्वे 'सन्यतः' इतीत्वे 'मान्बध' इति दीर्घे 'एकाचो' इति भष्भावे 'खरि च' इति चर्त्वे तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'बीभत्सते' इति रूपम् । इति सन्नन्तप्रकरणम् ।



द्योत्ये इति । वाच्यत्वे तु प्रत्ययवाच्यस्य प्रधानतया सन्नन्ते इच्छाया इव तस्य विशेष्यत्वं स्यादिति भावः । बोभूयते । भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे

पदव्यवस्था—अर्थात् 'परस्मैपदात्मनेपदयोरुत्पत्तिः' ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें सन्नन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।



धातोः—पौनःपुन्य (बार-बार) और भृशार्थ (अत्यधिकता) द्योत्य होनेपर हलादि, एकाच् धातुसे 'यङ्' प्रत्यय हो । गुणो—अभ्यासको गुण हो, 'यङ्'के परे और यङ्लुक्‌के

स्यात्। तेन 'नुवो धचि'रित्यादि। एकाच किम्? पुन पुनर्जागर्ति। हलादेः किम्? भृशमीक्षते। **नित्यं कौटिल्ये गतौ ।३।१।२३।** गत्यर्थात्कौटिल्ये एव यङ्, न तु क्रियासमभिहारे। **दीर्घोऽकित. ७।४।८३।** अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो, यङ्-यङ्लुकोः। कुटिल व्रजति—वाव्रज्यते। **यस्य हल ६।४।४९।** 'यस्ये'ति संघातग्रहणम्। हल परस्य यशब्दस्य लोप स्यादार्द्धधातुके। 'आदे. परस्य'। 'अतो लोप.'। वाव्रजामके। वाव्रजिता। **रीङृतः ।७।४।२७।** अकृद्यकारे, असार्वधातुक

यङ्' इति यङ्प्रत्यये ङकारेत्संज्ञायां लोपे च 'सन्यङो' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्याससंज्ञायां 'हलादि शेष' इत्यादिहलशिष्टे हृस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्य गुणे 'बोभूय' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातव' इति धातुत्वात् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, यङो ङित्वात् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इति लटो ल' स्थाने तङि 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति तस्य टेरेत्वे 'बोभूयते' इति। अबोभूयिष्ट। भूइत्यस्माद् धातोः यङि द्वित्वेऽभ्यासगुणे जश्त्वे 'बोभूय' इत्यस्य धातुत्वाल्लुङो ल' स्थाने तप्रत्ययेऽटि च्ले सिचि इडागमे तयोर्लोपे च कृते स् इत्यस्य आर्धधातुकत्वे इटि 'अतो लोप' इति यङोऽकारस्य लोपे षत्वे ष्टुत्वे च 'अबोभूयिष्ट' इति रूपम्। वाव्रज्यते। व्रजधातो 'नित्य कौटिल्ये गतौ' इति यङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'व व्रज् य' इति जाते 'दीर्घोऽकित' इति अभ्यासाकारस्य दीर्घे 'सनाद्यन्ता धातव' इति धातुत्वाल्लटस्ते शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे टेरेत्वे च 'वाव्रज्यते' इति रूपम्। वाव्रजाञ्चक्रे। व्रजधातोर्यङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये 'दीर्घोऽकित' इत्यभ्यासदीर्घे च कृते 'वाव्रज्य' इति जाते धातुत्वाल्लिटि अनेकाच्त्वादाम्प्रत्यये 'आदे परस्य' इति सूत्रबलात् 'यस्य हल' इति यलोपे 'अतो लोप' इत्यल्लोपे 'आम' इति लिटो लुकि 'वाव्रजाम्' इति भूते 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे तप्रत्यये तस्य एशि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अभ्यासकार्ये, कृते अनुस्वारे परसवर्णे 'वाव्रजाञ्चक्रे' इति सिद्धम्। रीङ् ऋत इति। रीङित्यादेशकथनम्। ऋत. इति षष्ठी। अकृद्यकेति अधिकाराचद्विशेष-

---

विषयमें। नित्य—गत्यर्थक धातुसे कौटिल्य (वक्रगति) अर्थमें ही यङ् प्रत्यय हो किन्तु क्रियाके समभिहार (पौन पुन्य या भृशार्थ) में नहीं हो। दीर्घो—अकित् अभ्यासको दीर्घ हो, यङ्के परे और यङ्लुक्के विषयमें। यस्य—हल्से पर 'य' शब्दका लोप हो, आर्द्धधातुकके परे। रीङ्—ऋदन्त अङ्गको 'रीङ्' आदेश हो, अकृत् सम्बन्धी यकार तथा

यकारे, च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः। डुकृञ् करणे। चेक्रीयते। **रीगृदुपधस्य च।७।४।९०।** ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो, यङ्यङ्लुकोः। वरीवृत्यते। वरीवृताञ्चक्रे। वरीवृतिता। **'क्षुभ्नादिषु च'।** एषु णत्वं न। नरीनृत्यते। जरीगृह्यते॥ **(रीगृत्वत इति वाच्यम्)** वरीवृश्च्यते। **लुपसद्चरजपजभदहद्-**

णस्। अत आह ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः स्यादिति। चेक्रीयत इति। पुनः पुनः करोतीति विग्रहे-'डुकृञ्' धातोः 'धातोरेकाचः' इति यङि 'रीङ् ऋतः' इति रीङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे चत्वें 'चेक्रीय' इति जाते सनादित्वाद्धातुत्वे लटि यङो ङित्वादात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'चेक्रीयते' इति अग्रे सुलभम्। चेक्रीयांचक्रे। चेक्रीयिता। चेक्रीयिष्यते। चेक्रीयताम्। अचेक्रीयत। चेक्रीयेत। चेक्रीयिषीष्ट। अचेक्रीयिष्ट। अचेक्रीयिष्यत। इत्यादि। वरीवृत्यते। वृत्धातोर्यङि द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासस्य अत्वे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलोऽवशिष्टे 'रीगृदुपधस्य च' इति अभ्यासस्य रीगागमे 'वरीवृत्य' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटस्ते शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे टेरेत्वे च कृते 'वरीवृत्यते' इति रूपम्। पुनः पुनः वर्तते इति हि तस्यार्थः। वरीवृतिता। वृत्धातोर्यङि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च जाते, 'रीगृदुपधस्य च' इति धातोरभ्यासस्य रीगागमे 'वरीवृत्य' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् लुटि, लुटो लः स्थाने तिपि, तासि तिपो डादेशे, 'यस्य हलः' इति यमात्रस्य लोपे 'अतो लोपः' इत्यकारस्य लोपे 'वरीवृत् तास् डा' इति जाते डकारे गते डित्वाट्टिलोपे, तास इडागमे, 'वरीवृतिता' इति रूपम्। नरीनृत्यते। नृत्धातोर्यङि, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये, रीगागमे धातुत्वाल्लटस्तादेशे शपि, अनुबन्धलोपे, पररूपे टेरेत्वे 'नरीनृत्यते' इति स्थितौ 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे प्राप्ते 'क्षुभ्नादिषु च' इति णत्वनिषेधे सति 'नरीनृत्यते' इति रूपम्। जरीगृह्यते। ग्रहधातोर्यङि ङित्वात्सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'गृह् य' इति जाते 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये 'रीगृदुपधस्य च' इत्यभ्यासस्य रीगागमे, धातुत्वाल्लटस्तेप्रत्यये, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपे टेरेत्वे च कृते 'जरीगृह्यते' इति रूपम्। रीगृत्वत इति वाच्यमिति। ऋकारोऽस्यास्तीति ऋत्वान् तस्येत्यर्थः। रीगित्यागमनिर्देशः। वरीवृश्च्यत इति। ओ व्रश्चूधातोः 'धातोरेकाचो' इति यङि ङित्वात् 'ग्रहिज्या' इति संप्रसारणे

सार्वधातुक यकार और च्वि प्रत्ययके परे। रीगृ-ऋदुपध धातुके अभ्यासको 'रीक्' का आगम हो, यङ् और यङ् लुकके विषयमें। रीगृत्वत-(पूर्व सूत्रमें 'ऋदुपध' नहीं कहकर) ऋदन्त धातुके अभ्यासको 'रीक्' हो ऐसा ही कहना चाहिये। लुप्-'लुप-सद्' आदि धातुओंसे

शगॄभ्यो भावगर्हायाम् ।३।१।२४। एभ्यो धात्वर्थगर्हायामेव यङ् स्यात् । गर्हितं लुम्पति लोलुप्यते सासद्यते । चरफलोश्च ।७।४।८७। अनयोरभ्यासस्याऽतो नुक् यङ्यङ्लुकोः । 'नु'गित्यनेनाऽनुस्वारो लक्ष्यते । स च पदान्तवद्वाच्यः । 'वा पदान्तस्ये'ति यथा स्यात् । उत्परस्याऽतः ।७।४।८८। चरफलोरभ्यासात्परस्याऽत उत्स्याद्यङ्यङ्लुकोः । 'हलि चे'ति दीर्घः । चञ्चूर्यते । पंफुल्यते पम्फुल्यते । जपजभदहदशभञ्जपशां च ।७।४।८६। एषामभ्यासस्य नुक् स्यात् यङ्-यङ्लुकोः । न कवतेर्यङि ।७।४।६३। कवतेरभ्यासस्य चुत्वं न स्याद्यङि । कोकूयते । कौति

सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इति अत्वे रपरत्वे हलादि शेषत्वे 'रीगृत्वत' इति अभ्यासस्य रीगागमे कित्वादन्तत्वे 'वरीवृश्च्य' इति जाते यङो ङित्वादात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे 'वरीवृश्च्यते' इति रूपम् । वरीवृश्चाञ्चक्रे । वरीवृश्चिता । वरीवृश्चिष्यते । वरीवृश्च्यताम् । अवरीवृश्च्यत । वरीवृश्च्येत । वरीवृश्चिषीष्ट । अवरीवृश्चिष्ट । अवरीवृश्चिष्यत । लुपसदचरेति । यङिति अनुवर्तते । भाव धात्वर्थः । तद्गता गर्हा भावगर्हा । तस्यामित्यर्थः । लोलुप्यते । गर्हितं लुम्पतीत्यर्थे 'लुपसदचर' इति यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलो लोपत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे 'लोलुप्यते' इति रूपम् । सासद्यत इति । सद्धातो 'लुपसद' इति यङि द्वित्वे हलो लोपे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे सासद्यते । चरफलोश्चेति । 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते । 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' इत्यत अतो नुगिति । 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यत यङ्लुकोरिति चानुवर्तते । उत्परस्येति । 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते, तच्च पञ्चम्यन्तं विपरिणम्यते । 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यत यङ्लुकोरित्यनुवर्तते । चरफलोश्चेत्यादि अनुवर्तते । चञ्चूर्यते पम्फुल्यते । चर फलधात्वो' यङि द्वित्वे हलो लोपे 'चरफलोश्च' इति अभ्यासस्य नुकि 'नश्चा' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णो वा' इति वैकल्पिकपरसवर्णत्वे 'उत्पर' इत्युत्वे यकारादिप्रत्ययत्वात् 'हलि च' इति दीर्घे 'चञ्चूर्यते, चचूर्यते'। तथा पंफुल्यते, पम्फुल्यते। इत्यादि सिध्यन्ति । जपजेति । चरफलोरित्यत्रानुवृत्त सर्वमेवात्रापि अनुवर्तते । जञ्जप्यत इति । गर्हितं जपतीत्यर्थे जपधातो 'धातोरेकाच' इति यङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलो लोपे 'जप जप' इत्यभ्यासस्य नुकि कित्वादन्त्यावयवेऽनुस्वारे परसवर्णे तङि टेरेत्वे शपि

गर्हित अर्थमें ही यङ् हो । चरफ—'चर्' और 'फल्' धातुके अभ्यास सम्बन्धी अकारको 'नुक्' आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें । उत्पर—'चर्' और 'फल्' धातुके अभ्यासावयव 'अत्'को 'उत्व' हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें । जपजभ—जपादि धातुओंके अभ्यासको 'नुक्'का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें । ग्रो यङि—'गॄ' धातुके रेफको लत्व

गर्हितं जपति—जञ्जप्यते। इत्यादि। **ग्रो यङि ।८।२।२०।** गिरते रेफस्य लत्वं स्यात् यङि। गर्हितं गिलति—जेगिल्यते। **(सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः)** सोसूच्यते। सोसूत्र्यते। मोमूत्र्यते। **अट पट गतौ।** अटाट्यते। **यङि च ।७।४।३०।** अर्तेः, संयोगादेश्च ऋदन्तस्य गुणो, यङि। यकारपरस्य रेफस्य न द्वित्वनिषेधः। 'अरार्यते' इति भाष्योदाहरणात्। अरारिता। अशाश्यते। ऊर्णोनूयते। **सिचो यङि ।८।३।११२।** सिचः सस्य षो न स्याद्यङि। सेसिच्यते।

पूर्वरूपे 'जञ्जप्यते' इति रूपम्। ग्रो यङीति। गॄ इत्यस्य ग्र इति षष्ठ्येकवचनम्। 'कृपो रो लः' इत्यनुवर्तते। जेगिल्यत इति। गर्हितं गिलति इत्यर्थे गॄधातोः 'धातोरेकाचो' इति यङि 'ॠत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे 'ग्रो यङि' इति रेफस्य लत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे 'जेगिल्यते' इति रूपम्। सोसूच्यत इति। सूचिधातोः 'सूचिसूत्रि' इति वार्तिकेन यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषत्वे, ह्रस्वत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे 'सोसूच्यते' इत्यस्य सिद्धिः। अटाट्यत इति। अट्गतौ, तस्मात् 'सूचिसूत्रि' इति यङि द्वित्वे हलो लोपे सवर्णदीर्घे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे 'अटाट्यते' इत्यस्य सिद्धिः। यङि चेति। 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति सूत्रमनुवर्तते। 'रीङ् ऋतः' इत्यस्मात् ऋत इति च। ऋधातोः यङि 'यङि च' इति गुणे रेफविशिष्टस्य यकारस्य 'सन्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यासत्वे हलादिःशेषत्वे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे च कृते 'अरार्यते' इति रूपम्। अरार्यांचक्रे। अरारिता। अरार्य-ता इत्यवस्थायां 'यस्य हलः' इति यलोपे इडागमे रूपम्। अशाशिता। अशधातोः यङि द्वित्वे हलो लोपे इटि 'अशाश्य इता' इति जाते 'यस्य हलः' इति यलोपे 'अशाशिता' इति। ऊर्णोनूयते। ऊर्णुञ् धातोः यङि नुशब्दस्य द्वित्वे ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे णत्वे 'अकृदि'ति दीर्घे तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे 'ऊर्णोनूयते' इति। सिचो यङीति। सिच धातोः यङि द्वित्वे हलो लोपे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि शपि टेरेत्वे 'सेसिच्यते' इति रूपम्। अत्र 'उपसर्गात्' इति प्राप्तं षत्वं 'सिचो यङि' इति निषेधान्न भवतीति सम्बन्धः। न कवतेरिति। 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येति। 'कुहोश्चुः' इत्यतश्चुरिति

हो, यङ्के परे।

सूचि—सूचि-सूत्रि आदि धातुओंसे भी 'यङ्' हो (पौनःपुन्य और भृशार्थमें) यङि—'ऋ' धातु और संयोगादि ऋदन्त अङ्गको गुण हो, यङ्के परे। सिचो—'सिच्' धातुसम्बन्धी सकारको षत्व नहीं हो, यङ् के परे। न कव—'कु' धातुके अभ्यासको 'चुत्व'

कुघत्योस्तु—चोकूयते। (हन्तेर्हिंसायां यङि घ्नीभावो वाच्यः) जेघ्नीयते। हिंसायां किम्? । नुगतोऽनुनासिकान्तस्य । ७ । ४ । ८५ । अनुनासिकान्तस्य अदन्ताभ्यासस्य नुक्स्याद्यङ्यङ्लुकोः । जङ्घन्यते । अयङ् यि क्ङिति ।७।४।२२। शीङोऽयङादेशः स्याद्यादौ क्ङिति परे। शाशय्यते ॥ स्वपिस्यमिव्येञां यङि ।६।१।१९। स्वपिस्यमिव्येञां यङि सम्प्रसारणं स्यात्। सोषुप्यते। सेसिम्यते। वेवीयते। न वशः ।६।१।२०। वशः संप्रसारणं न स्याद्यङि। वावश्यते। चाय की ।६।१।२१।

चानुवर्तते। कोकूयत इति। कु शब्देऽस्माद्यङि दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुको' इति गुणे 'कुहोश्चु' इति प्राप्त चुत्व 'न कवतेर्यङि' इत्यनेन निषिध्यते, तङि शपि टेरत्वे पूर्वरूपे 'कोकूयते' इति रूपम्। कौतिकुघात्योस्तु चुत्व स्यादेवात आह—'चोकूयते'इति। जेघ्नीयत इति। हनधातोर्यङि 'हन्तेर्हिंसायाम्' इति वार्तिकेन घ्नीभावे 'सन्यङो' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे 'कुहोश्चु' इति श्चुत्वे 'गुणो यङ्लुको' इति गुणे तङि शपि पूर्वरूपे टेरत्वे 'जेघ्नीयते' इति रूपम्। एतच्च हिंसायामेव। अन्यथा—नुगतोऽनु इति। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। 'अत्र लोप' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते। जङ्घन्यत इति। हनधातोर्यङि द्वित्वे 'कुहोश्चु' इति चुत्वेऽभ्यासचर्त्वे 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वेन ह्रस्व घत्वे 'नुगतो' इति नुगागमेऽभ्यासावयवे 'नश्चा' इत्यनुस्वारे 'जङ्घन्य' इति जाते तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'जङ्घन्यते' इति रूपम्। अयङ् यि क्ङिति। 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इत्यतः शीङ इत्यनुवर्तते। शाशय्यते। शीङ्धातोर्यङि 'अयङ् यि क्ङिति' इति अयङि द्वित्वे हलो लोपे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे 'शाशय्य' इति जाते तङि शपि टेरत्वे पूर्वरूपे 'शाशय्यते' इति रूपम्। स्वपिस्यमीति। 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमिति लभ्यते। सोषुप्यत इति। स्वपधातोर्यङि 'स्वपिस्यमि' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वे हलो लोपेऽभ्यासगुणे षत्वे तङि शपि टेरत्वे 'सोषुप्यते'इति रूपम्। सेसिम्यत इति। स्यमिधातोर्यङि 'स्वपिस्यमि' इति सम्प्रसारणे द्वित्वे हलो लोपेऽभ्यासगुणे तङि शपि टेरत्वे 'सेसिम्यते' इति रूपम्। वेवीयत इति। व्येञ्धातोर्यङि 'स्वपिस्यमि' इति सम्प्रसारणे दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे गुणे तङि शपि टेरत्वे 'वेवीयते' इति रूपम्। न वश इति। 'ग्रहिज्या' इति प्राप्त सम्प्रसारणं नेत्यर्थः। वावश्यत इति। वशधातोर्यङि द्वित्वे सम्प्रसारणनिषेधे हलो लोपे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि शपि

नहीं हो, यङ् के परे। हन्ते—हिंसा अर्थमें 'हन्' धातुको 'घ्नी' आदेश हो, यङ् के परे। नुगतो—अनुनासिकान्त अदन्त अभ्यासको 'नुक्'का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें। अयङ्—'शीङ्' धातुको 'अयङ्' आदेश हो, यकारादि कित्-ङित् प्रत्ययके परे। स्वपि—स्वप्यादि धातुको सम्प्रसारण हो, यङ् के परे। न वश —'वश्' धातुको सम्प्रसारण नहीं हो, यङ् के परे। चाय—'ची' धातुको 'की' आदेश हो, यङ् परे रहते।

चायः की स्याद्यङि। चेकीयते। ई घ्राध्मोः ।७।४।३१। अनयोरीत्स्याद्यङि। जेघ्रीयते। देध्मीयते। **नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ।८।४।८४।** एषामभ्यासस्य नीगागमः स्याद्यङ्-यङ्लुकोः। 'अकित' इत्युक्तेर्न दीर्घः। नलोपः। वनीवच्यते। सनीस्रस्यते। दनीध्वस्यते। बनीभ्रस्यते। चनीकस्यते। पनीपत्यते। पनीपद्यते। चनीस्कद्यते॥ इति यङन्तप्रकरणम्।

अथ यङ्लुगन्तप्रकरणम्

यङोऽचि च ।२।४।७४। यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात्तं विनापि क्वचित्। अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति। ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम्। अभ्यासकार्यम्। धातुत्वाल्लडादयः। **'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'।**

टेरत्वे पररूपे 'वावश्यते' इति रूपम्। चायः कीति। यङीति शेषः। चकीयत इति चाय् धातोर्यङि 'चायः की' इति कयादेशे द्वित्वे ह्रस्वे चुत्वे गुणे तङि शपि टेरत्वे 'चेकीयते' इति। ईघ्राध्मोरिति। यङीति शेषः। 'घ्रा, ध्मा धातोः यङि 'ईघ्राध्मोः' इति 'ई' आदेशे द्वित्वे हलो लोपे 'कुहोश्चुः' चुत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे ह्रस्वे गुणे तङि शपि पररूपे टेरत्वे 'जेघ्रीयते' 'देध्मीयते' इत्युभयरूपसिद्धिः। 'नीग्वञ्चु' इति। 'अत्रलोप' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते। स्रंसु-भ्रंसु-ध्वंसु-धातुभ्यो यङि ङित्वात् अनुनासिकलोपे द्वित्वे हलो लोपे भषयोश्चर्त्वे 'नीग्वञ्चु' इति नीगागमे तङि टेरत्वे शपि पररूपे 'सनीस्रस्यते' 'बनीभ्रस्यते' 'दनीध्वस्यते' रूपत्रयं साधु। तद्वत् कस-पत-पद-स्कन्द धातुभ्यो यङि द्वित्वादिकार्ये 'नीग्वञ्चु' इति नीगागमे तङि शपि टेरत्वे 'चनीकस्यते' 'पनीपत्यते', 'पनीपद्यते', 'चनीस्कद्यते' इति रूपाणि। इति यङन्तप्रक्रिया।

यङोऽचि चेति। अचि इति प्रत्ययग्रहणम्, न तु प्रत्याहारः, यङा साहचर्यात्। 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। तदाह—यङोऽचि प्रत्यये इति चकारात्तं विनापीति। अच्प्रत्ययाभावेऽपीत्यर्थः। तत इति। यङो लुगनन्तरमित्यर्थः। 'न लुमता' इत्यनेन हि लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं निषिध्यते। द्वित्वादिकं तु यङन्तस्य कार्यम्, नतु यङ्निमित्तकम्, यङि परतस्तद्विध्यभावादिति भावः। धातुत्वादिति। यङो लुकि सत्यपि प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य यङन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता

ई घ्रा—'घ्रा' और 'ध्मा' धातुको 'ईत' हो, यङ् के परे। नीग्व—वञ्चु, स्रंसु आदि धातुओंके अभ्यासको 'नीक्'का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यङन्तप्रकरण समाप्त हुआ।

यङो—'यङ्'का लुक् (लोप) हो, 'अच्' प्रत्ययके परे। चकारात् 'अच्' प्रत्ययके बिना

'चर्करीतं च' इत्यदादौ पाठाच्छपो लुक्। यङो वा ॥७।३।९४॥ यङन्तात्परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईड् वा स्यात्। 'भूसुवो'रिति निषेधो यङ्लुकि भाषायां न, 'बोभूतु तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति। बोभोति। बोभूतः। बोभुवति। बोभवीषि। बोभोषि। बोभूथः। बोभूथ। बोभवीमि। बोभोमि। बोभूवः। बोभूमः। बोभवाञ्चकार। बोभवाम्बभूव। बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु। बोभोतु। बोभूतात्। बोभूताम्। बोभुवतु। बोभूहि। बोभूतात्। बोभवानि। बोभवाव। बोभवाम। अबोभवीत्। अबोभोत्। अबोभूताम्। अबोभवुः। बोभूयात्। बोभूयाताम्। बोभूयुः। बोभूयात्। बोभूयास्ताम्। बोभूयासुः। 'गातिस्थे'ति सिचो लुक्। 'यङो वे'तीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्। अबोभू-

---

वात्' इति धातुरूपम्। चर्करीतमिति। यङ्लुगन्तमदादौ बोध्यमिति व्याख्यातं प्राक्। अतो यङ्लुगन्ताच्छपो लुगित्यर्थः। निपातनादिति। 'दृषेश्छन्दसि' इत्यतः छन्दसीत्यनुवृत्तौ 'दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्ते' इत्यादिसूत्रे भूधातोर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावो निपात्यते। 'भूसुवो' इत्येव तत्र गुणनिषेधे सिद्धे गुणाभावनिपातनं नियमार्थम्—यङ्लुकि छन्दस्येव 'भूसुवो' इति गुणनिषेधो, नान्यत्र इति। अतो लोकेऽपि यङ्लुगस्तीति विज्ञायते। बोभवीति भूधातोर्यङि, 'यङोऽचि च' इति द्वित्वापेक्षया आदौ यङो लुकि, ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् द्वित्वे, 'गुणो यङ्लुकोः' इति अभ्यासस्य गुणे, जश्त्वे, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वात्तिपि, 'कर्तरि शप्' इति शपि, 'चर्करीतं च' इति यङ्लुगन्तस्य अदादौ पाठादत्वादित्वात् 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'बो भू ति' इति स्थिते 'यङो वा' इति पाक्षिक ईडागमे, 'बोभूतुतेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात् 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधस्य यङ्लुकि भाषायामप्रवृत्त्या गुणेऽवादेशे च 'बोभवीति' इति रूपम्। ईडभावे 'बोभोति' इति रूपम्। अबोभवीत्। भूधातो 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि, 'यङोऽचि च' इति यङो लुकि, 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासकार्ये, 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वे, 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे, 'गुणो यङ्लुकोः' इति अभ्यासस्याचो गुणे 'बोभू' इति जाते, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, लङस्तिपि, शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' शपो लुकि 'यङो वा' इति ईटि, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे, अडागमे च कृते 'अबोभवीत्' इति सिद्धम्। ईडागमाभावे—अबोभोत् इति। अबोभूताम्। भूधातो-

---

में कहीं इष्ट हो। यङो वा—यङन्त से पर हलादि 'पित्' सार्वधातुक को 'ईट्' का आगम

-वीत्। अबोभोत् अबोभूताम्। अबोभूवुः। अबोभविष्यत्॥ जङ्गमीति। जङ्गन्ति। 'अनुदात्ते'त्यनुनासिकलोपः। जङ्गतः। जग्मति। 'म्वोश्च'। जङ्गन्मि। जङ्गन्वः।

'श्तिपा, शपा-ऽनुबन्धेन निर्दिष्टं, यद्गणेन च।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव, पञ्चैतानि न यङ्लुकि'॥ १॥

'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि, 'यङोऽचि च' इति यङो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शिष्टे, 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्याचो ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासभकारस्य बत्वे, 'गुणो यङ्लुकोः' इति अभ्यासस्य गुणे 'बोभू' इति जाते, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'लुङ्' इति लुङि, लुङः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तिपि, अनुबन्धलोपे, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, 'बोभू स् ति' इति भूते, 'इतश्च' इति तिपः इकारस्य लोपे, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तिपस्तकारस्य सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचः सो लोपे, 'यङो वा' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते नित्यत्वात् तम्बाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुगागमे 'बोभूवीत्' इति जाते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यङ्गस्य अडागमे 'अबोभूवीत्' इति रूपम्। अबोभोत्। 'यङो वा' इति ईडागमाभावपक्षे लुङ्सम्बन्धस्य अपरत्वाभावेन वुगभावे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'अबोभोत्' इति रूपम्। जङ्गमीति। गमधातोर्यङि 'यङोऽचि' इति लुकि प्रत्ययलोपमाश्रित्य 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'नुगतो' इति नुगागमेऽनुस्वारे परसवर्णे तिपि शपि यङ्लुगन्तस्याद्यादौ पाठात् 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति लुकि 'यङो वा' इति पाक्षिके ईडागमे 'जङ्गमीति' रूपं भवति। यदा नेडागमः स्यात्तदा 'जङ्गम्-ति' इत्यवस्थायां 'नश्चापदे'त्यनुस्वारे परसवर्णे 'जङ्गन्ति' इति द्वितीयरूपसिद्धिः। 'जङ्गम् तस्' इत्यवस्थायां तसोऽपित्त्वेन ङित्त्वात् 'अनुदात्तोपदेश' इति अनुनासिकलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'जङ्गतः' इति रूपं सिद्धम्। झौ परतस्तु 'जङ्गम्-झि' इति स्थिते 'अदभ्यस्तात्' इति अतादेशे तस्याऽपि ङित्त्वेन 'गमहन' इत्युपधालोपे 'जग्मति' इति रूपम्। जङ्गमीषि-जङ्गंसि। जङ्गथः। जङ्गथ। जङ्गमीमि जङ्गन्मि। जङ्गन्वः। जङ्गन्मः। अत्र मस्य 'म्वोश्च' इत्यनेन नकारे रूपाण्यवलेयानि। श्तिपा शपेति। 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इत्यादिना निर्दिष्टम्। पाणिनिकाले सूत्रं पठितम्। गणविशिष्टेन निर्दिष्टम्। यत्र चैकाज्ग्रहणेन प्रतिपादितं यत्कार्यं तद्यङ्लुगन्ते न भवति इति ज्ञेयमित्यर्थः। सदेव प्रासमित्तिनिषेधं

हो, विकल्पसे। श्तिपा—१-श्तिप् निर्देश, २-शप्-निर्देश, ३-अनुबन्धनिर्देश, ४-गण-निर्देश और ५-एकाच् निर्देशसे जो कार्य निर्दिष्ट हुए हैं वे पाँचों कार्य यङ्लुक्से नहीं हों।

—इति वचनान्न इण्निषेध । जङ्गमिता । अनुनासिकलोपस्याऽभीयत्वेनाऽसिद्धत्वान्न हेर्लुक् । जङ्गहि । 'मो नो धातोः' । अजङ्गन् । अनुबन्धनिर्देशान्न च्लेरङ्—अजङ्गमीत् । **रुग्रिकौ च लुकि ७।४।९१।** ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रुक्, रिक्, रीक्-एते स्युर्यङ्लुकि । **ऋतश्च । ७ । ४ । ९२ ।** ऋदन्ताद्धातोरपि तथा । वर्वृतीति । वरिवृतीति । वरीवृतीति । वर्वर्ति । वरिवर्ति । वरीवर्ति । वर्वृत ३ । वर्वृतति ३ । वर्वर्तामास ३ । वर्वर्तिता ३ । गणनिर्दिष्टत्वान्न वृद्भ्यश्चतुर्भ्य इति न । वर्वर्तिष्यति ३ । अवर्वृतीत् ३ । अवर्वर्त ३ । सिपि 'दश्च'ति रुत्वपक्षे—'रो रि' । अवर्वाः ३ । गणनिर्दिष्टत्वादङ् न । अवर्वर्तीत् ३ ॥ चर्करीति । चरिकरीति । चरीकरीति । चर्कर्ति । चरिकर्ति । चरीकर्ति । चर्कृत ३ । चर्कति ३ । चर्कराञ्चकार ३ । चर्करिता ३ । अचर्करीत् ३ । अचर्क ३ । चर्क्रियात् ३ । आशिषि रिङ्—चक्रियात् ३ । अचर्कारीत् ३ । 'ऋतश्चे'ति तपरत्वान्नेह-दॄ

निवारयन्सूचयति—जङ्गमितेति । 'जङ्गम्-ता' इत्यवस्थायामिटि 'जङ्गमिता' इति रूपम् । जङ्गमिष्यति । जङ्गमीतु जङ्गन्तु । हौ विशेषं स्मरयति 'जङ्गहि' अत्र हेरत्परकत्वेन 'अतो हेः' इति हेर्लोपे प्राप्त आह-हेर्लोपे कर्तव्ये मावकृतमकारलोपस्याभीयत्वेनासिद्धतया हेरत्परकत्वाभावान्न लोपप्रसक्तिरिति भाव । लङि अजङ्गम्-त् इति स्थिते, 'यङो वा' इति सति ईटि 'अजङ्गमीत्' इत्येकं रूपं, यदा नेट् स्यात्तदा अजङ्गम्-त् इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति तलोपे 'मो नो धातो' इति मस्य नत्वे 'अजङ्गन्' इति रूपम् । लुङि अजङ्गम् च्ली-त् इति स्थिते सिचि सिच इडागमे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्येडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे दीर्घे 'अजङ्गमीत्' इति रूपम् । अत्र गम्धातो' लृदित्त्वादङ् तस्यालुग्घावेन तन्निमित्तककार्यस्य यङ्लुगादौ निषेधादिति भाव । 'अजङ्गमिष्यत' इत्यादि । रुग्रिकावेति । चकारेण 'रीगृदुपधस्य च' इत्यतो रीगपि अनुकृष्यत अत आह—रुक् रिक् रीगिति । लुकि इति सप्तम्यन्तेन यङ्लुकीति ज्ञायते । ऋतश्चेति । अभ्यासस्य रुक् रिक् रीक् इत्यागमा भवन्तीत्यर्थं । वृतु-वर्तने धातोर्यङि 'यङोऽचि च' इति लुकि द्वित्वेऽभ्यासाये उरदत्वे हलो लोपे 'रुग्रिकौ च लुकि' इति रुक् रिक् रीगिति आगमत्रये सति तिपि शपि शब्लुकि 'यङो वा' इति पाक्षिक ईटि 'वर्वृतीति, वरिवृतीति, वरीवृतीति' इति । यदेडागमो न स्यात्तदा 'पुगन्त' इत्युपधागुणे सति वर्वर्ति-वरिवर्ति वरीवर्ति । इत्यादि रूपत्रयम् । ईटि सति न गुण 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति निषेधात् । डुकृञ् करणेऽस्माद्धातो यङि यङ्लुकि द्वित्वे उरदत्वे चर्त्वे हलो लोपे तिपि शपि शब्लुकि 'यङो वा' इति ईटि गुणे 'ऋतश्च' इति

रुग्रि—ऋदुपध धातुओं 'रुक्', 'रिक्' और 'रीक्' का आगम हो, यङ्लुक् में । ऋतश्च-ऋदन्त

विक्षेपे। चार्कर्ति। चाकरीति। चाकीर्तः। चाकीर्हि। चाकराणि। अचाकरीत्। अचाकः। अचाकीर्ताम्। अचाकरुः। अचाकारीत्। अचाकारिष्टाम्। अचाकारिषुः। तातर्ति। तातरीति। इत्यादि। इति यङ्लुगन्तप्रकरणम्।



अथ नामधातुप्रकरणम्

सुप आत्मनः क्यच्।३।१।८। इषिकर्मण, एषितुरात्मसंबन्धिनः, सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यज्वा स्यात्। **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः।२।४।७१।** एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात्। **क्यचि च।७।४।३३।** अवर्णस्य ईः। आत्मनः पुत्रमिच्छति-पुत्रीयति। (मान्तप्रकृतिकसुबन्तादव्ययाच्च क्यज्न) किमिच्छति।

क्रमशो रुक्-रिक्-रीक्-इत्यागमाः, चर्करीति-चरिकरीति-चरीकरीति। इडभावे तु चर्कर्ति-चरिकर्ति-चरीकर्ति। इति यङ्लुगन्तप्रकरणम्।



सुप आत्मन इति। अव्ययग्रहणपरिभाषया सुबन्तादिति लभ्यते। 'धातोः कर्मणः' इति सूत्रात्कर्मणः इच्छायां वा इत्यनुवर्तते। कर्मण इति पञ्चमी। कर्मकारकादिति लभ्यते। सन्निधानादिच्छां प्रत्येव कर्मत्वं विवक्षितम्। आत्मन्शब्दः स्वपर्यायः। तादर्थ्यस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। स्वार्थात्कर्मण इति लभ्यते। स्वश्च इच्छायाः सन्निधापितत्वादेषितैव विवक्षितः। यथा च स्वस्मै यदिष्यते कर्मकारकं तदनुवृत्तस्सुबन्तादिच्छायां क्यज्वा स्यादिति फलति। तदिदमभिप्रेत्य आह-इषि कर्मण इत्यादिना। पुत्रीयति। आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तपुत्रशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि, 'पुत्र अम् क्यच्' इति स्थिते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति समुदायस्य धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, 'पुत्र क्यच्' इत्यत्र 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां 'हलन्त्यम्' इति चस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति उभयोः कचयोर्लोपे, 'क्यचि च' इत्यनेन 'पुत्र' इत्यत्र अकारस्य ईत्वे 'पुत्रीय'

धातुको भी 'रुक्'-'रिक्' और 'रीक्'का आगम हो, यङ्लुक्में।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यङ्लुगन्तप्रकरण समाप्त हुआ।

सुप्—'इष्' धातुका कर्म और 'इच्छा' कर्ताके संबन्धीवाचक सुबन्तसे इच्छा अर्थमें 'क्यच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे। सुपो—धात्ववयव और प्रातिपदिकावयव 'सुप्'का लुक् (लोप) हो। क्यचि—अवर्णको 'ईत्' हो क्यच्के परे।

मान्त—मान्त प्रकृतिक सुबन्त और अव्ययसे क्यच् नहीं हो।

इदमिच्छति । **अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्द्धेषु ।७।४।३४।** एते क्यजन्ता निपात्यन्ते बुभुक्षादिष्वर्थेषु । अशनायति । उदन्यति । धनायति । बुभुक्षादौ किम् ? अशनीयति । उदनीयति । धनीयति । **अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि ।७।१।५१।** एषां क्यचि असुक् । (**अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्**) । अश्वस्यति वडवा । वृषस्यति गौ । (**क्षीरलवणयोर्लालसायाम्**) क्षीरस्यति बाल । लवणस्यत्युष्ट्र । (**सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ**) दधिस्यति । दध्यस्यति । **न: क्ये ।१।४।१५।** क्यचि, क्यङि च नान्तमेव पदं स्यान्नान्यत् । 'न'लोप । राजीयति । नान्तमेवेति किम् ? वाच्यति । 'हलि च' । गीर्यति । पूर्यति । 'धातो' रित्येव । तेनेह न-दिवमिच्छति

इति जाते तस्मात् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, तिपि, शपि अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च 'पुत्रीयति' इति रूपम् । लिटि—'पुत्रीयाञ्चकार' इत्यादि । मान्तप्रकृतिकेति । सर्वप्रेच्छायां प्राप्त क्यच मान्तप्रकृतिकसुबन्तात् अव्ययाच्च वारयति । अत आह—क्यजनेति । उदाहरति । 'किमिच्छति' इति विग्रहे मान्तप्रकृतिकसुबन्तात् 'किम्' इत्यस्मात् 'मान्त' इति वार्तिकेन क्यचो निषेधे 'किमिच्छति' इति वाक्यमेव । नान्यत् । अव्ययादपि क्यजनेतीति यदुक्तं तदुदाहरति—'स्व इच्छति स्वरिच्छति' अत्रापि वाक्यमेव न क्यजिति भाव । वार्तिकेन निषेधात् । अशनायेति । क्यज्विशिष्टमेतेषां निपातनम् । 'सुप आत्मन क्यच्' इत्यनेनैव सिद्धे उदकशब्दस्योदन्नादेशार्थं तथान्येषां च दीर्घार्थं निपातनमिति अवसेयम् । तच्च सूत्रनिर्दिष्टार्थेषु सत्स्वेव स्यान्नान्यार्थेषु । अशनमिच्छति इत्यर्थे निपातनात्क्यचि कलोपे 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि निपातनादेव दीर्घे धातुत्वाल्लडादय 'अशनायति' इति रूपम् । निपातनाभावे 'अशनीयति' इति रूपान्तरं । गीर्यति । पूर्यति । आत्मनो गिरमिच्छति, आत्मन पुरमिच्छति इत्यत्र च 'सुप आत्मन क्यच्' इति क्यचि, 'सनाद्यन्ता' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो' इति अमो लुकि, 'गिर् य' 'पुर् य' इति जाते, 'हलि च' इति उपधाया

अशनायो—'अशनाय' 'उदन्य' और 'धनाय'—ये तीनों बुभुक्षा, पिपासा और गर्द्ध (निन्दा) अर्थमें क्यजन्त निपातित हों ।

अश्वक्षीर—अश्व, क्षीर, वृष, और लवण शब्दोंसे 'असुक्'का आगम हो, आत्मप्रीति अर्थमें, क्यच्के परे । अश्ववृष—अश्व तथा वृष शब्दोंसे मैथुनेच्छा अर्थमें ही असुक् आगम हो । क्षीर—क्षीर और लवण शब्दोंसे लालसा अर्थमें ही असुक् हो । सर्वप्राति—सभी प्रातिपदिकसे लालसा अर्थमें 'सुक्' और 'असुक्'का आगम हो क्यच्के परे ।

न: क्ये—क्यच्–क्यङ्के परे नान्त शब्दकी ही पदसंज्ञा हो—अन्यकी नहीं ।

दिव्यति। समिध्यति। **क्यस्य विभाषा** ।६।४।५०। हलः परयोः क्यच्क्यङो र्लोपो वाऽऽर्द्धधातुके। 'आदेः परस्य'। 'अतो लोपः'। तस्य स्थानिवद्भावा न्नोपधाया गुणः। समिधिता। **काम्यच्च** ।३।१।९। उक्तविषये काम्यच्। पुत्रमात्मन इच्छति—पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता। **उपमानादाचारे** ।३।१।१०। उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् स्यात्। पुत्रमिवाचरति—पुत्रीयति च्छात्रम्। विष्णूयति द्विजम्। **(सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः)** 'अतो गुणे'। कृष्ण इवाचरति—कृष्णति। स्व इवाचरति-स्वति। सस्वौ। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** ।६।४।१५। अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात्, क्वौ, झलादौ क्ङिति च। इदमिवाचरति इदामति। राजेवाचरति राजानति। 'इन्हन्नि'ति नियमान्नेहो-

---

इको दीर्घत्वे 'गीर्य' 'पूर्य' इति जाते धातुत्वाल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'गीर्यति' 'पूर्यति' इति रूपे स्तः। दिव्यति दिवमिच्छति इत्यर्थे 'दिव् अम्' इति सुबन्तात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वात् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, कच्योर्लोपे 'दिव्य' इति भूते, तस्माल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते तत्सिद्धिः। अत्र 'हलि च' इति दीर्घो न, धातुत्वाभावात्। दिव शब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति भावः। पुत्रकाम्यति। आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यर्थे पुत्र अम् इति सुबन्तात् काम्यच् प्रत्यये 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, 'पुत्रकाम्य' इत्यस्मात् धातोर्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'पुत्रकाम्यति' इति रूपम्। पुत्रीयति छात्रमिति। पुत्रमिवाचरति इत्यर्थे 'पुत्र अम्' इति उपमानवाचककर्मणः 'उपमानादाचारे' इति क्यचि, ककारस्य चस्य च लोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यमो लुकि, 'क्यचि च' इति अस्य ईत्वे 'पुत्रीय' इति भूते, तस्माल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'पुत्रीयति' इति सिद्धम्। इदामति। इदमिवाचरति इत्यर्थे इदमिति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विपि, तस्य सर्वापहारे प्रत्ययलक्षणेन क्विबन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्

क्यस्य—'हल्'से पर क्यच्-क्यङ्का लोप हो, आर्धधातुकके विकल्पसे।

काम्यच्च—उक्त (सुप आत्मनः क्यच्) के विषयमें (ही) 'काम्यच्' प्रत्यय हो।

उपमानादाचारे—उपमानवाचक कर्मसंज्ञक सुबन्तसे आचार अर्थमें 'क्यच्' प्रत्यय हो। सर्वप्राति—सभी प्रातिपदिकोंसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, आचार अर्थमें, विकल्पसे। अनुना—अनुनासिकान्तकी उपधाको दीर्घ हो, क्विप्के परे और झलादि कित्-ङित्के परे।

पधाया दीर्घः—पन्था इवाचरति पथीनति। मथीनति। **कर्तुः क्यङ् सलोपश्च** ।३।१।११। उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यङ् वा स्यात्, सान्तस्य कर्तृवाचकस्य लोपो वा स्यात्। 'क्यङ् वे'त्युक्ते पक्षे वाक्यम्। 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्ति'रिति क्यङ्सलोपयोः सहैव प्रवृत्तिः। लोपश्च व्यवस्थितः। (**ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया**) कृष्ण इवाचरति—कृष्णायते। ओजायते। अप्सरायते। यशायते। यशस्यते। विद्वायते। विद्वस्यते॥ (**आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः**) 'वा'ग्रहणाद्वाक्यमपि। अवगल्भादयः पचाद्यजन्ताः। क्विप्सन्नियोगेनाऽनुदात्तत्वमनुनासिकत्वं चाऽच्प्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते। तेन तङ्। अवगल्भते। क्लीबते। होडते। भूतपूर्वादप्यनेकाच आम्, एतद्वार्तिकारम्भसामर्थ्यात्। अवगल्भाञ्चक्रे। क्लीबाञ्चक्रे। होडाञ्चक्रे। उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रियते। तेन 'गल्भ' शब्दात्प्रागट्। अवागल्भत। अवागल्भिष्ट। **लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्** ।३।१।१३। लोहितादिभ्यो,

---

'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति उपधाया दीर्घत्वे 'इदाम्' इति भूते तस्माल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे मिलित्वा 'इदामति' इति रूपम्। राजानति। 'राजेवाचरति' इत्यर्थे राजन् इति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विपि, क्विपो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन क्विबन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति उपधाया दीर्घत्वे 'राजान्' इति जाते तस्माल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे मिलित्वा 'राजानति' इति। अवगल्भते। अवगल्भ इवाचरतीत्यर्थे 'आचारे' इति क्विपि तल्लोपे तङि शपि पररूपे 'अवगल्भते'। क्लीब इवाचरति क्विपि तल्लोपे तङि शपि पररूपे 'क्लीबते'। होडते। इत्यादि। अवगल्भाञ्चक्रे–क्लीबाञ्चक्रे–होडाञ्चक्रे। 'अवगल्भ इति क्विबन्ताल्लुङि तङि शपि पररूपे 'उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये कर्तव्ये पृथक्क्रियते' इति नियमेन गल्भशब्दात्प्रागेवाटि 'अवागल्भत' इति रूपम्। अवगल्भेत। अवगल्भिषीष्ट। अवागल्भिष्ट। अत्राऽपि गल्भशब्दात्प्रागेवाट् न तु अवारभाक्। अवागल्भिष्यत। इत्यादि। 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति। डाजन्ताद्यो

कर्तुः क्यङ्—उपमानवाची कर्तृवाचक सुबन्तसे आचार अर्थमें 'क्यङ्' प्रत्यय हो, विकल्पसे तथा सान्त कर्तृवाचकके सकारका लोप भी हो विकल्पसे। ओजसो—'ओजस्' तथा 'अप्सरस्' शब्दके सकारका नित्य और अन्य सकारान्त शब्दोंके सकारका विकल्पसे लोप हो। आचारे—आचार अर्थमें अवगल्भ, क्लीब और होडसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, विकल्पसे (विकल्प पक्षमें-वाक्य रहे) लोहिता—लोहितादि और डाजन्तसे 'भवति' अर्थमें 'क्यष्' प्रत्यय हो।

डाजन्ताच्च भवत्यर्थे क्यप् स्यात्। **वा क्यषः ।१।३।९०।** क्यषन्तात्परस्मैपदं वा स्यात्। अलोहितो लोहितो भवति-लोहितायति। लोहितायते। ननूच्चारणसामर्थ्यात्काम्यच इव क्यषोऽपि ककारः कुतो न श्रूयते? इति चेच्छृणु। तस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात्। पटपटायति। पटपटायते। **कष्टाय क्रमणे ।३।१।१४।** चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात्। कष्टाय क्रमते—कष्टायते। पापं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः। (**सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायाम् इति वक्तव्यम्**) कण्व पापम्। पापं चिकीर्षति—सत्रायते। कक्षायते। **कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः ।३।१।१५।** रोमन्थतपोभ्यां कर्मभ्यां क्रमेण वर्त्तनायां, चरणे चार्थे क्यङ् स्यात्। रोमन्थं वर्त्तयति—रोमन्थायते। (**हनुचलन इति वाच्यम्**) चर्वितस्याऽऽकृष्य पुनश्चर्वणे इत्यर्थः। नेह-कीटो रोमन्थं वर्त्तयति। (**तपसः परस्मैपदञ्च**) तपश्चरति—तपस्यति ॥ **वाष्पोष्मभ्यामुद्वमने ।३।१।१६।**

हितादिगणात्क्यषिति भावः। वा क्यषः। क्यषन्तात्परस्मैपदं वेत्यर्थः। 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। 'अलोहितो लोहितो भवति' इति विग्रहे लोहितशब्दात्क्यषि 'अकृत्सार्व' इति दीर्घे उभयपदत्वे 'लोहितायति-लोहितायते' रूपसिद्धिः। पटपटाशब्दात् डाजन्तात् 'लोहितादि' इति क्यषि 'अकृत्' इति दीर्घे उभयपदत्वे च कृते 'पटपटायते; पटपटायति' इति रूपे भवतः। कष्टायते। 'कष्ट ङे' इति चतुर्थ्यन्तात् क्रमते इत्यस्मिन्नर्थे 'कष्टाय क्रमणे' इत्यनेन क्यङि, अनुबन्धलोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति ङेर्लुकि, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति अजन्ताङ्गस्य दीर्घत्वे 'कष्टाय' इति जाते, ङित्त्वात् तस्माल्लटस्ते, शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च तत्सिद्धिः। सत्रकक्षेति। एभ्यः शब्देभ्यः क्यङ् स्यात् पापचिकीर्षायामित्यर्थः। सत्रायते-कक्षायते। अत्र क्यङि 'अकृत्सार्व' इति दीर्घे 'सत्रायते' 'कक्षायते' इति रूपे भवतः। कृच्छ्रायते-गहनायते। कर्मण इति। 'कर्तुः क्यङ्' इत्यतः क्यङिति अनुवर्तते। रोमन्थं वर्तयति इति विग्रहे 'रोमन्थायते' इति रूपम्। 'हनुचलने' इति वार्तिकं कीटादिषु वारणाय क्रियतेऽन्यथा तत्रापि प्रयोगापत्तेः। तपश्चरति-

---

वा क्यषः—क्यषन्तसे परस्मैपद हो, विकल्पसे। कष्टा—चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्दसे 'क्यङ्' प्रत्यय हो, उत्साह अर्थमें। सत्रकक्ष—सत्रादि शब्दोंसे 'क्यङ्' प्रत्यय हो; पापेच्छा अर्थमें। कर्मणो—कर्मीभूत 'रोमन्थ' और 'तपस्' शब्दसे वर्तना (वर्तयति) तथा चरण (चरति) अर्थमें 'क्यङ्' प्रत्यय हो। हनुचलन—'रोमन्थ' शब्दसे हनुचलन (चर्वितका पुनः चबाना—पागुर) अर्थमें ही क्यङ् प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये। तपसः—क्यङन्त 'तपस्' शब्दसे परस्मैपद हो। वाष्पो—कर्मीभूत 'वाष्प' तथा 'ऊष्म' शब्दसे उद्वमन अर्थमें

आभ्यां कर्मभ्यां क्यङ् स्यादुद्वमने। बाष्पमुद्वमति—बाष्पायते। ऊष्माणमुद्वमति—ऊष्मायते। (फेनाच्चेति वक्तव्यम्) फेनमुद्वमति—फेनायते। **शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ।३।१।१७।** एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति-शब्दायते। (**सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च**) सुदिनायते। दुर्दिनायते। नीहारायते। (**प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च**) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात्, इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य-पुंवद्भावरभावटिलोपविन्मतुब्लोपयणादिलोपप्रस्थस्फाद्यादेशभसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः। पटुमाचष्टे-पटयति। पररूपात् ... सत्वा टिलोपः। अपीपटत्। 'णौ चङी'त्यत्र भाष्ये तु 'वृद्धेर्लोपो बलीया'निति स्थितम्। अपपटत्। **पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् ।३।१।२०।** (**पुच्छादुदसने, व्यसने, पर्यसने च**) विविध, विरुद्ध वा क्षेपण—व्यसनम्। उत्पुच्छयते। परिपुच्छयते। विपुच्छयते। (**भाण्डात्समाचयने**) सम्भाण्डयते। समबभाण्डत।

इति विग्रहे तपस्‌शब्दात् 'तपसः परस्मैपदं च' इति चकारात्क्यङि तपस्य इति परस्मैपदत्वे तिपि शपि पररूपे 'तपस्यति' इति रूपम्। बाष्पोष्मेति। 'क्यङ्' इति अनुवर्तते। बाष्पमुद्वमति इति विग्रहे क्यङि 'अकृत्' इति दीर्घे तङि शपि टेरेत्वे पररूपे 'बाष्पायते' तद्वत् 'ऊष्मायते' इत्यत्रापि अवसेयम्। फेनाच्चेति। वार्तिकमेतद्, क्यङिति शेषः। फेनायते। फेनमुद्वमति इत्यर्थे फेनशब्दात् 'फेनाच्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन क्यङि 'अकृत्' इति दीर्घे-तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'फेनायते' इति रूपम्। पुच्छभाण्डेति। अस्य व्याख्यानं क्रियते। पुच्छादिति। उत्पुच्छयते। उत्पुच्छशब्दात् णिङि अतो लोपे 'उत्पुच्छि' इति जाते तङि शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'उत्पुच्छयते, परिपुच्छयते' इति रूपे भवतः। संभाण्डयते। भाण्डात्समाचयने' इति वार्तिकेन णिङि अतो लोपे तङि शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'सभाण्डयते' इति रूपम्। लुङि 'उपसर्गसमानकारं पूर्वपदं धातुसञ्ज्ञानिमित्ते प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक्क्रियते'

'क्यङ्' प्रत्यय हो। फेनाच्च—कर्मीभूत 'फेन' शब्दसे उद्वमन अर्थमें 'क्यङ्' प्रत्यय हो। शब्दवैर—कर्मीभूत शब्द, वैर, आदि शब्दोंसे 'करोति' अर्थमें क्यङ् प्रत्यय हो।

सुदिन—कर्मीभूत सुदिन, दुर्दिन आदि शब्दोंसे करोत्यर्थमें 'क्यङ्' प्रत्यय हो।

प्रातिपदिक—(सभी) प्रातिपदिकसे धात्वर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे और 'इष्ठन्' प्रत्ययके परे यथा पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, विन् तथा मतुप् लोप, यणादि लोप, प्र-स्थ-स्फ-आदि आदेश और भसंज्ञा कार्य होते हैं, तथा इस 'णिच्'के परे भी हों। पुच्छ—कर्मीभूत पुच्छ, भाण्ड और चीवर शब्दसे 'णिङ्' प्रत्यय हो। पुच्छाद्—'पुच्छ' शब्दसे उदसन, व्यसन और पर्यसन अर्थमें 'णिङ्' प्रत्यय हो। भाण्डात्—'भाण्ड' शब्दसे

चीवरादर्जने, परिधाने च) संचीवरयते भिक्षुः। **मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् ।३।१।२१।** कृञर्थे। मुण्डं करोति—मुण्डयति। (**व्रताद्भोजन-तन्निवृत्त्योः**) पयः शूद्रान्नं वा व्रतयति। (**वस्त्रात्समाच्छादने**) संवस्त्रयति। (**हल्यादिभ्यो ग्रहणे**) हलिकल्योरदन्तत्वं च निपात्यते। हलिं, कलिं वा गृह्णाति—हलयति। कलयति। महद्धलं—हलिः। कृतं गृह्णाति—कृतयति। तूस्तानि विहन्ति—वितूस्तयति। तूस्तं केशा इत्येके। जटीभूताः केशा इत्यन्ये। पापमित्यपरे। (**सत्याऽर्थवेदानामापुग्वक्तव्यः**)। सत्यापयति। अर्थापयति। वेदापयति। पाशं विमुञ्चति—विपाशयति। रूपं पश्यति—रूपयति। वीणयोपगायति—उपवीणयति। तूलेनानुकुष्णाति—अनुतूलयति तृणाग्रम्।

इति नियमेन माण्डशब्दात्प्रागेवाडागमे सति 'समवमाण्डत' इति रूपम्। संचीवरयते। संचीवरशब्दात् 'चीवरात्' इति वार्तिकेन णिङि तङि शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'संचीवरयते' इति। मुण्डमिश्रेति। एभ्यो णिच् स्यात् कृञर्थे। मुण्डं करोति इति विग्रहे 'मुण्डमिश्र' इति णिचि अतो लोपे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'मुण्डयति' इति रूपम्। व्रतयतीति। व्रतशब्दात् 'व्रताद्भोजन' इति वार्तिकेन णिचि अतो लोपे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'व्रतयति' इति रूपं भवति। संवस्त्रयति। संवस्त्रशब्दात् 'वस्त्रात्समाच्छादने' इति णिचि अतो लोपे तिपि शपि गुणेऽयादेशे संवस्त्रयति। हलयति, कलयति। आभ्यां परतः 'हल्यादिभ्यो ग्रहणे' इति वार्तिकेन णिचि अनयोरदन्तत्वाद्गुणे तिपि शपि अयादेशे 'हलयति' 'कलयति' इति रूपे भवतः। कृतयति। कृतं गृह्णातीत्यर्थे णिचि गुणे तिपि शपि अयादेशे 'कृतयति' इति रूपम्। वितूस्तयति। वितूस्तशब्दात् णिचि गुणे तिपि शपि अयादेशे 'वितूस्तयति' इति रूपम्। सत्यापयति। सत्यशब्दात् 'सत्याप' इति णिचि 'सत्यार्थवेदानामापुग्वक्तव्यः' इति आपुकि दीर्घे 'सत्यापि' इति जाते धातुत्वाल्लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे सत्यापयति। अर्थापयति। अर्थशब्दादापुग्विधानसामर्थ्याण्णिचि आपुकि लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'अर्थापयति' इति रूपम्। वेदापयति। अत्रापि आपुग्विधानादेव णिजिति भावः। विपाशयति। अत्र 'सत्याप' इति णिचि अतो लोपे तिपि गुणेऽयादेशे 'विपाशयति' इति रूपम्। रूपयति। शपि गुणेऽयादेशे रूपम्। उपवीणयति। अत्रापि 'सत्याप' इति णिचि अतो लोपे तिपि शपि

'समाचयन' अर्थमें ही 'णिङ्' प्रत्यय हो। चीवरा—'चीवर' शब्दसे अर्जन और परिधान अर्थमें 'ण्यङ्' प्रत्यय हो। मुण्ड—मुण्डादि शब्दोंसे कृञर्थमें 'णिच्'-प्रत्यय हो।

व्रताद्भो—'व्रत' शब्दसे भोजन और भोजन निवृत्ति दोनों अर्थोंमें 'णिच्' प्रत्यय हो।

वस्त्रात्—'वस्त्र' शब्दसे आच्छादन अर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो।

हल्या—हल्यादि शब्दोंसे 'ग्रहण' अर्थमें णिच् प्रत्यय हो। सत्यार्थ—सत्य, अर्थ

तूलेनाऽनुघट्टयतीत्यर्थः। श्लोकैरुपस्तौति–उपश्लोकयति। सेनयाऽभियाति–अभिषेणयति। लोमान्यनुमार्ष्टि–अनुलोमयति। त्वचं संवरणे। पचाद्यच्। त्वचं गृह्णाति–त्वचयति। वर्मणा संनह्यति–संवर्मयति। वर्णं गृह्णाति–वर्णयति। चूर्णैरवध्वंसते–अवचूर्णयति॥ इति नामधातुप्रकरणम्।

अथ कण्ड्वादिप्रकरणम्

कण्ड्वादिभ्यो यक् ।३।१।२७। एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात्, स्वार्थे। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे। कण्डूयति। कण्डूयते। इत्यादि॥

इति कण्ड्वादिप्रकरणम्।

गुणेऽयादेशे 'उपवीणयति' इति रूपम्। अनुतूलयति। अत्र च 'सत्याप' इति णिचि टिलोपे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'अनुतूलयति' इति रूपम्। एवं उपश्लोकयति–अभिषेणयति–अनुलोमयति–त्वचयति–संवर्मयति–वर्णयति–अवचूर्णयति। अत्र 'सत्याप' इत्यनेनैव णिच् बोध्यः, टिलोपादिकार्यं च पूर्ववदूह्यम्। इति नामधातुप्रक्रिया।

कण्ड्वादिभ्यो यक्। धातुभ्य इति। 'धातोरेकाचो हलादेः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। नित्यमिति। वाग्रहणं तु निवृत्तमिति भावः। अन्यथा 'कण्डूयति' इत्याद्यपि स्यादिति भावः। द्विधा हि कण्ड्वादयः–धातवः प्रातिपदिकानि च, धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि। आह चायमिमं दीर्घं, मन्ये धातुर्विभाषितः॥ इति वाक्यादिति भावः। गात्रविघर्षणम्। गात्रघर्षणमिति यावत्। कण्डूयति। अनुबन्धविनिर्मुक्तात् गात्रविघर्षणार्थककण्डूञ्धातोः 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति स्वार्थे यकि, 'हलन्त्यम्' इति ञस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटस्तिपि, शपि अनुबन्धलोपे, 'कण्डूय अ ति' इति जाते, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च विहिते 'कण्डूयति' इति रूपम्। कण्डूयते। आत्मनेपदे रूपम्।

इति कण्ड्वादयः।

और वेद शब्दोंको 'आपुक्'का आगम हो 'णिच्'के परे।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें नामधातुप्रकरण समाप्त हुआ।

कण्ड्वा—कण्ड्वादि गणपठित धातुओंसे नित्य 'यक्' प्रत्यय हो, स्वार्थमें।

आत्मनेपदप्रकरणम्

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे ।१।३।१४। क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्त्तर्यात्मनेपदं स्यात् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लवनम् अन्यः करोतीत्यर्थः । **न गतिहिंसार्थेभ्यः । १ । ३ । १५ ।** गतिहिंसार्थेभ्यः कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न स्यात् । व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति । **(हरतेरप्रतिषेधः)** संप्रहरन्ते राजानः । **इतरेतराऽन्योन्योपपदाच्च । १ । ३ । १६ । (परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम्)।** इतरेतरस्याऽन्योन्यस्य, परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति। **नेर्विशः ।१।३।१७।** नेर्विश आत्मनेपदं स्यात् । निविशते । **परिव्यवेभ्यः क्रियः ।१।३।१८।** परिव्यवेभ्यः क्रिय आत्मनेपदं स्यात् । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते । **विपराभ्यां जेः**

कर्तरि कर्मेति । कर्मव्यतिहार इत्यत्र कर्मशब्दः क्रियापरः, व्यतिहारशब्दो विनिमयपर इत्युक्तं भवति । व्यतिलुनीते । वि अति इति उपसर्गद्वयपूर्वकलूञ्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, अनुबन्धलोपे, लटो लः स्थाने 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इति कर्मव्यतिहारे द्योत्ये कर्तरि आत्मनेपदे प्राप्ते, तत्र प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां ते कृते, 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्यये अनुबन्धलोपे, उभयत्र सार्वधातुकसंज्ञायां 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति लूञो ह्रस्वत्वे, 'ई हल्यघोः' इति श्नाआकारस्य ईत्वे, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'वि अति' इत्यत्र यणि च कृते 'व्यतिलुनीते' इति रूपम् । अन्यस्येति । शूद्रादियोग्यं सस्यादिलवनं ब्राह्मणः करोतीत्यर्थः । हरतेरिति । सम्प्रपूर्वाद्धरतेर्हिंसार्थत्वात् तत्रापि 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' इति निषेधे प्राप्ते आह-हरतेर्हिंसार्थकस्य नात्मनेपदनिषेध इति भावः । संप्रहरन्ते राजानः । संप्रपूर्वात् हृधातोर्लटि 'हरतेरप्रतिषेधः' इत्यात्मनेपदे झस्यान्तादेशे शपि गुणे रपरत्वे 'संप्रहरन्ते' इति रूपम् । इतरेतरेति । एतेषूपपदेषु सत्सु अपि क्रियाविनिमये द्योत्ये धातोरात्मनेपदं नेत्यर्थः । परस्परेति । अस्मात्परस्मादपि धातोरात्मनेपदं नेति भावः । उदाहरति, इतरेतरस्य-अन्योन्यस्य-परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति । अत्र क्रियाविनिमयस्य सत्त्वेऽपि कर्तरि

कर्तरि—क्रिया का विनिमय (अदल-बदल) अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे आत्मनेपद हो, कर्तामें ।

न गति—गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओंसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपद नहीं हो ।

हरते— (सोपसर्गक हिंसार्थक) 'हृ' धातुसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपदका निषेध नहीं हो । इतरेतर्—'इतरेतर' और 'अन्योन्य' उपपदक धातुसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपद नहीं हो ।

परस्परो—'परस्पर' उपपदक धातुसे क्रियाविनिमय अर्थमें आत्मनेपद नहीं हो ।

नेर्वि—'नि' उपसर्गक 'विश्' धातुसे आत्मनेपद हो । परिव्यवे—परि, वि और अव उपसर्गक 'क्रीञ्' धातुसे आत्मनेपद हो । विपरा—वि और परा उपसर्गक 'जि' धातुसे आत्म-

।१।३।१९। विपराभ्यां जेरात्मनेपदं स्यात् । विजयते । पराजयते । **क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च** ।१।३।२१। अनुसम्परिभ्य क्रीडतेरात्मनेपदं स्यात् । चादाङ । अनुक्रीडते । सङ्क्रीडते । परिक्रीडते । आक्रीडते । **(समोऽकूजने)** सङ्क्रीडते । कूजने तु—संक्रीडति चक्रम् । **(आगमेः क्षमायाम्)** ण्यन्तस्येदं ग्रहणम् । आगमयस्व तावत् । मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः । **(शिक्षेर्जिज्ञासायाम्)** धनुषि शिक्षते ।

परस्मैपदमेव 'इतरेतर' इति सूत्रे 'न गति' इत्यतो नेत्यनुवर्तनात् । विजयते । परिपूर्वं कजिधातोर्लट् स्थाने 'विपराभ्यां जे' इति ते, शपि, गुणे, अयादेशे टेरेत्वे च तसि द्धि । विजयते—उत्कृष्टो भवतीत्यर्थः । पराजयते । निकृष्टो भवतीत्यर्थः । क्रीडोनुसमिति । अनु स परि-चकाराडाङ्पूर्वेभ्य उपसर्गेभ्यो विद्यमानात् 'क्रीड' धातोरात्मनेपदं स्यादित्यर्थः । अनुक्रीडते-सङ्क्रीडते-परिक्रीडते आक्रीडते-अत्र 'क्रीडोनु' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि रूपाणि भवन्ति । विशेषमाह—समोऽकूजनेति । सम्पूर्वात्क्रीडधातोरकूजने एवात्मनेपदमन्यत्र परस्मैपदम् । कूजनं शब्द ध्वनिविशेष । कूजने सति तु 'सङ्क्रीडति' इति रूपम् । चक्रमिति तु कूजनकर्तृ. स्फोरणार्थेति भाव । आगमेरिति । आङ्पूर्वात् ण्यन्तात् गमधातोः क्षमायां आत्मनेपदमित्यर्थः । उदाहरति—आगमयस्वेति । आङ्पूर्वात् गमधातोर्णौ धातुसंज्ञायां लोटि मध्यमपुरुषैकवचनविवक्षायां थासि, थासः से शादेशे 'सवाभ्यां वामौ' इति वादेशे शपि गुणेऽयादेशे 'आगमयस्व' इति रूपम् । तावत् इति अव्ययो । फलितार्थमाह मा त्वरिष्ठा इति । शिक्षेरिति । शिक्षधातोर्जिज्ञासायामात्मनेपदमित्यर्थः । शिक्षते । शिक्षधातोर्लटि 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि 'शिक्षते' इति रूपम् । धनुषि इति विषयसप्तमी ।

नेपद हो । क्रीडो—अनु, सम्, परि और आङ् उपसर्गक 'क्रीड' धातुसे आत्मनेपद हो ।
समो—सम् उपसर्गक 'क्रीड' धातुसे आत्मनेपद हो, अकूजन (करें-करें) अर्थमें ।

नोटः—लोकमें केवल कोयल और कथंचित् मोरकी बोलीमें ही 'कूजति'का प्रयोग होता है । यहाँ मूलमें कूजन अर्थमें 'सङ्क्रीडति चक्रम्' यह उदाहरण दिया गया है । इससे सिद्ध है कि यह उदाहरण वासुदेवके सुदर्शन चक्रका है । आज-कलके रथचक्र (गाड़ीका पहिया) का शब्द कूजन अर्थमें प्रयोग करने योग्य नहीं होता ।

('भ्रमर'के शब्दोंमें ही केवल 'गुञ्जति' का प्रयोग होता है, यह भी स्मरण रखो) ।

आगमे—'आङ् उपसर्गक' ण्यन्त 'गम्' धातुसे आत्मनेपद हो, क्षमा अर्थमें ।

नोटः—आङ्उपसर्गवशात् गम्धातुका 'क्षमा' अर्थ होता है ।

शिक्षते—सन्नन्त 'शक्' धातुसे आत्मनेपद हो, जिज्ञासा अर्थमें ।

नोटः—'शिक्ष विद्योपादाने'का ग्रहण इसलिये नहीं होता कि वह स्वयम् 'अनुदात्तेत' (आत्मनेपदी) है ।

धनुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः। **वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रमः ।१।३।३८।** एष्वर्थेषु क्रम आत्मनेपदं स्यात्। **वृत्तिरप्रतिबन्धः।** ऋचि क्रमते बुद्धिः। **सर्गः**— उत्साहः। अध्ययनाय क्रमते। क्रमन्तेऽस्मिञ्छास्त्राणि। स्फीतानि भवन्तीत्यर्थः। **आङ उद्गमने।१।३।४०।** आङः परस्मात्क्रम आत्मनेपदं स्यादुद्गमने। आक्रमते सूर्यः। **(ज्योतिरुद्गमन इति वाच्यम्)** नेह, आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्। **वेः पादविहरणे ।१।४।४१।** वेः परस्मात् क्रमेरात्मनेपदं स्यात्पादविहरणे। साधु विक्रमते वाजी। **प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ।१।३।४२।** समर्थाभ्यां प्रोपाभ्यां परस्मात्क्रमेरात्मनेपदं स्यात्। प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता। *प्रक्रमते। उपक्रमते। समर्थाभ्यां किम्? प्रक्रामति। गच्छतीत्यर्थः। उपक्रामति।*

निर्णीतार्थमाह धनुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीति। वृत्तिसर्गेति। एतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु क्रमधातोरात्मनेपदमिति यावत्। समाधत्ते-वृत्तिः=अप्रतिबन्धः—ऋचि क्रमते बुद्धिः। अत्रात्मनेपदत्वे रूपमवसेयम्। ऋचि बुद्धिः प्रतिबन्धरहिता भवति। सर्ग उत्साहः। 'अध्ययनाय क्रमते' अत्रापि तङि शपि रूपम्। अध्ययनविषय उत्साहवान् भवतीत्यर्थः। क्रमन्तेऽस्मिन्निति। अत्रापि झादेशेऽन्तादेशे टेरेत्वे शपि रूपम्। अत्र सूत्रे तायनं विस्तारः विशदत्वं वा। आङ उद्गमन इति। आक्रमते सूर्यः। आङ्पूर्वात्क्रमधातोः तङि टेरेत्वे शपि रूपम्। सूर्य इति उद्गमनकर्तुः स्फोरणायेति भावः। केवलमुद्गमनमूर्ध्वगमनमित्यर्थे आत्मनेपदविधानात् 'आक्रामति धूमः' इत्यत्रापि आत्मनेपदापत्तिरत आह—'ज्योतिरुद्गमने' इति। धूमस्य ज्योतिरत्वाभावान्न दोष इति भावः। वेः पादविहरण इति। विपूर्वात्क्रमधातोः पादविहरणे=पादविन्यासपूर्वकचलने आत्मनेपदं स्यादित्यर्थः। विक्रमते। तङि शपि रूपम्। साधु विक्रमते वाजी=अश्वः सम्यक् पादसंचालनं करोति। साधु गतिमानित्यर्थः। प्रोपाभ्यामिति। समावर्थौ ययोस्तौ समर्थौ ताभ्यामित्यर्थः। ततः कुत्र प्रपूर्वस्य क्रमधातोस्तथा उपपूर्वस्य क्रमधातोः समानार्थता अत आह—प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थतेति। प्रक्रमते-उपक्रमते। तङि शपि रूपे भवतः। प्रारभते इत्यर्थः। सम-

---

वृत्तिसर्ग—'क्रम्' धातुसे आत्मनेपद हो, वृत्ति (प्रतिबन्ध, बिना रुकावट), सर्ग (उत्साह) और तायन (वृद्धि, स्फीत) अर्थमें। **आङ्**—'आङ्' उपसर्गसे पर 'क्रम्' धातुसे उद्गमन (ऊपर उठना) अर्थमें आत्मनेपद हो। **ज्योति**—ज्योति (प्रकाश) का उद्गमन (उदय) अर्थमें ही 'क्रम्' धातुसे आत्मनेपद हो, ऐसा कहना चाहिये।

वेः पाद—'वि' उपसर्गसे पर 'क्रम्' धातुसे आत्मनेपद हो, पादविहरण अर्थमें।

प्रोपा—तुल्यार्थक 'प्र' और 'उप' उपसर्गसे पर 'क्रम्' धातुसे आत्मनेपद हो

आगच्छतीत्यर्थः । अनुपसर्गाद्वा ।१।३।४३। अनुपसर्गात्क्रमेरात्मनेपदं वा स्यात् । क्रामति । क्रमते । अपह्नवे ज्ञः ।१।३।४४। अपह्नवे जानातेरात्मनेपदं स्यात् । शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः । अकर्मकाच्च ।१।३।४५। अकर्मकाज्जानातेरात्मनेपदं स्यात् । सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः । समवप्रविभ्यः स्थः ।१।३।२२। एभ्यस्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यात् । सन्तिष्ठते । अवतिष्ठते । प्रतिष्ठते । वितिष्ठते । (आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्) शब्दं नित्यमातिष्ठते । प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ।१।३।२३। तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यादनयोरर्थयोः । गोपी कृष्णाय तिष्ठते । आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः । 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' । कर्णा-

---

र्थोऽभ्यामित्यभावे गच्छत्यर्थे 'प्रत्यागते' इति प्रयोगापत्तिः स्यात् । अनुपसर्गादिति । उपसर्गरहितात् क्रमधातोरात्मनेपदं वेति भावः । क्रामति । तिपि शपि 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति दीर्घे रूपम् । तदभावे तङि शपि टेरेत्वे रूपम् । अपह्नवे ज्ञ इति । अपपूर्वाज्ज्ञाधातोरात्मनेपदं स्यादपह्नवार्थे इति भावः । अपजानीते । अपपूर्वाज्ज्ञाधातोः तङि 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाविकरणे 'ज्ञाजनोर्जा' इति जादेशे 'ई हल्यघोः' इतीत्वे टेरेत्वे 'अपजानीते' इति रूपम् । अकर्मकाच्चेति । कर्मरहितादपि ज्ञाधातोरात्मनेपदं स्यादित्यर्थः । उदाहरति—सर्पिषो जानीते । अत्राऽपि तङि टेरेत्वे क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्यये 'ज्ञाजनोर्जा' इति जादेशे 'ई हल्यघोः' इति ईकारादेशे रूपसिद्धिः । अकर्मकत्वरक्षार्थमेव 'सर्पिषः' इति षष्ठ्यन्तं पदमिति भावः । सन्तिष्ठते । समाप्तं भवतीत्यर्थः । अवतिष्ठते । अत्र सर्वत्र स्थाधातोर्लटि स्थाने 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदे, शपि, 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०' इत्यादिना तिष्ठ आदेशः । आङ् इति । प्रतिज्ञायामाङ्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । शब्दं नित्यमातिष्ठते । आङ्पूर्वात् स्थाधातोर्लटि 'आङः प्रतिज्ञायाम्' इति तङि टेरेत्वे शपि 'पाघ्रा' इति तिष्ठादेशे 'आतिष्ठते' इति रूपम् । शब्दमिति तु प्रतिज्ञाकर्मत्वज्ञापनायेति भावः । प्रकाशनेति । प्रकाशनं=ज्ञापनम् । स्थेयो=विवादपदनिर्णेता । विवादपदनिर्णयार्थं यस्मिन् तिष्ठते स स्थेयः । आत्मनेपदं स्यादिति शेषः । तिष्ठते । स्थाधातोर्लटि प्रकाशनार्थे तङि टेरेत्वे शपि तिष्ठादेशे रूपम् । गोपी—कृष्णाय इति पदे आशयप्रकाशनार्थद्योतनाय । तद्वत् 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' । अत्र स्थेयार्थे आत्मनेपदम् । कर्णादीन् स्थेयान्

अनुप—अनुपसृष्ट (उपसर्गरहित) 'क्रम्' धातुसे आत्मनेपद हो, विकल्पसे । अपह्न—'ज्ञा' धातुसे आत्मनेपद हो, अपह्नव (अपलाप) अर्थमें । अकर्म—अकर्मक (सोपसर्गकसे भी) 'ज्ञा' धातुसे आत्मनेपद हो । समव—'सम्' 'अव' 'प्र' अथवा 'वि' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो । आङ—'आङ्' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो प्रतिज्ञा अर्थमें । प्रकाश—'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, प्रकाशन (स्वाभि-

दीप्तिर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः। **उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ।१।३।२४।** उदः परस्मात्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यादनूर्ध्वकर्मणि। मुक्तावुत्तिष्ठते। अनूर्ध्वेति किम्? पीठादुत्तिष्ठति। **उपान्मन्त्रकरणे ।१।३।२५।** उपात्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यान्मन्त्रकरणे। आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते। मन्त्रकरणे किम्। भर्त्तारमुपतिष्ठति यौवनेन। **(उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्)** आदित्यमुपतिष्ठते। गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते। रथिकानुपतिष्ठते। मित्रीकरोतीत्यर्थः। पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते। प्राप्नोतीत्यर्थः। **(वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्)** भिक्षुकः प्रभुमुपतिष्ठते। उपतिष्ठति वा। **उद्विभ्यां तपः ।१।३।२७।** उद्विभ्यां तप आत्मनेपदं स्यात्। 'अकर्मका'दित्येव। उत्तपते। वितपते। दीप्यत इत्यर्थः। **स्वाङ्गकर्मकाच्चे-**

निर्णेतृत्वेन आश्रयति। उदोन्विति। उत्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं स्यात् अनूर्ध्वगामिन्यर्थे। उत्तिष्ठते। उत्पूर्वात्स्थाधातोर्लटि तङि टेरेत्वे शपि तिष्ठादेशे रूपम्। मुक्तावितिं विषयसप्तमी अनूर्ध्वगामित्वं स्फोरयति। ऊर्ध्वगामित्वे तु परस्मैपदमेव। उपादिति। मन्त्रकरणार्थे गम्ये उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः। तेन 'उपतिष्ठते' इति रूपम्। पूर्ववत्प्रक्रिया। मन्त्रकरणाभावे उदाहरति-भर्तारमिति। अत्र परस्मैपदमेव न त्वात्मनेपदम्। उपाद्देवेति। उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः। उपतिष्ठते। उपपूर्वाद् स्थाधातोर्लटि तङि शपि तिष्ठादेशे रूपम्। आदित्यमिति देवपूजनार्थद्योतनायेति भावः। गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते। अत्र सङ्गतिकरणार्थे गम्यमाने आत्मनेपदमिति भावः। गङ्गा यमुनां सङ्गच्छति इति भावः। रथिकानुपतिष्ठते। मित्रीकरणार्थे आत्मनेपदं, रूपसिद्धिः प्राग्वत्। पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते। अत्रापि आत्मनेपदमिति भावः। वा लिप्सायामिति। उपपूर्वात्स्थाधातोरात्मनेपदं वा स्यात् लिप्सार्थे गम्ये। लिप्सार्थस्तु वार्तिकसामर्थ्याज्ज्ञेयः। उपतिष्ठति-उपतिष्ठते। अत्र पाक्षिकमात्मनेपदम्। उद्विभ्यामिति। उत्पूर्वाद्विपूर्वाच्च तपधातोरात्मनेपदमित्यर्थः। अकर्मकाच्चेत्यतोऽकर्मकादिति अनुषज्यते। उत्तपते-वितपते। उत्पूर्वात् विपूर्वाच्च तपधातोर्लटि शपि रूपे भवतः। स्वाङ्गकर्मेति। स्वस्याङ्गं स्वाङ्गम्। तद्बोधकं यत्पदं तत् कर्म यस्य

प्रायादिष्करण) और स्थेय (विवादपदनिर्णय) अर्थमें। उदोऽनूर्ध्व—'उत्' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, अनूर्ध्व कर्ममें (ऊर्ध्वदेशसंयोगानुकूल कर्म 'ऊर्ध्वकर्म' और तद्भिन्न 'अनूर्ध्वकर्म' कहा जाता है)। उपान्मन्त्रकरणे—'उप' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, मन्त्रकरण (स्तुति) अर्थमें। उपाद्देव—'उप' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, देवपूजा आदि अर्थमें। वा लिप्सा—'उप' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, लिप्सा अर्थमें, विकल्पसे। उद्विभ्यां—'उत्' और 'वि' उपसर्गसे पर अकर्मक 'तप' धातुसे आत्मनेपद हो। स्वाङ्ग—(उक्त सूत्रसे) स्वाङ्गकर्मक

ति यत्कस्याम्) उत्तपते, वितपते पाणिम् । नेह–सुवर्णमुत्तपति । **आङो यमहनः ।१।३।२८।** आङः पराभ्यामाभ्यामात्मनेपदं स्यात् । आयच्छते । आहते । 'अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मका'दित्येव । नेह–परस्य शिर आहन्ति । **आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।२।४।४४।** आत्मनेपदेषु परेषु हनो वधादेशो वा स्याल्लुङि । आऽवधिष्ट । आऽवधिषाताम् । आऽवधिषत । **हनः सिच् ।१।२।१४।** हनः सिच् कित् स्यात् । अनुनासिकलोपः । आहत । आहसाताम् । आहसत । **यमो गन्धने ।१।२।१५।** यमः परः सिच् कित् स्याद्गन्धने । गन्धनं–सूचनं, परदोषाविष्करण-

---

त्तस्मात् इति भावः । उत्तपते वितपते पाणिम् । अत्र पाणिशब्दस्याङ्गवाचित्वात् । तपधातोश्च पाणिशब्दस्य कर्मत्वादात्मनेपदमिति भावः । सुवर्णमित्यस्य स्वाङ्गवाचित्वाभावात्आत्मनेपदमिति दिक् । आङो यमहन इति । 'अकर्मकात्' 'स्वाङ्गकर्मकात्' इति चानुवर्तते । आङ् पूर्वात् यमो हनश्चात्मनेपदमित्यर्थः । आयच्छते । आङ्पूर्वात् यमधातोः 'आङो यमहन' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि 'इषुगमि' इति छादेशे तुकि जश्त्वे चर्त्वे रूपम् । आहते । आङ्पूर्वाद्धन्तेः 'आङो यमहनः' इति आत्मनेपदे तङि शपि शप्लुकि 'अनुदात्तोप' इति नलोपे 'आहते' इति रूपम् । आत्मनेपदेष्विति । 'हनो वध' इत्यत उभयोरप्यनुवृत्तिरत आह हनोवधादेश इति । आवधिष्टेति । आङ्पूर्वाद्धनधातोः 'आङो यमहन' इत्यात्मनेपदे लुङि तङि टेरेत्वे च्लौ सिचि इडागमे 'आत्मनेपदेषु' इति वाधिके वधादेशे 'उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक्क्रियते' इति नियमेन आङ् पृथक्करणाद् वध शब्दात्प्रागडि दीर्घे सत्वे ष्टुत्वे 'आवधिष्ट' इति रूपम् । आवधिषाताम् । 'आ–अ–वध–इ–स्–आताम्' इति स्थितौ सवर्णदीर्घे षत्वे 'आवधिषाताम्' इति रूपम् । एवं 'आवधिषत' अत्राप्यात्मनेपदमिति भावः । वधादेशाभावे । हनः सिच् । किदित्यनुवर्तते अत आह किदिति । हनः परः सिच् कित्स्यादित्यर्थः । आहत । आङ् पूर्वाद् हनधातोः लुङि 'आङो यमहन' इत्यात्मनेपदे वधादेशाभावे तङि च्लौ सिचि 'हनः सिच्' इति सिचः कित्वे 'अनुदात्तोपदेश' इति नलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपे अटि दीर्घे 'आहत' इति रूपम् । आहसाताम् । 'आ–अ–हन्–स्–आताम्' इत्यवस्थायां दीर्घे 'हनः सिच्' इति कित्वे 'अनुदात्तोप' इति नलोपे सयोगे 'आहसाताम्' इति रूपम् ।

'तप' धातुसे आत्मनेपद हो, ऐसा कहना चाहिये ।

आङो—'आङ्' उपसर्गसे पर अकर्मक और स्वाङ्गकर्मक 'यम्' धातुसे आत्मनेपद हो ।

आत्मने—'हन्' धातुको 'वध' आदेश हो, लुङ् सम्बन्धी आत्मनेपदके परे, विकल्पसे ।

हनः सिच्—'हन्' धातुसे पर 'सिच्' कित् हो ।

यमो—'यम' धातुसे पर 'सिच्' कित् हो, गन्धन अर्थमें ।

म्। उदायत। गन्धने किम्? उदायंस्त पादम्। आकृष्टवानित्यर्थः। **समो गम्यृच्छिभ्याम्** ।१।३।२९। समो गम्यृच्छिभ्यामात्मनेपदं स्यात्। 'अकर्मकाभ्या'-मित्येव। सङ्गच्छते। **वा गमः** ।१।२।१३। गमः परौ झलादी लिङ्सिचौ वा कितौ स्तः। सङ्गसीष्ट। सङ्गंसीष्ट। समगत। समगंस्त। समृच्छते। अकर्मकाभ्यां किम्? ग्रामं सङ्गच्छति। **(विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्)** वेत्तेरेव ग्रहणम्। संवित्ते। संविदाते। **वेत्तेर्विभाषा** ।७।१।७। वेत्तेः परस्य झादेशस्या-

आहमत। अत्रापि आत्मनेपदे रूपमवसेयम्। यमो गन्धने। 'हनः सिच्' इत्यतः सिच् इत्यनुवर्तते किच्च। उदायतेति। उद्-आङ्-पूर्वात् यमधातोः लुङि 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदे तङि च्लौ सिचि 'यमो गन्धने' इति सिचः कित्त्वे 'अनुदात्तोप' इति नलोपे 'उदः पृथक्करणात् यमः प्रागटि दीर्घे 'उदायत' इति रूपम्। गन्धनाभावे तु 'उद्-आ-अ-यम्-स्-त' इति स्थिते दीर्घे मस्यानुस्वारे 'उदायंस्त' इति रूपम-वधेयम्। सम इति। 'अकर्मकाच्च' इत्यतोऽनुवृत्तं विपरिणम्यते। अकर्मकाभ्यां सम्-पूर्वात् गमृच्छिभ्यां आत्मनेपदमित्यर्थः। सङ्गच्छते। सम्पूर्वाद् गमः लटि 'समः' इत्या-त्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि 'इषुगमियमां छः' इति छादेशे तुकि श्चुत्वे जश्त्वे चर्त्वे 'सङ्गच्छते' इति रूपम्। वा गम इति। 'लिङ् सिचौ' इत्यतो लिङ्सिचाविति किदि-ति चानुवर्तते। सङ्गसीष्ट-सङ्गंसीष्ट। सम्पूर्वाद्गमो लिङि 'समोगम्' इत्यात्मनेपदे तङि 'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमे 'सुट् तिथोः' इति सुटि 'सम्-गम्-सी-स्-त' इति जाते 'वा गमः' इति लिङः कित्त्वे 'अनुदात्तोपदेश' इति गमो मलोपे समो मस्यानुस्वारे परत्वे ष्टुत्वे 'संगसीष्ट' इत्येकं रूपम्। यदा कित्त्वभावो न स्यात्तदा मलोपाभावादनुस्वारे 'संगंसीष्ट' इति रूपं भवति। समगतेति। सम्-गम्-स-त इत्यवस्थायां सिचः 'वा ग-मः' इति कित्त्वपक्षे गमो मस्य 'अनुदात्तोप' इति लोपे गमः प्रागडागमे 'समगत' इति रूपम्। यदा कित्त्वं न स्यात् तदा मस्यानुस्वारे 'समगंस्त' इति रूपम्। समृच्छते। सम् पूर्वात् ऋच्छधातोः 'समो गम' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे 'तुदादिभ्यः शः' इति शप्रत्यये 'समृच्छते' इति रूपम्। विदिप्रच्छीति। सम्पूर्वाद्विदादिभ्य आत्मनेपद-मित्यर्थः। संवित्ते। सम्पूर्वाद् विद धातोः लटि तङि टेरेत्वे शपि शब्लुकि 'संवित्ते' इति रूपम्। 'सम-विद्-आताम्' इत्यवस्थायां टेरेत्वे 'संविदाते' इत्यस्य सिद्धिः। वेत्तेरिति। 'शीङो रुट्' इत्यतो रुडिति अनुवर्तते। सम्पूर्वाद्विद्धातोर्लटि 'विदिप्रच्छि' इत्या-

समो—'सम्' उपसर्गसे पर अकर्मक 'गम्' और 'ऋच्छ' धातुसे आत्मनेपद हो।
वागमः—'गम्' धातुसे पर झलादि लिङ् और सिच् कित् हो, विकल्पसे।
विदि—'सम्' उपसर्गसे पर 'विद्' 'प्रच्छ' और 'स्वृ' धातुसे आत्मनेपद हो।
वेत्तेर्वि—'विद्' धातुसे पर झादेशसम्बन्धी 'अत' को रुडागम हो, विकल्पसे।

ऽतो रुडागमो वा स्यात् । संविद्रते । संविदते । संपृच्छते । संस्वरते । [अर्त्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्* । 'अर्त्तीति द्वयोरेव ग्रहणम् । अङ्विधौ त्वियर्त्तेरेवेत्युक्तम् । मा समृत । मा समृषाताम् । मा समृषतेति । समार्त्त समार्षाताम् । समार्षतेति च-ण्यादे । इयर्त्तेस्तु-मा समरत । मा समरेताम् । मा समरन्त । समारत । समारेताम् । समारन्त इति । समश्नुते । संपश्यते ।] अथाऽस्मिन्नकर्मकाधिकारे हृनिगम्यादीनां कथमकर्मकतेति चेत्, शृणु—

'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' ॥ १ ॥

वहति भारम् । नदी वहति । स्यन्दत इत्यर्थः । जीवति । नृत्यति । प्रसि

रमनेपदे ह्रादेशे झलोपे 'वेत्तेर्विभाषा' इति रुडागमे 'संविद्रते' इत्येकं रूपम् । रुडागमाभावे 'संविदते' इति द्वितीयं रूपम् । तद्वत् 'संपृच्छते-संस्वरते' अत्राप्यात्मनेपदमिति भावः । ननु हृनिगम्यादीनां सकर्मकत्वात्कथमकर्मकतेति चेदाह-धातोरर्थान्तरेति । धातोरर्थान्तरे वृत्तेरिति-धात्वर्थेनोपसंग्रहात्-प्रसिद्धेः-अविवक्षातः इति वाक्यचतुष्टयम् । अकर्मिका क्रियेति सर्वत्र सम्बध्यते । वहति भारमिति । प्रापयतीत्यर्थः । अत्र सकर्मकत्वमिति भावः । अर्थान्तरेऽस्याकर्मकत्वमुदाहरति-नदी वहति, स्यन्दते

धातोरर्थान्तरे—यहां पर १—धातोरर्थान्तरे वृत्तेः, २—धात्वर्थेनोपसंग्रहात्, ३—प्रसिद्धेः, ४—अविवक्षातः,—इस प्रकार चार वाक्य हैं। 'अकर्मिका क्रिया' को प्रत्येक वाक्य में अन्वय होता है। केवल 'कर्मणः' को प्रथम वाक्यमें अन्वय नहीं होकर द्वितीयसे अन्तिम चतुर्थ वाक्य तक ही होता है। प्रत्येक वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—(१) सकर्मक धातु यदि अर्थान्तर (अकर्म० क्रियारूप अर्थान्तर) को कहने लगे तो वह अकर्मक हो जाती है। यथा 'भारं वहति = प्रापयति' यहां प्रापणार्थक 'वह्' धातु सकर्मक है, परन्तु वही अर्थान्तर (स्यन्दतेरूप अर्थमें वृत्ति (प्रवृत्ति) होकर कहीं अकर्मक होती है। यथा 'नदी वहति = स्यन्दते (प्रस्रवति)'। (२) यदि कर्मका धात्वर्थसे उपसंग्रह हो जाय तो धातु अकर्मक हो जाती है। यथा 'जीवति' 'नृत्यति' यहां 'जीव'का प्राणधारण करना और 'नृत्' का अङ्गविक्षेप करना अर्थ है। परन्तु दोनों जगह प्राणधारण और अङ्गविक्षेप रूप कर्मका धात्वर्थमें ही अन्तर्भाव होजाता है। अतः ये दोनों धातु सकर्मक नहीं होते। (३) कहीं प्रसिद्ध कर्म रहने पर भी धातु अकर्मक हो जाती है। यथा 'मेघो वर्षति' (अर्थात् मेघो जलं वर्षति) यहाँ पर जल रूप कर्म प्रसिद्ध है, परन्तु धातु अकर्मक हो जाती है। (४) कर्मकी अविवक्षा करने पर भी धातु अकर्मक हो जाती है, यथा 'हिताम्न यः संशृणुते स किं प्रभुः' (हिताय पुरुषाय यः न संशृणुते=स्व हितं न मन्यते, स किं प्रभुः, कुत्सित इत्यर्थः) यहां पर स्वहित रूप कर्मकी अविवक्षा करने पर धातु अकर्मक हो जाती है। * कोष्ठान्तर्गत पाठः क्वाचित्कः ।

द्धर्यथा—मेघो वर्षति । कर्मणोऽविवक्षातो यथा—'हिताञ्च यः संशृणुते स किंप्रभुः' । **संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः ।१।३।३६।** एष्वर्थेषु निय आत्मनेपदं स्यात् । शास्त्रे नयते । शास्त्रस्थं सिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः । तेन शिष्यसंमाननं फलितम् । उत्सञ्जने—दण्डमुन्नयते । उत्क्षिपतीत्यर्थः । माणवकमुपनयते । विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेन हि उपनेतरि आचार्यत्वं क्रियते । ज्ञाने—तत्त्वं नयते । निश्चिनोतीत्यर्थः । कर्मकरानुपनयते । भृतिदानेन स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । विगणनमृणादेर्निर्यातनम् । करं विनयते । राज्ञे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः । शतं विनयते । धर्मार्थं विनियुङ्क्ते इत्यर्थः । **(उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्)** वन्धं निरस्यति । निरस्यते । समूहति । समूहते । **उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ।७।४।२३।** उपसर्गादूहतेर्ह्रस्वः स्यात्, यादौ क्ङिति । ब्रह्म समुह्यात् । अग्निं समुह्य । **निसमुपविभ्यो ह्वः ।१।३।३०।** एभ्यो ह्व आत्मनेपदं स्यात् । निह्वयते । **स्पर्द्धायामाङः ।१।३।३१।** आङो ह्व आत्मनेपदं स्यात्, स्पर्द्धायाम् । कृष्णश्चाणूरमाह्व-

---

इत्यर्थः । जीवति-नृत्यति । जीवेः प्राणधारणमर्थः । नृतेस्त्वङ्गविक्षेपः । उभयत्रापि कर्मणोः धात्वर्थान्तर्भावाच्च सकर्मकत्वमिति भावः । मेघो वर्षति । वर्षणकर्मणो जलस्य प्रसिद्धत्वादकर्मकत्वम् । हिताञ्चेत्यत्र स्वहितस्य वस्तुतः कर्मत्वेऽपि तदविवक्षयाऽकर्मकत्वम् । संमाननेति । एष्वर्थेषु निय आत्मनेपदमित्यर्थः । नयते । नीधातोर्लटि 'संमानन' इति तङि टेरेत्वे शपि गुणेऽयादेशे 'नयते' इति रूपम् । शास्त्रे इति संभावनस्फोरणाय । एवं उन्नयते-उपनयते-विनयते-इत्यादिष्वात्मनेपदं बोध्यम् । उपसर्गादिति । वार्तिकमेतत् । आत्मनेपदं वेत्यर्थः । निरस्यति-निरस्यते । समूहति समूहते । अत्राप्यात्मनेपदमिति भावः । ब्रह्म-समुह्यात् । अत्र सम्-ऊह-या-त् इत्यवस्थायां 'उपसर्गाद्ध्रस्वः' इति ह्रस्वे 'समुह्यात्' इति रूपम् । ल्यबन्तमुदाहरति-समुह्येति । अत्रापि ह्रस्व इत्यर्थः । निसमुपेति । नि-सम्-उप-वि-एभ्यः परो यो ह्वेञ् धातुस्तस्मादात्मनेपदमित्यर्थः । निपूर्वाद् ह्वेञ् धातोर्लटि 'निसमुप' इत्यात्मनेपदे शे

संमाननो—संमानन, उत्सर्जन, आचार्यकरण, ज्ञान, भृति, विगणन और व्यय रूप अर्थ गम्यमान हो तो 'नी' धातुसे आत्मनेपद हो । उपसर्गा—उपसर्गसे पर 'अस्' और 'ऊह्' धातुसे आत्मनेपद हो, विकल्पसे । उपसर्गाद्ध्रस्व—उपसर्गसे पर 'ऊह्' धातुके अच् को ह्रस्व हो, यकारादि कित-ङित प्रत्ययके परे । निसमुप—नि, सम्, उप और वि उपसर्गसे पर 'ह्वेञ्' धातुसे आत्मनेपद हो, परगामी क्रियाफलमें । स्पर्धाया—'आङ्' उपसर्गसे पर 'ह्वेञ्'

यते । स्पर्धायां किम् ? पुत्रमाह्वयति । **उदश्चरः सकर्मकात्** ।१।३।५३। उत्पूर्वात्सकर्मकाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात् । धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः । **समस्तृतीयायुक्तात्** ।१।३।५४। तृतीयान्तेन युक्तात्सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात् । रथेन सञ्चरते । **दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे** ।१।३।५५। समो दाणस्तृतीयान्तेन युक्तायुक्तं स्यात्तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी । **उपाद्यमः स्वकरणे** १।३।५६। उपपूर्वाद्यम आत्मनेपदं स्यात्स्वकरणे । **स्वकरणं—स्वीकारः** । भार्यामुपयच्छते । **विभाषोपयमने** ।१।२।१६। यम सिच् किद्वा स्याद्विवाहेऽर्थे । राम सीतामुपायत, उपायंस्त वा । उदवोढेत्यर्थः । **ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः** ।१।३।५७।

ङ्यादेशे 'निह्वयते' इति रूपम् । एवं संह्वयते विह्वयते इत्यादि । स्पर्धायामिति । 'निसमुपविभ्यो ह्वः' इत्यतः 'ह्वः' इत्यनुवर्तते । आङ्पूर्वाद् ह्वेञ् धातोरात्मनेपदमित्यर्थः । चाणूरमाह्वयते । अत्र आ-ह्वे-अ-ते-इति जातेऽयादेशे रूपम् । स्पर्धाभावे आह्वयति । उदश्चर सकर्मकात् । उत्पूर्वाच्चरधातोः सकर्मकादात्मनेपदमित्यर्थः । धर्ममुच्चरते । उत्पूर्वकात् चरधातोर्लटि स्थाने 'उदश्चर सकर्मकात्' इति आत्मनेपदे टेरेत्वे च तत्सिद्धिः । समस्तृतीयेति । सकर्मकादिति निवृत्तम् । सम्पूर्वात् तृतीयान्तसमभिव्याहृताच्चरधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । रथेन सञ्चरते । अत्र सम्पूर्वात् तृतीयान्तसमभिव्याहृताच्चरधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । रथेन सञ्चरते । अत्र सम्पूर्वकचरधातुर्वर्तते, रथेन इति तृतीयान्तेन च युक्त, तस्माद् 'समस्तृतीयायुक्तात्' इत्यनेनात्मनेपदम् । दाणश्च सा । 'समस्तृतीयायुक्तात्' इत्यनुवर्तते । तदाह—सम्पूर्वादिति । दास्या संयच्छते कामी । 'अशिष्टव्यवहारे दाण प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे 'तृतीया' इति वार्तिकेन दास्या इत्यत्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया, ततश्च दास्या इति तृतीयान्तयुक्तात्सम्पूर्वाद्दाणधातोर्लटि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' इत्यात्मनेपदत्वात्तप्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे 'पाघ्राध्मा' इत्यादिना दाणो यच्छादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे टेरेत्वे च कृते तत्सिद्धिः । उपाद्यम इति । स्वीकारेऽर्थे उपाद्यम आत्मनेपदमित्यर्थः । उपयच्छते । उपपूर्वाद्यमो लटि 'उपाद्यम' इत्यात्मनेपदे तङि शपि टेरेत्वे 'इषुगमि' इति छादेशे तुकि श्चुत्वे जश्त्वे चर्त्वे रूपम् । विभाषेति । विवाहार्थे सिच् कित् । 'असंयोगात्' इत्यतस्तदनुवृत्तेः । उपायत-उपायंस्त । 'उप-आ-अ-यम्-स्-त' इति स्थिते दीर्घ सिच् तस्य 'विभाषोपयमने' इति वा कित्वे 'अनुदात्तोप' इति मलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'उपायत'

धातुसे आत्मनेपद हो, यदि स्पर्धा अर्थ गम्यमान रहे । उदश्चर—'उत्' उपसर्गसे पर सकर्मक 'चर्' धातुसे आत्मनेपद हो । समस्तृ—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'चर्' धातुसे आत्मनेपद हो । दाणश्च—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'दाण' धातुसे आत्मनेपद हो, वह तृतीया यदि चतुर्थीके अर्थमें रहे ।

उपाद्यम—'उप्' उपसर्गके 'यम्' धातुसे आत्मनेपद हो, स्वीकार अर्थमें । विभाषा—'यम्' धातुसे पर सिच् कित् हो, विकल्पसे, विवाह अर्थमें । ज्ञाश्रुस्मृ—सन्नन्त

सन्नन्तानामेषां प्राग्वत्। धर्मं जिज्ञासते। शुश्रूषते। सुस्मूर्षते। दिदृक्षते॥ **नाऽनोर्ज्ञः** ।१।३।५८। अनुपूर्वाज्जानातेः सन्नन्तादात्मनेपदं न स्यात्। पुत्रमनुजिज्ञासति। **प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु** ।१।३।६४। प्रयुङ्क्ते। उपयुङ्क्ते। (**स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम्**) उद्युङ्क्ते। नियुङ्क्ते। अयज्ञपात्रेषु किम्? द्वन्द्वं न्यग्वि पात्राणि प्रयुनक्ति। **समः क्ष्णुवः** ।१।३।६५। सम्पूर्वात्क्ष्णुव आत्मनेपदं स्यात्। संक्ष्णुते शस्त्रम्। **गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः** ।१।३।३२। एषु कृञ आत्मनेपदं स्यात्। **गन्धनं**—हिंसा। उत्कुरुते। सूचयतीत्यर्थः। **अवक्षेपणं**—भर्त्सनम्। श्येनो वर्त्तिकामुदाकुरुते। भर्त्सयतीत्यर्थः। हरिमुपकुरुते। सेवते। परदारान्प्रकुरुते। तेषु सहसा प्रवर्त्तते। एधोदकस्योपस्कुरुते। गुणमाधत्ते। कथाः प्रकुरुते। प्रकथयतीत्यर्थः। शतं प्रकुरुते। धर्मार्थं विनियुङ्क्ते। एषु किम्? कटं करोति। इत्यात्मनेपदप्रकरणम्।

इति रूपम्। यदा किद्वत्त्वं न स्यात् तदा 'उपायंस्त' इति रूपम्। ज्ञाश्रु इति। सन्नन्तानामेषामात्मनेपदमित्यर्थः। जिज्ञासते। ज्ञाधातोः सनि 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे अभ्यासचर्त्वे 'सन्यतः' इत्यभ्यासेत्वे ततो लटि 'ज्ञाश्रु' इत्यात्मनेपदे तङि शपि पररूपे 'जिज्ञासते' इति रूपम्। शुश्रूषते। श्रुधातोः सनि दीर्घे द्वित्वे हलो लोपे ह्रस्वे आत्मनेपदे तङि शपि टेरेत्वे रूपम्। एवं सुस्मूर्षते-दिदृक्षते-अत्राप्यात्मनेपदं बोध्यम्। नानोरिति। अनुपूर्वाज्ज्ञाधातोः सनि सति तत आत्मनेपदं नेत्यर्थः। अनुजिज्ञासति, अत्र परस्मैपदमेवेति भावः। प्रोपाभ्यामिति। अयज्ञपात्रेऽर्थे प्रोपाभ्यां युजेरात्मनेपदमित्यर्थः। प्रयुङ्क्ते। प्रपूर्वात् युजो लटि 'प्रोपाभ्यां' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे 'रुधादिभ्यः श्नम्' इति श्नमि मित्वादन्त्यादचः परत्वे अल्लोपेऽनुस्वारे परसवर्णे तत्सिद्धिः। 'उपयुङ्क्ते' अत्राप्यात्मनेपदं बोध्यम्। 'स्वराद्यन्तेति'। येषामादिः स्वरः येषां चान्ते स्वर एतादृग्भ्य उपसर्गेभ्यः परो यो युजधातुस्तस्मादात्मनेपदमित्यर्थः। तेन 'उद्युङ्क्ते, नियुङ्क्ते' इत्यादावात्मनेपदमेवेति भावः। समः क्ष्णुव इति। सम्पूर्वात् क्ष्णुधातोरात्मनेपदमित्यर्थः। इत्यात्मनेपदप्रकरणम्।

ज्ञा, श्रु, स्मृ, और दृश् धातुसे आत्मनेपद हो। नाऽनोर्ज्ञः—'अनु' उपसर्गसे पर 'ज्ञा' धातुसे आत्मनेपद नहीं हो। प्रोपाभ्यां—'प्र' और 'उप' उपसर्गसे पर 'युज्' धातुसे आत्मनेपद हो, यज्ञपात्रसे भिन्न प्रयोगमें। स्वराद्यन्तो—स्वरादि और स्वरान्त उपसर्गसे पर 'युज्' धातुसे आत्मनेपद हो, अयज्ञपात्रमें—ऐसा कहना चाहिये। समःक्ष्णुवः—'सम्' उपसर्गसे पर 'क्ष्णु' धातुसे आत्मनेपद हो। गन्धनावक्षेपण—गन्धनादि अर्थों में 'कृञ्' धातुसे आत्मनेपद हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें आत्मनेपदप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ परस्मैपदप्रकरणम्

'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'। 'श्वि'। श्वयति। विभाषा श्वेः ।६।१।३०। श्वयतेः संप्रसारणं वा स्याल्लिटि, यङि च। शुशाव। शुशुवतुः। (श्वयतेर्लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः)। शिश्वाय। शिश्वियतुः। शिश्वियुः। शूयात्। 'जृस्तम्भु'रित्यङ् वा। श्वयतेरः ।७।४।१८। श्वयतेरिकारस्य अकारः स्यादङि। अश्वत्। अश्वः। 'विभाषा धेट्श्व्यो'रिति चङ् वा। अशिश्वियत्। अश्वयीत्। अनुपराभ्यां कृञः ।१।३।७९। अनुपराभ्यां कृञः कर्तृगे फले, गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात्। अनुकरोति। पराकरोति। अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ।१।३।८०। अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः परस्मैपदं स्यात्। क्षिप प्रेरणे। स्वरितेत्। अभिक्षिपति।

शेषादिति। उक्तादन्यः शेषस्तस्मात्। श्विधातोर्लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'श्वयति' इति रूपम्। विभाषेति। 'इग्यणः सम्प्रसारण'मित्यतः संप्रसारणमिति लभ्यते। शुशावेति। श्विधातोर्लिटि 'विभाषा श्वेः' इति संप्रसारणे तिपि णलि 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे द्वित्वे वृद्ध्यावादेशे 'शुशाव' इति रूपम्। 'शुशु—अतुस्' इत्यवस्थायां 'अचि श्नु' इत्युवङि रुत्वे विसर्गे 'शुशुवतुः' इति रूपम्। शुशुवुरित्यादीनि रूपाणि। यदा सम्प्रसारणं न स्यात्तदा द्वित्वे हलादिशेषादौ वृद्ध्यायादेशे 'शिश्वाय' इति रूपम्। शिश्वियतुः शिश्वियुः। अत्र 'अचि श्नु' इतीयङिति भावः। शूयादिति। यद्यपि संप्रसारणं दीर्घश्चेति बोध्यम्। श्वयतेरः। अङि परतः श्वयतेरकारादेशः। श्विधातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इत्लोपे च्लौ 'जृस्तम्भु' इति वाङि 'श्वयतेरः' इत्यत्वेऽडि 'अश्वत्' इति रूपम्। अङभावे 'विभाषा' इति चङि द्वित्वे हलो लोपे अटि इयङि 'अशिश्वियत्' इति रूपम्। यदा चङपि न स्यात्तदा सिचि इडागमे 'अश्विसिच्' इति तस्येडागमे 'इट ईटि' सलोपे गुणेऽयादेशेऽडि 'अश्वयीत्' इति तृतीयं रूपम्। गन्धनादाविति। गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु इत्यर्थः। अनुकरोति। पराकरोति। अत्र 'गन्धनावक्षेपण' इति आत्मनेपदे प्राप्ते 'अनुपराभ्यां कृञः' इत्यपवादभूतेनानेन परस्मैपदम्। अभिप्रत्यतिभ्य इति।

शेषात्कर्तरि—आत्मनेपदनिमित्तसे हीन जो धातु, उससे कर्तामें परस्मैपद हो। विभाषा श्वेः—'श्वि' धातुको संप्रसारण हो, लिट्-यङ्के परे, विकल्पसे। श्वयतेर्लिटि—'श्वि' धातुके अभ्यासको 'लिट्'के परे सम्प्रसारण नहीं हो। (ऐसा कहना चाहिये)। श्वयतेरः—'श्वि' धातुके इकारको अकार आदेश हो, 'अङ्'के परे। अनुपराभ्यां—'अनु' और 'परा' उपसर्गोंसे पर 'कृञ्' धातुसे परस्मैपद हो कर्तृगामिनी क्रियाफलमें तथा गन्धनादि अर्थोंमें भी। अभिप्रत्यतिभ्यः—अभि, प्रति और अति उपसर्गोंसे पर 'क्षिप्' धातुसे परस्मै-

प्राद्वहः ।१।३।८१। प्राद्वहतेः परस्मैपदं स्यात् । प्रवहति । परेर्मृषः ।१।३।८२। परिपूर्वान्मृष्यतेः कर्तृगेऽपि फले परस्मैपदं स्यात् । परिमृष्यति । व्याङ्परिभ्यो रमः ।१।३।८३। व्याङ्परिभ्यो रमः परस्मैपदं स्यात् । विरमति । आरमति । परिरमति । उपाच्च ।१।३।८४। उपपूर्वाद्रमेः परस्मैपदं स्यात् । देवदत्तो यज्ञदत्तमुपरमति । उपरमयतीत्यर्थः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् । विभाषाऽकर्मकात् ।१।३।८५। उपाद्रमेरकर्मकात् परस्मैपदं वा स्यात् । उपरमति । उपरमते । निवर्तत इत्यर्थः । बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः ।१।३।८६। एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात् । 'णिचश्चे'त्यस्यापवादः । बोधयति पद्मम् । योधयति काष्ठानि । नाशयति दुःखम् । जनयति सुखम् । प्रावयति । प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति । विलापयतीत्यर्थः । स्रावयति । स्यन्दयतीत्यर्थः । क्रीङ्जीनां णौ ।६।१।४८। क्रीङ्जीनां णौ आत्वं स्यात् । अध्यापयति । णौ च संश्चङोः २।४।५१। सन्परे, चङ्परे च णौ इङो गाङ् वा स्यात् । अध्यजीगपत् । अध्यापिपत् । क्रापयति ।

अभि प्रति अति इत्येवं पूर्वात् क्षिपः परस्मैपदं स्यादित्यर्थः । प्राद्वह इति । प्रपूर्वाद्वहतेः परस्मैपदम्भवतीत्यर्थः । परेर्मृष इति । परिपूर्वाद् मृषतेः परस्मैपदम्भवति । व्याङ्परिभ्यो रम इति । वि आङ् परि इत्येवं पूर्वाद्रमतेः परस्मैपदम्भवति । उपाच्चेति । रम इत्येव । उपपूर्वाद्रमतेः परस्मैपदं भवति । ननु विरामार्थकत्वात् कथं सकर्मकत्वेऽस्यत आह—उपरमयतीत्यर्थ इति । ननु णिजभावात् कथमयमर्थो लभ्यते इत्यत आह—अन्तर्भावितण्यर्थोऽयमिति । धातूनामनेकार्थत्वादिति भावः । विभाषेति । 'उपाच्च' इत्यत उपादिति लभ्यते । उपरमति–उपरमते । अत्र परस्मैपदं वा, रूपसिद्धिः सरला । बुधयुधेति । ण्यन्तेभ्य एभ्यः परस्मैपदं स्यादित्यर्थः । बोधयति । बुधधातोर्णौ 'पुगन्त' इति गुणे धातुत्वे लटि 'बुधयुध' इति परस्मैपदत्वे तिपि शपि गुणेऽयादेशे रूपम् । एवं योधयति–नाशयति–जनयति–प्रावयति–द्रावयति–स्रावयति–इत्यादिषु परस्मैपदमेवेति भावः । रूपसिद्धिः बोधयतिवदवसेया । क्रीङ्जीनामिति । णौपरत एषां धातूनामाकारान्तादेशः स्यादित्यर्थः । अध्यापयति । अधिपूर्वादिङः णौ 'क्रीङ्जीनां' इत्यात्वे यणि

पद हो । प्राद्वहः—'प्र' उपसर्गसे पर 'वह्' धातुसे परस्मैपद हो । परेर्मृषः—'परि' उपसर्गके 'मृष' धातुसे परस्मैपद हो । व्याङ्परिभ्यो—वि, आङ् और परि उपसर्गसे पर 'रम्' धातुसे परस्मैपद हो । उपाच्च—'उप' उपसर्गसे पर 'रम्' धातुसे परस्मैपद हो । विभाषाऽकर्मकाद्—'उप' उपसर्गसे पर अकर्मक 'रम्' धातुसे परस्मैपद विकल्पसे हो । बुधयुधनश—बुधादि ण्यन्त धातुसे परस्मैपद हो । क्रीङ्जीनां णौ—'क्री' धातु, 'इङ्' धातु और 'जी' धातुको आत्व हो, 'णि' के परे । णौ च संश्चङोः—'सन्' परक और 'चङ्'

जापयति । **निगरणचलनार्थेभ्यश्च ।१।३।८७।** निगरणार्थेभ्यश्चलनार्थेभ्यश्च ण्यन्तेभ्य परस्मैपदं स्यात् । निगारयति । चलयति । **(अदेः प्रतिषेधः)** आदयते देवदत्तेन । **अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् ।१।३।८८।** अणौ यो धातुरकर्मकश्चित्तवत्कर्तृकश्च तस्माण्ण्यन्तात्परस्मैपदं स्यात् । शेते कृष्ण, तं गोपी शाययति ॥ **न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवस** ।१।३।८९। एभ्यो ण्यन्तेभ्य

'अध्यापि' इति जाते 'बुधयुध' इति परस्मैपदे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'अध्यापयति' इति रूपम् । णौचेति । विकल्पेन गाङादेशो विधत्ते । अध्यजीगपत् । अधिपूर्वादिङ णौ लुङि तिपि 'इतश्च' इल्लोपे 'णौ च सश्चङो' इत्यो विभाषया गाङादेशे आदन्तत्वात्पुगागमे 'अधि-गापि-त्' इति जाते च्लौ 'णिश्रि' इति चङि चङ्परे णौ उपधाया ह्रस्वत्वे 'अधि-ग-प्-इ-अ-त्' ततो द्वित्वे चर्त्वे 'सन्वत' इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे अकारस्यागमे णि 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'अध्यजीगपत्' इति रूपम् । यदा गाङादेशो न स्यात्तदा 'अधि-इ-इ-अ-त्' इति स्थिते 'क्रीङ्जीनां णौ' इत्यात्वे पुकि 'आटजादीनां' इत्याटि 'आटश्च' वृद्धौ णि पिशब्दस्य द्वित्वे णेर्लोपे 'अध्यापिपत्' इति रूपम् । ज—यति । ज्ञाधातोर्णौ 'क्रीङ्जीनां' इत्यात्वे पुकि लटि तिपि शपि, गुणेऽयादेशे रूपम् । एवं जापयति । अत्रापि णौ आत्वमित्यर्थः । निगरणेति । निगरणचलनार्थेभ्यो ण्यन्तेभ्य धातुभ्य परस्मैपदमित्यर्थः । निपूर्वात् गृधातोर्णौ वृद्धौ शपि गुणेऽयादेशे 'निगारयति' इति रूपम् । चलयति । चलधातोर्णौ अल्लोपे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे रूपम् । आदयत इति । अद्धातोर्णौ 'अत उपधाया' इति वृद्धौ लटि तङि शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'आदयते' इति रूपम् । अणाविति । अण्यन्तावस्थायां य कर्मरहितः चेतनकर्तृकश्च तस्माद्धातोर्ण्यन्ते परस्मैपदमित्यर्थः । अण्यन्तदशां प्रतिपादयते—'शेते कृष्ण' इति । अत्र शीङ् धातुरकर्मकः कृष्णरूपचेतनकर्तृवान्-च । ण्यन्तदशां स्मारयति—तं गोपी शाययति । शीङ्धातोर्णौ वृद्धौ 'शायि' इति रूपे लटि 'अणौ' इति परस्मैपदत्वे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'शाययति' इति रूपम् । न पादमिति । अणाविति प्राप्तं परस्मैपदं निषेधयति । ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः सूत्रपठितेभ्यो न परस्मैपदमित्यर्थः । पा–दम–आङ्यम्–आ यस् परिमुह–रुच्–नृत्–वद्–

परक 'णि' के रहते 'इङ्' धातुको 'गाङ्' आदेश हो, विकल्प से । निगरण—निगरणार्थक और चलनार्थक ण्यन्त धातुसे परस्मैपद हो । अदे प्रतिषेध —ण्यन्त 'अद्' धातुसे परस्मैपद नहीं हो ।

अणावकर्म—अण्यन्तावस्थामें अकर्मक और चित्तवत् (चेतन) कर्तृक धातुसे ण्यन्तावस्थामें आत्मनेपद हो ।

न पादम्याङ्—ण्यन्त पा, दमि, आङ्यम्, आङ्यस, परिमुह, रुचि, नृति, वद और वस धातुओंसे परस्मैपद नहीं हो ।

परस्मैपदं न स्यात्। पाययते। 'मितां ह्रस्वः'। दमयते। आयामयते। आयासयते। परिमोहयते। रोचयते। नर्त्तयते। वादयते। वासयते। (**धेट उपसंख्यानम्**) धापयते। अकर्त्रभिप्राये 'शेषा'दिति परस्मैपदं स्यादेव। वत्सान् पाययति पयः। इति परस्मैपदप्रकरणम्।

अथ भावकर्मप्रकरणम्

भावकर्मणोः ।३।१।१३। भावकर्मणोर्लस्य तङानौ स्तः। **सार्वधातुके यक्** ।१।३।६७। भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके परे धातोर्यक् स्यात्। भावः—भावना, उत्पादना, क्रिया। सा च धातुत्वेन सकलधातुवाच्या भावार्थकलकारेणानूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात्प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादिकम्। किन्तु-एकवचनमेवोत्सर्गतः। त्वया

वस्=पुभ्यो णौ आदन्तात्व युकि, अदुपधस्य वृद्धौ उकारऋकारोपधयोः 'पुगन्त' इति गुणे लटि 'नपाद' इति परस्मैपदनिषेधे तङि टेरेत्वे शपि गुणेऽयादेशे 'पाययते-दमयते-आयामयते-आयासयते-परिमोहयते-रोचयते-नर्तयते-वादयते-वासयते। धेट इति। ण्यन्तात् धेट् धातोः परस्मैपदं नेत्यर्थः। धापयते। धेट्धातोर्णौ 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे पुकि लटि परस्मैपदे प्राप्ते तं 'धेट-उपसंख्यानम्' इति धेट उपसंख्यानात् परस्मैपदनिषेधे तङि शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'धापयते' इति रूपम्। अकर्त्रर्थे परस्मैपदं स्यादेवोक्ताभावेन शेषत्वात् 'शेषात्कर्तरि' इति प्रतिपादनाच्च। वत्सान् पाययति। अत्र पाधातोर्णौ 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युकि 'शेषात्' इति परस्मैपदत्वे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'पाययति' पयः, इति रूपम्॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया॥

तिङ्वाच्येति। सत्वं-द्रव्यम्, लिङ्गसंख्यान्वययोग्यम्। तिङ्वाच्या या भावना क्रिया सा असत्वरूपा लिङ्गसंख्यान्वयायोग्या, शब्दशक्तिस्वभावात्। ततश्च तस्यां तिङ्वाच्यभावनायां द्वित्वबहुत्वयोरप्रतीतेः 'युवाभ्यां युष्माभिर्वा आस्यते' इत्यादौ न द्विवचनं बहुवचनं चेत्यर्थः। किन्त्वेकवचनमेवेति। तिङ्वाच्यभावलकारस्येति शेषः। त्वया मयेति।

धेट उपसंख्यानम्—ण्यन्त 'धेट्' धातुसे परस्मैपद नहीं हो।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें परस्मैपदप्रकरण समाप्त हुआ।

भावकर्मणोः—भाववाच्य और कर्मवाच्यमें लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो।

सार्वधातुके—भाववाची और कर्मवाची सार्वधातुकके परे रहते धातुसे 'यक्' प्रत्यय हो।

मया अन्यैश्च-भूयते। बभूवे। **स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ।६।४।६२।** उपदेशे योऽच् तदन्तानां, हनादीनां च चिणीवाऽङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु परेषु, भावकर्मणोर्गम्यमानयो स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद् वृद्धि। भाविता। भविता। भाविष्यते। भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट। भविषीष्ट। **चिण् भावकर्मणोः ।३।१।६६।** च्लेश्चिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि 'त' शब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत। अभविष्यत। अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण, त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्। अन्वभविषाताम्। णिलोपः। भाव्यते।

त्वत्कर्तृकं मत्कर्तृकम् अन्यकर्तृकं भवनमित्यर्थः। भूयते। भूधातोः 'ल कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति भावरूपे अर्थे 'वर्तमाने लट्' इति लट्लकारे अटि गते, 'भावकर्मणोः' इति आत्मनेपदे प्राप्ते तत्र एकवचनविवक्षायां ते, 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते कित्वाद् गुणाभावे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'भूयते' इति रूपम्। स्यसिच्। अच् हन् ग्रह दृश् एषां द्वन्द्वात् षष्ठी। उपदेश इत्यच एव विशेषणम्, नेतरेषाम्, अव्यभिचारात्। तदाह—उपदेशे योऽजिति। अजित्यस्य उपदेशान्वयित्वेऽपि सौत्रः समासः। अजिति लुप्तषष्ठीकं वा। चिण्वदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः, स्यसिच्सीयुट्तासिष्वित्युपमेयत्तसप्तमीदर्शनात्। तदाह—चिणीवेति। अङ्गकार्यमिति अङ्गस्येत्यधिकृतत्वादिति भावः। अयमिडिति। सेट्कस्य वलादिलक्षण इट् तु स्यादेवेति भावः। अभावि। भूधातोः 'ल कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति भावे 'लुङ्' इति भूतार्थे लुङि कृते, ल स्थाने 'भावकर्मणोः' इति ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः स्थाने 'चिण्भावकर्मणोः' इति चिणि, चस्य णस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, 'एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लुकि, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे 'अभावि' इति रूपम्। भाव्यते। भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि, णस्य चस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे, 'भावि' इति जाते 'सना-

---

स्यसिच्—उपदेशावस्थामें जो अच्, तदन्त जो धातु, उसको तथा हन्, ग्रह और दृश् धातुओंको 'चिण्'के परे जो २ अङ्गकार्य होते हैं वे कार्य स्य, सिच्, सीयुट् और तास्के परे भाव तथा कर्मका अर्थ गम्यमान रहने पर विकल्पसे हों, एवं स्य, सिच्, सीयुट् और तास्को चिण्वद्भावपक्षमें इट्का आगम भी हो।

चिण्भाव—'च्लि'के स्थानमें चिण् आदेश हो, भाव और कर्मवाची 'त' शब्दके परे

भावयाञ्चक्रे। भावयाम्बभूवे। भावयामासे। चिण्वदिट आभीयत्वेनासिद्धत्वाण्णि-लोपः। भविता। भावयिता। भाविष्यते। भावयिष्यते। भाव्यताम्। अभाव्यत। भाव्येत। भाविषीष्ट। भावयिषीष्ट। अभावि। अभावयिषाताम्। अभाविषाताम्। बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते। बोभूय्यते॥ 'अकृत्सार्व-

धन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्मणि 'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कत्येरसंज्ञायां लोपे च 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'भाव्यते' इति। भावयाञ्चक्रे। भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि, णस्य चस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, 'एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'परोक्षे लिट्' इति कर्मणि लिटि, 'कास्यने-काच आम् वक्तव्यः' इत्यामि, आमः 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वात् 'णेर-निटि' इति णिलोपे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' इति णेरयादेशे 'भावयाम् लिट्' इति जाते, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे कृते 'भावयाम् कृ लिट्' इति भूते लिटो लः स्थाने 'भाव-कर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि, अनुबन्धकार्ये 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, उरदत्वे, रपरे हलादिशेषे, चुत्वे, यणि, मस्यानुस्वारे, परसवर्णे च कृते 'भावयाञ्चक्रे' इति। अभावि। भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि, अनुबन्धलोपे, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, आवादेशे 'भावि' इति जाते, तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्मणि 'लुङ्' इति लुङि, अनुबन्धलोपे लः स्थाने 'भावकर्मणोः' इति ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'चिण्भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि, अनुबन्धलोपे, 'णेरनिटि' इति णिलोपे, 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लोपे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अङ्गस्याडागमे, 'अभावि' इति रूपम्। बुभूषाञ्चक्रे। 'बुभूष' इति सन्नन्तं प्रसाध्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' इति आमि, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे, लिटो लः स्थाने ते, तस्य स्थाने एशि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च कृते आमो मस्य अनुस्वारे परसवर्णे च कृते, यणि च कृते 'बुभूषाञ्चक्रे' इति रूपम्। बुभूषाञ्चक्राते, बुभूषाञ्चक्रिरे। इत्यादि। बोभूय्यते। भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि, ङलोपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये 'गुणो यङ्लुकोः' इति अभ्यासस्य गुणे, 'बोभूय' इति जाते, 'सनाद्यन्ता धातवः'

धातुकयोर्दीर्घः’। स्तूयते विष्णुः। स्ताविता। स्तोता। स्ताविष्यते। स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्। अस्तोषाताम्। ‘गुणोऽर्ती’ति गुणः। अर्यते। स्मर्यते। ‘ऋच्छत्यॄता’मिति गुणः। आरे। सस्मरे। परत्वाण्णित्यत्वाच्च गुणे, रपरे च कृतेऽजन्तत्वाभावेऽपि उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट्। आरिता। अर्ता। स्मारिता। स्मर्ता। नलोपः। स्रस्यते। सस्रसे। इदितस्तु—नन्द्यते। इज्यते।

तनोतेर्यकि।६।४।४४। तनोतेर्यकि आदन्तादेशो वा स्यात्। तायते-तन्यते।

तपोऽनुतापे च।३।१।६५। तपश्च्लेश्चिण्न स्यात्, कर्मकर्तरि, अनुतापे च।

इति धातुसंज्ञायां ‘लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः’ इति कर्मणि ‘वर्तमाने लट्’ इति वर्तमानेऽर्थे लटि, ‘भावकर्मणोः’ इत्यात्मनेपदे प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां ते, ‘तिङ्शित्सार्वधातुकम्’ इति तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां ‘सार्वधातुके यक्’ इति यकि, ‘अतो लोपः’ इति यङोऽकारस्य लोपे, ‘टित आत्मनेपदानां टेरे’ इति टेरेत्वे च कृते ‘बोभूय्यते’ इति रूपम्। स्तूयते विष्णुरिति। ष्टुञ् स्तुतौ, इति धातोः कर्मणि लटि, ‘धात्वादेः षः सः’ इति षस्य सत्वे, ‘निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः’ इति न्यायेन ष्टुत्वे गते, ‘भावकर्मणोः’ इति लटस्ते ‘सार्वधातुके यक्’ इति यकि, कृते, ‘अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः’ इति स्तु इत्यस्य दीर्घे ‘टित आत्मनेपदानां टेरे’, इति टेरेत्वे च कृते ‘स्तूयते’ इति रूपम्। अस्तावि। स्तुधातोः कर्मणि लुङि, ‘भावकर्मणोः’ इति लुङस्ते, ‘च्लि लुङि’ इति च्लौ, ‘चिण् भावकर्मणोः’ इति च्लेश्चिणि, अनुबन्धलोपे, वृद्धौ आवादेशे ‘चिणो लुक्’ इति तशब्दस्य लोपे, अङ्गस्य अडागमे, ‘अस्तावि’ इति रूपम्। अस्ताविषाताम्। स्तुधातोः कर्मणि लुङः स्थाने आतामि, च्लौ, च्लेः सिचि, इटि गते, ‘स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोः’ इति चिण्वत्त्वे, इडागमे च, चिण्वद्भावात् वृद्धौ, आवादेशे, सिचः सस्य षत्वे, अङ्गस्याडागमे, ‘अस्ताविषाताम्’ इति रूपम्। चिण्वद्भावाभावपक्षे—अस्तोषाताम्। अर्यते। ऋ गतौ, इत्यस्माद् धातोः कर्मणि लुङस्ते ‘सार्वधातुके यक्’ इति यकि, कृते ‘आर्धधातुकं शेषः’ इति यक आर्धधातुकसञ्ज्ञायाम् ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे प्राप्ते, ‘क्ङिति च’ इत्यनेन तस्य निषेधे, ‘गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः’ इत्यनेन गुणे अकारे जाते ‘उरण् रपरः’ इति रपरत्वे टेरेत्वे च कृते ‘अर्यते’ इति रूपम्। तनोतेरिति। ‘विड्वनोरनुनासिकस्यात्’ इत्यत आदिति, ‘ये विभाषा’ इत्यतो विभाषेति चानुवर्तते। तदाह—आकारोऽन्तादेशो वा स्यादिति। तपोऽनुतापे चेति। ‘च्ले सिच्’ इत्यतः च्लेरिति ‘चिण् ते पदः’ इत्यतः चिण् इति ‘न रुधः’ इत्यतो नेति चानु-

---

तनोतेर्यकि—‘तन्’ धातुको आकारान्त आदेश हो, यक्के परे, विकल्पसे।

तपोऽनुतापे—‘तप्’ धातुसे पर ‘च्लि’को चिण् नहीं हो, कर्म-कर्ता और अनुताप अर्थमें।

अन्वतप्त पापेन। 'घुमास्थे'तीत्वम्। दीयते। धीयते। ददे। दधे। **आतो युक्चिण्कृतोः ।७।३।३३।** आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि, ञ्णिति कृति च। दायिता। दाता। दायिषीष्ट। दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम्। 'स्थाघ्वोरिच्चे'तीत्वम्। अदिषाताम्। शम्यते मोहो मुकुन्देन। **चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् ।६।४।९३।** चिण्परे णमुल्परे च णौ मितामुपधाया दीर्घो वा स्यात्। शामिता। शमिता। शमयिता। शामिष्यते। शमिष्यते। शमयिष्यते। ण्यन्तत्वाभावे—शम्यते मुनिना। **नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ।७।३।३४।**

वर्तते। चकारात् 'अचः कर्मकर्तरि' इत्यतः कर्मकर्तरीति समुच्चीयते। तदाह—तपश्च्लेरित्यादि। अन्वतप्त पापेन। अनुपूर्वकतपधातोः कर्मणि लुङि, 'भावकर्मणोः' इति लुङस्ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेः स्थाने चिणि प्राप्ते, 'तपोऽनुतापे च' इत्यनेन तस्य निषेधे, 'च्लेः सिच्' इति सिचि कृते इचि गते, 'झलो झलि' इति सिचः सस्य लोपे, अङ्गस्याडागमे अनोरुकारस्य यणि च कृते 'अन्वतप्त' इति रूपम्। आतो युगिति। 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम्। तदन्तविधिः। 'अचो ञ्णिति' इत्यतो 'ञ्णिति' इत्यनुवृत्तं कृत एव विशेषणम्, न तु चिणः तस्य णित्वाव्यभिचारात्। तदाह—आदन्तानामिति। अदायि। दाधातोः कर्मणि लुङि, 'भावकर्मणोः' इति लुङस्ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'चिण्भावकर्मणोः' इति च्लेः चिणि, अनुबन्धलोपे, 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युकि, कृते, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अङ्गस्य अडागमे 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लुकि, 'अदायि' इति रूपम्। शम्यते। शमधातोः कर्मणि लकारे 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे 'सार्वधातुके यक्' इति यकि 'शम्यते' इति रूपम्। चिण्णमुलोरिति। अन्यतरस्यामिति विकल्पस्फोरणाय। 'मितां ह्रस्वः' इत्यतो मितामिति। शमधातोर्णौ शमीत्यतो लुटि तङि 'लुटः प्रथमस्य' इति डादेशे तासि टेर्लोपे मित्त्वात् नित्यं ह्रस्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'चिण्णमुलोः' इति वा दीर्घे 'शामिता' 'शमिता' इति रूपे भवतः। यदा चिण्वद्भावो न स्यात्तदा णेर्लोपाभावे गुणेऽयादेशे 'शमयिता' इति रूपम्। शामिष्यते। शमधातोर्णौ लृटि तङि टेरेत्वे स्यविकरणे 'स्यसिच्' इति चिण्वद्भावे 'चिण्णमुलोः' इति वा दीर्घे 'शामिष्यते' 'शमिष्यते' इति रूपे। यदा चिण्वद्भावो न स्यात्तदा गुणेऽयादेशे 'शमयिष्यते' इति रूपम्। नोदात्त इति। 'चिण्णमुलोः' इत्यतः चिणादयो-

---

आतो—आदन्त धातुको 'युक्'का आगम हो, चिण्के परे और ञित-णित-कितके परे।

चिण्णमुलोः—'मित' धातुओंकी उपधाको दीर्घ हो, चिण्परक और णमुल्परक 'णि'के परे, विकल्पसे।

नोदात्तो—'आङ्' उपसर्गके 'चम्' धातुसे भिन्न जो मान्त उदात्तोपदेश, उसकी उपधाको

उदात्तोपदेशस्य मान्तस्य उपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि, ञ्णिति कृति च, न त्वाचमेः। अशमि। अदमि। उदात्तोपदेशस्येति किम्? अगामि। मान्तस्येति किम्? अवादि। अनाचमेरिति किम्? आचामि। (अनाचमिकमिवमीनामिति वक्तव्यम्) अकामि। अवामि। भज्यते। **भञ्जेश्च चिणि।६।४।३३।** भञ्जेश्च चिणि नलोपो वा स्यात्। अभाजि। अभञ्जि। लभ्यते। **विभाषा चिण्णमुलोः।७।१।६९।** लभेर्नुम् वा स्याच्चिण्णमुलोः परतः। अलम्भि। अलाभि। इति भावकर्मप्रकरणम्।

अनुवर्तन्ते। शमधातोर्लुङि तङि च्लौ 'चिण् भावकर्मणोः' इति चिणि अडागमे 'अशम्-इ-त' इति जाते 'चिणो लुक्' तल्लोपे 'अशमि' इति रूपम्। अत्र चिणो णित्त्वेनोपधाया दीर्घे प्राप्तेऽपि 'नोदात्तोपदेशस्य' इति न वृद्धिरिति भावः। एवं अदमि अत्रापि पूर्ववदवसेयम्। उदात्तोपदेशेति सूत्रेऽभावे सति अनुदात्तोपदेशस्य गम्धातोरपि चिणि दीर्घनिषेधापत्तिः स्यात्तेन च 'अगमि' इति रूपापत्तिः। अतः उदात्तोपदेशस्यैवेति पठनीयम्। तेन गम्धातोर्मान्तत्वेऽपि न दीर्घनिषेध इति भावः, तेन 'अगामि' इति निर्बाधम्। मान्तस्येति पदाभावे वद्धातोरपि उदात्तोपदेशत्वेन दीर्घनिषेधः स्यादतस्तदावश्यकम्। तेन वद्धातोरुदात्तत्वेऽपि मान्तत्वाभावान्न दीर्घनिषेधः। अतः 'अवादि' इत्यपि निर्विकल्पम्। इति भावकर्मप्रकरणम्।

वृद्धि नहीं हो, चिण्के परे और ञित, णित, कृत्के परे। अनाचमि—'आङ्' उपसर्गक चम्, कम् और वम् धातुसे भिन्न जो मान्त उदात्तोपदेश धातु, उसकी उपधाको वृद्धि नहीं हो ऐसा कहना चाहिये। भञ्जेश्च—'भञ्ज' धातुके नकारका लोप हो, 'चिण्'के परे,विकल्पसे।

विभाषा—'लभ्' धातुको नुम् हो, चिण् और णमुल्के परे, विकल्पसे।

नोट—(१) कर्मवाच्यमें कर्तामें तृतीया और कर्ममें प्रथमा विभक्ति होती है तथा क्रिया कर्मके अनुसार समझना चाहिये (१४२ पृ० देखो) कहा भी है —

कर्मवाच्यप्रयोगे तु तृतीया कर्तृकारके। कर्मणि प्रथमा प्रोक्ता कर्माधीनं क्रियापदम्॥

(२) अकर्मक धातुसे भाववाच्यमें प्रत्यय होता है तथा कर्तासे तृतीया विभक्ति होती है और क्रिया सर्वत्र प्रथम पुरुषके एकवचनकी होती है—कर्ताके साथ क्रियाका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहा भी है —

प्रयोगे भाववाच्यस्य तृतीया कर्तृकारके। प्रथमः पुरुषश्चैकवचनं स्यात् क्रियापदे॥

(३) कर्तृवाच्यमें कृदन्तकी क्रिया कर्ताका विशेषण और कर्मवाच्यमें कर्मका विशेषण होती है और भाववाच्यमें नपुंसक लिंगका एकवचनान्त होती है यथा, कर्तृवाच्य—'अस्मान् उक्तवान्'। कर्मवाच्य—'तेन वयम् उक्ताः'। भाववाच्य—'तेन उक्तम्'।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भावकर्मप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ कर्मकर्तृप्रकरणम्

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं, तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्त्तरि, भावे च लकारः। **कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ।३।१।८७।** कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवत्स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यक्, आत्मनेपदं, चिण् चिण्वदिट् च स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। **भावे—**

सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वादिति। ये छिदिभिदिप्रभृतय एककर्मकाः, तत्र कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां 'वृक्षः छिनत्ति' इत्यादौ प्राक् सकर्मकत्वेऽपि सम्प्रति कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामकर्मका एते इत्यर्थः। कर्त्तरि भावे च लकार इति। न तु कर्मणि, असम्भवात्। अत एव अकर्मकेभ्यो भावे कर्त्तरि च ल इत्युक्तमिति भावः। कर्मवत्कर्मणेति। 'कर्त्तरि शप्' इत्यतः कर्त्तरीत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते। तुल्या क्रिया यस्य सः, तुल्यक्रियः कर्ता। कर्मणा इत्यनेन कर्मकारकस्था क्रिया विवक्षिता, क्रियायाः कर्मकारकेण तुल्यत्वस्य तत्क्रियामादायैव उपपाद्यत्वात्। तदाह—कर्मस्थस्येत्यादिना। कर्मणः कर्तृत्वेन विवक्षायां कर्ता कर्मवदिति यावत्। कार्यातिदेशोऽयमिति। यद्यपि शास्त्रातिदेशे कार्यातिदेशे वा न फलभेदः। तथापि शास्त्रातिदेशस्यापि कार्यातिदेशार्थत्वान्मुख्यत्वात् कार्यातिदेश एवाश्रयणीय इत्यर्थः। तेनेति। स्युरित्यत्रान्वेति। कर्मवत्त्ववचनेन कर्मकार्याणि 'सार्वधातुके यक्' इति यक्, 'भावकर्मणोः' इति आत्मनेपदम्, 'चिण् भावकर्मणोः' इति चिण्, 'स्यसिच्सीयुट्तासिषु' इति चिण्वत्त्वम्, तत्संनियोगशिष्टः इट् च स्युरित्यर्थः। कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां कर्त्तरि विहितानि शास्त्राण्येव न स्युरित्यर्थः। पच्यते फलमिति। 'कालः फलं पचति' इत्यत्र यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कर्मण एव कर्तृत्वात् पच्धातुरकर्मकः। तस्मात् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्तृरूपेऽर्थे वर्तमानक्रियायां 'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्मवद्भावात् आत्मनेपदे ते, 'सार्वधातुके यक्' इति यकि कस्येत्संज्ञायां लोपे च जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे

कर्मवत्कर्म—कर्ममें वर्तमान जो क्रिया, उसके समान ही क्रिया है जिसकी ऐसा जो कर्ता, वह कर्मवत् हो।

नोटः—कर्म ही यदि कर्ता हो, अर्थात् क्रियाका कर्तृत्व यदि कर्ममें आरोपित हो तो 'कर्मकर्तामें' होता है और कर्मकर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है—अन्य कर्म पद नहीं रहता तथा क्रियाका रूप कर्मवाच्यकी क्रियाके तुल्य होता है। यथा—'काष्ठं भिद्यते स्वयमेव'। कहा भी है :-

क्रियमाणं तु यत् कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति। सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः 'कर्मकर्त्ते'ति तद्विदुः॥

(कार्य करनेके समय जो 'कर्मकारक' कर्ताके सुकर निज गुणोंसे स्वयं ही सिद्ध होता है, उसे 'कर्मकर्ता' कहते हैं)।

भिद्यते काष्ठेन । (भूषावाचिनां, किरादीनां, सन्नन्तानां च यक्चिणौ, चिण्वदिट् च नेति वक्तव्यम्) अलङ्कुरुते कन्या । अलमकृत । अवकिरते हस्ती । अवाकीर्ष्ट । अवाकरिष्ट । गिरते । अगीर्ष्ट । अगरिष्ट । आद्रियते । आदृत । किरादिस्तुदाद्यन्तर्गणः । चिकीर्षते कटः । अचिकीर्षिष्ट । तपस्तपः-

---

च 'पच्यते' इति रूपम् । कर्तरि लकारे कर्तुरुक्तत्वात् कर्तृवाचकपदात् प्रथमा । भावे-भिद्यते काष्ठेनेति । कर्तृव्यापारस्याविवक्षायां भिदोऽकर्मकत्वात्, भिद् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति भावे 'वर्तमाने लट्' इति लटि, ल स्थाने 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते, 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, ककारेत्संज्ञायां लोपे च यक कित्त्वात् 'क्ङिति च' इति गुणाभावे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'भिद्यते' इति रूपम् । अत्र कर्तुरनभिहितत्वात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीयेति भावः । भूषावाचिनां चेति । भूषाकर्म किरादि सन् एषां द्वन्द्वः । आत्मनेपदादन्यत्कर्म कार्यमिति लभ्यते । भूषाकर्म क्रिया येषां वाच्यतया ते भूषावाचिनः धातवः । भूषणक्रियावाचिनामिति यावत् । अलङ्कुरुते कन्या । स्वयमेवान्यप्रयत्नं विना भूषणक्रियावती, इति तदर्थः । अत्र भूषार्थत्वात् कर्मकर्तरि तङेव नतु यक् । अलमकृत । अत्र तङेव नतु चिण् । लुङि 'अलकृत'इत्येव नतु चिण्वदिट् । अवकिरते हस्ती । हस्तिनमवकिरति कुसुमादि । इत्यत्र मुख्यकर्तरि लकारः । हस्तिनः कर्मत्वम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां स्वयमेव पुरुषप्रयत्नं विना वृक्षादिसमीपं गच्छन् पुष्पादिभिरवकीर्णवान् भवतीत्यर्थः । अत्रापि तङेव न तु यगादि । अवाकीर्ष्ट । अवपूर्वात् कृधातोर्लुङि च्लौ सिचि 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'लिङ्सिचौ' इति सेडभावे परे ष्टुत्वे अटि दीर्घे 'अवाकीर्ष्ट' इति रूपम् । इट्पक्षे गुणे रपरत्वे 'अवाकरिष्ट' इति द्वितीयं रूपम् । किरादीन् उदाहरति-गिरते । ओदनं स्वयमेवेति शेषः । गृधातोर्लटि 'ऋत इद्धातोः' इति इकारे रपरत्वे तादि रूपम् । अगीर्ष्ट । गृधातोर्लुङि तङि च्लौ सिचि 'लिङ्सिचौ' इति इडभावे दीर्घे षत्वे ष्टुत्वेऽटि अगीर्ष्टेति रूपम् । इट्पक्षे गुणे रपरत्वे परे ष्टुत्वे 'अगरिष्ट' इति रूपम् । आद्रियते । आतिथिमिति मुख्यकर्तरि । दृङ् आदरे अस्माद्धातोर्लटि तङि टेरेत्वे तुदादित्वाच्छे 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशे इयङि 'आद्रियते' इति रूपम् । आदृत । दृधातोर्लुङि तङि च्लौ सिचि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'उश्च' इति कित्वेन गुणाभावे रूपम् । अत्र न चिणिति भावः । चिकीर्षते । स्वयमेवेच्छाविषय इत्यर्थः । कृधातोः सनि 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे

भूषावाचिनां—भूषावाची धातु, किरादि धातु और सन्नन्त धातुओंसे यक्, चिण्, तथा चिण्वदिट् नहीं हो, कर्मकर्तामें ।

तपस्तप—"तपः कर्मके जो 'तप्' धातु, उसका ही कर्ता कर्मवत् हो—अन्य तप् धातुके

कर्मकस्यैव ।३।१।८८। तपः कर्मस्यैव तपः कर्त्ता कर्मवत्स्यात्। तप्यते तपस्तापसः। अर्जयतीत्यर्थः। अतप्त। तपःकर्मकस्यैवेति किम्? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः। (**सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः**) अजा ग्रामं नयति। (**दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोरिति वाच्यम्**) **न दुहस्नुनमां यक्चिणौ** ।३।१।८९। एषां कर्मकर्त्तरि यक्चिणौ न स्तः। शप्। तस्य लुक्। गौः पयो दुग्धे। **अचः कर्मकर्त्तरि** ।३।१।६२। अजन्ताच्च्लेश्चिण्वा स्यात्कर्मकर्तरि तशब्दे परे। अकारि। अकृत। **दुहश्च** ।३।१।६३। तथा। अदोहि। पक्षे क्सः। अदुग्ध।

रपरत्वे दीर्घे द्वित्वे हस्वे हलो लोपेऽभ्यासस्य च चत्वे परत्वे धातुत्वे तङि टेरेत्वे शे पररूपे 'चिकीर्षते' इति। अचिकीर्षिष्ट। 'चिकीर्ष' इति सन्नताल्लुङि तङि च्लौ सिचि इटि षत्वे ष्टुत्वे अल्लोपेऽटि 'अचिकीर्षिष्ट' इति रूपम्। अत्रापि किरादीनां तुदाद्यन्तर्गणत्वात् श एवेति भावः। तपस्तप इति। आद्यं तप इति षष्ठ्यन्तम्। तपःकर्मकस्यैव तपधातोरिति लभ्यते। 'कर्तरि शप्' इत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते। कर्मवत्कर्मणा इत्यतः कर्मवदिति। तप्यते तपस्तापस इति॥ अत्र तपिरर्जनार्थः। प्राजापत्यादि कृच्छ्राद्यात्मकं तपःसंपादयतीत्यर्थः। मुख्यकर्तरि लकारः। संपादनस्यात्मकर्तृस्थत्वात् तपोरूपकर्मस्थत्वाभावात् 'कर्मवत्' इत्यप्राप्तं कर्मवत्त्वमनेन सूत्रेण विधीयते। तेन यगात्मनेपदादि। 'अतप्त' इति लुङि रूपम्। अजा ग्रामं नयति। अत्र न कर्मवदिति भावः, कर्मणो विद्यमानत्वात्। दुहिपच्योरिति। अनयोर्वा कर्मवद्भाव इत्यर्थः। न दुहेति। एषां यक्चिणौ नेत्यन्वयः। शप् स्यादित्यर्थः। गौः पयो दुग्धे। दुह्धातोर्लटि तङि टेरेत्वे शपि धाव्लुकि 'झषस्तथोः' इति धत्वे 'वा द्रुहेति' घत्वे 'झलां जश्' इति गत्वे 'दुग्धे' इति रूपम्। अच इति। 'च्लेः सिच्' इत्यतः सिजिति 'दीपजन' इत्यतोऽन्यतरस्यामिति। अकारि। कृधातोर्लुङि तङि च्लौ 'अचः कर्मकर्तरि' इति चिणि णित्वाद् वृद्धौ 'चिणो लुक्' इति तलोपेऽटि 'अकारि' इति रूपम्। यदा न चिण् स्यात्तदा अकृसत इत्यवस्थायां 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'अकृत' इति द्वितीयं रूपम्। दुहश्चेति। दुहश्च्लेश्चिण्वा कर्मकर्तरि ते परे इत्यर्थः। अदोहि। दुहधातोर्लुङि तङि च्लौ 'दुहश्च' इति वा चिणि 'पुगन्त' इति गुणेऽटि 'चिणो लुक्' इति लुकि 'अदोहि' इति रूपम्। चिणभावे क्से 'दादेः' इति घत्वे 'लुग्वा' इति क्सलुकि 'झषस्तथोः' इति तस्य धत्वे जश्त्वे 'अदुग्ध' इति। अत्र न गुणः 'लिङ्सिचौ' इति कित्त्वात्।

कर्ता नहीं। सकर्मका—सकर्मक धातुओंका कर्ता कर्मवत नहीं हो। दुहिपच्योः—सकर्मक दुह् और पच् धातुका कर्ता कर्मवत् हो, विकल्पसे। न दुहस्नु—दुह्, स्नु और नम् धातुके कर्मकर्ता में यक्-चिण् नहीं हो। अचः कर्म-कर्मकर्तामें अजन्त धातुसे पर 'च्लि' को चिण् हो, तशब्दके परे, विकल्पसे। दुहश्च-कर्मकर्तामें 'दुह्' धातुसे 'च्लि' को चिण् हो, विकल्पसे,

'लुग्वेति' पक्षे लुक्। अधुक्षत। उदुम्बरः फलं पच्यते। **कुषिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च।३।१।९०।** अनयोः कर्मकर्तरि न यक्, किन्तु श्यन्परस्मैपदं च। आत्मनेपदापवादः। कुष्यति, कुष्यते पादः। रज्यति, रज्यते वस्त्रम्। यगविषये तु नास्य प्रवृत्तिः। कोषिषीष्ट। रक्षीष्ट॥ इति कर्मकर्तृप्रकरणम्।

अथ लकारार्थप्रकरणम्

अभिज्ञावचने लृट्।३।२।११२। स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट् स्यात्। लङोऽपवादः। **वस निवासे** स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः। एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादिप्रयोगेऽपि। **न यदि।३।२।११३।** यद्योगे उक्तं न स्यात्। अभिजानासि कृष्ण यद्वने अभुञ्ज्महि। **विभाषा साकाङ्क्षे।३।२।११४।**

यदा 'लुग्वा दुह' इति क्सलुङ् न स्यात्तदा 'अधुक्षत' इति रूपम्। पच्यते। अत्र यक्तङौ। कुषिरजोरिति। श्यन्निरयुनेन यग्बाध्यते। परस्मैपदमित्यनेन तङो निवृत्तिः। कुष्यति। कुषधातोः लटि 'कुषिरजो' इति परस्मैपदत्वे श्यनि तिपि 'कुष्यति' इति रूपम्। श्यनः ङित्त्वेन ङित्वाद्गुणः। तदभावे 'कुष्यते' इति रूपम्। अत्र न कर्मवद्भाव इति भावः। इति कर्मकर्तृप्रक्रिया।

अभिज्ञावचन इति। अभिज्ञा—स्मृतिः, सा उच्यते बोध्यते, अनेनेति विग्रहः। तदाह—स्मृतिबोधिन्युपपदे इति। स्मृतिबोधकपदे समीपे प्रयुज्यमाने सतीत्यर्थः। 'भूते' इत्यधिकृतम्। 'अनद्यतने लङ्' इत्यतोऽनद्यतने इत्यनुवर्तते। तदाह—भूतानद्यतने इति। लङोऽपवाद इति। 'अनद्यतने लङ्' इत्यस्यापवाद इत्यर्थः। स्मरसीति। हे कृष्ण गोकुले अवसामेति यत् तत् स्मरसि इत्यर्थः। अत्र वाक्यार्थः कर्म। कृतं गोकुलवासं स्मरसीति यावत्। एवमिति। स्मरसि इति पदयोग इव बुध्यसे इत्यादि स्मृतिबोधकपदयोगेऽपि लृडित्यर्थः। उक्तं नेति। 'अभिज्ञावचने' इति लृट् न भवतीत्यर्थः। अभिजानासीति। वने अभुञ्ज्महीति यत् तत्

तच्छब्दके परे। कुषिरजो—कुष् और रज् (रञ्ज्) धातुसे कर्मकर्तामें यक् नहीं हो किन्तु श्यन् और परस्मैपद हो (प्राचां) विकल्पसे।

इस प्रकार 'इन्दुमती'टीकामें कर्मकर्तृप्रकरण समाप्त हुआ।

अभिज्ञावचने—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर भूत-अनद्यतन अर्थमें धातुसे 'लृट्' लकार हो। न यदि—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर 'यद्'के योगमें 'लृट्' लकार नहीं हो। विभाषा—वाक्यार्थ यदि लक्ष्यलक्षणभावसे साकाङ्क्षित हो तो—स्मृतिबोधक पद उपपद

उक्तविषये लट् वा स्याल्लक्ष्यलक्षणभावेन साकाङ्क्षश्चेद्धात्वर्थः। स्मरसि कृष्ण! वने वत्स्यामस्तत्र गाश्चारयिष्यामः ?। वासो लक्षणं, चारणं लक्ष्यम्। पक्षे लङ्। **'परोक्षे लिट्'**। चकार। उत्तमपुरुषे चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यम्। 'सुप्तोऽहं किल विललाप'। **अत्यन्तापह्नवे लिड् वक्तव्यः**। कलिङ्गेष्ववात्सीः ?। नाहं कलिङ्गान् जगाम। **प्रश्ने चाऽऽसन्नकाले** ।३।२।११७। आसन्नकाले पृच्छ्यमानेऽर्थे लिड्विषये लङ्लिटौ स्तः। अगच्छत्किम् ?। जगाम किम् ?। आसन्नकाले किं ? कंसं जघान किम् ?। **लट् स्मे** ।३।२।११८। लिटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः। **अपरोक्षे च** ।३।२।११९। अपरोक्षे भूतानद्यतने लट् स्यात्स्मयोगे। एवं स्म पिता ब्रवीति। **ननौ पृष्टप्रतिवचने** ।३।२।१२०। ननावुपपदे पृष्टप्रतिवचने भूते लट् स्यात्। अकार्षीः किम् ?। ननु करोमि भोः। **नन्वोर्विभाषा** ।३।२।१२१।

स्मरसीत्यर्थः। विभाषेति। आकाङ्क्षया सहितः साकाङ्क्षो धात्वर्थस्तर्हि वा लृडिति भावः। कथमहं चकारेति चेदाह—चित्तविक्षेपात्पारोक्ष्यमिति। 'सुप्तोऽहं किल विललाप' अत्र सुप्तावस्थायां चित्तस्य विक्षेपात्पारोक्ष्ये लिडिति भावः। अत्यन्तेति। कलिङ्गेष्ववात्सीरतस्त्वं न सहवासयोग्य इति प्रश्ने 'नाहं कलिङ्गान् जगाम। अत्रात्यन्तापह्नवो निषेधो व्यज्यतेऽतो लिट्। प्रश्ने इति। पञ्चवर्षाभ्यन्तरिकः काल आसन्नकालः। अगच्छत् किम्। जगाम किम्। अत्र केवलं लिड्विषये लङ्लिटोः प्रयोगः। लट् स्मे। स्मेत्यव्ययम्। तद्योगे लिड्विषये लट् स्यादित्यर्थः। यजति स्मेति (स्मशब्दो भूतकालद्योतकः। अपरोक्षे चेति। अक्षणः परं परोक्षं तस्मिन्। तदभावे 'स्म' इत्यस्य संबन्धे सति भूतानद्यतने लङ् लकारः स्यादित्यर्थः। एवमिति। एवं स्म पिता ब्रवीति। अत्र एवमब्रवीदित्यर्थे लट्लकार इति भावः। ननाविति। भूतार्थे ननुप्रयोगे लडित्यर्थः। अकार्षीः किमिति पृष्टम्। तस्य प्रतिवचनमुत्तरम्। ननु अकार्षमित्यर्थे लट्। तेन 'करोमि भोरि'ति साधु। नन्वोरिति। अत्र वा लडित्यर्थः। नाकार्षमित्यर्थम् 'न करोमि'नाका-

---

रहने पर भूतानद्यतन अर्थमें धातुसे 'लट्' लकार हो, विकल्पसे। अत्यन्तापह्नवे—अत्यन्तापह्नव (अत्यन्त छिपाना) अर्थमें धातुसे 'लिट्' लकार हो। प्रश्ने चासन्नकाले—पृच्छ्यमान अर्थमें लिट् लकारके विषयमें लङ् लकार और लिट् लकार हो, आसन्नकालमें। (पञ्चवर्षाभ्यन्तरमासन्नकालम्)। लट्स्मे—'स्म'के योगमें धातुसे लिट्का अपवाद लट् लकार हो। अपरोक्षे च—'स्म' के योगमें भूतानद्यतन अपरोक्षकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार हो। ननौ पृष्टप्रतिवचने—'ननु' उपपदक भूतकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार हो, पृष्टप्रतिवचन (प्रश्नका उत्तर) अर्थमें। नन्वोर्विभाषा—'न' अथवा 'नु' उपपद हो तो

अकार्षी किम् ? । न करोमि । नाकार्षम् । अहं नु करोमि । अहं न्वकार्षम् । **पुरि लुङ् चास्मे । ३ । २ । १२२ ।** पुरायोगे भूतानद्यतने वा लुङ् स्याच्चाल्लट्, न तु स्मयोगे । पक्षे यथाप्राप्तम् । वसन्तीह पुरा छात्राः । अवात्सुः, अवसन्, ऊषुर्वा । अस्मे इति किम् ? यजति स्म पुरा । 'भविष्यती'-त्यनुवर्त्तमाने—**यावत्पुरानिपातयोर्लट् ।३।३।४।** अनयोरुपपदयोर्भविष्यति लट् स्यात् । यावद् भुङ्क्ते । पुरा भुङ्क्ते । निपातयोः किम् ? यावद्दास्यते तावद्भोक्ष्यते । करणभूतया—पुरा—यास्यति । **विभाषा कदाकर्ह्योः ।३।३।५।** कदाकर्ह्योरुपपदयोर्भविष्यति लट् वा स्यात् । कदा, कर्हि वा भुङ्क्ते, भोक्ष्यते, भोक्ता वा । **वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा ।३।३।१३१।** वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसमीपे भूते, भविष्यति च वा स्युः । कदा आगतोऽसि ? । अयमागच्छामि, आगमं वा । कदा गमिष्यसि ? । एष गच्छामि, गमिष्यामि, वा । **आशंसायां भूतवच्च ।३।३।१३२।** भविष्यति काले भूतवद्वर्त्तमानवच्च प्रत्यया वा स्युराशंसायाम् । देवश्चेदवर्षीत्, वर्षति, वर्षिष्यति वा, धान्यमवाप्स्म, वपामो, वप्स्यामो वा । **क्षिप्रवचने लट्**

र्ष'मिति उभयरूपम् । अहं नु करोमि अहं नु अकार्षम् । अत्रापि पूर्ववद्वा लुङिति भावः । पुरीति । पुरायोगे भूतानद्यतने वा लुङ् चाल्लडित्यर्थः । वसन्ति इह पुरा छात्राः । अत्र पुरायोगे लट् । लङभावे 'अवात्सुः' अवसन् । ऊषुः । यावदिति ॥ अनयोर्निपातयोर्योगे भविष्यदर्थे लडिति भावः । भुङ्क्ते—अत्र लटि 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदे रूपम् । विभाषेति । कदा, कर्हि, एतयोर्योगे लट् स्याद्भविष्यदर्थे । लडभावे लृट् लुटौ भोक्ता वा भोक्ष्यते इति । आशंसायामिति । भूतकाले भविष्यत् वर्तमानवद्वा प्रत्यया आशंसायामित्यर्थः । तेन देवश्चेदिति वाक्ये अवर्षीत्-वर्षति-वर्षिष्यति, वपाम–वप्स्याम–अवाप्स्म' इति भूतार्थे लकारत्रयमिद्धि' । अप्राप्तस्य प्राप्तुमिच्छाऽऽशंसा । क्षिप्रेति । पूर्वविषये भूतार्थे आशंसायामित्यर्थे भवति । आयास्यति–

भूतकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार हो, पृष्टप्रतिवचन अर्थमें, विकल्पसे । पुरि लुङ्—'पुरा'के योगमें भूतानद्यतनकालिक क्रियावाची धातुसे 'लुङ्' लकार हो, विकल्पसे–और लट् भी हो । किन्तु 'स्म' के योगमें नहीं हो । यावत्पुरा—'यावत्' और 'पुरा' निपातके योगमें लट् लकार हो । विभाषा कदाकर्ह्योः—'कदा' और 'कर्हि' के योगमें भविष्यत् अर्थमें धातुसे लट् लकार हो, विकल्पसे । वर्तमानसामीप्ये—वर्तमान कालमें जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे वर्तमानके समीप भूत और वर्तमानके समीप भविष्यत् कालमें भी हों, विकल्पसे । आशंसायां—आशंसा (अप्राप्तकी प्राप्तीच्छा) गम्यमान हो तो, भविष्यत् कालसे भूतवत् तथा वर्तमानवत् प्रत्यय हो, विकल्पसे । क्षिप्रवचने—आशंसा गम्यमान हो तो, क्षिप्र पर्याय

।३।३।१३३। क्षिप्रपर्याये उपपदे पूर्वविषये लृट् स्यात्। वृष्टिश्चेत्क्षिप्रमाशु त्वरितं वा आयास्यति, शीघ्रं धान्यं वप्स्यामः। **आशंसावचने लिङ्** ।३।३।१३४। आशंसावाचिन्युपपदे भविष्यति लिङ् स्यात्, न भूतवत्। गुरुश्चेदुपेयाद् आशंसे अधीयीय, **हेतुहेतुमतोर्लिङ्** ।३।३।१५६। भविष्यत्यर्थे हेतुहेतुमतोर्लिङ् वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति। **(भविष्यत्येवेष्यते।)** नेह-हन्तीति पलायते। **इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ** ।३।३।१५७। इच्छार्थेषूपपदेषु धातोर्लिङ्लोटौ वा स्तः। इच्छामि भुञ्जीत, भुङ्क्तां वा भवान्। एवं कामये, प्रार्थये। **(कामप्रवेदने इति वक्तव्यम्)**। नेह, इच्छन्करोति। **लिङ् च** ।३।३।१५९। समानकर्तृकेषु इच्छार्थेषु उपपदेषु धातोर्लिङ् स्यात्। 'भुञ्जीये'तीच्छति। **'विधिनिमन्त्रणे'**ति लिङ्। **विधिः**—प्रेरणं, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम्। यजेत। **निमन्त्रणं**—नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्त्तनम्। इह भुञ्जीत। **आमन्त्रणं**—कामचारानुज्ञा। इहाऽऽसीत। **अधीष्टः**—सत्कारपूर्वको व्यापारः। पुत्रमध्यापयेत्। **संप्रश्नः**—संप्रधारणम्। किं भो वेदमधीयीय, उत तर्कम्?। **प्रार्थनं**—याच्ञा। भो भोजनं लभेय। एवं लोट्। **प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** ।३।३।१६३। एष्वर्थेषु कृत्यप्रत्ययाः स्युः। चाल्लोट्। **प्रैषो**—विधिः। **अतिसर्गः**—कामचारानुज्ञा। भवता यष्टव्यम्। चाल्लोटोऽनुकर्षणं

वप्स्यामः। इति लृड्लकारः। आशंसेति। साक्षादाकाङ्क्षावाचिन्युपपदस्य प्रयोगे तु भविष्यदर्थे लिङ् स्यात्, भूतवच्च नेति भावः। उपेयात्, अधीयीय, अत्र लिङिति भावः। प्रैषातिसर्गेति। शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं प्रैषग्रहणं, कृत्या इत्यनेन तदधिकारस्थाः प्रत्यया उपलक्ष्यन्ते। चकाराल्लोट् इति। यष्टव्यम्। तव्यति तव्ये वा रूपम्।

उपपदक रहने पर भविष्यत् कालमें लट् लकार हो। आशंसावचने—आशंसावाचक उपपद रहने पर भविष्यत् कालमें 'लिङ्' लकार ही हो, न कि भूतवत् प्रत्यय हो।

हेतुहेतु—हेतुहेतुमद्भाव (कार्यकारणभाव) गम्यमान हो तो भविष्यत् कालमें लिङ् लकार हो, विकल्पसे।

इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ—इच्छार्थ उपपद रहने पर लिङ् और लोट् लकार हो, विकल्पसे।

कामप्रवेदने—कामप्रवेदन (दूसरोंके प्रति अपना अभिप्राय प्रकटीकरण) अर्थमें ही लिङ् लोट् हों ऐसा कहना चाहिये। लिङ् च—समानकर्तृक इच्छार्थक धातु उपपदमें रहे तो लिङ् लकार हो। विधिनिमन्त्रणेति—(इसका अर्थ और विवरण पृ० १५० में देखो), प्रैषातिसर्ग—प्रैषादि अर्थोंमें (वक्ष्यमाण) कृत्य प्रत्यय हो और चकारात् लोट् भी हो।

प्राप्तकालार्थम्। भवान् यजताम्। **अर्हे कृत्यतृचश्च ।३।३।१६९।** अर्हे कृत्यप्रत्ययः स्यात्तृच्प्रत्ययश्च। चाल्लिङ्। त्वं कन्यां वहेः। **शकि लिङ् च ।३।३।१७२।** शक्तौ लिङ् स्यात् चात्कृत्याः। त्वं भारं वहेः। **धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ३।४।१।** धात्वर्थानां सम्बन्धे यत्र काले प्रत्यया उक्तास्ततोऽन्यत्रापि स्युः। तिङन्तवाच्यक्रियायाः प्राधान्यात्तदनुरोधेन गुणभूतक्रियावाचिभ्यः प्रत्ययाः। वसन्ददर्श। भूते लट्। अतीतवासकर्तृकं दर्शनमित्यर्थः। सोमयाज्यस्य पुत्रो भविता। सोमेन यक्ष्यमाणो यः पुत्रस्तत्कर्तृकं भवनम्। **क्रियासमभिहारे लोट्, लोटो, हिस्वौ, वा च तध्वमोः ।३।४।२।** पौनःपुन्ये, भृशार्थे च द्योत्ये धातोर्लोट् स्यात्। तस्य च हिस्वौ स्तः। तिङामपवादः। तौ च हिस्वौ,-क्रमेण परस्मैपदाऽऽत्मनेपदसंज्ञौ स्तः, तिङ्संज्ञौ च। तध्वमोर्विषये तु-हिस्वौ वा स्तः॥ पुरुषैकवचनसंज्ञे नानयोरतिदिश्येते, हि-स्वविधानसामर्थ्यात्। तेन सकलपुरुषवचनविषये परस्मैपदिभ्यो हिः,-कर्तरि, आत्मनेपदिभ्यः स्वो—भावकर्मकर्तृषु। **समुच्चयेऽन्यतरस्याम्**

लोट दर्शयति—यजतामिति। अर्हे इति। अर्हार्थे कृत्यप्रत्ययस्तृच्प्रत्ययश्च भवति। चकाराल्लिङपि। वहेरिति लिङो मध्यमस्यैकवचनम्। शक्तौति। शक्यार्थे गम्ये लिङ् चात्कृत्याः। त्वं भारं वहेरत्रापि लिङि मध्यमस्यैकवचनम्। भारं वोढुं त्वं शक्नोसीत्यर्थः। धात्विति। धातुशब्देन धात्वर्थो लक्ष्यते। धात्वोः सबंध इति विग्रहः सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वाद् धात्वोरित्येव विग्रहः। काले इति गम्यते। 'वर्तमानसामीप्ये' इत्यादिसूत्रे यस्मिन् काले ये प्रत्यया उक्तास्ते धात्वर्थयोः सम्बन्धे गम्ये ततोऽन्यस्मिन्नपि काले स्युरिति यावत्। तथा च 'वसन् ददर्श' इत्यत्र लडादेशः शतृप्रत्ययः भूतकाले इति सिद्धं भवति। अतीतो यो वासस्तस्य च कर्ता तत्कर्तृकं दर्शनमिति स्पष्टार्थः। क्रियासमभिहारेति। पौनःपुन्यं भृशार्थश्च क्रियासमभिहारस्तस्मिन्द्योत्ये, तध्वमोः परतो लोटो हिस्वावादेशाविति भावः। समुच्चय इति। समुच्चयस्तु अनेकक्रियाणाम्।

अर्हे कृत्यतृचश्च—योग्य कर्ता गम्यमान हो तो धातुसे कृत्य प्रत्यय और तृच् प्रत्यय हो तथा चकारात् लिङ् लकार भी हो। शकि लिङ्—शक्ति अर्थ गम्यमान हो तो 'लिङ्' लकार हो और चकारात् कृत्यप्रत्यय भी हो। धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः—धात्वर्थोंका सम्बन्ध गम्यमान हो तो जिस जिस कालमें जो-जो प्रत्यय कहे गये हैं वे प्रत्यय उससे भिन्न कालमें भी हों।

क्रियासमभि—पौनःपुन्य (बारम्बार) और भृश (अतिशय) अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे लोट् लकार हो। और उस लोट्के स्थानमें तिङपवाद 'हि' और 'स्व' आदेश हो तथा वे 'हि' और 'स्व' क्रमसे परस्मैपदसंज्ञक, आत्मनेपदसंज्ञक और तिङ्संज्ञक भी हों एवं 'त' और 'ध्वम्'के विषयमें 'हि' 'स्व' आदेश विकल्पसे हों। समुच्चये—अनेक क्रियाओंका समुच्चय द्योत्य हो तो पूर्वोक्त कार्य विकल्पसे हों।

।३।४।३। अनेकक्रियासमुच्चये द्योत्ये प्रागुक्तं वा स्यात्। **यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन्** ।३।४।४। आद्ये लोड्विधाने लोट्प्रकृतिभूत एव धातुरनुप्रयोज्यः। **समुच्चये सामान्यवचनस्य** ।३।४।५। समुच्चये लोड्विधौ सामान्यार्थस्य धातोरनुप्रयोगः स्यात्। अनुप्रयोगार्थयथार्थं लडादयस्तिवादयश्च। ततः संख्याकालयोः, पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः। **(क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये।)** याहि-याहीति-याति। पुनः पुनरतिशयेन वा यानं त्यन्तस्यार्थः। एककर्तृकं वर्तमानं यानं 'याती'-त्यस्य। 'इति'शब्दस्तु अभेदान्वये तात्पर्यं ग्राहयति। एवं—यातः। यान्ति। यासि। याथः। याथ। यात यातेति यूयं याथ। याहि-याहीत्ययासीत्। यास्यति वा। अधीष्वाधीष्वेत्यधीते। 'ध्वं' विषये पक्षे—अधीध्वमधीध्वमिति यूयमधीध्वे। **समुच्चये तु**—सक्तूनपिब धानाः खादेत्यभ्यवहरति। अन्नं भुङ्क्ष्व दाधिकमास्वादस्वेति-अभ्यवहरते। **तध्वमोस्तु**—पिबत खादतेति-अभ्यवहरथ। भुङ्ग्ध्वमास्वादध्वमिति-अभ्यवहरध्वे। पक्षे हिस्वौ। अत्र समुच्चीयमानविशेषाणामनुप्रयोगार्थेन सामान्येनाभेदान्वयः। **पक्षे**—सक्तून् पिबति। धानाः खादति। अन्नं

प्रागुक्तमिति। लोट् लोटो हिस्वौ तध्वमोर्विषये इत्यर्थः। यथाविधीति। विधिमनुसृत्येति 'यथाविधि'। समुच्चय इति। वचनमर्थोऽत आह-सामान्यार्थस्येति। क्रियेति। क्रियासमभिहारे पौनःपुन्ये भृशार्थे च धातोर्द्वे वाच्ये, द्वित्वं वाच्यमित्यर्थः। याहि याहीति। भाष्ये इतिशब्दस्य दर्शनादिति भावः। एककर्तृकेति। यातीति यानकर्तुस्तदेकत्वस्य च प्रतीतेरिति भावः अभेदान्वये इति। तथा च पुनः पुनरतिशयेन वा यानं तदाश्रनकमेककर्तृकं वर्तमानं यानमित्यर्थः। तिङन्तेषु सर्वत्र क्रियाविशेष्यक एव बोधः इति सिद्धान्तादेवमुक्तिः। एवमिति। याहि याहि इति यातः। याहि याहि इति यान्ति। एवं सकलपुरुषवचनेषु अवसेयमित्यर्थः। याहि याहीति ययौ। याहि याहीति याता। याहि याहीति यास्यति। याहि याहीति यातु। 'लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनतादेशविषये लोटो हि भावविकल्प उक्तः। तत्र हि भावपक्षे याहि याहीति यूयं यातेति सिद्धवत्कृत्याभावपक्षे आह-यात यातेति यूयं यातेति। याहि याहीति अयात्-यायात्। लुङ्याह-याहि याहीत्ययासीत्-अयास्यद्वेति। अधीष्वाधीष्वेति अधीते। अधीष्व अधीष्वेति यूयम् अधीध्वे। स्वादेशाभावे। अधीध्वमधीध्वमिति विग्रहः। समुच्चये उदाहरति-सक्तूनिति। अत्र इति शब्देन समुच्चयो गम्यते। तध्वमोरुदाहरति

यथाविध्यनु—क्रियासमभिहार अर्थमें लोट्का विधान होने पर उस लोट्के प्रकृतिभूत धातुका ही अनुप्रयोग हो।

समुच्चये—समुच्चय अर्थमें लोट् विधान होनेपर सामान्यार्थवाची धातुका अनुप्रयोग हो।

क्रियासमभिहारे—पौनःपुन्य और भृशार्थ द्योत्य हो तो लोडन्त धातुको द्वित्व हो।

भुङ्क्ते । दाधिकमास्वादते । एतेन—

> 'पुरीमवस्कन्द, लुनीहि नन्दनं, मुषाण रत्नानि, हरामराङ्गनाः ।
> विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली, य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः' ॥

—इति (माघपद्यम्) व्याख्यातम् । अवस्कन्दन-लवनादिरूपा भूतानद्यतन परोक्षा एककर्तृका अस्वास्थ्यक्रियेत्यर्थात् । 'इह पुनः पुनरवस्कन्देत्यादिरर्थः' इति व्याख्यानं भ्रममूलकमेव, द्वितीयसूत्रे 'क्रियासमभिहारे' इत्यस्यानुवृत्तेश्च । 'पुरीम वस्कन्दे'त्यादि मध्यमपुरुषैकवचनमित्यपि केषाञ्चिद् भ्रम एव, पुरुषवचनमंऽ - ने'त्युक्तत्वात् ॥ इति लकारार्थप्रकरणम् ॥

॥ इति मध्यसिद्धान्तकौमुद्यां तिङन्तप्रकरणम् ॥



पद्ये हिस्वौ बोध्यौ । शेषं सुलभम् । एतेनेति । 'समुच्चयेऽन्यतरस्यामि'ति 'समुच्चये सामान्यवचनस्ये'ति च सूत्रद्वयेन तदुदाहरणप्रदर्शनेन च 'पुरीमवस्कन्दे'त्यादि माघकाव्यस्थं श्लोकवाक्यं व्याख्यातमित्यर्थः । पुरीमवस्कन्देति । बली=रावणः, नमुचिद्विषा=इन्द्रेण सह, विगृह्य=विरोधं प्राप्य, पुर्याः=अमरावत्याः, अवस्कन्दनं पीडनं, नन्दनवनस्य लवनं, रत्नानां मोषणम्, अमराङ्गनानां हरणमित्येवं प्रकारेण, अहर्दिवम्=अहन्यहनि, अस्वास्थ्यं चक्रे कृतवानित्यन्वयः । इत्थं शब्द इति पर्यायो- ऽवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणामस्वास्थ्यक्रियासामान्येऽभेदं ग्राहयति । फलितमाह- अवस्कन्दनलवनादिरूपेति । इति तिङन्तप्रक्रिया समाप्ता ।



पुरीमवस्कन्द—बली रावण इन्द्रसे वैरकर स्वर्गको घेर लिया और नन्दन वनको कईबार उजाड़ डाला, रत्नोंको चुरा लिया तथा देवाङ्गनाओंका (भी) अपहरण किया इसप्रकार उसने दिन-रात स्वर्ग को अस्वस्थ (अस्त-व्यस्त) कर डाला ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें लकारार्थप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ पूर्वकृदन्तम्

तत्र कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।

धातोः ।३।१।९१। आ तृतीयाध्यायान्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः । 'कृदतिङि'ति कृत्संज्ञा । **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ।३।१।९४।** अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादः प्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात्, स्त्र्यधिकारोक्तं विना । **कृत्याः ।३।१।९५।** 'ण्वुल्तृचावि'त्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः । **कर्त्तरि कृत् ३।४।६७।** कृत्प्रत्ययः कर्त्तरि स्यात् । इति प्राप्ते । **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ।३।४।७०।** एते भावकर्मणोरेव स्युः । **तव्यत्तव्याऽनीयरः ।३।१।९६।** धातोरेते स्युः । एधितव्यम्, एधनीयं त्वया । भावे औत्सर्गिकमेकवचनं, क्लीवत्वं च । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया । (**केलिमर उपसंख्यानम्**) पचेलिमा माषाः ।

धातोः । आतृतीयेति । आतृतीयाध्यायपरिसमाप्तेरित्यर्थः । तच्च भाष्ये स्पष्टम् । एधितव्यम् । एध वृद्धौ धातुतः 'धातोः' इत्यनेन धातोः परेऽत्र भवितव्यतां विधाय 'कृदतिङ्' इत्यनेन कृत्संज्ञायां 'कृत्याः' इत्यनेन कृत्यसंज्ञायां 'कर्त्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे प्राप्ते 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इत्यनेन अकर्मकाद् धातोर्भावे सकर्मकाच्च धातोः कर्मणि कृत्यक्तखलर्थानां प्राप्तौ सत्याम् 'तव्यत्तव्यानीयरः' इत्यकर्मकादेव धातोर्भावे तव्यति कृते, तकारस्य 'हलन्त्यम्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'एध् तव्य' इति जाते 'आर्धधातुकं शेषः' इति तव्यत आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'एधितव्य' इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति स्वादिप्राप्तौ प्रथमैकवचने सौ समागते 'भावे औत्सर्गिकं क्लीबत्वम्' इति क्लीबत्वात् 'अतोऽम्' इति सोरमि, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च कृते 'एधितव्यम्' इति रूपम् । पचेलिमा माषा इति । पच्धातोः 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति कर्मणि, 'केलिमर उपसंख्यानम्' इति

धातोः—(यह अधिकार सूत्र है) तृतीय अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त जो (वक्ष्यमाण तव्यदादि) प्रत्यय हैं, वे धातुसे परमें हों । वाऽसरूपो—इस धात्वधिकारमें असरूप जो अपवाद प्रत्यय, वह उत्सर्गका बाधक हो, विकल्पसे, स्त्र्यधिकारोक्त (प्रत्ययों) को छोड़कर । कृत्याः—'ण्वुल्तृचौ' सूत्रसे पूर्व उक्त प्रत्यय कृत्यसंज्ञक हों । कर्त्तरि कृत्—कृत्प्रत्यय कर्तामें हों । तयोरेव कृत्यक्त—कृत्य प्रत्यय, क्त प्रत्यय और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्ममें ही हों । तव्यत्तव्या—तव्यत् प्रत्यय, तव्य प्रत्यय और अनीयर् प्रत्यय धातुसे ही हों (भाव, कर्ममें) । केलिमर—धातुसे केलिमर् प्रत्यय हो (भाव, कर्ममें) ।

पक्तव्या इत्यर्थः । भिदेलिमाः सरलाः । कर्मणि प्रत्ययः । (वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च) वसतीति वास्तव्यः । कृत्यचः ८।४।२९। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्याऽच उत्तरस्य कृत्स्थस्य नस्य णत्वं स्यात् । प्रयाणीयम् । अच किम् ? प्रमग्नः । (निर्विण्णस्योपसंख्यानम्) णेर्विभाषा ।८।४।३०। प्राग्वत् । प्रयापणीयम् । प्रयापनीयम् । हलश्चेजुपधात् ।८।४।३१। हलादेरिजुपधाद्धातोः परस्य कृत्स्थस्याऽच परस्य णो वा स्यात् । प्रकोपणीयम् । प्रकोपनीयम् । हल किम् ? प्रोहणीयम् । इजुपधात्किम् ? प्रवपणीयम् । इजादेः सनुमः ।८।४।३२। सनुमश्चेद्भवति तर्हि इजादेर्हलन्ताद्विहितो यः कृत्तत्स्थस्यैव ॥ 'इखि गतौ'—प्रेङ्खणीयम् । इजादेः किम् ?

वार्तिकेन केलिमर्प्रत्यये, ककाररेफयोरित्संज्ञायां लोपे च 'पच एलिम' इति जाते मिलित्वा 'पचेलिम' इति कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, 'अजि, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । वसेरिति । वस्धातोः कर्तरि तव्यत् स्यात् स च णिदित्यर्थः । वास्तव्य इति । वसधातोः 'वसेस्तव्यत्' इति तव्यति णित्त्वे 'अत उपधायाः' इति दीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । कृत्यच इति । उपसर्गस्थणत्वनिमित्ताद्योऽच् तस्मात्परो यः कृत्प्रत्ययस्तस्मिन्यो नकारस्तस्य णत्वमित्यर्थः । प्रयाणीयम् । 'प्र—या—अनीय' इति स्थिते णत्वे सौ अमि पूर्वरूपे प्रयाणीयमिति रूपम् । निर्विण्णस्येति । उपसंख्यानं, णत्वमिति शेषः । णेरिति । उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य ण्यन्तस्याच उत्तरस्य कृत्स्थस्य नस्य णत्वमित्यर्थः । तच्च विकल्पेन विभाषाग्रहणात् । प्रपूर्वकयाधातोर्णौ पुकि अनीयरि 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'णेर्विभाषा' इति वा णत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'प्रयापणीयम्' 'प्रयापनीयम्' इति रूपे । हलश्चेति । धातोर्विशेषणत्वेनाह—हलादेरिजुपधाद्धातोरिति । प्रवपणीयमिति । प्रपूर्वाद् वपधातोरनीयरि 'कृत्यच' इति णत्वे सावमि पूर्वरूपे 'प्रवपणीयम्' इति । अत्र नेजुपधत्वाद् 'हलश्च' इत्यस्य प्रवृत्तिः । प्रकोपणीयम् । अत्र 'हलश्च' इति वा णत्वे 'प्रकोपणीयम्, प्रकोपनीयमि'ति रूपद्वयमिति भावः । इजादेरिति । 'कृत्यच' इत्यनेनैव सिद्धे 'इजादेः' इति विधानं नियमार्थं तदेवाह—सनुमश्चेद्भवति तर्हि इजादेरेवेति । प्रेङ्खणीयमिति । प्रपूर्वाद् इखिधातोः अनीयरि गुणे 'इदितो नुम्धातोः' इति नुमि अनुस्वारे

वसेस्तव्यत्—वस् धातुसे तव्यत् प्रत्यय हो, कर्तामें और वह णित् भी हो ।

कृत्यच —उपसर्गस्थ निमित्तसे पर जो अच्, उससे पर जो कृत्प्रत्ययका नकार, उसको णकार हो । निर्विण्णस्योपसंख्यानम्—'निर्विण्ण'में णत्वका उपसंख्यान हो। णेर्विभाषा— उपसर्गस्थ निमित्तसे पर ण्यन्तसे विहित जो कृत्सम्बन्धी नकार, उसको णकार हो विकल्पसे । हलश्चेजुपधात्—हलादि और इजुपध धातुसे पर अजुत्तर कृत्स्थ नकारको णकार हो, विकल्पसे । इजादेः—सनुम् (सनुम्) धातुसे पर कृत्स्थ नकारको यदि णत्व हो तो —इजादि और हलन्त धातुसे विहित कृत्स्थ नकारको ही हो ।

'मगि सर्पणे'। प्रमङ्गनीयम्। **वा निंसनिक्षनिन्दाम् ।८।४।३३।** एषां नस्य णो वा स्यात् कृति। प्रणिंसितव्यम्। **न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम् ।८।४।३४।** एभ्यः कृत्स्थस्य णो न स्यात्। प्रभानीयम्। प्रभवनीयम्। **(ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानम्)** प्रभापनीयम्। **कृत्यल्युटो बहुलम् ।३।३।११३।**

क्वचित्प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

स्नान्यनेन-स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै-दानीयो विप्रः। **ऋदुपधाच्चाऽक्लृपिचृतेः ।३।१।११०।** क्यप्स्यात्। वृत्-वृत्यम्। वृध्-वृध्यम्। **क्लृपिचृत्योस्तु**-कल्प्यम्। चर्त्यम्। **अचो यत् ।३।१।९७।** अजन्ताद्धातोर्यत्स्यात्। चेयम्। जेयम्। **ईद्यति ।६।४।६५।** यति परे आतः ईत्स्यात्। गुणः। देयम्।

परसवर्णे 'इजादेः' इति णत्वे सावमि पूर्वरूपे 'प्रेङ्खणीयमिति' रूपम्। प्रमङ्गनीयमित्येजादित्वाभावाच्च णत्वमिति भावः। वा निंसेति। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्येत्यादिपूर्ववदवसेयम्। प्रणिंसितव्यमिति। 'प्र निंस् इतव्यम्' इति स्थितौ 'वानिंस' इति वा णत्वे उभयरूपसिद्धिः। न भाभू इति। एभ्यः कृतो नस्य न णत्वमित्यर्थः। प्रभानीयम्। प्रभवनीयम्। ण्यन्तानामपि भादीनां णत्वं निषेधयन्ति। उदाहरति—प्रभापनीयमिति। ऋदुपधादिति। ऋदुपधा यस्य धातोरिति तात्पर्यम्। क्लृपिचृतिभिन्नानामृदुपधानां धातूनां क्यप्स्यादित्यर्थः। कल्प्यमिति। कृप् धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यति 'पुगन्त' इति लघूपधगुणत्वे लत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'कल्प्यम्' इति साधु। अत्र ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यत्वेऽपि न क्यप् अक्लृपिचृतेरिति निषेधात्। चेयम्। चिञ् चयने धातोः 'अचो यत्' इति यति कृते, अनुबन्धलोपे 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातु-

---

वा निंसनिक्ष—निंस-निक्ष-निन्द—इन धातुओंके नकारको णत्व हो, कृत्प्रत्ययके परे विकल्पसे।

न भाभूपू—भा-भू-पू आदि धातुओंसे पर कृत्स्थ नकारको णत्व नहीं हो।

ण्यन्तभादीनाम्—ण्यन्त भादि धातुओंसे पर कृत्स्थ नकारको णत्व नहीं हो।

कृत्यल्युटो—कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल प्रकार (निम्न चार प्रकार) से हों।

क्वचित् प्रवृत्तिः—कहीं अप्राप्तमें भी प्राप्त हो जाना, कहीं प्राप्तमें भी अप्राप्त होना, कहीं विकल्पसे प्राप्त होना और कहीं इन तीनों से भी भिन्न अर्थात् विकल्पमें भी नित्य ही प्राप्त हो जाना (यथा 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' से बहुलग्रहणात् प्राप्त नित्य अम्भाव) इस प्रकार अनेक तरहसे सूत्रोंका विधान समझकर उनके चार भेद कहे गये हैं।

ऋदुपधा—ऋदुपध धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, क्लृप् चृत् धातुको छोड़कर।

अचो यत्—अजन्त धातुसे यत् प्रत्यय हो। **ईद्यति**—'आत्' को 'ईत्' हो, यत्के परे।

ग्लेयम् । **पोरदुपधात्** ।३।१।९८। पवर्गान्ताददुपधाद्यत् । ण्यतोऽपवाद । शप्य म् । लभ्यम् । **आङो यि** ।७।१।६५। आङ परस्य लभेर्नुम् स्याद्यादौ प्रत्यये। आलम्भ्यो गौः । **उपात्प्रशंसायाम्** ।७।१।६६। उपपूर्वाल्लभेर्नुम् स्यात्प्रशंसायाम् । उपलम्भ्य साधु । स्तुतौ किम् ? उपलभ्यं शक्य -उपलभ्य । **शकिसहोश्च** ।३।१।९९। शक्यम् । सह्यम् । **गदमदचरयमश्चाऽनुपसर्गे** ।३।१।१००। एभ्योऽनुपसर्गेभ्यो यत् स्यात् । गद्यम् । मद्यम् । चर्यम् । **(चरेराङि चाऽगुरौ)** आचर्यो देशः । अगुरौ किम् ? आचार्यो गुरुः । यम्यम् । **अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु** ।३।१।१०१। अवद्यादयस्त्रयो निपात्यन्ते, क्रमाद् गर्ह्यादिष्वर्थेषु । अवद्य-पापम् । पण्य-विक्रेयम् । शतेन वर्या कन्या । **वह्यं करणम्** ।३।१।१०२। वह्यमिति यदन्तं यदान्तं निपात्यते, करणेऽर्थे । वहन्त्यनेनेति-वह्यं शकटम् । वाह्यम-

कल्पे,'सार्वधातुकार्धधातुकयो ' इति गुणे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे च तत्सिद्धिः। आङो यीति यि इत्यनेन यकारादिप्रत्यये इति लभ्यते। अत आह यकारादौ प्रत्यये इति । आलम्भ्यो गौरिति । आङ्पूर्वाल्लभधातो 'पोरदुपधात्' इति यति 'आङो यि' इति यकारादिप्रत्यये परत नुमि अनुस्वारे परसवर्णे रुत्वे विसर्गे 'आलम्भ्य' इति रूपम् । उपादिति । प्रशंसायामुपपूर्वाल्लभेर्नुमित्यर्थः । उपलम्भ्य । उप-लभ् धातोः 'पोरदुपधात्' इति यति 'उपात्' इति नुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे 'उपलम्भ्य' इति सिद्धम् । शकीति । यत्स्यादित्यर्थः । शक्यम्-सह्यम् । शक्सहोर्यति सावमि पूर्वरूपे रूपे भवत । गदमदेति । यत्स्यादिति शेषः । गद्यम्-मद्यम्-चर्यम्-यति रूपाणि भवन्ति । चरेरिति। आङ्पूर्वाच्चरधातोः गुरुभिन्नार्थे यत्स्यादिति भाव । अन्चर्य इति । आ-चर्-अस्मात् 'चरेराङि' इति यति सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । गुरुवाचकत्वे तु—'ऋहलो ' इति ण्यति उपधावृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे 'आचार्य ' इति रूप स्यात् । यम्धातोर्यति यम्यमिति रूपम् । अवद्येति । यदन्ता निपात्यन्ते इति भाव । अवद्य-पण्य-वर्या-इत्यादि । वह्यमिति । करणार्थं यद्विधीयते । वहन्त्यनेनेति वह्यमिति । वाह्यमिति । 'ऋहलो ' इति ण्यति उपधावृद्धौ 'वाह्यम' इति रूपम् ।

पोरदुपधात्—पदान्त अदुपध धातुसे यत् प्रत्यय हो । ('ण्यत्'का यह अपवादक) है ।

आङो यि—'आङ्'से पर 'लभ्' धातुको नुम् हो, यकारादि प्रत्ययकी विवक्षामें ।

उपात्प्रश—प्रशंसा अर्थ गम्यमान हो तो 'उप' उपसर्गसे पर 'लभ्' धातुको नुम् हो, यकारादि प्रत्ययकी विवक्षामें । शकिसहोश्च— शक्' और 'सह्' धातुसे 'यत्' प्रत्यय हो । गदमदचरयम—उपसर्गरहित गदादि धातुओंसे 'यत्' प्रत्यय हो । चरेराङि—'आङ्' उपसर्गसे पर 'चर्' धातुसे 'यत्' प्रत्यय हो, अगुरु (गुरुसे भिन्न) अर्थमें । अवद्यपण्य—अवद्य, पण्य आदि शब्द गर्ह्य (निन्द्य) आदि अर्थमें निपातन हो । वह्यं करणम्—'वह्य' यह

न्यत। **अर्यः स्वामिवैश्ययोः।३।१।१०३।** 'अर्य' इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, स्वामिवैश्ययोरर्थयोः। अनयोः किम्? आर्यो ब्राह्मणः। **उपसर्या काल्या प्रजने।३।१।१०४।** उपसर्येति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, गर्भग्रहणे प्राप्तकाला चेदित्यर्थः। उपसर्या गौः। गर्भाधानार्थं वृषभेणोपगन्तुं योग्येत्यर्थः। प्रजने काल्येति किम्? उपसार्या काशी। प्राप्तव्येत्यर्थः। **अजर्यं सङ्गतम्।३।१।१०५।** अजर्यमिति नञ्पूर्वाज्जीर्यतेर्यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, सङ्गतं विशेष्यं चेत्। न जीर्यतीत्यजर्यम्—सतां सङ्गतम्। **वदः सुपि क्यप् च।३।१।१०६।** अनुपसर्गे सुप्युपपदे वदेर्भावे क्यप् स्यात्। चाद्यत्। ब्रह्मोद्यम्। ब्रह्मवद्यम्। **भुवो भावे।३।१।१०७।** भुवः क्यप् स्याद्भावे। ब्रह्मणो भावो-ब्रह्मभूयम्। **हनस्त च।३।१।१०८।** अनुपसर्गे सुप्युपपदे हन्तेर्भावे तकारोऽन्तादेशः स्यात्। चात्क्यप्। ब्रह्मणो हननं-ब्रह्महत्या। **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्।३।१।१०९।** एभ्यः क्यप् स्यात्। **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्।६।१।७१।** ह्रस्वस्य तुगागमः स्यात्पिति कृति। इत्यः। स्तुत्यः। शिष्यः। 'वृ' इति वृञो ग्रहणं, न वृङः। वृत्यः। वृङस्तु—वार्या ऋत्विजः। आदृत्यः। जुष्यः। पुनः क्यब्युक्तिः परस्याऽपि ण्यतो बाधनार्था। अच-

---

अर्य इति। स्वामिवैश्ययोरित्यर्थे ऋधातोर्यदन्तं निपातनम्। उपसर्या इति। उपपूर्वात्सृधातोर्यन्निपात्यते। उपसार्या—अत्र 'ऋहलोः' इति ण्यत्। अजर्यमिति। न जीर्यतीत्यर्थे यदन्तं निपात्यते। ब्रह्मोद्यमिति। वद्धातोः 'वदः सुपि क्यप् च' इति क्यपि यजादित्वात्संप्रसारणे उत्वे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे गुणे सायमि पूर्वरूपे 'ब्रह्मोद्यम्' इति रूपम्। यदा यत्स्यात्तदा 'ब्रह्मवद्यम्' इति रूपम्। ब्रह्महत्या। हन्धातोः 'हनस्त च' इति यति नस्य तत्वे टापि सौ 'हल्ङ्या-

---

यत्प्रत्ययान्त शब्द करण अर्थमें निपातन हो। अर्यः स्वामिवैश्ययोः—स्वामी और वैश्य अर्थमें यत्प्रत्ययान्त 'अर्य' शब्द निपातित हो। उपसर्या काल्या—गर्भग्रहण प्राप्तकाल अर्थमें 'उपसर्या' यह यत्प्रत्ययान्त शब्द निपातन हो। अजर्यं संगतम्—यदि संगत विशेष्य हो तो नञ्पूर्वक जॄधातुसे यत्प्रत्ययान्त निष्पन्न 'अजर्यम्' यह शब्द निपातित हो। वदः—अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक 'वद्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, चकारात् 'यत्' भी हो। भुवो भावे—अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक 'भू' धातुसे 'क्यप्' प्रत्यय हो 'भाव' अर्थमें। हनस्त—अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक 'हन्' धातुको तकारान्त आदेश हो, चकारात् 'क्यप्' भी हो, 'भाव' अर्थमें।

एतिस्तुशास्वृ—'इण्' आदि धातुओंसे 'क्यप्' प्रत्यय हो।

ह्रस्वस्य पिति—ह्रस्व को तुक् हो, पित् और कृत् प्रत्ययके परे।

रयस्तुत्य । मृजेर्विभाषा ।३।१।११३। मृजेः क्यब्वा स्यात् । मृज्य । ऋहलोर्ण्यत् ।३।१।१२४। ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च ण्यत् स्यात् । चजोः कु घिण्ण्यतोः ।७।३।५२। चजोः कुत्वं स्याद् घिति, ण्यति च । (निष्ठायामनिट इति वक्तव्यम्) तेनेह न । गर्ज्यम् । मार्ग्यं । ओरावश्यके ।३।१।१२५। उवर्णान्ताद्धातोर्ण्यत् स्यादावश्यके । लाव्यम् । पाव्यम् ।

'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये, तुं काममनसोरपि ।
समो वा हिततयोर्मांसस्य पचि युड्घञोः' ॥

अवश्यलाव्यम् । भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ।३।४।६८। एते कृत्यान्ता कर्तरि वा निपात्यन्ते । भवतीति भव्य । भव्यमनेन वा । भोज्यं भक्ष्ये ।७।३।६९। भोग्यमन्यत् । वचोऽशब्दसंज्ञायाम् ।७।३।६७। न कुत्वम् । वाच्यम् । वाक्यमन्यत् । राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्या-

व्यथ्य' इति सुलोपे महापदेन समस्तत्वे 'महाहत्या' इति । मार्ग्यं इति । मृज्धातो 'ऋहलो' इति ण्यति 'मृजेर्वृद्धि' इति वृद्धौ 'चजो कु' इति कुत्वे 'मार्ग' इति जाते सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । ओरावश्यक इति । उवर्णान्ताण्ण्यदिति भाव । पाव्यमिति । पूञ्धातो 'ओरावश्यके' इति ण्यति वृद्धावावादेशे सौ अमि पूर्वरूपे 'पाव्यमिति' रूपम् । लुम्पेदिति । कृत्येऽवश्यम लुम्पेत् । तु काममनसोरपि लुम्पेत् । हिततयो समो वा लुम्पेत् । मांसस्यापि अ लुम्पेत् पचि युड्घञोरिति । अवश्यलाव्यम् । अवश्यम् पूर्वात् लूधातो 'ओरावश्यके' इति ण्यति वृद्धौ आवादेशे सावमि रूपसिद्धि । भव्यगेयेति । कृत्यान्ता निपात्यन्ते— भव्य इति । वचोऽशब्देति । कुत्व नेत्यर्थ । वाच्यमिति । वचधातो 'ऋहलोर्ण्यत्' इति

मृजेर्विभाषा—'मृज्' धातुसे 'क्यप्' हो, विकल्पसे ।

ऋहलोर्ण्यत्—ऋवर्णान्त और हलन्त धातुसे 'ण्यत्' प्रत्यय हो ।

चजो कु घिण्ण्यतो —चकार जकारको कुत्व हो, घित और ण्यत् प्रत्ययके परे ।
निष्ठायामनिट—निष्ठामें अनिट् धातुके ही चकारको कुत्व हो–ऐसा कहना चाहिये ।

ओरावश्यके—उवर्णान्त धातुसे आवश्यक अर्थमें 'ण्यत्' हो ।

लुम्पेदवश्य—कृत्य प्रत्ययके परे 'अवश्यम्'के मकारका, काम और मनस् शब्दके परे 'तुम्'के मकारका, हित और तत शब्दके परे 'सम्'के मकारका तथा युट् और घञ्परक 'पच्' धातुके परे 'मांस' शब्दके अकारका लोप हो ।

भव्यगेय—कृत्य प्रत्ययान्त भव्यगेय आदि शब्द कर्तामें निपातन हो, विकल्पसे । भोज्यं—भक्ष्य अर्थमें 'भोज्य' निपातन हो । वचोऽशब्द—'वच्' धातुके चकारको कुत्व नहीं हो, शब्दसंज्ञा को छोड़कर । राजसूयसूर्ये—ण्यदन्त–राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य,

ऽव्यथ्याः ।३।१।११४। एते सप्त क्यबन्ता निपात्यन्ते। भिद्योद्ध्यौ नदे ।३।१।११५। नदे किम्? भेत्ता। उज्झिता। पुष्यसिध्यौ नक्षत्रे ।३।१।११६। अधिकरणे क्यन्निपात्यते। पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थाः-पुष्यः। सिध्यन्त्यस्मिन्सिद्धयः। विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ।३।१।११७। विपूयो—मुञ्जः। विनीयः—कल्कः। जित्यो—हलिः। प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः ।३।१।११८। (छन्दसीति वक्तव्यम्) प्रतिगृह्यम्। अपिगृह्यम्। लोके तु-प्रतिग्राह्यम्। अपिग्राह्यम्। पदाऽस्वैरिवाह्यापक्ष्येषु च ।३।१।११९। अवगृह्यं, प्रगृह्यं-पदम्। अस्वैरी-परतन्त्रः। गृह्यकाः-शुकाः। ग्रामगृह्या-सेना। आर्यैर्गृह्यते-आर्यगृह्यः। तत्पक्षाश्रित इत्यर्थः। विभाषा कृवृषोः ।३।१।१२०। कृवृषोः क्यब्वा स्यात्। कृत्यम्। वृष्यम्। कार्यम्। वर्ष्यम्। युग्यं च पत्रे ।३।१।१२१। युग्यमिति क्यबन्तं निपात्यते, पत्रे। पत्रं—वाहनम्। योग्यमन्यत्। अमावस्यदन्यतरस्याम् ।३।१।१२२। अमोपपदाद्वसेरधिकरणे ण्यत्, वृद्धौ सत्यां पाक्षिको ह्रस्वश्च निपात्यते। अमा सह वसतोऽस्यां चन्द्रार्काविति-अमावस्या, अमावास्या वा। अग्नौ

ण्यति 'अतः उपधायाः' इति वृद्धौ 'चजोः' इति प्राप्तं कुत्वं 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्' इति कुत्वनिषेधे सावशि वाच्यमिति रूपम्। राजसूयेति। क्यबन्तानां निपातनम्। भिद्योद्ध्यौ। एतौ निपात्येते। पुष्यसिध्याविति। अत्रापि क्यबन्तनिपातनम्। विपूयेति। क्यबन्तं निपातनम्। प्रत्येति। क्यप्स्यादित्यर्थः। प्रतिगृह्यम्-अपिगृह्यम्। ग्रहेः क्यपि रूपम्। पदास्वैरीति। ग्रहेः क्यप्स्यादित्यर्थः। विभाषिता। क्यब्वेत्यर्थः। कृत्यम्-वृष्यमिति। अत्र क्यपि तुकि रूपमवधेयम्। युग्यमिति। वाहनार्थं निपातनम्। अमाव-

---

कृत्प्रत्यय और अव्यय शब्द निपातन हो। भिद्योद्ध्यौ नदे—क्यबन्त-भिद्य और उद्ध्य शब्द निपातित हो, नद अर्थमें। पुष्यसिद्ध्यौ—अधिकरणमें क्यबन्त पुष्य और सिद्ध्य शब्द निपातन हो। विपूयविनीय—मुञ्ज, कल्क और हलि अर्थमें क्यबन्त विपूय, विनीय और जित्य शब्द निपातित हो।

प्रत्यपिभ्याम्—प्रति और अपि उपसर्गसे पर ग्रह धातुसे क्यप् प्रत्यय हो और यह क्यप् छन्द (वेद) में हो ऐसा कहना चाहिये। पदाऽस्वैरि—पदादि अर्थमें 'ग्रह्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो। विभाषा कृ—'कृ' तथा 'वृष्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, विकल्पसे। युग्यं च—पत्र (वाहन) अर्थमें 'युग्यं' निपातित हो। अमावस्य—'अमा' उपपदक 'वस्' धातुसे ण्यत् तथा ण्यत्के परे वृद्धि होनेपर 'वास्' के आकारको पाक्षिक ह्रस्वाभाव भी निपातन हो। अग्नौ—अग्नि (अग्निधारणार्थ स्थलविशेष) अर्थमें परिचाय्य, उपचाय्य (परि, उप उपसर्गक 'चि' धातुसे ण्यत तथा आमादेश) और समुह्य (समुपसर्गक 'वह्' धातुसे

परिवाय्योपचाय्यसमूह्या ।३।१।१३१। अग्नावेते साधवः । क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ ।३।१।१३०। क्रतुविशेषे एतौ निपात्येते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोमः—कुण्डपाय्यः । सञ्चीयतेऽसौ—सञ्चाय्यः । चित्याऽग्निचित्ये च ।३।१।१३२। एतौ निपात्येते । चित्योऽग्निः । अग्नेश्चयनम्—अग्निचित्या ॥

इति कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।

अथ कृदन्ते कृत्प्रकरणम्

ण्वुल्तृचौ ।३।१।१३३। धातोरेतौ स्तः । 'कर्तरि कृदि'ति कर्त्रर्थे । युवोरनाकौ ।७।१।१। 'यु' 'वु' एतयोरनुनासिकयोरेतौ स्तः । कारकः । कर्ता । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ।३।१।१३४। नन्द्यादेर्ल्युर्ग्रहादेर्णिनिः पचादेरच् स्यात् । नन्दयतीति नन्दनः । जनार्दनः । लवणः । गणे निपातनाण्णत्वम् ।

न्यर्थे । निपातनम् । अग्नाविति । अग्न्यर्थे निपात्यन्ते । क्रताविति । क्रत्वर्थे पुनर्निपातनम् । चित्येति । एतावपि निपातनेन बोध्यौ । इति कृत्यप्रक्रिया ।

कारकः । करोतीति कारक इति विग्रहे कृधातोः 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे 'ण्वुल्तृचौ' इति ण्वुलि, 'चुटू' इति णस्येत्संज्ञायां लस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञायां 'तस्य' इत्यनेन लोपे, 'युवोरनाकौ' इत्यनेन वो स्थाने अकादेशे, तस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे प्राप्ते, तस्माद्बिरध्य 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, आ इति जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे कृदुत्तरप्रातिपदिकत्वे सौ, रुत्वे विसर्गे च 'कारक' इति रूपम् । नन्दन । टुनदि' समृद्धौ, धातोरनुबन्धलोपे, 'इदितो नुम्धातोः' इति नुमि, उमि गते, मित्वादन्त्यादच परे अनुस्वारे, परसवर्णे, 'नन्द्' इति जाते, तस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि, अनुबन्धलोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां तस्मात् 'नन्दि' इति धातोः 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो

सम्प्रसारण और दीर्घ–ये साधु (निपातन) हों ।

क्रतौ कुण्डपाय्य—क्रतु अर्थमें 'कुण्डपाय्य और 'सञ्चाय्य' निपातित हों ।

चित्याग्नि—अग्न्याधार अर्थमें–'चित्य' और 'अग्निचित्य' शब्द निपातित हों ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कृत्यप्रकरण समाप्त हुआ ।

ण्वुल्तृचौ—धातुसे ण्वुल् और तृच् प्रत्यय हों, कर्तामें । युवोरनाकौ—अनुनासिक 'यु' और 'वु' को क्रमसे 'अन' 'अक' आदेश हों । नन्दिग्रहि—नन्द्यादिसे 'ल्यु' ग्रहादिसे

ग्राही । स्थायी । मन्त्री । पचः । आकृतिगणोऽयम् ॥ **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ।३।१।१३५।** एभ्यः कः स्यात् । क्षिपः । बुधः । कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः । **आतश्चोपसर्गे ।३।१।१३६।** प्रज्ञः । सुग्लः । **पाघ्राध्माधेट्दृशः शः ।३।१।१३७।** एभ्यः शः स्यात् । पिबः । जिघ्रः । धमः । धयः । पश्यः । **अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च ।३।१।१३८।** लिम्पः । विन्दः । धारयः । पारयः । वेदयः । उदेजयः, चेतयः । सातयः । साहयः । अनुपसर्गात्किम् ? प्रलिपः । (गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्) गोविन्दः । अरविन्दम् । **ददातिदधात्योर्विभाषा ।३।१।१३९।** ददः । दधः । पक्षे-वक्ष्यमाणो णः । **ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः ।३।१।१४०।** वा स्यात । ज्वालः । ज्वलः । चालः । चलः । **श्याऽऽद्व्यधास्रुसंस्र्वतीणवसाऽवहृलिहश्लिषश्वसश्च ३।१।१४१।** अच-

स्युणिन्यावः' इति स्युप्रत्यये, लगते, 'युवोरनाकौ' इति योरनादेशे, तस्य आर्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' इति णिलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः। प्रियः। प्रीणातीति प्रियः, इत्यत्र प्रीधातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति के प्रत्यये, कगते, 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्' इति इयङि, अतो लोपे, संयोगे, विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धम् । सुग्लः । सुष्ठु ग्लायतीति सुग्लः । इत्यत्र सुपूर्वकग्लैधातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति के, कलोपे, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यैकारस्य आत्वे 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते, 'सुग्लः' इति रूपम् । पाघ्रेति । कर्त्रर्थे शः स्यादित्यर्थः । पश्यः । दृशधातोः शप्रत्यये 'पाघ्रा' इति पश्यादेशे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । जिघ्र इति । 'पाघ्रा' इति घ्राधातोः शे 'पाघ्रा' इति जिघ्रादेशे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । धम इति । ध्माधातोः 'पाघ्रा' इति शे 'पाघ्रा' इति धमादेशे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । धय इति । धेट् धातोः शेऽयादेशे रुत्वे विसर्गे रूपम् । अनुपसर्गादिति । शः स्यादित्यर्थः । लिम्पः, विन्द इति । 'अनुपसर्गात्' इति शे सौ रुत्वे विसर्गे रूपे भवतः । शेषेभ्यो ण्यन्तेभ्योऽपि शप्रत्यये गुणेऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे रूपाणि । गवादिष्विति । शः स्यादित्यर्थः । गोविन्दः-अरविन्दम्-शे प्रत्यये रूपे इति ज्ञेयम् । ददाति । शो वा इत्यर्थः । पक्षे णः । 'ददः दधः' इति शे रूपम् । ज्वलितीति । पक्षे पचाद्यच् । णप्रत्यये

'णिनि' और पचादिसे 'अच्' प्रत्यय हो । इगुपध—इगुपध धातु तथा ज्ञा, प्री और कृ धातुओंसे 'क' प्रत्यय हो । आतश्चोपसर्गे—उपसर्ग उपपदक आदन्त धातुसे 'क' प्रत्यय हो । पाघ्राध्मा—पा, घ्रा, ध्मा, धेट् और दृश् धातुओंसे 'श' प्रत्यय हो । अनुपसर्गा—अनुपसर्गक लिम्प आदि धातुओंसे 'श' प्रत्यय हो । गवादिषु—गवादि उपपदक 'विन्द' धातुसे 'श' प्रत्यय हो, संज्ञामें । ददातिदधात्योः—'दा' और 'धा' धातुसे 'श' प्रत्यय हो, विकल्पसे । ज्वलितिकसन्ते—ज्वलादि कसन्त धातुसे 'ण' प्रत्यय हो, विकल्पसे । श्याद्व्यधा—श्यैआदि

श्याय । आत्—दायः । धायः । व्यायः । आह्वायः । संह्वायः । अत्यायः । अवसायः अवहारः । लेहः । श्लेषः । श्वासः । **विभाषा ग्रहः ।३।१।१४३।** व्यवस्थित विभाषेयम् । तेन—जलचरे ग्राहः । ज्योतिषि—ग्रहः । **गेहे कः ।३।१।१४४।** गृह्णाति धान्यादिकमिति—गृहम् । **शिल्पिनि ष्वुन् ।३।१।१४५।** क्रियाकौशलं शिल्पम्, तद्वत्कर्तरि ष्वुन् स्यात् । **षः प्रत्ययस्य ।१।३।६।** प्रत्ययस्य आदिः ष इत्स्यात् । **(नृतिखनिरञ्जिभ्य एव)** नर्तकः । खनकः । **(असि, अकेऽने च रञ्जेर्नलोपो वाच्यः)।** रजकः । रजकी । **गस्थकन् ।३।१।१४६।** गायतेस्थकन् स्यात् । गाथकः । **ण्युट् च ।३।१।१४७।** गायनः । **प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् ।३।१।१४९।** एभ्यः समभिहारे वुन्स्यात् ।

उपधाया दीर्घं 'ज्वाल' तदभावे ज्वल इति । 'चालः, चल' अत्रापि चा णे रूपम् । अवश्याय । श्याधातोः 'श्याद्व्येति' इति णप्रत्यये 'आतो युक्' इति युकि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । दायः, धायः, अत्रापि णप्रत्यये युकि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । व्याधः । वधि णप्रत्यये 'अत उपधायाः' इत्युपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । आह्वायः—अत्र यः अत्र णौ वृद्धौ रूपम् । शेषं सुकरम् । विभाषेति । णो वा इत्यर्थः । पक्षेऽप् । ग्रह—ग्राहः । णे उपधादीर्घं इति भावः । शिल्पिनीति । शिल्पमस्यास्तीति शिल्पी तस्मिन् ष्वुनित्यर्थः । षः प्रत्ययस्य । इत् स्यादित्यर्थः । नर्तकः, खनकः । नृत्खनयोः 'शिल्पिनि' इति ष्वुनि 'षः प्रत्ययस्य' इति इत्वे षलोपे 'युवोरनाकौ' इत्यकि पुगन्तगुणे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । असीति । एषु परेषु रञ्जेर्नलोपः । रजकः । रञ्ज् धातोः 'शिल्पिनि' इति ष्वुनि 'षः प्रत्ययस्य' इति इत्वे षलोपे 'युवोरनाकौ' इति अकादेशे 'असि' इति नलोपे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । गस्थकनिति । गायतेस्थकन् कर्तरि । गाधातोः थकनि सौ रुत्वे विसर्गे 'गाथकः' इति रूपम् । ण्युट् चेति ॥ कर्तरि ण्युडपि गायतेरित्यर्थः । गाधातोर्ण्युटि 'युवो' इत्यनि 'आतो युक्' इति युकि सौ रुत्वे विसर्गे 'गायन' इति रूपम् । प्रुसृल्व इति । पौनःपुन्यं भृशार्थश्च क्रियासमभिहारः । प्रु-सृ-लू-एभ्यो वुनि 'युवो' इत्यकि

धातुओंसे नित्य 'ण' प्रत्यय हो । विभाषा—'ग्रह' धातुसे 'ण' प्रत्यय हो विकल्पसे । गेहे क—'गेह' कर्ता हो तो ग्रह धातुसे 'क' प्रत्यय हो । शिल्पिनि—शिल्पी कर्ता हो तो धातुसे 'ष्वुन्' प्रत्यय हो । षः प्रत्ययस्य—प्रत्यय सम्बन्धी आदि षकारकी इत्संज्ञा हो । नृतिखनिर—'नृत' धातु, 'खन्' धातु और 'रञ्ज्' धातुओंसे ही 'ष्वुन्' प्रत्यय हो ।

असि अकेऽने—'रञ्ज्' धातुके नकारका लोप हो, अक् और अन् प्रत्ययके परे ।

गस्थकन्—'गै' धातुसे 'थकन्' प्रत्यय हो । ण्युट् च—'गै' धातुसे 'ण्युट्' प्रत्यय भी हो । प्रुसृल्वः—प्रु, सृ तथा लू धातुओंसे 'वुन्' प्रत्यय हो, साधुकारी अर्थमें ।

समभिहारग्रहणेन साधुकारित्वं लक्ष्यते। प्रवकः। सरकः। लवकः। **आशिषि च ।३।१।१५०।** आशिषि वुन् स्यात्। जीवतात्-जीवकः। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ।३।१।९२।** सप्तम्यन्ते पदे-'कर्मणी'त्यादौ-वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्। **कर्मण्यण् ।३।२।१।** कर्मण्युपपदे धातोरण् स्यात्। कुम्भं करोतीति-कुम्भकारः। **आतोऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।** कर्मण्युपपदे आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कः स्यात्। नाऽण्। अणोऽपवादः। गोदः। कम्बलदः। अनुपसर्गे किम्? गोसंदायः। **(मूलविभुजादिभ्यः कः)** मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः। कुध्रः॥ **सुपि स्थः ।३।२।४।** सुबन्ते उपपदे स्थाधातोः कः स्यात्। समस्थः। विषमस्थः 'सुपी'ति योगविभागादन्यस्मादपि। द्वाभ्यां पिबतीति-द्विपः। **अम्बाम्ब-गो-भूमि-सव्या-प-**

गुणेऽयादेशेऽवादेशे रपरत्वे यथायथं च सौ रुत्वे विसर्गे 'प्रवकः-सरकः-लवकः' इति रूपाणि। आशिषि चेति। वुन् स्यादित्यर्थः। जीवतादिति आशिषः स्फोरणाय। जीवधातोर्वुन्यकि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम्। अग्रे उपयुक्तामुपपदसंज्ञां विधित्सन्नाह—तत्रोपपदमिति। कुम्भकारः। अत्र कुम्भ इति कर्मणि उपपदे कृधातोः 'कर्मण्यण्' इति अणि, णगते, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, कार इति जाते, 'कुम्भ अस् कार' इत्यत्र 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' इति सुबुत्पत्तेः प्रागेव 'उपपदमतिङ्' इति समासे समासत्वात् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति 'कुम्भ अस् कार' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति असो लोपे, एकदेशविकृतन्यायेन समुदायात्सौ, रुत्वे विसर्गे च 'कुम्भकारः' इत्यस्य सिद्धिः। सुपि स्थ इति। सुप्युपपदे स्थाधातोः क इत्यर्थः। समस्थ इति। समं तिष्ठतीत्यर्थः। समं स्थाधातोः 'सुपि स्थः' इति कप्रत्यये सुब्लुकि 'आतो लोप इटि च' इति आलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'समस्थः' इति रूपम्। एवं विषमस्थः। अत्रापि क इति भावः। सुपि इति योगो विभज्यते तेन द्वाभ्यां शुण्डदुण्डाभ्यां पिबति इत्यर्थे द्वाभ्यां पाधातोः 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्यये 'आतो धातोः' इत्यालोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'द्विपः' इति रूपम्। अम्बाम्बेति। एभ्य-

---

आशिषि च—आशीर्विषयार्थ वृत्ति धातुसे 'वुन्' प्रत्यय हो (कर्तामें)।

तत्रोपपदं—सप्तम्यन्त 'कर्मणि' इत्यादि पदोंमें वाच्यत्वेन स्थित जो कुम्भादि, तद्वाचक जो पद, उसकी उपपदसंज्ञा हो। कर्मण्यण्—कर्म उपपद रहनेपर धातुसे अण् प्रत्यय हो।

आतोऽनुप—कर्म उपपद रहनेपर अनुपसर्गक आदन्त धातुसे 'क' प्रत्यय हो। मूलविभुजा—मूलविभुजादिसे 'क' प्रत्यय हो। सुपि—सुबन्त उपपदक 'स्था' धातुसे 'क' प्रत्यय हो। अम्बाम्ब—अम्बादि शब्दोंसे पर (कप्रत्ययान्त) 'स्थ' संबन्धी सकारको षकार हो।

द्वि-त्रि-कु-शेकु-शंकु-अङ्गु-मञ्जि-पुञ्जि-परमे-बर्हि-र्दिव्य-ग्निभ्यः स्थः ।८।३।९७। एभ्यः स्थस्य सस्य षः । द्विष्ठः । त्रिष्ठः । **तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ।३।२।५।** तुन्दशोकयोः कर्मणोरुपपदयोराभ्यां कः स्यात् । (आलस्यसुखाऽऽहरणयोरिति वक्तव्यम्) । तुन्दपरिमृजोऽलसः । शोकापनुदः — सुखस्याऽऽहर्ता । **प्रे दाज्ञः ।३।२।६।** प्रे उपपदे आभ्यां कः स्यात् । सर्वप्रदः । पथिप्रज्ञः । **समि ख्यः ।३।२।७।** समि उपपदे ख्यः कः स्यात् । गोसंख्यः । **गापोष्टक् ।३।२।८।** कर्मण्युपपदे गापोष्टक् स्यात् । सामगः । (पिबतेः सुराशीध्वोरिति वाच्यम्) सुरापी । शीधुपी । अन्यत्र-क्षीरपा ब्राह्मणी । **हरतेरनुद्यमनेऽच् ।३।२।९।** कर्मण्युपपदे हरतेरच् स्यादनुद्यमनेऽर्थे । अंशहरः । अनुद्य-

---

मनस्य पर्यायमित्यर्थः । द्वयोः त्रिषु च तिष्ठतीति विग्रहे 'सुपि स्थः' इति कप्रत्यये आलोपे 'अम्बाम्ब' इति षत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'द्विष्ठः' 'त्रिष्ठः' इति रूपे भवतः । तुन्दशोकयोरिति । कः स्यादित्यर्थः । आलस्येति । एतयोर्गम्यमानयोः सत्योरेवेति भावः । तुन्दपरिमृजोऽलसः । अत्रालस्यस्य गम्यमानत्वात् कप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । एवं शोकापनुदः अत्रापि क एवेति भावः । प्रे दाज्ञ इति । प्रोपपदयोरनयोः कः इत्यर्थः । सर्वप्रदः-पथिप्रज्ञः । अत्र दाधातोः के आलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । समि ख्य इति । सम्पूर्वात्ख्याधातोः कः स्यादित्यर्थः । गोसंख्यः । ख्याधातोः कप्रत्यये आलोपे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । गापोरिति । टक् स्यादित्यर्थः । सामगः साम गायतीत्यर्थे गाधातोः टकि आलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'सामगः' इति रूपम् । पिबतेरिति । एतयोरर्थयोर्गम्यमानयोरेव पाधातोष्टगित्यर्थः । सुरापी-शीधुपी । सुरां शीधु पिबतीत्यर्थे 'गापोष्टक्' इति टकि आलोपे टित्वाद् ङीपि सौ हल्ङ्यादिलोपे सुरापी-शीधुपी इति रूपे भवतः । हरतेरिति ॥ अच् स्यात् । अंशहरः । अंशं हरतीति विग्रहे हृधातोः अचि गुणे रपरत्वे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'अंशहरः' इति रूपम् । [illegible] ॥ [illegible] ग्रहेरणित्यर्थः । [illegible] गृह्णातीत्यर्थेऽणि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् ।

तुन्दशोकयोः—कर्मसंज्ञक 'तुन्द' और 'शोक' उपपद रहते 'परि' उपसर्गक 'मृज्' धातु और 'अप' उपसर्गक 'नुद्' धातुसे 'क' प्रत्यय हो । आलस्यसुखाहरणयोः—'तुन्दशोकयो' सूत्रसे विहित 'क' प्रत्यय आलस्य और सुखाहरण (सुख पहुँचाना) अर्थमें हो—ऐसा कहना चाहिये । प्रे दाज्ञः—'प्र' उपपदक 'दा' और 'ज्ञा' धातुसे 'क' प्रत्यय हो ।

समि ख्यः—'सम्' उपपदक 'ख्या' धातुसे 'क' प्रत्यय हो ।

गापोष्टक्—कर्म उपपदक 'गा' और 'पा' धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो ।

पिबतेः—'सुरा' और 'शीधु' कर्म उपपदमें ही 'पा' धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो ।

हरतेरनु—कर्मोपपदक 'हृञ्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, अनुद्यम अर्थमें ।

गने किम्? भारहारः। (शक्तिलाङ्गलाङ्कुशतोमरयष्टिघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसङ्ख्यानम्) शक्तिग्रहः ॥ **वयसि च ।३।२।१०।** वयसि गम्ये कर्मण्युपपदे हरतेरच् स्यात्। उद्यमनार्थं सूत्रम्। कवचहरः कुमारः। **आङि ताच्छील्ये ।३।२।११।** आङ्पूर्वाद्धरतेः कर्मण्युपपदेऽच् स्यात्ताच्छील्ये। पुष्पाण्याहरति तच्छीलः पुष्पाहरः। **अर्हः ।३।२।१२।** अर्हतेरच्स्यात्, कर्मण्युपपदे। पूजार्हा ब्राह्मणी। **स्तम्बकर्णयो रमिजपोः ।३।२।१३।** स्तम्बकर्णयोरुपपदयो रमिजपोरच् स्यात्। (हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम्) स्तम्बेरमो हस्ती। कर्णेजपः सूचकः ॥ **अधिकरणे शेतेः ।३।२।१५।** अधिकरणे उपपदे शेतेरच् स्यात्। खे शेते-खशयः। (पार्श्वादिषूपसंख्यानम्) पार्श्वाभ्यां शेते-पार्श्वशयः। पृष्ठशयः। उदरशयः। **चरेष्टः ।३।२।१६।** अधिकरणे उपपदे चरेष्टः स्यात्। कुरुचरः। **भिक्षासेनाऽऽदायेषु च ।३।२।१७।** एषूपपदेषु चरेष्टः स्यात्। भिक्षाचरः। सेनाचरः।

वयसि चेति। अच् स्यात्। कवचहरः कुमारः अत्र कवचं हरतीति विग्रहेऽचि सुब्लुकि गुणे रपरत्वे विसर्गे 'कवचहरः' इति रूपम्। आङीति। पुष्पाहरः। पुष्पमाहरतीति आङ्पूर्वाद्धरतेरचि गुणे रपरत्वे सौ सुब्लुकि रुत्वे विसर्गे 'पुष्पाहरः' इति रूपम्। अर्ह इति। अच् स्यादित्यर्थः। पूजार्हा। पूजामर्हतीत्यर्थे सुब्लुकि अचि टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'पूजार्हा' इति रूपम्। स्तम्बकर्णयोः। अच् स्यादित्यर्थः। हस्तीति। अनयोरर्थयोरेवाच्। स्तम्बेरमः, कर्णेजपः इति। स्तम्बे रमते-कर्णे जपति इति विग्रहे रमिजपिधात्वोः 'स्तम्ब' इत्यचि 'तत्पुरुषे' इत्यलुकि सौ रुत्वे विसर्गे रूपे भवतः। अधिकरण इति। शीङोऽच्स्यात्। खे शेते इत्यर्थे शीङोऽचि सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'खशयः' इति रूपम्। पार्श्वादिषु। पार्श्वाद्युपपदेषु शीङोऽजित्यर्थः। पार्श्वाभ्यां शेते इत्यर्थे शीङोऽचि सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'पार्श्वशयः, एवं पृष्ठशयः उदरशयः

शक्तिलाङ्ग—शक्त्यादि कर्मोपपदक 'ग्रह्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो। वयसि च—अवस्था गम्यमान हो तो कर्मोपपदक 'हृ' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, उद्यमन अर्थमें।

आङि ताच्छील्ये—'आङ्' उपसर्गक कर्मोपपदक 'हृ' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, ताच्छील्य अर्थमें। अर्हः—कर्मोपपदक 'अर्ह्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो।

स्तम्बकर्णयोः—स्तम्ब और कर्ण उपपदक 'रम्' और 'जप्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, हस्ती और सूचक अर्थमें।

अधिकरणे शेतेः—अधिकरण उपपदक 'शीङ्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो।

पार्श्वादिषु—पार्श्वादि उपपदक 'शीङ्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो।

चरेष्टः—अधिकरण उपपदक 'चर्' धातुसे 'ट' प्रत्यय हो। भिक्षासेना—भिक्षा, सेना

'आदाये'ति ल्यबन्तम्। आदायचरः। **कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ।३।२।२०।** एषु द्योत्येषु कृञष्टः स्यात्। **अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य ।८।३।४६।** अतः उत्तरस्याऽनव्ययविसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः स्यात्करोत्यादिषु। अयस्कारः। अयस्कामः। अयस्कंसः। अयस्कुम्भः। अयस्पात्रम्। अयः सहिता कुशा अयस्कुशा। अयस्कर्णी। अतः किम्? गीःकारः। अनव्ययस्य किं? स्वःकारः। अनुत्तरपदस्थस्य किं? परमयशःकारः। यशस्करी विद्या। श्राद्धकरः। वचनकरः। **दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्कारा-ऽन्ता-ऽनन्ता-ऽऽदि-बहु-नान्दी-किं-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षेत्र-संख्या-जङ्घा-बाह्व-हर्यत्-तद्-धनु-ररुष्षु ।३।२।२१।** एषु कृञष्टोऽहेत्वादावपि। दिवाकरः। विभाकरः। निशाकरः। वस्कादित्यादिः। भास्करः। बहुकरः।

इत्यादि। यशस्करी विद्या। यशः करोतीति विग्रहे यश इति कर्मण्युपपदे, हेतुद्योत्ये कृधातोः 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इत्यनेन टे प्रत्यये, टस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते, टशताकारस्य आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च जाते 'कर' इति सम्पन्ने, 'यशस् अस् कर' इत्यलौकिकविग्रहे 'उपपदमतिङ्' इति समासे, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति असो लुकि, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वस्य सत्वात्सुबायाससौ, तस्मिन् परे स्त्रीत्वविवक्षायां 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्' इत्यादिना टित्वाद् ङीपि अनुबन्धलोपे, 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'यस्येति चे'ति करगतरेफोत्तरवर्तिनः अकारस्य लोपे, संयोगे कृते, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सुलोपे, यशसः सकारस्य 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे, तस्य विसर्गस्य 'कुप्वोः' इति जिह्वामूलीये प्राप्ते, तद्बाधित्वा 'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य' इत्यनेन विसर्गस्य नित्यं सत्वे 'यशस्करी' इति। दिवाविभेति। 'कृञो हेतु' इत्यतः कृञ इत्यनुवर्तते। 'दिवा कृ-ट' इति स्थिते गुणे रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे दिवाकरः। एवं विभाकरः, निशाकरः। अत्रापि टत्वं। भास्कर-बहुकर-एककर-द्विकर-अहस्कर-धनुष्कर-अरुष्कर' इत्यादिष्वपि टे रूपाण्य-

---

और आदाय कर्मोपपदक धातुसे 'ट' प्रत्यय हो। कृञो हेतु—कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'ट' प्रत्यय हो, हेत्वादि अर्थ गम्यमान रहने पर। अतः कृ-कमि—'अत्'से पर अनव्यय सम्बन्धी विसर्गके स्थानमें सत्व हो, कृ, कमि, कंसादि उत्तर पदके परे, समासमें।

दिवा—दिवा, विभा आदि कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे अहेत्वादि अर्थमें भी 'ट' प्रत्यय हो।

एककरः। द्विकरः। अहस्करः। धनुष्करः। अरुष्करः। **न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु ।३।२।२३।** एषु कृञष्टो न स्यात्। शब्दकारः। **स्तम्बशकृतोरिन् ।३।२।२४।** स्तम्बशकृतोः कर्मणोरुपपदयोः कृञ इन् स्यात्। **(व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्)**। स्तम्बकरिर्व्रीहिः। शकृत्करिर्वत्सः। **हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ ।३।२।२५।** दृतिनाथयोः कर्मणोरुपपदयोर्हरतेरिनिः स्यात्पशौ कर्त्तरि। दृतिहरिः। नाथं—नासारज्जुं, हरतीति नाथहरिः पशुः। पशौ किं? दृतिहरः। नाथहरः। **फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ।३।२।२६।** एतौ निपात्येते। चात्कुक्षिम्भरिः। चान्द्रास्तु—'आत्मोदरकुक्षिष्वि'ति पेठुः। 'ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः' इति मुरारिः। **एजेः खश् ।३।२।२८।** ण्यन्तात् एजेः खश् स्यात्। **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ।६।३।६७।** अरुषो, द्विषतोऽजन्तस्य च मुम् स्यात्खिदन्ते, उत्तरपदे, न त्वव्ययस्य। शित्त्वाच्छवादि। जनमेजयतीति जनमेजयः। **(वातशुनीतिलशर्द्धेष्वजधेट्तुदजहातिभ्यः खश्)**। वातमजा मृगाः। **खित्यनव्ययस्य ।६।३।६६।** खिदन्ते उत्तरपदे पूर्वपदस्य ह्रस्वः। ततो मुम्।

चसेयानि। न शब्देति। अत्रापि 'कृञो' हेत्वतट इति कृञ इति चानुवर्तते। अत्र न टः शब्दकारः। अत्र 'अत उपधायाः' इति ण्यति वृद्धौ रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे शब्दकारः इति रूपम्। स्तम्बशकृतोरिति। अनयोरुपपदयोः कृञ इन् स्यात्। व्रीहीति। एतयोरर्थयोर्गम्यमानयोरिति भावः। स्तम्बं करोति, शकृत् करोतीत्यर्थे इनि गुणे रपरत्वे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'स्तम्बकरिः' 'शकृत्करिः' इति रूपे भवतः। हरतेरिति। दृतिं हरति–नाथं हरति इति विग्रहे हृधातोः 'हरतेः' इति इनि गुणे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे प्रोक्ते रूपे भवतः। फलेग्रहिरिति। निपातनमेतद्। वातशुनीति। खश् स्यादित्यर्थः। वातमजतीति विग्रहे खशि सुब्लुकि 'अरुः' इति मुमि जसि

न शब्दश्लोक—शब्दादि कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'ट' प्रत्यय नहीं हो।

स्तम्बशकृतोः—स्तम्ब और शकृत् कर्मोपपदक 'कृञ्' धातुसे 'इन्' प्रत्यय हो।

व्रीहि—'स्तम्बशकृतोरिन्' इस सूत्रसे विहित 'इन्' प्रत्यय व्रीहि और वत्स अर्थ गम्यमान रहने पर ही हो—ऐसा कहना चाहिये।

हरतेर्दृति—'दृति' और 'नाथ' कर्मोपपदक 'हृ' धातुसे 'इन्' प्रत्यय हो, 'पशु' यदि कर्त्ता रहे। फले—'फलेग्रहि' 'आत्मम्भरि' और चात् 'कुक्षिम्भरि' शब्द भी निपातित हो।

एजेः खश्—कर्मोपपदक ण्यन्त 'एज्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो। अरुर्द्विष-अरुष्, द्विषत् और अजन्तको मुमागम हो खिदन्त पदके परे–अव्ययको छोड़कर। वातशुनीति—वातादि कर्मोपपदक अजादि धातुओंसे 'खश्' प्रत्यय हो। खित्यनव्ययस्य—खिदन्त उत्तरपदके परे

शुनिन्धय । तिलन्तुद । शर्द्धजहा माषा । नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः ।३।२।२९। नासिकास्तनयोरुपपदयोर्ध्माधेटो खश् स्यात् । (स्तने धेटो, नासिकायां ध्मश्चेति वक्तव्यम्) स्तनन्धय टित्वात्-स्तनन्धयी । नाडीमुष्ट्योश्च ।३।२।३०। ध्माधेटो खश् स्यात् । (यथासंख्यं नेष्यते) नाडिन्धम । नाडिन्धय । मुष्टिन्धम । मुष्टिन्धय । उदि कूले रुजिवहोः ।३।२।३१। कूलमुद्रुज । कूलमुद्वह । वहाभ्रे लिहः ।३।२।३२। वहः—स्कन्ध, तं लेढीति-वहंलिहो गौ । अभ्रंलिहो वायु । परिमाणे पचः ।३।२।३३। प्रस्थम्पचा स्थाली । खारिम्पच

दीर्घे रुत्वे विसर्गे 'वातमजा मृगा' इति सिद्धम् । तिलेति । खिति अव्ययभिन्नस्य ह्रस्वादिमित्यर्थः । शुनीं धयतीति विग्रहे 'वातशुनी' इति खशि सुब्लुकि 'खित्यन-व्ययस्य' इति ह्रस्वे 'अरु' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णस्यादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'शुनिन्धय' । एवं 'तिलंतुद' अत्रापि खश् । नासिकेति । खश् स्यादित्यर्थः । स्तन धय । स्तन धेट्धातोः 'नासिका' इति खशि सुब्लुकि धयादेशे 'अरु' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे 'स्तनंधय' इति रूपम् । स्त्रीत्वे टित्वान्ङीपि 'स्तनन्धयी' इति रूपम् । नाडीति । ध्माधेटो खश् । नाडीं धमति-धयति वा, मुष्टिं धमति धयति वा इति विग्रहे 'ध्माधेटो नाडीमुष्ट्योश्च' इति खशि सुब्लुकि 'खित्य-नव्ययस्य' इति ह्रस्वे 'अरु' इति मुमि 'पाघ्रा' इति धमादेशे सौ रुत्वे विसर्ग रूपाणि । उदीति । कूलमुद्रुजति-कूलमुद्वहति इति विग्रहे रुजिवहो 'उदिकूले' इति खशि सुब्लुकि 'अरु' इति मुमि रुत्वे विसर्गे 'कूलमुद्रुज' 'कूलमुद्वह' इति रूपे भवतः । वहाभ्र इति । एतयोरुपपदयोर्लिहः खशित्यर्थः । वहं लेढीति-अभ्रं लेढीति च विग्रहे 'वहाभ्रे लिह' इति खशि सुब्लुकि मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे रूपे भवतः । परिमाण इति । खश् स्यादित्यर्थः । प्रस्थं पचतीति विग्रहे पचे खशि सुब्लुकि 'अरु' इति मुमि अनुस्वारे टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपम् । खारीं पचतीति विग्रहे 'परिमाणे पच' इति खशि सुब्लुकि 'खित्यनव्ययस्य' इति ह्रस्वे 'अरु' इति मुमि अनु-

---

पूर्वपदको ह्रस्व हो । नासिकास्तनयो —'स्तन' कर्मोपपदक 'धेट्' धातु और 'नासिका' कर्मोपपदक 'ध्मा' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो । नाडीमुष्ट्योश्च—'नाडी' और 'मुष्टि' कर्मोपपदक 'ध्मा' धातु और 'धेट्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो । यथासंख्यं नेष्यते—'नाडीमुष्ट्योश्च' इस सूत्रमें 'यथासंख्य' परिभाषाकी प्रवृत्ति इष्ट नहीं है । उदि कूले—'कूल' कर्मोपपदक 'उद्' उपसर्गक 'रुज्' और 'वह्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो । वहाभ्रे लिह—'वह' और 'अभ्र' कर्मोपपदक 'लिह्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो । परिमाणे पचः—परिमाणवाचि- कर्मोपप-

कटाहः। मितनखे च ।३।२।३४। एतयोः कर्मणोरुपपदयोः पचेः खश् स्यात्। मितम्पचा ब्राह्मणी। नखम्पचा यवागूः। विध्वरुषोस्तुदः ।३।२।३५। विधुन्तुदः। अरुन्तुदः। असूर्यललाटयोर्दृशितपोः ।३।२।३६। 'असूर्य'मित्यसमर्थसमासः, दृशिना नञः सम्बन्धात्। असूर्यम्पश्या राजदाराः। ललाटन्तपः सूर्यः। प्रियवशे वदः खच् ।३।२।३८। प्रियंवदः। वशंवदः। (गमेः सुपि वाच्यः) मितङ्गमो हस्ती। (विहायसो विह च, खच्च डिद्वा

स्वारे सौ रुत्वे विसर्गे 'खारिम्पचः' इति रूपम्। कटाह इति परिमाणार्थद्योतकमेवेति बोध्यम्। मितनखे चेति। पचेः खश्। मितं पचति—नखं पचतीति विग्रहे 'मितनखे च' इति खशि 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'मितंपचा' 'नखंपचा' इति रूपे। परिमाणभिन्नार्थत्वात् पृथगुक्तिः। विध्वरुषोरिति। अनयोरुपपदयोस्तुदः खशित्यर्थः। विधुं तुदति, अरुः तुदतीति विग्रहे 'विध्वरुषोः' इति खशि सुब्लुकि 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे रूपसिद्धिः। असूर्येति। 'असूर्य' इति असामर्थ्येऽपि समासः, निपातनात्। असूर्यं सूर्यं न पश्यन्ति इत्यर्थे—दृश्धातोः 'असूर्य' इति खशि निपातनान्नञ्समासे नलोपे सुब्लुकि 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे 'पाघ्रा' इति पश्यादेशे टापि जसि 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णे रुत्वे विसर्गे 'असूर्यंपश्याः' इति रूपम्। एवं ललाटं तपः इत्यत्रापि तपधातोः खशि मुमि सौ रुत्वे विसर्गे रूपमवसेयम्। प्रियंवदः। प्रियंवदतीति प्रियमिति कर्मण्युपपदे वद्धातोः खचि खचयोर्लोपे, उपपदसमासे सुपो लुकि, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति खिदन्ते वद इत्युत्तरपदे पूर्वपदस्य प्रिय इत्यस्य मुमि, उमि गते, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते समुदायस्य विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः। गमेः सुपीति। सुबन्तोपपदे गम्धातोः खच् वाच्य इत्यर्थः। मितंगमो हस्तीति। मितं गच्छतीति विग्रहे 'गमेः सुपि वाच्यः' इति खचि सुब्लुकि 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम्। विहायस इति। अत्रापि गमेरित्यनुवर्तते। तेन विहायस्पूर्वाद्गमेः खच् तस्य वा डित्वमित्यर्थः।

दके 'पच्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो।

मितनखे च—'मित' और 'नख' कर्मोपपदक 'पच्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो

विध्वरुषोस्तुदः—'विधु' और 'अरुष्' कर्मोपपदक 'तुद्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो।

असूर्यललाटयोः—'असूर्य' और 'ललाट' कर्मोपपदक 'दृश्' धातु और 'तप्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो।

प्रियवशे—'प्रिय' और 'वश' कर्मोपपदक 'वद्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो।

गमेः—सुबन्त कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये

विहायसो—'विहायस्' उपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' हो और विहायस् शब्दको 'विह' आदेश

वा०) विहङ्गमः । विहङ्गः । भुजङ्गमः । भुजङ्गः ॥ द्विषत्परयोस्तापेः ।३।२।३९। खचि ह्रस्वः ।६।४।९४। खचि परे णौ उपधाया ह्रस्वः स्यात् । द्विषन्तं, परं वा तापयति—द्विषन्तपः, परन्तपः । वाचि यमो व्रते ।३।२।४०। खच् । वाचंयमपुरन्दरौ च ।६।३।६९। वाक्पुरोरमन्तत्वं निपात्यते । वाचंयमो मौनव्रती । व्रते किम् ? वाग्यच्छतीत्यादिना वाचं यच्छतीति वाग्यामः । पूःसर्वयोर्दारिसहोः ।३।२।४१। खच् स्यात् । पुरं दारयतीति पुरन्दरः । सर्वंसहः । भगं दारयतीति

विहादेशस्य नियमः । विहायसा गच्छतीत्यर्थे 'विहायसः' इति खचि विहादेशे सुब्लुकि 'अद' इति मुमनुस्वारे परसवर्णे खचो डित्वपक्षे डित्सामर्थ्यादभो लोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'विहङ्गः' इत्येकं रूपम् । यदा डित्वं न स्यात्तदा 'विहङ्गमः' इति द्वितीयं रूपम् । 'वक्तव्य' भुजशब्दो भुजेर्वा गच्छतीति विग्रहे खचि खचो वा डित्वपक्षे टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'भुजङ्गः' तदभावे 'भुजङ्गमः' इति द्वितीयं रूपम् । द्विषदिति । एतयोः कर्मोपपदयोः तापेः खच् स्यादित्यर्थः । 'खचि ह्रस्व इति ।' खचि परे णावुपधाया ह्रस्वस्य विधानम् । द्विषन्तं परं वा तापयतीति विग्रहे खचि सुब्लुकि 'द्विषत्-तापि-अ, 'पर-तापि-अ' इति जाते 'खचि ह्रस्व' इति ह्रस्वत्वे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'न लोप' इति नलोपे । 'द्विषन्तप' 'परन्तप' इति रूपे भवतः । वाचीति । व्रतार्थे गम्ये वाक्शब्दोपपदे यमधातोः खच् स्यादित्यर्थः । वाचंयमेति । निपातनसामर्थ्यात् खचि परतोऽमन्तत्व मवसेयम् । 'वाचंयम इति । वाचं यच्छतीति विग्रहे 'वाचि यमो व्रते' इति खचि 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति निपातनादमन्तत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'वाचंयमः' इति उदाहरणम् । व्रताभावे तु वाग्याम इति । वाचं यच्छतीति विग्रहे णौ खचि सुब्लुकि उपधावृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे 'वाग्यामः' इति रूपम् । पूःसर्वयोरिति । पुरसर्वयोरुपपदयोः दारिसहोः खच् स्यादित्यर्थः । पुरंदर–सर्वंसह । पुरं दारयति, सर्वं सहते इति विग्रहे 'पूःसर्वयो' इति खचि 'खचि ह्रस्व' इति दारेर्ह्रस्वत्वे सुब्लुकि 'अरु' इति मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे 'पुरंदर' 'सर्वंसहः' इति रूपे भवतः । 'कष मगादेरिति'

हो तथा वह 'खच्' डित् हो, विहङ्ग—ऐसा कहना चाहिये । द्विषत्परयोस्तापेः—'द्विषत्' और 'पर' कर्मोपपदक ण्यन्त 'तप्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो । खचि ह्रस्वः—'खच्' परक 'णि' के परे धातुकी उपधाको ह्रस्व हो । वाचि यमो व्रते—'वाच्' उपपदक 'यम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, व्रत अर्थमें । वाचंयमपुरन्दरौ च—खच् प्रत्यय निमित्तक 'वाच्+यम' 'पुर्+दार' ऐसी स्थितिमें वाच् और पुर को अमन्तत्व निपातन हो । पूःसर्वयोर्दारिसहोः—'पुर्' और 'सर्व' कर्मोपपदक ण्यन्त 'दृ' धातु तथा 'सह्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो ।

भगन्दर इति कथम् ? बाहुलकात्। **सर्व-कूला-ऽभ्र-करीषेषु कषः** ।३।२।४२। सर्वङ्कषः खलः। कूलङ्कषा नदी। अभ्रङ्कषो वायुः। करीषङ्कषा वात्या। **मेघर्त्ति-भयेषु कृञः** ।३।२।४३। मेघङ्करः। ऋतिङ्करः। भयङ्करः। 'भय'शब्देन तदन्तविधिः। अभयङ्करः। **क्षेम-प्रिय-मद्रेऽण् च** ।३।२।४४। एषु कृञोऽण् स्यात्। चात्खच्। क्षेमङ्करः। क्षेमकारः। प्रियङ्करः। प्रियकारः। मद्रङ्करः। मद्रकारः। कथं तर्हि 'अल्पारम्भाः क्षेमकराः' इति ? कर्मणः शेषत्वविवक्षायां पचाद्यच्। एवं गङ्गाधर-भूधरादयः। **आशिते भुवः करणभावयोः** ।३।२।४५। खच् स्यात्। आशितो भवत्यनेन—आशितम्भव ओदनः। आशितस्य भवनम्—आशितम्भवः। **संज्ञायां**

बाहुलकात् खचि मुमि रूपमिति भावः। सर्वकूलेति। एषूपपदेषु सत्सु कष्धातोः खच्। सर्वकष इति। सर्वं कषतीति विग्रहे 'सर्वंकष' इति खचि मुमागमे अनुस्वारे परसवर्णे रुत्वे विसर्गे रूपम्। एवं 'कूलङ्कषा' अत्रापि खचि मुमि टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपं बोध्यम्। 'अभ्रंकषः' अत्रापि खचि मुमि रूपम्। 'करीषंकषा' अत्र खचि मुमि टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपसिद्धिः। मेघर्तिभयेष्विति। एषूपपदेषु कृञः खच् स्यादित्यर्थः। मेघङ्करः-ऋतिङ्करः-भयङ्करः, इति। मेघं-ऋतिं-भयं-वा करोतीति विग्रहे खचि लुग्लुकि 'कृ' इति मुमि गुणे रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे रूपाणि। 'येन विधिः' इति भाष्ये स्पष्टोक्तत्वात्सपशब्देन तदन्तविधिरेवेन भयान्तादपि खजित्यर्थः। 'अभयंकरः' अत्र खचि मुमि गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'अभयंकरः' इति रूपम्। क्षेमेति। एषूपपदेषु कृञः खजणौ। क्षेमङ्करः। क्षेमं करोतीति विग्रहे कृञः 'क्षेमप्रियं' इति सत्त्वात्खचि मुमि अनुस्वारे परसवर्णे गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्षेमंकरः' इति रूपम्। यदाण् तदा वृद्धौ मुमभावे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्षेमकारः'। एवं मद्रंकरः-मद्रकारः, प्रियंकरः प्रियकारः इति रूपाणि बोध्यानि। कथं 'क्षेमकराः' इति पचाद्यचि गुणे रूपं स्यादित्यर्थः। एवं गंगाधरः भूधरः अत्रापि पचाद्यजेवेति भावः। आशित इति। एतदुपपदाद्भुवः धातू स्यादित्यर्थः। आशितोपपदे करणभावयोरर्थे भूधातोः खजित्यर्थः। आशितो भवत्य-नेनेति करणार्थे भूधातोः 'आशिते भुवः करणभावयोः' इति खचि लुग्लुकि 'भवः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे गुणेऽवादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'आशितम्भवः' इति रूपम्। भावार्थे तु आशितस्य भवनमिति विग्रहः, रूपसिद्धिः प्राग्वत्। संज्ञायामिति।

सर्वकूला—कर्मसंज्ञक सर्व, कूल, अभ्र और करीष सुबन्त उपपदक 'कष्' धातु से 'खच्' प्रत्यय हो।

मेघर्ति—मेघ, ऋति और भय कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो।

क्षेम—क्षेम, प्रिय और मद्र कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'अण्' और 'खच्' प्रत्यय भी हो।

आशिते—सुबन्त आशितशब्द उपपदक 'भू' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, करण और भावमें।

संज्ञायां—कर्मोपपदक भृ, तृ आदि धातुओंसे 'खच्' प्रत्यय हो संज्ञामें।

भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः ।३।२।४६। खच् स्यात् । विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरः । रथन्तरं साम । शत्रुञ्जयो हस्ती । युगन्धरः पर्वतः । शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः । अरिन्दमः । गमश्च ।३।२।४७। सुतङ्गमः । अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः ।३।२।४८। गमेर्डः स्यात् । अन्तगः । (सर्वत्रपन्नयोरिति वाच्यम्) सर्वत्रगः । पन्न=पतितं गच्छतीति पन्नगः । (उरसो लोपश्च) उरसा गच्छतीति-उरगः । (सुदुरोरधिकरणे) सुखेन गच्छत्यत्र-सुगः । दुर्गः ।

सुबन्तोपपदेषु सूत्रनिर्दिष्टधातुषु सत्सु संज्ञायां खजित्यर्थः । विश्वमिति । वस्तुतस्तु संज्ञायां न विग्रहः । किन्तु विश्वमिति सुबन्तोपपदमिति स्फोरणार्थमिदमित्यवसेयम् । भृधातोः 'संज्ञायाम्' इति खचि गुणे रपरत्वे मुमागमे 'भर' इति मुमि सौ रुत्वे विसर्गे 'विश्वम्भरः' इति रूपम् । एवं रथन्तरं साम । शत्रुञ्जयो हस्ती । युगन्धरः पर्वतः । शत्रुंसहः । अरिन्दमः इत्यादिषु खचि मुमि रूपमिति बोध्यम् । गमश्चेति । सुबन्तोपपदाद्गम्धातोरपि खजित्यर्थः । सुतोपपदाद्द्वितीयान्तात् गम्धातोः 'गमश्च' इति खचि 'अरु' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'सुतङ्गमः' इति रूपम् । अन्तात्यन्तेति । सन्निधानसामर्थ्यात् धातोर्निवृत्तिः । 'गमश्च' इत्यतो गम इति, अत आह—गमेर्ड इति । एषूपपदेषु गमेर्डः स्यादित्यर्थः । अन्तग इति । अन्तमन्तं वा गच्छतीत्यर्थे 'अन्ता' इति डप्रत्यये डित्वसामर्थ्याट्टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'अन्तगः' इति रूपम् । सर्वत्रेति । एतयोरुपपदयोर्गमेर्डः इत्यर्थः । सर्वत्रगः, पन्नगः । एतयोरुपपदयोः गम्धातोः 'सर्वत्रपन्नयोरिति वाच्यम्' इति वार्तिकेन डप्रत्यये डित्वाट्टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'सर्वत्रगः' 'पन्नगः' इति रूपे भवतः । उरग इति । उरःपूर्वपदाद्गम्धातोर्डः स्यात्पूर्वस्योरसोऽन्त्यलोपश्चेत्यर्थः । उरसा गच्छतीति विग्रहे गम्धातोः डप्रत्यये 'उरसो लोपश्च' इति सलोपे टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे उरगः । सुदुरोरिति । अधिकरणार्थे गम्यमाने सुदुरोः पूर्वपदयोः सतोः गम्धातोर्डः इति भावः । सुग दुर्ग इति । सुदुर्पूर्वपदाद् गम्धातोर्डप्रत्यये टेर्लोपे

गमश्च—कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

अन्तात्यन्ता—अन्तादि सुबन्तोपपदक 'गम्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो ।

सर्वत्र—'सर्वत्र' और 'पन्न' कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो, ऐसा कहना चाहिये ।

उरसो—सुबन्त 'उरस्' शब्दोपपदक 'गम्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो और 'टि' का लोप भी हो ।

सुदुरोरधि—'सु' और 'दुर्' उपपदक 'गम्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो, अधिकरण अर्थमें ।

(अन्यत्रापि दृश्यत इति वक्तव्यम्) ग्रामगः। (डे च विहायसो विहादेशो वक्तव्यः) विहगः। आशिषि हनः।३।२।४९। हन्तेः कर्मण्युपपदे डः स्यादाशिषि। शत्रुं वध्यात्-शत्रुहः। आशिषि किम्?। शत्रुघातः। (दारावाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम्) दारुशब्दे उपपदे आङ्पूर्वाद्धन्तेरण् स्यात् टकारश्चान्तादेशो वक्तव्य इत्यर्थः। दार्वाघाटः। (चारौ वा) चार्वाघाटः। चार्वाघातः॥ अपे क्लेशतमसोः।३।२।५०। क्लेशतमसोः कर्मणोरुपपदयोरपपूर्वाद्धन्तेर्डः। अनाशीरर्थमिदम्। क्लेशापहः पुत्रः। तमोपहः सूर्यः। कुमारशीर्ष-

---

सौ रुत्वे विसर्गे 'खुगः' 'दुर्गः' इति रूपे सिद्धः। अन्यत्रापीति। अन्यस्मिन्नप्युपपदे अधिकरणार्थे गम्धातोर्डः दृश्यते इति वाच्यः। ग्रामगः। ग्रामं गच्छतीत्यर्थे गम्धातोर्डप्रत्यये टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'ग्रामगः' इति रूपम्। डे चेति। विहायसः परस्य गम्धातोर्डः स्यात्। तत्पूर्वस्य विहायसो विहादेश इत्यर्थः। विहग इति। विहायसि गच्छतीत्यर्थे गम्धातोर्डप्रत्यये विहायसो विहादेशे टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'विहगः' इति रूपम्। आशिषि हन इति। कर्मण्युपपदे हन्धातोराशीरर्थे डः स्यादित्यर्थः। शत्रुं वध्यादित्यर्थे हन्धातोः 'आशिषि हनः' इति डप्रत्यये टेर्लोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'शत्रुहः' इति रूपम्। आशीरर्थाभावे 'शत्रुहन्' इति घञि 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति नस्य तत्वे 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन घत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'शत्रुघातः' इति रूपम्। दारेति। स्पष्टोऽर्थः। दार्वाघाट इति। आङ्पूर्वपदाद्धन्धातोः 'दारावाहनः' इति अण्प्रत्यये 'दारु-आ-हन्-अ' इति स्थिते टकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन हस्य घत्वे यणि 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे 'दार्वाघाटः' इति रूपम्। चारौ वेति। चार्वुपपदे आङ्पूर्वाद्धन्धातोरण् टकारश्चान्तादेश इत्यर्थः। चारु-आ-हन्-अ इति स्थिते टकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इति घत्वे यणि उपधावृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे 'चार्वाघाटः' इति। यदा टकारान्तादेशो न स्यात्तदा 'हनस्तो' इति तत्वे घत्वे उपधावृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे 'चार्वाघातः' इति। क्लेशापहः—तमोपह इति। क्लेशान् तमांसि वापहन्ति इत्यर्थे 'अपे क्लेशतमसोः' इति

अन्यत्रापि—अन्यान्य सुबन्तोपपद रहने पर भी 'गम्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये। डे च विहायसो—'ड' प्रत्ययके परे विहायस्‌को विह आदेश हो—ऐसा कहना चाहिये। आशिषि—सुबन्तोपपदक 'हन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो, आशिष् अर्थमें।

दारावाहनो—सुबन्त 'दारु' शब्दोपपदक आङ्पूर्वक 'हन्' धातुसे 'अण्' प्रत्यय हो और टकारान्त आदेश भी हो। चारौ वा—सुबन्त 'चारु' शब्दोपपदक आङ्पूर्वक 'हन्' धातुसे 'अण्' प्रत्यय हो और टकारान्त आदेश हो, विकल्पसे। अपे क्लेश—'क्लेश' और 'तमस्' कर्मोपपदक 'हन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो। कुमारशीर्ष—'कुमार' और 'शिरस्' कर्मो-

कुमारशीर्षयोर्णिनिः ।३।२।५१। कुमारशीर्षयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेर्णिनिः स्यात्। कुमारघाती। शिरसः शीर्षभावो निपात्यते। शीर्षघाती। **लक्षणे जायापत्योष्टक्** ।३।२।५२। जायापत्योः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक् स्याल्लक्षणवति कर्तरि। जायाघ्नो ना। पतिघ्नी स्त्री। **अमनुष्यकर्तृके च** ।३।२।५३। अमनुष्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद्धन्तेः कर्मण्युपपदे टक् स्यात्। जायाघ्नस्तिलकालकः। पतिघ्नी पाणिरेखा। पित्तघ्नं घृतम्। अमनुष्येति किम्? आखुघातः शूद्रः। अथ कथं 'बलभद्रः प्रलम्बघ्नः' 'शत्रुघ्नः, कृतघ्नः' इत्यादि? मूलविभुजादित्वात्सिद्धम्। 'चोरघातो नगरघातो हस्ती'ति तु बाहुलकादण्। **शक्तौ हस्तिकपाटयोः** ।३।२।५४। शक्तौ

इत्यादे रेफलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्लेशापहः' 'तमोपहः' इति रूपे भवतः। कुमारेति। एतयोः कर्मणोरुपपदयोर्णिनिः स्यादित्यर्थः। स च हन्तेरेवेति भावः। कुमारं हन्तीति विग्रहे कुमारमिति द्वितीयान्तोपपदात् 'कुमारशीर्षयोर्णिनिः' इति णिनिप्रत्यये 'हन् इन्' इति जाते 'हो हन्तेः' इति घत्वे सुब्लुकि सौ 'सौ च' इत्युपधादीर्घे नलोपे 'नलोपः' इति नलोपे 'कुमारघाती' इति रूपम्। तद्वत् शिरः हन्तीति विग्रहे णिनिरित्यादि बोध्यम्। लक्षण इति। एतयोरुपपदयोः हन्तेष्टगित्यर्थः। 'आशिषि हनः' इत्यतो हन इत्यनुवर्तते। लक्षणं विद्यते यस्मिन् सोऽर्थे हन्तेष्टगित्यर्थः। जायाघ्नो ना। जायां हन्तीति विग्रहे टकि टकयोर्लोपे सुब्लुकि 'जायाहन्-अ' इति स्थिते 'गमहन' इत्युपधालोपे 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन घत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'जायाघ्नो ना' इति रूपम्। एवं पतिघ्नी स्त्री। टकि सुब्लुकि उपधालोपे घत्वे 'टिड्ढाणञ्' इति ङीपि सौ 'हल्ङ्याब्भ्यो' लोपे 'पतिघ्नी' इति रूपम्। अमनुष्येति। न विद्यते मनुष्यः कर्ता यस्य तस्मिन्। अमनुष्यकर्तृके अर्थे हन्तेष्टगित्यर्थः। पतिघ्नी=पाणिरेखा। जायाघ्नस्तिलकः। पित्तघ्नं घृतम्। रूपसिद्धिः प्राग्वत्। अमनुष्येति किम्? तदभावे 'लक्षणे' इत्यनेनैव निर्वाहप्रसक्तेः सूत्रमनर्थकमपि स्यात्। आखुघातः। आखून् हन्तीति विग्रहे 'कर्मण्यण्' इति अणि सुब्लुकि 'हन् अ' इति जाते 'हो हन्तेः' इति घत्वे उपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे 'आखुघातः' इति रूपं सिध्यति। प्रलम्बघ्नकृतघ्नयोः सिद्धिमाह—'मूलविभुजादिभ्यः कः' इति कप्रत्यये 'गमहन' इति उपधालोपे 'हो हन्तेः' इति घत्वे सौ रुत्वे विसर्गेऽनयो रूपसिद्धिः फलति। चोरघातः, नगरघात इति तु बाहुलकादणि बोध्या इति भावः। शक्तौ हस्तिकपाटयोः। शक्तौ द्योत्ये मनुष्यकर्तृके हन्तेष्ट

पपदक 'हन्' धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो और 'शिरस्' को 'शीर्ष' निपातन हो।

लक्षणे जाया—'जाया और 'पति' कर्मोपपदक 'हन्' धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो, लक्षणवत् कर्ता गम्यमान रहे तो। अमनुष्य—कर्मवाचक सुबन्तोपपदक 'हन्' धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो, मनुष्यकर्तृकसे भिन्न अर्थमें। शक्तौ हस्ति—'हस्ति' और 'कपाट' कर्मोपपदक 'हन्'

…व्यायां हस्तिकपाटयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक्। मनुष्यकर्तृकार्थमिदम्। हस्तिघ्नो ना। कपाटघ्नश्चोरः। 'कवाटे'ति पाठान्तरम्। **पाणिघताडघौ शिल्पिनि ३।२।५५।** एतौ निपात्येते, शिल्पिनि कर्तरि। पाणिघः। ताडघः। शिल्पिनि किं? पाणिघातः। **(राजघ उपसंख्यानम्)** राजानं हन्ति-राजघः। **आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् ।३।२।५६।** एषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु कर्मसूपपदेषु कृञः ख्युन्। अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनया-आढ्यङ्करणी। अच्वौ किम्? आढ्यीकुर्वन्त्यनेन। **कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ ३।२।५७।** आढ्यादिषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु भवतेरेतौ स्तः। अनाढ्य आढ्यो भवति-आढ्यम्भविष्णुः। आढ्यम्भावुकः। **सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् ।३।२।६१।** एभ्यः क्विप्स्यादुपसर्गे सत्यसति च सुप्युपपदे। द्युसत्। 'सदिरप्रते'रिति षः। उपनिषत्। अण्डसूः। प्रसूः। मित्रद्विट्।

[illegible]त्यर्थः। हस्तिघ्नो ना; हस्तिनं हन्तीति विग्रहे हन्धातोष्टकि सुब्लुकि 'हस्तिहन' इत्युपधालोपे 'हो हन्तेः' इति घत्वे नलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'हस्तिघ्नः' इति रूपं भवति। पाणिघताडघौ। एतौ निपात्येते शिल्पवति। शिल्पाभावेऽपि 'पाणिघातः' इति रूपम्। राजघेति। राजानं हन्तीत्यर्थे 'राजघः' इति निपात्यते। आढ्यसुभगेति ख्युनित्यर्थः। अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्ति अनयेति विग्रहे ख्युनि सुब्लुकि 'आढ्य-कृ-यु' इति स्थिते आर्धधातुकत्वाद् गुणे रपरत्वे 'युवोरनाकौ' इत्यनि खित्त्वात्पूर्वपदस्य 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे नस्य णत्वे ङीपि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'आढ्यङ्करणी' इति रूपम्। कर्तरीति। 'आढ्यसुभग' इत्यतः च्व्यर्थेष्वच्वाविति चानुवर्तते अत आह—आढ्यादिष्विति। अनाढ्यः आढ्यो भवति आढ्यंभविष्णुः। च्व्यर्थे भूधातोः खिष्णुचि गुणे इडागमे 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे 'आढ्यंभविष्णुः'। अनाढ्यः आढ्यो भवति 'आढ्यंभावुकः' भूधातोः खुकञि ञित्वाद् वृद्धौ आवादेशे 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे 'आढ्यम्भावुकः' इति रूपम्। सत्सूद्विषेति। अपिसामर्थ्यादसत्युपसर्गेऽपीति ज्ञायते। दिवि सीदति इति

धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो, मनुष्यकर्तृक अर्थमें।

पाणिघ—शिल्पी यदि कर्ता हो तो 'पाणिघ' और 'ताडघ' निपातन हो।

राजघ—'राजघ' यह निपातन हो। आढ्य-च्व्यर्थक (अभूततद्भावार्थक) अच्व्यन्त कर्म-संज्ञक आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न अन्ध और प्रिय उपपदक 'कृञ्'धातुसे 'ख्युन्'प्रत्यय हो। कर्तरि भुवः—च्व्यर्थक अच्व्यन्त आढ्यादि कर्मोपपदक 'भू' धातुसे 'खिष्णुच्' और 'खुकञ्' प्रत्यय हों, कर्तामें। सत्सूद्विष—उपसर्ग रहते या अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक सदादि धातुओंसे

प्रद्विट् । मित्रध्रुक् । प्रध्रुक् । गोधुक् । प्रधुक् । अश्वयुक् । प्रयुक् । वेदवित् । निवित् । इत्यादि । (अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः) अग्रणीः । ग्रामणीः ।
भजो ण्विः ।३।२।६२। भजेरुपसर्गेऽनुपसर्गेऽपि सुबन्ते उपपदे च ण्विः स्यात् । अर्धभाक् । प्रभाक् । **अदोऽनन्ने ।३।२।६८।** अदेरनन्ने सुबन्ते उपपदे विट्

विग्रहे सद्धातो 'सद्' इति क्विपि 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति इकारस्य, तथा 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्य च इत्संज्ञायां लोपे सति 'वकार' इति अपृक्तसंज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' इति वलोपे सुब्लुकि '[illegible]' इति [illegible] सौ हल्ङ्यादिलोपे 'प्रसद्' इति रूपम् । 'उपनिषद्' उपनिपूर्वात् सद्धातोः 'सद्' इति क्विपि कि. सर्वापहारिलोपे 'सदिरप्रतेः' इति षत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'उपनिषद्' इति रूपम् । अण्डसू , प्रसू । अण्डं सूते इति विग्रहे अण्डमिति द्वितीयान्तोपपदात् तथा प्रपूर्वात् षूङ्धातोः 'सत्सू' इति क्विपि क्विपो लोपे 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'अण्डसूः' 'प्रसूः' इति रूपे भवतः । मित्रद्विट् प्रद्विट् मित्रं द्वेष्टीति विग्रहे मित्रमिति कर्मोपपदात् तथा प्रपूर्वाच्च द्विष् धातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे जश्त्वेन डत्वे 'वाऽवसाने' इति टत्वे 'मित्रद्विट्-प्रद्विट्' इति रूपे भवतः । मित्रध्रुक्-प्रध्रुक् । मित्रं द्रुह्यति इति विग्रहे कर्मोपपदात् प्रपूर्वाच्च द्रुहधातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि सौ 'वा द्रुह' इति वा घत्वे पक्षे 'एकाचो' इति भष्त्वेन धत्वे हल्ङ्यादिलोपे जश्त्वे वा चर्त्वे 'मित्रध्रुक्-मित्रध्रुग्-प्रध्रुक् प्रध्रुग्' इति रूपाणि भवन्ति । यदा घत्वं न स्यात्तदा 'हो ढः' इति ढत्वे जश्त्वेन डत्वे वा टत्वे 'मित्रध्रुड् मित्रध्रुट् प्रध्रुड् प्रध्रुट्' इति रूपाणि भवन्ति । 'गोधुक्, प्रधुक्' इति । गां दोग्धीति कर्मोपपदात् प्रपूर्वाच्च दुहधातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि सौ 'दादेः' इति घत्वे 'एकाचो' इति भष्त्वे धत्वे कत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सोर्लोपे 'गोधुक् प्रधुक्' इति रूपे सिध्यतः । अश्वयुक्-प्रयुक् । अश्वं युनक्ति इति कर्मोपपदात् प्रपूर्वाच्च युजिर् धातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि सौ 'चोः कुः' इति कत्वे 'अश्वयुक् प्रयुक्' इति रूपे सिद्धे भवतः । वेदवित्-निवित् । वेदं वेदान् वा वेत्ति इति । कर्मोपपदात् निपूर्वाच्च विद्धातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे दत्वे वा चर्त्वे 'वेदविद्, वेदवित्, निविद्, निवित्' इति रूपाणि सिध्यन्ति । अग्रग्रामाभ्यामिति । अग्रं ग्रामं वा नयति इति विग्रहे कर्मोपपद नयतेः 'सत्सू' इति क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्य' इति णत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'अग्रणीः' 'ग्रामणीः' इति रूपे साधुनी । भजो ण्विरिति । सोपपदात् भजो ण्विः स्यादित्यर्थः । अर्धभाक्-प्रभाक् ।

'क्विप्' प्रत्यय हो । अग्रग्रामाभ्याम्—अग्र तथा ग्राम शब्दों पर 'नी' धातुके नकारको णकार हो । भजो ण्विः—उपसर्ग वा अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक 'भज्' धातुसे 'ण्वि' प्रत्यय हो । अदोऽनन्ने—अन्न शब्दसे भिन्न सुबन्त कर्मोपपदक 'अद्' धातुसे 'विट्' प्रत्यय हो ।

स्यात् । आममत्तीति—आमात् । सस्यात् । अनन्ने किम्? । अन्नादः । क्रव्ये च ।३।२।६९। कर्मसञ्ज्ञके क्रव्यशब्दे उपपदे अदेर्विट् । पूर्वेण सिद्धे वचनं वाऽसरूपेति प्राप्ताऽण्बाधनार्थम् । क्रव्यात्—आममांसभक्षकः । दुहः कप् घश्च ।३।२।७०। दुहेः सुप्युपपदे कप् स्यात् । घश्चाऽन्तादेशः । कामदुघा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।३।२।७५। मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः । नेड् वशि कृति ।७।२।८। वशादेः कृत इण् न स्यात् । सुशर्मा । प्रातरित्वा । विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ।६।४।४१। अनुनासिकस्याऽऽत् स्याद्विड्वनोः परयोः । विजायते इति विजावा । ओणृ अपनयने । अवावा । रोट् । रेट् ।

अंशं भजते इति कर्मोपपदकात् प्रपूर्वाच्च भजधातोः 'भजो ण्विः' इति ण्विप्रत्यये ण्वेर्लोपे णित्वादुपधावृद्धौ सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वे वा चर्त्वे 'अंशभाग्' 'अंशभाक्' 'प्रभाग्' 'प्रभाक्' इति रूपाणि संसिध्यन्ति । अदोऽनन्न इति । अन्नेतर-भक्षणार्थेऽद्धातोः विट्स्यादित्यर्थः । आमात्-सस्यात् । आमं सस्यं वा अत्तीति विग्रहे अद्धातोः विटि विटो लोपे सुब्लुकि सौ 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सुलोपे सवर्णदीर्घे चर्त्वे 'आमात्-सस्यात्' इत्यनयोः सिद्धिः । क्रव्ये चेति । क्रव्यमाममांसं तदत्ति इति अर्थेऽनन्ने इति प्राक्तनेनैव सिद्धं सूत्रमिदं 'वा सरूप' इति प्राप्तमणं बाधते । क्रव्यात् । क्रव्यमत्ति इति विग्रहे 'क्रव्ये च' इति विटि विटो लोपे सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे सवर्णदीर्घे वा चर्त्वे 'क्रव्याद्-क्रव्यात्' इति रूपे भवतः । दुहः कप् घश्चेति । दुहधातोः सोपपदात् कप् स्यात् घकारान्तादेश इत्यर्थः । कामदुघा । कामं दोग्धीति विग्रहे कर्मोपपदात् दुहधातोः कपि कपकारलोपे हस्य घत्वे कित्त्वाद्गुणाभावे सुब्लुकि 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे च कृते 'कामदुघा' इति रूपं भवति । सुशर्मा । सुष्ठु शृणाति सुशर्मा इत्यत्र सुपूर्वकशृधातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिनि, इतो लोपे 'शृ मन्' इति जाते, मनिनः 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते, 'नेड्वशि कृति' इत्यनेन निषिद्धे उपपदसमासे, समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सावागते, सलोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'

क्रव्ये च—कर्मसंज्ञक क्रव्य शब्दोपपदक 'अद्' धातुसे 'विट्' प्रत्यय हो । दुहः—सुबन्त उपपदक 'दुह्' धातुसे 'कप्' प्रत्यय हो और धातुसंबन्धी हकारको भी घकार हो । अन्येभ्यो—आकारान्त धातु से भिन्न धातुसे भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् प्रत्यय हों ।

नेड्वशि—वशादि कृत्प्रत्ययको इट् नहीं हो । विड्वनो—अनुनासिकको आत्व (आकार

सुगण् । क्विप् च ।३।२।७६। अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् । अन्तः ।८।४।२०। पदान्तस्याऽनितेर्नस्य णत्वं स्यादुपसर्गस्थान्निमित्तात्परश्चेत् । हे प्राण् । (आशासः क्वावुपधाया इत्त्वं वाच्यम्) आशीः । इत्यौरे । गीः । पूः । 'मो नो धातोः' । प्रतान् । प्रशान् । गमः क्वौ ।६।४।४०। गम अनुनासिकलोपः स्यात् । अङ्गत् । (गमादीनामिति वक्तव्यम्) पुरीतत् । समन् । (ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्) लोपश्च । अग्रेगूः । अग्रेगू ।

इति णत्वे, 'सुगणौ' इति रूपम् । पर्णध्वत् । पर्णानि ध्वंसते इति विग्रहः । 'क्विप् च' इति क्विपि, क्विपः सर्वापहारे, 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नलोपे, उपपदसमासे, सुपो लुकि, सुबुत्पत्तौ, तस्य लोपे, 'वसुस्रंसुध्वंस्व' इति दत्वे चर्त्वे 'पर्णध्वत' इति । हे प्राण् । प्रपूर्वादनधातोः 'क्विप् च' इति क्विपि क्विपो लोपे दीर्घे 'अन्तः' इति णत्वे सौ हल्ङ्यादि लोपे हे 'प्राण्' इत्यस्य सिद्धिः । आशास इति । आङ्पूर्वात् शासते क्विप् स्यात् उपधाया इत्त्वं चेति भावः । आशास् धातो क्विपि क्विपो लोपे 'आशास' इत्युपधाया इत्त्वे 'आशिस्' इति जाते सौ सोर्लोपे सस्य रुत्वे 'र्वोरुपधाया' इति दीर्घे विसर्गे च कृते 'आशीः' इति रूपम् । गीः पूः । गॄ पॄ अनयोः क्विपि तल्लोपे 'ॠत इद्धातोः' इति प्रथमस्येत्वे द्वितीयस्य 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उत्वे रपरत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'र्वो' इति दीर्घे विसर्गे च कृते 'गीः' 'पूः' इत्युभयोः सिद्धिः । प्रतान्, प्रशान् । प्रपूर्वात् तम शमश्च क्विपि क्विपो लोपे सौ सोर्लोपे 'मो नो धातोः' इति नत्वे नान्तत्वादुपधादीर्घे 'प्रतान् प्रशान्' इति रूपे भवतः । गम क्वाविति । 'अनुदात्तोपदेश' इत्यत अनुनासिकलोप इति । क्वौ परतो गमोऽनुनासिकलोप इत्यर्थः । अङ्गत् । अङ्गं गच्छति इत्यर्थे 'क्विप् च' इति क्विपि तल्लोपे 'गमः क्वौ' इत्यनुनासिकलोपे सुब्लुकि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुकि क्विबादेर्नयावयवे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'अङ्गत्' इति रूपम् । गमादीनामिति । क्वावनुनासिकलोपः स्यादित्यर्थः । पुरीतत् । पुरि इत्याख्यः मांसपिण्डविशेष' तं तनोति व्याप्नोति इति विग्रहे क्विपि क्विपो लोपे 'गमादीनां' इति वार्त्तिकेन अनुनासिक लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि 'नहिवृति' इति दीर्घे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'पुरीतत्' इति रूपम् । समदिति । संपूर्वाद् यमधातोः क्विपि क्विपो लोपे 'गमादीनाम्' इति अनुना-

---

भादेश) हो, चिट् और यञ्के परे । क्विप् च—सामान्यतया. सभी धातुओंसे क्विप् प्रत्यय हो (ऐसा देखा जाता है) । अन्तः —उपसर्गस्थ निमित्तसे पर पदान्त 'अन्' धातुके नकारको णत्व हो । आशास —आङ्पूर्वक 'शास्' धातु की उपधाको इत्व हो, क्विप्के परे ।

गमः क्वौ—'गम्' धातुके अनुनासिकका लोप हो, क्विप्के परे । गमादीनाम्—गमादि धातुओंके अनुनासिक का लोप हो, क्विप्के परे-ऐसा कहना चाहिये । ऊङ् च गमा—गमादि

स्थः क च ।३।२।७७। स्थाधातोः सुप्युपपदे कः स्यात् । चात्क्विप् । शंस्थः । शंस्थाः । **सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ।३।२।७८।** अजात्यर्थे सुबन्ते उपपदे धातोर्णिनिः स्यात्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी । शीतभोजी । **मनः ।३।२।८२।** सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी । **आत्ममाने खश्च ।३।२।८३।** स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् । चाण्णिनिः । पण्डितमात्मानं मन्यते— पण्डितंमन्यः । पण्डितमानी । **इच एकाचोऽम् प्रत्ययवच्च ।६।३।६८।** इजन्ता-

---

सिकलोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'संयत्' इति रूपम् । ऊङ्चेति । चकारादनुनासिकलोपः स्यादित्यर्थः । ङित्त्वात्तु उपधाया आदेशः । गच्छतीति गूः भ्रमतीति भ्रूः । गमभ्रमोः क्विपि क्विपो लोपे 'ऊङ् च' इति अनुनासिकलोपे अकारस्य ऊङादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'गूः' 'भ्रूः' इति रूपे भवतः । स्थः क चेति । स्था धातोः कः स्याच्चात्क्विप् । शं तिष्ठतीति विग्रहे स्थाधातोः कप्रत्यये 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'शंस्थः' इति रूपम् । यदा क्विप् स्यात्तदा क्विपो लोपे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'शंस्थाः' इति रूपमापद्यते । उष्णभोजी । उष्णं भोक्तुं शीलमस्यास्तीति उष्ण-मिति जातिभिन्ने कर्मण्युपपदे भुज् धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः णकारेत्संज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे, उपपदसमासे, सुपो लुकि, सन्धिकार्ये, सौ, उगिते, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्युपधायाः दीर्घत्वे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे, 'उष्णभोजी' इति रूपम् । आत्ममाने खश्चेति । आत्मानं मन्यते इति स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्याच्चाण्णिनिः । पण्डितम्मन्य इति । पण्डितमात्मानं मन्यत इत्यर्थे 'आत्ममाने खश्च' इति खशि खशोरित्त्वे लोपे सुब्लुकि 'मुमः' इति मुम्यनुस्वारे परसवर्णे शित्त्वा-त्सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि सौ रुत्वे विसर्गे 'पण्डितम्मन्यः' इति रूपम् । पण्डितमानी । पण्डित-मन्-णिनि इत्यवस्थायां सुब्लुकि 'अत उपधायाः'

धातुओंसे 'ऊङ्' प्रत्यय हो और धातुके अन्त्यका लोप हो—ऐसा कहना चाहिये ।

स्थः क च—सुबन्त उपपदक 'स्था' धातुसे 'क' प्रत्यय और चात् क्विप् प्रत्यय भी हो ।

सुप्यजातौ—अजात्यर्थक सुबन्त उपपद रहनेपर धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो, ताच्छील्य अर्थमें ।

मनः—सुबन्त उपपदक (दिवादिस्थ) 'मन्' धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो ।

आत्ममाने—सुबन्त उपपदक स्वकर्मक मनन अर्थमें वर्तमान (दिवादिस्थ) 'मन्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय और चकारात् 'णिनि' प्रत्यय भी हो ।

इच एकाचो—इजन्त एक अच् वाले सुबन्त, उसके 'अम्' हो और वह अम् स्वादि (द्वितीयैकवचन) अम्के समान हो, खिदन्त उत्तरपदके परे ।

देशयोऽभ्यासस्य च स्यात्, खिदन्ते परे। 'औतोऽम्शसोः'। गाम्मन्य। 'धाऽम्शसोः' स्त्रियंमन्य। श्रीमन्य। नृ—नरंमन्य। भुवंमन्य। श्रियमात्मानं मन्यते—श्रिमन्यं कुलम्। भाष्यकारप्रयोगाच्छ्रीशब्दस्य ह्रस्वः, मुममोरभावश्च। भूते ।३।२।८४। अधिकारोऽयं 'वर्तमाने लट्' इति यावत्। करणे यजः ।३।२।८५। करणे उपपदे भूतार्थाद्यजेर्णिनिः स्यात् कर्तरि। सोमेनेष्टवान्—सोमयाजी। कर्मणि हनः ।३।२।८६। कर्मण्युपपदे भूतार्थाद्धन्तेर्णिनिः स्यात्। पितृव्यघाती। ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु

इत्युपधादीर्घे सौ 'सौ च' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे 'नलोप' इति नलोपे 'पण्डितमानी' इति रूपं प्रसिध्यति। इच इति। इजन्तादेकाचोऽम् न च स्यात् अव्ययात् खिदन्ते परे इत्यर्थः। गामात्मानं मन्यते इत्यर्थे 'आत्ममाने खश्' इति खशि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि सुब्लुकि 'गो-मन्-य-अ' इति स्थिते 'इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च' इति अमि 'औतोऽम्शसोः' इति आकारे एकादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'गाम्मन्यः' इति रूपम्। स्त्रियंमन्य। स्त्रियमात्मानं मन्यते इत्यर्थे 'आत्ममाने खश्' इति खशि श्यनि सुब्लुकि 'इच एकाचो' इति पूर्वपदादमि प्रत्ययवत्त्वे 'अमि शसो' इति इयङि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'स्त्रियंमन्य —श्रीमन्य' इति रूपे भवतः। नरंमन्य। 'नर-मन्-य-अ' इति स्थिते सुब्लुकि 'इच एकाचो' इति पूर्वपदादमि सर्वनामस्थानसंज्ञायां गुणे रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'नरंमन्य' इति रूपम्। भुवंमन्य। 'भुव-मन्-य-अ' इति स्थिते सुब्लुकि पूर्वपदात् 'इच एकाचो' इति अमि 'अचि श्नु' इत्युवङि सौ रुत्वे विसर्गे 'भुवंमन्य' इति रूपम्। श्रिमन्यं कुलमिति। श्रियमात्मानं मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खश्' इति खशि सुब्लुकि भाष्यकारप्रयोगात् श्रीशब्दस्य 'ह्रस्वादेशोऽमोऽभावश्च' इत्यनि सौ 'अतोऽम्' इत्यमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे रूपम्। भूते। वर्तमाने लडिति यावत् ये प्रत्यया वक्ष्यन्ते भूते स्युरित्यर्थः। अधिकारश्चायमिति शेषः। सोमयाजी। सोमेनेति करणे उपपदे भूतार्थे कर्तर्यर्थे यजधातोर्णिनिप्रत्यये, अनुबन्धलोपे 'तत्र उपपदम्' इति सूत्रे, उपपदसमासे सुपो लुकि, 'सोमयाजिन्' इति भूते तद्धितान्ते, नलोपे, 'सौ च' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे, 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सुलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे च कृते 'सोमयाजी' इति सिद्ध्यति। कर्मणि हनः। कर्मण्युपपदे हन्धातोर्णिनिः स्यात्कर्तरि भूते इत्यर्थः। पितृव्यघाती। पितृव्यं हतवानित्यर्थे हन्धातो

भूते—'वर्तमाने लट्' तक यह अधिकार है। करणे यज—करण (तृतीया सुबन्त) सोमयाजी—करणार्थक सुबन्त उपपद रहनेपर यजधातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो, तात्पर्य भूतार्थक 'यज्' धातुसे भूतकालमें 'णिनि' प्रत्यय हो, कर्तामें।

कर्मणि—कर्मवाचक सुबन्त उपपद 'हन्' धातुसे भूतकालमें 'णिनि' प्रत्यय हो, कर्तामें। ब्रह्मभ्रूण—ब्रह्मादि कर्मोपपद 'हन्' धातुसे भूतकालमें 'क्विप्' प्रत्यय हो, कर्तामें।

क्विप् ।३।२।८७। ब्रह्मादिषूपपदेषु भूतार्थाद्धन्तेः क्विप्स्यात्। ब्रह्महा। भ्रूणहा। वृत्रहा। 'क्विप्च'त्येव सिद्धे 'ब्रह्मादिष्वेव' 'क्विवे'वेति द्विविधनियमार्थमिदम्। एक-र्मण्यपि। सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः ।३।२।८९। स्वादिषु कर्मसूपपदेषु कृञः क्विप्स्याद् भूते। सुकृत्। कर्मकृत्। पापकृत्। मन्त्रकृत्। पुण्यकृत्। सोमे सुञः ।३।२।९०। सोमे कर्मण्युपपदे सुनोतेः क्विप्स्याद्भूते। सोमसुत्। अग्नौ चेः ।३।२।९१। अग्नौ कर्मण्युपपदे चिनोतेः क्विप्स्याद् भूते। अग्निचित्। कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ।३।२।९२। कर्मण्युपपदे कर्मण्येव कारके चिनोतेः क्विप् स्यात्, अग्न्याधारस्थलविशेषस्याऽऽख्यायाम्। श्येन इव चितः—श्येनचित्। कर्मणीनि

'कर्मणि हनः' इति णिनि प्रत्यये सुब्लुकि 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति तत्वे 'हो हन्तेः' इति घत्वे उपधादीर्घत्वे 'पितृव्यघातिन्' इति जाते सौ 'सौ च' इति उपधादीर्घत्वे हल्ङ्यादिलोपे 'नलोपः' इति नलोपे 'पितृव्यघाती' रूपं स्पष्टं सिध्यति। ब्रह्मभ्रूणेति। णिनेर्निवृत्तिः क्विब्विधानात्। 'कर्मणि हनः' इत्यतो हन इति अनुवर्त्यते। एतेषूपपदेषु हनः क्विप् स्यादित्यर्थः। ब्रह्महा-वृत्रहा-भ्रूणहेति। ब्रह्म-वृत्रं-भ्रूणं वा हतवानित्यर्थे 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति क्विपि क्विपो लोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ सोः सर्वनामस्थानत्वात् सौ च' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे 'नलोपः' इति लोपात्वे 'ब्रह्महा-वृत्रहा-भ्रूणहा' इति रूपाणि भवन्ति। सुकर्मेति। क्विप् स्यादित्यर्थः। सुकृत्-कर्मकृत्-पापकृत्-मन्त्रकृत्-पुण्यकृत् इति। सु-कर्म-पापं-मन्त्रं पुण्यं वा कृतवानित्यर्थे 'सुकर्म इति क्विपि क्विपो लोपे क्विपः पित्वात् 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे प्रोक्तानि रूपाणि भवन्तीत्यवधेयम्। सोमे सुञ इति। क्विप्स्यादित्यर्थः। सोमं सुतवान् इत्यर्थे 'सोमे सुञः' इति क्विपि क्विपो लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'सोमसुत्' इति रूपम्। अग्निचिदिति। अग्निं चितवान् इत्यर्थे 'अग्नौ चेः' इति [illegible] पि क्विपो लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'अग्निचित्' इति रूपं भवति। कर्मणीति। भूते इति शेषः। श्येनचित्। श्येन इव चित इत्यर्थे चिञ् धातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ हल्ङ्या-

सुकर्मपाप—'सु' और कर्मसंज्ञक 'कर्मादि' उपपदक 'कृ' धातुसे भूतकालमें 'क्विप्' प्रत्यय हो कर्तामें। सोमे सुञः—'सोम' कर्मोपपदक 'सुञ्' धातुसे भूतकालमें 'क्विप्' प्रत्यय हो, कर्तामें।

अग्नौ चेः—'अग्नि' कर्मोपपदक 'चि' धातुसे भूतकालमें 'क्विप्' प्रत्यय हो, कर्तामें।

कर्मण्य—कर्मसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर कर्मकारकमें ही 'चि' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, यदि [illegible] स्थलविशेषकी आख्या गम्यमान रहे।

कर्मणीनि—भूतं उपपद [illegible] 'वि' पूर्वक 'क्री' धातुसे भूतकालमें 'इनि' प्रत्यय हो

यविक्रियः ।३।२।९३। कर्मण्युपपदे विपूर्वात्क्रीणातेरिनिः स्यात् । (कुत्सितग्रहणं कर्त्तव्यम्) सोमविक्रयी । घृतविक्रयी । दृशेः क्वनिप् ।३।२।९४। दृशेः क्वनिप् स्यात् कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्—पारदृश्वा । राजनि युधिकृञः ।३।२।९५। राजशब्दे कर्मण्युपपदे युध्यतेः करोतेश्च क्वनिप् स्यात् । 'युधि'रन्तर्भावितण्यर्थः । राजानं योधितवान्—राजयुध्वा । राजकृत्वा । सहे च ।३।२।९६। सहे उपपदे युधिकृञोः क्वनिप् स्यात् । सहयुध्वा । सहकृत्वा ॥ सप्तम्यां जनेर्डः ।३।२।९७। सप्तम्यन्ते उपपदे जनेर्डः स्यात् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।६।३।१४। तत्पुरुषे समासे कृदन्ते उत्तरपदे बहुलं ङेरलुक् । सरसिजम् । सरोजम् । उपसर्गे च संज्ञायाम् ।३।२।९९। उपसर्गे उपपदे जनेर्डः स्यात्संज्ञायाम् । प्रजा । अनौ कर्मणि ।३।२।१००। अनुपूर्वाज्जनेः कर्मण्युपपदे डः स्यात् । पुमांसमनुरुध्य जाता—पुमनुजा । अन्येष्वपि दृश्यते ।३।२।१०१। अन्येष्वपि कारकेषूप-

---

ङिल्लोपे 'श्येनचित्' इति रूपं साधु । सोमविक्रयी-घृतविक्रयी । सोम-विक्री-घृत विक्री—'कर्मणि' इति इनि प्रत्यये सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ 'सौ चे'ति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे नलोपे 'सोमविक्रयी-घृतविक्रयी' इति रूपे भवतः । सोमघृतयो विक्रयः स्मृतिषु कुत्सितत्वं बोधयति । तयोर्विक्रयणस्य निषेधात् । सरसिजम् । सरसि जातम् सरसिजम्, अत्र सप्तम्यन्ते सरसि इत्युपपदे जन्धातोः 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डे, 'चुटू' इति डस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते ज इत्यवशिष्टे, डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे, उपपदसमासे, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' सप्तम्याः—ङेर्लोपे प्राप्ते, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति ङेरलुकि, एकदेशविकृतन्यायेन समुदायस्य प्रातिपदिकत्वात्, 'अतो ऽम्' इति सोरमि, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'सरसिजम्' इति रूपम् । अनौ कर्मणि । 'सप्तम्यां जनेर्डः' इत्यतो ड इति । मूलार्थवृत्तेरिति शेषः । 'पुमनुजा' पुमांसमनुरुध्य

कुत्सित—कर्मयुक्त 'क्री' धातुसे कुत्सित (निन्दित) अर्थमें हो 'इनि' प्रत्यय हो ।
दृशे क्वनिप्—कर्मोपपदक 'दृश्' धातुसे भूतकालमें 'क्वनिप्' प्रत्यय हो ।

राजनि—कर्मभूत 'राजन्' शब्द उपपदक 'युध्' तथा 'कृञ्' धातुसे 'क्वनिप्' प्रत्यय हो ।

सहे च—'सह' शब्दोपपदक 'युध्' और 'कृञ्' धातुसे 'क्वनिप्' प्रत्यय हो ।

सप्तम्यां—सप्तम्यन्त उपपदक 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय हो । तत्पुरुषे—तत्पुरुष समासमें कृत् उत्तरपदपरक 'ङि' विभक्तिका अलुक् हो, बहुलता (विकल्प) से ।

उपसर्गे च—उपसर्ग उपपदक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो संज्ञामें ।

अनौ कर्मणि—कर्मोपपदक 'अनु' पूर्वक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो ।

अन्येष्वपि—कर्मसे अन्य भी अर्थमें कारक मात्र उपपदक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो,

पदेषु जनेर्डः स्यात् । अजः । द्विजः । ब्राह्मणजः । 'अपि'शब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः । तेन धात्वन्तरादपि, कारकान्तरेष्वपि क्वचित् । परितः खाता—परिखा ।
पञ्चम्यामजातौ ।३।२।९८। जातिशब्दवर्जिते पञ्चम्यन्ते जनेर्डः स्यात् । संस्कारजः । अदृष्टजः । **क्तक्तवतू निष्ठा** ।१।१।२६। एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः । **निष्ठा** ।३।२।१०२। भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र-'तयोरेवे'ति भावकर्मणोः क्तः । 'कर्तरि कृ'दिति कर्तरि-क्तवतुः । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विष्णुर्विश्वं कृतवान् ॥ **अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति** ।२।४।३६। ल्यपि तादौ किति च । इकार उच्चारणार्थः । जग्धम् ॥ **निष्ठायामण्यदर्थे** ।६।४।६०। ण्यदर्थो भावकर्मणी, ततोऽन्यत्र निष्ठायां क्षियो दीर्घः स्यात् ॥ **क्षियो दीर्घात्** ।८।२।४६। निष्ठा-

जाता इत्यर्थे 'सप्तम्यां जनेर्डः', 'जनौ कर्मणि' इति जन्धातोर्डप्रत्यये डित्वाट्टेर्लोपे सुब्लुकि 'संयोगान्तस्य लोप' इति सलोपे अदन्तत्वाट्टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'पुमनुजा' इति रूपं भवति । अन्येष्वपीति । अन्येष्वप्युपपदेषु भूतार्थवृत्तेर्जन्धातोर्डः स्यादित्यर्थः । द्विजः ब्राह्मणजः । द्विर्जातः, ब्राह्मणाज्जातः इति भूतार्थवृत्तेः जन्धातोः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे द्विजः-ब्राह्मणजः इति रूपे भवतः । अपिग्रहणसामर्थ्यात्कारकान्तरादपि डः इत्यर्थः । धात्वन्तरादपीत्यपिशब्देन लभ्यते अत आह- परिखेति । परिपूर्वात् खन् धातोर्भूतार्थवृत्तेः 'अन्येष्वपि' इति ड प्रत्यये डित्वाट्टेर्लोपे 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि हल्ङ्यादिलोपे 'परिखा' इति रूपं सम्भवति । पञ्चम्यामजाताविति । संस्कारजः-अदृष्टज इति । संस्काराज्जातः, अदृष्टाज्जातः इत्यर्थे 'पञ्चम्याम्' इति जन्धातोर्डप्रत्यये टिलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'संस्कारजः' 'अदृष्टजः' इति रूपे भवतः । अदो जग्धिरिति । अदो जग्धिरादेशः स्याल्ल्यपि तादौ किति च । इकारस्य प्रयोजनं दर्शयति-उच्चारणार्थ इति । जग्धमिति । अद्धातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये ककलोपे 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' इति जग्ध्यादेशे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झरो झरि सवर्णे' इति पूर्वधलोपे 'जग्ध' इति जाते कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'जग्धम्' इति रूपम् । निष्ठायामिति । भावकर्मभ्यामन्यस्मिन्नर्थे निष्ठायाः परत्वे क्षियो दीर्घः स्यात् । क्षियो दीर्घात् । दीर्घाकृतात् क्षियः

सप्त सूत्रोपात्त अपिशब्दात् अन्यान्य धातुओंसे भी सुबन्त मात्र उपपद रहनेपर 'ड' प्रत्यय हो ।

पञ्चम्यामजातौ—जातिवाचकसे भिन्न पञ्चम्यन्त उपपदक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो ।

क्तक्तवतू—'क्त' और 'क्तवतु' की निष्ठासंज्ञा हो । निष्ठा—भूतार्थवृत्ति धातुसे निष्ठा (क्त और क्तवतु) प्रत्यय हो । अदो जग्धि—'अद्' को 'जग्धि' आदेश हो, ल्यप्के परे और तादि कित्के परे । निष्ठाया—भावकर्मसे अन्य अर्थमें निष्ठा प्रत्ययके परे 'क्षि' धातुको दीर्घ हो । क्षियो दीर्घात्—दीर्घान्त 'क्षी'से पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो ।

तस्य न' । क्षीणवान् । भावकर्मणोस्तु क्षित' कामो मया ॥ (ऊर्णोतेर्णुवन्नाधो वाच्यः) । तेन एकाच्त्वान्नेट् । ऊर्णुतः ॥ रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ।८।२।४२। रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नो निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शृ—शीर्ण । भिन्न' । छिन्न' । संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ।८।२।४३। यण्वत्संयोगादेरादन्तान्निष्ठातस्य न । द्राण । ग्लान ॥ ल्वादिभ्यः ।८।२।४४। एकविंशतेर्लूञादिभ्य प्राग्वत् । लून । ज्या—'प्रहिज्या' । हलः ।६।४।२। अङ्गावयवाद्धल परं यत्सम्प्रसारणं तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घ । जीन ॥ (दुग्वोर्दीर्घश्च) दु गतौ । दून ॥ गु पुरीषोत्सर्गे । गून । (पूञो विनाशे) । पूना यवा ।

परस्य निष्ठासञ्ज्ञकस्य तस्य नः स्यादित्यर्थः । क्षीणवान् । क्षिधातो॰ 'निष्ठा' इति क्तवतु प्रत्यये कस्येत्संज्ञालोपयो॰ 'निष्ठायामण्यदर्थे' इति दीर्घत्वे 'क्षियो दीर्घात्' इति नत्वे णत्वे सौ सर्वनामस्थानत्वे 'उगिदचाम्' इति नुमि 'सर्वनामस्थाने'इति उपधाया दीर्घत्वे 'क्षीणवान् त सु' इति जाते उलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सलोपे संयोगान्त लोपे तस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावे 'क्षीणवान्' इति रूपम् । क्षित इति । क्षिधातो क्त प्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । ऊर्णोतेरिति । णुमाश्रित्य कार्यप्रवर्तनं ऊर्णोति माश्रित्येत्यर्थः । ऊर्णुत । ऊर्णुञ् धातो॰ क्तप्रत्यये णुवद्भावेन एकाच्त्वात् इडभावे सौ रुत्वे विसर्गे 'ऊर्णुतः' इति रूपम् । भिन्न । भिदधातो॰ 'निष्ठा' इति क्ते कलोपे, 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च द' इति निष्ठातस्य भिदो दस्य च नत्वे, क्ङिति च गुणाभावे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धि' । लून । लूञ् छेदने धातोः 'निष्ठा' इति क्ते, कलोपे, 'ल्वादिभ्य' इति निष्ठातकारस्य नत्वे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धि । हल । दिग्योगे पञ्चम्येषा । हल॰ परस्येति लभ्यते । 'सम्प्रसारणस्य' इति सूत्रमनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतमिहानुवृत्तमावर्त्यते । एकमवयवषष्ठ्यन्तं हल इत्यनेनान्वेति, अङ्गावयवाद्धल इति लभ्यते । द्वितीयन्तु स्थानषष्ठ्यन्त सम्प्रसारणेन विशेष्यते । तदन्तविधि' । 'ढ्लोपे' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते । तदाह—अङ्गावयवादित्यादिना । दुग्वोरिति । क्तिति तकारे दुगुधात्वो॰ दीर्घश्च वाच्यमित्यर्थः । दून गून इति ।

ऊर्णोते—'ऊर्णु' धातुको णुवद्भाव हो । रदाभ्यां निष्ठातो न —रेफ-दकारसे पर निष्ठा सम्बन्धी तकारको नकार आदेश हो और निष्ठासे पूर्व धातु सम्बन्धी दकार उसको भी नकार आदेश हो । संयोगादेरातो—यण्वान् जो संयोगादि आकारान्त धातु, उससे पर जो निष्ठा सम्बन्धी तकार, उसको नकार आदेश हो । ल्वादिभ्य –एकविंशति (२१) ल्वादि धातुओंसे पर निष्ठा-सम्बन्धी तकारको नकार आदेश हो । हल—अङ्गावयव हल्से पर जो सम्प्रसारण, तदन्त जो अङ्ग, उसको दीर्घ हो । दुग्वोर्दी—'दु' और 'गु' धातुसे पर निष्ठा-सम्बन्धी तकारको नकार आदेश हो और दु-गुके उकारको दीर्घ भी हो । पूञो विनाशे—'पूञ्' धातुसे पर

विनष्टा इत्यर्थः । पूतमन्यत् । (सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य) सिनो ग्रासः । ग्रासेति किम् ? सिता पाशेन सूकरी । कर्मकर्तृकेति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन । ओदितश्च ।८।२।४५। प्राग्वत् । भुजो, भुग्नः । टुओश्वि, उच्छूनः । द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः ।६।१।२४। द्रवस्य मूर्तौ, काठिन्ये, स्पर्शे चार्थे श्यैङः सम्प्रसारणं स्यान्निष्ठायाम् । श्योऽस्पर्शे ।८।२।४७ श्यैङो निष्ठा-तस्य नः स्यादस्पर्शेऽर्थे । शीनं घृतम् । अस्पर्शे किम् ? शीतं जलम् ।

दुधातोः गुधातोश्च 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये 'दुश्वोर्दीर्घश्च' इति दीर्घत्वे चकारेण तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'दूनः' 'गूनः' इति रूपे भवतः । पूञो विनाश इति । विनाशार्थे क्ते परतः तस्य नत्वमित्यर्थः । पूनाः यवाः । पूञ् धातोः क्तप्रत्यये 'पूञो विनाशे' इति तस्य नत्वे जसि दीर्घत्वे रुत्वे विसर्गे 'पूनाः' इति रूपम् । यवाः इति विनाशार्थ-स्फोरणायेति बोध्यम् । अन्यत्र न नत्वमत आह—पूतमिति । सिनोतेरिति । ग्रासार्थे कर्मकर्तृकस्य सिनोतेः परस्य क्तस्य नत्वमित्यर्थः । सिनो ग्रासः । षिञ्धातोः क्तप्रत्यये 'सिनोतेः' इति तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'सिनः' इति रूपम् । अन्यत्र तु सितेत्यादि । कर्मकर्तृकस्यैव भवति । अन्यथा सितो ग्रासो देवदत्तेनेत्यादौ नत्व-प्रसंगात् । कर्मकर्तृके तु यथा ग्रासो द्रव्यादिलक्षणेन स्वयं बद्धो भवति इति भावार्थेऽन्यकर्तृकाभावान्न दोष इत्यर्थः । उच्छूनः । उदुपसर्गकटुओश्विधातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये, कलोपे, 'आदिर्ञिटुडवः' इति टोरित्संज्ञायां लोपे च 'उपदेशेऽज-नुनासिक इत्' इति ओकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'श्वि त' इति स्थिते 'ओदितश्च' इति तकारस्य नत्वे, 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति तस्यासिद्धत्वात् 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'शु न' इति स्थिते 'हलः' इति सम्प्रसारणस्य दीर्घे 'श्वीदितः' इति इडागमाभावे, 'शश्छोऽटि' इति छत्वे, ततः तकारस्य श्चुत्वेन चकारे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ उलोपे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'उच्छूनः' इति रूपम् । द्रवमूर्तीति । मूर्तिश्च स्पर्शश्च मूर्तिस्पर्शौ । द्रवस्य मूर्तिस्पर्शौ तयोरिति समासवाक्यम् । मूर्तित्वम्—काठिन्यम् । स्पर्शत्वं = त्वङ्मात्रग्राह्यत्वम् । श्योऽस्पर्शे । श्यैङः श्य इति निर्देशः । तस्य नत्वं स्यादित्यर्थः । शीनम् । श्यैङ्धातोः क्तप्रत्यये 'द्रवमूर्ति' इति संप्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'श्योऽस्पर्शे' इति नत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'शीनम्' इति रूपम् । घनीभूत-

---

निष्ठाके तकारको नकार हो, विनाश अर्थमें । सिनोतेर्ग्रा—'ग्रास' रूप कर्मकर्तृक 'षिञ्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो । ओदितश्च—ओदित् धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो । द्रवमूर्ति—द्रव पदार्थकी कठिनता और स्पर्श अर्थमें 'श्यैङ्' धातुको सम्प्रसारण हो, निष्ठामें । श्योऽस्पर्शे—'श्यैङ्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो,

द्रवमूर्तिस्पर्शयोरिति किम्? संश्यानो वृश्चिकः, शीतात् संकुचित इत्यर्थः। प्रतेश्च ।६।१।२५। संप्रसारणं निष्ठायाम्। प्रतिशीनः। विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ।६।१।२६। तथा। अभिश्यानं घृतम्। अभिशीनम्। अवश्यानः-अवशीनो वृश्चिकः। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनेह न समवश्यानः॥ अञ्चोऽनपादाने ।८।२।४८। निष्ठातस्य नः। यस्य विभाषा ।७।२।१५। यस्य क्वचिद्विभाषयेड्विहितस्ततो निष्ठाया इण् न। 'उदितो वे'ति क्त्वायां वेट्त्वादिह नेट्–समक्नः। अपादाने किम्? उदक्तमुदकं कूपात्। दिवोऽविजिगीषायाम् ।८।२।४९। द्यूनः। विजिगीषायां तु द्यूतम्। निर्वाणोऽवाते ।८।२।५०। अवाते इति च्छेदः। निपूर्वाद्वातेर्निष्ठातस्य नत्वं स्याद्

मित्यर्थः। स्पर्शे तु शीतं जलम्। संकुचितार्थे तु न संप्रसारणं किन्तु 'आदेच' इति आत्वे तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'संश्यानो वृश्चिकः' इति रूपं भवति। प्रतेश्चेति। प्रतिपूर्वात् श्यैङः संप्रसारणं स्यान्निष्ठायाम्। प्रतिशीन इति। प्रतिपूर्वात् श्यैङ्धातोः क्तप्रत्यये 'प्रतेश्च' इति संप्रसारणे पूर्वरूपे तस्य 'श्योऽस्पर्शे' इति नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'प्रतिशीनः' इति रूपम्। विभाषेति। श्यैङः संप्रसारणं वा स्यादित्यर्थः। अभिश्यानमिति। अभिपूर्वात् श्यैङ् धातोः क्तप्रत्यये 'विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य' इति संप्रसारणाभावे आत्वे तस्य नत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'अभिश्यानम्' इति रूपम्। संप्रसारणे तु 'अभिशीनम्' इति स्यात्। रूपसिद्धिः प्राग्वत्। एवम्–अवश्यानः, अवशीनः। इत्यादावपि वैभाषिकं संप्रसारणमवधेयम्। समवश्यान इत्यादौ श्यैङोऽभ्यवपूर्वत्वादपि न संप्रसारणम्। व्यवस्थितविभाषितत्वात्। अञ्चोऽनपादाने इति। अपादानभिन्नार्थे अञ्चो निष्ठातस्य नः स्यादित्यर्थः। यस्येति। आर्धधातुकापेक्षया यस्येति षष्ठी। षष्ठ्यार्थधातुकस्येत्यर्थः। समक्नः। सम्पूर्वादञ्चतेः क्तप्रत्यये कस्य कित्त्वेनोपधाभूतस्य नस्य लोपे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे तस्य 'अञ्चोऽनपादाने' इति नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'समक्नः' इति रूपम्। उदक्तमिति रूपे तु न नत्वं कूपादिति अपादानत्वस्य विद्यमानत्वात्। दिव इति। दिव परस्य निष्ठातस्य नत्वं जिगीषाया अभावे। द्यून इति। दिवः क्तप्रत्यये कलोपे 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठि यणि तस्य 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'द्यूनः' इति रूपम्। विजिगी

स्पर्शे भिन्न अर्थमें।
प्रतेश्च—प्रति उपसर्गसे पर 'श्यैङ्' धातुको संप्रसारण हो, निष्ठामें।
विभाषा—'अभि' और 'अव' उपसर्गोंसे 'श्यैङ्' धातुको संप्रसारण हो, विकल्पसे।
अञ्चोऽनपादाने—'अञ्च्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार हो, अपादानसे भिन्नमें।
यस्य विभाषा—जिस धातुको विकल्पसे कहीं भी इट् विधान किया गया हो, उससे पर निष्ठाको इट् नहीं होता। दिवोऽवि—'दिव' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार हो, यदि विजयकी इच्छा गम्यमान नहीं रहे। निर्वाणो—'नि' पूर्वक 'वा' धातुसे पर निष्ठाके

वातश्चेत्कर्ता न। निर्वाणोऽग्निर्मुनिर्वा। वाते तु-निर्वातो वातः। शुषः कः।८।२।५१। निष्ठातस्य कः। शुष्कः। पचो वः।८।२।५२। पक्वः। क्षायो मः।८।२।५३। क्षामः। स्त्यः प्रपूर्वस्य।६।१।२३। प्रात् स्त्यः संप्रसारणं निष्ठायाम्। प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्।८।२।५४। निष्ठातस्य मो वा। प्रस्तीमः। प्रस्तीतः। प्रात्किम्? स्त्यानः॥ अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः।८।२।५५। एते निपात्यन्ते। ञिफला, फुल्लः। निष्ठातस्य लत्वं निपात्यते। क्तवत्वेकदेशस्यापीदं निपातनमिष्यते, फुल्लवान्। अनुपसर्गात्किम्?। आदितश्च।७।२।१६। आकारेतो निष्ठाया इण्न। ति च।७।४।८९। चरफलोरत उत् तादौ किति। प्रफुल्तः। प्रक्षीबितः। प्रकृशितः। प्रोल्लाघितः॥ (उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानम्।) नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्।८।२।५६। निष्ठातस्य नः। नुन्नः। नुत्तः। विन्नः। वित्तः।

पायां 'धूतम्' इत्येव, न नत्वमिति भावः। निर्वाणोऽग्निरिति। निर्पूर्वाद् वाधातोः क्ते तस्य नत्वे णत्वे निपातनमिदम् इति भावः। वाते तु 'निर्वातः' इत्येव। स्त्य इति। 'स्त्यै' इत्यस्य कृतात्वस्य स्त्य इति पञ्च्यन्तम्। 'ष्यैङः संप्रसारणम्' इत्यतः संप्रसारणमिति 'स्फायः स्फी' इत्यतः निष्ठायामिति चानुवर्तते। प्रात् इति। प्रस्य इति पञ्चमी। प्रपूर्वात्स्त्यैधातोरित्यर्थः। निष्ठातस्य 'म' इति शेषः। प्रस्तीम इति। प्रपूर्वात्स्त्यैधातोः क्तप्रत्यये 'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इति संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलः' इति दीर्घे 'प्रस्त्यो' इति वा मत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'प्रस्तीमः' 'प्रस्तीतः' इति। प्रपूर्वादन्यत्र तु न संप्रसारणनकारौ तेन 'स्त्यानः' इत्येवेति। फुल्लः। फलधातोः क्तप्रत्यये 'ति च' इति उत्वे तस्य निपातात्लत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'फुल्लः' इति। यद्यपि क्तवतौ त इति अवयवस्तथापि संज्ञासामर्थ्यादित्यादेव लत्वमत आह-फुल्लवानिति। आदितश्च। यस्य धातोराकार इत्संज्ञकस्ततः परस्य निष्ठातकारस्य न इत्वमित्यर्थः। प्रफुल्तः। प्रपूर्वात्फलधातोः क्तप्रत्यये तस्य आर्धधातुकत्वेन वलादीटि प्राप्ते 'आदितश्च' इति निषेधे 'ति च' इति उदादेशे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'प्रफुल्तः'

तकारको नकार आदेश हो, यदि वायु कर्ता नहीं रहे। शुषः कः—'शुष्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको ककार आदेश हो। पचो वः—'पच्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको वकार आदेश हो। क्षायो मः—'क्षै' धातुसे पर निष्ठासंबन्धी तकारको मकार आदेश हो। स्त्यः प्रपूर्वस्य—'प्र' पूर्वक 'स्त्यै' धातुको संप्रसारण हो, निष्ठामें। प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्—'प्र' पूर्वक 'स्त्यै' धातुसे पर निष्ठासम्बन्धी तकारको मकार आदेश हो, विकल्पसे। अनुपसर्गात्—उपसर्ग रहित 'फुल्ल' आदि शब्द निपातन हो। आदितश्च—आकारेत्संज्ञक धातुसे पर निष्ठाको इट् नहीं हो। ति च—परे और फल धातुके अकारको 'उत्' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे। उत्फुल्ल—उत्फुल्ल, संफुल्लका निपातन हो। नुदविदो—नुदादि धातुओंसे पर निष्ठाके

उन्दी—श्वीदितो निष्ठायाम् ।७।२।१४। श्वयतेरीदितश्च निष्ठाया इण् न । उन्नः । उत्तः, इत्यादि । न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् ।८।२।५७। एभ्यो निष्ठातस्य नो न । ध्यातः । ख्यातः । पूर्तः । राल्लोपः ।६।४।२१। रेफाच्छ्वोर्लोपः स्यात् क्वौ झलादावक्ङिति च प्रत्यये । मूर्तः । मत्तः ॥ वित्तो भोगप्रत्यययोः ।८।२।५८। विन्दतेर्निष्ठान्तस्य निपातोऽयं भोग्ये प्रतीते चार्थे । वित्तं धनम् । प्रतीतः पुरुषः । अनयोः किम् ? विन्नः । भित्तं शकलम् ।८।२।५९। भिन्नमन्यत् । ऋणमाध

इति । नुदेति । एभ्यो वा निष्ठानस्य नत्वमित्यर्थः । नुन्नः । विन्नः । नुदविदोः क्तप्रत्यये 'नुदविद' इति वा तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे पक्षे पाठेन तत्वे 'नुन्न-नुत्त-विन्न-वित्त' इति रूपाणि सिध्यन्तीति बोध्यम् । श्वीदित इति । 'श्वयतेः' इत्यतो वेति लभ्यते । उन्न इति । उन्दीधातोः क्तप्रत्यये 'श्वीदित' इत्यनेन इडागमनिषेधे 'रदाभ्यां' इति वा नत्वे तदभावे चर्त्वे उपधानलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'उन्न' पक्षे 'उत्त' इति रूपे भवतः । न ध्याख्येति । एभ्यो धातुभ्यः परस्य क्तप्रत्ययस्य 'रदाभ्यां निष्ठातः' इत्यादिना प्राप्तं नत्वं नेत्यर्थः । ध्यात-ख्यात-पूर्त । ध्या-ख्या-पृ एभ्यो धातुभ्यः क्तप्रत्यये पृधातोः 'उदोष्ठ्य' इत्युत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे च विहिते 'ध्यात-ख्यात-पूर्त' इति रूपाणि भवन्ति । मूर्त इति । मुर्छा-धातोः क्तप्रत्यये आदित्वात् 'आदितश्च' इतीडभावे 'राल्लोप' इति छलोपे 'हलि च' इति दीर्घत्वे 'रदाभ्याम्' इत्यनेन तस्य नत्वे प्राप्ते 'न ध्याख्या' इति नत्वनिषेधे सौ रुत्वे विसर्गे 'मूर्त' इति रूपम् । मत्त इति । मदीधातोः क्तप्रत्यये 'श्वीदितो' इडभावे चर्त्वेन तत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'मत्त' इति रूपम् । अत्रापि 'रदाभ्यां' इति प्राप्तं नत्वं 'न ध्याख्या' इत्यनेन वार्यते इति भावः । वित्त इति । भोग्ये प्रतीते च विदधातोः क्तप्रत्ययान्तो नत्वरहितोऽयं निपात इति दिक् । भोगप्रत्यययोर्भिन्नार्थे तु 'रदाभ्यां' इति पूर्वपरयोर्दकारतकारयोर्नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'विन्न' इति रूपम् । भित्तमिति । भिदधातोः शकलार्थे नत्वरहितं निपातनमिदम् । शकलान्यार्थे तु भिन्नमिति स्यात् । 'रदाभ्यां' इति नत्वे रूपम् । ऋणमाधमर्ण्ये । अधमम् ऋणं यस्य सः अधमर्णस्तस्य भावस्तस्मिन् । ऋधातोः क्तस्य नत्वं च निपात्यते इति

तकारको नकार आदेश हो, विकल्पसे । श्वीदितो—'श्वि' धातु और ईदित् धातुसे पर निष्ठा सम्बन्धी इकार को इडागम नहीं हो । न ध्याख्या—ध्या, ख्या आदि धातुओंसे पर निष्ठाके तकारको नकार नहीं हो । राल्लोप—रेफसे पर छकार-वकारका लोप हो, क्विप् परे और झलादि अकित्ङित्आदि प्रत्ययके परे । वित्तो—निष्ठान्त विन्दतिको 'वित्त' निपातन हो, भोग्य और प्रतीत अर्थमें । भित्त—'भित्त' अर्थात् भिद् धातुसे पर निष्ठाके तकारको नत्वाभाव निपातन हो, शकल (खण्ड) अर्थमें । ऋणमा—'ऋ' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार

र्ण्ये ।८।२।६०। ऋतमन्यत् । स्फायः स्फी निष्ठायाम् ।६।१।२२। स्फीतः । इण्निष्ठायाम् ।७।२।४७। निरः कुषो निष्ठाया इट् । 'यस्य विभाषे'ति निषेधे प्राप्ते पुनर्विधिः । निष्कुषितः । वसतिक्षुधोरिट् ।७।२।५२। आभ्यां क्त्वानिष्ठयोर्नित्यमिट् । उषितः । क्षुधितः । अञ्चेः पूजायाम् ।७।२।५३। क्त्वानिष्ठयोरिट् । अञ्चितः । गतौ तु-अक्तः । लुभो विमोहने ।७।२।५४। क्त्वानिष्ठयोरिट् नतु गार्ध्ये । लुभितः । गार्ध्ये तु लुब्धः । क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः ।७।२।५०। इड् वा । क्लिशितः । क्लिष्टः । पूङश्च ।७।२।५१। क्त्वानिष्ठयोरिड् वा । पूङः क्त्वा च ।१।२।२२। निष्ठा सेट् किन्न स्यात् ॥ पवितः । पूतः । क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम् ।

शावः । अन्यत्र तु ऋतमित्येव । स्फाय इति । स्फायीधातोः निष्ठायां परतः स्फायः स्थाने 'स्फी' इत्यादेशो भवति इत्यर्थः । स्फीतः । स्फायीधातोः क्तप्रत्यये 'स्फायः स्फी' इति स्फी आदेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'स्फीतः' इति रूपम् । इण्निष्ठायामिति । 'निरः कुषः' इति सूत्रमनुवर्तते । निष्कुषित इति । निर्पूर्वात् कुषः क्तप्रत्यये 'इण्निष्ठायाम्' इति इटि कित्त्वाद् गुणाभावे निरो रस्य विसर्गान्ते 'इदुदुपधस्य' इति षत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'निष्कुषितः' इति रूपम् । वसतीति । 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' इत्यतः 'क्त्वानिष्ठयोः' इति अनुवर्तते । उषित इति । वस्धातोः क्तप्रत्यये यजादित्वात्सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'वसतिक्षुधोरिट्' इतीटि 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वे सौ रुत्वे, विसर्गे 'उषितः' इति । लुभित इति । लुभ्धातोः क्तप्रत्यये इटि सौ रुत्वे विसर्गे 'लुभितः' इति रूपम् । गार्ध्ये तु 'लुभ्-त' इति स्थिते 'झषस्तथोः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति भस्य बत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'लुब्धः' इति रूपम् । क्लिश इति । 'स्वरतिसूति'इत्यतो वेत्यनुवर्तते । क्लिशितः । 'क्लिश्धातोः क्तप्रत्यये 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' इति वेटि इडभावे 'व्रश्च' इति षत्वे ष्टुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्लेशितः' 'क्लिष्टः' इति । पूङश्चेति । पूङ्धातोः क्तप्रत्यये परत इड् वा स्यादित्यर्थः । पूङः क्त्वा च निष्ठा सेट् किन्न स्यादित्यर्थः । पवितः पूतः । पूङ्धातोः क्तप्रत्यये 'पूङश्च' इति वेटि इट्पक्षे च 'पूङः

निपातन हो, आधमर्ण्य (लेन-देन) अर्थमें । स्फायः स्फी—'स्फायी' धातुको 'स्फी' आदेश हो, निष्ठामें । इण्निष्ठा—'निर्' उपसर्गक 'कुष्' धातुसे पर निष्ठाको इट्का आगम हो । वसति—'वस्' और 'क्षुध्' धातुसे पर क्त्वा और निष्ठा को नित्य इट्का आगम हो । अञ्चेः पूजायाम्—'अञ्च्' धातुसे पर क्त्वा और निष्ठा को इट्का आगम हो, पूजा अर्थमें । लुभो वि—(विमोहन=आकुलीकरणम्) 'लुभ्' धातुसे पर क्त्वा और निष्ठाको (नित्य) इट्का आगम हो, यदि गार्ध्य (लोभ) अर्थ वर्तमान नहीं हो । क्लिशः क्त्वा—'क्लिश्' धातुसे पर 'क्त्वा' और 'निष्ठा' को इट् हो, विकल्पसे । पूङश्च—'पूङ्' धातुसे पर 'क्त्वा' और निष्ठा', को इट् हो, विकल्पसे । पूङः क्त्वा च—पूङ्से पर सेट् क्त्वा और निष्ठा कित् नहीं हों ।

'नोपधात्' इत्यत्र हि थस्यैव संबध्यते। निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ।१।२।१९। सेट् किन्न। शयितः। (आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या।) आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च ।३।४।७१। चाद्भावकर्मणोः। विभाषा भावादिकर्मणोः ।७।२।१७। आदितो निष्ठाया इड् वा। प्रस्वेदितश्चैत्रः। प्रस्वेदितं तेन। ञिष्विदेति भ्वादिरत्र गृह्यते, शीङ्साहचर्यात्। स्विद्यतेस्तु 'स्विन्नः' इत्येव। ञिमिदाञिक्ष्विदा दिवादी भ्वादी च। प्रमेदितः। प्रक्ष्वेदितः। प्रधर्षितः। धर्षितं तेन। सेट् किम्? प्रस्विन्नः। प्रस्विन्नं तेन-इत्यादि। मृषस्तितिक्षायाम् ।१।२।२०। सेण् निष्ठा किन्न। मर्षितः। तितिक्षायां किम्? अपमृषितं वाक्यम्, अविस्पष्टमित्यर्थः। उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् ।१।२।२१। उदुपधात्परा भावादिकर्मणोः सेण्निष्ठा वा किन्न। द्युतितम्, द्योतितम्। मुदितम्, मोदितं साधुना। प्रद्योतितः, प्रद्यु-

---

क्त्वा च' इति कित्वनिषेधे गुणेऽवादेशे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'पवितः' 'पूतः' इति रूपद्वयं साधु। निष्ठेति। 'न क्त्वा सेट्' इत्यतो सेडिति नेति चानुवर्तते। शयित इति। शीङ्धातोः क्तप्रत्यये इटि 'निष्ठा शीङ्' इति कित्वनिषेधे गुणेऽयादेशे रुत्वे विसर्गे 'शयितः' इति रूपम्। आदीति। दीर्घकालव्यापिन्याः कस्याश्चित्क्रियायाः आरम्भकालविशिष्टोंऽश आदिकर्म। तत्र विद्यमानाद्धातोर्निष्ठा वक्तव्येत्यर्थः। तत्र आद्येषु क्रियाक्षणेषु भूतेष्वपि क्रियाया भूतत्वाभावाद् भूते विहिता निष्ठा न प्राप्नोतीत्यर्थमारम्भः। आदिकर्मणि क्त इति। 'तयोरेव' इत्यतो भावकर्मणोश्चकारेणानुवृत्तिः। विभाषेति। 'आदितश्च' इत्यत आदित इति 'श्वीदितो' इत्यतो निष्ठाग्रहणम्। 'नेड्वशि' इत्यतो नेति चानुवर्तते। प्रस्वेदित चैत्र इति। प्रपूर्वात् स्विद्धातोः 'आदिकर्मणि निष्ठा वाच्या' इति क्तप्रत्यये 'विभाषा भावादिकर्मणोः' इति इटि 'निष्ठा शीङ्' इति कित्वनिषेधे 'पुगन्त' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'प्रस्वेदितः' इति रूपं सिध्यति। चैत्रकर्तृका आरभ्यमाणस्वेदनक्रिया इत्यर्थः। प्रस्वेदितम्। पूर्ववत्प्रक्रिया बोध्या। स्विदित। क्तप्रत्यये 'विभाषा भावा' इति इटि कित्वनिषेधाभावे सौ रुत्वे विसर्गे 'स्विदितः' इति रूपम्। प्रमेदित-प्रक्ष्वेदित-प्रधर्षित। प्रपूर्वेभ्यो ञिमिदा-ञिक्ष्विदा-धृषधातुभ्य 'आदिकर्मणि' इति क्तप्रत्यये 'विभाषा' इति वेटि 'निष्ठा शीङ्' इति कित्वनिषेधे गुणे सौ रुत्वे विसर्गे च विहिते 'प्रमेदितः' 'प्रक्ष्वेदितः' 'प्रधर्षितः' इति रूपाण्यवसे

निष्ठा शीङ्—'शीङ्' आदि धातुसे पर सेट् क्त्वा और निष्ठा कित् नहीं हो। आदिक-आदि कर्म (क्रिया प्रारम्भ) में भी निष्ठा हो-ऐसा कहना चाहिए। आदिकर्मणि क्तः—आदि कर्ममें जो 'क्त' वह कर्ता और भाव-कर्ममें हो। विभाषा भावादि—आदि कर्ममें और भावमें आदित् धातुसे विहित निष्ठाको इट् हो, विकल्पसे। मृषस्तितिक्षा—तितिक्षा (क्षमा) अर्थमें 'मृष्' धातुसे पर सेट् निष्ठा कित् नहीं हो। उदुपधाद्भाव—उदुपध धातुसे पर

तितः। प्रमुदितः, प्रमोदितः साधुः। उदुपधात्किम्? विदितम्। भावेत्यादि किम्? रुचितं कार्षापणम्। सेट् किम्? कुष्टम्। (शब्विकरणेभ्य एवेष्यते) नेह-गुध्यते-गुधितम्॥ **निष्ठायां सेटि** ।६।४।५२। णेर्लोपः। भावितः। भावितवान्। **दृढः स्थूलबलयोः** ।७।२।२०। स्थूले बलवति च निपात्यते। **दधातेर्हिः** ।७।४।४२। तादौ किति। निहितम्। **दो दद् घोः** ।७।४।४६। घुसंज्ञस्य दा इत्यस्य दद् तादौ किति। चत्तम्। दत्तः। **गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च** ।३।४।७२। एभ्यः कर्तरि क्तः स्याद्भावकर्मणोश्च। गङ्गां प्राप्तः। ग्लानः सः। लक्ष्मीमाश्लिष्टो हरिः। शेषमधिशयितः॥ **घतिस्यतिमास्थामिति किति** ।७।४।४०। एषामित्तादौ किति। वैकुण्ठमधिष्ठितः। शिवमुपासितः। हरि-

---

यानि। गत्यर्थेति। गत्यर्थ-अकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्था-आस-वस्-जन-रुह-जीर्यति-पूर्वा दशानां द्वन्द्वः। 'तः कर्मणि च भावे च' इत्यतो भावे इति कर्मणि इति च। 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इत्यतः कर्तरीति चानुवर्तते। कर्तरीत्येवाद्युक्तौ भावकर्मणोर्न स्यादिति तयोरपि अनुवृत्तिः। गङ्गां प्राप्तः। कर्तरि क्तः। आप्लृ-व्याप्तौ। उपसर्गवशाद्गतौ वर्तते। अकर्मकमुदाहरति-ग्लानः। ग्लाधातोरकर्मकत्वात् क्तप्रत्यये 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठातस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम्। आश्लिष्ट इति। आश्लिष्यानिरयः। अत्रापि आङ्पूर्वाद् क्तप्रत्यये रूपम्। शेषं सुकरम्। ननु शीङादीनामकर्मकत्वादेव सिद्धे तेषां पुनर्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह-शेषमधिशयितः। शेषे शयितवान् इत्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यनेन शेषस्य कर्मत्वम्। तेन सकर्मकत्वादपि क्तः सिद्धः। अधिपूर्वात् शीङ्धातोः क्तप्रत्यये वलादित्वादिडागमे गुणेऽयादेशे 'अधिशयितः' इति रूपम्। घतिस्यतीति। एषामित् तकारादिकित्प्रत्यये परतः। अधिष्ठितः। अधिपूर्वात्स्थाधातोः क्तप्रत्यये 'घतिस्यति' इति स्थाधातोः इत्वे षत्वे ष्टुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'अधिष्ठितः' इति रूपम्। 'अधिशीङ्' इति वैकुण्ठस्य कर्मत्वम्। उपासितः। उपपूर्वादस्यतेः क्तप्रत्यये 'घतिस्यति' इतीकारादेशे

भावार्थक तथा आदिकर्मार्थक सेट् निष्ठा कित नहीं हो, विकल्पसे। शब्विकरणेभ्यः—यह वैकल्पिक कित्वका निषेध शब्विकरण (भ्वादि) धातुओंसे ही इष्ट है। निष्ठायां—सेट् निष्ठाके परे 'णि' का लोप हो। दृढः स्थूल—स्थूल और बलवान् अर्थमें 'दृढ' निपातन हो। दधातेर्हिः—'धा' धातुको 'हि' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे। दो दद्घोः—घुसंज्ञक 'दा' धातुको 'दद्' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे। गत्यर्थाकर्मक—गत्यर्थक अकर्मक, श्लिष्, शीङ्, स्था, आस, वस, जन, रुह और जॄ धातुओंसे भाव, कर्म और कर्तामें, भी 'क्त' प्रत्यय हो। घतिस्यति—दो अवखण्डने, षो अन्तकर्मणि, मा माने, माङ् माने मेङ् प्रणिदाने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ—इन धातुओंको इत्व हो, तादि कित प्रत्ययके परे।

दिनमुपोषितः । राममनुजातः । गरुडमारूढः । विश्वमनुजीर्णः । पक्षे—प्राप्ता गङ्गा तेनेत्यादि । **क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ।३।४।७६।** एभ्योऽधिकरणे क्तः चाद्यथाप्राप्तम् ।

मुकुन्दस्यासितमिदमिदं यातं रमापतेः ।
भुक्तमेतदनन्तस्येत्यूचुर्गोप्यो दिदृक्षवः ॥ १ ॥

पक्षे—ध्रौव्यार्थत्वादकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च—आसितो मुकुन्दः, आसितं तेन । (गत्यर्थेभ्यः कर्तरि कर्मणि च) रमापतिरिदं यातः, तेनेदं यातम् ।

सुबादिकार्ये 'उपासितः' इति रूपम् । उपोषितः । उपपूर्वाद् वसधातोः क्तप्रत्यये 'वसतिक्षुधोरिट्' इतीटि यजादित्वात्सम्प्रसारणेनोकारे गुणे सत्वे षत्वे सुबादिकार्ये 'उपोषितः' इति रूपम् । अनुजातः । अनुपूर्वाज्जनधातोः क्तप्रत्यये नस्यात्वे दीर्घे सुबादिकार्ये रूपम् । आरूढः । आङ्पूर्वाद्रुहधातोः क्तप्रत्यये 'हो ढः' इति ढत्वे 'झषस्तथोः' इति तस्य धत्वे ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' इति उकारस्य दीर्घत्वे सुबादिकार्ये च कृते 'आरूढः' इति रूपं साध्नोति । अनुजीर्णः । जॄ धातोः कर्तरि क्तप्रत्यये 'ॠत इद्धातोः' इतीकारान्तादेशे रपरे 'हलि च' इति दीर्घत्वे 'रदाभ्याम्' इति तस्य नत्वे 'रषाभ्याम्' इति णत्वे सुबादिकार्ये च कृते 'अनुजीर्णः' इति रूपं साध्नोति । कर्तरि प्रत्ययाभावपक्षे तु प्राप्ता गङ्गा तेनेति प्रक्रियावाक्यमेवेति भावः । क्तोऽधिकरणे इति । ध्रौव्य गति प्रत्यवसानं च एषामर्थः, तेषामिति भावः । ध्रौव्यार्थेभ्यः, गत्यर्थेभ्यः, प्रत्यवसानार्थेभ्यश्च इति भावः । ध्रुवस्य भावः ध्रौव्यम् = स्थैर्यमिति भावः । स्थिरीभवनम्-उपवेशनशयनादिक्रियेति भावः । ध्रौव्यस्योदाहरणमुदाहरति—मुकुन्दस्यासितमिदमिति । आस्यतेऽस्मिन्निति आसनमित्यर्थः । गत्यर्थमुदाहरति—इदं यातं रमापतेः । यायते गम्यतेऽस्मिन्निति यातं मार्गं इत्यर्थः । भुक्तमेतदनन्तस्येति । भुज्यतेऽस्मिन्निति भुक्तं भोजनस्थानमित्यर्थः । 'अधिकरणवाचिनश्च' इति त्रिष्वपि कर्तरि षष्ठी । अधिकरणे प्रत्ययाभावपक्षे न कर्मणि क्तः । आसितः = आसितवानित्यर्थः । कर्तरि क्तः । आसितं तेन, भावे क्तः । गत्यर्थेभ्य इति । तेषां सकर्मकत्वात् भावेऽसम्भवात्कर्तरि कर्मण्येव क्तः । यातः कर्तरि क्तः ।

क्तोऽधिकरणे—ध्रौव्यादि अर्थवाचक धातुओंसे अधिकरण अर्थमें 'क्त' प्रत्यय हो, चकारात् यथाप्राप्त (भावादि) अर्थोंमें भी 'क्त' प्रत्यय हो ।

मुकुन्द—यह स्थान रमापति भगवान् मुकुन्द (कृष्ण) के बैठनेका है और यह उनके जानेका है और यह उनके भोजन करनेका है—इस प्रकार (कृष्णका) अन्वेषण करती हुई गोपीगण कह रही थी ।

गत्यर्थेभ्यः—गत्यर्थक धातुओंसे कर्ता और कर्ममें 'क्त' प्रत्यय हो ।

(भुजेः कर्मणि) अनन्तेनेदं भुक्तम्। 'वर्तमाने' इत्यधिकृत्य। **ञीतः क्तः** ।३।२।१८७। क्ष्विण्णः ॥ **मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च** ।३।२।१८८। राज्ञां मतः । इष्टः । बुद्धः । विदितः । पूजितः । अर्चितः । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । 'शीलितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि' इत्यादि । **नपुंसके भावे क्तः** ।३।३।११४। क्लीबत्व-विशिष्टे भावे कालसामान्ये क्तः । जल्पितं । हसितम् ॥ **सुयजोर्ङ्वनिप्** ।३।२। १०३। भूते । सुत्वा । यज्वा । **जीर्यतेरतृन्** ।३।२।१०४। जरन् । जरन्ती ।

यातम् कर्मणि क्तः । भुजधातोः कर्मणि क्तः, भुक्तम् । मण्डूकप्लुतिमाश्रयन् दर्शयति-वर्तमाने इत्यधिकृत्येति । ञीतः क्तः । ञि इत् यस्य तस्माद्वर्तमानक्रियावृत्तेः क्तः स्यादित्यर्थः । क्ष्विण्णः । ञिक्ष्विदाधातोः 'ञीतः क्तः' इति वर्तमाने क्तप्रत्यये 'रदाभ्याम्' इति नत्वे 'आदितश्च' इति इडागमनिषेधे,णत्वे ष्टुत्वे सुवादिकार्ये रूपसिद्धिः। मतिबुद्धीति। मतेरिच्छा पृथग्ग्रहणात् । मतः ॥ मनधातोः वर्तमाने क्तप्रत्यये 'अनुदात्तोपदेश' इति नलोपे सुवादिकार्ये रूपसिद्धिः । इष्ट इति । इषधातोर्वर्तमाने क्तप्रत्यये 'तीषसहेति' वेट्कत्वादिड्भावे ष्टुत्वे सुवादिकार्ये रूपम् । बुद्धः । बुधधातोः क्तप्रत्यये 'झषस्तथोः' इति धत्वे 'झलां जश् झशि' इति दत्वे सुवादिकार्ये 'बुद्धः' इति रूपम् । समुच्चय-मुदाहरति—शीलितः । रक्षितः । शीलरक्षाभ्यां क्तप्रत्यये वलादित्वादिटि सुवादि-कार्ये रूपे साधुतः । क्षान्तः । क्षमधातोः क्तप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे सुवादिकार्ये 'क्षान्तः'इति रूपम् । आक्रुष्टः । जुष्टः आङ्पूर्वात्क्रुशधातोः जुषधातोश्च 'क्तप्रत्यये 'व्रश्च' इति षत्वे ष्टुत्वे सुवादिकार्ये च कृते 'आक्रुष्टः' 'जुष्टः' इति साध्यरूपे साधुतः । नपुंसक इति । भावस्तु क्लीबत्वविशिष्टः । जल्पितं-हसितम् जल्प-हसधातुभ्यां 'नपुंसके' इति क्तप्रत्यये वलादित्वादिटि सुवादिकार्ये रूपे भवतः । सुयजोरिति । भूताधिकार स्यत्वाद् भूते क्तः इत्यर्थः । सुत्वा । सुधातोः भूतार्थे 'सुयजोः' इति ङ्वनिपि 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे 'नलोपः' इति नलोपे 'सुत्वा' इति रूपम् । यज्वा । अत्रापि ङ्वनिपि सुवादिकार्ये रूपं बोध्यम् । जरन् इति । जॄधातोः अतृन्प्रत्यये अनयोर्लोपे गुणे रपरत्वे 'जरत्'इति जाते सौ 'उगिदचाम्' इति नुमि संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वेन नलोपाभावे 'जरन्' इति रूपम् । वासरूपविधि

भुजेः—'भुज' धातुसे कर्ममें 'क्त' प्रत्यय हो ।

ञीतः क्तः—ञोदित धातुसे वर्तमानमें 'क्त' प्रत्यय हो ।

मतिबुद्धि—मति-बुद्धि-पूजार्थक धातुओंसे वर्तमान कालमें 'क्त' प्रत्यय हो ।

नपुंसके—नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव और कालसामान्य अर्थमें धातुसे 'क्त' प्रत्यय हो ।

सुयजोर्ङ्वनिप्—'सु' और 'यज्' धातुसे भूतकालमें ङ्वनिप् प्रत्यय हो ।

जीर्यतेरतृन्—'जॄ' धातुसे भूतसामान्यमें 'अतृन्' प्रत्यय हो ।

धातुस्थन्यायेन निष्ठापि । जीर्णः । जीर्णवान् । छन्दसि लिट् ।३।२।१०५। लिटः कानज्वा ।३।२।१०६। क्वसुश्च ।३।२।१०७। भूतसामान्ये छन्दसि लिट्। तस्य कानच्क्वसू वा स्तः । 'तङानावात्मनेपदम्' । चक्राणः । 'म्वोश्च' । जगन्वान् । कवयस्तु बाहुलकाल्लोकेऽपि प्रयुञ्जते । 'तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे' 'श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते' इत्यादि । वस्वेकाजाद्घसाम् ।७।२।६७। कृतद्विर्वचनानामेकाचामादन्तानां घसेश्च वसोरिट् स्यान्नान्येषाम् । आदिवान् । आरिवान् । ददिवान् । जक्षिवान् । एषां किम् ? बभूवान् । भाषायां सदवस-

---

मा क्तक्तवत्वोरपि सिद्धिं साधयति—जीर्णः । जॄधातोः क्तप्रत्यये 'ऋत इद्'इति इकारे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'रदाभ्याम्'इति तस्य नत्वे 'रषाभ्याम्' इति णत्वे सुबादिकार्ये रूपसिद्धिः फलति । जीर्णवान् । क्तवतुप्रत्यये 'ऋत इत्' इतीति रपरत्वे 'हलि च' इत्युपधादीर्घे 'रदाभ्या' इति नत्वे 'रषाभ्याम्' इति णत्वे सौ 'अत्वसन्त' इति दीर्घे 'उगिद्चाम्' इति नुमि हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वेन नलोपाभावे 'जीर्णवान्' इति रूपस्य सिद्धिः । जगन्वान् । गम् धातोः लिटि, 'क्वसुश्च' इति लिटो क्वसु स्थाने क्वसौ, कस्य उकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च कृते 'गम् + वस्' इति भूते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति मलोपे, 'कुहोश्चुः' इति गस्य जकारे 'जगम् वस्' इति जाते, 'म्वोश्च' इति मस्य नत्वे, कृद्न्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे तस्मात्सौ, उलोपे, 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि, उमि गते, मित्त्वादन्त्यादचः परे जाते 'जगन्वन्स्स्' इति भूते, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति सान्तसंयोगस्योपधाया दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे,'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे, संयोगान्तस्य लोपस्य असिद्धत्वात् नलोपाभावे 'जगन्वान्' इति । कवय —कालिदासादयः । तस्थिवांसम् । स्थाधातोः लिटः क्वसुः, द्वितीयैकवचने उगित्त्वान्नुम् 'सान्तमहतः' इति दीर्घः । अधिजग्मुष इति । अधिपूर्वाद्गमेर्लिटः क्वसुः 'गमहन' इत्युपधालोपः शसि वसोः सम्प्रसारणम् , पूर्वरूपम्, षत्वम् । वस्व इति । कृतेऽपि द्वित्वे एकाच एव येऽवशिष्यन्ते तेषामित्यर्थः । आदिवानिति । अद्धातोर्लिटि लिट 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्यये द्वित्वे पूर्वोऽभ्यासस्थे दस्य लोपे 'अत आदेः' इति दीर्घे सवर्णदीर्घे आद्-वस्-इति जाते 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति इटि सौ उगित्वान्नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे सलोपे 'आदिवान्' इति रूपम् । आरिवान् । ऋधातोः क्वसुप्रत्यये द्वित्वादिकार्ये आर्-वस इति जाते 'वस्वेका'

छन्दसि लिट्—वेदमें भूतसामान्यमें लिट् लकार हो । लिटः कानज्वा क्वसुश्च—उस लिट् के स्थानमें 'कानच्' और 'क्वसु' आदेश हो, विकल्पसे । वस्वे—कृतद्विर्वचन एकाच् आदन्त धातुसे पर और घसादेशसे पर ही 'वसु' को इट् हो, अन्यको नहीं । भाषायां—सद,

श्रुवः ।३।२।१०८। सदादिभ्यो भूतसामान्ये भाषायां लिङ् वा स्यात्, तस्य च नित्यं क्वसुः। 'निषेदुषीमासनबन्धधीरः' 'अध्यूषुषस्तामभवज्जनस्य'। शुश्रुवान्॥ उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ।३।२।१०९। एते निपात्यन्ते। उपपूर्वादिणो लिङ् वा, तस्य क्वसुः। इट्, उपेयिवान्। नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्। ईयिवान्। नञोऽश्नातेः क्वसोरिडभावश्च। अनश्वान्। अनोर्वचेः कर्तरि कानच्। वेदस्यानुवचनं कृतवाननूचानः। लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ।३।२।१२४। अप्रथमान्तेन सामानाधिकरण्ये लट एतौ वा स्तः। शबादि, पचन्तं चैत्रं पश्य। आने मुक् ।७।२।८२। अदन्तस्यातः। पचमानं चैत्रं पश्य। लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात्प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन्द्विजः॥ ईदासः ।७।२।८३।

इति इटि सुयादिकार्ये 'आरिवान्' इति रूपम्। ददिवान्। दाधातोर्लिटि क्वसुप्रत्यये द्वित्वादिकार्ये 'ददा-वस्' इति जाते 'वस्वे'इति इटि 'आतो लोप इटि च' इति आलोपे सुयादिकार्ये कृते 'ददिवान्' रूपम्। निषेदुषीमिति। निपूर्वात्सदेर्लिटि क्वसौ द्वित्वे 'अत एकहल्' इत्येत्वेऽभ्यासलोपत्वे वसोः संप्रसारणे पूर्वरूपे षत्वे ङीपि भमि पूर्वरूपे निषेदुषीमित्यस्य सिद्धिः। अध्यूषुष इति। अधिपूर्वात् वसधातोः लिटि क्वसौ यजादित्वात्संप्रसारणे पूर्वरूपे उस् इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषत्वे सवर्णदीर्घे अध्यूष्वस् इति जाते शसि वसोः संप्रसारणे पूर्वरूपे षत्वे विसर्गे च कृते 'अध्यूषुषः' इति सिद्धम्। शुश्रुवानिति। श्रुधातोर्लिटि क्वसौ द्वित्वे हलादिशेषत्वे सौ उगित्वान्नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे सस्य लोपे संयोगान्तलोपे 'शुश्रुवान्' इति रूपम्। उपेयिवानिति। निपात्यन्ते। उपपूर्वादिण्धातोः लिटि क्वसौ निपातनसामर्थ्यात् उपेयिवानिति रूपम्। यदोपसर्गनिबन्धनं न स्यात्तदा 'ईयिवान्' इति रूपम्। सन् द्विजः। अस्—भुवि धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इत्यनेन प्रथमासमानाधिकरणेऽपि लटो लः स्थाने शतृप्रत्यये, अनुबन्धलोपे, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'अस्-अत्' इति जाते 'सार्वधातुकमपित्' इति अतः सार्वधातुकस्य ङित्वात् 'श्नसोरल्लोपः' इति असोऽकारस्य लोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे 'उगिदचां

वस और श्रु धातुओंसे भाषा (लोक) में भूतसामान्यमें विकल्पसे लिट् लकार हो और उस लिट्के स्थानमें नित्य 'क्वसु' आदेश हो।

उपेयिवान्—उपेयिवान्, अनाश्वान् और अनूचान शब्द निपातन हो।

लटः शतृ—लट्के स्थानमें शतृ और शानच् आदेश हों, अप्रथमा-समानाधिकरणमें।

आने मुक्—अकारान्त अङ्गको 'मुक्' का आगम हो, 'आन्'के परे।

ईदासः—'आस्' धातुसे पर 'आन' को 'ईत्' हो।

आनस्य । 'आदे परस्य' आसीनः ॥ विदेः शतुर्वसुः ।७।१।३६। वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा । विद्वान्, विदन् । तौ सत् ।३।२।१२७। तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः । लृटः सद्वा ।३।३।१४। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य । ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् ।३।२।१२९। अग्नौ जुह्वानः । कवचं बिभ्राणः । शत्रुं निघ्नानः ॥ आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ।३।२।१३४। क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः । तृन् ।३।२।१३५।

सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि, उगि गते, मित्त्वादन्त्यादचः परे आते 'सन्त् स्' इति भूते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे, 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे 'सन्' इति रूपम् । ईदास इति । 'आने मुक्' इत्यत आन इति । तच्च विपरिणम्यतेऽत आह—आनस्येति । आस परस्य आनस्य ईकारादेश इत्यर्थः । आसीन इति । आङ्पूर्वादासधातोः लटि शानचि शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः' इति लुकि 'आस् आन' इति जाते 'ईदासः' इति आकारस्येति सौ रुत्वे विसर्गे 'आसीनः' इति रूपं भवति । विद्वान् । विद्धातोर्लटः शतरि तस्य 'विदेः शतुर्वसुः' इति वस्वादेशे जाते, 'विद्वस्' इति जाते, द्रव्यत्वात् सौ, उलोपे, 'उगिदचाम्' इति 'नुमि' उगि गते, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधाया दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'विद्वान्' इति रूपम् । विदन् । विदो लटि, लटः शतरि, अनुबन्धलोपे, शपि, शपो लुकि, 'विदत्' इति भूते तस्मात्सौ उलोपे, 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि, उगि गते, मित्त्वादन्त्यादचः परे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे, 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तकारस्य लोपे 'विदन्' इति रूपम् । ताच्छील्येति । तत् शीलमस्य तस्य भावस्तस्मिन् । वयः शरीरावस्थाभेदः । अग्नौ जुह्वानः । हुधातोर्लटि ताच्छील्ये 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' इति चानशि चित्त्वात् सार्वधातुकत्वे शपि 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति लुकि श्लौ इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये यणि सौ रुत्वे विसर्गे 'जुह्वानः' इति रूपम् । वयोवचनमुदाहरति—बिभ्राण इति । भृधातोः 'ताच्छील्य' इति चानशि शपि श्लौ द्वित्वेऽभ्यासकार्ये णत्वे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । निघ्नान इति । निपूर्वाद्धन्तेश्चानशि शपि तल्लुकि उपधालोपे 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन

विदेः शतु—'विद्' धातुसे पर 'शतृ' के स्थानमें 'वसु' आदेश हो, विकल्पसे ।

तौ सत्—शतृ और शानच् 'सत्' संज्ञक हो ।

लृटः सद्वा—लृट्के स्थानमें शतृ और शानच् विकल्पसे हो । ताच्छील्य—ताच्छील्यादि अर्थमें धातुसे कर्तामें 'चानश्' प्रत्यय हो । आ क्वेस्तच्छील—वक्ष्यमाण 'भ्राजभास' सूत्रसे विहित 'क्विप्' को व्याप्त करके (यहाँ तक) जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे तच्छीलादि कर्ता अर्थ में हो । तृन्—धातुसे 'तृन्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

कर्ता कटान ॥ स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् ।३।२।१५८। आचालयस्त्युगदापदन्ताः । स्पृहयालुः । (शीङो वाच्यः) । शयालुः । अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच् ।३।२।१३६। अलङ्करिष्णुः । ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः ।३।२।१३९। गिदयं नतु कित् । तेन स्थ ईत्वं न । ग्लास्नुः । गित्वान्न गुणः । जिष्णुः । स्थास्नुः । चाद् भुवः । 'श्र्युकः किती'त्यत्र गकारप्रश्लेषान्नेट् । भूष्णुः । त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः

सत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'निष्नात' इति प्रसिध्यति । कर्ता कटान् । करोति तच्छील इत्यस्मिन्नर्थे कृधातोः 'तृन्' इति तृनि, नलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'कर्तृ' इति मूले 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे, 'नुडनपुंसकस्य' इति सः सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्च' इत्यनङि, अङो लोपे, 'ङिच्च' इत्यनेन ऋस्थाने आते 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति उपधायाः दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'कर्ता' इति रूपम् । स्पृहिगृहीति । एभ्य आलुच् स्यादित्यर्थः । स्पृहयालुरिति । स्पृहिधातोः आलुचि गुणेऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'स्पृहयालुः' इति रूपं भवति । शीङो वाच्य इति । आलुच् वाच्य इत्यर्थः । शयालुरिति । शीङ्धातोरालुचि गुणेऽयादेशे सुबादिकार्ये 'शयालुः' इति साध्नोति । अलंकृञ् इति । एभ्य इष्णुच् स्यादित्यर्थः । अलङ्करिष्णुः । अलंपूर्वात्कृञ इष्णुचि गुणे रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'अलंकरिष्णुः' इति साध्नोति । ग्लाजिस्थेति । ग्स्नुः प्रत्ययो वाच्य एभ्य इत्यर्थः । ग्लास्नुः, स्थास्नुः । ग्लैस्थाधात्वोः ग्स्नुप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे 'ग्लास्नुः' 'स्थास्नुः' इति रूपे भवतः । जिष्णुः । जिधातोः ग्स्नुप्रत्यये सस्य षत्वे ष्टुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'जिष्णुः' इति रूपं भवति । भूष्णुः । भूधा

स्पृहिगृहि—ण्यन्त स्पृहि, गृहि, पति और दयि धातुसे एवं निपूर्वक 'द्रा' धातुसे, तत् पूर्वक 'द्रा' धातुसे और 'श्रत्' इत्यव्ययपूर्वक 'धा' धातुसे 'आलुच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

(तत्पूर्वक 'द्रा' धातुसे आलुच् और 'तद्' शब्दको नान्तत्व निपातन भी समझना चाहिये)

शीङो वाच्यः—'शीङ्' धातुसे (भी) आलुच् प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

अलंकृञ्—अलं पूर्वक 'कृञ्' धातु, निराङ् पूर्वक 'कृञ्' धातु, प्रपूर्वक 'जन्' धातु, उद् पूर्वक 'पच्' 'पत' और 'मद' धातु, अप पूर्वक 'त्रप धातु तथा वृत , वृध् , सह् और चर धातुओंसे 'इष्णुच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

ग्लाजिस्थश्च—ग्ला, जि, स्था और (चकारात्) भू धातुसे 'ग्स्नु' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । त्रसिगृधि—त्रसादि धातुओंसे 'क्नु' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें

।३।२।१४०। त्रस्नुः । गृध्नुः । क्षिप्नुः । शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् ।३।२।१४१। घकार उच्चारणार्थं इति काशिका। अनुबन्ध इति भाष्यम्। तेन शमिनितरा शिमिनीतरेत्यत्र 'घरित्रो'ति ह्रस्वविकल्प'। न चैवं शमी शमिनावि त्यादौ नुम्प्रसङ्ग। झल्ग्रहणमपकृष्य झलन्तानामेव तद्विधानात्। 'नोदात्तोपदेशस्ये'ति वृद्धिनिषेध । शमी । तमीत्यादि । सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीडविविचत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च ।३।२।१४२। घिनुण् स्यात् । सम्पर्कीत्यादि । वौ कषलसकत्थस्रम्भः ।३।२।१४३। विकाषी। अपे च लषः ।३।२।१४४। चाद्वौ। अपलाषी। विलाषी। चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् ।३।२।१४८। चलनार्थाच्छब्दार्थाच्च युच् स्यात्। चलन ।

सोः क्नुप्रत्यये षत्वे ष्टुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'धृष्णुः' इति रूपम्। त्रसीति। एभ्य क्नुः प्रत्ययः स्यात्। त्रस्नु-गृध्नु-धृष्णु-क्षिप्नु । त्रसिगृधिधृषिक्षिपधातुभ्य क्नुप्रत्यये क लोपे सौ रुत्वे विसर्गे रूपाणि प्रभवन्ति। शमित्येति। शमादिभ्यो दिवादिरथेभ्योऽष्टाभ्यो घिनुण्स्यादित्यर्थः। शमिनीतरा। शमधातोर्घिनुणि घकारोकारणकाराणामित्वे 'घरित्र्ये'ति ङीपि 'शमिनीतरे'ति रूपम्। शमी। तमी। शमतमोः घिनुणि घकारोकारणकाराणामित्वे सौ 'सौ च' इति दीर्घत्वे नलोपे 'शमी' 'तमी' इति भवतः। सपृचेति। एभ्यो घिनुण् स्यादित्यर्थः। सपर्की। सम्पृच्शब्दात् घिनुणि 'चजोः' इति कुत्वे घकारोकारण काराणामित्वे लोपे सौ 'सौ च' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे 'नलोप' इति नलोपे च कुत्वे 'सपर्की' इति रूपम्। वावेति। घिनुण् स्यादिति भावः। विकाषी। विपूर्वात् कषधातो·

शमित्यष्टाभ्यो—(दिवादिस्थ) शम्, तम्, दम्, श्रम्, भ्रम्, क्षम्, क्लम्, मद्—इन आठ धातुओंसे 'घिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें।

सम्पृचानु—सम् पूर्वक 'पृच्' धातु, अनु पूर्वक 'रुध' धातु, आङ् पूर्वक 'यम्' और 'यस्' धातु, परिपूर्वक 'सृ' धातु, सम् पूर्वक 'सृज्' धातु, परिपूर्वक 'देव्' धातु, समपूर्वक 'ज्वर्' धातु, परिपूर्वक क्षिप्, रट्, वद्, दह् और 'मुह्' धातु तथा दुष्, द्विष्, द्रुह्, दुह् और युज् धातु, आङ्पूर्वक 'क्रीड्' धातु, विपूर्वक 'विच्' धातु, तथा त्यज्, रञ् और भज् धातु, अति और अप पूर्वक 'चर्' धातु, आङ् पूर्वक 'मुष्' धातु और अभि, आङ् पूर्वक 'हन्' धातुसे 'घिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें।

वौ कष—'वि' पूर्वक कष्, लस्, कत्थ और स्रम्भ धातुसे 'घिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें। अपे च लषः—'अप' और (चकारात्) 'वि'पूर्वक 'लष्' धातुसे 'घिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें। चलनशब्दा—चलनार्थक और शब्दार्थक अकर्मक धातुओंसे

चोपनः। कम्पनः। शब्दनः। रवणः। अकर्मकात्किम्? पठिता विद्याम्। **अनुदात्तेतश्च हलादेः** ।३।२।१४९। अकर्मकाद्युच्। वर्तनः। वर्धनः। अनुदात्तेतः किम्? भविता। हलादेः किम्? एधिता। अकर्मकात्किम्? वसिता वस्त्रम्। **निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादिव्याभाषासूयो वुञ्** ।३।२।१४६। एभ्यो वुञ्। निन्दकः। हिंसकः, इत्यादि। **देविक्रुशोश्चोपसर्गे** ।३।२।१४७। आदेवकः। आक्रोशकः। उपसर्गे किम्? देवयिता। क्रोष्टा। **लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्** ।३।२।१५४। लाषुकः। पातुकः॥ **जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन्** ।३।२।१५५। जल्पाकः। **सनाशंसभि-**

घिनुणि णित्वेन 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ सौ 'सौ च' इति दीर्घे सलोपे नलोपे 'विकापी' इति रूपम्। अपे चेति। घिनुण् स्यादिति भावः। अपलाषी-विलापी। अपपूर्वाद्विपूर्वाच्च लपधातोः 'अपे च लषः' इति घिनुणि अनुबन्धलोपे उपधावृद्धौ सुबादिकार्ये 'अपलाषी-विलापी' इति भवतो रूपे इति ज्ञेयम्। चलनेति। एभ्यो युच्। चलनः-चोपनः-कम्पनः-शब्दनः-रवणः। चल चुप कम्प शब्द रु एभ्यो धातुभ्यः 'चलनार्थ' इति युचि 'युवोः' इत्यनि लघुपधानां गुणे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'चलनः' 'चोपनः' 'कम्पनः' 'शब्दनः' 'रवणः' इति साधूनि साध्नुवन्ति। निन्देति। एभ्यो वुञ्। निन्दकः-हिंसकः। निन्दहिंसयोः वुञि 'युवोः' इत्यकि सुबादिकार्ये 'निन्दकः' 'हिंसकः' इति रूपे साधुत्वं गच्छतः। देवीति। वुञ् स्यात्। आदेवकः-आक्रोशक इति। आङ्पूर्वात् दिवक्रुशोः वुञि अकि पुगन्तगुणे सुबादिकार्ये च कृते 'आदेवकः आक्रोशकः' रूपे भवतः। लषपतेति। एभ्य उकञ् स्यादित्यर्थः। लाषुकः-पातुक इति। लषपतोरुकञि 'अत उपधायाः' इति

'युच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें।

अनुदा—हलादि अनुदात्तेत अकर्मक धातुओंसे 'युच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें।

निन्दहिंस—निन्दादि धातुओंसे 'वुञ्' प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थमें।

उदाहरण—निन्द-निन्दकः। हिंस-हिंसकः। क्लिश-क्लेशकः। खाद—खादकः। विनाश-विनाशकः। परिक्षिप परिक्षेपकः। परिरट-परिराटकः। परिवादि-परिवादकः। व्याभाष-व्याभाषकः। असूय (कण्ड्वादियगन्त)-असूयकः।

देविक्रुशो—सोपसर्गक 'दिव्' और 'क्रुश्' धातुसे 'वुञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें।

लषपत—लषादि धातुओंसे 'उकञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें।

उदाहरण—लाषुकः। पातुकः। पादुकः। स्थायुकः। भावुकः। वर्षुकः। घातुकः। कामुकः। गामुकः। शारुकः।

जल्पभिक्ष—जल्पादि धातुओंसे 'षाकन्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें। सनाशंस-सन्

क्षु उः ।३।२।१६८। चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः । स्थेशभासपिसकसो वरच् ।३।२।१७५। स्थावरः । भास्वरः, इत्यादि । यश्च यङः ।३।२।१७६। यातेर्यङन्तात् वरच् । अतो लोपः । तस्य च परस्मिन्निति स्थानिवद्भावे प्राप्ते । न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ।१।१।५८। पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत् । इति यलोपं प्रति स्थानिवत्त्वनिषेधात् 'लोपो व्योर्वलि'ति यलोपः । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वमाश्रित्याल्लोपे प्राप्ते । (वरे लुप्तं न स्थानिवत्) यायावरः । भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् ।३।२।१७७। विभ्राट् । भाः । धूः । विद्युत् । ऊर्क् । पूः । [illegible]

कृतो सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'लाघुकः' 'पातुकः' इति रूपे भवतः । चिकीर्षुः । कर्तुमिच्छतीति विग्रहे सन्नन्तात् चिकीर्ष धातोः 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्यये तस्यार्धधातुकत्वात् 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे सयोगे कृते विभक्तिकार्ये च कृते 'चिकीर्षुः' इति रूपम् । आशंसुः । आङ्पूर्वकशंसुधातोः 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्यये विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । एवं भिक्ष धातोः उप्रत्यये कृते 'भिक्षुः' इति रूपम् । स्थेशेति । एभ्यो वरच् स्यात् । स्थावर इति । स्थाधातोः वरचि सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'स्थावरः' इति रूपम् । एवम् 'ईश्वरः' इत्यादि । यश्चेति । वरच् स्यादित्यर्थः । न पदान्तेति । स्थानिवद्भावो नेत्यर्थः । वरे लुप्तमिति । वरप्रत्यये परतो यल्लुप्तं तस्य स्थानिवद्भावो नेत्यर्थः । यायावर इति । 'या' धातोः 'धातोरेकाचः' इति यङि 'सन्यङोः' द्वित्वे वरचि 'अतो लोपः' इति अल्लोपे तस्य स्थानिवद्भावाभावेन 'लोपो व्योः' इति यलोपे अल्लोपस्य कर्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वे प्राप्ते 'वरे लुप्तम्' इति स्थानिवद्भावनिषेधे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'यायावरः' इति । विभ्राट् । विशेषेण भ्राजते तच्छील इत्यर्थे वि उपसर्गपूर्वकभ्राजधातोः क्विपि, इकारे गते 'लशक्वतद्धिते' इति कस्य 'हलन्त्यम्' इति पस्य च इत्संज्ञायां लोपे च कृते 'वेरपृक्तस्य' इत्यनेन वस्य लोपे च कृते 'विभ्राज्' इति भूते तस्मात् प्रातिपदिकत्वे सौ अगते तस्य 'हल्ङ्याब्' इति लोपे 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' इति जस्य षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'वाऽवसाने' इति वा टत्वे 'विभ्राट्' इति । भा ।

(सन्नन्त) आशंस् और भिक्ष् धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । स्थेशभास स्था, ईश्, भास्, पिस् और कस् धातुसे 'वरच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । यश्च यङः—यङन्त 'या' धातुसे 'वरच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । न पदान्त—पदका चरमावयव कार्य कर्तव्यमें तथा द्विर्वचनादि कार्य-कर्तव्यमें—परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं हो । वरे लुप्तं—'वरच्' प्रत्ययके परे लोपको स्थानिवद्भाव नहीं हो । भ्राजभास—भ्राज्, भास्, धुर्वि, द्युत, ऊर्जि, पॄ, जु, ग्रावस्तु—इन धातुओंसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

ग्रहणस्यापकर्षणाज्ज्वयतेर्दीर्घः । जूः । ग्रावस्तुत् । (क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च) वक्तीति वाक् । पृच्छतीति प्राट् । आयतं स्तौतीति आयतस्तूः । कटं प्रवते कटप्रूः । जूरुक्तः । श्रयति हरिमिति श्रीः । (ध्यायतेः संप्रसारणं च) । धीः ॥ दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ।३।२।१८२। दाबादेः ष्ट्रन् करणेऽर्थे । दान्त्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ॥ तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ।७।२।९। एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण्न । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्रम् । सेत्रम । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री । हलसूकरयोः पुवः ।३।२।१८३। पूङ्पूञोः करणे ष्ट्रन् । तच्चेत्करणं हलसूकरयोरवयवः । हलस्य सूकरस्य वा-पोत्रम् , मुखमित्यर्थः । अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ।३।२।१८४। अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् ।

भास् धातोः 'भ्राजभासधुर्विद्युतो०' इत्यादिना क्विपि, क्विपः सर्वस्यापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे भासः सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'भाः' इति रूपम् । कटप्रूः । कटपूर्वकप्रुधातोः 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रु०' इत्यादिना क्विपि धातोर्दीर्घत्वे च कृते क्विपो लोपे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । दाम्नी । दाप्, नी, शस, यु, युज, स्तु, तुद, सि, सिच, मिह, पत, दश, नह, एषां त्रयोदशानां द्वन्द्वः । 'दाप् लवने' इत्यस्य पकारस्य स्थाने 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इति कृतमकारस्य निर्देशः । दात्रम् । दाप्धातोः 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे' इति ष्ट्रनि षलोपे, 'षः प्रत्ययस्य' इति षस्येत्संज्ञायाम्, 'तस्य लोपः' इति षलोपे, दात्र इत्यवशिष्टे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धम् । मेढ्रम् । मिह सेचने धातोः 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे' इति ष्ट्रनि, अनुबन्धलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'मेह+त्र' इति स्थिते 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः'

क्विब्वचि—वचादि धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय हो, अच्को दीर्घ हो तथा संप्रसारणका अभाव हो । ध्यायतेः—'ध्यै' धातुसे क्विप् और संप्रसारण हो ।

दाम्नीशस—दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद, सि, सिच्, मिह्, पत, दश्, और नह् धातुसे करण अर्थमें 'ष्ट्रन्' प्रत्यय हो ।

तितुत्रतथ—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स इन् दशों कृत्प्रत्ययोंको इट् नहीं हो ।

हलसूकरयो:—पूङ् और पूञ् धातुसे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय हो, करण में, वह करण यदि हल और सूकरका अवयव हो ।

अर्तिलू—ऋ, लू, धू, सू, खन् ' सह् और चर् धातुओंसे 'इत्र' प्रत्यय हो, करणमें ।

परिश्रम् । पुषः संज्ञायाम् ।३।३।१८८। पविश्रम् ॥ इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ॥

इति सत्य पक्षे 'ष्टुना ष्टुः' इति धत्य पक्षे 'टो ढे लोप.' इति पूर्वस्य लोपे विभ पिकार्थे च कृते तत्सिद्धिः । इति पूर्वकृदन्तम् ।

—०—

पुष संज्ञायां—पुष् और पुस् धातुसे करणमें 'त्र' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

नोट :—'कृत्' प्रत्यय क्रिया या धातुके अन्तमें प्रयुक्त होते हैं और उनके योगसे बने शब्द 'कृदन्त कहलाते हैं । (कृदन्तके निम्न मुख्य पाँच प्रत्ययों पर ध्यान दो)

(१) तव्य-अनीयर्—इनके प्रयोगमें कर्तामें तृतीया अथवा षष्ठी विभक्ति होती है । सकर्मक धातुसे ये प्रत्यय होनेपर तीनों लिङ्ग और तीनों वचन होते हैं, और अकर्मक धातुसे होनेपर केवल नपुंसक लिङ्ग और एकवचन ही प्रयुक्त होते हैं । यथा—'तेन पाठः पठितव्य '। 'तेन आसितव्यम्' । 'त्वयेदं कर्तव्यम्, करणीय वा' प्राय 'विधि' अर्थमें ही इसका प्रयोग होता है ।

(२) क्त—'क्त' प्रत्यय भूतकालमें होता है और 'क्त' प्रत्ययान्त क्रिया के साथ कर्तासे तृतीया और कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है तथा कर्मके लिङ्गके अनुसार ही क्तप्रत्ययान्त पदका लिङ्ग होता है । जैसे .—तेन माला निर्मिता । मया फलं खादितम् । अकर्मक धातुसे 'क्त' प्रत्यय प्राय नपुंसक लिङ्गमें होता है (यथा हसितम्) । कुछ धातुयें ऐसी भी हैं जिनसे 'क्त' प्रत्यय कर्तामें होता है । 'गत्यर्थाकर्मक०' (पृ० २०० देखो) कभी कभी 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द विशेषण रूपसे भी प्रयुक्त होता है । यथा —'वन गतो राम '।

(३) क्तवतु—'क्तवतु' प्रत्यय भी भूतकालमें होता है, परन्तु यह कर्तामें ही होता है और कर्तृवाच्यके अनुसार कर्ता और कर्मसे विभक्तियाँ भी होती हैं । जैसे—'अहं पुस्तकं पठितवान्' । 'तौ पुस्तकं पठितवन्तौ' ।

(४) क्त्वा—जब एक क्रियाके बाद दूसरी क्रिया की जाती है तब प्रथम क्रियासे 'क्त्वा' प्रत्यय किया जाता है और क्त्वा प्रत्ययान्त क्रिया अव्यय रूपसे प्रयुक्त होती है तथा कर्म आदि मुख्य (द्वितीय) क्रिया के समान ही होते हैं । यथा —'शत्रून् जित्वा निवर्तते' । 'क्त्वा' प्रत्ययान्त क्रिया के पूर्व यदि कोई उपसर्ग रहता जाय तो 'क्त्वा के स्थान पर 'य' हो जाता है । जैसे —विजित्य, निहत्य, आदि ।

(५) तुमुन्—(उत्तर कृदन्त देखो) जब एक क्रिया करनेके लिये दूसरी क्रिया की जाती है, तब प्रथम क्रियासे 'तुमुन्' प्रत्यय होता है और वह अव्यय हो जाता है । 'तुमुन्' प्रत्ययान्त क्रियाके कर्मादि भी मुख्य क्रिया के समान ही होते हैं परन्तु कर्ताका सम्बन्ध मुख्य क्रिया से ही होता है । जैसे :—'हरिं द्रष्टुं प्रियतमाः वैकुण्ठमुपगच्छन्ते' ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पूर्वकृदन्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ उणादिप्रकरणम्

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्। करोतीति कारुः। वायुः। पायुर्गुदम्। जायुरौषधम्। मायुः पित्तम्। स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। अश्नुते-आशु शीघ्रम्। **हरिमितयोर्द्रुवः।** द्रु गतौ। अस्मात् हरिमितयोरुपपदयोः कुः स च डित्। हरिभिर्द्रूयते हरिद्रुर्वृक्षः। मितं द्रवतीति मितद्रुः समुद्रः। **शते च।** शतधा द्रवतीति शतद्रुर्नदीभेद। **अन्दूदृम्भूजम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः।** एते कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। **शमेर्ढः।** बाहुलकात् इत्संज्ञा ढस्य एयादेश इट् च न भवति। 'शण्ढः स्यात्पुंसि गोपतौ'। शण्ढः। **कमेरठः।** 'कमठः कच्छपे पुंसि भाण्डभेदे नपुंसकम्' इति मेदिनी। **रमेर्वृद्धिश्च।** रामठं हिङ्गु। **शमेः खः।** शङ्खः। **कणेष्ठः।** कण्ठः।

हरिद्रुः। द्रु गतावस्माद्धातोः 'हरिमितयोः' इति कुप्रत्यये कलोपे डित्वसाम- र्थ्यादभस्य टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'हरिद्रुः' इति। मितद्रुः। एवं मितं द्रवति अत्रापि द्रुधातोः कुप्रत्यये डित्वाट्टेर्लोपे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'मित- द्रुरि'ति रूपं भवति। शत इति। द्रुवः कुः स्यादित्यर्थः। डिच्चेति शेषः। शतद्रुः। शत- धा द्रवति इति वाक्ये द्रुधातोः कुप्रत्यये कलोपे डित्वाट्टिलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'शत- द्रुरि'ति सिध्यति। अन्दू इति। निपात्यन्ते कूप्रत्ययान्ताः। शण्ढ इति। शमे- र्ढप्रत्यये मस्यानुस्वारे परसवर्णे सुबादिकार्ये रूपमेतद्। अत्रार्धधातुकत्वाद् वलादि- त्वाच्च ढस्येटि प्राप्ते तथा च 'आयनेयीनी' इति ढस्यैयादेशे प्राप्ते 'उणादयो बहुलम्' इति बाहुलकत्वान्न भवतः इति भावः। कोषं प्रमाणयति-शण्ढः स्यादिति। कमेरिति। कमधातोरठप्रत्यये सुबादिकार्ये 'कमठः' इति रूपम्। कोषप्रमाणेन समर्थयति— 'कमठः कच्छप' इति। रमेरिति। अठोऽनुवर्तते। रमेरठः स्याद् वृद्धिश्चेत्यपि। रामठ- मिति। रमधातोरठप्रत्यये वृद्धौ सुबादिकार्ये 'रामठम्' इति। शमेरिति। खः प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। शमधातोः खप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे सुबादिकार्ये 'शङ्खः' इति।

कृवापाजि—कृ, वा पा, जि, मि, स्वद्, साध्, अश्—इन् धातुओंसे 'उण्' प्रत्यय हो। हरिमितयो—हरि और मित उपपदक 'द्रु' धातुसे 'कु' प्रत्यय हो और वह डित् हो। शते च—शत उपपदक 'द्रु' धातुसे 'कु' प्रत्यय हो और वह डित् हो। अन्दू—अन्दू, दृन्भू, आदि 'कू' प्रत्ययान्त शब्द निपातन हो। शमेर्ढः—शम् धातुसे 'ढ' प्रत्यय हो। और बाहुलकात् 'चुटू' से उस 'ढ' की इत्संज्ञा 'आयनेयी' से एयादेश अथवा वलाद्यार्धधातु- कत्वात् 'ढ' को इट् नहीं हो। कमेरठः—'कम्' धातुसे 'अठ' प्रत्यय हो। रमेर्वृद्धि—'रम' धातुसे 'अठ' प्रत्यय हो और चकारात् धातुको वृद्धि हो। शमेः खः—'शम्' धातुसे 'ख' प्रत्यय हो। कणेष्ठः—'कण्' धातुसे 'ठ' प्रत्यय हो।

अमन्ताड्डः । भमिति प्रत्याहारः । 'दण्डोऽस्त्री लगुडेऽपि स्यात्' इत्यमरः । 'रण्डा मूषिकपर्ण्यां च विधवायां च योषिति' इति मेदिनी । 'खण्डोऽस्त्री शकले/नेक्षुविकारमणिभेदयो' इति मेदिनी । मन ज्ञाने । 'मण्ड पयाद्यले शाकभेदे क्लीवं तु वस्तुनि' । इति मेदिनी । पतिचण्डिभ्यामालञ् । 'पातालं नागलोके स्याद्विवरे वडवानले' इति मेदिनी । चण्डालो मातङ्गः । प्रज्ञादित्वादणि चाण्डालोऽपीत्युज्ज्वलदत्तः । तन्न, 'कुलालवरुडनिषादचण्डालमित्रामित्रेभ्यश्छन्दसि' इति चण्डालशब्दात्स्वार्थेऽञं विदधता वार्तिकेन तद्भाष्येण च सह विरोधात् । गन्गम्यद्योः । गङ्गा । अङ्गं पुरोडाशः । भृङ्गः किन्नुट् च । भृणो गन्किरस्यात्तस्य नुट् च । 'भृङ्गा विहगाऽलिधूम्याटाः' । शृणातेर्ह्रस्वश्च । शृङ्गम् । अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् । एभ्यस्त्रयोदशभ्यो मन् । अर्मश्चक्षू रोगः स्तोमः समाजः । सोमः । होमः । सर्मो गमनम् । धर्मः । क्षेमं कुशलम् । क्षौमम् । भामः आदित्यः । यामः ।

अमन्तादिति । 'अमङणनम्' इति अम्प्रत्याहारोऽपेक्षते । डः स्यादित्यर्थः । दण्ड इति । दमधातोः डप्रत्यये सुबादिकार्ये 'दण्ड' इति रूपं सम्नोति । रण्डेति । रमधातोः 'अमन्ताड्' इति डप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे टापि सुबादिकार्ये च कृते 'रण्डा' इति रूपम् । कोशेन प्रमाणयति । खण्ड, मण्ड । मन्-मन्धातोः 'अमन्ताड्' इति डप्रत्यये सुबादिकार्ये रूपे भवतः । मेदिनीकोशेन प्रमाणयति । पति चण्डीति । पाताल, चण्डाल । पतिचण्डिभ्यां आलञ्प्रत्यये उपधावृद्धौ सुबादिकार्ये वसयरूपसिद्धिः । चाण्डालमिति तु प्रज्ञादित्वादणि बोध्यम् । तत्तुतन्तु चाण्डाल इति कथमन्दसोक्तं न साधु प्रमाणाभावात् । चण्डाल प्रमाणेन समर्थयति । गनिति । गमिगदिभ्यां गन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । गङ्गा इति । गम्धातो गन्प्रत्यये मस्यानुस्वारे परसवर्णे टापि एवष्टयादिलोपे 'गङ्गा' इति रूपम् भवति । अङ्ग इति । अद्धातोः गन्प्रत्यये सुबादिकार्ये 'अङ्ग' इति रूपं भवति । भृङ्गा इति । भृञ् धातोः किनि नुटि मस्यानुस्वारे परसवर्णे कित्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये 'भृङ्गा' इति रूपम् । कोशेन प्रमाणयति । शृणातेरिति । किन्नुडत्रानुवर्तते । शृणाते किन् स्यात् नुट् चागमः, तस्मिन् परतः ह्रस्वश्चेत्यर्थः । शृङ्गमिति । शृधातो किनि नुटि ह्रस्वे सुबादि

अमन्ता—अमन्त धातुओंसे 'ड' प्रत्यय हो ।

पतिचण्डिभ्यां—'पत्' और 'चण्ड' धातुसे 'आलञ्' प्रत्यय हो ।

गन्गम्यद्योः—'गम्' और 'अद्' धातुसे 'गन्' प्रत्यय हो । भृङ्गः किन्नुट्—'भृञ्' धातुसे 'गन्' प्रत्यय हो, और वह 'गन्' कित् हो तथा उस 'गन्' को नुडागम भी हो । शृणाते—'शृ' धातुसे 'गन्' प्रत्यय और नुट् हो तथा वह नुट् कित् हो और धातुको ह्रस्व हो । अर्तिस्तुसु—ऋ, स्तु, सु, हु, सृ, धृ, क्षि, क्षु, भा, या, वा, पद्, यक्ष, नी—इन

'धामः शामनद्दुष्टयोः' । पद्मम् । यक्ष्मो रोगराजः । नेमः । अवतेष्टिलोपश्च । मन्प्रत्ययस्यायं टिलोपो न प्रकृतेः । अन्यथा डिदित्येव ब्रूयात् । ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ।६।४।२०। एषामुपधावकारयोरूठ् क्वौ झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये । अत्र क्ङितीति नानुवर्तते । अवतेस्तुनि कृते ओतुरिति दर्शनात् । स्वरादिपाठादव्ययत्वम् । अवनीति ओम् । ग्रसेरा च । ग्रामः ॥ अविसिविसिशुषिभ्यः कित् । एभ्यो मन् । ऊमं नगरम् । स्यूमो रश्मिः । सिमः सर्वः । शुष्मम्ग्निसमीरयोः । घर्मः । घृधातोर्निपातोऽयम् । ग्रीष्मः । ग्रसतेर्निपातोऽयम् ॥ अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् । अश्वः । 'प्रुष्वः स्यादृतुसूर्ययोः' । लट्वा पक्षिभेदः फलं च । कण्वं पापम् । खट्वा । विश्वम् । कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः । यौति इति युवा । वृषा इन्द्रः । तक्षा राजा । धन्वा मरुः । धन्व शरासनम् । द्युवा सूर्यः । प्रतिदीव्यत्यस्मिन् प्रतिदिवा दिवसः । उषिकुषिगार्तिभ्यः स्थन् । ओष्ठः ।

कार्ये च कृते 'मश्चमि'ति । ओमिति । अवधातोः 'अवतेः' इति मनि तत्प्रत्ययस्य टिलोपे अवो वकारस्य 'ज्वरत्वर' इत्यूठि गुणे सावव्ययत्वात्सुलोपे 'ओम्' इति सिध्यति । ग्रसेरिति । ग्रसधातोर्मन्प्रत्ययः स्याद्धातोराकारान्तादेशश्चेत्यर्थः । ग्राम इति । ग्रसधातोर्मनि धातोराकारान्तादेशे सवर्णदीर्घे सुबादिकार्ये 'ग्रामः' इति रूपम् । अवीति । एभ्यो मन् स्यात्स च किदित्यर्थः । ऊमं स्यूम इति । अवसिव्योर्मन्प्रत्यये 'ज्वरत्वर' इति उपधावकारयोरूठि सुबादिकार्ये रूपे भवतः । सिमः । सिधातोर्मनि रूपमेतत् । अशू इति । एभ्यः क्वन् स्यादित्यर्थः । अश्वः-प्रुष्वः-लट्वा-कण्वं-खट्वा-विश्वम् । अशू-प्रुषि-लटि-कणि-खटि-विशिभ्यः क्वनि क्वनोर्लोपे सुबादिकार्ये च कृते रूपाण्यवसेयानि । कनीति । युवादिभ्यः कनिन् स्यादित्यर्थः । युवा-वृषा-तक्षा-धन्वा-द्युवा-प्रतिदिवा । यु-वृषि-तक्षि-राजि-धन्वि-द्यु-प्रतिदिवादिभ्यः कनिनि युवादिकार्ये, सौ 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे सस्य लोपे नलोपे रूपाणि भवन्ति । उषीति । एभ्यस्थन् स्यादित्यर्थः । ओष्ठः-कोष्ठः-गाथा-अर्थ इति । उषि-कुषि-गा-ऋभ्यः थन्प्रत्यये

चतुर्दश धातुओंसे 'मन्' प्रत्यय हो । अवतेष्टि—'अव्' धातुसे 'मन्' प्रत्यय हो और मन् प्रत्ययान्तकी 'टि' का लोप हो । ज्वरत्वर—ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव्, मव्—इन धातुओंकी उपधा और वकारको ऊठ् हो 'क्वि' के परे और झलादि अनुनासिकादि प्रत्ययके परे । अविसिवि—अव्, सिव्, सि, शुष्—इन धातुओंसे 'मन्' प्रत्यय हो और वह कित् हो । अशूप्रुषि—अश्, प्रुष्, लट्, कण्, खट्, विश्—इन धातुओंसे 'क्वन्' प्रत्यय हो । कनिन्—यु, वृष्, तक्ष्, राज्, धन्वि, द्यु, और प्रतिपूर्वक दिव् धातुसे 'कनिन्' प्रत्यय हो । उषिकुषि—उष् आदि धातुओंसे 'थन्' प्रत्यय हो ।

कोष्ठम् । गाथा । अर्थः 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् । 'पीथो रविर्घृतं पीथम्' । 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु । अवतारर्षिजुष्टाम्भःस्त्रीरजःसु च विश्रुतम्' इति विश्वः । तुत्थोऽग्निः । उक्थं सामभेदः । रिक्थम् । बाहुलकाद्रिचेरपि- 'रिक्थमृक्थं धनं वसु' । सिक्थम् । ग्लानुदिभ्यां डौः । ग्लौः । नौः । च्विरव्ययम् । डौरित्येव । ग्लौः करोति । 'कृन्मेजन्तः' इति सिद्धे नियमार्थमिदम्-उणादिप्रत्ययान्तश्च्व्यन्त एवेति । गमेर्डोः । 'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः । स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु' इति । बाहुलकात् द्युतेरपि डोः । 'द्यौः स्त्री स्वर्गान्तरिक्षयोः' ॥ रातेर्डैः । राः । भ्रमेश्च डूः । भ्रूः । चाद्गमेः, अग्रगूः । उन्देर्नलोपश्च । चाद्युच् । ओदनः । गमेर्गश्च । चाद्युच् । गगनम् । कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । किरणः । पुरणः समुद्रः । वृजनमन्त-

---

'पुणन्तः' गुणे सुबादिकार्ये रूपाणि भवन्ति । पेति । एभ्यः थगित्यर्थः । पीथ-तीर्थ-तुत्थ-उक्थ-रिक्थ-सिक्थमिति । पा-तॄ-तुदि-वचि-रिचि-सिचिभ्यः थकि ककारलोपे पादीनां क्रमशः 'घुमास्था' इति ईत्वे 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे च 'वचिस्वपि' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे कृते सुबादिकार्ये रूपाणि सम्भवन्ति । कोशप्रमाणं प्रमाणयति । ऋचेरपि क्वचित् थक् । तेन ऋक्थमित्यपि साधु । ग्लेति । आभ्यां डौ प्रत्ययः । ग्लै-नुदिभ्यां डौप्रत्यये ग्लैधातोरात्वे डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'ग्लौः नौः' उभयरूपप्रसिद्धिः । च्विरिति । डौप्रत्ययान्तश्च्विरित्यर्थः । तेन कृभ्वोऽनुप्रयोगे 'ग्लौकरोति' इत्यस्य सिद्धिः । गमेरिति । गम्धातोर्डोप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'गौः' इति रूपं भवति । भ्रमेश्चेति । भ्रमधातोर्डूप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये भ्रूरिति रूपम् । उन्देरिति । युचि 'ओदन' इति रूपम् । गमेरिति । गमेः युच्प्रत्ययात् गश्चान्तादेश इत्यर्थः । गगनमिति । गम्धातोर्युचि मस्य गत्वे 'युवोरनाकौ' इत्यनादेशे सुबादिकार्ये च कृते 'गगनम्' इत्यस्य सिद्धिः । कॄपॄ इति । एभ्यः क्युः स्यात् ।

पातॄतुदि—'पा' आदि धातुओंसे 'थक्' प्रत्यय हो ।

ग्लानुदि—ग्लै धातु और नुद् धातुसे 'डौ' प्रत्यय हो ।

च्विरव्य—'डौ' प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप यदि च्व्यन्त हो तो वह अव्ययसंज्ञक हो ।

गमेर्डो—'गम्' धातुसे 'डो' प्रत्यय हो । रातेर्डैः—'रा' धातुसे 'डै' प्रत्यय हो ।

भ्रमेश्च—'भ्रम्' धातुसे 'डू' प्रत्यय हो ।

उन्देर्नलो—'उन्द' धातुके नकारका लोप हो और चकारात् 'युच्' प्रत्यय हो ।

गमेर्गश्च—'गम्' धातुको गकारान्तादेश हो और चकारात् 'युच्' प्रत्यय भी हो ।

कॄपॄवृजि—कॄ, पॄ, वृज्, मन्द और निपूर्वक धा धातुसे 'क्यु' प्रत्यय हो ।

रिक्षम् । मन्दनं स्तोत्रम् । निधनं कुलनाशयोः । **धृषेर्धिष् च संज्ञायाम्** । धिषणो गुरुः । धिषणा धीः । **तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ** । शंसेः क्षदादिभ्यश्च क्रमात्तृन्तृचौ स्तः, तौ चाऽनिटौ । शंस्ता । शंस्तरौ । शंस्तरः । क्षदिः सौत्रो धातुः । 'क्षत्ता स्यात्सारथौ द्वाःस्थे वैश्यायामपि शूद्रजे' । **बहुलमन्यत्रापि** । मन्, मन्ता । हन्, हन्ता । इत्यादि । **नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ होतृ पोतृ भ्रातृ जामातृ मातृ पितृ दुहितृ** । एते तृजन्ता निपात्यन्ते । नप्ता । इत्यादि । **सुव्यसेर्ऋन्** । स्वसा । **यतेर्वृद्धिश्च** । 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्' । **नञि च नन्देः** । न नन्दतीति ननान्दा । इह वृद्धिर्नानुवर्तत इत्येके । 'ननान्दा तु स्वसा पत्युर्ननान्दा नन्दिनी च सा' इति शब्दार्णवः । **दिवेर्ऋः** । देवा, देवरः । 'स्वामिनौ देवृदेवरौ' । **नयतेर्डिच्च** । ना । नरौ । नरः । **अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिः** । अर्चिः 'अर्चिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः' । हविः सर्पिः । **इस्मन्त्रन्क्विपु च** ।६।४।९७। छादेः ह्रस्वः स्यात् । छदिः पटलं । छर्दिः । **बृंहेर्न-**

शंस्ता । शंसधातोः तृनि नलोपे सौ 'ऋदुशनस्' इत्यनङि 'अप्तृन्' इति दीर्घत्वे हल्ङ्यादिलोपे नलोपे च कृते 'शंस्ता' इति । बहुलमिति । तृन्तृचौ स्त इत्यर्थः । मन्ता । हन्ता । मन्हनोरन्यतृचौ सौ 'ऋदुशनस्' इत्यनङि 'अप्तृन्तृच्' इति दीर्घे सलोपे नलोपे च कृते 'मन्ता, हन्ता' इत्यनयोः संसिद्धिः । नप्त्र इति । तृजन्ता एते निपात्यन्ते । नप्ता इत्यादिरूपाणि भवन्ति । अर्चीति । एभ्य इसिर्वाच्य इत्यर्थः । अर्चिः-शोचिः-हविः । ऋ-सृप-हु एभ्यः इसिप्रत्यये गुणे सुधादिकार्ये रूपाणि भवन्ति । इस्मनिति । एषु परेषु छादेर्ह्रस्वः स्यादित्यर्थः । छादेर्धातोः 'अर्चिशुचि' इति इसि धातोर्ह्रस्वत्वे सुधादिकार्ये 'छदिः' इति रूपम् । छृदधातोरिसि 'पुगन्त' गुणे सुधादिकार्ये 'छर्दिः' इति । धुतेरिति । धुतधातोरिसिन् प्रत्यय आदेश्च

धृषेर्धिष—'धृष्' धातुसे 'क्यु' प्रत्यय और 'धिष्' आदेश हो, संज्ञामें । तृन्तृचौ—शंसादि और क्षदादि (सौत्र) धातुओंसे 'तृन्' 'तृच्' प्रत्यय हों, संज्ञामें और वे अनिट् भी हों । बहुलमन्य—बाहुलकात् अन्य धातुओंसे भी तृन्-तृच् आदि प्रत्यय हों । नप्तृ—नप्तृ-नेष्टृ आदि तृजन्त निपातन हो । सावसेर्ऋन्—'सु' उपपदक 'अस' धातुसे ऋन् प्रत्यय हो । यतेर्वृद्धिश्च—'यत' धातुसे 'ऋन्' प्रत्यय हो और चकारात् वृद्धि भी हो । नञि च नन्देः—'नञ्' उपपदक 'नन्द' धातुसे 'ऋन्' प्रत्यय हो और चकारात् वृद्धि भी हो । दिवेर्ऋः—'दिव्' धातुसे 'ऋ' प्रत्यय हो । नयतेर्डिच्च—'नी' धातुसे 'ऋ' प्रत्यय हो और चकारात् वह 'डित्' हो । अर्चि-अर्चादि धातुओंसे 'इसि' प्रत्यय हो । इस्मन्—इसादि प्रत्ययके परे छादि धातुको उपधाको ह्रस्व हो । बृंहेर्न—'बृंह' धातुसे 'इसि'

लोपश्च । 'बर्हिर्ना कुशशुष्मणो' द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । ज्योतिः । जनेरुसिः । 'जनुर्जननजन्मानि' इत्यमरः । अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् । अरुः । परुर्ग्रन्थि । वपुः । यजुः । तनुः । धनुः । धनुरस्त्रियाम् । 'तपुः सूर्याग्निशत्रुषु' । एतेर्णिच्च । आयुः, आयुषी । चक्षेः शिच्च । चक्षुः । मुहेः किच्च । मुहुः । मुहुरव्ययम् । पानीविषिभ्यः पः । पाति रक्षत्यस्मादात्मानमिति पापम् । तद्योगात्पापः । नेपः पुरोहितः । वेष्पः पानीयम् । स्तुवो दीर्घश्च । स्तूपः समुच्छ्रायः । सुशृभ्यां निच्च । चान्कित् सूपः । बाहुलकादुत्वम् । शूर्पः । कुयुभ्यां च । कुव-

---

च स्यादिति भावः । ज्योतिः । द्युत्धातोरिसिन् प्रत्यये च देर्दकारस्य जत्वे 'पुगन्त' गुणे सौ हल्ङ्यादिलोपे सत्व रुत्वे विसर्गे 'ज्योतिः' इति रूपम् । जनेरिति । जन्धातो उसि प्रत्यये सुबादिकार्ये 'जनुः' इति रूपम् । अर्तीति । एभ्य उसिः स्यात्स च निदित्यर्थः । अरुः–परुः–यजुः–तनुः–धनुः–तपुः । ऋ–पॄ–यज–तन्–वप्–धन–तपेभ्य उसिप्रत्यये गुणादिसुबादौ च कार्ये रूपाणि भवन्ति । एतेरिति । इण्धातोरुस् स्यात्स च णिदित्यर्थः । आयुः । इणधातोरुसि णित्वेन वृद्ध्यायादेशे सौ सलोपे सत्व रुत्वे विसर्गे 'आयुः' इति रूपम् । चक्षेरिति । उस् स्यात् स च शित् । चक्षुः । चक्षधातो उसि सौ सलोपे रुत्वे विसर्गे रूपम् । मुहेरिति । उस्स्यात्स च कित् । मुहधातोरुसि कित्वेन गुणाभावे सौ हल्ङ्यादिलोपे रुत्वे विसर्गे 'मुहुः' । पानीति । एभ्यः पप्रत्ययः । पापः, नेपः, वेष्पः । पा, नी, विष्–धातो पप्रत्यये नीधातो विष्धातोश्च गुणे सुबादिकार्ये रूपाणि भवन्ति । स्तुव इति । पप्रत्ययः स्यात्तस्मिन्परतो धातोर्दीर्घश्चेत्यर्थः । स्तूप इति । स्तुधातो पप्रत्यये दीर्घत्वे सुबादिकार्ये च कृते 'स्तूपः' इति रूपम् । सुशृभ्यामिति । पः स्यात्स च नित्–कित् । सुधातो पप्रत्यये दीर्घत्वे सौ रुत्वे विसर्गे सूपः इति रूपम् । शूर्प इति । शॄधातो पप्रत्यये बाहुलकादुत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे सुबादिकार्ये 'शूर्पः' इति रूपम् । कुयुभ्यामिति । पः स्याद्दीर्घश्चेत्यर्थः ।

प्रत्यय हो और चाद् नलोप भी हो । द्युतेरिसि—'द्युत' धातुसे इसिन्' प्रत्यय हो और आदि दकारको जकार आदेश भी हो । जनेरुसि —'जन्' धातुसे 'उसि' प्रत्यय हो । अर्तिपृ—अर्ति (ऋ)आदि धातुओं से 'उसि' प्रत्यय हो और वह नित्' हो । एतेर्णिच—'इण्' धातुसे 'उसि' प्रत्यय हो और वह 'णित' हो । चक्षेः शिच—'चक्षिङ्' धातुसे 'उस' प्रत्यय हो और वह 'शित' हो । मुहेः किच—'मुह' धातुसे 'उसि' प्रत्यय हो और वह 'कित' हो । पानीवि—पा–नीआदि धातुओंसे 'प' प्रत्यय हो । स्तुवो—'स्तु' धातुसे 'प' प्रत्यय हो और चकारात् दीर्घ भी हो । सुशृभ्यां—'सु' और 'शॄ' धातुसे 'प' प्रत्यय हो और वह नित् हो तथा धातुको दीर्घ भी हो ।
कुयुभ्यां—'कु' तथा 'यु'धातुसे 'प' प्रत्यय हो और धातुको दीर्घ भी हो ।

न्ति मण्डूका अस्मिन्निति कूपः। युवन्ति बध्नन्ति अस्मिन्पशुमिति यूपः। शष्पशिल्पशष्पबाष्परूपपर्पतल्पाः। सप्तैते पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच्। अयामन्तेति णेरय्। स्तनयित्नुः। हर्षयित्नुः। पोषयित्नुः। गदयित्नुः वावदूकः। मदयित्नुः मदिरा। अशेः सरः। अक्षरम्। वसेश्च। वत्सरः। सपूर्वाच्चित्। संवत्सरः। परिवत्सरः। कॄशॄशलिकलिगर्दिभ्योऽभच्। करभः। शरभः। शलभः। कलभः करिशावकः। गर्दभः। ऋषिवृषिभ्यां कित्। ऋषभः। वृषभः। रासिवल्लिभ्यां च। रासभः। वल्लभः। नियो मिः। नेमिः। अर्तेरुच्च। ऊर्मिः। भुवः कित्। भूमिः। अङ्केर्नलोपश्च।

कूपः, यूपः। कुयुवोः पप्रत्यये दीर्घत्वे सुबादिकार्ये च कृते 'कूपः' 'यूपः' इति रूपे भवतः। शष्पेति। पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। स्तनयित्नुः-हर्षयित्नुः—पोषयित्नुः-गदयित्नुः-मदयित्नुः। स्तनि-हृषि-पुषि-गदि-मदिभ्य इत्नुच्प्रत्यये गुणेऽयादेशे सुबादिकार्ये तत्सिद्धिः। अक्षरम्। अश्धातोः सरप्रत्यये 'अश्स' इति शस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति कत्वे 'अक्ष' इति सस्य षत्वे उभयोः संयोगे क्षत्वे सुबादिकार्ये 'अक्षरम्' इति रूपं साधु। वसेश्चेति। सरः प्रत्ययः स्यात्। वस्धातोः सरप्रत्यये 'सः स्यार्धधातुके' इति पूर्वसस्य तत्वे सुबादिकार्ये रूपं बोध्यम्। कॄशॄशलीति। एभ्योऽभच्प्रत्ययः स्यात्। करभः-शरभः-शलभः-कलभः-गर्दभः। कॄ-शॄ-शल्-कल्-गर्द्-धातुभ्योऽभचि गुणे रपरत्वादिकार्ये सुबादिकार्ये च कृते रूपाणि सिद्धिं गच्छन्ति। ऋषीति। आभ्यामभच्स्यात्स च कित्। ऋषभः, वृषभ इति। ऋषिवृषिभ्यामभचि कित्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये रूपे भवतः। रासीति। आभ्यामभच् स्यात् स च न कित्। रासभः। वल्लभ इति। रासि-वल्लिभ्यामभचि सुबादिकार्ये उभयोः सिद्धिः। नियं इति। मिः स्यादिति भावः। नेमिः। नीधातोर्मिप्रत्यये 'सार्वधातु' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'नेमिः' इति साधु। अर्तेरिति। मिः प्रत्ययः स्याद्धातोः उकारादेशः

शष्पशिल्प—शष्पादि 'प' प्रत्ययान्त निपातन हो।

स्तनिहृषि—ण्यन्त स्तनादि धातुओंसे 'इत्नुच्' प्रत्यय हो।

अशेः सरः—'अश्' धातुसे 'सर्' प्रत्यय हो। वसेश्च—'वस्' धातुसे भी 'सर' प्रत्यय हो। (वत्सरः—'सः स्यार्धधातुके' इति तत्वम्) सपूर्वाच्च—'सम्' इत्युपसर्गपूर्वक 'वस्' धातुसे 'सर्' प्रत्यय हो और वह 'चित' हो। कॄशॄशलि—'कॄ' आदि धातुओंसे 'अभच्' प्रत्यय हो। ऋषिवृषिभ्यां—'ऋष्-वृष्' धातुसे 'अभच्' प्रत्यय हो और वह 'कित' हो। रासिवल्लि—'रास्' और 'वल्ल्' धातुसे 'अभच्' प्रत्यय हो। नियो मिः—'नी' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो। अर्तेरुच्च—'ऋ' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो और ऋकारको 'ऊत्' हो। भुवः कित्—'भू' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो। अङ्केर्नलोपश्च—'अङ्क्'

अग्नि॰। **वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्।** वह्नि। श्रेणि। श्रोणि॰। योनि। द्रोणि। ग्लानि। हानि। तूर्णि। **पातेर्डतिः॰।** पति। **सुवः क्रिः।** सूरि। **अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्।** अद्रि। शद्रि शर्करा। भूरि प्रचुरम्। शुभ्रि ब्रह्मा। **वलिमलितनिभ्यः कयन्।** वल्य॰। मल्य। तनय। **माछाससिभ्यो यः।** माया। छाया। सस्यम्। बाहुलकान्मव्यं दक्षिणवामयो॰। **जनेर्यक्।** 'ये विभाषा'। जन्य युद्धम्। जाया भार्या। **सर्वधातुभ्य इन्।** पचिरग्नि॰। तुडि। तुण्डि॰। वलि। वटि। यजि। काशत इति काशि॰। यति। मल्लि, मल्ली। केलि। 'मसी परिणामे'-मसि। कोधि। नन्दि। कलि॰॥

स्यादित्यर्थः। ऊर्मि। ऋधातो मिप्रत्यये धातो॰ ऊरादेशे रपरत्वे सुबादिकार्ये 'ऊर्मि' इति रूपम्। भुव इति। मि स्यात् स च कित्। भूमि। भूधातोर्मिप्रत्यये कित्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये 'भूमि' इति रूपम्। अङ्गेरिति। अङ्गधातोर्नि स्यात् धातोर्न॰ लोपश्चेत्यर्थः। अग्नि। अङ्गधातोर्निप्रत्यये धातोर्नलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'अग्नि' इति। वह्नेति। एभ्यो नि स्यात् स च नित्। वह्नि-श्रेणि-श्रोणि-योनि-द्रोणि-ग्लानि-हानि', तूर्णि। वहि-श्रि-श्रु-यु-द्रु-ग्लै-हा-त्वरिभ्यो निप्रत्यये॰योग्यत्वेन गुणादिकार्ये सुबादिषु कृतेषु रूपाणि बोध्यानि। पातेरिति। डति स्यात्। पति। पाधातोर्डतिप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'पति' इति रूपम्। सुव। क्रि स्यात्। सूधातोः क्रिप्रत्यये कलोपे सुबादिषु 'सूरि' इति। अदीति। एभ्यः क्रिन् स्यात्। अद्रि-शद्रि, भूरि-शुभ्रि। अद्-शद्-भू शुभधातुभ्यः क्रिनि सुबादिकार्ये साधूनि। वलीति। एभ्यः कयन् स्यात्। वल्य-मल्य-तनय। वलिमलितनिभ्यः कयन्प्रत्यये सुबादिकार्ये रूपाण्यवसेयानि। माछेति। एभ्यो य स्यात्। माया-छाया। मा-छाधात्वोर्यप्रत्यये टापि सुबादिकार्ये 'माया-छाया' इति इति उभयरूपसिद्धिः। सस्यमिति। ससिधातोर्यप्रत्यये सावमि पूर्वरूपे सस्यमित्यस्य सिद्धिः। जनेरिति। यक् स्यात्। जन्य, जाया। जनधातोर्यकि 'ये विभाषा इति आत्वाभावे सावमि पूर्वरूपे प्रथमं रूपम्। सति आकारे टापि सुबादिकार्ये द्वितीय रूपम्। सर्वेति। इन् स्यात्। पचि-तुडि-तुण्डि-वलि-वटि-यजि-काशि-यति-मल्लि-केलि-मसि-कोधि-नन्दि-

---

धातुसे 'नि' प्रत्यय हो और नकारका लोप भी हो। वहिश्रि—वहादि धातुसे 'न' प्रत्यय हो और वह नित् हो। पातेर्डति'-'पा' धातुसे डति प्रत्यय हो। सुवः क्रिः—'सू' धातुसे 'क्रि' प्रत्यय हो। अदिशदि-'अद्' आदि धातुसे 'क्रिन्' प्रत्यय हो। वलिम—'वल्' आदि धातुओंसे 'कयन्' प्रत्यय हो। माछ्छा—'मा' आदि धातुओंसे 'य' प्रत्यय हो। जनेर्यक्—'जन्' धातुसे 'यक्' प्रत्यय हो। सर्वधातु—सभी धातुओंसे 'इन्' प्रत्यय हो।

'हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ। चन्द्रे कीले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्तितः॥' इति। **इगुपधात्कित्**। ऋषिः। शुचिः। **मनेरुच्च**। मुनिः। **जनिघसिभ्यामिण्**। जनिर्जननम्। घासिर्भक्ष्यमग्निश्च। **अच इः**। रविः। तरिः। पविः। कविः। अरिः। **कुडिकम्प्योर्नलोपश्च**। कुडिर्देहः। कपिः। **इषेः क्सुः**। इक्षुः। **कृषेर्वर्णे**। नक् स्यात्। कृष्णः। **दाभाभ्यां नुः**। दानुः दाता। भानुः। **विपेः किच्च**। विष्णुः। **सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्**। सेतुः। तन्तुः। जन्तुः। गन्तुः। मस्तु दधिमण्डम्। सक्तुः। ओतुः। धातुः।

कलिः। पच-तुड-तुण्ड-वल-वट-यज-काश-पत-मल्ल-किल्-मस्-बुध-नन्द-कल् एभ्यो धातुभ्यः 'सर्वधातुभ्य इन्' इति इनि सुधादिकार्ये रूपाणि साऽनुवन्ति। इगुपधादिति। इगुपधाद्विहितो यः इन् स कित्स्यात्। ऋषिः-शुचिः। ऋष्-शुचोरिनि कित्त्वेन गुणाभावे सुधादिकार्ये उभयरूपसंसिद्धिः। मनेरिति। मनेरिन् स्याद्धातोरकारस्योदादेशः। मुनिः। मनधातोरिनि प्रत्ययेऽकारस्य उदादेशे सुधादिकार्ये रूपम्। जनीति। आभ्यामिण् स्यात्। जनिः-घासिः। जन्घसोरिणि 'जनिवध्योश्च' इति वृद्धिप्रतिषेधे घसधातोर्वृद्धौ सुधादिकार्ये रूपयोः सिद्धिः। अच इः। अजन्ताद्धातोरिः स्यादित्यर्थः। रविः-तरिः-पविः-कविः-अरिः। रु-तॄ-पू-कु-ऋ एभ्य इप्रत्यये गुणे सुधादिकार्ये रूपाणां संसिद्धिः। कुडीति। इः स्यात् नलोपश्चेत्यर्थः। कुडिः-कपिः। कुण्ड-कम्पिभ्यामिप्रत्यये नलोपे सुधादिकार्ये उभयोर्निष्पत्तिः। इषेरिति। इक्षुः। इषधातोः क्सुप्रत्यये 'षढोः' इति षस्य कत्वे सस्य षत्वे सुधादिकार्ये 'इक्षुः' इति रूपम्। कृषेरिति। वर्णार्थे गम्ये कृषेः नक् स्यादित्यर्थः। कृष्णः। कृषधातोर्नकि सुधादिकार्ये 'कृष्णः' इत्यस्य साधुत्वम्। दाभेति। नुः स्यात्। दानुः-भानुः॥ दाभाभ्यां नुप्रत्यये सुधादिकार्ये 'दानुः-भानुः' इत्यनयोः निष्पत्तिः। विपेरिति। विषधातोर्नुः स्यात्स च कित्। विष्णुः। विषधातोः नुप्रत्यये 'रषाभ्याम्' इति णत्वे कित्त्वेन गुणाभावे सुधादिकार्ये 'विष्णुः' इति रूपम्। सितेति। एभ्यस्तुन् स्यात्। सेतुः-तन्तुः-जन्तुः-गन्तुः-मस्तु-सक्तुः-ओतुः-धातुः-क्रोष्टा। सि-तनि-जनि-गमि-मसि-सचि-अवि-धाञ्-

---

इगुपधात्—इगुपध धातुसे पर 'इन्' प्रत्यय 'कित्' हो। मनेरुच्च—'मन्' धातुसे इन् प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो तथा 'मन्' के अकारको उकार आदेश हो। जनिघसि—'जन्' और 'घस्' धातुसे 'इण्' प्रत्यय हो। अच इः—अजन्त धातुसे 'इ' प्रत्यय हो। कुण्डि—'कुण्ड' और 'कम्प्' धातुसे 'इ' प्रत्यय हो और धातुके नकारका लोप हो।

इषेः क्सुः—'इष्' धातुसे 'क्सु' प्रत्यय हो। कृषे—'कृष्' धातुसे 'नक्' प्रत्यय हो, वर्णार्थमें। दाभाभ्यां—'दा' और 'भा' धातुसे 'नु' प्रत्यय हो। विपेः—'विष' धातुसे 'नु' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो। सितनि—'सि' आदि धातुओंसे 'तुन्' प्रत्यय हो।

कोशः । अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । अवीर्नारी रजस्वला । तरीः । स्तरीः । तन्त्रीः । यापोः किद् द्वे च । ययीरश्वः । 'पपीः' स्यात्सोमसूर्ययोः । वातप्रमीः । निपातोऽयम् । लक्षेर्मुट् च । लक्ष्मीः । सर्वधातुभ्यो मनिन् । कर्म । चर्म । भस्म । जन्म । शर्म । स्थाम । बृंहेर्नोऽच्च । नकारस्य अकारः । 'ब्रह्म तत्त्वं तपो वेदो ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' । नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन् । एते निपात्यन्ते । साऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ । साम । आत्मा । हनिमशिभ्यां सिकन् । 'हंसिका हंसयोषिति' । मक्षिका । गिर उडच् । गरुडः । शृदृभसोऽदिः । शरत् । 'दरद्भयकूलयोः' । भसज्जघनम् । त्यजितनियजिभ्यो डित् ।

...भ्यो धातुभ्यस्तुनि गुणादिकार्ये सुबादिकार्ये रूपाणि संसिध्यन्ति । अवीति । एभ्य ईः स्यात् । अवी-तरी-स्तरी-तन्त्री । अव-तॄ-स्तॄ-तन्त्रिभ्यो धातुभ्य ईप्रत्यये गुणादौ सुबादौ च कार्ये रूपाण्यवसेयानि । यापोरिति । यापोरीः स्यात् द्वित्वं कित्त्वं चैतयोः । ययी । पपी । यापाभ्याम् ईप्रत्यये धात्वोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ईप्रत्ययस्य कित्वेन 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपे सुबादिकार्ये उभयरूपस्य निष्पत्तिः । वातप्रमी । वातप्राभ्यां माधातोरीप्रत्ययो निपात्यते । लक्षेर्मुट् चेति । लक्षधातोरीप्रत्यये मुडागमे सुबादिकार्ये 'लक्ष्मी' इति रूपम् । सर्वेति । मनिन् स्यात् । कर्म-चर्म-भस्म-जन्म-शर्म-स्थाम । कृ-चर-भस्-जन-शॄ-स्थाभ्यो धातुभ्यो मनिनि सुबादिकार्ये रूपाणि बोध्यानि । बृंहेरिति । मनिन् स्यात् नकारस्याकारः । ब्रह्म । बृंहधातोर्मनिनि नकारस्याकारे सति 'ब्रह्मन्' इति जाते सुबादिकार्ये 'ब्रह्म' इति । नामन्निति । एते निपात्यन्ते मनिन्नन्ताः । सातिभ्यामिति । क्रमशः साऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ स्तः । साधातोर्मनिनि अतधातोर्मनिणि णित्वेनोपधावृद्धौ सुबादिकार्ये 'साम-आत्मा' एते निष्पद्येते । हनीति । सिकन् स्यात् । हंसिका-मक्षिका । हनिमशिभ्यां सिकनि नस्यानुस्वारे मस्य 'षढोः' इति कत्वेऽपरसकारस्य षत्वे चापि सुबादिकार्ये 'हंसिका' 'मक्षिका' इत्युभयोर्निष्पत्तिः । गिर इति । गॄधातोरडचि गुणे सुबादिकार्ये 'गरुड' इति रूपम् । शृदृभेति । अदिः स्यादिकारोच्चारणार्थः । शरद्-दरद्-भसद् । शॄदॄभसेभ्योऽदिप्रत्यये

अवितृ—अवादि धातुओंसे 'ई' प्रत्यय हो । यापोः—'या' और 'पा' धातुसे 'ई' प्रत्यय हो तथा द्वित्व हो और वह 'कित्' भी हो । वातप्रमी—यह निपातन हो । लक्षेर्मुट्—'लक्ष्' धातुसे 'ई' प्रत्यय और 'मुट्' का आगम हो । सर्वधातु—धातुमात्रसे 'मनिन्' प्रत्यय हो । बृंहेर्नो—'बृंह्' धातुसे 'मनिन्' और नकारको अकार आदेश हो । नामन्-सामन् आदि शब्द निपातन हों ।

सातिभ्यां—'सो' और 'अत्' धातुसे 'मनिन्' तथा 'मनिण्' प्रत्यय हो । हनि—'हन्' और 'मश्' धातुसे 'सिकन्' प्रत्यय हो । गिर उडच्—'गॄ' धातुसे 'उडच्' प्रत्यय हो । शृदृ—'शॄ' आदि धातुओंसे 'अदि' प्रत्यय हो । त्यजितनि—'त्यज्' आदि धातुओंसे

त्यद् । तद् । यद् । एतेस्तुट् च । एतद् । युष्यसिभ्यां मदिक् । त्वम् । अहम् । इन्देः कमिर्नलोपश्च । इदम् । कायतेर्डिमिः किम् । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । वस्त्रम् । अस्त्रम् । शास्त्रम् । अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः । अन्त्रम् । चित्रम् । मित्रम् । शस्त्रम् । पुवो ह्रस्वश्च । पुत्रः । स्त्यायतेर्ड्रट् । स्त्री । सूचेः स्मन् । सूक्ष्मम् । पातेर्डुम्सुन् पुमान् । वसेस्तिः । 'वस्तिर्नाभेरधो द्वयोः' । स्वावसेः । स्वस्ति । वौ तसेः । 'वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः'

गुणे सुबादिकार्ये रूपाणां सिद्धिः । त्यजीति । अदिः स्यात्स च डित् । त्यद्-तद्-यद् त्यजि-तनि-यजिभ्योऽदिः डित्त्वं डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'त्यद्-तद्-यद्' इति रूपाणां संसिद्धिः । एतेरिति । इण्धातोरदिः स्यात्तुडागमश्च । इ-अद् इत्यत्र गुणे तुडागमे सुबादिकार्ये 'एतद्' इति । युष्येति । मदिक्प्रत्ययः स्यात् । त्वम्-अहम् । युष् अस् धात्वोः मदिकि रूपयोः सिद्धिः । इन्देरिति । कमिः स्याद्धस्य लोपश्च । इदम् । इन्दधातोः कमिप्रत्यये नलोपे 'इदम्' इति रूपम् । कायतेरिति । डिमिः स्यात् । कैधातोर्डिमिः डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'किम्' इति रूपम् । सर्वेति । ष्ट्रन् स्यात् । वस्त्रम्-अस्त्रम्-शास्त्रम् । वस-अस्-शासुभ्यो धातुभ्यः ष्ट्रनि 'षः प्रत्ययस्य' इति षलोपे नैमित्तिकापाये सुबादिकार्ये रूपाणां निष्पत्तिः । अमीति । क्त्र स्यादित्यर्थः । अन्त्रम् चित्रम्-मित्रम् शस्त्रम् । अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रप्रत्यये सुबादिकार्ये रूपाण्य वधेयानि । पुव इति । क्त्रः स्याद्ध्रस्वश्च । पुत्रः । पूधातोः क्त्रप्रत्यये ह्रस्वत्वे सुबादिकार्ये 'पुत्र' इत्यस्य सिद्धिः स्त्यायतेरिति । ड्रट् स्यात् । स्त्रीः । स्त्यैधातोः ड्रट्प्रत्यये डित्वाट्टिलोपे यलोपे टित्वान्ङीपि सुबादिकार्ये रूपस्य संसिद्धिः । सूचेरिति । स्मन् स्यात् । सूचधातोः स्मन् 'चोः कुः' इति कुत्वे षत्वे सुबादिकार्ये 'सूक्ष्मम्' इति रूपम् । वसेरिति । वस् धातोः तिः स्यात् । वस्तिः । वस्धातोस्तिप्रत्यये सुबादिकार्ये

'अदि' प्रत्यय हो और वह 'डित्' भी हो । एतेस्तुट्—'इण्' धातुसे 'अदि' प्रत्यय हो और 'तुट्' का आगम भी हो । युष्यसिभ्यां—'युष्' और 'अस्' धातुसे 'मदिक्' प्रत्यय हो ।

इन्देः—'इन्द्' धातुसे 'कमि' प्रत्यय हो और धातुके नकारका लोप हो । कायते—'कै' धातुसे 'डिमि' प्रत्यय हो । सर्वधातु—सभी धातुओंसे ष्ट्रन्; प्रत्यय हो । अमि—'अम्' आदि धातुओंसे 'क्त्र' प्रत्यय हो । पुवो—'पू' धातु से 'क्त्र' प्रत्यय और धातुको ह्रस्व हो । स्त्यायतेर्ड्रट्—'स्त्यै' धातुसे 'ड्रट्' प्रत्यय हो । सूचेः स्मन्—'सूच्' धातुसे 'स्मन्' प्रत्यय हो । पातेर्डुम्सुन्—'पा' धातुसे डुम्सुन् प्रत्यय हो । वसेस्तिः—वस्धातुसे 'ति' प्रत्यय हो । स्वावसेः—'सु' उपपदक 'अस्' धातुसे 'ति' प्रत्यय हो । वौ तसेः—'वि' उपसर्गक 'तस्' धातुसे 'ति' प्रत्यय हो ।

इत्यमर । सर्वधातुभ्योऽसुन् । चेत । सर । पय । सद । इत्यादि । अशो-र्देवने युट् च । देवते-स्तुतौ । यश । उब्जेर्बले बलोपश्च । ओजः । श्रयते: स्वाङ्गे शिरः किच्च । श्रयते शिर आदेशोऽसुन्किच्च । शिर । अर्ते रुच्च । उर । भूरञ्जिभ्यां कित् । भुव । रज । वसेर्णिच्च । वासो वस्त्रम् । चन्देरादेश्च छ । छन्द । पचिवचिभ्यां सुट् च । 'पक्षसी तु स्मृतौ पक्षौ' । वक्ष । नञि हन एह च । अनेहा । अनेहसौ । विधाञो वेध च ।

रूपस्य निष्पत्ति । चेत । सर । पय । चित-सृ-पि इति धातुभ्य. असुनि गुणे सुवादिकार्ये प्रयाणां सिद्धिः । अशेरिति । असुन्स्यात् धातुर्युडागमश्च । ७८ । अशधातोरसुनि युटि सुवादिकार्ये 'यश' इत्यस्य सिद्धिः । उब्जेरिति । उब्जेरसुन् स्याद्बलोपश्च । उब्जधातोरसुनि बलोपे 'पुगन्त' इति गुणे सुवादिकार्ये 'ओज' इति रूपसिद्धिः । श्रयतेरिति । असुन्स्यात् धातो. शिरादेशोऽसुनः कित्त्वमित्यर्थ । शिर श्रिधातोरसुनि शिरादेशे कित्वेन गुणाभावे सुवादिकार्ये 'शिर.' इत्यस्य ससिद्धि. । अर्तेरिति । असुन्स्यात् । उकारादेशश्च । उर । ऋधातोरसुनि उकारादेशे रपरत्वे सुवादिकार्ये 'उर ' इति रूपम् । भूरञ्जीति । असुन् स्यात् स च कित् । भुव रज । भूरञ्जोरसुनि कित्वेन गुणाभावे नलोपे सुवादिकार्ये 'भुव , रज' इत्य नयोर्निष्पत्ति । वसेरिति । असुन् स्यात्स च णित् । वास । वस्धातोरसुनि 'अत उपधाया' इत्युपधादीर्घत्वे सुवादिकार्ये 'वास ' इति रूपम । चन्देरिति । असुन् स्यात् आदेश्च चस्य छः । छन्द । चन्द्धातोरसुनि चस्य छत्वे सुवादिकार्ये 'छन्द' इति रूप प्रभवति । पचीति । असुन्स्यात्सुट् च । पक्ष । वक्ष । पचवचभ्यामसुनि सुडागमे च 'चो: कु' इति चस्य कत्वे सस्य षत्वे सयोगे षत्वे सुवादिकार्ये 'पक्ष — वक्ष' उभयो ससिद्धिः । नञीति । हनः असुन् स्यादेहादेशश्च । अनेहा । न हन्तीति

सर्वधातुभ्यो—धातुमात्रसे 'असुन्' प्रत्यय हो ।

अशेर्देवने—'अश्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और 'युट्' का आगम हो, देवन (स्तुति) अर्थमें । उब्जेर्बले—'उब्ज्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और बकारका लोप हो, 'बल' अर्थमें । श्रयते —'श्रि' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो तथा 'श्रि' को 'शिर्' आदेश भी हो, स्वाङ्ग अर्थमें । अर्तेरुच्च—'ऋ' धातुसे 'असुन्' हो और धातुको 'उर' हो ।

भूरञ्जिभ्यां—'भू' और 'रञ्ज्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो ।
वसेर्णिच्च—'वस्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'णित्' हो ।
चन्देरादेश्च—'चन्द्' धातुसे 'असुन्' हो और धातुके आदिको छत्व हो ।
पचिवचि—'पच्' और 'वच्' धा_से 'असुन्' प्रत्यय और 'सुट्' का आगम भी हो ।
नञि हन—'नञ्' उपपदक 'हन्' धातुसे 'असुन्' हो और धातुको 'एह्' आदेश हो ।
विधाञो—'वि' उपसर्गक 'धा' धातुसे 'असुन्' हो और प्रकृतिको 'वेध' आदेश भी हो ।

वेधाः। चन्द्रे मो डित्। चन्द्रोपपदान्माङोऽसिः स च डित्। चन्द्रमाः। उषः कित्। उषः। सर्तेरप्पूर्वादसिः। अप्सराः। प्रायेणायं भूम्नि, अप्सरसः। वशेः कनसिः। उशना। अदि भुवो डुतच्। अद्भुतम्। गुधेरूमः। गोधूमः। तृहेः क्नो हलोपश्च। तृणम्। उदि चेर्डैसिः। उच्चैः। नौ दीर्घश्च। नीचैः। पूञो यण्णुक् ह्रस्वः। यत्प्रत्ययः। पुण्यम्। उदि दृणातेरजलौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च। उदरम्। डित्खनेर्मुट् स चोदात्तः। अच् अल् च डिद्धातोर्मुट्।

नञ्पूर्वात् हन्धातोरसुनि एहादेशे 'नलोपो नञः' नलोपे नुटि सुबादिकार्ये 'अनेहा' इति रूपम्। वेधाः। विपूर्वाद्धाधातोरसुनि धातोर्वेधादेशे सुबादिकार्ये कृते 'वेधाः' इत्यस्य निष्पत्तिः। चन्द्र इति। चन्द्रपूर्वान्माङोऽसुनि डित्वेन टिलोपे सुबादिकार्ये 'चन्द्रमाः' इति प्रभवति। उष इति। असुन्स्यात्स च कित्। उषः। उषधातोरसुनि कित्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये 'उषः' इति रूपम्। सर्तेरिति। अप्पूर्वात्सृधातोरसिः स्यात्। अप्सरसः। अप्पूर्वात्सृधातोरसि गुणे बहुत्वे जसादिकार्ये 'अप्सरसः' इति रूपम्। वशेरिति। उशना। वशधातोः कनसि कित्वेन संप्रसारणे सुबादिकार्ये 'उशना' इति रूपम्। अद्भुव इति। डुतच् स्यात्। अद्पूर्वाद्भुवः डुतच् प्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'अद्भुतम्' इति रूपम्। गुधेरिति। गुधधातोरूमप्रत्यये 'पुगन्त' इति गुणे सुबादिकार्ये 'गोधूमः' इति रूपम्। तृहेरिति। क्नः स्यात् हलोपश्च। तृणम्। तृहधातोः क्नप्रत्यये हलोपे 'ऋवर्णात्' इति णत्वे सुबादिकार्ये 'तृणम्' इति रूपम्। उदीति। उद्पूर्वाच्चिधातोर्डैसिप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'उच्चैः' इति रूपम्। नौ दीर्घश्चेति। निपूर्वाच्चिधातोर्डैसिः स्यात् नेर्दीर्घश्च। नीचैः। पूञिति। यत्स्यात् णुगागमो ह्रस्वश्च। पुण्यम्। पुधातोर्यति णुगागमे पूधातोर्ह्रस्वत्वे सुबादिकार्ये 'पुण्यम्' इत्यस्य सिद्धिः। उदीति। अच् स्यात् पूर्वपदान्त्यलोपश्च। उदरम्। उद्पूर्वात् दृधातोरच्प्रत्यये धातोरजादेशे रपरत्वे

चन्द्रे मो—चन्द्रोपपदक 'माङ्' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो और वह 'डित्' हो।
उषः कित्—'उष्' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो।

सर्तेर—'अप्' पूर्वक 'सृ' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो। वशेः—'वश्' धातुसे 'कनसि' प्रत्यय हो। अदि—'अद्' पूर्वक 'भू' धातुसे 'डुतच्' प्रत्यय हो। गुधेरूमः—'गुध्' धातुसे 'ऊम' प्रत्यय हो। तृहेः क्नो—'तृह्' धातुसे 'क्न' प्रत्यय हो और धातुके हकारका लोप हो। उदि चेर्डैसिः—'उद्' पूर्वक 'चि' धातुसे 'डैसि' प्रत्यय हो। नौ दीर्घश्च—'नि' उपसर्गक 'चि' धातुसे 'डैसि' प्रत्यय और 'नि' को दीर्घ हो। पूञो यत्—'पूञ्' धातुसे 'यत्' प्रत्यय और 'णुक्' का आगम हो तथा धातुके ऊकारको ह्रस्व भी हो। उदि दृणा—'उद्' उपसर्गक 'दृ' धातुसे 'अच्' तथा 'अल्' प्रत्यय हो और 'उद्' के अन्त्य का लोप हो।

डित्खने—'खन्' धातुसे 'अच्' और 'अल्' प्रत्यय हो तथा 'मुट्' का आगम हो और

मुखम् । अमेः सन् । अंसः । मुहेः खो मूर् च । मूर्खः । नहेर्हलोपश्च । नखः । शीङो ह्रस्वश्च । शिखा । माङ ऊखो मय् च । मयूखः । जनेष्टन्लोपश्च । जटा । क्लिशेरन् लो लोपश्च । केशः । फलेरितजादेश्च पः । पलितम् । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । करकः । कटकः । नरकः, नरकम् । 'नरको नारकोऽपि च' इति द्विरूपकोशः । चीकयतेराद्यन्तविपर्ययश्च । कीचकः । जनेररष्ठ च । जठरम् । हर्यतेः कन्यन् हिर च । हिरण्यम् । कृञः पासः । कर्पासः ।

सुखादिकार्ये 'जठरम्' इत्यस्य सिद्धिः । खनेरिति । खनेर्डे मुडागमः स्यात् । मकारश्चेति । खनधातोर्डप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे मुडागमे सुखादिकार्ये 'मुखम्' इति रूपं भवति । अमेरिति । अमधातोः सन् स्यात् । अंसः । अमधातोः सन्प्रत्यये अनुस्वारे सुखादिकार्ये 'अंसः' इति रूपसिद्धिः । मुहेरिति । मुहेः खः स्यात् मूरादेशश्च । नहेरिति । खः स्यात् हलोपश्च । नखः । नहधातोः खप्रत्यये हलोपे सुखादिकार्ये 'नखः' इति । शीङ इति । खः स्याद्धातोर्ह्रस्वश्च । शिखा । शीङ्धातोः खप्रत्यये धातोर्ह्रस्वत्वे टापि सुब्लुगादिकार्ये 'शिखा' इति रूपं भवति । माङ इति । माङ्धातोरूखप्रत्ययः स्याद्धातोः मयादेशश्च । मयूखः । माधातोरूखे मयादेशे सुखादिकार्ये 'मयूखः' इत्यस्य सिद्धिः । जनेरिति । टन् स्यान्नलोपश्चान्त्यस्य । जटा । जनधातोष्टन्प्रत्यये नलोपे टापि सुखादिकार्ये 'जटा' इति रूपम् । क्लिशेरिति । अन् स्यात् ललोपश्च । क्लिशधातोरनि ललोपे 'पुगन्त' गुणे सुखादिकार्ये 'केशः' इति रूपम् । फलेरिति । इतच् स्यादादेश्च पकारः । पलितम् । फलधातोरितचि फस्य पत्वे सुखादिकार्ये च कृते 'पलितम्' इति सिध्यति । कृञादीति । वुन् स्यात् । करकः । कटकः । नरकः । कृ-कट-नॄभ्यो वुनि अकादेशे गुणादौ सुखादिकार्ये च कृते रूपाणां संसिद्धिः । चीकयतेरिति । वुन् स्यात्, चीकयो आद्यन्तयोर्विपर्ययः इत्यर्थः । कीचकः । चीकधातोर्वुनि अकादेशे विपर्ययादौ सुखादिकार्ये 'कीचकः' इति । हर्यतेरिति । कन्यन्प्रत्ययो हिरश्चादेशः । हर्यधातोः कन्यनि हिरादेशे सुखादिकार्ये 'हिरण्यम्'

यह उदाहरण हो । अमे सन्—'अम्' धातुसे 'सन्' प्रत्यय हो । मुहः खो—'मुह्' धातुसे 'ख' प्रत्यय और मुहको 'मूर्' आदेश हो । नहेर्हलोपश्च—'नह्' धातुसे 'ख' प्रत्यय और धातुके हकारका लोप हो । शीङो—'शीङ्' धातुसे 'ख' प्रत्यय हो और ह्रस्व भी हो ।

माङ् ऊखो—'माङ्' धातुसे 'ऊख' प्रत्यय और 'माङ्' को 'मय' आदेश हो ।

जनेष्टन्—'जन्' धातुसे 'टन्' प्रत्यय और नकारका लोप हो । क्लिशेरन्—'क्लिश्' धातुसे 'अन्' प्रत्यय और लकारका लोप हो । फलेरितच्—'फल्' धातुसे 'इतच्' प्रत्यय और धातुसम्बन्धी फकारको पकार हो । कृञादिभ्य—'कृञ्' आदि धातुसे 'वुन्' प्रत्यय हो संज्ञामें । चीकयते—'चीक' धातुसे 'वुन्' प्रत्यय हो और धातुके आदि-अन्त अक्षरका विपर्यय भी हो । जनेररन्—'जन्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय हो और धातुके नकारको ठकार आदेश हो । हर्यते—'हर्य' धातुसे 'कन्यन्' प्रत्यय और 'हर्य' को 'हिर' आदेश हो । कृञः पास—'कृ' धातुसे 'पास' प्रत्यय हो ।

बिल्वादित्वात्कार्पासम्। **ऊर्णोतेर्डः**। ऊर्णा। **दधातेर्यत् नुट् च**। धान्यम्॥ **चतेरुरन्**। चत्वारः। **प्राततेररन्**। प्रातः। **अमेस्तुट् च**। अन्तः। **दहेर्गो लोपो दश्च नः**। दहेर्गप्रत्ययो धातोरन्त्यस्य लोपो दस्य नः। नगः। **हन्तेरच् घुर च**। घोरम्। **तरतेर्डिः**। त्रयः। त्रीन्। **ग्रहेरनिः**। ग्रहणिः। **प्रथेरमच्**। प्रथमः। **चरेश्च**। चरमः। **मङ्गेरलच्**। मङ्गलम्। इत्युणादिप्रकरणम्।

इति रूपम्। कृञ इति। कृधातोः पासः स्यात्। कर्पास इति। कृधातोः पासप्रत्यये गुणे रपरत्वे सुधादिकार्ये 'कर्पासः' इति भवति। ऊर्णोतेरिति। डः स्यात्। ऊर्णुधातोर्डप्रत्यये टेर्लोपे टापि सुधादिकार्ये 'ऊर्णा' इत्यस्य सिद्धिः। दधातेरिति। धाधातोर्यत्प्रत्यये नुडागमे सुधादिकार्ये 'धान्यम्' इति रूपम्। प्राततेरिति। प्रपूर्वादतधातोः अरनि सुधादिकार्ये 'प्रातः' इति रूपम्। अमेरिति। अमधातोः अरनि तुटि सुधादिकार्ये 'अन्तः' इति रूपम्। दहेरिति। दहधातोः गप्रत्यये हलोपे दस्य नत्वे सुधादिकार्ये 'नगः' इति रूपम्। हन्तेरिति। अच्प्रत्ययः स्यात् घुर चादेश-श्चेत्यर्थः। हन्धातोरचि घुरचादेशे सुधादिकार्ये 'घोरम्' इति। तरतेरिति। ड्रिः स्यात्। तृधातोः ड्रिप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे 'त्रि' इति जाते जसि गुणेऽयादेशे रुत्वे विसर्गे रूपम्। ग्रहेरिति। ग्रहधातोरनिप्रत्यये सुधादिकार्ये रूपम्। प्रथेरिति। अमच् स्यात्। प्रथ्धातोरमचि सुधादिकार्ये प्रथमः इति। चरेश्चेति। अमच् स्यात्। चरधातोरमचि सुधादिकार्ये 'चरमः' इति रूपम्। मङ्गेरिति। अलच्। मङ्गधातोरलचि सुधादिकार्ये 'मङ्गलम्' इति सिध्यति। इत्युणादिः।

कृञः—'कृ' धातुसे 'पास' प्रत्यय हो। ऊर्णोतेर्डः—'ऊर्णु' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो।

दधातेर्यत्—'धा' धातुसे 'यत' प्रत्यय और 'नुट्' का आगम हो। चतेरुरन्—'चत' धातुसे 'उरन्' प्रत्यय हो। प्राततेररन्—'प्र' उपसर्गक 'अत्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय हो।

अमेस्तुट् च—'अम्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय और 'तुट्'का आगम हो। दहेर्गो—'दह्' धातुसे 'ग' प्रत्यय, धातुके अन्त्यका लोप और धातुके दकारको नकार आदेश भी हो।

हन्तेरच्—'हन्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय और धातुको 'घुर' आदेश भी हो।

तरतेर्ड्रिः—'तृ' धातुसे 'ड्रि' प्रत्यय हो। ग्रहेरनिः—'ग्रह्' धातुसे 'अनि' प्रत्यय हो।

प्रथेरमच्—'प्रथ' धातुसे 'अमच्' प्रत्यय हो।

चरेश्च—'चर्' धातुसे भी 'अमच्' प्रत्यय हो।

मङ्गेरलच्—'मङ्' धातुसे 'अलच्' प्रत्यय हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें उणादिप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ उत्तरकृदन्तप्रकरणम्

उणादयो बहुलम् ।३।३।१। एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः । केचिदविहिता अप्यूह्याः ।

'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु' ॥

दाशगोघ्नौ संप्रदाने ।३।४।७३। एतौ निपात्येते । दाशन्ति तस्मै दाशः । गां हन्ति तस्मै गोघ्नः अतिथिः । **तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्** ।३।३।१०। क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः । मान्तत्वादव्ययत्वम् । कृष्णं द्रष्टुं याति । कृष्णं दर्शको याति । **कालसमयवेलासु तुमुन्** ।३।३।१६७। कालः समयो वेला अनेहा वा भोक्तुम् ॥ **भावे** ।३।३।१८। सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् । पाकः ॥ **अकर्तरि च कारके**

संज्ञास्विति । संज्ञासु-अनादिसंज्ञासु । धातुरूपाणि कल्प्यन्ते इति शेषः, यथा—'ह्वेर्शल्च्' इति विहितमुलच्प्रत्ययं कृत्वा शाङ्कः प्रकृतिः कल्प्यते तेन शङ्कुलेति सिध्यति । कार्याद्विद्यादिति । क्वचित् हृस्वादौ गुणप्रतिषेधादिकार्यानुरोधात् अनुबन्धं ककारादिकं विद्यादित्यर्थः । एतच्छास्त्रमुणादिष्विति । एतत् सर्वमुणादिषु शास्त्रं शास्ति सम्यगित्यर्थः । दाशगोघ्नाविति ॥ अप्प्रत्ययान्तौ निपातनमेतत् । दाशहन धात्वो निपातनात् उपधाया दीर्घलोपौ कृत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'दाशः-गोघ्नः' इति रूपे भवतः । संप्रदानार्थे एव, तेन दाशन्ति तस्मै-गां हन्ति इति विग्रहवाक्ये भवतः । पाकः । पच्धातोः 'भावे' इति घञि, 'लशक्वतद्धिते' इति घस्य 'हलन्त्यम्' इति अस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'पच्+अ' इति जाते, 'अत उपधायाः' इति अकारस्य वृद्धौ, 'चजोः कु घिण्यतोः' इति चस्य कुत्वे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ, उत्वे, सस्य

उणादयो—धातुसे वर्तमान कालमें और संज्ञामें उणादि प्रत्यय हों, बहुत प्रकारसे (पूरा प्रकरण [illegible] पृ० २८७ में देखो)

संज्ञासु—संज्ञा (डित्थादि शब्दों) में धातु की कल्पना करनी चाहिये और फिर उससे प्रत्ययकी कल्पना करनी चाहिये । तथा प्रयोगोंमें गुणाभाव अथवा वृद्धि आदि कार्योंको देखकर प्रत्ययोंसे अनुबन्ध (कित्, ञित्, णित्, नित् आदि) की कल्पना भी करनी चाहिये—यही उणादिमें विशेषता कही गई है ।

दाशगोघ्नौ—'दाश' और 'गोघ्न' निपातन हों, सम्प्रदानमें । तुमुन्ण्वुलौ—क्रियार्थक क्रिया उपपद रहने पर भविष्यत् अर्थमें धातुसे 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय हों ।

कालसमय—काल, समय और वेला उपपद रहने पर धातुसे 'तुमुन्' प्रत्यय हो ।
भावे—सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थवाच्य हो तो धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो । अकर्तरि च—कर्तृभिन्न

संज्ञायाम् ३।३।१९। कर्तृभिन्ने कारके घञ् ॥ **घञि च भावकरणयोः ।६।४।२७।** रञ्जेर्नलोपः । रागः । अनयोः किम् ? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः ॥ **निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ।३।३।४१।** एषु चिनोतेर्घञ्, आदेश्च कः । उपसमाधानं राशीकरणम् । निकायः । आकायम् । कायः । गोमयनिकायः ॥ **एरच् ।३।३।५६।** इवर्णान्तादच् । चयः ॥ **ऋदोरप् ।३।३।५७।** ऋदन्तादुवर्णान्तादप् । करः । गरः । शरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः । (**घञर्थे कविधानम्**) प्रस्थः । विघ्नः ॥ **ड्वितः क्त्रिः ।३।३।८८।** भावे, स्वभावात् ॥ **क्त्रेर्मम् नित्यम् ।४।४।२०।** क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप् निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम् । डुवप्-उप्त्रिमम् ॥ **ट्वितोऽथुच् ।३।३।८९।** अयमपि भावे । टुवेपृ कम्पने-वेपथुः । श्वयथुः । **यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ।३।३।९०।** यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः ।

त्वे च 'पाकः' इति रूपम् । निकायः । निपूर्वकचिधातोः 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' इति घञि, आदेः—चेश्चकारस्य कुत्वे, घकारञकारयोर्लोपो 'नि कि+अ' इति भूते अस्य आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे 'निकय्+अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ, उलोपे, रुत्वे विसर्गे च, 'निकायः' इति जायते । करः । कृधातोः 'ऋदोरप्' इत्यपि, पलोपे, आर्धधातुकसंज्ञायाम्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे, 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते, संयोगे कृते, विभक्तिकार्ये च 'करः' इति रूपम् । एवमेव गृधातोः 'ऋदोरप्' इत्यपि कृते बोध्यम् । विघ्नः । विपूर्वकहन्धातोः 'घञर्थे कविधानम्' इति के, कलोपे, आर्धधातुकसंज्ञायाम्, 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' इत्युपधाकारस्य लोपे, 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हस्य कुत्वेन घत्वे, विभक्तिकार्ये च कृते, 'विघ्नः' इति रूपम् । यज्ञः । यज्धातोः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' इति नङि प्रत्यये, ङलोपे, 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन नस्य ञत्वे जञोः संयोगेन ज्ञे जाते, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । याच्ञा । याच् धातोः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' इति नङि, ङलोपे, श्चुत्वे टापि, विभ-

---

कारक अर्थमें धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, संज्ञामें । घञि च—'रञ्ज्' धातुके नकारका लोप हो, घञ् प्रत्ययके परे—भाव और करणमें । निवास—निवासादि अर्थमें 'चिञ्' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो और धातुके आदि चकारको ककार भी हो । एरच्—इवर्णान्त धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो । ऋदोरप्—ऋवर्णान्त और उवर्णान्त धातुसे 'अप्' प्रत्यय हो । घञर्थे—घञर्थ में 'क' प्रत्यय हो । ड्वितः क्त्रिः—'डु' इत्संज्ञक धातुसे 'क्त्रि' प्रत्यय हो, भावमें ।

क्त्रेर्मम्—'क्त्रि' प्रत्ययान्तसे तद्धित संज्ञक 'मप्' प्रत्यय हो, निर्वृत्त अर्थमें ।

ट्वितोऽथुच्—'ट्वित' धातुसे 'अथुच्' प्रत्यय हो, भावमें । यजयाच—यज्, याच,

रक्षः । स्वपो नन् ।३।३।९१। स्वप्नः ॥ उपसर्गे घोः किः ।३।३।९२। प्रधिः । उपधिः ॥ स्त्रियां क्तिन् ।३।३।९४। स्त्रीलिङ्गे भावादौ क्तिन् । घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः । (ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः) तेन नत्वम्, कीर्णिः । गीर्णिः । धूनिः । लूनिः । पूनिः ॥ (संपदादिभ्यः क्विप्) । सम्पत् । विपत् । आपत् । (क्तिन्नपीष्यते) सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ॥ ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ।३।३।९७। एते निपात्यन्ते ॥ कृञः ।३।३।१००। क्यप् । कृत्या ॥ श च ।३।३।१००। कृञः श । चात् क्तिन् । प्रकरणम्—प्रक्रिया । कृतिः । इच्छा ।३।३।१०१। इषेर्निपातोऽयम् ॥ अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२। प्रत्ययान्तेभ्यः स्त्रियामकारप्रत्ययः । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ॥ गुरोश्च हलः ।३।३।१०३।

विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । एवं सर्वत्र । कृतिः । करणं कृतिः, इत्यत्र कृधातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिनि, कस्य नस्य च लोपे, कित्त्वाद्गुणाभावे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । कीर्णिः । कॄधातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिनि, अनुबन्धलोपे, कित्त्वाद्गुणाभावे, 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'कीर्ति' इति जाते, 'ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्य' इति निष्ठावद्भावेन 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति तस्य नत्वे, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति नस्य णत्वे, विभक्तिकार्ये च कृते 'कीर्णिः' इति । चिकीर्षा । कृ धातोः सनि, इडभावे, 'इको झल्' इति सनः कित्त्वे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे, 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'हलि च' इति दीर्घे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये सनः सस्य षत्वे च जाते, 'चिकीर्ष' इति भूते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् तस्मात् चिकीर्षधातोः 'अ प्रत्ययात्' इति अप्रत्यये, 'अतो लोपः' इति

यज, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् धातुसे 'नङ्' प्रत्यय हो । स्वपो नन्—स्वप् धातुसे नन् प्रत्यय हो । उपसर्गे—उपसर्ग उपपदक घुसंज्ञक धातुसे 'कि' प्रत्यय हो । स्त्रियां क्तिन्—भाव और कर्तृभिन्न कारक अर्थमें धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय हो । सम्पदा—सम्पदादि धातुओं तथा ल्वादि धातुओंसे पर जो 'क्तिन्' वह निष्ठावत् हो । सम्पदा—सम्पदादि धातुओंसे स्त्रीलिङ्ग भावमें 'क्विप्' प्रत्यय हो ।

क्तिन्नपीष्यते—सम्पदादिसे 'क्तिन्' प्रत्यय भी हो ।

ऊतियूति—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति, कीर्ति—इन शब्दोंका निपातन हो ।

कृञः—'कृञ्' धातुसे 'क्यप्' प्रत्यय हो—स्त्रीलिङ्गमें । श च—'कृञ्' धातुसे 'श' प्रत्यय हो और चकारात् 'क्तिन्' प्रत्यय भी हो—स्त्रीलिङ्गमें । इच्छा—'इष्' धातुसे 'इच्छा' शब्द निपातन हो । अ प्रत्ययात्—प्रत्ययान्तसे 'अ' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

गुरोश्च—गुरुमान् हलन्त धातुसे स्त्रीलिङ्गमें 'अ' प्रत्यय हो ।

गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियामप्रत्ययः। ईहा। ऊहा॥ **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** ।३।३।१०४। जॄष् 'ऋदृशोऽङि गुणः'। जरा। त्रपूष्, त्रपा। भिदा। विदारण एवायम्। भित्तिरन्या। छिदा। मृजा। (**कृपेः संप्रसारणं च**)। कृपा॥ **आतश्चोपसर्गे** ।३।३।१०६। अङ् स्यात्। उपदा। अन्तर्द्धा॥ **ण्यासश्रन्थो युच्** ।३।३।१०७। अस्यापवादः। कारणा॥ **रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्** ।३।३।१०८। प्रच्छर्दिका।

मनोऽकारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे टापि, अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे, तस्मात् सौ, उलोपे, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इति सलोपे कृते 'चिकीर्षा' इति रूपम्। पुत्रकाम्या। आत्मानं पुत्रमिच्छति इत्यर्थे 'काम्यच्' इति काम्यचि, चलोपे, पुत्रकाम्य इति भूते, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्, तस्मात् पुत्रकाम्य इति धातोः 'अप्रत्ययात्' इति अप्रत्यये, 'अतो लोपः' इति काम्यगताकारलोपे अप्रत्ययेन संयोगे कृते, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, टापि, अनुबन्धलोपे, सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः। षिद्भिदादीति॥ षकार इत्संज्ञो येषां ते षितस्तेभ्य इत्यर्थः। तथा भिदादिगणपठितेभ्यश्चाङ् स्यादिति स्पष्टः सूत्रार्थः। जरेति॥ साधयति-'जॄष्' धातोः षित्त्वात् 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङि 'ऋदृशोऽङि गुणः' इति गुणेऽकारान्तत्वात् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि सवर्णदीर्घे सौ 'हल्ङ्यादिलोपे' 'जरा' इति रूपम्। एवं त्रपेत्यपि। भिदादिगणमुदाहरति। एवं भिदादिष्वपि 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङि टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपाणि बोध्यानि। कृपेरिति। चकारादङपि स्यादिति बोध्यम्। केवलस्य संप्रसारणस्याप्रयुक्तत्वात्। कृपा। कृपधातोरङि सम्प्रसारणेन रेफस्य ऋत्वे, 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे ङित्त्वेन गुणाभावे टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'कृपा' इति रूपसिद्धिः। आतश्चेति। 'षिद्भिदादिभ्यः' इत्यतो अङिति अनुवर्तते। उपसर्गे उपपदे आकारान्ताद्धातोरङ् स्यादिति भावः। उपदेति। उपपूर्वाद्दाधातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति अङि 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे टापि सौ 'हल्ङ्यादिलोपे 'उपदा' इति रूपं प्रभवति। अन्तर्धा। अन्तः पूर्वाद्धाधातोः 'अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्' इति वार्तिकेनोपसर्गत्वे 'आतश्च' इत्यङि 'आतो लोप' इत्यालोपे टापि सवर्णदीर्घे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'अन्तर्धा' इति रूपं भवति। रोगाख्यायेति। रोगस्य आख्या नामधेय तस्मिन् बोध्ये धातोः ण्वुल् स्यात्, बहुलम्-'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।'

षिद्भिदादिभ्योऽङ्—षकारेत्संज्ञक धातु और भिदादि धातुओंसे स्त्रीलिंगभावमें 'अङ्' प्रत्यय हो। कृपेः सम्प्रसारणं च—'कृप्' धातुसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अङ्' प्रत्यय और धातुको सम्प्रसारण हो। आतश्चोप—उपसर्गोपपदक आदन्त धातुसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अङ्' प्रत्यय हो। **ण्यासश्रन्थ**—ण्यन्त धातु 'आस्' धातु और 'श्रन्थ' धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्ग और भावमें। **रोगाख्यायां**—प्रत्ययान्त समुदाय यदि रोगविशेषकी संज्ञा हो तो, धातुसे

प्रवाहिका । विचर्चिका । कचित्,-शिरोर्त्ति । (धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्वक्तव्यः) आसिका । (इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे) । पचि । पचति । (वर्णात्कारः) निर्देश इत्येव । अकार । ककार । (रादिफ) । रेफ ॥ नपुंसके भावे क्त ।३।३।११४। ल्युट् च ।३।३।११५। हसितम् । हसनम् ॥ करणाधिकरणयोश्च ।३।३।११७। ल्युट् । अनुमान । अनुमानी ॥ पुंसि संज्ञायां घ प्रायेण ।३।३।११८। छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ।६।४।९६। द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे । दन्तच्छद । आकुर्वन्त्यस्मिन्निति आकर ॥ अवे तॄस्त्रोर्घञ् ।३।३।१२०।

इति विस्तरः । प्रच्छर्दिका-प्रवाहिका । प्रपूर्वात् वहधातोः 'रोगाख्यायाम्' इति ण्वुलि 'युवो' इत्यकि णित्वेन आर्धधातुकत्वाच्च 'अत उपधायाः' इति 'पुगन्त' इति वृद्धिगुणौ टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपे भवतः । विचर्चिका । विपूर्वात् चर्च धातोः 'रोगाख्यायाम्' इति ण्वुलि अकि टापि इत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'विचर्चिका' इति रूपं भवति । कचिदेति बाहुलकमूर्ति दर्शयति— शिरोर्त्तिरिति । अत्र न ण्वुल्, बाहुलकात् । धात्वर्थेति । धातोरर्थो धात्वर्थस्तस्मिन्निर्दिश्ये धातोर्ण्वुल् वक्तव्य इत्यर्थः । उदाहरति—आसिकेति । आस्धातोः 'धात्वर्थ' इति ण्वुलि उपधादीर्घे 'युवो' इत्यकि टापि 'प्रत्ययस्थात्' इतीकारे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'आसिका' इति रूपम् । इक्श्तिपाविति । केवल धातुनिर्देशेऽनुबन्धरहिते एतौ स्तः । पाकः पचति । 'डुपचष्' इति धातुस्वरूपत्वेऽपि अनुबन्धरहितात् पचस्वरूपात् इकि सौ रुत्वे विसर्गे 'पचिः' इति रूपम् । यदा श्तिपस्याचक्षित्वेन सार्वधातुकत्वात् 'तुदादिभ्यः शः' इति शविकरणे सौ रुत्वे विसर्गे 'पचतिः' इति रूपम् । वर्णादिति । वर्णत्वञ्च अल्मात्रावच्छेदकधर्मवत्त्वम् । तस्मिन् बोध्ये कारप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अकार—ककार । अत्राल्मात्रावच्छेदको यो धर्मः 'अत्व-कत्व' धर्मः तद्धर्मवन्तौ अकौ तद्बोधयितुं कारप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे 'अकार' 'ककार' इति । रादिफ । रकारस्य रत्वधर्मावच्छिन्नत्वेन तद्धर्मवत्त्वात्कारप्रत्यये प्राप्ते तद्बाधित्वा इफप्रत्यये 'आद्गुणः' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'रेफ' इति रूपसिद्धिः ।

'ण्वुल्' प्रत्यय हो, बहुल प्रकारसे । धात्वर्थनिर्देशे—धात्वर्थके निर्देशमें धातुसे ण्वुल् प्रत्यय हो । इक्श्तिपौ—धातुके निर्देशमें धातुसे 'इक्' और 'श्तिप्' प्रत्यय हों । वर्णात्कार—वर्णके निर्देशमें वर्णसे 'कार' प्रत्यय हो ।

रादिफ'—रकारके निर्देशमें 'र' से 'इफ' प्रत्यय हो । नपुंसके—धातुसे 'क्त' प्रत्यय हो, नपुंसकमें और भावमें । ल्युट च—धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय भी हो, नपुंसक और भावमें करणाधि-करण और अधिकरण अर्थमें धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय हो । पुंसि संज्ञायां—पुंलिंगमें संज्ञामें धातुसे प्राय 'घ' प्रत्यय हो, करण और अधिकरण अर्थमें । छादेर्घे—द्विप्रभृति उप-सर्गहीन णिजन्त 'छद' की उपधाको ह्रस्व हो, 'घ' के परे । अवे तॄस्त्रोर्घञ्—अवपूर्वक

अवतारः। अवस्तारो जवनिका ॥ हलश्च ।३।३।१२१। हलन्ताद्घञ् घापवादः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिकमित्यपामार्गः ॥ **ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्** ।३।३।१२६। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। 'तयोरेवे'ति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे-दुष्करः कटो भवता। अकृच्छ्रे-ईषत्करः। सुकरः ॥ **आतो युच्** ।३।३।१२८। खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः ॥ **आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः** ।३।३।१७०। अवश्यं कारी। शतं दायी ॥ **कृत्याश्च** ।३।३।१७१। तथा धातोः। अवश्यं हरिः सेव्यः। शतं देयम् ॥ **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** ।३।३।१७४। आशिषि। तातिः। भूतिः। शिवो देयादेनं शिवदत्तः ॥ **अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा** ।३।४।१८।

अवतारः। अवोपसर्गपूर्वक तॄ धातोः 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' इति घञि, घस्य ञस्य चेत्संज्ञायां लोपे च अस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, रपरे, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'अवतारः' इति सिद्धम्। अपामार्गः। अपोपसर्गक मृज् धातोः 'हलश्च' इति घञि, अनुबन्धलोपे 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति जस्य कुत्वेन गत्वे, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति अपाकारस्य दीर्घे, कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे, सौ, उलोपे, सस्य रुत्वे, रेफस्य विसर्गे च 'अपामार्गः' इति। कृत्याश्चेति। 'कृत्याः'.इत्यधिकारस्थाः तव्यानीयरादिप्रत्ययाः धातोः स्युरिति भावः। सेव्यः। सिव् धातोर्ण्यति 'पुगन्त' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'सेव्यः' इति रूपम्। देयमिति। दाधातोः 'अचो यत्' इति यति 'ईद्यति' इतीति गुणे सौ 'अतोऽम्' इत्यमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'देयम्' इति। क्तिजिति। धातोराशीरर्थे एतौ स्तः संज्ञायाम्। तातिः। तनधातोः 'क्तिच् क्तौ' इति क्तिप्रत्यये ककारलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'तातिः' इति। शिवदत्त इति। शिवो देयादेनमिति आशीरर्थे शिवपूर्वकदाधातोः 'क्तिच् क्तौ च संज्ञा-

---

'तॄ' और 'स्तॄ' धातुसे प्रायः 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें। हलश्च—करण और अधिकरण अर्थमें हलन्त धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें।

ईषद्दुःसुषु—दुःखार्थक तथा सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर धातुसे 'खल्' प्रत्यय हो, भाव और कर्ममें। **आतो युच्**—दुःखार्थक और सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर आदन्त धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो (यह 'खल्' का अपवादक है) **आवश्यका**—आवश्यक और आधमर्ण्य (लेन-देन) अर्थ गम्यमान रहने पर धातुसे कर्ता अर्थमें 'णिनि' प्रत्यय हो। **कृत्याश्च**—आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थमें धातुसे 'कृत्य' प्रत्यय हो। **क्तिच्क्तौ च**—आशीर्वाद अर्थमें धातुसे 'क्तिच्' और 'क्त' प्रत्यय हो, संज्ञामें।

अलंखल्वोः—प्रतिषेधार्थक 'अलम्' तथा 'खलु' उपपदक धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो,

प्राचामिति पूजार्थम् । प्रतिषेधयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा । 'दो दद् घोः' । अलं दत्त्वा । 'घुमास्था' इतीत्वम् । पीत्वा खलु । अलंखल्वोः किम् ? मा कार्षीः । प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः ॥ **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ।३।४।२१।** समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा । 'अव्ययकृतो भावे' । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् । स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ॥ **न क्त्वा सेट् ।१।२।१८।** सेट् क्त्वा किन्न । शयित्वा । सेट् किम् ? कृत्वा ॥ **रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ।१।२।२६।** इवर्णोवर्णोपधाद्धलादेरलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । द्युतित्वा । द्योतित्वा । लिखित्वा । लेखित्वा । व्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रलः किम् ? सेवित्वा । हलादेः किम् ? एषित्वा । सेट् किम् ? भुक्त्वा ॥ **उदितो वा ।७।२।५६।** उदितः परस्य क्त्व इड् वा । शमित्वा । शान्त्वा । देवित्वा । 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति ऊठ् । द्यूत्वा । दधातेर्हि । हित्वा ॥ **जहातेश्च क्त्वि ।७।४।४३।** हित्वा । हाङस्तु—हात्वा ॥ **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ।७।१।३७।** अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः । तुक् , प्रकृत्य । अनञ् किम् ? अकृत्वा । पर्युदासाश्रयणादिह,—परम-

---

धाम्' इति क्तप्रत्यये 'शिव-दा-त' इति जाते 'दो दद्घोः' इति ददादेशे 'खरि च' इति तत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'शिवदत्तः' इति रूपम् । अलं दत्वेति । दानेन किञ्चिदपि साध्य नास्तीत्यर्थः । अत्र साध्यते—अलं पूर्वकदाधातोः 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्यये कलोपे 'दोदद्घोः' इति दाधातोर्ददादेशे 'खरि च' इति दस्य तत्वे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ समासे 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इति अव्यय संज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च कृते 'अलं दत्त्व' इति । द्युतित्वा, द्योतित्वा । द्युत् धातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये ककलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे, 'न क्त्वा सेट्' इति कित्वनिषेधे प्राप्ते 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' इति क्त्वाप्रत्ययस्य वैकल्पिके कित्वे, 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधे च जाते, 'द्युतित्वा' इ... । कित्वाभावपक्षे—

भावमें । (यहां सूत्रमें 'प्राचां' ग्रहण विकल्पार्थक नहीं है, प्रत्युत पू[जार्थ]क है)

समानकर्तृकयोः—समानकर्तृक धातुओं में पूर्वकालिक [क्रि]या की धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो, भावमें । न क्त्वा—'इट्' सहित 'क्त्वा' 'कित्' नहीं है । रलो व्युपधात्—इवर्णोवर्णोपध हलादि रलन्त धातुओंसे पर सेट् 'क्त्वा' और '[सन्]' कित् हों, विकल्पसे । उदितो—उदित् धातुसे पर 'क्त्वा' को इट् हो, विकल्पसे । ज[हा]तेश्च—'हा' (ओहाक्) धातुको 'हि' आदेश हो, 'क्त्वा' प्रत्ययके परे । समा[से]ऽन[ञ्पूर्वे]—अव्ययपूर्वपदक 'अनञ्'

क्त्वा ॥ वा ल्यपि ।६।४।३८। अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपः। स च व्यवस्थितः। (मान्तानिटां वा)। (नान्तानिटां नित्यम्)। आगम्य, आगत्य। प्रहत्य। अदो जग्धिः। प्रजग्ध्य ॥ न ल्यपि ।६।४।६९। घुमास्थेतीत्वम्। प्रधाय। प्रमायेत्यादि ॥ आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ।३।४।२२। पौनःपुन्ये द्योत्ये क्त्वाविषये णमुल् क्त्वा च ॥ नित्यवीप्सयोः ।८।१।४। आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात्। आभीक्ष्ण्ये तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु

'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे कृते 'द्योतित्वा' इति। वा ल्यपीति। 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' इति सर्वमनुवर्तमाने ल्यपि परतस्तु तद्विभाषया प्रवर्तते। विभाषाऽपि व्यवस्थितरूपेण गृह्यते। विभाषाया व्यवस्थितिं दर्शयति—मान्तानिटां वेति। मान्तधातुरनिट्श्चेत्तस्य ल्यपि परतो वाऽनुनासिकलोप इत्यर्थः। नान्तानिटां नित्यमिति। ये धातवो नान्ताः अपि चानिटः तेषामनुनासिकस्य नित्यं लोप इति भावः। आगत्येति। आङ्पूर्वाद् गम्धातोः 'समान' इति क्त्वाप्रत्यये 'समासेऽनञ्' इति ल्यबादेशे 'आगम्-य' इति जाते 'मान्तानिटां वा' इति वा मलोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ 'अव्ययादाप् सुपः' इति सोर्लोपे 'आगत्य' इति रूपम्। यदा मलोपो न स्यात्तदा 'आगम्य' इत्येव रूपं भवति। प्रहत्येति। प्रपूर्वाद्धन् धातोः क्त्वाप्रत्यये 'समासे' ल्यपि 'नान्तानिटां नित्यम्' इति नलोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ 'अव्ययत्वात्सुलोपे 'प्रहत्य' इति रूपं प्रभवति। प्रजग्ध्य। प्रपूर्वादद्धातोः क्त्वाप्रत्यये ल्यपि 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' इति जग्ध्यादेशे सौ अव्ययत्वात्सुलोपे 'प्रजग्ध्य' इति रूपस्य सिद्धिः। न ल्यपीति। 'घुमास्था' इति सर्वमनुवर्तते। तदीत्वं ल्यपि परतो नेत्यर्थः। प्रमाय। प्रपूर्वाभ्यां डुधाञ्माभ्यां क्त्वाप्रत्यये ल्यपि 'घुमास्था' इतीत्वे प्राप्ते 'न ल्यपि' इत्यनेन निषेधे सौ अव्ययात्स-

---

समासमें 'क्त्वा' के स्थानमें 'ल्यप्' आदेश हो। वा ल्यपि—अनुदात्तोपदेश धातु, वन धातु और तनोत्यादि धातुओं के अनुनासिक का लोप हो, 'ल्यप्' के परे, विकल्पसे।

स च व्यवस्थितः—'वा ल्यपि' से अनुनासिकका लोप व्यवस्थित (निश्चित) हो। उसीका निरूपण करते हैं—मान्तानिटां वा—पूर्वोक्त अनुदात्तोपदेशादि धातुगत मान्त अनिट् धातुओंके अनुनासिकका लोप विकल्पसे हो, और 'नान्तानिटां'—नान्त अनिट् धातुओंके तथा वनादि धातुओं के अनुनासिक का लोप नित्य हो।

न ल्यपि—'ल्यप्'के परे घुसंज्ञक धातु, 'मा' धातु और स्थादि धातुओं के आकारको ईत्व नहीं हो। आभीक्ष्ण्ये—पौनःपुन्य अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय और 'क्त्वा' प्रत्यय हो। नित्यवीप्सयोः—पौनःपुन्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य हो तो पदको द्वित्व हो।

च। पचति पचति। स्मारं स्मारं नमति गुरुम्। स्मृत्वा स्मृत्वा। पायम् २। भोजम् २। श्रावम् २। **अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्** ।३।४।२७। एषु कृञो णमुल् स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत्कृञ्। व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः। अन्यथाकारम्। एवंकारम्। कथंकारम्। इत्थंकारं भुङ्क्ते, इत्थं भुङ्क्त इत्यर्थः। सिद्धेति किम्? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते॥ **यावति विन्दजीवोः** ।३।४।३०। यावद्वेदं भुङ्क्ते। यावल्लभते तावदित्यर्थः। यावज्जीवमधीते॥ **निमूलसमूलयोः कषः** ।३।४।३४। कर्मण्युपपदे॥ **कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः** ।३।४।४६। यस्माण्णमुलुक्तः स एवानुप्रयोक्तव्यः। निमूलकाषं कषति। समूलकाषं कषति। निमूलं समूलं कषतीत्यर्थः॥ **शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः** ।३।४।३५।

लोपे प्रयाय-प्रमाय अनयोः सिद्धिः। स्मारं-स्मारम्। स्मृधातोः 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति णमुलि, णकारोकारलकारलोपे 'स्मृ-अम्' इत्यवस्थिते, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, रपरे च 'स्मारम्' इति जाते, 'नित्यवीप्सयोः' इति द्वित्वे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वात्सौ, 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वे, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुकि, मस्यानुस्वारे च 'स्मारं स्मारं नमति शिवम्' इति सिद्धम्। अन्यथाकारम्। अन्यथापूर्वकृञ्धातोः 'अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्'। इति णमुलि, अनुबन्धलोपे, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ, अव्ययत्वात्सुपो लुकि 'अन्यथाकारम्' इति रूपम्। एवमेव 'एवंकारम्' इत्यादि। यावति विन्दजीवोः। यावच्छब्दे उपपदे विन्दते जीवतेश्च णमुल् स्यादित्यर्थः। 'अकर्मधातुभिर्योगे' इति यावत् शब्दस्य कर्मत्वाद् द्वितीया। यावद्वेदं भुङ्क्ते। यावन्तं कालं विन्दति तावन्तं कालं भुङ्क्ते इत्यर्थे यावत्पूर्वाद् विन्दधातोः 'यावति विन्दजीवोः' इति णमुलि णमुल आर्धधातुकत्वात् 'पुगन्त' इति गुणे सौ मान्तत्वादव्ययत्वे सोर्लोपे 'यावद्वेदं भुङ्क्ते' इत्यस्य सिद्धिः। यावज्जीवमधीते। यावन्तं कालं जीवति तावन्तं कालम् 'अधीते' इत्यर्थे जीवधातोः 'यावति विन्दजीवोः' इति णमुलि 'यावज्जीवम्' इति जाते सौ मान्तत्वादव्ययत्वे 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लुकि 'यावज्जीवम्' इति रूपम्। निमूलेति। निमूले समूले च कर्मण्युपपदे कषेर्णमुल् इत्यर्थः। कषादिष्विति। 'निमूल' इत्यतः 'उपमाने कर्मणि च' इत्यन्त इति भावः। निमूलकाष-समूलकाष-कषति। निमूलं समूलञ्च कषति इत्यर्थः

अन्यथैव—अन्यथा, एवम्, कथम्, या इत्थम् अव्यय उपपदक 'कृञ्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो, यदि वह 'कृञ्' धातु व्यर्थ होनेसे प्रयोगानर्ह हो रहा हो तो।

यावति—'यावत्' इस अव्यय उपपदक विन्द् (विद्लृ लाभे) धातु और जीव धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो। निमूलसमूलयोः—कर्मसंज्ञक निमूल या समूल उपपदक 'कष' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो। कषादिषु—कषादि धातुओंमें जिस धातुसे णमुल् कहा गया है, उसी धातुका अनुप्रयोग हो। शुष्कचूर्णे—कर्मसंज्ञक शुष्कादि उपपदक 'पिष्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो।

एषु कर्मसु पिषेर्णमुल्। शुष्कपेषं पिनष्टि। शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः। चूर्णपेषम्। रूक्षपेषम्॥ **समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः ।३।४।३६।** कर्मणीत्येव। समूलघातं हन्ति। अकृतकारं करोति। जीवग्राहं गृह्णाति, जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः। **करणे हनः ।३।४।३७।** पादघातं हन्ति, पादेन हन्तीत्यर्थः॥ **स्नेहने पिषः ।३।४।३८।** स्निह्यते येन तस्मिन्करणे पिषेर्णमुल्। उदपेषं पिनष्टि, उदकेन पिनष्टीत्यर्थः॥ **हस्ते वर्तिग्रहोः ।३।४।३९।** हस्तार्थे करणे। हस्तवर्तं वर्तयति। करवर्तम्, हस्तेन गुलिकां करोतीत्यर्थः। हस्तग्राहं गृह्णाति। करग्राहम्। पाणिग्राहम्॥ **स्वे पुषः ।३।४।४०।** करण इत्येव। 'स्वे' इत्यर्थग्रहणम्। तेन स्वरूपे पर्याये विशेषे च णमुल्। स्वपोषं पुष्णाति। धनपोषम्। गोपोषम्॥

कषधातोर्णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'अत उपधायाः' उपधावृद्धौ सौ मान्तत्वादव्ययत्वे सुब्लुकि 'निमूलकाषम्' 'समूलकाषम्' अनयोः सिद्धिः। शाब्दबोधस्तु निमूलसमूलाऽभिन्नं कषणमिति स्वरूपात्मकः। शुष्केति। एषु कर्मसूपपदेषु पिषधातोर्णमुल् स्यात्। शुष्कपेषं-चूर्णपेषं-रूक्षपेषमिति। शुष्कं-चूर्णं—रूक्षं च पिनष्टि इति विग्रहे पिषधातोः 'शुष्कचूर्ण' इति णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ अव्ययत्वात्सुब्लुकि शुष्कपेषं-चूर्णपेषं-रूक्षपेषं पिनष्टि इति रूपाणि भवन्ति। अर्थस्तु-शुष्कं पिनष्टि-चूर्णं पिनष्टि-रूक्षं पिनष्टि' इति। समूलेति। एषूपपदेषु हन् कृञ् ग्रहेभ्यो णमुल् स्यादित्यर्थः। करणे हन इति। पादेन हन्ति इत्यर्थे पादेनेति करणोपपदात् हन् धातोर्णमुलि सुब्लुकि 'हनस्तो' इति तकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इत्यस्य घत्वे उपधावृद्धौ सौ अव्ययात्सुलोपे 'पादघातं हन्ति' इति रूपम्। स्नेहने पिष इति। 'करणे हनः' इत्यतः करणे इत्यनुवर्त्यते। अत आह-स्निह्यते येन करणभूतेन द्रव्येण तस्मिन्नुपपदे पिष् धातोर्णमुलित्यर्थः। उदपेषम्। उदकेन पिनष्टि इत्यर्थे करणपूर्वात् 'पिषः स्नेहने पिषः' इति णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि सौ मान्तत्वादव्ययत्वे सोर्लोपे 'उदपेषं पिनष्टि' इत्यस्य सिद्धिः। हस्ते वर्तिग्रहोरिति। 'करणे हनः' इत्यतः करणे इत्यनुवर्त्यते। हस्तार्थे करणे उपपदे वर्तिग्रहोर्णमुल् स्यादित्यर्थः। हस्तवर्तं-करवर्तं। हस्तेन-करेण वर्तयति इत्यर्थे वृतधातोर्णमुलि सुब्लुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ सोर्लोपे हस्तवर्तं-करवर्तम् इति। स्वपोषं पुष्णाति। स्वेन

समूला—समूलादि कर्मोपपदक हनादि धातुओंसे 'णमुल्' प्रत्यय हो।

करणे हनः—करणसंज्ञक सुबन्त उपपदक 'हन्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो।

स्नेहने—स्नेहवाचक करणसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर 'पिष्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो। हस्ते वर्ति—हस्तार्थक करण उपपदक ण्यन्त 'वृत' धातु और 'ग्रह्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो। स्वे पुषः—स्व (धन) वाचक करणसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर

समासत्तौ ।३।४।५०। तृतीयासप्तम्योर्णमुल् सन्निकर्षे । केशग्राहं युध्यन्ते । हस्तग्राहं युध्यन्ते ॥ **स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः ।३।४।६१।** क्त्वाणमुलौ स्तः । मुखतः कृत्य, मुखतः कृत्वा, मुखतः कारम्, मुखतोभूय, मुखतो भूत्वा, मुखतोभावम् ॥ इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥ इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ कारकप्रकरणम्

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।२।३।४६। नियतोप-

पुष्णाति इत्यर्थे पुषधातो 'स्वे पुषः' इति णमुलि सुब्लुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ मान्तत्वादव्ययत्वे सोर्लोपे 'स्वपोषं' इत्यस्य सिद्धिः । धनेन पुष्णातीत्यर्थे । पर्याये उदाहरति—धनपोषं पुष्णाति—धनेन पुष्णातीत्यर्थे करणोपपदात्पुषधातोः 'स्वे पुषः' इति णमुलि 'पुगन्त' इति गुणे सुब्लुकि सौ अव्ययत्वे सोर्लोपे 'धनपोषं' इति साध्नोति । विशेषमुदाहरति—गोपोषमिति । गवां पुष्णाति इत्यर्थे पुषधातोः 'स्वे पुषः' इति णमुलि सुब्लुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ अव्ययत्वादिकार्ये 'गोपोषं' इति रूपसिद्धिः । समासत्ताविति । समासत्तिपदं विवृणोति—सन्निकर्षे गम्यमाने इति । सन्निकर्षोऽत्यन्तसंयोगः । केशग्राहमिति । सन्निकर्षपरमेतत् । अत्यन्तं सन्निहिताः युध्यन्ते इत्यर्थे । केशैः केशेषु वा गृहीत्वा इति सन्निहितार्थे 'समासत्तौ' इति णमुलि सुब्लुकि 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ सौ अव्ययत्वात्सुब्लोपे 'केशग्राहं' इति साध्नोति ।

॥ इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥

प्रातिपदिकार्थेति । पदम्पदमिति प्रतिपदम्, प्रतिपदं भवं प्रातिपदिकम्, तस्यार्थः प्रातिपदिकार्थः । स च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं च प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि । तान्येवेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रं तस्मिन् 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति भाष्यो

'पुष्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो । समासत्तौ—यदि सन्निकर्ष अर्थ गम्यमान हो तो—तृतीयान्त और सप्तम्यन्त उपपदक धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

स्वाङ्गे तस्प्रत्यये—स्वाङ्गवाची 'तस्' प्रत्ययान्त उपपदक 'कृ' धातु या 'भू' धातुसे 'क्त्वा' और 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें उत्तरकृदन्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

प्रातिपदिकार्थ—प्रातिपदिकार्थ मात्रमें, लिंग मात्रकी अधिकतामें, परिमाण मात्रमें और

स्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा। प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे—तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः। वचनं सङ्ख्या। एकः। द्वौ। बहवः॥ सम्बोधने च।२।३।४७। प्रथमा। हे

त्वा द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमात्रपदस्य प्रत्येकमन्वयात्प्रातिपदिकार्थमात्र इत्याद्यर्थः सम्पद्यते। नियतोपस्थितिक इति। नियता-व्यापिका उपस्थितिर्यस्य स नियतोपस्थितिकः। यस्मिन्प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्येति। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति

संख्या मात्रमें प्रथमा विभक्ति होती है। सम्बोधने च—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो।

नोट—'भवेद्विभक्तिः प्रथमा कर्तृवाच्यस्य कर्तरि। सम्बद्धौ नाममात्रे च कर्मवाच्यस्य कर्मणि॥ क्वचिदव्ययोगे च प्रथमा कथ्यते बुधैः।'

'कारके'—इस अधिकार सूत्रका भी पाठ है (कारकविधायक प्रत्येक सूत्रमें इसका अधिकार जाता है। अतः सर्वत्र पहले कारक संज्ञा होकर ही कर्मादि संज्ञा होगी)।

क्रियाका जो साक्षात् जनक हो, उसे कारक कहते हैं। (साक्षात्—'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्।

निर्दुष्टलक्षणम्—'क्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपिताऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासमानाधिकरणविशेष्यतानिरूपिताऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयत्वम्।

कारक छः होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण।

१. क्रियासंपादनके विषयमें जो स्वतन्त्र (प्रधान) भावसे विवक्षित रहता है उसे 'कर्ता' कहते हैं ('क्रियासम्पादकः कर्ता') कर्ता से प्रथमा विभक्ति होती है।

२. संज्ञाके जिस रूप पर क्रियाके व्यापारका, फल पड़ता है, उसे कर्म कहते हैं (कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलवत्त्वप्रकारकेच्छानिरूपितविषयताश्रयत्वं कर्म) कर्मसे द्वितीया विभक्ति होती है।

३. जो क्रियाके व्यापारमें कर्ताका सहायक हो अर्थात् क्रियासिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक हो उसे 'करण' कहते हैं। करणसे तृतीया विभक्ति होती है।

४. (क) जिसको स्वसत्व निवृत्तिपूर्वक कोई वस्तु दी जावे उसे 'सम्प्रदान' कहते हैं। सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

(ख) जिस आकांक्षासे कोई कार्य किया जावे अर्थात् जो क्रियाकी प्रवृत्तिका फल हो उसे भी सम्प्रदान कहते हैं। (जैसे—मुक्तये हरिं भजति-मुक्तिके लिये हरिका भजन करता है)

५. परस्पर वियुक्त होने वाले पदार्थोंमें जो स्थिर हो अर्थात् जिससे विश्लेष (विभाग) अथवा दूर गमन सम्पन्न हो, उसे 'अपादान' कहते हैं। अपादानसे पञ्चमी विभक्ति होती है।

६. क्रियाश्रयभूत कर्ता और कर्म जिसमें अवस्थान करें उसे 'अधिकरण' कहते हैं। अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है। सम्बो—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो।

राम ॥ **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** ।१।४।४९। कर्तुः क्रिययाऽऽप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ॥ **कर्मणि द्वितीया** ।२।३।२। अनुक्ते । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमैव । हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितो हरिः । शतेन क्रीतः शत्यः अश्वः । प्राप्तानन्दश्चैत्रः । अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः । क्वचिन्निपातेनाभिधानम् । 'कमादमु नारद इत्यबोधि सः' ॥ **अकथितं च** ।१।४।५१। अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥

गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीर-

---

स्यापादिति भावः । दुह्याच् पच् इति । दुह प्रपूरणे । टुयाचृ याच्ञायाम् । डुपचष् पाके । दण्ड दण्डनिपातने । रुधिर् आवरणे । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । चिञ् चयने । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । शासु अनुशिष्टौ । जि जये । मन्थ विलोडने । मुष स्तेये । णीञ् प्रापणे । हृञ् हरणे । कृष विलेखने । वह प्रापणे । एषां धातूनां कर्मणा युक्तं कर्माकथितं कर्म इत्युच्यते इत्यर्थः । गां दोग्धि पयः । अत्र 'गोः पयो दोग्धि' इति अपादानस्याविवक्षितत्वात् 'अकथितञ्च' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां कृतायां 'गां पयो दोग्धि' इति । बलिमत्रे अपादानत्वस्याविवक्षितत्वात् 'अकथितञ्च' इति कर्मसंज्ञायाम् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां कृतायां 'बलिं याचते वसुधाम्' इति । तण्डुलैरोदनम्पचति इत्यत्र करणस्याविवक्षितत्वात् 'अकथितञ्च' इति कर्मसंज्ञायाम् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायाम् 'तण्डुलानोदनं पचति' इति । गर्गान् शतं दण्डयति । अत्र गर्गेभ्य इति अपादानस्याविवक्षितत्वात् कर्मसंज्ञायां

कर्तुरीप्सित—कर्ताको क्रियाद्वारा प्राप्त करनेमें जो इष्टतम हो, वह कारकसंज्ञक होकर कर्मसंज्ञक हो । कर्मणि द्वितीया—अनुक्त कर्ममें द्वितीया हो । तथायुक्त—ईप्सिततमकी ही तरह क्रियाजन्य फलसे युक्त अनीप्सित भी कारकसंज्ञक होकर कर्मसंज्ञक हो ।

अकथितं च—अपादानादि विशेषसे अविवक्षित जो कारक वह कर्मसंज्ञक हो ।

दुह्याच्—१ दुह प्रपूरणे, २ टुयाचृ याच्ञायाम्, ३ डुपचष् पाके, ४ दण्ड दण्डनिपातने, ५ रुधिर् आवरणे, ६ प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्, ७ चिञ् चयने, ८ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, ९ शासु अनुशिष्टौ, १० जि अभिभवे, ११ मन्थ विलोडने, १२ मुष स्तेये, १३ णीञ् प्रापणे, १४ हृञ् हरणे, १५ कृष विलेखने, १६ वह प्रापणे—इन धातुओंके कर्मके साथ जो युक्त है वही 'अकथित कर्म' होता है ।

निधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा । अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । बलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्ती-त्यादि । (**अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इतिवाच्यम्**) कुरून् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ ।१।४।५२।

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ।
आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ॥

द्वितीया । शत्रूनिति । शत्रवः स्वर्गमगच्छन् तान् श्रीहरिः स्वर्गमगमयत् । अत्राण्यन्तावस्थायां शत्रवः कर्तारस्ते ण्यन्तावस्थायां कर्माभवन् । स्वर्गकर्मकं शत्रुनिष्ठं यद्गमनं तदनुकूलो यस्तिष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरितिवाक्यार्थः । वेदार्थमिति । स्वे वेदार्थमविदुरित्यण्यन्तावस्थायां कर्तृभूतं 'स्वे' इति पदं 'स्वान् वेदार्थं अवेदयत्' इति ण्यन्तदशायां कर्म भवति । फलं च 'कर्मणि द्वितीये'ति । वेदार्थकर्मकं स्वनिष्ठं यद्वेदनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरित्यन्वयः । आशयदिति । देवा अमृतमाश्नन् तान् श्रीहरिराशयत् । अत्रापि अण्यन्तदशायां देवाः कर्तारस्त एव ण्यन्ते कर्मभूताः । अत एव द्वितीया । अमृतकर्मकं देवनिष्ठं यदशनं तदनुकूलो

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा—कैयटने ऐसी व्याख्या की है । अतः पूर्वोक्त दुहाद्यर्थक धातुओं के कर्मके साथ जो युक्त हो वह भी 'अकथित कर्म' होता है ।

अकर्मक—अकर्मक धातुओंके योगमें देश, काल, भाव (क्रिया) तथा गन्तव्य मार्ग—इनकी कर्मसंज्ञा हो ।

गतिबुद्धि—१. गत्यर्थक, २. बुद्ध्यर्थक, ३. भक्षणार्थक, ४. शब्दकर्मक और ५. अकर्मक धातुओंकी अण्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गम्—१ का उदाहरण । शत्रवः (युद्धे मृताः) स्वर्गमगच्छन्, हरिस्तान् प्रैरितदिति (हरिः) शत्रूनगमयत्स्वर्गम् । ('स्वर्गकर्मकं शत्रुनिष्ठं यद्गमनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिः मे गतिरस्तु') ऐसा वाक्यार्थ हुआ ।

वेदार्थं स्वानवेदयत्—२. का उदाहरण । स्वे=स्वकीयाः, वेदार्थमविदुः, तान् हरिः वेदार्थमवेदयत् । आशयच्चामृतं देवान्—३. का उदाहरण । देवाः अमृतम् आश्नन्, हरिः तान् अमृतम् आशयत् । वेदमध्यापयद्विधिम्—४. का उदाहरण । विधिः वेदमध्यैत, तं ब्रह्माणं हरिः वेदम् अध्यापयत्=अपाठयत् । आसयत् सलिले पृथ्वीम्—५. का उदाहरण । सलिले (जले) पृथ्वी आस्त तां पृथ्वीं हरिः आसयत्=अस्थापयत् (स श्रीहरिः मे गतिरस्तु)

(नीवह्योर्न) नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ॥ (नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः) । वाहयति रथं वाहान्सूतः । (आदिखाद्योर्न) आदयति खादयति वा अन्नं बटुना ॥ (भक्षेरहिंसार्थस्य न) । भक्षयत्यन्नं बटुना । अहिंसार्थस्य किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् ॥ (जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्) । जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः । (दृशेश्च) ।

यच्छिष्टो व्यापारः स श्रीहरिर्निष्ठः गतिः । वेदमिति । विधिर्वेदमधीतवान् तं अध्यापयत् । अत्राण्यन्तदशायां कर्तृभूतं विधिरिति पदं ण्यन्ते कर्मतां गतमत एव द्वितीया । वेदकर्मकविधिनिष्ठं यदध्ययनं तदनुकूलो यच्छिष्टो व्यापारः स श्रीहरिर्निष्ठ गतिरित्यर्थः । आसयदिति । सलिले पृथ्वी आस्ते, तां आसयत् । पृथ्व्या अण्यन्तकर्त्र्याः ण्यन्ते कर्मत्वं द्वितीया चेत्यर्थः । सलिलाधिकरणकं पृथ्वीनिष्ठं यदासनं तदनुकूलो यच्छिष्टो व्यापारः स श्रीहरिर्निष्ठ गति । नीवह्योरिति । नीवह्योरण्यन्तावस्थायां विद्यमानो यः कर्ता तस्य ण्यन्ते प्राप्तं यत्कर्मत्वं तन्नेत्यर्थः । नाययति भारं भृत्येन । अत्र कर्तुः । भृत्येत्यस्य ण्यन्ते कर्मत्वाभावेन कर्तरि तृतीयैवेति भावः । नियन्त्रिति । नियन्ता कर्ता यस्य स नियन्तृकर्तृकः तस्य वहेरण्यन्तदशायां स्थितस्य कर्तुर्ण्यन्ते यः कर्मत्वनिषेधः 'नीवह्योर्न' इत्यनेन प्राप्तः स न स्यात्किन्तु ण्यन्ते कर्मत्वं स्यादेवेत्यर्थः । वाहयतीति । वाहा रथं वहन्ति तान् सूतः वाहयति । अत्राण्यन्ते वाहाः कर्तारस्ते ण्यन्ते कर्मभूताः । रथकर्मकं वाहनिष्ठं यद्वहनं तदनुकूलव्यापारवान्सूत इत्यर्थः । आदीति । ण्यन्त [illegible] कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वं नेत्यर्थः । तेन बटुरत्र कर्तरि तृतीयैव [illegible] । भक्षेरिति । प्रयोज्यकर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वं [illegible] । तेन बटुनात्र कर्तरि तृतीया । यदा हिंसार्थं स्यात्तदा—बलीवर्दानत्र ण्यन्ते कर्मतां गतत्वाद् द्वितीया भवत्येव । जल्पतीति । एषामपि धातूनामण्यन्ते विद्यमानस्य कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वमुपसङ्ख्यानमित्यर्थः । जल्पयतीति । 'पुत्रो धर्मं भाषते' अत्राण्यन्ते कर्ता पुत्र इति तस्य ण्यन्ते कर्मत्वे देवदत्तस्तं भाषयति इति प्रयोगः । धर्मकर्मकं पुत्रनिष्ठं यो भाषणव्यापारस्तत्प्रयोक्ता देवदत्तः ।

नीवह्योर्न—'नी' धातु और 'वह' धातुकी अण्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक नहीं हो । नियन्तृ—नियन्तृकर्तृकका निषेध नहीं हो । अर्थात्-नियन्तृ (सूत सारथि) कर्तृक 'वह' धातुकी अण्यन्तावस्थाका जो कर्ता, वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक होता ही है । आदिखाद्योर्न—(ण्यन्त) 'आदि' और 'खादि' धातुके प्रयोज्य कर्ता कर्मसंज्ञक नहीं हो । भक्षेरहिंसार्थस्य न—अहिंसार्थक 'भक्ष' धातुकी अण्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्—जल्पादि धातुओंके अण्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो । दृशेश्च—ज्ञानसामान्यार्थक धातुका जो अण्यन्तावस्थाका कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो ।

दर्शयति हरिं भक्तान् ॥ **(शब्दायतेर्न)** । शब्दाययति देवदत्तेन ॥ **हृक्रोरन्यतरस्याम्** ।१।४।५३। हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति 'कारयति' भृत्यं भृत्येन वा कटम् । (**अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्**) । अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ॥ **अधिशीङ्स्थासां कर्म** ।१।४।४६। अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ॥ **अभिनिविशश्च** ।१।४।४७। अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । क्वचिन्न-पापेऽभिनिवेशः ॥ **उपान्वध्याङ्वसः** ।१।४।४८। उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । (**अभुक्त्यर्थस्य न**) । वने उपवसति ।

उभसर्वतसोः कार्या, धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु, ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

दृशेरिति । अस्यापि कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वमित्यर्थः । भक्ता हरिं पश्यन्ति तान् दर्शयति । इति ण्यन्तक्रियायां भक्तानां कर्मत्वमिति भावः । शब्दायतेरिति । कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वं नेत्यर्थः । तेन देवदत्तेनेति कर्तरि तृतीया । हृक्रोरिति । वा कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वम् । सति कर्मत्वे भृत्यमिति कर्मणि द्वितीया कर्तरि तु तृतीयैव । अभिवादीति । आत्मनेपदेऽनयोर्ण्यन्ते कर्तुः कर्मत्वमिति भावः । तेन भक्तेत्यस्य कर्मत्वपक्षे द्वितीया, तदभावे कर्तरि तृतीया । अधीति । 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यत आधार इति । कर्मत्वे द्वितीया अत एव वैकुण्ठमिति साधु । उभसर्वतसोरिति । तसन्तयोरुभसर्वयोः व्याकरणभूषणोक्ति-

---

शब्दायतेर्न—(क्यङ् प्रत्ययान्त) 'शब्दाय' धातुका जो अण्यन्तावस्थाका कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

हृक्रोरन्य—'हृ' धातु और 'कृ' धातुके अण्यन्तावस्थाका कर्ता ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो, विकल्पसे ।

अभिवादि—आत्मनेपदपरक अभि उपसर्गक ण्यन्त 'वादि' और 'दृश' धातुके अण्यन्तावस्थाका कर्ता ण्यन्तावस्थामें विकल्पसे कर्मसंज्ञक हो-ऐसा कहना चाहिये ।

अधिशीङ्—अधि पूर्वक 'शीङ्' धातु, 'स्था' धातु और 'आस्' धातुका जो आधार वह कर्मसंज्ञक हो ।

अभिनिविशश्च—'अभिनि' एतत् संघात (सम्मिलित) पूर्वक जो 'विश्' धातुका आधार, वह कर्मसंज्ञक हो । उपान्वध्याङ्वसः—उप, अनु, अधि और आङ् पूर्वक 'वस्' धातुका जो आधार, वह कर्मसंज्ञक हो । अभुक्त्यर्थस्य न—अभुक्त्यर्थक अर्थात् भोजननिवृत्त्यर्थक 'वस्' धातुका जो आधार, वह कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

उभसर्वतसोः—तस् प्रत्ययान्त 'उभ' (य) शब्द और 'सर्व' शब्दके प्रयोगमें तस् ।

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक्कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधिलोकम्। अधोऽधोलोकम्। (अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि) अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। ग्रते कृष्णम्। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्। **'अन्तराऽन्तरेण युक्ते ।२।३।४।** द्वितीया। अन्तरा त्वां मां वा हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्॥ **कर्मप्रवचनीयाः ।१।४।८३।** इत्यधिकृत्य॥ **अनुर्लक्षणे ।१।४।८४।** लक्षणे द्योत्ये अनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञापवादः। **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।२।३।८।** जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः॥ **तृतीयार्थे ।१।४।८५।** अनुरुक्तसंज्ञः। नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह संबद्धेत्यर्थः। **हीने ।१।४।८६।** अनुरुक्तसंज्ञः। अनु हरिं सुराः, हरेर्हीना इत्यर्थः॥ **उपोऽधिके च ।१।४।८७।** अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राग्वत्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने-उप हरिं

हीना कार्ये। धिगादिषु योपरवेष्वपि तथा आम्रेडितान्तेषु द्वितीया कार्या। कृष्णमिति द्वितीया। कृष्णाभक्तादिष्वपि द्वितीयायाः साधुत्वमेवेति भावः। अभित इति। एषां प्रयोगेऽपि द्वितीया स्यात्। तेन कृष्णादीनां द्वितीयान्तत्वम्। अन्तरेति। आभ्यां प्रयोगे द्वितीया स्यात्। त्वां मामादिषु द्वितीया। कर्मप्रवचनीया इति। अधिकारोऽयम्। अनुरिति। कर्मप्रवचनीयेऽस्मिन्ननुवर्तते। गत्याद्युपसर्गापवादः। कर्मेति। द्वितीया विधत्ते। जपमनु। अनोर्लक्षणे कर्मप्रवचनीयत्वे 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति द्वितीयायां प्रयोगसिद्धिः। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। तृतीयार्थे इति। अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्, तथा सति द्वितीया। नदीमन्ववसिता इत्यत्र तृतीयेत्यर्थः। हीन इति। हीनार्थे द्योत्येऽनोः कर्मप्रवचनीयत्वं स्यात्तस्माद् द्वितीया चेत्यर्थः। अनुहरिमिति। हरिमित्यत्र द्वितीया। उपोऽधिक इति। चकाराद्धीनेऽपि अत आह-अधिके हीने चेति। उपहरिम्। अत्र हीनार्थे कर्मप्रवचनीयत्वे द्वितीया। लक्षण इति। प्रत्यादीनां लक्षणादिषु कर्मप्रवच-

---

'धिक्' शब्दके योग और आम्रेडित (द्विरुक्त = द्विर्वचन) के योगमें द्वितीया करनी चाहिये। इनसे अन्यत्र भी प्रयोगके अनुसार कहीं देखी जाती है (जैसे—अभितः परितः० इत्यादि)

अभितः परितः—अभितः, परितः, समया, निकषा, हा और प्रति शब्दोंके योगमें भी द्वितीया हो।

अन्तरा—अन्तरा और अन्तरेण शब्दके योगमें द्वितीया हो। कर्मप्रवचनीयाः—यह अधिकार सूत्र है। अनुर्लक्षणे—'लक्षण' द्योत्य हो तो 'अनु' की कर्मप्रवचनीय' संज्ञा हो। कर्मप्रवचनीययुक्ते—कर्मप्रवचनीयके योगमें द्वितीया हो। तृतीयार्थे—तृतीयार्थमें 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो। हीने—हीन अर्थ द्योत्य होनेपर 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो। उपोऽधिके च—अधिक अर्थ द्योत्य होनेपर 'उप' इस शब्दकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो।

सुराः ॥ **लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः ।१।४।९०।** उक्तसंज्ञाः स्युः । लक्षणे-वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थंभूताख्याने-भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा । भागे-लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा, हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायाम्-वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति । एषु किम् परिषिञ्चति ॥ **अभिरभागे ।१।४।९१।** भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो हरिमभि । देवं देवमभिसिञ्चति । अभागे किम् ? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम् ॥ **सुः पूजायाम् ।१।४।९४।** सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । पूजायां किम् ? सुषिक्तं किं तवात्र । क्षेपोऽयम् ॥ **अतिरतिक्रमणे च ।१।४।९५।** चात्पूजायामतिरुक्तसंज्ञः । अति देवान्कृष्णः ॥ **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।२।३।५।** इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः । **स्वतन्त्रः कर्ता ।१।४।५४।** इति कर्तृसंज्ञा ॥ **साधकतमं**

नीयत्वं स्यादित्यर्थः । वृक्ष प्रति । भक्तो विष्णुम् । लक्ष्मीर्हरिं । वृक्षं वृक्षम् । अत्र क्रमशः लक्षणेत्थंभूतभागवीप्सासु गम्यमानासु प्रत्यादीनां योगे वृक्षादीनां कर्मप्रवचनीयत्वे द्वितीयेत्यर्थः । अभिरिति । 'लक्षणे' इति सूत्रं भागवर्जमनुवर्तते । तदेव स्मारयति—हरिमभि । भक्तो हरिं, देवं देवम् । अत्र क्रमशः लक्षणेत्थम्भूताख्यानवीप्सासु अभेः कर्मप्रवचनीयत्वे तद्युक्तानां हर्यादीनां द्वितीयेत्यर्थः । सुः पूजायामिति । कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनयोः सुशब्दस्य पूजायां कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया । अतिरिति । चात्पूजायामपि । अतिक्रमणार्थे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः । अतिदेवानिति । अतेर्योगे कर्मप्रवचनीययुक्तत्वाद् द्वितीया । कालाध्वनोरिति । अत्यन्तसंयोगः—निरन्तरसंयोगः । द्वितीया स्यादित्यर्थः । तेन मासादिषु सर्वेषु द्वितीया सिद्धा । कालाध्वनोर्गम्यमानत्वात् । अत्यन्तसंयोगाभावे एकदेशार्थे द्विराद्विषु चोप·

लक्षणेत्थं—लक्षणादि अर्थोंमें प्रति, परि और 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

अभिरभागे—भागवर्ज लक्षणादि अर्थोंमें 'अभि'की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

सुः पूजायाम्—पूजा अर्थमें 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

अतिरिति—अतिक्रमण और पूजा अर्थमें अति'की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

कालाध्वनो—कालवाचक और अध्ववाचकके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया हो ।

नोटः—'कर्तृवाच्यप्रयोगे तु द्वितीया कर्तृकारके ।
धिक्प्रत्याद्विनियोगे क्रियायाश्च विशेषणे ॥
ऋतेऽभिनादिभिश्चैव द्वितीया समता मता ।'

स्वतन्त्रः कर्ता—क्रियामें स्वातन्त्र्येण विवक्षित जो अर्थ वह कर्तृसंज्ञक हो ।

साधकतमं—क्रिया की सिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक हो, वह करणसंज्ञक हो ।

करणम् ।१।४।४२। क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् ॥ **कर्तृकरणयोस्तृतीया** ।२।३।१८। अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो वाली ॥ (प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्) । प्रकृत्या चारुः । प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पशून्गृह्णाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ॥ **दिवः कर्म च** ।१।४।४३। दिवः साधकतमं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञं च । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ॥ **सहयुक्तेऽप्रधाने** ।२।३।१९। सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकंसार्धंसमंयोगेऽपि । विनापि तद्योगे तृतीया । वृद्धो यूनेति निर्देशात् ॥ **येनाङ्गविकारः** ।२।३।२०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया । अक्ष्णा काणः, अक्षिसंबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥ **अपवर्गे तृतीया** ।२।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मास-

---

परेद्यु च द्वितीयेति स्पष्टमेव । प्रकृत्यादिभ्य इति । तृतीया वाच्येति भावः । प्रकृत्या चारु । प्रकृतिसम्बन्धात्तृतीया । एवं प्रायेण-गोत्रेण-समेन-विषमेण-द्विद्रोणेन-पञ्चकेन सुखेन-दुःखेन इत्यादि प्रकृत्यादिगणेऽपस्तृतीयेति बोध्यम् । दिव इति । चकारात्करणमित्यध्येयम् । अक्षैरक्षान् । कर्मसंज्ञायां द्वितीया, करणत्वे तृतीयेति भावः । सहेति । सहेत्यनेन तदर्थस्य विवक्षा व्याख्यानात् । पुत्रेणेत्यत्र सहयोगात्तृतीया । एवं समादिषु । तदर्थानामयोगेऽपि तृतीया । प्रमाणयति—वृद्धो यूनेति । येनेति । येन विकारयुक्तेनावयवेन विकारो गम्यते । तद्वाचकपदात्तृतीयेति भावः । अक्ष्णा काणः । अत्र विकृतमङ्गं 'अक्षि' तेनैवाङ्गेन काणत्वं ज्ञाप्यतेऽतोऽक्षिशब्दात्तृतीयेति भावः । अपवर्ग इति । 'कालाध्वनोः' इत्यनुवर्तते । फलप्राप्तिद्योत्यायां तृतीयेत्यर्थः । अह्ना-क्रोशेन । अहन् क्रोशयोः कालाध्ववाचकयोस्तृतीया । अत्र फलप्राप्तिर्व्यञ्जन-

---

कर्तृकरणयोः—अनुक्त कर्ता और करणमें तृतीया हो ।

प्रकृत्यादिभ्यः—प्रकृत्यादिसे तृतीया हो ।

दिवः कर्म च—'दिव' का जो साधकतम कारक वह कर्मसंज्ञक हो और (चकारात्) करणसंज्ञक भी हो । सहयुक्ते—सहार्थकसे युक्त अप्रधानमें तृतीया हो ।

येनाङ्गविकारः—जिस अङ्गके विकृत होने पर अङ्गीका विकार लक्षित हो उस अङ्गसे तृतीया हो । अपवर्गे—फलकी प्राप्ति द्योत्य हो तो कालवाचक और अध्ववाचकसे तृतीया हो ।

मधीतो नायातः ॥ **हेतौ** ।२।३।२३। तृतीया। दण्डेन घटः ॥ **इत्थंभूतलक्षणे** ।२।३।२१। तृतीया। जटाभिस्तापसः, जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥ **संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि** ।२।३।२२। संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया। पित्रा पितरं वा संजानीते ॥ **कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्** ।१।४।३२। दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः ॥ **चतुर्थी संप्रदाने** ।२।३।१३। अनुक्ते। विप्राय गां ददाति। (**क्रियया यमभिप्रैति स संप्रदानम्**) पत्ये शेते। **परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम्** ।१।४।४४। नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं

लामरूपा। हेताविति। हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। दण्डेन घटः। दण्डशब्दात् तृतीयेति गम्यते। इत्थमिति। इत्थंभूतमेतत्प्रकारकं लक्षणं चिह्नं तस्मिन्निति तृतीयेत्यर्थः। जटाभिरिति। तापसत्वानुमाने जटेति लिङ्गमिति तस्मात्तृतीया। अनुमानस्वरूपं तु—अयं तापसः, जटावत्त्वात्। संज्ञ इति। तृतीयेति लभ्यते। पित्रा पितरं वेति। पितृशब्दात् कर्मभूतात् पाक्षिक्यां तृतीयायां तदभावे च द्वितीयायामुभयरूपसिद्धिः। परिक्रयण इति। परिक्रयणं व्याचष्टे-नियतकालं भृत्या स्वीकरणमिति। साध-

---

हेतौ—हेत्वर्थमें (हेत्वर्थवाचकसे) तृतीया हो।

नोटः—यहां 'हेतु' पदसे फल का भी ग्रहण होता है। अतः 'अध्ययनेन वसति' यहां पर वासरूप फल अध्ययनमें होनेसे तृतीया होती है। 'दण्डेन घटः' यहां पर करणमें तृतीया इसलिये नहीं होती कि 'हेतु' और 'करण' के लक्षणोंमें किञ्चित् वैषम्य है। तथाहि—'द्रव्य-गुण-क्रियात्मककार्यत्रयनिरूपित निर्व्यापार-सव्यापारवृत्ति च यत् तद्धेतुत्वम्' और 'क्रियाजनकमात्रवृत्तिव्यापारवद्वृत्ति च यत् तत् 'करणत्वम्'। 'दण्डेन घटः' यहां पर जो दण्डरूप हेतु है उसमें व्यापार तो है पर क्रियाजनकत्वका अभाव है। अतः वह करण नहीं हुआ। एवं 'पुण्येन दृष्टो हरिः' यहां पर जो पुण्यरूप हेतु है. उसमें हरिदर्शनजनकस्वरूप क्रियाजनकता है, परन्तु वह व्यापारवान् नहीं है। अतः वह भी करण नहीं हो सका।

इत्थंभूतलक्षणे—जिस लक्षण (ज्ञापक) से किसी विशेष रूपको प्राप्त हो जाय, उस लक्षणसे तृतीया हो।

संज्ञोऽन्यतरस्यां—'सम्' पूर्वक 'ज्ञा' धातुके कर्मसे तृतीया हो, विकल्पसे।

नोट:—'तृतीया करणे चैव कर्मवाच्यस्य कर्तरि। सहार्थेश्च तथा हेतौ प्रकृत्यादिभ्य एव च। ऊनार्थवारणार्थैश्च सदृशार्थैस्तथैव च। अङ्गिनो विकृतिर्येन तृतीया स्यात्तदङ्गतः॥'

कर्मणा—दानके कर्मसे जिसको सम्बन्धित करना इष्ट हो, वह सम्प्रदानसंज्ञक होता है। चतुर्थी—अनुक्त संप्रदानमें चतुर्थी हो। क्रियया—क्रियाके साथ जिसको सम्बन्ध करना इष्ट हो, वह भी सम्प्रदानसंज्ञक होता है। परिक्रयणे—परिक्रयणमें साधकतम जो कारक वह सम्प्रदानसंज्ञक हो।

तस्मिन् साधकतमं कारकं संप्रदानं वा । शतेन शताय वा परिक्रीतः ॥ (**तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या**) मुक्तये हरिं भजति ॥ (उत्पातेन ज्ञापिते च) । वाताय कपिला विद्युत् ॥ **नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ।२।३।१६।** एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि ॥ **ध्रुवमपायेऽपादानम् ।१।४।२४।** अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतमपादानम् । **अपादाने पञ्चमी ।२।३।२८।** ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पतति इत्यादि ॥ **जनिकर्तुः प्रकृतिः ।१।४।३०।** जायमानस्य हेतुरपादानं

करणस्य कारकस्य सम्प्रदानत्वं वेत्यर्थः । तृतीयार्थे चतुर्थी वा । शतेन शतायेति । शतशब्दस्य साधकतमत्वेन तृतीयायां प्राप्तायां 'परिक्रयणे' इति सम्प्रदानत्वे चतुर्थी इति भावः । तादर्थ्ये इति । तस्य धातोर्योऽर्थस्तस्य भावस्तस्मिन्नित्यर्थः । मुक्तये इति । मुच्लृ मोचने इति धातोर्यो दुःखोच्छेदरूपोऽर्थस्तत्र विषये चतुर्थी । मुक्त्ये- दुःखोच्छेदायेति भावः । उत्पातेन । आधिदैविकममङ्गलमुत्पातः, तज्ज्ञापका द्वातादिशब्दात्तृतीयेत्यर्थः । अत आह—वाताय कपिला विद्युदिति भावः । ध्रुवमपाये । भ्रान्तिरपैयर्थो । अस्मादपयाति, कुट्यादिश्चान्विते, तस्य । ध्रुवस्थैर्ये इति केचित् । तत्रोगुपधेति कः । ध्रुवं स्थिरम् । अपायशब्देन विवक्षितमाह—विश्लेष इति । एवं च प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयो ध्रुवमिति फलितम् । जनिकर्तुरिति । 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यतोऽपादानमिति । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते । जायमाना प्रजा तासां हेतुर्ब्रह्मा तस्यापादानत्वे पञ्चमी । ल्यब्लोप इति । पञ्चमी

तादर्थ्ये चतुर्थी—तादर्थ्ये (उसके लिये) अर्थमें चतुर्थी हो ।

उत्पातेन—उत्पातसे जो सूचित किया जाय, उसमें चतुर्थी हो ।

नमः स्वस्ति—नमः स्वस्ति आदिके योगमें चतुर्थी हो ।

उपपदविभक्तेः—उपपदविभक्तिसे कारक विभक्ति बलवती होती है ।

नोट :—'पदमाश्रित्योत्पन्ना या विभक्तिः सा उपपदविभक्तिः' 'क्रियामाश्रित्योत्पन्ना या विभक्तिः सा कारकविभक्तिः' ।

अलमिति—'नमः स्वस्ति' सूत्रमें पर्याप्त्यर्थक अर्थात् शक्ति सामर्थ्यवाची 'अलम्' शब्दका ग्रहण है ।

नोट :— सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् तादर्थ्ये च क्रियायुते ।
उपपदानां योगमात्रे नमोयोगे च सा भवेत् ॥'

ध्रुवमपाये—अपाय (विश्लेष = विभाग) में जो अवधिभूत (स्थिर) रहे, उसकी अपादानता हो । अपादाने पञ्चमी—अपादानमें पञ्चमी हो । जनिकर्तुः—जायमानका हेतु

स्यात्। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ (ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च)। प्रासादात्प्रेक्षते। आसनात्प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** ।२।३।२५। गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः। गुणे किम्? धनेन? कुलम्। अस्त्रियां किम्? बुद्ध्या मुक्तः। विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्, धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ॥ **पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्** ।२।३।३२। एभिर्योगे तृतीया स्यात्। पञ्चमीद्वितीये च। पृथग् रामेण रामाद् रामं वा। एवं विना, नाना ॥ **अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** ।२।३।२९। अन्य इत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद् वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति। चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः। प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात्। आच्। दक्षिणा ग्रामात्। आहि, दक्षिणाहि ग्रामात् ॥ **अपपरी वर्जने** ।१।४।८८। एतौ वर्जनार्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ स्तः ॥ **आङ् मर्यादावचने** ।१।४।

स्यात्। प्रासादात्-आसनात्-इति कर्माधिकरणयोः पञ्चमीति भावः। विभाषेति। पञ्चमी वेत्यर्थः। तदभावे तृतीया। जाड्यात् जाड्येन वा। अत्र वैभाषिकपञ्चमीत्वे उभयरूपसिद्धिः। अत्र 'विभाषा' इति योगो विभज्यते तेनागुणेऽपि क्वचित्। धूमादग्निमानित्यादौ प्रयोगोपलब्धेः। पृथगिति। तृतीया विधीयते पञ्चमीद्वितीये लभ्येते। तेन रामशब्दात्त्रिभक्तिरूपम्। अन्येति। एषां योगे पञ्चमी स्यात्। उदाहरति-अन्यः कृष्णात्-आराद्वनात्-ऋते कृष्णात्-पूर्वो ग्रामात्-इत्यादिषु पञ्चम्याः साधुत्वमेव। दिक्शब्दं व्याचष्टे-दिशि दृष्टः शब्दः दिक्शब्दः तेन देशकालयोर्यत्पौर्वापर्यमित्यादि तत्रापि पञ्चम्येवेति भावः। उदाहरति-चैत्राद्-ग्रामादिति। आचमुदाहरति-दक्षिणा ग्रामात्, आहि दक्षिणाहि। अत्रापि ग्रामशब्दात् पञ्चमी। अपेति। कर्मप्रवचनीया' इत्यधिकारस्थत्वादनयोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। आङ् इति। अयमपि मर्यादायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञः। कर्मप्रवचनीयत्वे द्वितीया प्राप्ता तस्या बाधनाय पञ्चमीं विधत्ते। पञ्चम्य-

---

अपादान संज्ञक हो। ल्यब्लोपे—'ल्यप्' के लोपमें ल्यबन्तार्थके प्रति कर्म या अधिकरणमें पञ्चमी हो। विभाषा-हेतु और अस्त्रीलिङ्ग जो गुणवाचक शब्द, उससे पञ्चमी हो, विकल्पसे पृथग्विना—'पृथक्, विना और नानाके योगमें तृतीया तथा पञ्चमी और द्वितीया भी हो। अन्यारादित—अन्य (अन्यार्थक शब्द), आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् और आहिके योगमें पञ्चमी हो। अपपरी वर्जने—वर्जन अर्थमें अप और परिकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो। आङ् मर्यादा—मर्यादा और अभिविधि अर्थमें आङ्को कर्मप्रवच-

८९। आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः । वचनग्रहणादभिविधावपि ॥ पञ्चम्यपाङ्परिभिः ।२।३।१०। एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी । अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने साहचर्यात् । लक्षणादौ तु–हरिं परि । आ मुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ॥ प्रति. प्रतिनिधिप्रतिदानयोः १।४।९२। एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात् ॥ प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ।२।३।११। अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ॥ षष्ठी शेषे ।२।३।५०। कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः शेषः, तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ॥ कर्तृकर्मणोः कृति ।२।३।६५। कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्ता कृष्णः । गुणकर्मणि वेष्यते । नेताऽश्वस्य स्रुघ्नं स्रुघ्नस्य वा । कृति किम् ? तद्धिते

पा[?]इति । एभिर्योगे पञ्चमी स्यात् । कर्मप्रवचनीयत्वेन अपहरेः परिहरेः आमुक्तेः इत्यादौ पञ्चमीति ज्ञेयम् । प्रतिरिति । अनयोरर्थयोः प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वं वाच्यम् । प्रतिनिधि । पञ्चमी विधीयते । प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति–तिलेभ्य इति । प्रतिनिधिप्रतिदानयोरर्थे पञ्चमीति भावः । एधोदकस्योपस्कुरुते । एधः = काष्ठ, दकस्य = उदकस्य उपस्कुरुते=गुणमाधत्ते इत्यर्थः । एधशब्दः अकारान्तः पुंल्लिङ्गः, 'कारके' इति सूत्रे 'एधाः पच्यन्ते' इति भाष्यप्रयोगात् । सान्तः क्लीबोऽपि । गुणकर्मणि तु वेष्यते । नेताऽश्वस्येत्यत्र वा षष्ठी । कर्मणेति । 'कृति' इत्यनुवृत्यते उभयप्राप्ताविति तद्विशेषणं भवतः स्मारयति—उभयोः

नीय संज्ञा हो । पञ्चम्यपाङ्—कर्मप्रवचनीय संज्ञक अप्, आङ् और परिके योगमें पञ्चमी हो ।

प्रति० प्रतिनिधि—प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थमें प्रतिको कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

प्रतिनिधि—जिसका प्रतिनिधि हो तथा जिसका प्रतिदान हो उसमें पञ्चमी हो, कर्मप्रवचनीयसंज्ञक (प्रति) के योगमें ।

नोट —'अपादाने दयवर्षे च योगे पूर्वादिभिस्तथा । उत्कर्षे पञ्चमी ज्ञेया हेत्वर्थे तु विभाषया ॥ ऋते विनादिभिर्योगे पञ्चमी च स्मृता बुधैः ।'

षष्ठी शेषे—कारक और प्रातिपदिकार्थसे भिन्न स्वस्वामिभावादि (जन्यजनकभावादि) सम्बन्ध 'शेष' कहाता है, उस शेषमें षष्ठी हो ।

कर्तृकर्मणोः—'कृत्' के योगमें कर्ता और कर्ममें षष्ठी हो ।

गुणकर्मणि—गौण कर्ममें विकल्पसे षष्ठी हो ।

नोटः—'अकथितं च' इस सूत्रसे जिसकी कर्मसंज्ञा होती है वह गौण कर्म कहाता है (पृष्ठ ४६९ देखो)

मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्। **उभयप्राप्तौ कर्मणि** ।२।३।६६। उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन्कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन॥ **कृत्यानां कर्तरि वा** ।२।३।७१। षष्ठी। मया मम वा सेव्यो हरिः॥ **क्तस्य च वर्तमाने** ।२।३।६७। वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी। 'न लोके'ति वक्ष्यमाणनिषेधस्यापवादः। राज्ञां मतः बुद्धः पूजितो वा॥ **अधिकरणवाचिनश्च** ।२।३।६८। क्तस्य प्रयोगे षष्ठी। इदमेषां शयितम्॥ **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** ।२।३।६९। एषां योगे षष्ठी न। लादेशः। कुर्वन्-कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः। उः हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा। उक-दैत्यान् घातुको हरिः (कमेरनिषेधः) लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्-जगत्सृष्ट्वा। निष्ठा-दैत्यान् हतवान् विष्णुः। विष्णुना हता दैत्याः। खलर्थः-ईषत्करः

प्राप्तिर्यस्मिन् कृतीति। तत्र कर्मण्येव षष्ठी, न तु कर्तरि। आश्चर्यो गवां दोहः। अत्र कर्मीभूतस्य गोपदस्यैव षष्ठीविभक्त्यन्तत्वम्। कृत्यानामिति। कर्तरि वा षष्ठीत्यर्थः। तदभावे तृतीयैव। 'मया मम वा सेव्यो हरिः' अत्र ण्यत्प्रत्ययान्तेन कृदन्तेन योगात् अहंकर्तृवाचकस्य पाक्षिकी षष्ठी तदभावे तृतीया। क्तस्येति। वर्तमानार्थे विहितस्य क्तप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। 'राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा' अत्र वर्तमाने विहितस्य क्तान्तस्य 'मतः-बुद्धः-पूजितः' इत्यादीनां योगे राज्ञामिति षष्ठी। अधिकरणेति। अधिकरणार्थे विहितस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। इदमेषाम् आसितम्, शयितं वा, अत्रासितशयितादीनां क्तान्तानाम् अधिकरणवाचित्वात् तेषां योगे एषामिति षष्ठीपदमिति भावः। न लोकेति। ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृन्-एषां-योगे षष्ठी नेत्यर्थः। शतृशानचावुदाहरति—कुर्वन्-कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः। अनयोर्योगे हरिरिति प्रथमैव नापि कर्मणि षष्ठी सृष्टिमिति द्वितीयान्तस्य युक्तत्वात्। उः। सनाशंस इत्यादिना विहित उप्रत्ययः। हरिं दिदृक्षुः। अत्रापि न कर्मणि नापि कर्तरि षष्ठी। उक-दैत्यान् घातुकः अत्रापि न षष्ठी इति भावः। कमेरनिषेधः। कमेर्योगे प्राप्तः षष्ठीनिषेधो नेत्यर्थः। तेन लक्ष्म्याः कामुकः अत्र षष्ठी भवत्येव वार्तिकबलात्। जगत्सृष्ट्वा। अत्र क्त्वाप्रत्ययस्य 'तसिलादिषु' इति अव्ययत्वात् षष्ठीप्रतिषेधात्। निष्ठा-दैत्यान् हतवान् विष्णुः, विष्णुना हता दैत्याः। अत्र न षष्ठी, निष्ठासंज्ञत्वेन सूत्रनिषेधात्।

उभयप्राप्तौ—जिस 'कृत्' के योगमें जहाँ कर्ता और कर्म दोनोंमें एक साथ षष्ठी प्राप्त हो, वहाँ कर्ममें ही षष्ठी हो।

कृत्यानां—कृत्य प्रत्ययके योगमें कर्तामें विकल्पसे षष्ठी हो। **क्तस्य च वर्तमाने**-वर्तमानार्थक 'क्त' के योगमें षष्ठी हो। **अधिकरण**—अधिकरणवाची 'क्त' के योगमें षष्ठी हो।

न लोका—लादेश, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ और तृन् के योगमें षष्ठी नहीं हो।

कमेरनिषेधः—कमु धातुके योगमें षष्ठीका निषेध नहीं हो।

प्रपद्यो हरिणा । तृन्निति प्रत्याहारः । शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात् । शानन्–सोमं पवमानः । चानश्–आत्मानं मण्डयमानः । शतृ–वेदमधीयन् । तृन्–कर्ता लोकान् । (द्विषः शतुर्वा) मुरस्य मुरं वा द्विषन् । (सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः) । शेषे षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः । **अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः** ।२।३।७०। भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न । सतः पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी । (**निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायदर्शनम्**) किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै निमित्तायेत्यादि । एवं–किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ॥ **षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन** ।२।३।३०। ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात् ॥ **एनपा द्वितीया** ।२।३।३१। एनपेति योगविभागात्षष्ठ्यपि ।

सत्कर्म –ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा । अत्र 'ईषद्दुःसुषु' इत्यादिना खल्प्रत्ययस्य विहितत्वेन षष्ठ्या निषेधः । 'तृन्' इति प्रत्याहारात्मकं रूपं तदेव परिस्फोरयति–शानन्–सोमं पवमानः–चानश्–आत्मानं मण्डयमानः, शतृ–वेदमधीयन्, तृन्–कर्ता लोकान् इत्यादीनां योगे न षष्ठीति भावः । द्विष इति । शतुर्योगे वा षष्ठीति भावः । मुरस्य मुरं वा द्विषन्, अत्र कर्मणि वा षष्ठीति भावः । अकेनोरिति । भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न भवति । सतः पालकोऽवतरति–व्रजं गामी–शतं दायी–एषु सच्छतयोर्द्वितीयान्तत्वमेव न तु षष्ठ्यन्तत्वमिति भावः । निमित्तेति । निमित्तपर्यायकानां पदानां योगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण दर्शनं भवति इति भावः । किं निमित्तम्, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय, कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते, इति प्रथमादि सप्तम्यन्तानां विभक्तीनां प्रायः प्रयोगोपलब्धिः । षष्ठ्यतसर्थेति । अतसन्तानां योगे षष्ठी स्यात् । ग्रामस्य दक्षिणतः, अत्र ग्रामपदात्षष्ठी । एवं तद्भिन्नानां योगेऽपि षष्ठी । एनपेति ।

द्विषः शतुर्वा—'द्विष्' धातुसे विहित 'शतृ' प्रत्ययके योगमें षष्ठीका निषेध विकल्पसे हो । अकेनो—भविष्यत् अर्थक 'अक' और भविष्यत् आधमर्ण्यार्थक 'इन्' के योगमें षष्ठी नहीं हो । निमित्तपर्याय—निमित्त पर्यायके प्रयोगमें प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं ।

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन—'अतसर्थ' प्रत्ययके योगमें षष्ठी हो ।

नोट—दिग्देशकालरूप अर्थ है जिसका, ऐसा जो प्रत्यय, वह 'अतसर्थ प्रत्यय' कहाता है । वे अस्ताति प्रभृति पाँच प्रत्यय हैं ।

('दिक्शब्देभ्य' इत्यादि सूत्र 'प्राग्दिशीय प्रकरण' में देखो)

एनपा द्वितीया—एनबन्तके योगमें द्वितीया और षष्ठी भी हो ।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण । **दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्** ।२।३।३४। एतैर्योगे षष्ठी पञ्चमी च । दूरं, निकटं वा ग्रामस्य-ग्रामाद्वा ॥ **दिवस्तदर्थस्य** ।२।३।५८। द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति, स्तौतीत्यर्थः ॥ **विभाषोपसर्गे** ।२।३।५९। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ॥ **आधारोऽधिकरणम्** ।१।४।४५। कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ॥ **सप्तम्यधिकरणे च** ।२।३।३६। चाद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन् आत्मास्ति ।

षष्ठीप्राप्तौ वचनमिदम् । योगविभागात् । पञ्चम्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । अत्र द्वितीया, पक्षे षष्ठी । एवम् उत्तरेणेति बोध्यम् । दूरान्तिकार्थैरिति । दूरान्तिकार्थानां योगे षष्ठी स्यात्पक्षे पञ्चमी । ग्रामस्य-ग्रामाद् वा दूरं निकटमित्यर्थः । दिव इति । द्यूतार्थस्येत्यादिना धातोरर्थः स्फोरितः । कर्मणि षष्ठीति स्पष्टमेव । शतस्य दीव्यति । अत्र शतस्येति कर्मणि षष्ठी । विभाषेति । उपसर्गयुक्तात् दिवः कर्मणि वा षष्ठीत्यर्थः । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति । अत्र शतस्येति षष्ठी, तदभावे द्वितीया । औपश्लेषिकः । उपसमीपे श्लेषः—सम्बन्ध उपश्लेषः, तत् कृतमौपश्लेषिकम् । अयं प्रथम आधारः । अस्योदाहरणम्—कटे आस्ते । वैषयिकः—विषये भवो वैषयिकः । अस्योदाहरणम्—मोक्षे इच्छा अस्ति । अत्र कर्तृभूतेच्छागतां सत्ताक्रियां प्रति मोक्षस्य विषयतासम्बन्धपुरस्कारेण इच्छाद्वाराधारत्वादधिकरणम् । अभिव्यापकः—अभि—सर्वतो भावेन व्याप्नोतीति अभिव्यापकः । य आधारः सर्वमभिव्याप्नोति सोऽभिव्यापक इत्युच्यते । अस्योदाहरणम्—सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति । सर्वस्मिन्नभिव्याप्य आत्मा वर्तते इत्यर्थः । अत्र आत्मरूपकर्तृगतां सत्ताक्रियां प्रति कृत्स्नव्याप्तिं पुरस्कृत्य आत्मद्वारा

दूरान्तिकार्थैः—दूरार्थक और अन्तिकार्थकके योगमें षष्ठी हो, विकल्पसे । पक्षमें पञ्चमी हो ।

दिवस्तदर्थस्य—द्यूतार्थक और क्रय-विक्रयरूप व्यवहारार्थक 'दिव' धातुके कर्ममें षष्ठी हो । विभाषोपसर्गे—द्यूतार्थक और क्रय विक्रय रूप व्यवहारार्थक जो सोपसर्गक 'दिव्' धातु, उसके कर्ममें विकल्पसे षष्ठी हो ।

नोट :—'षष्ठी भवति सम्बन्धे कृदन्ते कर्तृकर्मणोः । तृतीया स्यात् तथा षष्ठी कृत्यानां कर्तृकारके ॥ तुल्यार्थयोगे षष्ठी स्यात् तृतीया च विभाषया ।'

आधारोऽधिकरणम्—कर्ता और कर्मके द्वारा जो कर्तृ-कर्मनिष्ठ क्रियाका आधार वह कारक संज्ञक होकर अधिकरण संज्ञक हो । सप्तम्यधिकरणे—अनुक्त अधिकरणमें सप्तमी हो ।

वनस्य दूरेऽन्तिके वा । (क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्) अधीती व्याकरणे । (साध्वसाधुप्रयोगे च) । साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले । (निमित्तात्कर्मयोगे) ।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः' ॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७ यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी । गोषु दुह्यमानासु गतः ॥ **षष्ठी चानादरे** ।२।३।३८। अनादरेऽधिके भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति-रुदतो वा प्राव्राजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ॥ **स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च** ।२।३।३९। एभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । गवां गोषु वा स्वामी ॥ **आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्** ।२।३।४०। आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने-हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे,

---

सत्ताधारत्वात्सर्वस्याधिकरणत्वम् । क्तस्येति । सप्तम्या उपसंख्यानमित्यर्थः । अधीती । व्याकरणे । अत्र व्याकरणपदस्य सप्तमी अधीतीत्यस्येन्विहितत्वात् । साध्विति । अनयोर्योगे सप्तमी स्यात् । तेन मातरि-मातुले अत्र सप्तमी सिद्धा । निमित्तादिति । निमित्तवाचकात्पदात् सप्तमीत्यर्थः । चर्मणि-दन्तयोः-केशेषु-सीम्नि-इत्यादिनिमित्तवाचकेभ्यः पदेभ्यः सप्तमीत्वं सिद्धम् । यस्य चेति । भाव क्रियेति, अत आह— क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यत इति । गमनक्रियया गोदोहनक्रियोपलक्ष्यते अतस्तस्मात्पदात्सप्तमी, न तु षष्ठीति भावः । षष्ठी चेति । रुदति रुदतो वेत्यत्र षष्ठीसप्तम्यौ । स्वामीति । एभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । गवां गोषु स्वामीत्यादि रूपाणि भवन्ति । आयुक्तेति । अनयोर्योगे विभक्तिद्वयं स्यात् । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने, अत्र

चकारात् दूरार्थक और अन्तिकार्थकसे भी सप्तमी हो । क्तस्येन्विषयस्य—इन् प्रत्ययका विषय (प्रकृति) जो 'क्त' उसके योगमें कर्ममें भी सप्तमी हो । साध्वसाधु—साधु और असाधुके प्रयोगमें सप्तमी हो । निमित्तात्कर्मयोगे—कर्मके साथ यदि फलका योग हो तो, निमित्त (फल) वाचक से सप्तमी हो । यस्य च भावेन—जिसकी क्रियासे क्रियान्तर लक्षित हो, उससे सप्तमी हो । षष्ठी चानादरे—अनादरका आधिक्य गम्यमान होने पर जिसकी क्रियासे क्रियान्तर लक्षित हो, तद्वाचकसे षष्ठी और सप्तमी हो ।

स्वामी—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू और प्रसूतके योगमें षष्ठी और सप्तमी हो ।

आयुक्त—आयुक्तके योगमें षष्ठी या सप्तमी हो, आसेवा अर्थमें ।

ईषद्युक्त इत्यर्थः। । **यतश्च निर्धारणम्** ।२।३।४१। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां-नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां-गोषु वा कृष्णा गौर्बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां-छात्रेषु वा मैत्रः पटुः॥ **पञ्चमी विभक्ते** ।२।३।४२। विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी। माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः॥ **साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः** ।२।३।४३। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्॥ **(अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्)**। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि, अनु वा॥ **अधिरीश्वरे** ।१।४.९७। स्वस्वामिभावसंबन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयः॥ **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी** ।२।३।९। अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी। उप परार्धे हरेर्गुणाः, परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः॥ इति कारकप्रकरणम्।

हरिपूजनात् षष्ठी वा सप्तमीति बोध्यम्। यतश्चेति। निर्धारणत्वं च जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणत्वम्। तत्पदात् षष्ठीसप्तम्यौ। साधुनिपुणेति। मातरि साधुर्निपुणो वा, अत्रार्चायां सप्तमी। इति विभक्त्यर्थाः।

यतश्च—जहांसे निर्धारण (पृथक्करण) हो, तद्वाचकसे षष्ठी या सप्तमी हो।

पञ्चमी—निर्धार्यमाण (अलग किये जाने वाले) का जिससे भेद (विभाग) हो, तद्वाचकसे पञ्चमी हो। साधुनिपुणा—साधु और निपुणके योगमें सप्तमी हो, अर्चामें, किन्तु प्रतिके योगमें नहीं हो। अप्रत्यादिभिः—प्रति (ही नहीं) परि और अनुके योग रहनेपर (भी) साधु या निपुणके योगमें सप्तमी नहीं हो।

अधिरीश्वरे—स्व-स्वामिभाव संबन्धमें 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो।

यस्मादधिकं—जिससे अधिक हो तद्वाचक शब्दसे सप्तमी नित्य हो और जिससे ईश्वर वचन विवक्षित हो तद्वाचक शब्दसे पर्यायेण सप्तमी हो।

नोट—'आधारे च तथा भावे विभक्तिः सप्तमी भवेत्।
अनादरे च निर्धारणेषष्ठी स्यात् सप्तमी तथा॥'

शुद्ध करो—बालकं वसति। स काश्यां गच्छति। पितुः सह गच्छति। इदं मम रोचते। स मां क्रुध्यति। यत्तस्य विना किं स्यात्?। मानवेर्ब्राह्मणः श्रेष्ठः। छात्रस्य पर्णं यच्छति। गुरोर्नमः। स आचार्यं बिभेति।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कारक प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ समासप्रकरणम्

तत्र केवलसमासः

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः। प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः॥ **समर्थः पदविधिः** ।२।१।१। पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः॥ **प्राक्कडारात् समासः** ।२।१।३। 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते॥ **सह सुपा** ।२।१।४। सुप् सुपा सह वा समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुपो लुक्। परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः।

तत्रेति। पञ्चविधेषु समासेष्वित्यर्थः। समसनम्। इत्यस्य मिलनमित्यर्थः। तथा पृथगर्थपदानामेकार्थोपस्थितिजनकत्वरूपमित्यर्थः। विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त इति। विशेषाश्च ताः संज्ञाः विशेषसंज्ञाः अव्ययीभावादयस्ताभिर्विनिर्मुक्तो रहितो विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः। अव्ययीभावादिविशेषसंज्ञारहितः केवलसमास इत्यभिधीयते। समर्थः पदविधिः। सामर्थ्यं द्विविधम्। व्यपेक्षारूपम्, एकार्थीभावरूपञ्च। तत्र स्वार्थपर्यवसायिनां पदानाम् आकाङ्क्षादिवशात्परस्परसम्बन्धरूपा व्यपेक्षा। सा च 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादि वाक्ये एव। स्वार्थपर्यवसायिनां पदानां विशेषणविशेष्यभावापन्नानामेकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभावत्वम्। तच्च 'राजपुरुषः' इत्यादिवृत्तावेव। सह सुपा। 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबित्यनुवर्तते। सुबन्तं सुबन्तेन सहोच्चारितं समाससंज्ञं भवतीति फलति। परार्थाऽभिधानं वृत्तिरिति। स्वघटकान्तर्गताऽपरपदा

समासः पञ्चधा—समास पाँच प्रकारके होते हैं—१ केवलसमास, २ अव्ययीभाव समास, ३ तत्पुरुष समास ४ बहुव्रीहि समास और द्वन्द्व समास।

नोट —'एकार्थवाचकानां प्राप्तो मिलार्थकाऽनेकपदसमूहः समासः'।

दो या अधिक पदोंके एकपदीकरणको समास कहते हैं।

विशेष—विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त अर्थात् तत्पुरुष, अव्ययीभावादि विशेषसंज्ञा रहितको 'केवल समास' कहते हैं। यथा—पूर्वं भूतः—भूतपूर्वः।

समर्थः पदविधिः—पदसम्बन्धी जो विधि वह समर्थाश्रित हो।

प्राक्कडारात्—'कडाराः कर्मधारये' इस सूत्रसे पूर्व 'समास' का अधिकार है।

सह सुपा—(समर्थ) सुबन्तका सुबन्तके साथमें समास हो।

(इन पाँचोंका शास्त्रीय विवरण—'कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपपञ्चवृत्तीनां

कृत्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। स च लौकिकोऽलौकिकश्च द्विधा। तत्र पूर्वं भूत इति लौकिकः, पूर्व अम् भूत सु इत्यलौकिकः। भूतपूर्वः। भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात्पूर्वनिपातः॥ (इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च)। वागर्थौ इव वागर्थाविव।

इति केवलसमासः॥



अथ अव्ययीभावप्रकरणम्

अव्ययीभावः। २। १। ५। अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात्। अव्ययं

र्थान्तर्भावेण वा यो विशिष्टोऽर्थः स परार्थः, सोऽभिधीयते येन तत्परार्थाभिधानमित्यर्थः। कृत्यर्थावबोधकमिति वृत्तीनां पञ्चविधानामर्थस्यावबोधकं वाक्यं विग्रह इत्यर्थः। भूतपूर्वः। पूर्व+अम्, भूत+सु इत्यलौकिकविग्रहे 'सह सुपा' इति समासे जाते समासत्वात् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसञ्ज्ञायाम् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि 'पूर्व+भूत' इत्यवशिष्टे अत्र 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति द्वयोरप्युपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति विनिगमकाऽभावात् उभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते 'भूतपूर्वे चरट्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते, 'एकदेशविकृत' न्यायेन प्रातिपदिकत्वात्सौ, रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः। इति केवलसमासः।



अव्ययीभावः। अधिकारोऽयमिति। एकसंज्ञाऽधिकारेऽपि अनया संज्ञया समाससञ्ज्ञा न बाध्यते इति 'प्राक्कडारात्' इत्यप्रोक्तम्। अव्ययं विभक्तीत्यादि। अव्ययं-

---

सर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः' इति तात्पर्यम्)

इवेन समासो—'इव' शब्दके साथ समास हो, पर विभक्तिका लोप नहीं हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें केवलसमास समाप्त हुआ।



अव्ययीभावः—तत्पुरुष समाससे पूर्व अव्ययीभावका अधिकार है।

(अव्ययीभाव समास विधायक सूत्रसे अव्ययीभाव संज्ञा भी समासके साथ २ होगी)

नोटः—अव्ययीभाव समास-निष्पन्न शब्द नपुंसक लिङ्ग ही होता है और उसके उत्तर पञ्चमी विभक्तिको छोड़कर सभी स्वादि विभक्तियोंके स्थानमें 'अम्' हो जाता है। केवल अकारान्त शब्दके उत्तर तृतीया और सप्तमीके स्थानमें विकल्पसे 'अम्' होगा। यथा—अधिगोपं कृष्णः। अधिगोपं कृष्णौ॥ अधिगोपम्, अधिगोपेन वा कृष्णेन। अधिगोपं कृष्णाय। अधिगोपात् कृष्णात्। अधिगोपं कृष्णस्य। अधिगोपम्, अधिगोपे वा कृष्णे।

विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु ।२।१।६। विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन नित्यं समस्यते। प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः। प्रायेणास्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ-हरि ङि अधि इति स्थिते ॥ **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** ।१।२।४३। समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनं स्यात्। **उपसर्जनं पूर्वम्** ।२।२।३०। समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्। इत्यधेः प्राक् प्रयोगः। सुपो लुक्। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः। अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक्। अधिहरि॥ **अव्ययीभावश्च**

मिति शब्दनिर्देशः। विभक्त्यादिरर्थनिर्देशः। उच्यन्ते इति वचनाः। कर्मणि ल्युट्। विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि, अर्थाभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य, अन्त, एतेषां षोडशानां द्वन्द्वः। ते च ते वचनाश्च इति विग्रहः। विभक्त्यर्थादिषु वाच्येष्वित्यर्थः। अव्ययीभावः, समासः, इति चाधिकृतम्। तदाह-विभक्त्यर्थादिष्विति। प्रथमानिर्दिष्ट मिति। अत्र समासपदं लक्षणया समासविधायकशास्त्रपरम्। तथा च समासविधायकशास्त्रे प्रथमान्तपदोच्चारितं यत्पदं तदुपसर्जनसंज्ञमिति निष्कृष्टोऽर्थः। उपसर्जनं पूर्वमिति। अत्र सूत्रे लौकिकोपसर्जनं शास्त्रीयोपसर्जनं च गृह्यते। पूर्वमित्यस्य पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थ इति भावः। अधिहरि। हरौ इत्यधिहरि, अत्र 'हरि ङि अधि'

विशेष जानकारीके लिये निम्न(१) टिप्पणी (समासचन्द्रिका) देखो।

अव्ययं विभक्ति—विभक्त्यर्थादिमें वर्तमान जो अव्यय, वह समर्थ सुबन्तके साथ नित्य समस्त हो। (वही अव्ययीभाव कहलाता है)

प्रथमानिर्दिष्टं—समास शास्त्रमें प्रथमानिर्दिष्टकी उपसर्जन संज्ञा हो।

नोट—समास शास्त्र माने समासविधायक सूत्र, उस सूत्रघटक जो प्रथमान्त पद, तन्निर्दिष्ट समस्यमान जो 'प्रथमान्त' हो, उसकी उपसर्जन संज्ञा हो। उदाहरण देखो—'अधिहरि'। यहाँ समासशास्त्र हुआ 'अव्यय विभक्ति' यह शास्त्र (सूत्र), इस सूत्रघटक प्रथमान्त पद हुआ 'अव्ययम्' यह पद, इससे निर्दिष्ट हुआ 'अधि', इसलिए अधिकी उपसर्जनसंज्ञा होती है—'हरि' की नहीं।

उपसर्जनं पूर्वम्—समासमें उपसर्जनका पूर्व प्रयोग हो।

अव्ययीभावश्च—अव्ययीभाव समास नपुंसक लिंग हो।

---

(१) प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः। 'उन्मत्तगङ्गम्' इत्यादौ अव्ययीभावेऽपि पूर्वपदार्थप्राधान्याभावात् प्रायेण इत्युक्तम्। स द्विधा नित्यानित्यभेदात्। स्वघटकान्यपदविग्रहो नित्यसमासः। स्वघटकपदविग्रहोऽनित्यसमासः॥ तत्र नित्ये केवलनित्यो यथा—

२।४।१८। नपुंसकं स्यात् । गाः पातीति गोपाः, तस्मिन्नित्यधिगोपम् ॥ नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः ।२।४।८३। अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् ॥ तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ।२।४।८४। अदन्तादव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः । उपकृष्णेन-उपकृष्णम् । बहुलग्रहणात् सुमद्रसुन्मत्तगङ्गमित्यादौ नित्यमम्भावः । मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा संप्रति न युज्यतेऽतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाशः इतिहरि । विष्णोः पश्चादनुविष्णु । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः । रूपस्य योग्यमनुरूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति ॥ अव्ययीभावे

इति स्थिते 'अव्ययं विभक्ति०' इति समासे 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्यधीत्यस्योपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यधीत्यस्य पूर्वनिपातत्वे 'अधिहरि ङि' इति जाते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति ङेर्लुकि, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्समुदायात्सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च कृते 'अधिहरि' इति । अधिगोपम् । गोपि, इत्यधिगोपम्—इत्यत्र 'गोपा ङि अधि' इति स्थिते 'अव्ययं विभक्ति०' इति समासे, सुब्लुकि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति अधीत्यस्योपसर्जनसञ्ज्ञायाम्, 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात् सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन क्लीबत्वात् 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति गोपा इत्यस्य ह्रस्वत्वे, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेनाव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लोपे प्राप्ते, तम्बाधित्वा 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इति सोरमि, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च 'अधिगोपम्' इति रूपम् । विष्णोः पश्चादनुविष्णु । अनु इत्यव्ययं पश्चादर्थे वर्तते इत्यर्थः । सूत्रे यथाशब्देन तदर्थो लभ्यते । यथार्थ विद्यमानमव्ययं समस्यते इति लभ्यते इत्यभिप्रेत्याह—योग्यतेति । यथाशक्ति ।

नाव्ययी—अदन्त अव्ययीभावसे पर 'सुप्' का लुक् नहीं हो, किन्तु पञ्चमीविभक्तिको छोड़कर अन्य सभी विभक्तियों को 'अम्' आदेश हो जाय ।

तृतीया—अदन्त अव्ययीभावसे पर तृतीया और सप्तमीको बहुलप्रकार (विकल्प) से अम्भाव (अम् आदेश) हो ।

अव्ययीभावे—'सह' को 'स' आदेश हो, अव्ययीभाव समासमें, किन्तु कालवाचक

विष्णोः पश्चात्—अनुविष्णु । कृष्णस्य समीपम्=उपकृष्णम् । मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिः=दुर्यवनम् । ([illegible]) । मक्षिकाणामभावः=निर्मक्षिकम् । हिम-

घाकाले ।६।३।८१। सहस्य स स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहरि । काले तु-सहपूर्वाह्णम् । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत्सचक्रम् ॥ सदृशः सख्या ससखि । क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि ॥ यथाऽसादृश्ये ।२।१।७। असादृश्ये एव यथाशब्दः समस्यते । नेह-यथा हरिस्तथा हरः ॥ यावदवधारणे ।२।१।८। यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा इति यावच्छ्लोकम् ॥ सुप्प्रतिना मात्रार्थे ।२।१।९। शाकस्य लेशः शाकप्रति ॥ विभाषा ।२।१।११। अधिकारोऽयम् ॥ अपपरि-

---

अत्र यथेत्यव्ययं पदार्थानतिवृत्तौ वर्तते इत्यर्थः । तेन सह 'अव्ययं विभक्ति०' इत्यादिना समासे, प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति उपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति पूर्वनिपाते, समुदायात् सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च तत्सिद्धिः । यथाऽसादृश्य इति । सादृश्यभिन्नार्थे यथाशब्दः समस्यते सोऽव्ययीभावः । यथा हरिरित्यत्र हरिहरयोः सादृश्यावगमान्न समासः । यावदिति । अवधारणार्थे गम्ये यावत् शब्दः समस्यते सोऽव्ययीभावः । यावच्छ्लोकम् । 'यावन्तः श्लोकास्तावन्तः प्रणामाः' इति विग्रहे अव्ययीभावसमासे सुब्लुकि 'प्रथमानिर्दिष्टम्' इति यावत् उपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ 'नाव्ययीभावात्' इत्यमि पूर्वरूपे यावच्छ्लोकम् इत्यस्य सिद्धिः । सुप्प्रतिनेति । मात्रार्थे गम्ये सुबन्तं प्रतिना समस्यते । शाकस्य लेशः शाकप्रति, अत्र मात्रार्थे समासे 'प्रथमानिर्दिष्टम्' इति सुबन्तस्योपसर्जनत्वे तस्य पूर्वनिपाते सौ, अव्ययीभावात् अव्ययत्वात्सुब्लुकि, 'शाकप्रति' इति रूपम् । विभाषा । अधिकारोऽयम् । पूर्वेऽत्र महाविभाषेति कथ्यते । अपपरीति । पञ्चम्यन्तेन एते समस्यन्ते सोऽव्ययीभावः । विभाषाधिकारात्पक्षे पञ्चम्यन्तं वाक्यम् ।

परे रहनेपर नहीं हो ।

यथाऽसादृश्ये—असादृश्यमें ही 'यथा' शब्द समस्त हो । यावदवधारणे—अवधारण अर्थमें 'यावत्' शब्द समस्त हो । सुप्प्रतिना—मात्रार्थमें वर्तमान 'प्रति' के साथ समर्थ सुबन्तका समास हो ।

विभाषा—यह अधिकार सूत्र है । अपपरिबहि—अप, परि, बहिस् और अञ्च्—ये पञ्च-

---

स्यात्यय = अतिहिमम् । निद्राऽसम्प्रति = अतिनिद्रम् (निद्रा न युज्यत इत्यर्थः) । हरिशब्दस्य प्रकाश —इतिहरि । रूपस्य योग्यम्-अनुरूपम् । हरेः सादृश्य-सहरि । सदृशः सख्या = ससखि । क्षत्राणां सम्पत्ति = सक्षत्रम् । यावन्तः श्लोकास्तावन्तः = यावच्छ्लोकम् (अच्युतप्रणामाः) । शाकस्य लेश = शाकप्रति । अक्षेण विपरीतं वृत्तम् = अक्षपरि । शलाकया विपरीतं वृत्तं = शलाकापरि ।

बहिरञ्चवः पञ्चम्या ।२।१।१२। अपविष्णु संसारः-अप विष्णोः। परिविष्णु-परि विष्णोः। बहिर्वनम्-बहिर्वनात्। प्राग्वनम्-प्राग्वनात्॥ **तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च ।२।१।१७।** एतानि निपात्यन्ते। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः॥ **पारे मध्ये षष्ठ्या वा ।२।१।१८।** पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते। एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते। पारेगङ्गम्। गङ्गापारम्। मध्येगङ्गम्। गङ्गामध्यम्। महाविकल्पेन वाक्यमपि॥ **संख्या वंश्येन ।२।१।१९।** वंशो द्विधा-विद्यया जन्मना च। तत्र भवो वंश्यः। तद्वाचिना सह संख्या समस्यते। द्वौ मुनी वंश्यौ-द्विमुनि। व्याकरणस्य त्रिमुनि। विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां—

अपविष्णु। अप विष्णोरिति विग्रहे परि विष्णोरिति विग्रहे च 'अपपरि' इति समासे सुब्लुकि अपपर्योरुपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ अव्ययत्वात्सुब्लुकि प्रयोगसिद्धिस्तदभावे वाक्यमिति भावः। एवं बहिर्वनम्, प्राग्वनम्। अत्रापि पञ्चम्यन्तेन समस्तत्वे पूर्वनिपाते सौ 'नाव्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपसिद्धिः। 'तिष्ठद्गु इति'। एतानि निपात्यन्ते। तिष्ठद्गु। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् इति विग्रहे निपातनात्समासे सुब्लुकि तिष्ठत् शब्दस्य पूर्वनिपाते सौ अव्ययत्वात्सुब्लुकि 'तिष्ठद्गु' इति रूपसिद्धिः। पारे मध्ये षष्ठ्या वेति। षष्ठ्यन्तेन वा पारमध्यौ समस्येते। एदन्तत्वं निपातनात्। पक्षे विभाषाधिकारात् षष्ठ्यन्तं वाक्यमपि। पारगङ्गम्-मध्येगङ्गम्। पारमध्ययोर्गङ्गापदेन समस्तत्वे सुब्लुकि 'प्रथमा०' इति उपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ नपुंसकत्वे ह्रस्वे 'नाव्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपसिद्धिः। पक्षे गङ्गापारम्-गङ्गामध्यम्। अत्र गङ्गायाः पारं मध्यं वा इत्यत्र 'षष्ठी' इति समासे सुब्लुकि सुपि अमि रूपे भवतः। तदभावे विभाषाधिकारात् 'गङ्गायाः पारम्' 'गङ्गायाः मध्यम्' इति वाक्यद्वयमपि साधु। संख्येति। वंशे भवो वंश्यः। तद्वाचिना संख्यावाचकः समस्यते। द्विमुनि-त्रिमुनि। अत्र द्वित्रिपदयोर्मुनिपदेन समासे सुब्लुकि संख्याबोधकयोः पूर्वनिपाते नपुंसकत्वे सौ सुब्लुकि 'द्विमुनि-त्रिमुनि' इति प्रयोगद्वयं साधु।

ष्यन्त के साथ समस्त हो। तिष्ठद्गु—तिष्ठद्गु प्रभृति निपातन हो। पारेमध्ये—पार और मध्य शब्द षष्ठ्यन्तके साथ समस्त हों, विकल्पसे (समासके साथ ही साथ एदन्तत्व भी निपातन होता है)

संख्या वंश्येन—वंश्यवाची सुबन्तके साथ संख्यावाचक समर्थ सुबन्त समस्त हो।

तत्र नित्ये क्रियान्वितो नित्योऽव्ययीभावो यथा-हरौ इति = अधिहरि (तिष्ठति ब्रह्माण्डम्)। विष्णोः पश्चात् = अनुविष्णु (प्रकाशते ब्रह्मा)। शक्तिमनतिक्रम्य = यथाशक्ति (ददाति देवदत्तः)। तृणमप्यपरित्यज्य = सतृणम् (अत्ति देवदत्तः)। अग्निग्रन्थपर्यन्तं = साग्नि (अधीते छात्रः)। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण=अनुज्येष्ठम् (संस्कर्तव्याः पुत्राः)।

त्रिमुनि व्याकरणम्। एकविंशतिभारद्वाजम्॥ **नदीभिश्च** ।२।१।२०। नदीभिः संख्या वा समस्यते। समाहारे चायमिष्यते। सप्तगङ्गम्। द्वियमुनम्॥ **अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्** ।२।१।२१। अन्यपदार्थे सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम्। विभाषाऽधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञाऽनवगमादिह नित्यसमासः। उन्मत्तगङ्गं नाम देशः। लोहितगङ्गम्॥ **तद्धिताः** ।४।१।७६। आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम्॥ **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** ।५।४।१०७। शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपम्-उपशरदम्। प्रतिविपाशम्। शरद्। विपाश्। अनस्। मनस्। उपानह्। दिव्। हिमवत्। अनडुह्। दिश्। दृश्। विश्। चेतस्। चतुर्। त्यद्। तद्। यद्। कियत्। 'जराया जरस् च'। उपजरसम्॥ **अनश्च** ।५।४।१०८। अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच्॥ **नस्तद्धिते** ।६।४।१४४। नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्॥ **नपुंसकादन्यतरस्याम्**

त्रिमुनि व्याकरणमिति। अत्र विद्याया त्रयुतौ अभेदविवक्षायामेव तत्प्रयोगसिद्धिः। एकविंशतिभारद्वाजम्। अत्रापि समासे सुब्लुकि सौ नपुंसकत्वे सुब्लुकि रूपसिद्धिः। उपजरसमिति। जरायाः समीपमित्यर्थः। सामीप्ये उपेत्यस्य जरायाः इति षष्ठ्यन्तेन अव्ययीभावसमासे कृते टच्, सुब्लुक्, उपेत्यस्य पूर्वनिपातः टचो विभक्तित्वाभावात् तस्मिन् परेऽप्राप्ते जरसि, 'जराया जरस् च' अनेन जरस्, टजन्तात्परस्य सुपः अम्भाव इति भावः। उपराजमिति। राज्ञः समीपमित्यर्थः। सामीप्ये उपेत्य-

---

नदीभिश्च—नदीवाचक सुबन्तके साथ संख्यावाचक समर्थ सुबन्त समस्त हो, विकल्पसे। समाहारे—नदीवाचक का यह समास, समाहारमें ही इष्ट है। अन्यपदार्थे च—अन्यपदार्थमें वर्तमान जो सुबन्त वह नदीवाचक समर्थ सुबन्तके साथ नित्य समस्त हो, संज्ञामें।

तद्धिताः—पञ्चम अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त यह अधिकार है।

अव्ययीभावे शरत्—शरदादिसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, अव्ययीभावमें।

जरायाः—'जरा' शब्दका 'जरस्' आदेश हो और चकारात् 'टच्' प्रत्यय भी हो, अव्ययीभावमें। अनश्च—अन्नन्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो।

नस्तद्धिते—नान्त भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, तद्धितके परे। नपुंसकादन्य—अन्नन्त

अनित्ये केवलोऽनित्योऽव्ययीभावो यथा—गङ्गाया अनु = अनुगङ्गम्। (गङ्गादैर्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षितमित्यर्थः)। गङ्गायाः पारम् = पारेगङ्गम्। गङ्गायाः मध्ये = मध्येगङ्गम्। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् = तिष्ठद्गु (दोहनकाल)।

अथ अनित्ये क्रियान्वितोऽनित्योऽव्ययीभावो यथा—अर्थमर्थं प्रति = प्रत्यर्थम् (कप-दिशति गुरुः)। वनात् बहिः = बहिर्वनम् (सञ्चरन्ति व्याघ्राः) वनात् प्राक् = प्राग्वनं

।५।४।१०९। अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टच् वा स्यात्। उपचर्मम्—उपचर्म ॥ झयः ।५।४।१११। झयन्तादव्ययीभावाट्टच् वा स्यात्। उपसमित्—उपसमिधम् ॥ नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ।५।४।११०। वा टच् स्यात्। उपनदम्। 'यस्येति चे'ति इलोपः। उपनदीत्यादि ॥ गिरेश्च सेनकस्य ।५।४।११२। टच् वा स्यात्। उपगिरम्। उपगिरि ॥ (प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः) टच् स्यात्। अक्ष्णोऽभिमुखं प्रत्यक्षम्। अक्ष्णः परं परोक्षम्। अत एव समासः। परोक्षे लिडिति निपातनात्परस्यौकार इत्यादि ॥ इत्यव्ययीभावप्रकरणम् ॥

स्याव्ययीभावः। 'अनश्च' इति टच्। सुब्लुक्, टिलोपः, उपराजशब्दापेक्षयायं लुप्, अम्भावः। टचि परे 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इत्यस्याप्रवृत्तिः, टजन्तस्यैवाव्ययीभावसमासत्वेन अव्ययत्वात्। अतो 'नस्तद्धिते' इत्यारम्भः। नदीपौर्णमास्येति। टच् समासान्तो वेत्यर्थः। उपनदम्। नद्याः समीपमित्यर्थे समासे सुब्लुकि उपस्य पूर्वनिपाते 'उपनदी' इति जाते टचि भसंज्ञायां 'टेः' इति ईलोपे सौ नपुंसकत्वे 'नाव्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपम्। टजभावे ह्रस्वे सुब्लुकि 'उपनदि' इति द्वितीयं रूपम्। गिरेश्चेति। सेनकमहर्षिमते गिर्यन्ताद्वा टच्। उपगिरम्-उपगिरि। पूर्ववद्रूपसिद्धिः। प्रतीति। अक्षिशब्दात् टच् स्यात् प्रत्यक्षम्-परोक्षम्। अक्ष्णोऽभिमुखं अक्ष्णः परमित्यर्थे च समासान्तविधानसामर्थ्यात्समासे सुब्लुकि प्रत्यक्षि-परोक्षि' इति जाते 'परोक्षे लिट्' इति निपातनात् ओकारे 'प्रतिपर' इति टचि भसंज्ञायां 'टेः' इति टेर्लोपे सात्वमि पूर्वरूपे सिद्धिः॥ इत्यव्ययीभावः॥

जो क्लीब, तदन्त जो अव्ययीभाव, उससे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे।

झयः—झयन्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे।

नदीपौर्ण—नदी, पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दसे अव्ययीभावमें समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे। गिरेश्च—गिरि शब्दान्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे। प्रतिपर—प्रति, पर, सम् और अनुसे पर जो 'अक्षि' शब्द, उससे अव्ययीभाव समासमें समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अव्ययीभाव प्रकरण समाप्त हुआ।

(चरन्ति पशवः)। अग्नेः अभि = अभ्यग्नि। अग्निं प्रति = प्रत्यग्निं (पतन्ति शलभाः)। वनमनु = अनुवनं (गतोऽशनिः, वनस्य समीपं गत इत्यर्थः) मुक्तेः आ = आमुक्ति (संसारः, मुक्तिं मर्यादीकृत्य संसारस्तिष्ठतीत्यर्थः)। बाल्येभ्य आ = आबालं (हरिभक्तिः, बालानभिव्याप्य हरिभक्तिर्मुक्तये प्रभवतीत्यर्थः)। इत्यव्ययीभावः।

अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्

तत्पुरुषः ।२।१।२२। अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ॥ द्विगुश्च ।२।१।२३। तत्पुरुषसंज्ञः ॥ द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ।२।१।२४। द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते । कृष्णं श्रित –कृष्णश्रित ।

तत्पुरुष । प्रागिति । 'शेषो बहुव्रीहिः' इत्यत प्रागित्यर्थः । कृष्णश्रित । 'कृष्ण अम् श्रित सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति समासे 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति द्वितीयान्तस्य कृष्णमित्यस्यो पसर्जनसंज्ञायाम्, 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति पूर्वनिपाते, एकदेशविकृतन्यायेन

तत्पुरुष —बहुव्रीहिके पूर्व तत्पुरुषका अधिकार है ।

नोटः—तत्पुरुषमें जितने समासविधायक सूत्र हैं, उन सबसे समासके साथ साथ तत्पुरुषसंज्ञा भी होगी ।

द्विगुश्च—द्विगु समास भी तत्पुरुषसंज्ञक हो ।

नोट —तत्पुरुषका भेद 'कर्मधारय' और कर्मधारयका भेद 'द्विगु' समास कहलाता है ।

तत्पुरुष—जिस समासमें समस्त पदका अन्तिम खण्ड प्रधान हो और सभी खण्ड सम्बोधन तथा कर्त्ताको छोड़कर अन्य किसी भी कारककी विभक्तिका अर्थ लेकर परस्पर सम्बद्ध हों, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं । जैसे–शोकाकुल । मधुरमिश्र आदि ।

कर्मधारय—जिस तत्पुरुष समासमें विशेष्य-विशेषण या उपमान-उपमेयके समानाधिकरण (विशेष्य-विशेषणभावापन्न) का बोध हो, उसे कर्मधारय समास कहते हैं । (इसमें उत्तर पदका अर्थ प्रधान रहता है) जैसे—दीर्घाकारः । चन्द्रमुख, आदि । कर्मधारय समासमें दोनों पदोंके सम्बन्धको व्यक्त करनेवाले शब्दके लुप्त रहनेपर वह समास 'मध्यमपदलोपी समास' कहलाता है । जैसे—'पर्णनिर्मिता शाला पर्णशाला' 'शाकप्रिय पार्थिव -शाकपार्थिवः' आदि । द्विगु—कर्मधारय-सामासिक शब्दका पूर्व पद संख्यावाचक होनेसे वह समास द्विगु समास कहलाता है । यह समास अधिकतर समाहार अर्थमें और एकवचनान्त नपुंसकलिङ्ग होता है । इसके बहुतसे समस्त पद अनियमितरूपसे बनते हैं । जैसे—त्रिलोकी । पञ्चगवम्, आदि । विशेष जानकारीके लिए निम्न (१) टिप्पणीमें 'समासचन्द्रिका' देखो ।

द्वितीयाश्रिता-द्वितीयान्त पद, श्रितादिप्रकृतिक सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे ।

---

(१) प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । (अतिमालः, निष्कौशाम्बि इत्यादावुत्तरपदार्थप्राधान्याभावात्प्रायेणेति) स द्विधा व्यधिकरणः समानाधिकरणश्चेति । तत्र भिन्नविभक्तिकपदघटितो व्यधिकरणः । सोऽपि द्विधा अनित्यो नित्यश्च । तत्राऽनित्यः सप्तविधः ।

इत्यादि ॥ **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ।२।१।३०।** तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह प्राग्वत् । शङ्कुलया खण्डः-शङ्कुलाखण्डः । धान्येनार्थो-धान्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अक्ष्णा काणः ॥ **पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः ।२।१।३१।** तृतीयान्तमेतैः प्राग्वत् । मासपूर्वः । मातृसदृशः । पितृसमः । ऊनार्थे-माषोनं कार्षापणम् । माषविकलम् । वाक्कलहः । आचारनिपुणः । गुडमिश्रः । आचारश्लक्ष्णः ॥ **(अवरस्योपसंख्यानम्)** । मासावरः ॥ **अन्नेन व्यञ्जनम् ।२।१।३४।** संस्कारकद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्नेन

प्रातिपदिकत्वात्सौ, रुत्वे, विसर्गे च सिद्धिः । शङ्कुलाखण्डः । 'शङ्कुला टा खण्ड सु' अत्र 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति समासे प्रातिपदिकत्वे, सुपो लुकि, तृतीयान्तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात्पूर्वनिपाते, समुदायात्सौ, सस्य रुत्वे, रेफस्य विसर्गत्वे च सिद्धिः । धान्यार्थः । 'धान्य टा अर्थ सु' इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति समासे प्रातिपदिकत्वे, सुपो लुकि, तृतीयान्तस्य पूर्वनिपाते समुदायात्सौ, रुत्वे, विसर्गे च सिद्धिः । अक्ष्णा काण इति । नहि अक्ष्णा काणत्वं कृतम्, किन्तु रोगादिनेति भावः । पूर्वसदृशेति । पूर्व-सदृश-सम-ऊनार्थ-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्ण-एतैः सह तृतीयान्तं पदं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । मासपूर्वः-मातृसदृशः-पितृसमः-आचारनिपुणः-माषोनम्-माषविकलम्-वाक्कलहः-गुडमिश्रः-आचारश्लक्ष्णः । एषु मासेन पूर्वः-मात्रा सदृशः-पित्रा समः-आचारेण निपुणः-माषेण ऊनम्-माषेण विकलम्-वाचा कलहः-गुडेन मिश्रः-आचारेण श्लक्ष्णः इति विग्रहेषु तृतीयान्तैः सह समासे सुब्लुकि, तृतीयान्तस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुबादिकार्ये रूपाणां संसिद्धिः । अवरस्येति । तृतीयान्तेन समसनमुपसंख्यानमित्यर्थः । मासावरः । मासेनावर इत्यर्थे वार्तिकबलात्समासे सुब्लुकि मासस्य पूर्वनिपाते सुबादिकार्ये रूपसिद्धिः । अन्नेनेति । संस्कारकद्रव्यवाचकं व्यञ्जनम् । तृतीयान्तं तदृव्यवाचकेन समस्यते । दध्योदनम् । दध्नोपसिक्तमोद

तृतीया—तृतीयान्त पद, तृतीयान्तार्थकृत गुणवचनके साथ और अर्थ शब्दके साथ समस्त हो, विकल्पसे । पूर्वसदृश—तृतीयान्त पद, पूर्वादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे । अवरस्योप—तृतीयान्त पद, अवर प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे । अन्नेन—संस्कारकद्रव्य वाचक तृतीयान्त पद, समर्थ सुबन्तके साथ समस्त

वेष्वनित्येषु १. प्रथमातत्पुरुषो यथा—अर्धं पिप्पल्याः = अर्धपिप्पली । पूर्वं कायस्य = पूर्वकायः । प्राप्तो ग्रामं = प्राप्तग्रामः । आपन्नो देवान् = आपन्नदेवः । २. द्वितीयातत्पुरुषो यथा—कृष्णं श्रितः = कृष्णश्रितः । पितरौ प्राप्तः = पितृप्राप्तः । रामान् आपन्नः = रामापन्नः । ३. तृतीयातत्पुरुषो यथा-शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः । मासेन पूर्वं = मासपूर्वः । पितृभ्यां

सह प्राग्वत् । दध्ना उपसिक्तमोदनः दध्योदनम् ॥ **भक्ष्येण मिश्रीकरणम्** ।२।१।३५। गुडेन *मिश्रा धाना—गुडधाना* ॥ **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** ।२।१।३२। कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः । नखभिन्नः ॥ (**कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्**) । नखनिर्भिन्नः ॥ **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः** ।२।१।३६। चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिना-ऽर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु—यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्यते । तेनेह न—रन्धनाय स्थाली । अश्वघासादयस्तु षष्ठीतत्पुरुषाः ॥ (**अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्**) । द्विजायार्थं

मित्यर्थे समासे पूर्वनिपाते चाणि सुबादिकार्यं प्रयोगसिद्धिः । पक्षे वाक्यमपि । नखनिर्भिन्नः । नखनिर्भिन्न—नखनिर्भिन्न इत्यत्र कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणात् 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासे, प्रातिपदिकसंज्ञायाम् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, नखस्य पूर्वनिपाते विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । *चतुर्थी तदर्थार्थे । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया चतुर्थीत्यनेन चतुर्थ्यन्तं गृह्यते ।* तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित एषां द्वन्द्वः । चतुर्थ्यन्तम् एतैः सह समस्यते, स तत्पुरुष इति फलितम् । तदर्थेत्यत्र तच्छब्देन चतुर्थ्यन्तार्थो विवक्षितः तस्मै चतुर्थ्यन्तार्थाय इदं तदर्थम् । 'अर्थेन नित्यसमासः' इति वक्ष्यमाणः समासः । चतुर्थ्यन्तवाच्यप्रयोजकं यत् तत् तदर्थमिति पर्यवस्यति । तदाह—चतुर्थ्यन्तार्थाये-त्यादिना । रन्धनायेति पाकायेत्यर्थः । स्थाल्याः चतुर्थ्यन्तवाच्यपाकार्थत्वेऽपि प्रकृति

हो, विकल्पसे । भक्ष्येण—मिश्रीकरण वाचक तृतीयान्त पद, भक्ष्य वाचक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे । कर्तृकरणे—कर्ता और करणमें जो तृतीया, वह कृदन्तके साथ बहुत प्रकारसे समस्त हो । कृद्ग्रहणे—कृत् ग्रहणमें गतिकारक पूर्वका भी ग्रहण हो ।

चतुर्थी—चतुर्थ्यन्तार्थके लिये जो है, तद्वाचक जो समर्थ सुबन्त उसके साथ और अर्थादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ चतुर्थ्यन्त समस्त हो, विकल्पसे ।

नोट—'यूपाय दारु यूपदारु' यहां पर 'यूपाय' यह चतुर्थ्यन्त है, इसका अर्थ हुआ 'यूप' इसके लिये जो ('दारु') है, तद्वाचक समर्थ सुबन्त हुआ 'दारु सु' इसके साथ चतुर्थ्यन्त 'यूपाय' का समास होता है ।

अर्थेन—अर्थ शब्दके साथ चतुर्थ्यन्तका नित्य समास हो और विशेष्यलिङ्गता भी हो ।

सदृश=पितृसदृशः । मधुरे मिश्र=मधुरमिश्रः । ४ चतुर्थीतत्पुरुषो यथा—यूपाय दारु=यूपदारु । पितृभ्यो बलि=पितृबलिः । गोभ्यो हितं=गोहितम् । ५. पञ्चमीतत्पुरुषो यथा—चोराद्भयं—चोरभयम् । पितृभ्यां मोक्ष=पितृमोक्षः । पापेभ्योऽपेतः—पापापेतः । ६ षष्ठीतत्पुरुषो यथा—भुवनस्य वर=भुवनवरः । राज्ञः पुरुष=राजपुरुषः । पितोर्मतः=पितृमतः ।

द्विजार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् ॥ **पञ्चमी भयेन ।२।१।३७।** चोराद् भयं चोरभयम् ॥ **स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ।२।१।३९। पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ।६।३।२।** अलुगुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्रादागतः । **षष्ठी ।२।२।८।** सुबन्तेन प्राग्वत् । राज्ञः पुरुषः-राजपुरुषः । **याजकादिभिश्च ।२।२।९।** षष्ठ्यन्तं समस्यते । वक्ष्यमाणस्यापवादः । ब्राह्मणयाजकः । देवपूजकः । याजक, पूजक, परिचारक, परिषेचक, स्नातक, अध्यापक, उत्पादक, उद्वर्तक, होतृ, पातृ, भर्तृ, रथगणक,

विकृतिभावविरहान्न समासः । द्विजार्था यवागूरिति । द्विजायेयमिति विग्रहः । अर्थशब्दस्य नित्यपुंल्लिङ्गत्वेऽपि 'परवल्लिङ्गम्' इति पुँल्लिङ्गं बाधित्वा अनेन विशेष्यलिङ्गानुसारेण स्त्रीलिङ्गता । चोरभयम् । 'चोर ङसि भय सु' इत्यत्र 'पञ्चमी भयेन' इति समासे सुपो लुकि, पञ्चम्यन्तस्य पूर्वनिपाते समुदायात्सौ, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । स्तोकान्तिक । स्तोक, अन्तिक, दूर, एतदर्थकानि, कृच्छ्र एतानि पञ्चम्यन्तानि क्तप्रत्ययान्तेन समस्यन्त इत्यर्थः । अर्थग्रहणं स्तोकान्तिकदूरेषु सम्बध्यते । स्तोकान्मुक्तः । 'स्तोक ङसि, मुक्त सु' इत्यत्र 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' इति समासे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि प्राप्ते, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इति पञ्चम्या अलुकि, 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति ङसेरादादेशे सवर्णदीर्घे, समुदायात्सौ, रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः । राजपुरुषः । 'राजन् अस् पुरुष सु' इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये 'षष्ठी' इत्यनेन समासे सति 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुकि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे, विभक्तिकार्ये च कृते 'राजपुरुषः' इति सिद्धम् । याजकादिभ्यश्चेति । याजकादिगणपठितैः षष्ठ्यन्तं समस्यते । ब्राह्मणयाजकः, देवपूजकः । ब्राह्मणस्य याजकः-देवस्य पूजकः इति विग्रहे 'याजकादिभिश्च' इति समासे सुब्लुकि षष्ठ्यन्तस्य पूर्वनिपाते

पञ्चमी भयेन—भयप्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ पञ्चम्यन्त समस्त हो, विकल्पसे ।
स्तोकान्तिक—क्तान्त प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ स्तोकादि समस्त हो, विकल्पसे ।
पञ्चम्याः—स्तोकादिसे पर पञ्चमीका अलुक् हो, उत्तरपदके परे ।
षष्ठी—समर्थ सुबन्तके साथ षष्ठ्यन्तका समास हो । याजकादिभिश्च—याजकादि

नराणां पतिः = नरपतिः । ७. सप्तमीतत्पुरुषो यथा—अक्षेषु शौण्डः=अक्षशौण्डः । कर्मणि कुशलः = कर्मकुशलः । कपालयोः सिद्धः = कपालसिद्धः । इत्यनित्यस्याधिकरणः ।
अथ नित्यः । स द्विविधः । सुबन्तसमासः कृदन्तसमासश्चेति । तत्र नित्ये षष्ठिकरणे

पतिगणक, इति याजकादि । (गुणात्तरेण तरलोपश्च) । तरबन्तं यद् गुणवाचि तेन समासः । सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः । सर्वेषां महत्तरः -सर्वमहान् ॥ **न निर्धारणे** ।२।२।१०। षष्ठी न समस्यते । नृणां द्विजः श्रेष्ठः ॥ **पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन** ।२।२।११। पूरणाद्यर्थैः सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते । पूरणे-सतां षष्ठः । गुणे-काकस्य कार्ष्ण्यम् । सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः फलानां सुहितः । सत्-द्विजस्य कुर्वन् कुर्वाणो वा । ब्राह्मणस्य कृत्वा । पूर्वोत्तरसाहचर्यात् कृदव्ययमेव गृह्यते । तेन तदुपरीत्यादि सिद्धम् । ब्राह्मणस्य कर्त-

---

सुबादिकार्ये 'ब्राह्मणयाजकः' 'देवपूजकः' इति रूपे भवतः । गुणादिति । गुणात् गुणवाचकात् यः तरप् तेन तरबन्तेन समासस्तरपो लोपश्चेत्यर्थः । सर्वश्वेतः । सर्वेषां श्वेततरः इति विग्रहे 'गुणात्' इति समासे सुब्लुकि तरपो लोपे सुबादिकार्ये 'सर्वश्वेतः' इति रूपम् । सर्वमहान् । सर्वेषां महत्तरः सर्वमहानिति विग्रहे समासे सुब्लुकि तरपो लोपे षष्ठ्यन्तस्य पूर्वनिपाते सुबादि कार्ये 'सर्वमहान्' इति रूपम् । न निर्धारण इति । 'षष्ठी' इत्यतः षष्ठीत्यनुवर्तते । षष्ठी न समस्यते निर्धारणे । नृणां द्विजः श्रेष्ठः, अत्र नृषु द्विजस्य श्रेष्ठत्वेन निर्धारणत्वान्न समास इत्यर्थः । पूरणेति । अत्रापि षष्ठीत्यनुवर्तते 'न निर्धारणे' इत्यतो नेति च । क्रमशः उदाहरति । पूरणे 'सतां षष्ठः' अत्र षष्ठो पूरणः षष्ठ इति पूरणार्थप्रत्ययत्वेन न समासः । गुणे 'काकस्य कार्ष्ण्यम्' अत्र कृष्णो गुणस्तस्य भावः कार्ष्ण्यम् इति गुणेन न समासः । सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः 'फलानां सुहितः' अत्र सुहितस्य योगे न समासः । सत्-'द्विजस्य कुर्वन्-कुर्वाणः' अत्र शतृशानचोः 'तौ सत्' इति सत्संज्ञाविधानान्न तेन षष्ठ्यन्तस्य समासः । अव्ययम्-ब्राह्मणस्य कृत्वा 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इति क्त्वाप्रत्ययस्याव्यये परिगणनात् न तेन समासः । कृदव्ययस्यैव ग्रहणं भवति न तद्धितस्य, तेन 'तदुपरि' इत्यादीनां सिद्धिः समभवत्येवेति भावः । तव्य-'ब्राह्मणस्य-कर्तव्यम्' इति तव्यान्तेन न समासः । समानाधिकरणानां समा

प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ षष्ठ्यन्तका समास हो, विकल्पसे । गुणात्तरेण—तरबन्त जो गुणवाची शब्द, उसके साथ षष्ठ्यन्त समस्त हो और तरप् प्रत्ययका लोप भी हो ।

न निर्धारणे—निर्धारणमें ('यतश्च निर्धारणे' से विहित) जो षष्ठी, वह सुबन्तके साथ समस्त नहीं हो ।

पूरणगुण—पूरण, गुण और सुहितार्थक प्रत्यय तथा सत् (शतृ-शानच्), अव्यय, तव्य और समानाधिकरणके साथ षष्ठी समस्त नहीं हो ।

तत्पुरुषे सुबन्तसमासो यथा—द्विजायाऽयम्=द्विजार्थो (सेवः) । पितृभ्यामिय=पित्रर्था (पूजा) । देवेभ्य इद=देवार्थम् (हविः) । अतिक्रान्तो मालाम्=अतिमालः । अपकुट-

व्यम्। तक्षकस्य सर्पस्य ॥ **क्तेन च पूजायाम्** ।२।२।१२। मतिबुद्धीति सूत्रेण विहितो यः क्तस्तदन्तेन षष्ठी न समस्यते। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ॥ **अधिकरणवाचिना च** ।२।२।१३। क्तेन षष्ठी न समस्यते। इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा ॥ **कर्मणि च** ।२।२।१४। उभयप्राप्तौ कर्मणीति या षष्ठी सा न समस्यते। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥ **तृजकाभ्यां कर्तरि** ।२।२।१५। कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः। अपां स्रष्टा। वज्रस्य भर्ता। ओदनस्य पाचकः ॥ **कर्तरि च** ।२।२।१६। कर्तरि षष्ठ्या अकेन न समासः। भवतः शायिका ॥ **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** ।२।२।१। अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य–पूर्वकायः। अपरकायः। एकदेशिना किम्? पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्राणाम्। **अर्धं नपुंसकम्** ।२।२।२। समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः–

नमधिकरणं ययोर्येषां वा तैनं समासः। अधिकरणेति। क्तान्तेन षष्ठी न समस्यते। अत्र 'षष्ठी' इत्यतः षष्ठीति 'न निर्धारणे' इत्यतो नेति च तथा 'क्तेन' इत्यतः क्तेनेति च अनुवर्तनेन अधिकरणवाचिनेति क्तस्य विशेषणम्। अधिकरणार्थे विहितेन क्तेन षष्ठ्यन्तं न समस्यते। तेनेदमेषामासितमित्यादि न समस्यते। कर्मणि चेति। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति षष्ठी न समस्यते। 'गवां दोहः' अत्र न समस्यतेऽनुभयप्राप्तकर्मणः षष्ठ्या निषेधात्। तृजेति। अत्रापि 'षष्ठी' इत्यनुवृत्तं विपरिणम्यते। अपां स्रष्टा-वज्रस्य भर्ता। अत्र तृजन्तस्य स्रष्टृपदस्य भर्तृपदस्य च 'ओदनस्य पाचकः' इत्यत्राकान्तस्य न षष्ठ्यन्तेन समासः। कर्तरि चेति। कर्तरि षष्ठ्या न समासः। अत्राकेति चानुवर्तते। भवतः शायिका। अत्राकान्तत्वे न समासः। निषेधात्।

क्तेन—'गतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः' इस सूत्रसे विहित जो 'क्त' तदन्तके साथ षष्ठी समस्त नहीं हो। अधिकरण—अधिकरणवाची जो 'क्त' तदन्तके साथ षष्ठी समस्त नहीं हो।

कर्मणि च—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस सूत्रसे विहित जो षष्ठी, वह समस्त नहीं हो।

तृजकाभ्यां—कर्त्रर्थक 'तृच्' और 'अक' के साथ षष्ठी समस्त नहीं हो।

कर्तरि च—कर्तामें विहित जो षष्ठी वह 'अक' के साथ समस्त नहीं हो।

पूर्वापरा—यदि एकत्व संख्याविशिष्ट अवयवी हो तो, अवयववाची के साथ पूर्वादि समर्थ सुबन्त समस्त हो, विकल्पसे। अर्द्धं नपुंसकम्—समांशवाची नित्य नपुंसक अर्धं

कोकिलया = अवकोकिलः। परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः = निष्कौशाम्बिः। नित्ये त्वधिकरणे तत्पुरुषे कृदन्तसमासो यथा—प्रकर्षेण नीतः=प्रणीतः। सम्यक् मतः = संमतः। अनुपश्चात् गतः = अनुगतः। दुःखेन जेयः = दुर्जयः। सुखेन गम्यः =

अर्धपिप्पली ॥ (एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्) । इत्युपसर्जनसंज्ञाबाधाद्ध्रस्वो न । समे किम् ? ग्रामार्धः । द्रव्यैक्य एव । अर्धं पिप्पलीनाम् । द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् ।२।२।३। एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा । द्वितीयं भिक्षाया -द्वितीयभिक्षा । एकदेशिना किम् ? द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य । अन्यतरस्याम्ग्रहणसामर्थ्यात् पूरणगुणेति निषेधं बाधित्वा पक्षे षष्ठीसमासः । भिक्षाद्वितीयम् ॥ प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ।२।२।४। पक्षे-द्वितीयाश्रितेति समासः । प्राप्तो जीवन

अर्धपिप्पली । 'अर्ध सु पिप्पली ङस्' इत्यत्र 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्युपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति अर्धशब्दस्य पूर्वनिपाते समुदायात्सौ विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । अत्र पिप्पलीशब्दस्य विग्रहे नियतविभक्तिकत्वेऽपि 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' इति निषेधादुपसर्जनत्वाभावान्न ह्रस्व इति भावः । एकविभक्ताविति । 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनसंज्ञाबाधेऽषष्ठ्यन्तमिति ज्ञेयम् । तेन षष्ठ्यन्तस्योपसर्जनत्वाभावात् ह्रस्वादिकार्यं नेति । द्वितीयतृतीयेति । 'पूर्वापर' इत्यत एकदेशिनेति अनुवर्तते । अन्यतरस्यामिति विकल्पः । द्वितीयभिक्षा । द्वितीयं भिक्षाया इति विग्रहे 'द्वितीय' इत्यनेन समासे 'प्रथमा' इति द्वितीयस्योपसर्जनसंज्ञायां 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते सुब्लुकि सुबादिकार्ये रूपम् । महाविभाषयैव सिद्धेऽन्यतरस्यांग्रहणसामर्थ्यात् 'पूरणगुण' इति निषेधं बाधित्वा षष्ठीसमासः । भिक्षाद्वितीयम् । भिक्षाया द्वितीयं इति विग्रहे 'षष्ठी' इति समासे सुब्लुकि भिक्षाशब्दस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सुबादिकार्यं रूपम् । प्राप्तेति । एते

शब्द, समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हों, विकल्पसे । एकविभक्ताव—'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इस सूत्रसे नियत विभक्त्यन्त षष्ठ्यन्तकी उपसर्जनसंज्ञा नहीं हो ।

द्वितीय—द्वितीयादि सुबन्त एकदेशी (अवयवी) के साथ समस्त हों, विकल्पसे ।

नोट—'द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य' यहाँ पर 'द्वितीय' का अवयवी भिक्षुक नहीं है, किन्तु 'भिक्षा' है । अतः भिक्षुकके साथ 'द्वितीय' का समास नहीं होगा । किन्तु भिक्षाके साथ हो सकता है और 'द्वितीयभिक्षा भिक्षुकस्य' ऐसा वाक्य भी बन सकता है ।

प्राप्तापन्ने च—प्राप्त और आपन्न शब्दोंका द्वितीयान्तके साथ समास हो, विकल्पसे

सुगम । विशेषेण नेय = विनेय । अधिक पाति = अधिप । परितोऽटनं = पर्यटनम् । अभितो गमनम् = अभिगमनम् । आ समन्तात्कर्षणम् = आकर्षणम् । कुम्भं करोति = कुम्भकारः । द्वाभ्यां पिबति = द्विप । पङ्काज्जातं = पङ्कजम् । आत्मुखमुत्थानम् = आमुखम् । स्वर्गे तिष्ठति = स्वर्गस्थ । कुरुषु चरति = कुरुचरः । दूरं पश्यति = दूरदर्शी । इति नित्यः ।

प्राप्तजीवनः। जीवनप्राप्तः। आपन्नजीवनः। जीवनापन्नः। इह सूत्रे द्वितीयया अ इति छित्त्वा अकारोऽपि विधीयते। तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका। आपन्नजीविका॥ **कालाः परिमाणिना।२।२।५।** परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते। मासो जातस्य यस्य स मासजातः॥ **सप्तमी शौण्डैः।२।१।४७।** सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः-अक्षशौण्डः। शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, प्रवीण, संवीत, अन्तर, अधि, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण, इति शौण्डादिः॥ द्वितीया तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि द्वितीयादीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः॥ **दिक्संख्ये संज्ञायाम्।२।१।५०।** विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्येव सिद्धे संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषु कामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न, उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः॥ **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च**

पदे द्वितीयान्तेन समस्येते पूर्वनिपातञ्चाप्नुतः। प्राप्तजीवनः–आपन्नजीवनः। प्राप्तः आपन्नः जीवनमिति विग्रहे 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति समासे सुब्लुकि प्राप्तापन्नयोः पूर्वनिपाते सुबादिकार्ये रूपे भवतः। तदभावे 'द्वितीयाश्रित' इति समासे द्वितीयान्तस्य पूर्वनिपाते 'ओदनप्राप्तः-जीवनापन्नः' इति रूपे भवतः। तदभावे विभाषाधिकारात् उक्तार्थकं वाक्यमपि। स्त्रीत्वेऽपि उदाहरति। अत्र 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति सूत्रे द्वितीयया-अ इति पदं छिद्यते। तेन जीविकां प्राप्ता-आपन्ना वा जीविकाप्राप्ता जीविकापन्ना इति प्रकृष्टं साध्यते। काला इति। परिमाणं परिच्छेदकमस्यास्तीति परिमाणी-परिच्छेद्यस्तेन कालवाचकाः समस्यन्ते। मासजातः। मासो जातस्य यस्य इति विग्रहे परिच्छेदकं मासः परिमाणं तद् अस्यास्ति स जातः परिच्छेद्यस्तद्बोधकपदं जात इति तेन समासे सुब्लुकि सुबादिकार्ये 'मासजातः' इत्यस्य सिद्धिः। अक्षशौण्डः। 'अक्ष सुप् शौण्ड सु' इत्यत्र 'सप्तमी शौण्डैः' इति समासे सप्तम्यन्तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात्पूर्वनिपाते सुपो लुकि, विभक्ति-

---

और द्वितीयान्तको अकार आदेश भी हो। कालाः परिमाणिना—परिच्छेद्यवाची सुबन्तके साथ कालवाची सुबन्तका समास हो, विकल्पसे। सप्तमी शौण्डैः—शौण्डादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ सप्तम्यन्त समस्त हो, विकल्पसे। दिक्संख्ये—दिग्वाची और संख्यावाचीका संज्ञामें ही समानाधिकरण समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे। तद्धितार्थो—तद्धितार्थके

अथ समानाधिकरणतत्पुरुषः। स द्विविधः। नित्यानित्यभेदात्। नित्योऽपि त्रेधा-कृदन्तसमासः, सुबन्तसमासः, संख्यापूर्वपदश्चेति। तत्र नित्ये समानाधिकरणे तत्पुरुषे कृदन्तसमासो यथा—छत्रानः देवै-रणासनः। मदनूत्ते देवै-मधमूर्धन्यः। (अथवतो

।२।१।५१। तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भव —पौर्वशाल इति समासे कृते। (सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः)॥ दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः।४।२।१०७। अस्माद्भवाद्यर्थे ञ स्यादसंज्ञायाम्॥ तद्धितेष्वचामादेः।७।२।११७। ञिति णिति च तद्धिते अचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। 'यस्येति च'। पौर्वशाल। पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषः। तेन शालाशब्दे आकार उदात्तः। पूर्वशालाप्रियः। दिक्षु समाहारो नास्त्यनभिधानात्॥ (संख्यायास्तद्धितार्थे)। षण्णां मातॄणामपत्यं षाण्मातुरः। 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' इति वक्ष्यमाणोऽण्। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ अवान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते॥ (द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्)॥ गोरतद्धितलुकि।५।४।९२। गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात्समासान्तो न तु तद्धितलुकि। पञ्चगवधनः॥ संख्यापूर्वो द्विगुः।२।१।५२। तद्धितार्थेत्यत्रोक्तः संख्यापूर्वो द्विगुः॥

कार्ये च कृते तत्सिद्धिः। पौर्वशालः। पूर्वस्यां शालायां भव इत्यर्थे 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे कृते 'दिक्पूर्वपदात्' इति ञप्रत्यये कृते 'यस्येति च' इत्याकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इति आदिवृद्धौ, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति 'पूर्वा' इत्यस्य पुंवत्वे, समुदायस्य एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्सौ, रुत्वे विसर्गे च 'पौर्वशालः' इति। पञ्चगवधनः। पञ्च गावो धनं यस्य स पञ्चगवधनः—इत्यत्र 'पञ्चन्-जस्, गो-जस्, धन सु' इति त्रिपदे बहुव्रीहौ अवान्तरपञ्चगोशब्दयोः 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति वा समासे प्राप्ते 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' इति नित्ये समासे कृते 'सुपो

विषयमें उत्तर पदके परे समाहार वाच्यमें दिग्वाचक और संख्यावाचकका समास हो, विकल्पसे।

सर्वनाम्नो—सर्वनामको वृत्तिमात्रमें पुंवद्भाव हो। दिक्पूर्वपदा—दिक्पूर्वपदक (समास) से भवादि अर्थोंमें 'ञ' प्रत्यय हो, असंज्ञामें। तद्धितेष्वचामादे—अचोंके मध्य में आदि अच्की वृद्धि हो, ञित्-णित्-तद्धित प्रत्ययके परे। द्वन्द्वतत्पुरुषयो—समास वाच्यत्व उत्तरपदके परे अवान्तर द्वन्द्व और तत्पुरुषको नित्य ही समास होता है।

गोरतद्धित—गोन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, परन्तु तद्धितलुक्में नहीं हो। संख्यापूर्वो—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्रसे विहित संख्यापूर्वकका समास

मूर्धा यस्य सोऽवमूर्धा। अधोमुख सोते इत्यर्थः)। पूर्वं सरति-पूर्वसरः। नित्ये समासा विकल्पे तत्पुरुषे सुबन्तसमासो यथा—कुत्सितः पुरुषः=कुपुरुषः। कुत्सितोऽश्व=कदश्व। ईषदुष्ण=कोष्ण, कवोष्ण। कुत्सितः संघा=किसखा। ईषद आचार्यः=प्राचार्यः।

द्विगुरेकवचनम् ।२।४।१। द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात् ॥ **स नपुंसकम्** ।२।४।१७। समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात। पञ्चानां गवां समाहारः-पञ्चगवम् ॥ **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** ।२।१।५७। भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं-नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात्क्वचिन्नित्यम्-कृष्णसर्पः। क्वचिन्न-रामो जामदग्न्यः ॥ **(अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः)**। अपरश्चासावर्धश्च पश्चार्धः ॥ **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** ।२।१।६१। सह समस्यन्ते। सद्वैद्यः ॥ **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** ।६।३।४६। महावैयाकरणः ॥ **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** ।१।२।४२। **पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** ।६।३।४२। कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो

धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, पञ्चन्शब्दस्य नकारस्य 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति लोपे 'पञ्चगो' इत्यस्मात् 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि, अनुबन्धलोपे अवादेशे 'पञ्चगव' इति बहुव्रीहावन्तरे जाते बहुव्रीहिसमासस्यापि प्रातिपदिकत्वात् सोर्लोपे, समुदायात् सौ, रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः। पञ्चगवम्। पञ्चानां गवां समाहारः इत्यत्र 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे सुपो लुकि, पञ्चन्शब्दस्य नलोपे 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि, टचयोर्लोपे, 'पंच गो अ' इति भूते 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे, 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायाम्, 'द्विगुरेकवचनम्' इति एकवचने सौ, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वात्सोरमि, पूर्वरूपत्वे च विहिते 'पञ्चगवम्' इति सिद्धम्। घनश्यामः। अत्र घनशब्दो घनसदृशे लाक्षणिकः। 'घन सु श्याम सु' अत्र 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति समासे, सुपो लुकि, उपमानवाचकस्य घनशब्दस्य पूर्वनिपाते, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः।

द्विगुसंज्ञक हो। द्विगुरेकवचनम्—द्विग्वर्थ समाहार एकवत् हो। स नपुंसकम्—समाहारमें द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग हो। विशेषणं—विशेषण (भेदक) और विशेष्य (भेद्य), समानाधिकरण समर्थ सुबन्तके साथ बहुलप्रकारसे समस्त हो। अपरस्यार्धे—अपरको पश्चभाव (पश्चादेश) हो, अर्ध शब्दके परे। सन्महत्परमो—सदादि प्रकृतिक सुबन्तका पूज्यमान प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे। आन्महतः—'महत्' शब्दको आकारान्त आदेश हो, समानाधिकरण और जातीयर् प्रत्ययके परे। तत्पुरुषः समानाधि—समानाधिकरण तत्पुरुष कर्मधारय संज्ञक हो। पुंवत्कर्म—भाषितपुंस्कसे पर ऊङ्का अभाव है जिसमें,

---

अपगतो धर्मः = अपधर्मः। परागतो जयः = पराजयः। निर्गतं जलं = निर्जलम्। विगतो मार्गः = विमार्गः। मिश्रे समानाधिकरणे तत्पुरुषे संख्यापूर्वकत्वे यथा—सप्त ऋषिसंज्ञकाः = सप्तर्षयः।

भाषितपुंस्कात्पर ऊङभावो यस्मिंस्तथाभूतं पूर्वं पुंवत् । पूरणीप्रियादिष्वप्राप्तः पुंवद्भावोऽनेन विधीयते । महानवमी । कृष्णचतुर्दशी । महाप्रिया । पूज्यमाने किम् ? उत्कृष्टो गौ, पङ्कादुद्धृत इत्यर्थः ॥ **उपमानानि सामान्यवचनैः ।२।१।५५।** घनश्याम ॥ **उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ।२।१।५६।** पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्र । सामान्याप्रयोगे किम् ? पुरुषो व्याघ्र इव शूर ॥ **(शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोपश्च)** । शाकप्रिय पार्थिव शाकपार्थिव । देवब्राह्मण ॥ **कडाराः कर्मधारये ।२।२।३८।** कडारादय शब्दाः कर्मधारये वा पूर्वं प्रयोज्याः । कडारजैमिनि । जैमिनिकडार ॥ **मयूरव्यंसकादयश्च ।२।१।७२।** एते निपात्यन्ते । मयूरो व्यंसको-मयूरव्यंसक । व्यंसको=धूर्त । उदक् च अवाक् च-उच्चावचम् । निश्चितं च प्रचितं च-निश्चप्रचम् । नास्ति किंचन यस्य स-अकिंचन ॥ **(आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये)** । अश्नीत

शाकपार्थिवादीनामिति । 'वर्णो वर्णेन' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं पठितम् । शाकप्रिय· पार्थिव शाकपार्थिव· । शाकः प्रियः यस्य·स शाकप्रिय । 'वा प्रियस्य' इति प्रियशब्दस्य परनिपात । शाकप्रियश्चासौ पार्थिवश्च इति विग्रहे बहुव्रीहिगर्भो विशेषणसमास· । तत्र पूर्वखण्डे बहुव्रीहौ उत्तरपदस्य प्रियाशब्दस्य लोपः । कडारा इति । पूर्वनिपातनार्थेदम् । तच्च पूर्वनिपातश्च विभाषयेति बोध्यम् । कडार· जैमिनि -जैमिनिकडार· । कडारश्चासौ जैमिनिश्चेति विग्रहे 'कडारा' इति निपातनाच्चविधानात्समासे कडारस्य वा पूर्वनिपाते सुबादिकार्ये उभयरूपसिद्धि । मयूरेति । निपातनमेतेषाम् । मयूरव्यंसक । निपातनात्समसनम् । उच्चावचम् । उदक् अवाक्चेति विग्रहे निपातनादुच्चावचादेशे रूपम् । उच्चावचम् । निश्चितं च प्रचितं चेति विग्रहे निश्चप्रचादेशे सुबादिकार्ये रूपम् । आख्यातमिति । क्रियायाः

ऐसा जो पूर्वपद, उसको पुंवद्भाव हो, कर्मधारय समास और जातीयर् तथा देशीयर् प्रत्ययके परे । उपमानानि—उपमानवाची जो सुबन्त, वह समानाधिकरण सामान्यधर्म वाचक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो । उपमितं—उपमेय वाचक जो सुबन्त, वह उपमान वाचक व्याघ्रादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो, यदि साधारण धर्मका प्रयोग नहीं रहे । शाकपार्थिवादीनां—शाकपार्थिवादिकी सिद्धिके लिये उत्तर पदका लोप हो ।

कडाराः—'कडार' आदि शब्दोंका कर्मधारय समासमें विकल्पसे पूर्वनिपात हो ।

मयूर—मयूरव्यंसकादि निपात्य हो । आख्यात—आख्यात (तिङन्त) का आख्यात

यत्र [illegible] समानाधिकरणः । स द्विविधः । तत्पुरुषः । कर्मधारयश्चेति । तत्र [illegible]

पिबतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा—अश्नीतपिबता। पचतभृज्जता। खादतमोदता। नास्ति कुतो भयं यस्य सः—अकुतोभयः। अन्यो राजा—राजान्तरम्। चिदेव—चिन्मात्रम्॥ नञ् ।२।२।६। सुपा प्राग्वत्। नलोपो नञः ।६।३।७३। नञो नस्य लोप उत्तरपदे। न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः। तस्मान्नुडचि ।६।३।७४। लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुट्। अनश्वः। नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह सुप्सुपेति समासः। कुगतिप्रादयः ।२।२।१८। एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः—कुपुरुषः॥ ऊर्यादिच्विडाचश्च ।१।४।६१। ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। उररीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। (कारिकाशब्द-

---

सातत्यं तस्मिन्। क्रियाया यदि सातत्यमाख्यातेन समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः। अश्नीतपिबता—पचतभृज्जता—खादतमोदता। अत्र क्रियाया एव योगा-रूढाश्च टीकाद्वाराधिकार्थे रूपाणि। अकुतोभयः—राजान्तरम्—चिन्मात्रम्—इत्यादि मयूरव्यंसकादित्वात्साधूनि। अनश्वः। 'न अश्व सु' इत्यत्र 'नञ्' इति समासे सुपो लुकि, नञः पूर्वनिपाते, 'नलोपो नञः' इति नकारस्य लोपे 'अ अश्व' इति जाते 'तस्मान्नुडचि' इति अश्वगताकारस्य नुटि, उटि गते, टित्वादाद्यावयवे भूते 'अ न् अश्व' इति जाते, संयोगे, कृते विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः। ननु 'नैकधा' इत्यत्रापि नञ्समासे 'नलोपो नञः' इति नकारस्य लोपे 'तस्मान्नुडचि' इति नुटि, अनेकधेत्येव स्यादित्यत आह—नैकधेत्यादौ त्विति। एतदर्थमेव 'नञ्' इति सूत्रे 'नलोपो नञः' इति सूत्रे च ञकारानुबन्धग्रहणमिति भावः। ऊरीकृत्य। ऊरीत्यव्ययमङ्गीकारे, तस्य 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' इति गतिसंज्ञायाम् 'कुगति-प्रादयः' इति 'कृत्वा' इत्यनेन सह गतिसमासे 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति 'क्त्वा' इत्यस्य स्थाने ल्यपि, लपयोरित्संज्ञायाम् लोपे च 'ऊरीकृय' इति भूते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुगागमे उकि गते, कित्वादन्त्या-वयवे जाते, तस्मात्सौ, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लोपे च तत्सिद्धम्।

(तिङन्त) के साथ समास हो, क्रियाके सातत्य (नैरन्तर्य) गम्यमान रहनेपर।

नञ्—'नञ्' का समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे। नलोपो—'नञ्'के नकार-का लोप हो, उत्तर पदके परे। तस्मान्नुडचि—लुप्तनकारक 'नञ्' से पर अजादि उत्तर पदको नुट् हो। कुगति—कु, गति और प्रादिका समर्थ सुबन्तके साथ नित्य समास हो।

ऊर्यादि—ऊरी आदि शब्दकी तथा च्व्यन्त और डाजन्तकी क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो।

कारिका—कारिका शब्दकी क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो।

अथ कर्मधारयः। स द्वेधा। केवलो द्विगुश्चेति। तत्र केवलो नवधा। तेषु स्वविशेषु–

स्योपसंख्यानम्) । कारिका=क्रिया, कारिकाकृत्य ॥ अनुकरणं चानितिपरम् ।१।४।६२। खाट्कृत्य । अनितिपरं किम् ? खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत् ॥ आदरानादरयोः सदसती ।१।४।६३। सत्कृत्य । असत्कृत्य । भूषणेऽलम् ।१।४।६४। अलंकृत्य । भूषणे किम् ? अलं कृत्वौदनं गतः, पर्याप्तमित्यर्थः । अनुकरणमित्यादित्रिसूत्री स्वभावात्कृञ्विषया ॥ अन्तरपरिग्रहे ।१।४।६५। अन्तर्हत्य, मध्ये हत्वेत्यर्थः । अपरिग्रहे किम् ? अन्तर्हत्वा गतः हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः ॥ कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते ।१।४।६६। कणेहत्य पयः पिबति । मनोहत्य । कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनः शब्दोऽप्यत्रैव ॥

कारिकाकृत्य । कारिकां कृत्वा इति विग्रहे 'कारिकाशब्दस्य' इति गतित्वे 'कुगतिप्राद्यः' इति समासत्वे सुब्लुकि 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि तुकि कित्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये 'कारिकाकृत्य' इति प्रयोगसिद्धिः । अनुकरणमिति । गतिसंज्ञा स्यात् । खाट्कृत्य । खाट् कृत्वा इति विग्रहे 'अनुकरणम्' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'खाट्कृत्य' इति सिध्यति । आदरेति । सत्-असत्-एतौ गतिसंज्ञौ स्तः । सत्कृत्य-असत्कृत्य । सत्-असत् कृत्वा इति विग्रहे 'आदरानादरयो' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'सत्कृत्य-असत्कृत्य' इति रूपे भवतः । भूषणेऽलमिति । गतिसंज्ञं स्यात् । अलंकृत्य । अलं कृत्वेति विग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'अलंकृत्य' इति रूपं प्रभवति । अन्तरेति । अपरिग्रहार्थेऽन्तः गतिसंज्ञं स्यात् । 'अन्तः हत्वा' इत्यर्थे 'अन्तः' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'अन्तर्हत्य' इति रूपं भवति । कणेमनसीति । गतिसंज्ञे स्तः । कणेहत्य-मनोहत्य । कणे-हत्वा मनो हत्वा

अनुकरणं चानितिपरम्—'इति' परकसे भिन्न अनुकरणकी क्रिया (कृञ् धातु) के योगमें गतिसंज्ञा हो ।

आदरा—आदर और अनादर अर्थमें सत् और असत्को क्रिया (कृञ् धातु) के योगमें गतिसंज्ञा हो ।

भूषणे—भूषण अर्थमें क्रियाका योग रहने पर 'अलम्' की गतिसंज्ञा हो ।

अन्तरपरिग्रहे—अपरिग्रह अर्थमें 'अन्तर्' शब्दकी गतिसंज्ञा हो ।

कणेमनसी—कणे और मनः शब्दकी गतिसंज्ञा हो, श्रद्धाके प्रतीघात अर्थमें (अभ-

---

१—विशेषणपूर्वपदो यथा—कृष्णश्चासौ सर्पश्च = कृष्णसर्पः । पीता चासौ लता च=

पुरोऽव्ययम् ।१।४।६७। पुरस्कृत्य ॥ **अस्तं च** ।१।४।६८। अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात् ॥ अस्तंगत्य ॥ **अच्छ गत्यर्थवदेषु** ।१।४।६९। अव्ययमित्येव। अच्छगत्य। अच्छोद्य, अभिमुखं गत्वा उक्त्वा चेत्यर्थः। अव्ययं किम्? जलमच्छं गच्छति ॥ **अदोऽनुपदेशे** ।१।४।७०। अदःकृत्य। अदःकृतम्। परं प्रत्युपदेशे प्रत्युदाहरणम्, अदः कृत्वा, अदः कुरु ॥ **तिरोऽन्तर्धौ** ।१।४।७१। तिरोभूय ॥ **विभाषा कृञि** ।१।४।७२। **तिरसोऽन्यतरस्याम्** ।८।३।४२। सो वा स्यात्कुप्वोः।

इति विग्रहे 'कणेमनसी' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये च कृते 'कणेहत्य-मनोहत्य' इति रूपे भवतः। पुर इति। गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः। पुरस्कृत्य। पुरः कृत्वा इति विग्रहे 'पुरोऽव्ययम्' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'नमस्पुरसो-र्गत्योः' इति विसर्गस्य नित्यं सकारे 'पुरस्कृत्य' इति रूपसिद्धिः। अस्तं चेति। गतिसंज्ञं स्यादिति भावः। अस्तंगत्य। अस्तं गत्वा इति विग्रहे 'अस्तं च' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये रूपसिद्धिः। अच्छगत्येति। गतिसंज्ञं स्यात्। अच्छगत्य-अच्छोद्य। अच्छेत्यस्य 'अच्छगत्यर्थ' इति गतिसंज्ञात्वे 'कुगति' इति समासे 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'अच्छ-गत्वा, अच्छ-उक्त्वा' इति स्थिते 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि सुबादिकार्ये 'अच्छगत्य' 'अच्छोद्य' इति भवतो रूपे। अद इति। उपदेशभिन्नार्थेऽदो गतिसंज्ञं स्यात्। अदःकृत्य। अदः कृत्वेति विग्रहे सुब्लुकि 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये भवति रूपम्। तिर इति। अन्तर्धौ तिरो गतित्वं स्यात्। तिरोभूय। 'तिरो भूत्वा' इति विग्रहे 'तिरः' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि ल्यपि सुबादिकार्ये 'तिरोभूय' इति प्रभवति रूपम्। विभाषेति। तिरसः कृञि वा गतित्वमित्यर्थः। तिरसो। सोऽपदादावित्यतः 'स' इत्यनुवर्तते, कुप्वोरिति, विसर्जनीयस्येति च। इण इति निवृत्तम्, असम्भवात्। तत्सन्नियोगात् ष इति च। तदाह—सो वा कुप्वोरिति। उपाजेकृत्येति। गतिसंज्ञापक्षे गतिसमासे

माना कार्य करनेपर) पुरोऽव्ययम्—'पुरः' इस अव्यय की गतिसंज्ञा हो।

अस्तञ्च—'अस्तम्' इस मान्त अव्ययकी गतिसंज्ञा हो। अच्छगत्यर्थ—'अच्छ' इस अव्ययकी गतिसंज्ञा हो, गत्यर्थक धातु और वद् धातुके परे। अदोऽनुपदेशे—'अदस्' शब्द की गतिसंज्ञा हो, अनुपदेशमें।

तिरोऽन्तर्द्धौ—'तिरस्' शब्दकी गतिसंज्ञा हो, अन्तर्द्धि (छिपना) अर्थमें।

विभाषा—'कृञ्'के योगमें 'तिरस्' शब्दकी विकल्पसे गतिसंज्ञा हो।

तिरसोऽन्य—'तिरस्' शब्द सम्बन्धी विसर्गको सत्व हो, कवर्ग-पवर्गके परे विकल्पसे।

पीतरक्ता। नीलं च तदुत्पलं चन्नीलोत्पलम्। २—विशेषणोत्तरपदो यथा-वैयाकरणश्चासौ

तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य, तिरःकृत्वा ॥ उपाजेऽन्वाजे ।१।४।७३। एतौ कृञि वा गतिसंज्ञौ स्तः। उपाजेकृत्य, अन्वाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा, अन्वाजे कृत्वा; दुर्बलस्य बलमाधायेत्यर्थः ॥ साक्षात्प्रभृतीनि च ।१।४।७४। कृञि वा गतिसंज्ञानि स्युः ॥ (च्व्यर्थ इति वक्तव्यम्)। साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा। लवणंकृत्य, लवणं कृत्वा। मान्तत्वं निपातनात् ॥ अनत्याधान उरसिमनसी ।१।४।७५। उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा, अभ्युपगम्येत्यर्थः। मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा, निश्चित्येत्यर्थः। अत्याधानमुपश्लेषणम्, तत्र न—उरसि कृत्वा पाणिं शेते ॥ मध्ये पदे निवचने च ।१।४।७६। एते कृञि वा गतिसंज्ञाः स्युरनत्याधाने। मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य, पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा, वाचं नियम्येत्यर्थः ॥ नित्यं हस्ते पाणावुपयमने ।१।४।७७। कृञि। उपयमनं विवाहः। स्वीकारमात्रमित्यन्ये ॥

क्त्वो ल्यप्। अन्वाजेकृत्येति तथैव। उपाजे, अन्वाजे इत्यव्यये दुर्बलस्य बलाधाने वर्तेते। तदाह—दुर्बलस्येति। साक्षात्प्रभृतीनि च। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—कृञि वेति। साक्षादित्यव्ययम्। च्व्यर्थे इति। अभूततद्भावे गम्ये सतीति वक्तव्यमित्यर्थः। साक्षात्कृत्येति। असाक्षात् साक्षात् कृत्वेत्यर्थः। गतित्वपक्षे क्त्वो ल्यप्। सुब्लुकमाशङ्क्याह—मान्तत्वमिति। लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आर्द्रम्, इति पञ्चानां साक्षात्प्रभृतिगणे मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः। अनत्याधाने। उरसि मनसि इति विभक्तिप्रतिरूपके अव्यये गतिसंज्ञे वा स्तोऽनत्याधाने। उरसि कृत्वेति। गतित्वपक्षे क्त्वो ल्यप्। इहापि नात्याधानं गम्यत इत्याह—निश्चित्येत्यर्थः। मध्येपदे। गतित्वे तदभावे च एदन्तानामेवान्तत्वं निपात्यते। निवचनेकृत्येति। वचनाभावं कृत्वेत्यर्थः। तदाह—वाचं नियम्येत्यर्थ इति। वचनस्य अभावः निवचनम्। अर्थाभावे अव्ययीभाव इति भावः। पाणौकृत्येति। कन्यां स्वीकर्तुं पाणिं गृहीत्वेत्यर्थः। और

उपाजेऽन्वाजे—विभक्तिप्रतिरूपक 'उपाजे' और 'अन्वाजे' निपातकी 'कृञ्' के योगमें गति संज्ञा हो, विकल्पसे। 'साक्षात्प्रभृतीनि च'-'च्व्यर्थे इति वाच्यम्'—'कृञ्'के योगमें साक्षात्प्रभृति गणपठितकी विकल्पसे गतिसंज्ञा हो, च्व्यर्थ (अभूत-तद्भाव अर्थ) में।

अनत्याधाने—'कृञ्' के योगमें 'उरसि' और 'मनसि' की विकल्पसे गतिसंज्ञा हो, अत्याधान (उपश्लेष या सम्पर्क) से भिन्न अर्थमें। मध्ये पदे—मध्ये, पदे और निवचने की 'कृञ्'के योगमें विकल्पसे गतिसंज्ञा हो, अत्याधानसे भिन्न अर्थमें।

नित्य हस्ते—हस्ते और पाणौ की 'कृञ्' के योगमें नित्य गतिसंज्ञा हो, उपयम (विवाह

कतृदिश = वैयाकरणसूचि'। मयूरो व्यंसकः = धूर्तव्यंसकः (व्यसको धूर्त)। १–उपमानपूर्वपदो यथा–शङ्ख इव पाण्डुः=शङ्खपाण्डुः। घन इव श्यामः=घनश्यामः। २–उपमानो-

हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य॥ प्राध्वं बन्धने।१।४।७८। प्राध्वमित्यव्ययम्। प्राध्वंकृत्य, बन्धनेनानुकूलं कृत्वेत्यर्थः। प्रार्थनादिना त्वानुकूल्यकरणे—प्राध्वं कृत्वा॥ जीविकोपनिषदावौपम्ये।१।४।७९। जीविकामिव कृत्वा, जीविकाकृत्य। औपम्ये किम्? जीविकां कृत्वा। प्रादिग्रहणमगत्यर्थम्। सुपुरुषः॥ (प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया)। प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः॥ (अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया)। अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे॥ एकविभक्ति चापूर्वनिपाते।१।२।४४। विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनं, न तु तस्य पूर्वनिपातः॥ गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य।१।२।४८। उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः। अतिमालः॥ (अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया)। अवक्रुष्टः कोकिलया—अवकोकिलः॥ (पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या)। परिग्लानोऽध्ययनाय—पर्यध्ययनः॥ (निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या)। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या—निष्कौशाम्बिः॥

न्तत्वं च निपात्यते प्राध्वं बन्धने। प्राध्वमित्यव्ययम्। बन्धने गम्ये प्राध्वमित्यव्ययं गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः। जीविकोपनिष। उपमैव औपम्यं, तस्मिन् विषये जीविकाशब्दः उपनिषच्छब्दश्च कृञो योगे गतिसंज्ञौ स्तः। जीविकामिवेति। प्रदानपात्रादिर्जीवनोपायो जीविका, तामिव अपरं कृत्वेत्यर्थः। उपनिषदमिव कृत्वेति। उपनिषद् वेदान्तभागः, तामिव रहसि प्राधान्येन कृत्वेत्यर्थः। उपनिषत्कृत्येति। गतिसमासे क्त्वो ल्यप्। उभयत्रापि सुब्लुक्। तदेवं 'कुगति प्रादयः' इत्यत्र गतिसमासाः प्रदर्शिताः। ननु गतिग्रहणेनैव सिद्धे प्रादिग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—प्रादिग्रहणमगत्यर्थमिति। निष्कौशाम्बिः। अत्र 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासे सुपो लुकि

या स्वीकार) अर्थमें। प्राध्वं बन्धने—बन्धन अर्थमें 'कृञ्' के योगमें 'प्राध्वम्' अव्ययकी नित्य गतिसंज्ञा हो। जीविकोप—जीविका और उपनिषद् को 'कृञ्' के योगमें नित्य गतिसंज्ञा हो, उपमा अर्थमें।

प्रादयो—गताद्यर्थमें प्रादिका प्रथमान्तके साथ नित्य समास हो।

अत्यादयः—क्रान्ताद्यर्थमें अत्यादिका द्वितीयान्तके साथ नित्य समास हो।

एकविभक्ति—विग्रहमें जो नियत विभक्त्यन्त है, उसकी उपसर्जन संज्ञा हो, परन्तु पूर्वनिपात नहीं हो। गोस्त्रियो—उपसर्जन जो गोशब्द और स्त्रीप्रत्ययान्त, तदन्त प्रातिपदिकको ह्रस्व हो। अवादयः—क्रुष्टाद्यर्थमें तृतीयान्तके साथ अवादिका नित्य समास हो।

पर्यादयो—ग्लानाद्यर्थमें चतुर्थ्यन्तके साथ पर्यादिका नित्य समास हो।

निरादयः—क्रान्ताद्यर्थमें पञ्चम्यन्तके साथ निरादिका नित्य समास हो।

उत्तरपदो यथा—नरः सिंह इव—नरसिंहः। चरणः पङ्कजमिव—चरणपङ्कजम्। ५—दिक्पूर्वपदके

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ।३।१।९२। उपपदमतिङ् ।२।२।१९। उपपदं समर्थेन नित्यं समस्यते । अतिङन्तश्चायं समासः । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् । माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम् ॥ (गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः) । व्याघ्री । कच्छपी । अश्वक्रीतीत्यादि ॥ **अमैवाव्ययेन ।२।२।२०।** अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते । स्वादुङ्कारम् । 'स्वादुमि णमुल्' इति णमुल् । नेह । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' । कालः

'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनसंज्ञायाम् , 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्ये च कृते 'निष्कौशाम्बिः' इति रूपम् । कुम्भकार । कुम्भं करोतीत्यर्थे 'कर्मण्यण्' इत्यणि 'कुम्भ अस् कृ अण्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' इति कुम्भशब्दस्योपपदसंज्ञायाम् 'उपपदमतिङ्' इति समासे सुपो लुकि, 'कुम्भकार' इति सूते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्ये च कृते 'कुम्भकारः' इति रूपम् । व्याघ्री । विशेषेण आ समन्ताज्जिघ्रतीति 'व्याघ्री' इत्यत्र 'गतिश्च' इति गतित्वात् सुबुत्पत्तेः पूर्वं 'कुगतिप्रादयः' इति समासे 'व्याघ्र' इति जाते 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीपि, अनुबन्धलोपे 'व्याघ्र ई' इति सूते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'यस्येति च' इति अलोपे, संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते 'व्याघ्री' इति । अश्वक्रीती । अश्वेन क्रीता अश्वक्रीती इत्यत्र 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनम्, प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्राक् 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासे, सुपो लुकि, 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति ङीषि अनुबन्धलोपे 'अश्वक्रीत-ई' इति जाते भसंज्ञायां यस्येति लोपे विभक्तिकार्ये च सिद्धिः । सुबन्तेन समासे तु टाप् स्यादिति भावः । अमैवाव्ययेनेति । अमैवेत्यनन्तरं तुल्यविधानमित्यध्याहार्यम् । 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम्' इति तृतीया । अमैव तुल्येति । अम्प्रत्ययमात्रविधायकशास्त्रेण अमैव सह यस्य उपपदसंज्ञा विधीयते तदुप

तत्रोपपदं—सप्तम्यन्त 'कर्मणि' इत्यादि पदों में वाच्यत्वेन स्थित (पदोंका वाच्य) जो कुम्भादि, तद्वाचक जो पद (कुम्भ-आदि), उसकी उपपदसंज्ञा हो (और उपपदसंज्ञा होने पर ही वक्ष्यमाण अणादि प्रत्यय हों) ।) उपपदमतिङ्—उपपद सुबन्तका तिङन्त भिन्न समर्थके साथ नित्य समास हो ।

गतिकारकोप—गति, कारक और उपपद संज्ञक का सुबुत्पत्तिसे पूर्व ही कृदन्तके साथ समास हो । अमैवाव्ययेन—'अम्' ही के साथ तुल्य विधान है जिसका, ऐसा जो

यथा-पट इति शब्द-पटशब्द (पटविषयक शब्द इत्यर्थ) । देवा इति बुद्धि-देवबुद्धि (देव-

समयो वेला वा भोक्तुम् । अमैवेति किम् ? अग्रे भोजं, अग्रे भुक्त्वा । विभाषाग्रे प्रथमपूर्वेष्विति क्त्वाणमुलौ । अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत् ॥ **तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् २।२।२१।** उपदंशस्तृतीयायामित्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते—मूलकोपदंशम् । उपदंशस्तृतीयायामिति णमुल् ॥ **क्त्वा च ।२।२।२२।** तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते । उच्चैः कृत्य, उच्चैः कृत्वा ॥ **अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ** **तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ।५।४।८६।** संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम् । निरङ्गुलम् ॥ **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ।५।४।८७।** एभ्यो रात्रेरच् स्यात् । चात् संख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ॥ **रात्राह्नाहाः पुंसि ।२।४।२९।** एते पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः । सर्वरात्रः । पूर्वरात्रः । संख्यातरात्रः । (संख्यापूर्वं

पदमव्ययेन समस्यते । पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—तदेवेति । भोक्तुमिति । यद्यपि 'कालसमयवेलासु' इति सप्तमीनिर्देशात् कालसमयवेलानामुपपदत्वम् । तथापि कालादीनामुपपदसंज्ञा तुमुना तुमुन्विधानेनैव, न त्वमा । अतः कालादीनामुपपदत्वेऽपि न समास इत्यर्थः । तृतीयाप्रभृतीनीति । तृतीयाशब्देन 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यारभ्य 'अन्वच्यानुलोम्ये' इत्यन्तसूत्रोपात्तान्युपपदानि विवक्षितानि । अमेति, अव्ययेनेति चानुवर्तते, एवकारस्तु नानुवर्तते, अस्वरितत्वात् । अमेत्येतदव्ययविशेषणम् । तदाह–उपदंशस्तृतीयायामित्यादिना । क्त्वा चेति । तृतीयाप्रभृतीनीति पूर्वसूत्रमनुवर्तते, क्त्वेति तृतीयार्थे प्रथमा । तदाह—तृतीयेति । अव्ययेऽयथेति । 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ' इति सूत्रेणेत्यर्थः । सर्वरात्रः । सर्वा चासौ रात्रिश्चेति विग्रहे 'विशेषणं विशेष्येण' इति समासे, सुपो लुकि, 'अहस्सर्वैकदेश०' इत्यचि, भसंज्ञायाम् यस्येति लोपे 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे सौ,

---

उपपद, उसीका अव्ययके साथ समास हो । तृतीया—तृतीया प्रभृति उपपदका अमन्त अव्ययके साथ समास हो, विकल्पसे । क्त्वा च—तृतीया प्रभृति उपपदका क्त्वान्तके साथ भी समास हो, विकल्पसे ।

तत्पुरुषस्या—संख्यादि और अव्ययादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो । अहःसर्वैकदेश—अहरादि और संख्याव्ययादि पूर्वपदक रात्रि शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो । रात्राह्नाहाः—रात्र, अह्न और अहः शब्दान्त जो द्वन्द्व और तत्पुरुष वह पुंल्लिङ्गमें ही हो । संख्यापूर्व—संख्यापूर्वक 'रात्र' शब्द नपुंसक हो ।

विषयिणी युक्तिः) ६—अवधारणानुपूर्वपदो यथा—पिपेव उर्ज = पिपासनम् । ७—सवधार-

पथं क्लीबम्)। द्विरात्रम्। अतिक्रान्तो रात्रिम्-अतिरात्रः॥ राजाहःसखिभ्यष्टच् ।५।४।९१। एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच्। परमराजः। अतिसखः॥ अह्नष्टखोरेव ।६।४।१४५। टिलोपः। परमाहः॥ अह्नोऽह्न एतेभ्यः ।५।४।८८। सर्वादिभ्योऽहन्शब्दस्याह्नादेशः समासान्ते परे। अह्नोऽदन्तात् ।८।४।७। अदन्तपूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्याह्नो नस्य णः। सर्वाह्णः। पूर्वाह्णः॥ न संख्यादेः समाहारे ।५।४।८९। अह्नादेशो न। द्व्यहः॥ उत्तमैकाभ्यां च ।५।४।९०। अह्नादेशो न। उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः। पुण्यशब्दमाह॥ (पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्टा)। पुण्याहम्। सुदिनाहम्। एकाहः॥ अग्राख्यायामुरसः ।५।४।९३। टच्।

रुत्वे विसर्गे च अतिसखिः। परमराजः। परमश्चासौ राजा चेति विग्रहः। 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति समासः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति समासान्तष्टच्। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। अह्नष्टखोरिति। लोपपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—टिलोप इति। टेरित्यनुवर्तते, 'अल्लोपोऽनः' इत्यस्मात् लोप इति चेति भावः। अह्नोऽह्न एतेभ्य इति। पूर्वसूत्रे अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्यशब्दा निर्दिष्टाः। तत्र चकारेण संख्याव्यये अनुकृष्टे। अहन्शब्दवर्जं ते सर्वे एतच्छब्देन परामृश्यन्ते, न त्वहश्शब्दः, अहश्शब्दात् परस्य अहन्शब्दस्य तत्पुरुषे असम्भवादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—सर्वादिभ्य इति। समासान्ते परे इति। एतत्तु प्रकरणाल्लभ्यम्। अह्नोऽदन्तात्। 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इत्यतः पूर्वपदादित्यनुवर्तते। तच्च अदन्तादित्यत्रान्वेति। 'रषाभ्यां नो णः' इति णकारवर्जमनुवर्तते। पूर्वपदादित्यनेन पूर्वपदस्थादिति विवक्षितम्। तदाह—अदन्तपूर्वेति। सर्वाह्ण इति। सर्वमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासे 'राजाहस्सखिभ्य' इति 'टच्' अह्नादेशः, णत्वं 'रात्राह्नाहाः' इति पुंस्त्वम्। अह्नादेश इति। 'अह्नोऽह्नः' इत्यतस्तदनुवर्तते इति भावः। पुण्याहमिति। पुण्यमहरिति विग्रहे विशेषणसमासः, टच्, टिलोपः,

---

राजाहःसखिभ्य—राजन् शब्दान्त और अहन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो। अह्नष्ट—अहन् शब्द को 'टि' का लोप 'ट' और 'ख' प्रत्ययके परे हो, अन्यके परे नहीं। अह्नोऽह्न—सर्व, एकदेश, संख्यात और पुण्य शब्दसे पर 'अहन्' शब्दको 'अह्न' आदेश हो, समासान्त प्रत्ययके परे। अह्नोऽदन्तात्—अदन्त पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर 'अहन्' शब्दके नकारको णत्व हो। न संख्यादेः—समाहारमें वर्तमान संख्यादि 'अहन्' शब्दको अह्नादेश नहीं हो। उत्तमैकाभ्यां—उत्तम अर्थात् पुण्य शब्द और एक शब्दसे पर 'अहन्' शब्दको अह्नादेश नहीं हो। पुण्यसुदिना—पुण्य और सुदिन शब्दसे पर अ। अहन् शब्द यह नपुंसकलिङ्ग हो।

अग्राख्या—अग्राख्या में उर शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो।

…लोत्तरपदो यथा—पुरुषः कुञ्जर इव=पुरुषकुञ्जरः। ८—उपमितोभयपदो यथा—दीपधारी

अश्मानामुर इव—अश्मोरसम्, मुख्योऽयं इत्यर्थः ॥ **ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ।५।४।९५।** ग्रामतक्षः । कौटतक्षः ॥ **अतेः शुनः ।५।४।९६।** अतिश्वो वराहः ॥ **उपमानादप्राणिषु ।५।४।९७।** अप्राणिविषयोपमानवाचिनः शुनष्टच् । आकर्षः श्वेव—आकर्षश्वः ॥ **उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ।५।४।९८।** चादुपमानात् । उत्तरसक्थम् । मृगसक्थम् । पूर्वसक्थम् । फलकमिव सक्थि—फलकसक्थम् ॥ **नावो द्विगोः ।५।४।९९।** द्विनावम् । त्रिनावम् ॥ **अर्धाच्च ।५।४।१००।** अर्धनावम् ॥ **खार्याः प्राचाम् ।५।४।१०१।** द्विगोरर्धाच्च खार्याष्टज्वा । द्विखारम्,

'पुण्यसुदिनाभ्याम्' इति क्लीबत्वम् । एकाह इति । एकमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासः । टच्, टिलोपः । अश्माख्यायामिति । पञ्चम्यर्थे सप्तमी । अग्रं प्रधानं तद्वाची च उरस्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । अश्मानामुर इव । उरो यथा प्रधानं तथेत्यर्थः । अश्मोरसमिति । उरस्शब्देन मुख्यवाचिना षष्ठीसमासः । टच्, 'परवल्लिङ्गम्' इति नपुंसकत्वम् । ग्रामकौटाभ्यामिति । ग्रामकौटाभ्यां परो यस्तक्षन्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । अतेः शुन इति । अतीत्यव्ययात् परो यः श्वन्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । अतिश्व इति । श्वानमतिक्रान्त इति विग्रहः । 'अत्यादय' इति समासः । टचि, टिलोपः । श्वापेक्षयाधिकवेगवान् वराह इत्यर्थः । आकर्षः श्वेवेति । आकृष्यते कुसूलादिगतधान्यमनेनेत्याकर्षः । पञ्चावयवदारुविशेषः । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः । टच्, टिलोपः, 'आकर्षश्वः' इति रूपम् । उत्तरमृगेति । उत्तर-मृग-पूर्व-एभ्यः उपमानाच्च परो यः सक्थिशब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यादित्यर्थः । उत्तरसक्थमिति । उत्तरं सक्थीति विग्रहः । पूर्वं सक्थीति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासः । फलकसक्थमिति । फलकमिव सक्थीति विग्रहे 'मयूरव्यंसकादि'त्वात्समासः । सर्वत्र टच्, टिलोपः । द्विनावमिति । समाहारद्विगुः, टच्, आवादेशः, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वम् । अर्धाच्चेति । अर्धशब्दात्परो यो नौशब्दः, तदन्तात्तत्पुरुषाट्टजित्यर्थः । अर्धनावमिति । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । टच्, आवादेशः ।

ग्राम—ग्राम और कौटसे पर तक्षन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो । अतेः शुनः—'अति' से पर 'श्वन्' शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो उत्तर—उत्तर, मृग, और उपमानपूर्वक 'सक्थि' शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो । नावो द्विगोः—'नौ' शब्दान्त द्विगुसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, अतद्धित लुक्में ।

अर्धाच्च—'अर्द्ध' शब्दसे पर नौ शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो ।

खार्या—द्विगु समासमें और अर्द्ध शब्दसे पर खारी शब्दसे समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

प्रतिवक्ष्य = पीठप्रविश्यः (पादौ पीठः पयाप्रविष्ट इत्यर्थः ।) एतत्प्रयासानुक्तिसत्त्व --

द्विखारि। अर्धखारम्, अर्धखारि॥ द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ।५।४।१०२। द्व्यञ्जलम्, द्व्यञ्जलि॥ ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ।५।४।१०४। ब्रह्मान्तात्तत्पुरुषाट्टच्। सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्म॥ कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ।५।४।१०५। कुब्रह्म। कुब्रह्मा। महाब्रह्म। महाब्रह्मा। 'प्रकारवचने जातीयर्'। महाप्रकारो महाजातीयः॥ द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ।६।३।४७। आत्स्यात्। द्वादश। अष्टादश। अबहुव्रीह्यशीत्योः किम्? द्वित्राः। द्व्यशीतिः (प्राक्शतादिति वक्तव्यम्)। नेह,—द्विशतम्॥ त्रेस्त्रयः ।६।३।४८। त्रिशब्दस्य त्रयसादेशः

क्लीबत्वं लोकात्। द्व्यञ्जलमिति। द्वयोरञ्जल्योः समाहार इति विग्रहे द्विगुः, टच्, 'यस्येति च' 'स नपुंसकम्'। द्व्यञ्जलीति। समाहारे द्विगुः। टजभावे सति नपुंसकह्रस्वत्वम्। ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम्। जनपदे भवो जानपदः भावप्रधानो निर्देशः। सुराष्ट्रब्रह्म इति। ब्रह्मा विप्रः। सप्तमीति योगविभागात् समासः। टच् टिलोपः 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम्। कुब्रह्म इति। 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। टचि टिलोपः। कुब्रह्मेति टजभावे रूपम्। महाब्रह्म इति। महांश्चासौ ब्रह्मा चेति विग्रहः 'सन्महत्' इत्यादिना समासः। 'आन्महतः' इत्यात्त्वम्। सवर्णदीर्घः। 'कुमहद्भ्याम्' इति टच्। टिलोपः, 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम्। महाब्रह्मेति। टजभावे रूपम्। अष्टादशेति। अष्टौ च दश चेति द्वन्द्वः। अष्टाधिका दशेति वा। द्वित्रा इति। द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहः। 'संख्ययाऽव्यया' इति बहुव्रीहिः। बहुव्रीहौ संख्येये 'डच्' इति डच्। बहुव्रीहित्वादत्र द्विशब्दस्य आत्वं न। द्व्यशीतिरिति। द्वौ चाशीतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः। स्त्रीत्वं लोकात्। अशीतिपरकत्वात् द्विशब्दस्यात्वं न। प्राक्शतादिति। 'द्व्यष्टनः संख्यायाम्' इत्येतत् शतप्रभृतिसंख्याशब्दे परे न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः। द्विशतमिति। द्वौ च शतं चेति समाहारद्वन्द्वः। द्व्यधिकं शतमिति वा। एवं द्विसहस्रमित्यत्रापि। त्रेस्त्रय इति। प्राक्शतात् संख्याशब्दे उत्तरपदे परतः त्रेः स्थाने त्रयस् आदेशः स्यादित्यर्थः। सन्निधेयादिषु। त्रयोदशेति पाठात्

द्वित्रिभ्यां—'द्वि' और 'त्रि' शब्दसे पर अञ्जलि शब्दान्त द्विगुसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो। ब्रह्मणो जानपदा—ब्रह्मान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, समाससे यदि जानपदत्व (अमुकदेशवासित्व) बोध होता हो। कुमहद्भ्यां—'कु' और 'महत्' से पर ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे।

द्व्यष्टन'—द्वि और अष्टन् शब्दको आत्व हो, संख्याके परे। परन्तु बहुव्रीहिमें और अशीतिके परे आत्व नहीं हो। प्राक्शता—'शत' शब्दसे पूर्व जो संख्यावाचक शब्द, उनके परे ही यह (पूर्वोक्त) आत्व हो। त्रेस्त्रयः—'त्रि' शब्दको 'त्रयस्' आदेश हो

[illegible] (पूर्वं स्यात् [illegible])। १—मध्यमपदलोपी समास—शाक

स्यात्पूर्वविषये। त्रयोदश। त्रयोविंशतिः॥ **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्।६।३।४९।** द्व्यष्टनोस्त्रेश्च प्रागुक्तं वा चत्वारिंशदादौ परे। द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्। अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्। त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्। एवं पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तति-नवतिषु॥ **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः।२।४।२६।** कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरीकुक्कुटाविमौ। अर्धपिप्पली॥ **(द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु न)।** पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः पुरोडाशः। प्राप्तो जीविकां—प्राप्तजीविकः। आपन्नजीविकः। अलंकुमारिः। अत एव ज्ञापकात् समासः। निष्कौशाम्बिः॥ **पूर्ववदश्ववडवौ।२।४।२७।** द्वित्वमतन्त्रम्। अश्ववडवौ। अश्ववडवान्॥ **अपथं नपुंसकम्।२।४।३०।** तत्पुरुष इत्येव। अन्यत्र तु अपथो देशः। कृतसमासान्तग्रहणान्नेह—अपन्थाः। **(अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः)** पञ्चमूली॥ **(आबन्तो वा)।**

सकारान्तोऽयमादेश इति भावः। त्रयोदशेति। त्रयश्च दश चेति, त्र्यधिका दशेति वा विग्रहः। सुब्लुकि त्रिशब्दस्य त्रयस्, रुत्वम्, उत्वम्, आद्गुणः। एवं त्रयोविंशतिरित्यपि। सर्वेषामिति। द्व्यष्टनोस्त्रेश्चेत्यर्थः। पूर्ववदश्ववडवौ। अश्वश्च वडवा च इति द्वन्द्वे परवल्लिङ्गं बाधित्वा पूर्ववल्लिङ्गार्थमिदम्। अश्ववडवाविति द्वन्द्वः पूर्वपदस्य लिङ्गं लभते इत्यर्थे बहुवचने विभक्त्यन्तरे च न स्यादित्यत आह—द्वित्वमतन्त्रमिति। अपथं नपुंसकमिति। न पन्था इति विग्रहे नञ्समासे नञो नस्य लोपः 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्यये टिलोपे अपथशब्दः, स नपुंसकमित्यर्थः। परवल्लिङ्गतापवादः। तत्पुरुष इत्येवेति। 'परवल्लिङ्गम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। अकारान्तेति। अकारान्तम् उत्तरपदं यस्येति विग्रहः। 'स नपुंसकम्' इत्यस्यापवादः। पञ्चमूलीति। समाहारद्विगुः, स्त्रीत्वं, 'द्विगोः' इति ङीप्। आबन्तो वेति। स्त्रियां

पूर्व (सूत्र तथा वार्तिक) के विषयमें। विभाषा—द्वि, अष्टन् और त्रि शब्दको प्रागुक्त (आत्वादि) कार्य विकल्पसे हों, (उससे पूर्व) चत्वारिंशत् प्रभृति संख्यावाचक शब्दके परे।

परवल्लिङ्गं—द्वन्द्व और तत्पुरुषमें पर पदकी तरह ही लिङ्ग हो।

द्विगुप्राप्ता—द्विगु समास और प्राप्त, आपन्न तथा अलम् पूर्वक समास और गति समासको पर पदकी तरह लिङ्ग नहीं हो। पूर्ववदश्व—अश्व और वडवाको तत्पुरुष समासमें पूर्वपदके समान ही लिङ्ग हो। अपथं—'अपथ' शब्द तत्पुरुषमें नपुंसक लिङ्ग हो अकारान्तोत्तर—अकारान्तोत्तरपदक द्विगु, स्त्रीलिङ्ग हो। आबन्तो वा—आबन्तोत्तर द्विगु, विकल्पसे स्त्रीलिङ्ग हो।

प्रियः पार्थिवः = शाकपार्थिवः। देवपूजको ब्राह्मणः = देवब्राह्मणः। इति केचन। कर्मधारयः।

पञ्चखट्वम्, पञ्चखट्वी ॥ (पात्राद्यन्तस्य न)। पञ्चपात्रम्। त्रिभुवनम्। चतुर्युगम् ॥ **छाया बाहुल्ये** ।२।४।२२। छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् पूर्वपदार्थबाहुल्ये। इक्षूणां छाया—इक्षुच्छायम् ॥ **सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा** ।२।४।२३। राजपर्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात्। इनसभम्। ईश्वरसभम्। अमनुष्यशब्दो रूढ्या रक्षःपिशाचादीनाह। रक्षःसभम्। पिशाचसभम् ॥ **विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्** ।२।४।२५। एतदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं वा। ब्राह्मणसेनम्। ब्राह्मणसेना, इत्यादि ॥ **अशाला च** ।२।४।२४। संघातार्था या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात्। स्त्रीसभम्, स्त्रीसंघात इत्यर्थः। अशाला किम्? धर्मसभा, धर्मशालेत्यर्थः ॥ **अर्धर्चाः पुंसि च** ।२।४।३१। अर्धर्चादयः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः, अर्धर्चम्। एवं ध्वजतीर्थशरीरमण्डपयूपदेहाङ्कुशकलशसूत्रपात्रादयः सामान्ये नपुंसकम्। मृदु पचति। प्रातः कमनीयम् ॥

इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम्।

वेति वक्तव्यमित्यर्थः। पञ्चखट्वमिति। समाहारद्विगुः। नपुंसकत्वे ह्रस्वः। पञ्चखट्वीति। उपसर्जनह्रस्वत्वे अदन्तत्वात् 'द्विगोः' इति ङीप्। पात्राद्यन्तस्य नेति। पात्रादिर्गणः। तदन्तस्य समाहारद्विगोः न स्त्रीत्वमिति वक्तव्यमित्यर्थः। पञ्चपात्रमित्यादि। स्त्रीत्वाभावे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वमिति भावः। इति तत्पुरुषः ॥

पात्राद्यन्तस्य—पात्राद्यन्त द्विगु समास स्त्रीलिङ्गमें नहीं हो। छाया—छायान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग हो, पूर्वपदार्थके बाहुल्यमें। सभाराजा—राजपर्याय पूर्वक और अमनुष्यपूर्वक सभान्त तत्पुरुष, नपुंसकलिङ्ग हो। विभाषा—सेनाद्यन्त तत्पुरुष विकल्पसे नपुंसक लिङ्ग हो। अशाला च—समाहारार्थक सभाशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग हो।

अर्धर्चा—अर्धर्चादि गणपठित शब्द पुंल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्गमें हो।

सामान्ये—सामान्यमें नपुंसक हो। अर्थात् किसी लिङ्ग विशेषकी विवक्षा नहीं करके केवल लिङ्ग सामान्यकी ही विवक्षा हो तो नपुंसक लिङ्ग हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तत्पुरुषसमास प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ द्विगुः। त्रयाणां लोकानां समाहारः=त्रिलोकी। त्रयाणां भुवनानां समाहारः=त्रिभुवनम्। चतुर्णां युगानां समाहारः=चतुर्युगम्। पञ्चानां गवां समाहारः=पञ्चगवम्। षण्णां करिणां समाहारः=षट्करि। द्वादशानां धेनूनां समाहारः=द्वादशधेनु। पञ्चानां सरितां समाहारः=पञ्चसरित्। इति तत्पुरुषः।

अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्

शेषो बहुव्रीहिः ।२।२।२३। अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ॥ **अनेकमन्यपदार्थे ।२।२।२४।** अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ॥ **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ।२।२।३५।** सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् ॥ **हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ।६।३।९।** हलन्तादन्ताच्च सप्तम्या अलुक् । कण्ठेकालः । अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः ।

शेषो बहुव्रीहिरिति उक्तादन्यः शेषः । 'द्वितीया श्रित' इत्यादिना (शास्त्रेण) यस्य त्रिकस्य (विभक्तेः) विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः, प्रथमान्त इत्यर्थः । कण्ठेकालः । कण्ठे कालः इत्यत्र 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन (ज्ञापकात्) बहुव्रीहिसमासे, 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपाते, समासत्वात्प्राति-

---

शेषो बहुव्रीहिः—द्वन्द्व समाससे पूर्व बहुव्रीहिका अधिकार है ।

नोटः—बहुव्रीहि समासमें जितने समास विधायक सूत्र हैं, सभीसे समासके साथ ही साथ बहुव्रीहिसंज्ञा भी होगी ।

अनेकमन्य—अन्य पदार्थमें वर्तमान जो अनेक प्रथमान्त वे (परस्पर) समस्त हों, विकल्पसे और वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक हो ।

नोटः—जिन समस्त शब्दोंमें किसीकी प्रधानता न हो, प्रत्युत समस्त शब्दसे कोई विशेष अर्थ प्रतिभासित हो जाय, उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं । जैसे—पीताम्बर, पीला हो अंबर जिसका (विष्णु भगवान्) । चन्द्रमुखी–चन्द्र–सा मुख हो जिसका (सुन्दरी स्त्री) इत्यादि बहुव्रीहि समाससे निष्पन्न विशेषणमें विशेषणसूचक प्रत्यय प्रायः नहीं रहता । जैसे–'निर्धन' और 'निरपराध' । बहुव्रीहिमें 'निर्धनो' और निरपराधो' हो जाता है । शब्दान्तरको विशेषणता या विशेष अर्थ नहीं होने पर बहुव्रीहि समासके शब्द यत्र तत्र कर्मधारय व द्विगु समासमें परिणत हो जाते हैं । जैसे—'पीताम्बर' यहां 'पीला वस्त्र' ऐसा अर्थ होने पर (पीतश्चासौ अम्बरः) कर्मधारय समास होता है । एवं 'चतुर्भुज'का अर्थ 'विष्णु' न होकर 'चार भुजायें' ऐसा अर्थ होने पर (चतुर्णां भुजानां समाहारः) द्विगु समास होता है । (और बातें समासचन्द्रिका (१) की टिप्पणीमें देखो) ।

सप्तमी विशेषणे—सप्तम्यन्त तथा विशेषणका बहुव्रीहिमें पूर्वनिपात हो ।

हलदन्ताच्च—संज्ञामें हलन्त और अदन्तसे पर सप्तमीका लुक् नहीं हो ।

---

(१) प्रायेण समासघटकपदार्थान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः । (द्वित्रा इत्यादौ समासघटकपदार्थप्राधान्यात् प्रायेणेत्युक्तम्) स पञ्चविधः । सामान्यलक्षणः, संख्योत्तरपदः, अन्तरालविषयकः, 'व्यतिहारविषयकः' सहयोगविषयकश्चेति । तत्र सामान्यलक्षणो देवा

वीरपुरुषको ग्रामः ॥ (प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः)। प्रपतितपर्णः प्रपर्णः ॥ (नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः)। अविद्यमानपुत्रोऽपुत्रः। **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु** ।६।३।३४। उक्तपुंस्कात्पर ऊङभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकशब्दस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां

पदिकरत्रायां 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इति सप्तम्या अलुकि, सुपो लुकि, समुदायात्सौ, रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः। वीरपुरुषको ग्रामः। वीराः पुरुषाः यस्मिन् इति विग्रहः। अत्र 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे, सुपो लुकि, 'शेषाद्विभाषा' इति कपि, समुदायात्सौ, रुत्वे, विसर्गे च तत्सिद्धिः। प्रादिभ्य। प्रादिभ्यः परं यद्धातुप्रकृतिकप्रथमान्तं तस्य अन्येन प्रथमान्तेन बहुव्रीहिर्वाच्यः, तत्र बहुव्रीहौ प्रादिभ्यः परस्य उत्तरपदस्य धातुजस्य लोपश्च विकल्पेन वाच्य इत्यर्थः। प्रपतितपर्णं इति। प्रकृष्टं पतितं प्रपतितम्। 'प्रादयो गताद्यर्थे' इति समासः। प्रपतितं पर्णं यस्मादिति बहुव्रीहिः। प्रपर्णं इति। प्रपतितेति पूर्वपदे धातुजस्य उत्तरपदस्य लोपे रूपम्। नञोऽस्त्यर्थानाम्। नञः परेषामस्त्यर्थवाचिनां सुबन्तानां बहुव्रीहिर्वाच्यः। तत्रास्त्यर्थवाचिनामुत्तरपदभूतानां लोपश्च वा वक्तव्य इत्यर्थः। अविद्यमानपुत्र इति। न विद्यमान इति नञ्समासः। नञो नलोपः। अविद्यमानः पुत्रो यस्येति बहुव्रीहिः। अपुत्र इति अस्त्यर्थकविद्यमानशब्दस्य लोपे रूपम्। स्त्रियाः पुंवत्। भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्ते स भाषितपुंस्कशब्देनोच्यते। तस्य प्रतिपादको यः शब्दः सोऽपि भाषितपुंस्कः। ऊङोऽभावोऽनूङ्। भाषितपुंस्कादनूङ् यस्मिन् स्त्रीशब्दे स भाषितपुंस्कादनूङ्स्त्रीशब्दः। स्त्रियामिति सप्तम्यन्तमपि न स्त्रीप्रत्ययपरं किन्तु स्त्रीलिङ्गपरम्। तच्च 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकृते उत्तरपदेऽन्वेति। तदाह—स्त्रीलिङ्ग

प्रादिभ्यो—प्रादिसे पर जो धातुज (पतितादि), तत्प्रकृतिभूत जो प्रथमान्त, तदन्त जो प्रपतितादि पद, उनका पदान्तरके साथ समास हो और प्रादिसे पर पतितादि उत्तर पदका विकल्पसे लोप हो।

नञो—'नञ्' से पर अस्त्यर्थक शब्दोंका बहुव्रीहि समास हो, और उत्तरपदस्थ अस्त्यर्थक शब्दोंका विकल्पसे लोप हो।

स्त्रियाः पुंवत्—भाषित पुंस्कसे पर ऊङ् प्रत्ययका अभाव है जिसमें, ऐसा जो स्त्रीवाचक शब्द, उसका पुंवाचकके समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तर पदके परे। किन्तु पूरण प्रत्ययान्त और प्रियादिके परे यह पुंवद्भाव नहीं हो।

समानाधिकरणो व्यधिकरणश्च। तत्र समानाधिकरणोऽपि द्वेधा द्विपदो बहुपदश्च। स द्विविधोऽपि प्रत्येकं षड्विधः द्वितीयाबहुव्रीहिः, तृतीयाबहुव्रीहिः, चतुर्थीबहुव्रीहिः, पञ्चमीबहुव्रीहिः,

प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम्? वामोरूभार्यः। पूरण्यां तु ॥ अप्पूरणीप्रमाण्योः ।५।४।११६। पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः-कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स-स्त्रीप्रमाणः। पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव। रात्रिः पूरणीवाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या। अन्यत्र तु—नद्यृतश्च ।५।४।१५३। नद्युत्तरपदादृदन्तोत्तरपदाच्च बहुव्रीहेः कप्। पुंवद्भावः। केऽणः ।७।४।१३। ह्रस्वः। इति प्राप्ते ॥ न कपि ।७।४।१४। अणो ह्रस्वो न। कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रिर-

---

उत्तरपदे इति। ह्रस्व इति। चित्रा गावो यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुब्लुकि सति अनेकमिति प्रथमान्तनिर्दिष्टतया, विग्रहे नियतविभक्तिकतया वा उपसर्जनत्वे सति चित्रगोशब्दे ओकारस्य 'गोस्त्रियोः' इत्युकारो ह्रस्व इत्यर्थः। चित्रगुः। चित्रा गौर्यस्य इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे सुपो लुकि, 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु' इति 'चित्रा' इत्यस्य पुंवद्भावे गोशब्दस्य 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः। रूपवद्भार्यः। रूपवती भार्या यस्य इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिसमासे सुपो लुकि, 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्' इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावे, उत्तरपदस्य 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः। नद्यृतश्च। नदी च ऋच्चेति समाहारद्वन्द्वात्पञ्चमी। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यते। तद्घटितमुत्तरपदं नद्यृद्भ्यां विशेष्यते। तदन्तविधिः। 'उरःप्रभृतिभ्यः' इत्यतः कबित्यनुवर्तते। तदाह—नद्युत्तरपदादिति। नद्यन्तोत्तरपदादित्यर्थः। ह्रस्वः स्यादिति। 'ष्ट्यङ्ग्राम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः। न कपि। अणो ह्रस्व इति। 'केऽणः' इत्यतः 'ष्ट्यङ्ग्राम्' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः। रात्रिर-

---

अप्पूरणी—पूरणार्थ प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग, तदन्त बहुव्रीहिसे और प्रमाण्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अप्' प्रत्यय। नद्यृतश्च—नद्युत्तरपदक और ऋदन्तोत्तरपदक बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो।

केऽणः—'क' प्रत्ययके परे 'अण्' को ह्रस्व हो। न कपि—'कप्' प्रत्ययके परे 'अण्'

षष्ठीबहुव्रीहिश्चेति। द्वितीयाबहुव्रीहिर्यथा—प्राप्तं उदकं यं स प्राप्तोदकः (ग्रामः)। गतः क्रुद्धः सिंहो यं सः गतक्रुद्धसिंहः (करी)।

तृतीयाबहुव्रीहिर्यथा—जितः कामो येन सः = जितकामः (शिवः)। अर्जिता विख्याता संपद् येन सः = अर्जितविख्यातसम्पद्। चतुर्थीबहुव्रीहिर्यथा—उपहृतः पशुः यस्मै सः =

प्रधानम् । बहुकर्तृकः । अप्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रियः । प्रिया । मनोज्ञा । कल्याणी । सुभगा । दुर्भगा । भक्तिः । सचिवा । स्वसा । कान्ता । क्षान्ता । समा । चपला । दुहिता । वामा । अबला । तनया । (सामान्ये नपुंसकम्) । दृढं भक्तिर्यस्य स—दृढभक्तिः । स्त्रीत्वविवक्षायां तु—दृढाभक्तिः ॥ तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ।६।३।३५। तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु स्त्रियाः पुंवत् । परिगणनं कर्तव्यम् । त्रतसौ । तरप्तमपौ । चरड्जातीयरौ । कल्पब्देशीयरौ । रूपप्पाशपौ । थाल् । तिल्थ्यनौ । एषु परेषु स्त्रियाः पुंवत् । बह्वीषु इति बहुत्र । बहुत इत्यादि ॥ (त्वतलोर्गुणवचनस्य) शुक्लत्वम् । शुक्लता ॥ (भस्याऽढे तद्धिते) । हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् । अढे किम्? रौहिणेयः । (कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु) । कुक्कुटाण्डम् ।

प्रधानमिति । रात्रेः अवयवेशाभावात् प्राधान्यमिति भावः । बहुकर्तृक इति । बह्व्यः कर्त्र्यो यस्येति विग्रहः । कल्याणीप्रिय इति । कल्याणी प्रिया यस्येति विग्रहः । तसिलादिष्विति । 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यनुवर्तते । आ कृत्वसुच इत्याङ् अभिविध्यर्थकः, तदभिव्याप्त्यर्थं । तदाह—तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेष्विति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इत्येतत्पर्यन्तसूत्रविहितेष्वित्यर्थः । परिगणनमिति । अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारायेत्यर्थः । बह्वीषु बहुत्र इति । बह्वीषु इत्यर्थे बह्वीशब्दात् 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ बहुत्रेति रूपमित्यर्थः । बहुत इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति बह्वीशब्दात् तसिल्, पुंवत्त्वात् ङीपो निवृत्तिरिति भावः । त्वतलोरिति । त्वप्रत्यये तल्प्रत्यये च परे गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः पुंवद्वक्तव्यमित्यर्थः । भस्याढे इति । ढभिन्ने तद्धिते परे स्त्रियाः पुंवद्वक्तव्यमित्यर्थः । परिगणितेष्वनन्तर्भावाद्वचनम् । हास्तिकमिति । 'तस्य समूहः' इत्यधिकारे 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' इति ठक् । ठस्येकः । पुंवत्त्वे सति नान्तलक्षणङीपो निवृत्तिः । 'नस्तद्धिते' इति टिलोप इति भावः । रौहिणेय इति । 'वर्णादनुदात्तात्' इति रोहितशब्दात् ङीप्, तकारस्य नकारश्च । रोहिण्या अपत्यमित्यर्थे 'स्त्रीभ्यो ढक्' एयादेशः । 'भस्य' इति पुंवत्त्वे ङीनकारयोः निवृत्तिः स्यादिति भावः । कुक्कु

को ह्रस्व नहीं हो ।

सामान्ये—सामान्य लिङ्गकी विवक्षामें नपुंसक हो ।

तसिलादि—तसिलादिसे कृत्वसुच् पर्यन्त प्रत्ययके परे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवद्भाव हो ।

त्वतलोर्गुण—'त्व' और 'तल्' प्रत्ययके परे गुणवाचक शब्द को पुंवद्भाव हो ।

भस्याऽढे—भसंज्ञकको पुंवद्भाव हो, 'ढ' प्रत्ययभिन्न तद्धित प्रत्ययके परे ।

कुक्कुट्यादीनां—कुक्कुटी आदि शब्दको पुंवद्भाव हो, अण्डादि उत्तर पदके परे ।

मृगपदम्। मृगक्षीरम्। काकशावः॥ क्यङ्मानिनोश्च।६।३।३६। पुंवत्। एनीवाचरति-एतायते। श्येनीवाचरति-श्येतायते। दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते-दर्शनीयमानिनी॥ न कोपधायाः।६।३।३७। स्त्रियाः पुंवत्। पाचिकाभार्यः। रसिकाभार्यः। मद्रिकायते। मद्रिकामानिनी। (कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणम्)। नेह-पाकभार्यः।

स्याशीदामिति। पुंवत्वं वक्तव्यमिति शेषः। असमानाधिकरणार्थमिदमिति सूचयन् षष्ठीसमासमुदाहरति-कुक्कुट्या अण्डमिति। पुंवत्वेन जातिलक्षणङीपो निवृत्तिरिति भावः। क्यङ्मानिनोश्चेति। क्यङि मानिनि च उत्तरपदे परत इत्यर्थः। एनीवेति। एता चित्रवर्णा। 'वर्णादनुदात्तात्' इति ङीप् नकारश्च। 'उपमानादाचारे' इत्यनुवर्तमाने 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति एनीशब्दात् क्यङि पुंवत्वेन ङीन्नत्वयोर्निवृत्तौ, 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घे 'एतायते' इति रूपम्। श्येनीवेति। श्येतशब्दः श्वेतपर्यायः। क्यङादि पूर्ववत्। दर्शनीयमानिनीति। दर्शनीयामिति द्वितीयान्ते उपपदे 'सुप्यजातौ णिनि' रित्यनुवर्तमाने 'मनः' इति णिनिप्रत्ययः, उपपदसमासः, सुब्लुक्, असमानाधिकरणेऽपि मानिन्शब्दे उपपदे परे अनेन पुंवत्वे टापो निवृत्तौ 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीपि दर्शनीयमानिनीति रूपम्। पाचिकाभार्यः इति। पाचिका भार्या यस्येति विग्रहः। पचो ण्वुल्। अकादेशटापित्वानि, पुंवत्वे टापित्वयोर्निवृत्तिः स्यात्। रसिकेति। रसोऽस्यास्तीति रसिका, 'अत इनिठनौ' इति ठन्। ठस्येकः। टाप्, पुंवत्वनिषेधः। पुंवत्वे तु टापो निवृत्तिः स्यात्। मद्रिकायते इति। मद्राख्ये देशविशेषे भवा मद्रिका, 'मद्रवृज्योः कन्' टाप् इत्वम्। मद्रिकेवाचरतीत्यर्थः। 'क्यङ्मानिनोश्च' इति पुंवत्वं प्राप्तमिह निषिध्यते। मद्रिकामानिनीति मद्रिकां मन्यते इत्यर्थे 'मनश्च' इति णिनिः उपपदसमासः। इहापि 'क्यङ्मानिनोश्च' इति पुंवत्वं प्राप्तं निषिध्यते। उभयत्रापि पुंवत्वे टाबित्वयोर्निवृत्तिः स्यात्। तद्धितवुग्रहणमिति। तद्धितसम्बन्धी वुसम्बन्धी च यः ककारः तदुपधायाः स्त्रिया न पुंवत्वमिति फलति। मद्रिकायते इति तद्धितकोपधोदाहरणम्। पाचिकाभार्य इति तु वुसम्बन्धिकोपधोदाहरणम्। पाकेति। अयं तद्धितस्य वुप्रत्ययस्य वा न ककारः

क्यङ्मानि—क्यङ् और मानिन् प्रत्ययके परे स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव हो।

न कोपधायाः—कोपध स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव नहीं हो।

कोपधप्रतिषेधे—कोपधके पुंवद्भाव-प्रतिषेध में तद्धितका और 'वु' का ही ग्रहण हो।

यथा—उद्धृत ओदनो यस्याः सा = उद्धृतोदना (स्थाली)। सम्पादितं भूरि धनं यस्मात्तत् = संपादितभूरिधनम् (चातुर्यम्)। षष्ठीबहुव्रीहिर्यथा, पुंल्लिङ्गे—पीतमम्बरं यस्य सः = पीताम्बरः (विष्णुः)। एको ग्रामो ययोस्तौ = एकग्रामौ (पान्थौ) एको गुरुर्येषां ते = एकगुरवः (शिष्याः)। स्त्रीलिङ्गे—रक्तं वस्त्रं यस्याः, सा = रक्तवस्त्रा (स्त्री)। एवं

संज्ञापूरण्योश्च ।६।३।३८। न पुंवत् । दत्ताभार्यः । पञ्चमीभार्यः ॥ वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ।६।३।३९। वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धेतुर्यस्तद्धितोऽरक्तविकारार्थस्तदन्ता स्त्री न पुंवत् । स्रौघ्नीभार्यः । रक्ते तु—काषायकन्थः ॥ विकारे तु—हैममुद्रिकः ॥ स्वाङ्गाच्चेतः ।६।३।४०। स्वाङ्गाद्य ईकारस्तदन्तात्स्त्री न पुंवत् । सुकेशीभार्यः । स्वाङ्गात्किम् ? पटुभार्यः । ईतः किम् ? अकेशभार्यः ॥

इति नात्र पुंवत्त्वनिषेध इति भावः । दत्ताभार्य इति । दत्ताशब्दस्य संज्ञात्वेन दान क्रियां पुरस्कृत्यैव स्त्रियां पुंसि च संज्ञाभूतः प्रवृत्तः, अतस्तस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवत्त्वे प्राप्ते निषेधोऽयमित्यर्थः । पञ्चमीभार्य इति । पञ्चमी भार्या यस्येति विग्रहः । अत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तं निषिध्यते । वृद्धिनिमित्तस्य च । वृद्धेर्निमित्तं हेतुरिति विग्रहः । रक्तं च विकारश्चेति समाहारद्वन्द्वः । ततो नञ्तत्पुरुषः । रक्तविकारभिन्नेऽर्थे विद्यमानस्येत्यर्थः । वृद्धिशब्देन विहितैव वृद्धिरिह विवक्षिता, व्याख्यानात् । तदाह- वृद्धिशब्देनेत्यादिना । तदन्तेति । प्रत्ययग्रहणपरिभाषालब्धम् । स्रौघ्नीभार्य इति । स्रुघ्ने भवः 'तत्र भवः' इत्यण् यस्येति विग्रहः । 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तमिह निषिध्यते । रक्ते त्विति । रक्तेऽर्थे विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुंवत्त्वनिषेध इत्यर्थः । काषायकन्थ इति । कषायो गैरिको धातुविशेषः, तेन रक्ता काषायी 'तेन रक्तं रागात्' इत्यणि 'यस्येति च' इति लोपः आदिवृद्धिः, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् । पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तिः । अत्राणः तद्धितस्य रक्तार्थकत्वात् न पुंवत्त्वनिषेधः । विकारे त्विति । विकारार्थे विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुंवत्त्वनिषेध इत्यर्थः । हैममुद्रिक इति । हैमी मुद्रिका यस्येति विग्रहः । पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तिः । अत्राणस्तद्धितस्य विकारार्थकत्वान्न पुंवत्त्वनिषेधः । स्वाङ्गाच्च इति । ईत इति षष्ठ्येकवचनम् । तदाह—स्वाङ्गाद्य ईकार इति । सुकेशीभार्य इति । सु शोभनाः केशाः यस्याः सा सुकेशी, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इति ङीष् 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तस्य निषेधः । पटुभार्य इति । पट्वी भार्या यस्येति विग्रहः । पटुत्वस्य अस्वाङ्गत्वात् पुंवत्त्वनिषेधः । किन्तु पुंवत्त्वे 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीपो निवृत्तिरिति भावः । अकेशभार्य इति । अविद्यमानाः केशाः यस्याः सा अकेशा 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति बहुव्रीहिः, विद्य-

---

संज्ञापूरण्योश्च—संज्ञावाचक और पूरण प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दका पुंवद्भाव नहीं हो । वृद्धिनिमित्तस्य—वृद्धिशब्देन विहित जो वृद्धि तद्धेतु जो रक्तविकारार्थक भिन्न तद्धित, तदन्त स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव नहीं हो । स्वाङ्गाच्चेतः—स्वाङ्ग वाचकसे पर जो ईकार, तदन्त स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव नहीं हो ।

मन्दिर ययोः तौ=एकमन्दिरे (भार्ये) । चारूणि भूषणानि यासां ताः=चारुभूषणाः (स्त्रियः) ।
नपुंसके—चित्रा भित्तयो यस्य तत्=चित्रभित्ति (गृहम्) । अनन्यानि रत्नानि

(**अमानिनीति वक्तव्यम्**) । सुकेशमानिनी ॥ **जातेश्च** ।६।३।४१। न पुंवत् । ब्राह्मणीभार्यः । शूद्राभार्यः ॥ **संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये** ।२।२।२५। संख्येयार्थया संख्ययाऽव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः ॥ **बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** ।५।४।७३। संख्येये बहुव्रीहिस्तस्माड्डच् समासान्तः ॥ दशानां समीपे ये सन्ति ते—उपदशाः । अबहुगणात् किम् ? उपबहवः । उपगणाः ॥ **ति विंशतेर्डिति** ।६।४।१४२। विंशतेर्भस्य टेर्लोपो डिति । आसन्नविंशाः, विंशतेरा-

मानशब्दस्य लोपश्च । स्वाङ्गत्वेऽपि न ङीप् 'सहनञ्विद्यमान' इति निषेधात् । अतष्टा-बेव । स्वाङ्गत्वेऽपि ईकाराभावान्न पुंवत्त्वनिषेधः। किंतु पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः। अमानिनीति । 'स्वाङ्गाच्च' इति निषेधः मानिन्शब्दे परतः न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः। सुकेशमानिनीति । सुकेशीं मन्यते इत्यर्थं 'मनश्च' इति णिनिः, उपधावृद्धिः, उपपदसमासः, सुब्लुक्, पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तिरिति भावः । ब्राह्मणीभार्य इति । पुंवत्त्वनिषेधाच्च शार्ङ्गरवादिङीनो निवृत्तिः । शूद्राभार्य इति । 'शूद्रा चामहत्पूर्वा' इति जातिलक्षण-ङीषोऽपवादष्टाप् । पुंवत्त्वनिषेधाच्च टापो निवृत्तिः । संख्ययेति । शेषग्रहणम्, अनेकम-न्यपदार्थे इति च निवृत्ते । बहुव्रीहिरित्यनुवर्तते 'सुप्सुपा' इति च । संख्येये इत्येतत् संख्ययेत्यत्रान्वेति । संख्यया परिच्छेद्यं संख्येयम्, तदर्थे विद्यमानया संख्ययेति लभ्यते । संख्याशब्दश्चायं न स्वरूपपरः, किन्तु एकादिशतान्तशब्दपरः । तदाह— संख्येयार्थया संख्ययेति । अव्ययादय इति । अव्यय आसन्न अदूर अधिक संख्या एते सुबन्ता इत्यर्थः । बहुव्रीहौ संख्येय इति । 'संख्ययाऽव्यय' इति विहित इति शेषः । तस्मादिति । बहुव्रीहाविति पञ्चम्यर्थे सप्तमीति भावः । डच्स्यात् इति । समासान्तस्त-द्धितश्चेति ज्ञेयम् । उपदशा इति । दशानां समीपे ये सन्तीति विग्रहः । 'संख्ययाऽव्यय' इति बहुव्रीहिः । सुब्लुक् उपदशन्शब्दाड्डचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । उपबहवः, उपगणा इति । बहूनां समीपे ये सन्तीति, गणानां समीपे ये सन्तीति च विग्रहः । 'बहुगणवतुडति संख्या' इति संख्यात्वात् 'संख्ययाऽव्यय' इति समासः । अबहुगणात् इति निषेधान्न डच् । ति विंशतेर्डिति । तीति लुप्तषष्ठीकम् ।

अमानिनीति—'मानिन्' शब्दके परे पुंवद्भावका निषेध नहीं हो ।

जातेश्च—जातिवाचक शब्दसे पर जो ङीप्रत्यय, तदन्तको पुंवद्भाव नहीं हो ।

संख्यया—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्दके साथ अव्ययादि समस्त हों और वह बहु-व्रीहिसंज्ञक हो ।

बहुव्रीहौ—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्दके साथ निष्पन्न बहुव्रीहिसे समासान्त 'डच्' प्रत्यय हो, बहु और गणशब्दान्तको छोड़कर । ति विंशते-भसंज्ञक 'विंशति' शब्दके 'ति' का

-र्घयोस्ते = अनर्घ्यंरत्ने (कटके) । भूरि सत्त्वं येषां तानि = भूरिसत्त्वानि (शास्त्राणि)

संख्या इत्यर्थः। अदूरत्रिंशाः। अधिकचत्वारिंशाः। द्वौ वा त्रयो वा-द्वित्राः॥ दिङ्नामान्यन्तराले ।२।२।२६। दिशो नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत्। दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशो यदन्तरालं-दक्षिणपूर्वा॥ तत्र तेनेदमिति सरूपे ।२।२।२७। सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे॥ इच् कर्मव्यतिहारे ।५।४।१२७। अन्येषामपि दृश्यते ।६।३।१३७। दीर्घः। केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं-केशाकेशि।

'भस्य' इत्यधिकृतम्। 'यस्येति च' इत्यस्मात्लोप इत्यनुवर्तते। आसन्नविंशा इति। विंशतेरासन्नसंख्यावन्त इत्यर्थः। डचि कृते 'आसन्नविंशति-अ' इति स्थिते तिलोपे सवर्णदीर्घं बाधित्वा 'अतो गुणे' इति पररूपे आसन्नविंशशब्दः अदन्तः। अदूरत्रिंशा इति। त्रिंशतः अदूरा इति विग्रहः। त्रिंशत्संख्यायाः अदूरसंख्यावन्त इत्यर्थः। डचि टिलोपः। अधिकचत्वारिंशा इति। चत्वारिंशतोऽधिका इति विग्रहः। चत्वारिंशत्संख्यायाः अधिकसंख्यावन्त इत्यर्थः। डचि टिलोपः। द्वित्रा इति। वार्थे बहुव्रीहिः। द्वित्र्यन्यतरा इत्यर्थः। डचि टिलोपः। दिङ्नामानि। नामानीत्यनन्तरं सुबन्तानि परस्परमिति शेषः। प्राग्वदिति। समस्यन्ते स च बहुव्रीहिरित्यर्थः। दक्षिणपूर्वेति। स्त्रीत्वं लोकात्। तत्र तेनेति। समास इति, बहुव्रीहिरिति चाधिकृतम्। तत्र इत्यनेन सप्तम्यन्ते पदे विवक्षिते। ग्रहणविषये इति प्रथमाद्विवचनान्तं तद्विशेषणमध्याहार्यम्। सरूपे इति प्रथमाद्विवचनान्तं पदविशेषणम्। ग्रहणविषये प्रहरणविषये इति तु सप्तम्यन्तयोस्तृतीयान्तयोश्च यथासंख्यमन्वेति। इदम् इत्यर्थनिर्देशः। युद्धं प्रवृत्तमिति तद्विशेष्यमध्याहार्यम्। कर्मव्यतिहारे द्योत्ये इत्यप्यध्याहार्यम्। तदाह—सप्तम्यन्ते इति। प्रथमाद्विवचनमिदम्। ग्रहणविषये इति। गृह्यते अस्मिन्निति ग्रहणं केशादि, अधिकरणे ल्युट्, तद् विषयो वाच्यं ययोस्ते; ग्रहणविषये, ग्रहणवाचके इति। यावत्। प्रहरणविषये इति। प्रह्रियते अनेनेति प्रहरणं दण्डादि, तद् विषयः वाच्यं ययोस्ते प्रहरणविषये, प्रहरणवाचके इति यावत्। समासान्त इति। बहुव्रीहावित्यपि ज्ञेयम्। दीर्घ इति। 'इग्लोपे' इत्यत अनुवर्तते इति भावः। केशाकेशीति। केशेषु केशेष्वित्यनयोर्ग्रहणवाचकयोः सप्तम्यन्तयोः समासे सति सुब्लुक्,

---

लोप हो, 'डित' प्रत्ययके परे। दिङ्नामा—अन्तराल वाच्य हो तो दिङ्नामोंका समास हो। तत्र तेनेद—सप्तम्यन्त और तृतीयान्त ग्रहणविषयक जो दो सरूप पद, वे—'इदं युद्धं प्रवृत्तम्' (यह युद्ध आरम्भ हुआ) इस अर्थमें समस्त हों, कर्मव्यतिहारमें। इच् कर्म—कर्मव्यतिहारमें बहुव्रीहिसे समासान्त 'इच्' प्रत्यय हो। अन्येषामपि—कर्मव्यतिहार बहुव्रीहिमें 'इच्' प्रत्ययके परे पूर्वपदको दीर्घ भी हो।

नीलमुत्पलं यस्य स नीलोत्पलवपु (कृष्णः)। सप्तमीबहुव्रीहिर्यथा—वीरा

दण्डैर्दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तं—दण्डादण्डि। मुष्टीमुष्टि॥ **तेन सहेति तुल्ययोगे ।२।२।२८।** तुल्ययोगे वर्तमानं सहेत्यन्तं तृतीयान्तेन प्राग्वत्॥ **वोपसर्जनस्य ।६।३।८२।** बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा। पुत्रेण सह—सपुत्रः, सहपुत्रो वाऽऽगतः॥ **प्रकृत्याशिषि ।६।३।८३।** सहशब्दः। स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहामात्याय॥ (अगोवत्सहलेष्विति वक्तव्यम्)। सवत्साय। सहलाय॥ **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ।५।४।११३।** स्वाङ्गवाचि सक्थ्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात्किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। अक्ष्णोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच्। **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ।५।४।११५।**

पूर्वपदस्य दीर्घः, इच् समासान्तः। 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। अव्ययत्वात्सुब्लुगिति भावः। दण्डैर्दण्डैरिति। अस्य दण्डैः सः, तस्य दण्डैरयमित्येवं परस्परं प्रहृत्य स्थितयोरिदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहार्थः। दण्डादण्डीति। दण्डैर्दण्डैरित्यनयोः प्रकृतसूत्रेण समासघटकयोः समासे सति सुब्लुक्, पूर्वपदस्य दीर्घः, इच्, 'यस्येति च' इति अकारलोपः। अव्ययत्वात् सुब्लुक्। मुष्टीमुष्टीति। अस्य मुष्टिभिः सः, तस्य मुष्टिभिरयमित्येवं परस्परं प्रहृत्य स्थितयोरिदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहः। मुष्ट्या मुष्ट्या इत्यनयोः समासे सति सुब्लुगादि पूर्ववत्। तुल्ययोग इति। युगपदेककालिकक्रियायोगे इत्यर्थः। तृतीयान्तेनेति। तेनेत्यनेन तल्लाभादिति भावः। प्राग्वदिति। समस्यते स बहुव्रीहिरित्यर्थः। असामानाधिकरण्यार्थं [illegible] चेदम्। वोपसर्जनस्य। उत्तरपदे इत्यनिवृत्तम्। 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इत्यतः सहस्य स इत्यनुवर्तते। उपसर्जनमस्यास्तीत्युपसर्जनः, मत्वर्थीयोऽर्शआद्यच्। उत्तरपदार्थप्रधानसमासो विशेष्यम्। उपसर्जनवतः समासस्येत्यर्थः। सपुत्र इति। समासे रूपम्। पुत्रेण युगपद् आगत इत्यर्थः। प्रकृत्येति। स्वभावेन स्थितः स्यादित्यर्थः। सादेशो नेति यावत्। अगोवत्सेति। गोवत्स-

---

तेन सहेति–तुल्ययोगमें वर्तमान 'सह' शब्दका तृतीयान्तके साथ समास हो, विकल्पसे।

वोपसर्जनस्य—बहुव्रीहिके अवयव 'सह' को 'स' आदेश हो विकल्पसे।

प्रकृत्याशिषि—आशीर्वाद अर्थमें 'सह' शब्द प्रकृतिवत् रहे—'स' आदेश नहीं हो।

अगोवत्स—गो-वत्सादिके परे 'सह' शब्दको प्रकृतिभाव नहीं हो अर्थात् 'सह' को 'स' आदेश हो जाय। बहुव्रीहौ—स्वाङ्गवाची सक्थ्यन्त और अक्ष्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'षच्' प्रत्यय हो। द्वित्रिभ्यां—'द्वि-त्रि' शब्दसे पर 'मूर्द्धन्' शब्दसे 'ष' प्रत्यय हो, बहुव्रीहिमें।

पुरुषाः यस्मिन् सः = वीरपुरुषकः (ग्रामः)। सङ्गिनः कुण्डलिनः वीरा यस्मिन् तत् =
[illegible]

आभ्यां मूर्ध्न ष स्याद्बहुव्रीहौ। द्विमूर्ध। त्रिमूर्ध ॥ **अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ।५।४।११७।** अप् स्यात्। अन्तर्लोम। बहिर्लोम ॥ **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ।५।४।१३८।** हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादस्य लोपः। व्याघ्रस्येव पादावस्य-व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्य किम्? हस्तिन इव पादौ यस्य हस्तिपादः। कुसूलपादः ॥ **संख्यासुपूर्वस्य ।५।४।१४०।** पादशब्दस्य लोपः। द्विपात्। सुपात् ॥ **उद्विभ्यां काकुदस्य ।५।४।१४८।** लोपः। उत्काकुत्। विकाकुत्। **पूर्णाद्विभाषा ।५।४।१४९।** पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदः ॥ **सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ।५।४।१५०।** सुहृन्मित्रम्। दुर्हृदमित्रः ॥ (**नेतुर्नक्षत्रे अब्वक्तव्यः**)। मृगो नेता यासां रात्रीणां ता मृगनेत्रा रात्रयः ॥ **अच् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ।५।४।११८।** नासिकान्ताद्बहुव्रीहेरच् नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोति, न तु स्थूलपूर्वात् ॥ **पूर्वपदात्संज्ञायामगः ।८।४।३।** पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य

द्वन्द्वेषु परतः सहृदय प्रकृतिभावो नेत्यर्थः। नेतुर्नक्षत्र इति। नक्षत्रे विद्यमानो यो नेतृशब्दः तदन्ताद्बहुव्रीहेरप् वक्तव्य इत्यर्थः। नेता नायकः। मृगो नेतेति। मृग-मृगशीर्षम्। रात्रिनेता चन्द्रः। तयोरभावयस्यापि योग्यम्। मृगनेत्रा इति। मृगनेतृशब्दादप्, ऋकारस्य यण् रेफः, टाप्। अच् नासिकाया इति। अच् इति च्छेदः। नासिकाया इत्यस्य बहुव्रीहेर्विशेषणत्वात् तदन्तविधिमभिप्रेत्याह-नासिकान्तादिति। नसमित्यनन्तरं प्राप्नोतीत्यध्याहार्यम्। उपस्थितत्वान्नासिकाशब्द इति लभ्यते। तदाह-नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोतीति। पूर्वपदात्। 'रषाभ्याम्' इत्यनुवृत्तम्। पूर्वपद

अन्तर्बहि—'अन्तर्' और 'बहिस्' शब्दसे पर 'लोमन्' शब्दसे 'अप्' प्रत्यय हो।

पादस्य—हस्त्यादि भिन्न उपमानवाचीसे पर पादशब्दान्त (समासान्त प्रत्यय) का लोप हो, बहुव्रीहिमें। सख्या—'संख्या' और 'सु'पूर्वक पाद शब्दका समासान्त (प्रत्यय) लोप हो, बहुव्रीहिमें। उद्विभ्यां—'उत्' और 'वि' उपसर्गसे पर 'काकुद' शब्दका समासान्त लोप हो, बहुव्रीहि में। पूर्णाद्विभाषा—'पूर्ण' शब्दसे पर 'काकुद' शब्दका समासान्त लोप विकल्पसे हो, बहुव्रीहिमें।

सुहृद्दुर्हृदौ—'मित्र' और 'अमित्र' अर्थमें 'सुहृद' और 'दुर्हृद' ये क्रमसे निपातन हों, अर्थात् 'सु' तथा 'दुर्' से पर हृदयको हृद्भाव निपातन हो।

नेतुर्नक्षत्रे—नक्षत्रमें वर्तमान नेतृ शब्दसे समासान्त 'अप्' प्रत्यय हो, बहुव्रीहिमें। अच् नासिकायाः—स्थूलपूर्वकसे भिन्न नासिकान्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो तथा नासिका शब्दको 'नस्' आदेश हो, संज्ञामें। पूर्वपदात्संज्ञाया—पूर्वपदस्थ निमित्तसे

(विष्णु)। मनुष्याज्जन्म यस्य सः—मनुष्यजन्मा। साध्याभावकृते च वृत्तिर्यस्य सः—

णः, न तु गकारव्यवधाने । द्रुरिव नासिका यस्य द्रुणसः ॥ (खुरखराभ्यां वा नस्) । खुरणाः । खरणाः । पक्षे,—अजपीष्यते । खुरणसः । खरणसः ॥ उपसर्गाच्च ।५।४।११९। उन्नसः ॥ (वेर्ग्रो वक्तव्यः) । विगता नासिकाऽस्य विग्रः ॥ (ख्यश्च) विख्यः ॥ नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ।५।४।१२१। अहलः, अहलिः । असक्थः, असक्थिः । एवं दुःसुभ्याम् । शक्त्योरिति पाठान्त-

---

शब्देन पूर्वपदस्थं लभ्यते । 'रषाभ्याम्' इत्यनेन लब्धो रेफः षश्च प्रत्येकमन्वेति, तदाह-पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति । रेफषकारात्मकादित्यर्थः । अत इति पञ्चम्यन्तम् । गकारभिन्नात्परस्येत्यर्थः । गकारात्परस्य नेति यावत् । द्रुणस इति । बहुव्रीहेरच्, नासिकाशब्दस्य नसादेशः, णत्वम् । खुरेति । खुरखराभ्यां परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ संज्ञायां नसादेशो वेति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रकृतत्वादेव सिद्धे नसादेशवचनम् अच्प्रत्ययानुवृत्तिनिवृत्त्यर्थम् । खुरणा इव । खुराविव नासिके यस्येति विग्रहः नसादेशः । 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इति णत्वम् । "अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । खरणा इति । खररूपा नासिका यस्येति विग्रहः । उपसर्गाच्च । असंज्ञार्थमिदम् । उन्नस इति । उन्नता नासिका यस्येति विग्रहः । 'उपसर्गाच्च' इत्यच्, नासिकाया नस् । वेरिति । वेः परो यो नासिकाशब्दः स आदेशं प्राप्नोतीति भावः । विग्र इति । विगता नासिका यस्येति विग्रहः । प्रकृतवार्तिकेन नासिकाशब्दस्य ग्रादेश इति भावः । नञ्दुःसुभ्य इति । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—अच् स्यादिति । अहलः अहलिरिति । अविद्यमानः हलिः यस्य स इति विग्रहः । हलिशब्द इदन्तो हलपर्यायः । तदन्तादच्चि 'यस्येति च' इति इकारलोपे तदभावे च रूपम् । असक्थः, असक्थिरिति । अविद्यमानं सक्थि यस्येति विग्रहः । एवं दुःसुभ्यामिति । दुर्हलः, दुर्हलिः । दुस्सक्थः, दुस्सक्थिः ।

पर नकारको णकार हो, संज्ञामें, पर गकारके व्यवधानमें नहीं हो । खुरखराभ्यां—खुर और खर शब्दसे पर नासिका शब्दको विकल्पसे 'नस्' आदेश हो । पक्षेऽपि—पक्षमें (एकबार) खुर और खर शब्दसे पर नासिका शब्दको 'नस्' आदेश और समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो और नासिका शब्दको 'नस्' आदेश हो, असंज्ञामें ।

वेर्ग्रो वक्तव्यः । ख्यश्च—'वि' उपसर्गसे पर नासिका शब्दको 'ग्र' आदेश हो और 'ख्य' आदेश भी हो । नञ्दुःसुभ्यो—नञ्, दुस् और सु से पर जो हलि तथा सक्थि शब्द,

---

साध्याभावदवृत्तिः ॥ अथ द्विपदे बहुपदे च बहुव्रीहौ प्रत्येकं यथासंभवं नव भेदाः—विशेषणपूर्वपदः, विशेषणोत्तरपदः, उपमानपूर्वपदः, उपमानोत्तरपदः, विनयपूर्वपदः, अवधारणपूर्वपदः, अवधारणोत्तरपदः, क्रमिकोभयपदः, मध्यमपदलोपी चेति । विशेषणपूर्वपदो यथा—नीलः कण्ठो यस्य सः = नीलकण्ठः (शिवः) । विशेषणोत्तरपदो यथा—असयः

रम् । व्यग्रका, अशक्ति ॥ नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ।५।४।१२२। नञ्दुःसुभ्य इत्येव । अप्रजाः । अमेधाः । दुर्मेधाः । सुमेधाः ॥ धर्मादनिच् केवलात् ।५।४।१२४ केवलात्पूर्वपदाद्यो धर्मशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरनिच् कल्याणधर्मा । केवलात् किम् ? परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत् । परमस्वधर्मः ॥ (इच्कर्मव्यतिहारे) । केशाकेशि । मुसलामुसलि ॥ प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः ।५।४।१२९। प्रज्ञुः । संज्ञुः ॥ ऊर्ध्वाद्विभाषा ।५।४।१३०। ऊर्ध्वज्ञुः । ऊर्ध्वजानुः ॥ ऊधसोऽनङ् ।५।४।१३१। कुण्डोध्नी ॥ धनुषश्च ।५।४।१३२। धनुरन्ताद्बहुव्रीहेरनङादेशः ।

नित्यमसिजिति । 'नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योः' इति सूत्रात् 'नञ्दुःसुभ्यः' इत्यनुवर्तते । नञ्दुःसुभ्यः पराभ्यां प्रजामेधाशब्दाभ्यां नित्यमसिच् समासान्तः स्यात्, स तद्धित इत्यर्थः । असिचि चकार इत्, इकार उच्चारणार्थः । अप्रजा इति । अविद्यमाना प्रजा यस्येति विग्रहः । 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति समासः । असिचि, 'यस्येति च' इकारलोपादप्रजस्शब्दात् सुबुत्पत्तिः । सौ तु 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । 'हल्ङ्याप्' इति सुलोपः । कल्याणधर्मेति । कल्याणो धर्मो यस्येति विग्रहः । अनिचि 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । इच् कर्मेति । समासान्तः स्यात् स च तद्धितः । केशाकेशीति । पूर्वं व्याख्यातम् । प्रसम्भ्यामिति । प्र-सम्-भ्यां परस्य जानुशब्दस्य ज्ञुरादेश इत्यर्थः । प्रज्ञुः । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति समासः । संज्ञुरिति । संगते जानुनी यस्येति विग्रहः । ऊर्ध्वाद्विभाषेति । ऊर्ध्वशब्दात् परो यो जानुशब्दः तस्य ज्ञुरादेशो वा स्याद् बहुव्रीहावित्यर्थः । ऊर्ध्वज्ञुरिति । ऊर्ध्वे जानुनी यस्येति विग्रहः । ऊधसोऽनङ् । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहाविति अनुवर्तते, तच्च षष्ठ्या विपरिणम्य ऊधस इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः । कुण्डोध्नीति । कुण्डम् इव ऊधो यस्याः

तदन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । नित्यमसिच्—नञादिसे पर जो प्रजा और मेधा शब्द तदन्त बहुव्रीहिसे नित्य ही समासान्त 'असिच्' प्रत्यय हो ।

धर्मादनिच्—केवल (एक पद मात्र) पूर्वपदसे पर जो धर्म शब्द, तदन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय हो ।

इच्कर्मव्यतिहारे—कर्मव्यतिहारमें ('तत्र तेनेदमिति सरूपे' इस सूत्रसे विहित) बहुव्रीहिसे समासान्त 'इच्' प्रत्यय हो । प्रसम्भ्यां—प्र और सम् उपसर्ग से पर जानुशब्दको समासान्त 'ज्ञु' आदेश हो, बहुव्रीहिमें । ऊर्ध्वाद्विभाषा—ऊर्ध्व शब्दसे पर जानु शब्दको समासान्त 'ज्ञु' आदेश विकल्पसे हो, बहुव्रीहिमें । ऊधसो—ऊधोऽन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अनङ्' आदेश हो, स्त्रीलिङ्गमें । धनुषश्च—धनुरन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अनङ्' आदेश

आदिश्च देव उपकरणादित्र (ब्राह्मणाः) । गत ओज यस्य सः = गतओज (वायु) उपमानपूर्वपदो यथा—पद्मे इव नेत्रे यस्य सः = पद्मनेत्र (विष्णु) । उपमानोत्तरपदो

शार्ङ्गधन्वा ॥ वा संज्ञायाम् ।५।४।१३३। शतधन्वा। शतधनुः ॥ जायाया निङ् ५।४।१३४। जायान्तस्य बहुव्रीहेर्निङादेशः ॥ लोपो व्योर्वलि ।६।१।६६। युवतिर्जाया यस्य युवजानिः ॥ गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ।५।४।१३५। उद्गन्धिः। पूतिगन्धिः। सुगन्धिः ॥ उपमानाच्च ।५।४।१३७। पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः ॥ वयसि दन्तस्य दतृ ।५।४।१४१। संख्यासुपूर्वस्येत्येव। द्विदन्। चतुर्दन् ॥ अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ।५।४।१४५। एभ्यो दन्तस्य दतृ वा। कुड्म-

सा इति विग्रहः। अनङि कृते ङीपि अल्लोपोऽन इति भावः। धनुषश्चेति 'ऊधसोऽनङ्' इत्यतोऽनङ् इत्यनुवर्तते। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहाविस्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्या विपरिणम्य ऊधसः इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः। तदाह—धनुरन्तादित्यादिना। शार्ङ्गधन्वेति। शृङ्गस्येदं शार्ङ्गं 'तस्येदम्' इत्यण्, तत् धनुर्यस्येति विग्रहः। समासे शार्ङ्गधनुरशब्दे सकारस्यानङ्, ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः, उकारस्य यण् इति भावः। वा संज्ञायाम्। 'धनुषश्च' इत्युक्तः अनङ् संज्ञायां वा स्यादित्यर्थः। युवजानिरिति। जायाशब्दे यकाराकारस्य निङ्। ङकार इत्। 'लोपो व्योः' इति यकारलोपः। युवतिशब्दस्य पुंवत्त्वात् तिप्रत्ययस्य निवृत्तिः, नलोप इति भावः। गन्धस्येदुत्। गन्धस्य इत् इति छेदः। उत् पूति सु सुरभि एतेभ्यः परस्य गन्धस्येकारोऽन्तादेशः स्यादित्यर्थः। उद्गन्धिरिति। उद्गतो गन्धो यस्येति विग्रहः। एवं सर्वत्र। उपमानाच्चेति। उपमानवाचि पूर्वपदात् परस्यापि गन्धशब्दस्य इकारोऽन्तादेशः स्याद् बहुव्रीहावित्यर्थः। पद्मस्येवेति। फलितार्थकथनमिदम्। पद्मगन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहः। द्विदन्निति। द्वौ दन्तौ यस्येति विग्रहः। दन्तस्य दत्रादेशः। ऋकार इत्। उगित्वान्नुम्। सुलोपः। संयोगान्तलोपः। तस्यासिद्धत्वादुपधादीर्घो न। चतुर्दन्निति। चत्वारो दन्ता यस्येति विग्रहः। इत्यादि पूर्ववत्। अग्रान्त इति। अग्र।-अग्रश-

हो। वा संज्ञायां—धनुरन्त बहुव्रीहिसे संज्ञामें विकल्पसे समासान्त 'अनङ्' आदेश हो। जायाया निङ्—जायान्त बहुव्रीहिको समासान्त 'निङ्' आदेश हो।

लोपो व्योर्वलि—यकार-वकारका लोप हो, 'वल्' के परे। गन्धस्येदुत्-उदादिसे पर जो गन्ध शब्द, तदन्त बहुव्रीहिको समासान्त इकारान्तादेश हो। उपमानाच्च-उपमानवाची पूर्वपदसे पर जो गन्ध शब्द तदन्त बहुव्रीहिको समासान्त इकारान्तादेश हो।

वयसि—वय (अवस्था) गम्यमान रहने पर संख्या तथा सु पूर्वक दन्त शब्दको समासान्त 'दतृ' आदेश हो, बहुव्रीहिमें। अग्रान्त—अग्रादिसे पर दन्त शब्दको समासान्त 'दतृ' आदेश हो, बहुव्रीहिमें, विकल्पसे।

यथा—गतमुद्गोनमिव यस्य सः = गतोद्गोनः (अश्वः)। विषयपूर्वपदो यथा—न भवेत् इति बुद्धिः यस्य सः = नभवेद्बुद्धिः। शिव इति शब्दो यस्य सः = शिवशब्दः (तपस्वी)

श्यावदन्तः । कुड्मलाग्रदन् ॥ उरःप्रभृतिभ्यः कप् ।५।४।१५१। व्यूढोरस्कः । प्रियसर्पिष्कः ॥ (अर्थान्नञः)। अनर्थकम् । नञः किम्? अपार्थम् । इनः स्त्रियाम् ।५।४।१५२। इनन्ताद्बहुव्रीहेः कप् । बहुदण्डिका नगरी ॥ (अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति) । बहुवाग्मिका ॥ शेषाद्विभाषा ।५।४।१५४। अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कब्वा । महायशाः, महायशस्कः । अनुक्तेत्यादि किम्? व्याघ्रपात् ॥ आपोऽन्यतरस्याम् ।७।४।१५। कपि ह्रस्वः । बहुमालाकः, बहुमालकः, बहुमालः ॥ न संज्ञायाम् ।५।४।१५५।

कुड्मलाग्रेऽवसाने यस्य स अग्रान्त इत्यभिप्रेत्योदाहरति—कुड्मलाग्रदन्निति । कुड्मलानां मुकुलानाम् अग्राणि तानीव दन्ता यस्येति विग्रहः । एवं श्यावदन्-श्यावदन्तः, शुभ्रदन्-शुभ्रदन्तः । वृषदन्-वृषदन्तः । वराहदन्-वराहदन्तः इति । अर्थान्नञ इति । गणसूत्रम् । नञः परो योऽर्थशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेः कप् स्यादिति तदर्थः । अनर्थकम् । अविद्यमानोऽर्थो यस्येति विग्रहः । अपार्थम् । अपगतोऽर्थो यस्मादिति विग्रहः । अत्र नञ्पूर्वकत्वात् न नित्यः कबिति भावः । इनः स्त्रियाम् । इनन्तात् कप् स्यात् बहुव्रीहावित्यर्थः । बहुदण्डिका नगरी । दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी 'अत इनिठनौ' इति इनिः । बहवः दण्डिनो यस्यामिति विग्रहः । बहुवाग्मिकेति । वागस्यास्तीति वाग्मी । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः । नकारादिकार उच्चारणार्थः । तद्धितत्वात् नकारस्य नेत्संज्ञा, चकारस्य कुत्वम्, जश्त्वम्, वाग्मीति रूपम् । बहवो वाग्मिनो यस्यामिति विग्रहः । कपीति । 'न कपि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । बहुमालाक इति । बह्व्यो माला यस्येति विग्रहः । ह्रस्वपक्षे बहुमालक इति भवति । कपो वैकल्पिकत्वात् पक्षे बहुमालः । सर्वत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवद्भावः । न संज्ञायाम् ।

उरःप्रभृतिभ्यः—उरः प्रभृत्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो ।

अर्थान्नञः—नञ्से पर जो अर्थ शब्द, तदन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो ।

इनः स्त्रियाम्—इनन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

अनिनस्मन्—अर्थवान् या अनर्थक भी (सूत्रोक्त) अन्, इन्, अस् और मन्से तदन्तविधि हो । शेषाद्विभाषा—अनुक्त समासान्त शेषाधिकारस्थ बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । आपोऽन्यतरस्याम्—'कप्' प्रत्ययके परे आबन्तको ह्रस्व हो, विकल्पसे । न संज्ञायाम्—'शेषाद्विभाषा' इस सूत्रसे प्राप्त 'कप्' संज्ञामें नहीं हो ।

अहमित्यभिमानो यस्य स = अहमभिमानः (मूर्खः) । अवधारणपूर्वपदो यथा—यश एव धनं यस्य स यशोधनः (विद्वान्) । अवधारणोत्तरपदो यथा—भक्षितं जगदेव येन स जगद्भक्षितवान् (मृत्युः) । क्रमिकोभयपदो यथा—गर्वितः पराजितो येन स —गर्वितपराजितः (राजा) ।

शेषादिति प्राप्तः कप् न। विश्वे देवा अस्य-विश्वदेवः। ईयसश्च।५।४।१५६। ईयसन्तोत्तरपदान्न कप्। बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे प्राप्ते॥ (ईयसो बहुव्रीहेर्न)। बहुश्रेयसी। बहुव्रीहेः किम्? अतिश्रेयसिः॥ वन्दिते भ्रातुः।५।४।१५७। पूजार्थभ्रात्रन्तान्न कप्। प्रशस्तो भ्राताऽस्य प्रशस्तभ्राता। सुभ्राता। वन्दिते किम्? मूर्खभ्रातृकः। नद्यृतश्चेति कप्॥ (सर्वनामसंख्येययोर्बहुव्रीहौ पूर्वनिपातः)। सर्वश्वेतः। द्विशुक्लः॥ (संख्याया अल्पीयस्याः)।

शेषादिति प्राप्त इति। 'अनन्तरस्य' इति न्यायात् 'शेषाद्विभाषा' इति विहितस्य कप एवायं निषेधः, न तु व्यवहितस्य 'नद्यृतश्च' इत्यादिकप इति भावः। विश्वेदेवा अस्येति। अत्र संज्ञायां समासस्य नित्यत्वात् लौकिकविग्रहप्रदर्शनं चिन्त्यमेव। ईयसश्चेति। बहुश्रेयसीशब्दे श्रेयसीशब्दस्यैव प्रत्ययग्रहणपरिभाषया ईयसन्तत्वादाह–ईयसन्तोत्तरपदादिति। बहुव्रीहिणा उत्तरपदादित्याक्षिप्यत इति भावः। न कबिति। 'न संज्ञेयसोः' इति वक्तव्ये पृथग्योगकरणात् नित्यस्य वैकल्पिकस्य च कपोऽयं निषेध इति भावः। श्रेयांस इति। अतिशयेन प्रशस्ता इत्यर्थः। 'द्विवचनविभज्य' इति ईयसुन्। 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रः, 'आद्गुणः' इति गुणः। बहुश्रेयानिति। शैषिकः कब्निषिध्यते। ह्रस्वे प्राप्ते इति। बह्व्यः श्रेयस्यः यस्येति बहुव्रीहिः। तत्र ईयसो बहुव्रीहेरिति। ईयसन्तात् बहुव्रीहेः परस्य स्त्रीप्रत्ययस्य ह्रस्वो नेति वाच्यमित्यर्थः। बहुश्रेयसीति। 'नद्यृतश्च' इति नित्यः कबिह निषिध्यते, लिङ्गविशिष्टपरिभाषया ईयसुग्रहणेन स्त्रीप्रत्ययान्तश्रेयसीशब्दस्यापि ग्रहणादिति भावः। बहुव्रीहेः किमिति। ईयसो बहुव्रीहेः इत्यत्रेति शेषः। अतिश्रेयसिरिति। श्रेयसीमतिक्रान्त इति तत्पुरुषोऽयमिति भावः। प्रशस्तभ्रातेति। 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तः कबिह निषिध्यते। सुभ्रातेति। सु शोभनो भ्राता यस्य स इति विग्रहः। अत्रापि 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तस्य कपो निषेधः। सर्वनामसंख्येययोरिति। बहुव्रीहौ पूर्वनिपातस्येति शेषः। सर्वश्वेत इति।

ईयसश्च—ईयसन्तोत्तर पदके बहुव्रीहिसे 'कप्' नहीं हो।

ईयसो—ईयसन्त बहुव्रीहिमें उपसर्जन ह्रस्व नहीं हो।

वन्दिते—पूजितार्थक भ्रात्रन्त बहुव्रीहिसे 'कप्' नहीं हो। सर्वनाम—सर्वनाम और संख्यावाचकका बहुव्रीहिमें पूर्वनिपात हो। संख्याया अल्पी—अल्प (न्यून) संख्यावाचक

मध्यमपदलोपी यथा—खरस्य मुखमिव मुखं यस्य सः-खरमुखः। हरिणस्याक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा=हरिणाक्षी। न विद्यमानः पुत्रो यस्य सः=अपुत्रः, अविद्यमानपुत्रो वा। प्रपतितं पर्णं यस्य सः=प्रपर्णः, प्रपतितपर्णो वा। इति नव भेदाः।

अथ संख्योत्तरपदो यथा—दशानां समीपे ये सन्ति ते=उपदशाः (नव एकादश

दिशा। (द्वन्द्वेऽपि)। द्वादश। (वा प्रियस्य)। गुडप्रियः। प्रियगुडः॥ (गड्वादेः परा सप्तमी)। गडुकण्ठः। क्वचिन्न—बहुगडुः॥ निष्ठा।२।२।३६। निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। कृतकृत्यः॥ (जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या)। शार्ङ्गजग्धी। मासजाता। सुखजाता॥ वाऽऽहिताग्न्यादिषु।२।२।३७। आहिताग्निः, अग्न्याहितः। आकृतिगणोऽयम्॥

इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्।

सर्वं श्वेतं यस्येति विग्रहः। उभयोरपि गुणवचनत्वेन विशेषणविशेष्यभावे कामचारात् अन्यतरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते सर्वनामत्वात् सर्वशब्दस्यैव पूर्वनिपातः। अपसर्जनत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या सर्वनामत्वम्। द्विशुक्ल इति। द्वे शुक्ले यस्येति विग्रहः। उभयोरपि कामचारेण पूर्वनिपाते प्राप्ते संख्यात्वात् द्विशब्दस्यैव पूर्वनिपातः। संख्याया अल्पीयस्या इति। न्यूनाधिकसंख्यावाचकशब्दयोः समासे न्यूनसंख्यायाः पूर्वं प्रयोग इति वक्तव्यमित्यर्थः। द्वित्रा इति। द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहे 'संख्ययाऽव्यय' इति बहुव्रीहिः। द्वादशेति। द्वौ च दश च इति द्वन्द्वः। वा प्रियस्येति। बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोगो वक्तव्य इत्यर्थः। गड्वादेः परा सप्तमीति। बहुव्रीहौ बोध्येति वक्तव्यमिति शेषः। गडुकण्ठः। गडुः कण्ठे यस्येति विग्रहः। गडुर्नाम ग्रीवादिगतो दुर्मांसगोलकः। क्वचिन्नेति। व्याख्यानमेवात्र शरणम्। इति बहुव्रीहिः।

का बहुव्रीहिमें पूर्वनिपात हो। द्वन्द्वेऽपि—द्वन्द्व समासमें भी अल्प संख्यावाचकका पूर्व निपात हो। वा प्रियस्य—बहुव्रीहिमें 'प्रिय' का पूर्व निपात हो, विकल्पसे।

गड्वादेः—बहुव्रीहि में सप्तम्यन्तका 'गडु' आदिसे पर प्रयोग हो।

निष्ठा—निष्ठान्तका बहुव्रीहिमें पूर्व प्रयोग हो। जातिकाल—जातिवाचक, कालवाचक और सुखादिसे पर निष्ठान्तका बहुव्रीहिमें पर प्रयोग हो। वाहिता—आहिताग्न्यादि शब्दोंमें निष्ठान्तका पूर्वप्रयोग हो, विकल्पसे।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें बहुव्रीहि प्रकरण समाप्त हुआ।

देत्यर्थः)। आसन्ना विंशतेः = आसन्नविंशाः। विंशतेः अदूराः = अदूरविंशाः। चत्वारिंशतोऽधिका = अधिकचत्वारिंशाः। दो या तीन = द्वित्राः। [illegible]। अन्तरालविषयको यथा—दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालं दिक् = दक्षिणपूर्वा (आग्नेयीत्यर्थः)। व्यतिहारविषयको यथा—केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं = केशाकेशि (झोंटाझोंटी)। दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं = दण्डादण्डि (मुसल)। सहपूर्वपदो यथा—पुत्रेण सह वर्तमानः = सपुत्रः (आगतः पिता)। शिष्यैः सह = सशिष्यः। इति बहुव्रीहि॥

अथ द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

चार्थे द्वन्द्वः ।२।२।२९। अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः ।[१] समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्वेति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । भिक्षामट गां चानयेति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात् समासो न । धवखदिरौ छिन्धीति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः । संज्ञापरिभाषमिति । समूहः समाहारः ॥ **राजदन्तादिषु परम् ।२।२।३१।** एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा–राजदन्तः । **(धर्मादिष्वनियमः)** । अर्थधर्मौ–धर्मार्थौ । दम्पती–जम्पती–जायापती । जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च वा निपात्यते । आकृतिगणोऽयम् ॥ **द्वन्द्वे घि ।२।२।३२।** द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिहरौ ॥ **अजाद्यदन्तम् ।२।२।३३।** ईशकृष्णौ । **अल्पाच्तरम् ।२।२।३४।** शिवकेशवौ ॥ **(ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण)** ।

मिलितानामिति । परस्परापेक्षितानां समुदितानामेकस्मिन् क्रियापदेऽन्वयो यत्र, तत्रेतरेतरयोगः परस्परसाहचर्यं चार्थः प्रत्येकमन्वय इत्यर्थः । समूह इति । परस्परसाहित्यमित्यर्थः । धवखदिरौ । धवश्च खदिरश्च 'धवखदिरौ' इत्यत्र इतरेतरयोगत्वात् 'चार्थे द्वन्द्वः' इति द्वन्द्वसमासे सुपो लुकि, विभक्तिकार्ये च कृते 'धवखदिरौ' इति । अजाद्यदन्तमिति । अजाद्यदन्तं पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थः । ईशकृष्णाविति । अत्र कृष्णस्यादन्तत्वेऽपि अजादित्वाभावान्न पूर्वनिपातः । अल्पाच्तरमिति । अल्पः अल्पसंख्यः अच् यस्य तदल्पाच् , तदेवाल्पाच्तरम् । अत्र निपातनात् स्वार्थे तरप् , कुत्वाभावश्च । अल्पसंख्याचवाचकं पदं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोज्यम् । शिवकेशवौ । शिवस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः

चार्थे द्वन्द्वः—चार्थ (इतरेतरयोग और समाहार अर्थ) में वर्तमान अनेक समर्थ सुबन्तका समास हो, विकल्पसे और वह समास द्वन्द्वसंज्ञक हो ।

नोट—जिस समासमें सभी पद प्रधान हों और उनके बीचका योजक अव्यय (च) लुप्त रहे, उसे द्वन्द्वसमास कहते हैं । (निम्न टिप्पणी (१) देखो)

राजदन्तादिषु—राजदन्तादिमें पूर्वप्रयोगार्हका पर प्रयोग हो । **धर्मादि**—धर्मादिमें पूर्व निपातका कोई नियम नहीं है । **द्वन्द्वेऽपि**—द्वन्द्वमें घिसंज्ञकका पूर्व निपात हो ।

अजाद्यदन्तम्—अजादि जो अदन्त, उसका द्वन्द्वमें पूर्व निपात हो ।

अल्पाच्तरम्—द्वन्द्वमें अल्प 'अच्' का पूर्व प्रयोग (निपात) हो ।

ऋतुनक्षत्राणां—समाक्षर (तुल्यसंख्यक अक्षरवाले) ऋतु तथा नक्षत्रवाचक शब्दका

---

(१) द्वन्द्वो द्विविधः । इतरेतरयोगद्वन्द्वः समाहारद्वन्द्वश्चेति । समासघटकसर्वपदार्थप्रधान इतरेतरयोगद्वन्द्वः । समासघटकपदार्थसमूहप्रधानः समाहारद्वन्द्वः । तत्रेतरेतरयोग-

हेमन्तशिशिरवसन्ताः । कृत्तिकारोहिण्यौ । समाक्षराणां किम् ? ग्रीष्मवसन्तौ ॥ लघ्वक्षरं पूर्वम् । कुशकाशम् । (अभ्यर्हितं च) तापसपर्वतौ ॥ (वर्णानामानुपूर्व्येण) । ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः ॥ (भ्रातुर्ज्यायसः) । युधिष्ठिरार्जुनौ ॥ द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ।२।४।२। एषां द्वन्द्व एकवत् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकपाणविकम् । रथिकाश्वारोहम् ॥ अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् ।२।४।५। अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्व एकवत् । पदकक्रमकम् । जातिरप्राणिनाम्

ऋतुनक्षत्राणामिति । समानसंख्याक्षराणां ऋतूनां नक्षत्राणां च द्वन्द्वे आनुपूर्व्येण पूर्वनिपातो वक्तव्य इत्यर्थः । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । यथाऽऽसामृतूनामानुपूर्व्यं लोकप्रसिद्धं तथैव कृत्तिकादिनक्षत्राणामपि । ग्रीष्मवसन्ताविति । विषमाक्षरत्वात् वसन्तस्य पूर्वनिपातः । किन्तु अल्पाच्त्वात् ग्रीष्मस्य पूर्वनिपातः । लघ्वक्षरं पूर्वमिति । लघु अक्षरमच् यस्य तद् द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोज्यमिति वक्तव्यमित्यर्थः । कुशकाशमिति । समाहारद्वन्द्वोऽयम् । अभ्यर्हितश्चेति । श्रेष्ठः पूर्वं प्रयोज्य इति । वक्तव्यमित्यर्थः । तापसपर्वताविति । पर्वतस्य स्थावरजङ्गमतया तापसस्य तदपेक्षया अभ्यर्हितत्वं बोध्यम् । वर्णानामिति । वर्णानां क्रमेण पूर्वनिपातः । भ्रातुर्ज्यायस इति । ज्येष्ठभ्रातुः पूर्वनिपात इत्यर्थः । द्वन्द्वश्च प्राणि । प्राणितूर्यसेनाङ्गानामिति द्वन्द्वगर्भषष्ठीसमासः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणोऽङ्गशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते इत्यभिप्रेत्याह—एषामिति । प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां चेत्यर्थः । द्वन्द्व इति । समाहारद्वन्द्व इत्यर्थः । पाणिपादमिति । पाण्योः पादयोश्च समाहारः इति विग्रहः । अत्र समाहारे एकत्वम् । 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वं च । मार्दङ्गिकपाणविकम् । मृदङ्गपणवशब्दौ वाद्यविशेषपरौ । इह तु तद्वादनेऽपि वर्तेते । मृदङ्गवादनं शिल्पमस्येत्यर्थे 'शिल्पम्' इति ठक् । मार्दङ्गिकपाणविकयोः समाहार इति विग्रहः । तूर्याङ्गत्वादेकवचनम् । रथिकाश्वारोहम् । रथेन चरन्तीति रथिकाः । पर्पादिभ्यः ष्ठन् । रथिकानामश्वारोहाणां च समाहार इति विग्रहः । सेनाङ्गत्वादेकवचनम् । पूर्ववन्नपुंसकम् । अध्ययनत इति । अध्ययनत इति तृतीयार्थे तसिः । पदकक्रमकमिति । पदानि

द्वन्द्वमें आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो। लघ्वक्षर—लघु (ह्रस्व) अक्षरवाले पदका द्वन्द्वमें पूर्व प्रयोग हो। अभ्यर्हित—अभ्यर्हित (पूज्य) का द्वन्द्वमें पूर्व प्रयोग हो।

वर्णानामानु—ब्राह्मणादि वर्णोंका द्वन्द्वमें आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो।

भ्रातुर्ज्यायसः—द्वन्द्वमें बड़े भाईका पूर्व प्रयोग हो।

द्वन्द्वश्च प्राणि—प्राण्यङ्ग, तूर्याङ्ग और सेनाङ्ग वाची द्वन्द्व एकवत् हो।

अध्ययनतोऽवि—अध्ययनसे जिनकी आख्या (संज्ञा) प्रत्यासन्न (निकट) हो, उनका द्वन्द्व एकवत् हो। जातिरप्राणिनाम्—प्राणिसे भिन्न जातिवाचियोंका द्वन्द्व एकवत्

द्वन्द्वो यथा—सहितौ लक्ष्मीश्च नारायणश्च=लक्ष्मीनारायणौ । सहितौ हरश्च पार्वती च=

१२।४।६। प्राणिवर्ज्यजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवत्। धानाशष्कुलि। प्राणिनां तु-विट्शूद्राः॥ विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः ।२।४।७। ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां भिन्नलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत्। उद्ध्यश्च इरावती च उद्ध्येरावति। गङ्गाशोणम्। कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम्॥ क्षुद्रजन्तवः ।२।४।८। एषां द्वन्द्व एकवत्। यूकालिक्षम्। आ नकुलात्क्षुद्रजन्तवः॥ येषां च विरोधः शाश्वतिकः ।२।४।९। एषां प्राग्वत्। अहिनकुलम्। गोव्याघ्रम्। काकोलूकमित्यादौ परत्वात् 'विभाषा वृक्षे'ति प्राप्तं चकारेण बाध्यते॥ शूद्राणामनिरवसितानाम् ।२।४।१०। अबहिष्कृतानां शूद्राणां द्वन्द्वः प्राग्वत्। तक्षायस्कारम्। पात्राद् बहिष्कृतानां तु—चण्डालमृतपाः॥ गवाश्वप्रभृतीनि च ।२।४।११। यथोच्चारितानि तथैव साधूनि। दासीदास-

---

अधीयते पदकाः। क्रमान् अधीयते क्रमकाः। 'क्रमादिभ्यो वुन्'। पदकानां क्रमकाणां च समाहार इति विग्रहः। जातिरप्राणिनामिति। जातिरिति षष्ठीबहुवचनस्थाने व्यत्ययेन प्रथमा। जातिवाचिनामित्यर्थः। धानाशष्कुलीति। धानाश्च शष्कुल्यश्च तासां समाहार इति विग्रहः। जातिवाचित्वादेकवचनम्। नपुंसकत्वाद्ध्रस्व इति भावः। विट्शूद्राः। विशश्च शूद्राश्चेति विग्रहः। विशिष्टलिङ्ग इति। ग्रामवाचकभिन्नाः भिन्नलिङ्गकाः ये नदीवाचिनः ये देशवाचिनश्च तेषां द्वन्द्वः एकवत् स्यात् इति तात्पर्यार्थः। उद्ध्यश्चेति। उद्ध्यो नाम नदविशेषः, इरावती नाम काचिन्नदी। तयोर्नदीविशेषवाचकत्वादेकत्वम्। नदीशब्देन नदस्यापि ग्रहणात्, अन्यथा भिन्नलिङ्गत्वासम्भवादिति भावः। यूकालिक्षम्। यूकाश्च लिक्षाश्चेति विग्रहः। एकत्वं नपुंसकह्रस्वत्वञ्च। आनकुलादिति। नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः इति भाष्यादिति भावः। प्राग्वदिति। समाहारद्वन्द्वः एकवदित्यर्थः। अहिश्च नकुलश्चेति विग्रहः। अनयोः स्वाभाविकविरोधः प्रसिद्धः। चकारेणेति। येषां चेति चकारेणेत्यर्थः। अबहिष्कृतानामिति। 'यैर्भुक्तं पात्रं क्षारोदकप्रक्षालनेन संस्कारेणापि न शुध्यति ते निरवसिताः चाण्डालादयः। यैस्तु भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति तेऽनिरवसिताः' इति भाष्ये स्पष्टम्। प्राग्वदिति। समाहारद्वन्द्वः एकवदित्यर्थः। तक्षायस्कारमिति। तक्षाणश्च अयस्काराश्चेति विग्रहः। चण्डालमृतपा इति। एतद्भुक्तपात्रस्य संस्कारेणापि नास्ति शुद्धिरिति भावः। गवाश्वप्रभृतीनि च। यथा गणे पठितानि तथैव साधूनीत्यर्थः। दासीदासमिति। अत्रैकवत्नि-

---

हो। विशिष्टलिङ्गो—ग्रामवर्ज देशवाची और नदीवाचीसे भिन्न लिङ्गका द्वन्द्व एकवत् हो। क्षुद्रजन्तवः—क्षुद्र जन्तुओंका द्वन्द्व एकवत् हो। येषां च—जिनका (परस्पर) सदासे ही स्वाभाविक वैर है, उनका द्वन्द्व एकवत् हो। शूद्राणां—अबहिष्कृत शूद्रोंका द्वन्द्व एकवत् हो। गवाश्व—गवाश्व प्रभृति जैसा गणमें पठित है, वैसा ही साधु हो।

द्रपार्वत्यौ। सहितौ रामश्च कृष्णश्च = रामकृष्णौ। सहितानि पटश्च कुडवं च कुसूलं च =

मित्यादि ॥ विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ।२।४।१२। वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वः, अश्ववडवेत्यादि द्वन्द्वत्रयं च प्राग्वद्वा। वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम्। प्लक्षन्यग्रोधम्-प्लक्षन्यग्रोधाः। रुरुपृषतम्-रुरुपृषताः। कुशकाशम्-कुशकाशाः। व्रीहियवम्-व्रीहियवाः। दधिघृतम्-दधिघृते। गोमहिषम्, गोमहिषाः। शुकबकम्—शुकबकाः। अश्ववडवम्—अश्ववडवौ। पूर्वापरम्—पूर्वापरे। अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे॥ (फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदिति वाच्यम्) बदराणि चामलकानि च—बदरामलकम्। नेह—बदरामलके। रथिकाश्वारोहावित्यादि॥ न दधिपय आदीनि ।२।४।१५। नैकवत्स्युः। दधिपयसी। इध्माबर्हिषी। निपातनाद्दीर्घः—ऋक्सामे। वाङ्मनसे॥

बम। 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषस्तु निपातनात्। प्राग्वद्वेति। विकल्पेन एकवदित्यर्थः। वृक्षादाविति। वृक्षविशेषवाचिनां मृगविशेषवाचिनां धान्यविशेषवाचिनां पशुविशेषवाचिनां चेत्यर्थः। वृक्षद्वन्द्वमुदाहरति—प्लक्षेति। प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्चेति विग्रहः। मृगद्वन्द्वमुदाहरति—रुरुपृषतमिति। रुरवश्च पृषताश्चेति विग्रहः। तृणद्वन्द्वमुदाहरति—कुशेति। कुशाश्च काशाश्चेति विग्रहः। धान्यद्वन्द्वमुदाहरति—व्रीहीति। व्रीहयश्च यवाश्चेति विग्रहः। व्यञ्जनद्वन्द्वमुदाहरति—दधीति। दधि च घृतं च इति विग्रहः। पशुद्वन्द्वमुदाहरति—गावश्च महिषाश्चेति विग्रहः। शकुनिद्वन्द्वमुदाहरति—शुकेति। शुकाश्च बकाश्चेति विग्रहः। अश्ववडवादिद्वन्द्वमुदाहरति—अश्ववडवमिति। अश्वाश्च वडवाश्चेति विग्रहः। 'पूर्ववदश्ववडवौ' इति अश्ववडवावित्यत्र पूर्ववत् पुंलिङ्गता। फलसेनेति। एकवद्भावप्रकरणशेषभूतमिदं वार्तिकम्। 'द्वन्द्वश्च प्राणि' इत्यादिसूत्रैः फलसेनादीनां द्वन्द्व एकवद्भवन् बहुवचनान्तावयवक एव एकवद् भवति, नत्वेकद्विवचनान्तावयवक इत्यर्थः। बदराणि चेति। बदरीफलानि आमलकीफलानि चेत्यर्थः। बदरामलके। बदरं चामलकं चेति विग्रहः। रथिकाश्वारोहाविति। अत्र सेनाङ्गत्वेऽपि नैकवत्त्वम्। नैकवत्स्युरिति। एषां समाहारद्वन्द्वो नास्तीत्यर्थः। दधिपयसी। दधि च पयश्चेति विग्रहः। 'जातिरप्राणिनाम्' इति नित्यमेकवत्त्वं प्राप्तं बाधित्वा व्यञ्जनद्वन्द्वत्वाद्विकल्पः प्राप्तः, सोऽपि न भवति। इध्माबर्हिषी। इध्मं च बर्हिश्चेति विग्रहः।

विभाषा वृक्ष—वृक्षादि सातों का तथा अश्ववडवादि तीनों का द्वन्द्व एकवत् हो, विकल्प से। फलसेना—फलादिकों का बहुवचनान्त प्रकृतिक द्वन्द्व एकवत् हो। न दधिपय—दधिपयआदि द्वन्द्व एकवत् नहीं हो।

कुरबककुसुमानि। सरितो नद्यो च वी च-नदपदाः। हरिणानि कुण्डलानि च कटके च

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ।६।३।२५। विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामृदन्तानां द्वन्द्व आनङ् स्यादुत्तरपदे । होतापोतारौ । मातापितरौ । पुत्रे इत्यनुवृत्तेः-पितापुत्रौ ॥ देवताद्वन्द्वे च ।६।३।२६। इहोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङ् । मित्रावरुणौ ॥ (वायुशब्द-प्रयोगे प्रतिषेधः) अग्निवायू वाय्वग्नी ॥ ईदग्नेः सोमवरुणयोः ।६।३।२७। देवताद्वन्द्व इत्येव ॥ अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ।८।३।८२। अग्नेः परेषामेषां षस्य षः समासे । अग्निष्टुत् । अग्निष्टोमः । अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ ॥ इद् वृद्धौ ।६।३।२८। वृद्धिमत्युत्तरपदे अग्नेरिदादेशो देवताद्वन्द्वे । अग्नामरुतौ देवते अस्य—

दीर्घ इति । इत्यसाकल्यस्वेति शेषः । ऋक्सामे । ऋक् च साम चेति विग्रहः । 'अचतुर' इत्यादिनाऽच् समासान्तः । वाङ्मनसे । वाक् च मनश्चेति विग्रहः, पूर्ववत्समासान्तः । विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामिति । विद्यासम्बन्धवाचिनां योनिसम्बन्धवाचिनां चेत्यर्थः । ऋदन्तानाम् इति । बहुत्वे व्यत्ययेन ऋतः इत्येकवचनम् । ऋदन्तसर्वावयवकान्तानामित्यर्थः । उत्तरपदे इति । 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकारादिति भावः । होतापोतारावि॑ति । होता च पोता चेति विग्रहः । मातापितराविति । पितृपितामहौ इत्यादौ तु नानङ् । ऋदन्तसर्वावयवकत्वाभावादिति भावः । मित्रावरुणाविति । इह ऋदन्तत्वाभावात् पूर्वेणाप्राप्ते विधिरयम् । वायुशब्देति । वायुशब्दस्य पूर्वपदत्वेनोत्तरपदत्वेन वा प्रयोगे सत्यानङः प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । ईदग्नेः । इस्येवेति । देवताद्वन्द्वे इत्यनुवर्तत इत्यर्थः । सोमशब्दे वरुणशब्दे च उत्तरपदे परे अग्नेरीदादेशः स्यात् देवताद्वन्द्वे इत्यर्थः । अग्नेः परेषामिति । षः स्यादिति 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यनुवृत्तेरिति भावः । अग्निष्टुदिति । क्रतुविशेषोऽयम् । अग्निष्टोम इति । स्तोत्रविशेषकस्य संस्थाविशेषस्य क्रतोः नाम । अग्नीषोमाविति । अग्निश्च सोमश्चेति विग्रहः । ईत्वषत्वे । अग्नीवरुणाविति । अग्निश्च वरुणश्चेति विग्रहः । इद् वृद्धौ । अग्नेरिति देवताद्वन्द्वे इति चानुवर्तते, वृद्धिशब्देन वृद्धिमदुपलक्ष्यते, देवताद्वन्द्वे केवलवृद्धेरुत्तरपदत्वासंभवात् । तदाह—वृद्धिमतीति ।

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे—विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची ऋदन्तको द्वन्द्वमें 'आनङ्' आदेश हो, उत्तर पदके परे । देवताद्वन्द्वे—देवतावाची शब्दको द्वन्द्वमें 'आनङ्' आदेश हो, उत्तर पदके परे । वायुशब्दप्रयोगे—द्वन्द्वमें देवतावाची 'वायु' का प्रयोग रहनेपर 'आनङ्' आदेश नहीं हो । ईदग्नेः—सोम और वरुण उत्तर पदके परे अग्निके इकारको 'ईत' आदेश हो, देवता द्वन्द्वमें । अग्नेः स्तुत—अग्निसे पर 'स्तुत' आदिके सकारको षत्व हो, समासमें । इद् वृद्धौ—वृद्धिमान् उत्तर पदके परे अग्निके इकारको इकार ही आदेश हो, देवता द्वन्द्वमें ।

तादर्थ्ये च = इत्यलङ्कृतानि । सहितौ अग्निश्च सोमश्च=अग्नीषोमौ । सहिते द्यौश्च भूमिश्च=द्यावाभूमी । सहितौ मित्रश्च वरुणश्च=मित्रावरुणौ । [illegible]—पाणि-

आग्निमारुतं कर्म । अग्नीवरुणौ देवते अस्य—आग्निवारुणम् । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिः । (विष्णौ न) । आग्नावैष्णवम् ॥ दिवो द्यावा ।६।३।२९। देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे । द्यावाभूमी ॥ मातरपितरावुदीचाम् ।६।३।३२। उदीचां किम् ? मातापितरौ ॥ द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ।५।४।१०६। चवर्गान्ताद्दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् समाहारे । वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ । इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ।

अग्नामरुताविति । अग्निश्च मरुच्चेति विग्रहः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्, आग्निमारुतं कर्मेति । 'साऽस्य देवता' इत्यण् । तद्धितान्तप्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुक् । अग्नीवरुणाविति । 'ईदग्नेः' इतीत्वम् । आग्निवारुणमिति । 'साऽस्य देवता' इत्यण् । ननु 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादेरचो वृद्धिविधानात् कथमुत्तरपदस्यापि वृद्धिरित्यत आह—देवताद्वन्द्वे चेत्युभयपदवृद्धिरिति । विष्णौ नेति । विष्णुशब्दे परे अग्नेरिकारो नेति वक्तव्यमित्यर्थः । आग्नावैष्णवमिति । अग्निश्च विष्णुश्च अग्नाविष्णू । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । अग्नाविष्णू देवते अस्य इत्यर्थे 'साऽस्य देवता' इत्यण् । आग्नावैष्णव इति । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिः । ईत्वाभावादानङेव । द्यावाभूमी इति । द्यौश्च भूमिश्चेति विग्रहः । मातरपितरावुदीचामिति । उदीचां मते 'मातरपितरा'विति भवतीत्यर्थः । अत्र मातृशब्दस्यारङादेशो निपात्यते । मातापितराविति । अरङभावे 'आनङृतः' इत्यानङ् । इति द्वन्द्वसमासः ।

विष्णौ न—परिस्थित 'विष्णु' शब्द उत्तर पदके परे अग्निको 'इत्' आदेश नहीं हो ।

दिवो द्यावा—'दिव' शब्दको 'द्यावा' आदेश हो, उत्तर पदके परे ।

मातरपितरौ—'मातरपितरौ' इस द्वन्द्वमें मातृशब्दको 'अरङ्' आदेश हो, पश्चिमी आचार्योंके मतसे । द्वन्द्वाच्चुद—चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्वसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, समाहारमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें द्वन्द्व प्रकरण समाप्त हुआ ।

च पादौ च मुखं च एतेषां समाहारः = पाणिपादमुखम् । शङ्खश्च पटहश्च अनयोः समाहारः = शङ्खपटहम् । रथिकाश्च अश्वारोहाश्च पदाताश्च एतेषां समाहारः = रथिकाश्वारोहपदातम् ।

अथैकशेषसमासप्रकरणम्

(विरूपाणामपि समानार्थानाम्)। वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च-वक्रदण्डौ-कुटिलदण्डौ॥ **वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः** ।१।२।६५। यूना सहोक्तौ गोत्रं शिष्यते गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्तयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात्। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च-गार्ग्यौ। वृद्धः किम्? गर्गगार्ग्यायणौ। यूना किम्? गर्गगार्ग्यौ।

विरूपाणामिति। 'सरूपाणाम्' इत्यनेन सूत्रेणार्थभेदेऽपि शब्दैकरूप्ये एकशेष उक्तः, एकार्थकत्वे विरूपाणामप्येकशेषो वक्तव्य इत्यर्थः। वक्रदण्डश्चेति। अत्र शब्दवैरूप्येऽप्यर्थैक्यात् अन्यतरः शिष्यत इति भावः। वृद्धो यूना। रूपतोऽर्थतश्च भेदेऽपि प्राप्त्यर्थमिदम्। यूनेति। 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति वक्ष्यमाण-युवप्रत्ययान्तेनेत्यर्थः। सहोक्ताविति। अध्याहारलब्धमेतत्। गोत्रमिति। वृद्धशब्देन 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' इति सूत्रोक्तं गोत्रं विवक्षितम्। अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति पूर्वाचार्यपरिभाषितत्वादिति भावः। शिष्यत इति। शेष इति कर्मणि घञन्तमनुवर्तत इति भावः। तल्लक्षण इति। सः गोत्रप्रत्ययः युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तं यस्येति विग्रहः। विशेषः वैलक्षण्यम्। तथा च गोत्रयुवप्रत्ययान्तयोर्विशेषः वैरूप्यं तल्लक्षण-श्चेत् गोत्रयुवप्रत्ययनिमित्तकश्चेदित्यर्थः। अन्यनिमित्तको न चेदित्यर्थः सिद्धः। तदाह-गोत्रयुवेति। कृत्स्नमिति। एवकारलभ्यमिदम्। गार्ग्यश्चेति। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। 'गर्गादिभ्यो यञ्'। गार्ग्यायण इति। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। तस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः। 'यञिञोश्च' इति फक्। गार्ग्याविति। अत्र गार्ग्यशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य च गोत्रयुवप्रत्ययकृतमेव वैरूप्यमिति गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः शिष्यत इति भावः। गर्गगार्ग्यायणाविति। गर्गश्च गार्ग्यायणश्चेति विग्रहः। अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य च युवप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तत्वाभावान्नैकशेष इति भावः। गर्गगार्ग्याविति। अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यशब्दस्य च गोत्रप्रत्ययमात्र-कृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दो न शिष्यते यूना। सहोक्त्यभावादिति

विरूपाणामपि—समानार्थक विरूपोंका भी एकशेष(१) हो, विभक्तिके परे।

वृद्धो यूना—युवप्रत्ययान्तके साथ उक्त गोत्रप्रत्ययान्तका शेष हो, यदि गोत्रप्रत्यय और युवप्रत्ययमात्रकृत हो उनका कृत्स्न (सभी तरहका) वैरूप्य रहे तो।

---

(१) द्वन्द्वापवाद एकशेषः। स द्वेधा। सरूपसंबन्धी विरूपसंबन्धी चेति। तत्र सरूपसम्बन्धी यथा—रामश्च रामश्च = रामौ। विप्रश्च विप्रश्च विप्रश्च = विप्राः। घूका च घूका च = घूके। नदी च नदी च नदी च=नद्यः। नेत्रं च नेत्रं च=नेत्रे। पत्रं च पत्रं च पत्र

कुत्सनं किम्?[१] गार्ग्यवात्स्यायनौ ॥ स्त्री पुंवच्च ।१।२।६६। यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यते तदर्थश्च पुंवत्। गार्गी च गार्ग्यायणश्च—गार्ग्यौ ॥ पुमान् स्त्रिया ।१।२।६७। स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। हंसी च हंसश्च—हंसौ ॥ भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ।१।२।६८। भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च—पुत्रौ ॥ नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्

भावः। गार्ग्यवात्स्यायनाविति। गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः, वत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः। गर्गादित्वाद्यञ्। वात्स्यस्य युवा वात्स्यायनः। 'यञिञोश्च' इति फक्। गार्ग्यश्च वात्स्यायनश्चेति विग्रहः। अत्र गार्ग्यशब्दस्य वात्स्यायनशब्दस्य च न गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं वैरूप्यम्, प्रकृतिवैरूप्यस्य गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतत्वाभावात्। अतो गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दो न शिष्यत इति भावः। स्त्रीपुंवच्च। वृद्धो यूनेत्यनुवर्तते। वृद्धेति स्त्रीलिङ्गेन विपरिणम्यते। तदाह—यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यत इति। गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचकः शब्दः शिष्यत इति भावः। स्त्रीत्वस्य वैरूप्यकारणस्याधिकस्य सत्त्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनमिदम्। तदर्थ इति। तस्य शिष्यमाणस्य स्त्रीवाचकशब्दस्यार्थः पुंलिङ्गवत् स्यादित्यर्थः। गार्गी चेति। गर्गस्यापत्यं स्त्री। यञन्तत्वात् 'यञश्च' इति ङीप्। गार्ग्यायणो चेति। गर्गाद्यञन्तात् यून्यपत्ये 'यञिञोश्च' इति फक्। गार्ग्याविति। अत्र स्त्रीत्वकृतवैरूप्याधिक्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचको गार्गीशब्दः शिष्यते। स पुंवत्। पुमान् स्त्रिया। वृद्धयूनेति निवृत्तम्। 'पूर्वो पूना' इत्यतस्तल्लक्षणश्चेदिति च। हंसौ चेति। अत्र पुंस्त्वस्त्रीत्वमात्रकृतवैरूप्यात् पुंलिङ्गो हंसशब्दः शिष्यते। स्त्रीत्वपुंस्त्वकृतवैरूप्यादेव 'सरूपाणाम्' इत्यस्याप्राप्तिः। मातृभ्रातृपितृषु स्त्रीवाचकपितृभ्रातृमातृशब्देषु नायमेकशेषः। एकविभक्तौ सरूपाणामित्यनुवर्तते एकविभक्तौ सरूपाणां स्त्रीपुंस्त्वेतरकृतवैरूप्याद्धि नाभिप्रायवत्त्वात्। इह च भ्रातृशिष्टत्र 'पुमान्' इति सूत्रेण प्राप्तावपि कृतेऽपि स्यात्। अत एव इदं सूत्रं चेत्यपि द्रष्टव्यम्। भ्रातृपुत्रौ। भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यां सहोक्तौ क्रमात् भ्रातृपुत्रौ शिष्येते। स्वरूपयोरपि वैरूप्यादप्राप्तौ वचनम्। नपुंसकम्। अन्यतरस्यां ग्रहणम् एकवद्भावस्यैवान्वेति, नत्वेकशेषस्य, नरदेवादौ...

स्त्रीपुंवच्च—युवप्रत्ययान्तके साथ उक्ति (सहविवक्षा) में वृद्ध स्त्री (गोत्र प्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द) का शेष हो, और स्त्रीवाचकको पुंवद्भाव हो। पुमान् स्त्रिया—स्त्रीवाचक के साथ पुंवाचककी सह विवक्षामें पुंवाचकका शेष हो, यदि स्त्रीत्व और पुंस्त्वमात्रकृत ही उनमें वैरूप्य रहे तो। भ्रातृपुत्रौ—स्वसाके साथ भ्राताकी सहविवक्षामें भ्राताका शेष हो और दुहिताके साथ पुत्रकी सहविवक्षामें पुत्रका शेष हो। नपुंसक—अनपुंसकके

---

१ = पञ्चमि। विरूपसरूपयो यथा—माधवश्च माधवी च = माधवौ। अत्र मार्ग्य =

।१।२।६९। अक्लीबेन सहोक्तौ क्लीबं शिष्यते, तच्च वा एकवत् स्यात्, एष विशेषश्चेत् । शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्, तदिदं शुक्लम्—तानीमानि शुक्लानि ॥ पिता मात्रा ।१।२।७०। मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च—पितरौ—मातापितरौ ॥ श्वशुरः श्वश्र्वा ।१।२।७१। श्वश्र्वा सहोक्तौ श्वशुरो वा शिष्यते । श्वश्रूश्च श्वशुरश्च—श्वशुरौ—श्वश्रूश्वशुरौ ॥ त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ।१।२।७२। सर्वैः सहोक्तौ त्यदादीनि शिष्यन्ते । स च देवदत्तश्च—तौ ॥ (त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते) । स च यश्च—यौ ॥ (पूर्वशेषोऽपि

स्यात्—तच्चेति । एकवच्च एवेति । नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति पदच्छेदः । शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रमिति । पटशब्दसमभिव्याहाराद् शुक्लशब्दः पुंलिङ्गः, शाटीशब्दसमभिव्याहारात् स्त्रीलिङ्गः, वस्त्रशब्दसमभिव्याहारात् तु नपुंसकलिङ्गः । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति' इत्यमरः । तच्च स च इदं च तत् । एवं च इदं च इदं च इदम् । शुक्लश्च शुक्ला च शुक्लं च शुक्लम् । अत्र नपुंसकमेव शिष्यते एकवच्च भवति तानीमानि शुक्लानीति । नपुंसकस्य एकत्वे सति एकवद्भावाभावे रूपाणि । पिता मात्रा । 'पिता शिष्यः' । सूत्रस्य स्वरूपाणां निरूपणप्रदेशत्रासादिदं वचनं 'विकल्पार्थं च' । मातापितराविति । 'पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते' इति स्मृत्या मातुः पूर्वनिपातः । 'आनङृतः' इत्यानङ् । श्वशुरः श्वश्र्वा । श्वश्रूशब्दः अपि । 'श्वश्रूः पूज्या पत्नी च मातृतुल्या प्रकीर्तिता' इति स्मृतेः । इह श्वश्रूः, 'श्वशुरः श्वश्र्वा' इति सूत्रसद्भावात् । त्यदादीनि । सर्वैरिति । त्यदादिभिरितरैश्चेत्यर्थः । ताविति । अत्र देवदत्तशब्दो निवर्तते । तच्छब्दस्तु शिष्यते । तदेवदत्ताविति न भवति । सर्वैः किम् ? अन्यथा त्यदादिभिरेव सहोक्तावित्यर्थो मा भूदित्येतदर्थम् । त्यदादीनां मिथ इति । भाष्ये स्थितमेतत् । यत् परमिति । त्यदादिगणे यत् परं पठितं तच्छिष्यत इत्यर्थः । अन्त्यपरविप्रतिषेधाश्रयणादिति भावः । स च यश्च यौ । त्यदादिगणे

साथ नपुंसककी उक्तिमें नपुंसकका शेष हो तथा वह नपुंसक एकवत् हो, विकल्पसे, यदि उसका नपुंसकत्व और अनपुंसकत्व मात्र ही भेद रहे तो । पिता मात्रा—माताके साथ पिताकी सहविवक्षामें पिताका शेष हो, विकल्पसे । श्वशुरः श्वश्र्वा—श्वश्रूके साथ श्वशुरकी सहविवक्षामें श्वशुरका शेष हो, विकल्पसे । त्यदादीनि—त्यदादिके साथ अन्य सभी शब्दोंकी सहविवक्षामें त्यदादिका नित्य शेष हो । त्यदादीनां मिथः—त्यदादिके साथ त्यदादिकी (ही) सहविवक्षा रहने पर त्यदादिगणमें जो शब्द पर रहे, उसीका शेष हो ।

पूर्वशेषोऽपि—कहीं २ पर त्यदादिके पूर्वपठित शब्दोंका भी शेष होता देखा गया है ।

कः । भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् । पुमान् स्त्रिया च—: ; नीलं च नीला च नीलम्

इष्यते)। इति भाष्यम्। स च यश्च—तौ॥ (त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि)। सा च देवदत्तश्च—तौ। तच्च देवदत्ता च यज्ञदत्तश्च—तानि॥

ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री ।१।२।७३। एषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते। गाव इमाः। ग्राम्येति किम्? रुरव इमे। पशुग्रहणं किम्? ब्राह्मणा इमे। संघेषु किम्? एतौ गावौ। अतरुणेषु किम्? वत्सा इमे॥ (अनेकशफेष्विति वाच्यम्)। अश्वा इमे॥

इत्येकशेषसमासप्रकरणम्।

यच्छब्दस्य तच्छब्दादूर्ध्वं पाठात् परत्वात् स एव शिष्यते इति भावः। पूर्वशेषोऽपीति। परकस्येष्टत्वाभिधानात् क्वचित्पूर्वमपि शिष्यत इति भावः। अत्र 'द्विपर्यन्तानाम्' इति न भवति। अत एव भवांश्चायमिति भाष्योक्तेः। त्यदादित इति। आद्यादित्वात् पञ्चम्यर्थे तसिः। त्यदादीनां स्त्रीशेषेऽपि सहविवक्षितेषु यः पुमान् यच्च नपुंसकम्, तद्वशेन लिङ्गवचनादिकानि भवन्तीत्यर्थः। त्यदादीनामाकाङ्क्षायामप्यौत्सर्गिकाण्येव सम्बध्यन्ते। सा च देवदत्तश्च ताविति। अत्र तच्छब्द एव शिष्यते, समभिव्याहृतदेवदत्तशब्दलिङ्गश्च। देवदत्तशब्दस्तु निवर्तत एव। ग्राम्यपशु। एष्विति। तरुणभिन्नेषु ग्राम्याणां पशूनां सङ्घेष्वित्यर्थः। गौश्च गौश्च गौश्च इति पुंलिङ्गस्त्रीलिङ्गेषु गोशब्देषु सहविवक्षितेषु 'पुमान् स्त्रिया' इत्येतद्बाधित्वा स्त्री शिष्यत इति भावः। इमा इति। अनुप्रयोगे रूपभेदः फलमिति भावः॥ इत्येकशेषः।

त्यदादित—स्त्रीलिंग त्यदादिक शेष होने पर भी, सहविवक्षित पुंलिङ्ग अथवा नपुंसकलिंग शब्दकी तरह ही उस शिष्ट स्त्रीलिंग त्यदादिका भी लिंग और वचन होता है।

नोट—त्यदादिके शेषमें पुंलिंग और नपुंसक दोनों यदि सहविवक्षित हों तो परत्वात् नपुंसकके अनुसार ही लिंग-वचन होते हैं। द्वन्द्व और तत्पुरुषके विशेषण जो त्यदादि हैं, उनमें पूर्वोक्त वार्तिक नहीं लगता—क्योंकि वे विशेष्य लिंग ही होते हैं।

ग्राम्यपशु—अतरुण (जवान) जो ग्राम्य पशुका संघ, उनको सहविवक्षामें स्त्री वाचकका शेष हो। अनेक—'ग्राम्यपशु' इस सूत्रसे उसी स्त्रीवाचकका शेष हो, जो अनेकशफ (फटे हुए खुर) वाला हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें एकशेष प्रकरण समाप्त हुआ।

नीलानि, नीलं वा। शुक्लश्च शुक्लं च = शुक्ले, शुक्लं वा। माता च पिता च = पितरौ, मातापितरौ, मातरपितरौ वा। श्वशुरश्च श्वश्रूश्च = श्वशुरौ, श्वश्रूश्वशुरौ वा। अजश्च अजा च = अजौ॥

इत्येकशेषः।

अथ समासान्तप्रकरणम्

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ।५।४।७४। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः, अक्षे या धूस्तदन्तस्य न। अर्धर्चः। अनृचबह्वृचावध्येतर्येव। नेह—अनृक् साम। बह्वृक् सूक्तम्। विष्णुपुरम्। विमलापं सरः॥ द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ।६।३।९७। द्वीपम्। अन्तरीपम्। प्रतीपम्। समीपम्। (अवर्णान्ताद्वा)। प्रेपम्—प्रापम्॥ ऊदनोर्देशे ।६।३।९८। अनूपो देशः। राजधुरा। अक्षे तु—अक्षधूः। दृढधूरक्षः। सखिपथः। रम्यपथो देशः॥ अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः ।५।४।७५। प्रतिसामम्। अनुसामम्। अवसामम्। प्रतिलोमम्। अनुलोमम्। अवलोमम्।

द्व्यन्तरुप। द्वि अन्तर् उपसर्ग एतेभ्यः परस्य अकारप्रत्ययान्तस्याप्शब्दस्येत्यर्थः। द्वीपम्। द्वयोः पार्श्वयोर्गता आपः यस्मिन्निति विग्रहः। व्यधिकरणपक्षे बहुव्रीहिः। अकारप्रत्ययः, ईत्वं, सवर्णदीर्घश्च। अन्तरीपमिति। अन्तर्गता आपो यस्मिन्निति विग्रहः। प्रतीपमिति। प्रतिकूला आपो यस्मिन्निति विग्रहः। समीपमिति। संगता आपो यस्मिन्निति विग्रहः। अवर्णान्ताद्वेति। अवर्णान्तादुपसर्गात् परस्य आपस्य ईत्वं वा वक्तव्यमित्यर्थः। प्रेपम्, प्रापम्। प्रगता आपो यस्येति विग्रहः। ऊदनोर्देश इति। अनोः परस्यापस्य ऊत्स्याद्देशे। अनूपो देश इति। अनुकूला आपो यस्मिन्निति विग्रहः। अप्रत्ययः, ऊत्वं, सवर्णदीर्घश्च। अच्प्रत्यन्वव। प्रति-अनु-अव-एतत्पूर्वात्सामलोमान्तात् समासादच् स्यादित्यर्थः। प्रतिसाममिति। प्रतिगतं सामेति विग्रहः। अच्, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। अनुसाममिति। अनुगतं सामेति विग्रहः। अच्, टिलोपः। अवसाममिति। अवकृष्टं सामेति विग्रहः। अच्, टिलोपः। प्रतिलोममिति। प्रतिगतं लोमेति विग्रहः। अनुलोममिति। अनुगतं लोमेति विग्रहः। अवलोममिति। अवगतं लोमेति विग्रहः।

ऋक्पूरब्धूः—ऋगाद्यन्त समासका अन्तावयव 'अ' प्रत्यय हो। परन्तु अक्षक धूरीवाचक जो धूः शब्द, तदन्त समासमें 'अ' प्रत्यय नहीं हो। अनृचबह्वृचा—अनृच और बह्वृच समासमें अध्येता अर्थ गम्यमान होने पर ही समासान्त 'अ' प्रत्यय हो।

द्व्यन्तरुप—'द्वि' आदिसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको ईत्व हो।

अवर्णा—अवर्णान्त उपसर्गसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको ईत्व हो, विकल्पसे।

ऊदनोर्देशे—अनु उपसर्गसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको 'ऊत' हो देश अर्थमें।

अच्प्रत्यन्वव—इत्यादि पूर्वक सामन्त और लोमन्त समासके समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो।

(कृष्णोदक्पाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिष्यते) कृष्णभूमः । उदग्भूमः । पाण्डुभूमः । द्विभूमः । त्रिभूमः प्रासादः ॥ (संख्याया नदीगोदावरीभ्यां च) । पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् । अजिति योगविभागादन्यत्रापि—पद्मनाभः ॥ अक्ष्णोऽदर्शनात् ।५।४।७६। अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात् । गवामक्षीव—गवाक्षः ॥ अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिंदिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः ।५।४।७७। एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते । आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः । अविद्यमानानि चत्वार्यस्य—अचतुरः । विगतानि चत्वार्यस्य—विचतुरः । सुचतुरः ॥ (त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते) । त्रिचतुराः । चतुर्णां समीपे—उपचतुराः । तत एकादश द्वन्द्वाः—स्त्रीपुंसौ । धेन्वनडुहौ । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । अक्षिणी च भ्रुवौ च—अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च

सर्वत्राच्, टिलोपः । कृष्णोदगिति । नेदं वार्तिकम् । किन्तु 'अक्ष्णो'ऽत्र 'अच्' इति योगविभागमूलमित्युक्तं विशेषात् । कृष्णेति । कृष्णा भूमिः यस्य, उदीची भूमिः यस्य, पाण्डुः भूमिः यस्य, द्वे भूमी यस्य, तिस्रो भूमयो यस्येति च विग्रहः । प्रत्याहारः सर्वत्र विशेष्य । संख्याया इति । संख्यायाः परो यो नदीशब्दः गोदावरीशब्दश्च ताभ्यामजिष्यत इत्यर्थः । पञ्चनदमिति । पञ्चानां नदीनां समाहार इत्यर्थः । सप्तगोदावरमिति । सप्तानां गोदावरीणां समाहार इति विग्रहः । 'नदीभिश्च' इत्यव्ययीभावः । अपि 'यस्येति च' इति लोपः । 'नाव्ययीभावात्' इत्यम् । पद्मनाभ इति । पद्मं नाभौ यस्येति । विग्रहः । अचतुर इति । नञोऽस्त्यर्थानामिति 'अविद्यमान'पदलोपः । विचतुर इति । विगतानि चत्वारि यस्येति विग्रहः । 'न पूजनात्' इति निषेधो बाध्यते । त्र्युपाभ्यामिति । त्रि उप आभ्यां परो यश्चतुःशब्दस्तस्मादजिष्यते । त्रिचतुरा इति । त्रयो वा चत्वारो वेति विग्रहः । 'संख्ययाव्ययासन्न' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डच्' इति डच् बाधित्वा अच् । डचि तु टिलोपः स्यात् । उपचतुरा इति । त्रय पञ्च वेत्यर्थः । 'संख्ययाव्यय' इति बहुव्रीहिः । अच् । स्त्रीपुंसाविति । स्त्री च पुमांश्चेति विग्रहः । अच् । धेन्वनडुहौ धेनुश्च अनड्वांश्चेति विग्रहः । अच् । ऋक्सामे इति । ऋक्

कृष्णोदक्—कृष्णादि पूर्वक भूमि शब्दान्त समासमें समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

संख्याया नदी—संख्यापूर्वक नदी और गोदावर्यन्त समाससे समासान्त अच् प्रत्यय हो । अक्ष्णोऽदर्श—चक्षुःपर्यायसे भिन्न अक्षिशब्दान्त समाससे समासान्त अच् प्रत्यय हो । अचतुर—अचतुर, विचतुर आदि शब्द अजन्त निपातन हों ।

त्र्युपाभ्यां—'त्रि' और 'उप' से पर चतुर् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

गावश्च—दारगवम् । ऊरू च अष्ठीवन्तौ च—ऊर्वष्ठीवम् । निपातनाट्टिलोपः । पदष्ठीवम् । निपातनात्पादशब्दस्य पद्भावः । नक्तं च दिवा च—नक्तंदिवम् । रात्रौ च दिवा च—रात्रिन्दिवम् । रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते । अहनि च दिवा च—अहर्दिवम् । वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते—अहन्यहनीत्यर्थः । सरजसमिति साकल्येऽव्ययीभावः । बहुव्रीहौ तु—सरजः पङ्कजम् । निश्चितं श्रेयो—निःश्रेयसम् । तत्पुरुष एव । नेह—निःश्रेयान्पुरुषः । पुरुषस्यायुः—पुरुषायुषम् । ततो द्विगू-द्व्यायुषम् । त्र्यायुषम् । ततो द्वन्द्वः—ऋग्यजुषम् । ततस्त्रयः कर्मधारयाः—जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । शुनः समीपम्—उपशुनम् । टिलोपाभावः सम्प्रसारणं च निपात्यते ।

च साम चेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । वाङ्मनस इति । वाक् च मनश्चेति विग्रहः । अच् । अक्षिभ्रुवमिति । अच्, प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम् । दारगवमिति । समाहारद्वन्द्वादच् । ऊर्वष्ठीवमिति । प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम् । पदष्ठीवमिति । पादौ चाष्ठीवन्तौ चेति द्वन्द्वादच् । प्राण्यङ्गत्वादेकवत्त्वम् । नक्तंदिवमिति । नक्तमिति मान्तमव्ययम् । दिवेत्याकारान्तमव्ययम् । नक्तंदिवेति द्वन्द्वादच् । 'यस्येति च' इत्याकारलोपः । 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वम्, नपुंसकत्वं च । 'नाव्ययीभावात्' इत्यम्भावः । मान्तत्वमिति । रात्रौ च दिवा चेति द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि कृते रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः । 'यस्येति च' इति आकारलोपः, अम्भावश्च । अहर्दिवमिति । द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि, 'रोऽसुपि' इति रत्वम्, अच्, 'यस्येति च' इत्याकारलोपः, अम्भावश्च । वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यत इति । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विर्वचने कृते एकशेषं बाधित्वा द्वन्द्वो निपात्यत इत्यर्थः । सरजसमिति । रजोऽनपरित्यज्य इत्यस्वपदविग्रहः । रजः धूलिः । साकल्ये सहशब्दस्य रजश्शब्देनाव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहशब्दस्य सभावः । अच् । अव्ययीभावः इति । भाष्ये तथा वचनात् अव्ययीभावस्य ग्रहणमिति भावः । सरजः पङ्कजमिति । रजोभिः परागैः सहेति विग्रहः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सः । बहुव्रीहित्वात् नाच् । निःश्रेयसमिति । कर्मधारयादच् । निःश्रेयानिति । निश्चितं श्रेयो यस्येति बहुव्रीहित्वान्नाच् इति भावः । 'ईयसश्च' इति निषेधान्न कप् । पुरुषायुषमिति । षष्ठीसमासात् अजिति भाष्यम् । द्व्यायुषम्, त्र्यायुषमिति । द्वयोरायुषोः समाहार इति, त्रयाणामायुषां समाहार इति च विग्रहः । 'तद्धितार्थ' इति द्विगोरच् । ऋग्यजुषमिति । ऋचश्च यजूंषि च एषां समाहार इति [illegible] । जातोक्ष इति । जातश्चासौ उक्षा चेति विग्रहः । अचि सत्युक्षन् [illegible] टिलोपः । महोक्ष इति । महांश्चासावुक्षा चेति विग्रहः । 'आन्महतः' इत्यात्वम् [illegible] टिलोपः । वृद्धोक्ष इति । वृद्धश्चासावुक्षा चेति विग्रहः । अचि टिलोपः । उपशुन-

गोष्ठे श्वा—गोष्ठश्व ॥ ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ।५।४।७८। अच् । ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ॥ (पल्यराजभ्यां च) पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् ॥ अवसमन्धेभ्यस्तमसः ।५।४।७९। अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् ॥ अन्ववतप्ताद्रहसः ।५।४।८१। अनुरहसम् । अवरहसम् । तप्तरहसम् । प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ।५।४।८२। उरसि इति—प्रत्युरसम् ॥ अनुगवमायामे ।५।४।८३। एतन्निपात्यते दीर्घत्वे । अनुगवं यानम् । 'यस्य चायाम' इति समास ॥ उपसर्गादध्वनः ।५।४।८५। प्रगतोऽध्वानं—प्राध्वो रथ ॥ न पूजनात् ।५।४।

मिति । अव्ययीभावात् अच् । गोष्ठश्व इति । सप्तमीसमासादजिति भाष्यम् । अत एव भाष्यात् सप्तमीसमास । टिलोप । ब्रह्मवर्चसमिति । ब्रह्मणो वर्च इति विग्रह । हस्तिवर्चसमिति । हस्तिनो वर्च इति विग्रह । पल्यराजभ्यामिति । आभ्यां परो यो वर्चस्शब्द तस्मादपि अजिति वक्तव्यमित्यर्थ । पल्यवर्चसमिति । पल्य मांस तदस्यास्तीति पल्य, मांसभोजीत्यर्थं । तस्य वर्च इति विग्रह । राजवर्चसमिति । राज्ञो वर्च इति विग्रह । अवसमन्धेभ्य । अव सम् अन्ध एभ्य परो यस्तमस्शब्दस्तस्मादच् स्यादित्यर्थः । अवतमसमिति । अवहीन तम इति विग्रह । प्रादिसमास । सन्तमसमिति । सतत तम इति विग्रहः । प्रादिसमास । अन्धतमसमिति । कर्मधारयादच् । अन्ववतप्तादिति । अनु-अव-तप्त-एतेभ्यो समाहारद्वन्द्व । एभ्य. परो यो रहस्शब्दः तस्मादच् स्यादित्यर्थं. । रहः-अप्रकाशप्रदेश । अनुरहसमिति । अनुगत रह इति विग्रह । अवरहसमिति । अवहीनं रह. इति विग्रह । उभयत्र प्रादिसमास. । तप्तरहसमिति । तप्त रह. इति विग्रह । प्रतेरुरस । सप्तम्यर्थे द्योतकतया वर्तत इति सप्तमीस्थम् । सप्तम्यर्थद्योतकात् प्रते परो य उरस्शब्द, तस्मादच् स्यादित्यर्थं । उरसीति । अनेन यदुच्यते तदेव प्रत्युरसमित्यनेनोच्यत इत्यर्थं । सप्तम्यर्थद्योतकः प्रति । तस्य विभक्त्यर्थे विद्यमानस्य 'अव्यय विभक्ति' इत्यादिना अव्ययीभाव इति भाव । अनुगवं यानमिति । अनुगोशब्दादपि अजादेश इति भाव । गोदैर्घ्यं

ब्रह्महस्तिभ्यां—ब्रह्म और हस्ति से पर वर्चस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो
पल्यराजभ्यां च—पल्य और राजन् शब्दसे पर वर्चस्‌शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो।
अवसमन्धेभ्य —अवादिसे पर तमस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो।
अन्ववतप्तात्—अन्वादिसे पर रहस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो।
प्रतेरुरस्—सप्तम्यर्थमें वर्तमान प्रति से उरस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो।
अनुगवमायामे—आयाम (लंबाई) अर्थ गम्यमान रहने पर 'अनुगव' निपातन हो।
उपसर्गादध्वन—उपसर्गसे पर अध्वन् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो।
न पूजनात्—पूजनार्थक शब्दसे पर जो (राजादि) शब्द, तदन्तसे समासान्त प्रत्यय

६९। पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः। सुराजा। अतिराजा। (स्वतिभ्यामेव)। नेह—परमराजः॥ **किमः क्षेपे** ।५।४।७०। कुत्सितो राजा—किंराजा। किंसखा। किंगौः॥ **नञस्तत्पुरुषात्** ।५।४।७१। अराजा। तत्पुरुषात्किम्? अधुरं शकटम्॥ **पथो विभाषा** ।५।४।७२। अपथम्—अपन्थाः। तत्पुरुषादित्येव—अपथो देशः।

इति समासान्तप्रकरणम्।

अथालुक्समासप्रकरणम्

अलुगुत्तरपदे ।६।३।१। इत्यधिकृत्य॥ **ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः**

सरणदैर्घ्यकं यानमित्यर्थः। किमः क्षेपे। किंराजा किंसखेति। इह 'राजाहस्सखिभ्यः'। इति टच् न भवति। 'किं क्षेपे' इति समासः। किंगौरिति। इह 'गोरतद्धितलुकि' इति न टच्। नञस्तत्पुरुषात्। नञ्पूर्वपदात्तत्पुरुषात् समासान्तो नेति यावत्। अराजेति। अत्र 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् न। 'नञ्' इति समासः। अधुरं शकटमिति। अविद्यमाना धूर्यस्येति विग्रहः। नञ्पूर्वपदत्वेऽपि अतत्पुरुषत्वात्। 'ऋक्पूः' इति समासान्तस्य न निषेधः। पथो विभाषेति। पथिन् शब्दात्तत्पुरुषात् टच् वा नेत्यर्थः। अपथमिति। न पन्था इति विग्रहे नञ्तत्पुरुषः। 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्यये सति 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। 'पथः संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम्। अपन्था इति। अप्रत्ययाभावे रूपम्। तत्पुरुषादित्येवेति। अनुवर्तत एवेत्यर्थः। अपथो देश इति। अविद्यमानः पन्था यस्येति विग्रहः। बहुव्रीहित्वात् 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययस्य प्राप्तिकोऽपि न निषेधः। इति समासान्तप्रकरणम्।

अथालुक्समासो निरूप्यते—अलुगुत्तरपदे। नायं विधिः राजपुरुष इत्यादावतिप्रसङ्गात्, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्याद्यारम्भाच्च। ओजस्। ओजस् सहस् अम्भस् तमस् एषां समाहारद्वन्द्वः। एभ्यः परस्यास्तृतीयाया अलुक् स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः।

नहीं हो। स्वतिभ्यामेव—पूजनार्थक 'सु' और 'अति' शब्दसे पर ही राजादि शब्दान्तसे समासान्त प्रत्यय नहीं हो—ऐसा समझना चाहिये। किमः क्षेपे—निन्दार्थक 'किम्' शब्दसे पर राजादि शब्दान्त समाससे समासान्त प्रत्यय नहीं हो। नञस्तत्पुरुषात्—नञ् पूर्वपदक तत्पुरुष समाससे समासान्त प्रत्यय नहीं हो। पथो विभाषा—नञ् पूर्वक 'पथिन्' शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त प्रत्यय विकल्पसे हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें समासान्त प्रकरण समाप्त हुआ।

अलुगुत्तरपदे—यह अधिकार सूत्र है(१)। ओजःसहो—(समास होनेपर भी) ओजस्

---

(१) उक्तेषु समासेष्वेव अलुक् समासः कथ्यते। तद्यथा—उरसि लोमानि यस्य

।६।३।३। ओजसाकृतमित्यादि ॥ (अञ्जस उपसंख्यानम्) । अञ्जसाकृतम् ॥ आत्मनश्च ।६।३।६। तृतीयाया अलुक् ॥ (पूरणे इति वक्तव्यम्) । पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः । आत्मनापञ्चमः ॥ वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ।६।३।७। आत्मन इत्येव । आत्मनेपदम् । आत्मनेभाषा ॥ परस्य च ।६।३।८। परस्मैपदम् । परस्मैभाषा । हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ।६।३।९। हलदन्तादिति ङेरलुक् । त्वचिसारः ॥ गवियुधिभ्यां स्थिरः ।८।३।९५। सस्य षः । गविष्ठिरः । युधिष्ठिरः ।

ओजसाकृतमिति । 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः । 'ओजो दीप्तौ बले' इत्यमरः । अञ्जसा उपसंख्यानमिति । अञ्जसशब्दात् तृतीयाया अलुक् उपसंख्यानमित्यर्थः । अञ्जसाकृतमिति । अञ्जसशब्द आर्जवे वर्तते, यथा—येऽञ्जसोऽञ्जसा भवतीत्यादौ तथा दर्शनात् । आत्मनश्चेति । चकारात्तृतीयाया अलुगिति व्याकुरुष्व इत्याह— आत्मनस्तृतीयाया अलुगिति । उत्तरपदे परे इति शेषः । पूरणे इति वक्तव्यमिति । नात्र पूरणशब्दो गृह्यते, किन्तु स्वरितत्वबलेन पूरणाधिकारविहितप्रत्ययग्रहणात् । आत्मनापञ्चम इति । आत्मना पञ्चम इत्यर्थः । वैयाकरणाख्यायाम् । आत्मन इत्येवेति । अनुवर्तत एवेत्यर्थः । न च 'आत्मनश्च' इत्यस्य वार्तिकत्वे कथमिह सूत्रे पुनरनुवृत्तिरिति वाच्यम् । 'सोऽपवादो' इति । सूत्रे पठितस्य 'कार्ये रोरेवेति वाच्यम्' इति वार्तिकस्य 'इण: षः' इति सूत्रेऽनुवृत्तिवदुपपत्तेः । व्याकरणे भवा वैयाकरणी या आख्या व वैयाकरणाख्या तस्यां या चतुर्थी तस्या अलुगित्यर्थः । एतौ चार्थकृत्यमात्मनेपदस्य संज्ञान्तरमिदं धातुपाठे प्रसिद्धम् । परस्य च । वैयाकरणाख्यायां परशब्दस्यापि चतुर्थ्या अलुगित्यर्थः । हलदन्तात् । त्वचिसार इत्यत्र । अत एव ज्ञापकाद्विकल्पसङ्गो ग्लुवीति । गवियुधिभ्यामिति । गवियुधिभ्यां परस्य स्थिरस्य सस्य षः इत्यर्थः । युधिष्ठिर इति । युध्धातोर्भावे क्विपि, युधशब्दाद्धलन्ते

आदिसे पर तृतीया विभक्तिका लुक् नहीं हो, उत्तर पदके परे। (उत्तर पद समासके चरमावयवमें रूढ है)। अञ्जस—अञ्जस् शब्दसे पर तृतीयाका लुक् नहीं हो, उत्तर पदके परे। आत्मनश्च, पूरणे इति—आत्मन् शब्दसे पर तृतीयाका लुक् नहीं हो, पूरण प्रत्ययान्त उत्तर पदके परे। वैयाकरणा—आत्मन् शब्दसे पर चतुर्थीका अलुक् हो, उत्तर पदके परे, वैयाकरणकी आख्या (संज्ञा) में। परस्य च—पर शब्दसे पर (भी) चतुर्थीका अलुक् हो, उत्तर पदके परे, वैयाकरणकी आख्यामें। हलदन्तात्—हलन्त और अदन्तसे पर सप्तमीका अलुक् हो, संज्ञामें। गवियुधिभ्यां—गवि और युधिसे पर स्थिरके सकारको षत्व हो।

रुचिकेला । माहरि कटः = माहरिमः । कारे कट: = कारकेम । त्रिषि कटः = त्रिषिरः ।

यारण्येतिलकः । अत्र संज्ञायामिति सप्तमीसमासः ॥ (हृद्द्युभ्यां च) । हृदिस्पृक् । दिविस्पृक् ॥ मध्याद् गुरौ ।६।३।११। मध्येगुरुः ॥ (अन्ताच्च) । अन्तेगुरुः । अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ।६।३।१२। कण्ठेकालः । उरसिलोमा । अमूर्धमस्तकात्किम् ? मूर्धशिखः । अकामे किम् ? मुखे कामोऽस्य—मुखकामः ॥ तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।६।३।१४। स्तम्बेरमः । कर्णेजपः ॥ शयवासवासिष्वकालात् ।६।३।१८। वा लुक् । खेशयः-खशयः । ग्रामेवासः-ग्रामवासः-ग्रामेवासी-ग्रामवासी ॥ षष्ठ्या आक्रोशे ।६।३।२१। चौरस्य कुलम् । आक्रोशे किम् ? ब्राह्मणकुलम् ॥ (वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु) । वाचोयुक्तिः । दिशो-

---

दण्डनम् । पश्यतोहरः, अर्थं च । पाण्डवस्य धर्मपुत्रस्य नामेदम् । हृद्द्युभ्या-ञ्चेति । हृद्शब्दाद् दिव्शब्दाच्च सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः । असंज्ञार्थमिदम् । हृदिस्पृगिति । 'हृदय' इति डौ हृदयस्य हृदादेशः, हृदयं स्पृशतीत्यर्थः । दिविस्पृगिति । दिवं स्पृशतीत्यर्थः । मध्याद्गुराविति । गुरुशब्दे परे मध्यशब्दात् सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः । असंज्ञार्थमिदम् । अन्ताच्चेति । सप्तम्या अलुक् स्यात् गुरौ परे इत्यर्थः । अमूर्धमस्तकात् । मूर्धमस्तकशब्दवर्जितात् स्वाङ्गवाचकात् सप्तम्या अलुक् स्यात्, न तु कामशब्दे उत्तरपदे इत्यर्थः । कण्ठेकाल इति । शिवस्य नाम । उरसिलोमेति । कस्यचिन्नाम । अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । तत्पुरुषे इति । तत्पुरुषे सप्तम्याः बहुलमलुक् स्यात् कृदन्ते उत्तरपदे संज्ञायामित्यर्थः । स्तम्बेरम इति । तृणसमूहः स्तम्बः, तस्मिन् रमते इति स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजप इति । कर्णे जपति परदोषमुपांशु प्रादिकरोति इति कर्णेजपः पिशुनः । 'स्तम्बकर्णयोरमिजपोः' इत्यच्, उपपदसमासः । शयवास । शय-वास-वासिन् एतेषु परेषु कालभिन्नात् सप्तम्या अलुक् स्यादित्यर्थः । षष्ठ्या आक्रोशे । अलुगुत्तरपदे इति शेषः । आक्रोशो निन्दा । वाग्दिक् । वाक् दिक् पश्यत् एतेभ्यः परस्याः षष्ठ्या अलुक् स्यात् युक्ति-दण्ड-हर-

---

हृद्द्युभ्यां च—हृद् और दिव्से पर सप्तमीका अलुक् हो । मध्याद् गुरौ—मध्यसे पर सप्तमीका अलुक् हो, गुरु उत्तर पदके परे । अन्ताच्च—अन्त शब्दसे पर सप्तमीका अलुक् हो, गुरु उत्तर पदके परे । अमूर्धमस्त—मूर्ध और मस्तकसे भिन्न स्वाङ्गवाची शब्दसे पर सप्तमीका अलुक् हो, काम शब्द भिन्न उत्तर पदके परे । तत्पुरुषे—कृदन्त उत्तर पदके परे तत्पुरुष समासमें सप्तमीका अलुक बहुलतासे अलुक् हो, संज्ञामें । शयवास—शय, वास और वासिन् उत्तर पदके परे कालभिन्न हलन्त और अदन्त शब्दसे सप्तमीका अलुक् हो, विकल्पसे ।

षष्ठ्या आक्रोशे—षष्ठीका अलुक् हो, उत्तर पदके परे, निन्दामें ।

वाग्दिक्पश्य—वाक् आदिसे पर षष्ठीका अलुक् हो, युक्त्यादि उत्तर पदके परे ।

अन्तु कौनिग्रामनिर्देश सः = ग्रामेवासि: '१' मादि पक्षवीवि = ग्रामेवासी, ग्रामवासी ।

दृष्टः । पश्यतोहर ॥ (आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति च) । (देवानांप्रिय इति च मूर्खे) । अन्यत्र देवप्रिय ॥ (शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः) । शुनश्शेप । शुनःपुच्छ । शुनोलाङ्गूल ॥ (दिवश्च दासे) । दिवोदास । ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्य' ।६।३।२३। होतुरन्तेवासी ॥ विभाषा स्वसृपत्यो' ।६।३।२४। ऋदन्तात्षष्ठ्या वा अलुक् ॥ मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम्

पदेषु क्रमादुत्तरपदेषु परेष्वित्यर्थः । वाचोयुक्तिरिति । शब्दप्रयोग इत्यर्थ । दिशोदण्ड इति । अधिकरणस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी । पश्यतोहर इति । पश्यन्तमनादृत्य हरतीत्यर्थः । अमुष्येति । अमुष्यापत्यमित्यर्थे 'नडादिभ्य फक्' इति फकि आयन्नादेशे आदिवृद्धौ तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकतया तदवयवत्वात् प्राप्तस्य सुब्लुको निषेधे तस्य पाठे आमुष्यायण इति रूपमित्यर्थ । देवानामिति । दिवु क्रीडायाम् । देवा क्रीडाशुच्या मूर्खा', तेषाम् प्रियोऽपि मूर्ख एव, मूर्खप्रियस्यावश्य मूर्खत्वादिति 'अजेर्वी' इत्यत्र कैयट । शेपपुच्छेति । वार्तिकमिदम् । षष्ठ्या अलुगिति शेष । शुनश्शेप इति । शुनः शेप इव शेपो यस्येति विग्रह । शुनःपुच्छ इति । शुन पुच्छमिव पुच्छम् यस्येति विग्रह । एवं शुनोलाङ्गूल इत्यपि । दिवश्च दासे इति । वार्तिकम् । षष्ठ्या अलुगिति शेष । दिवोदास इति । कश्चिद्राजर्षिरयम् । ऋतो विद्या । एकत्वे बहुवचनम् । विद्यासंबन्धयोनिसम्बन्धवाचिन' ऋदन्तात् षष्ठ्या अलुक् । होतुरन्तेवासीति । ऋग्वेदविहितकर्मविशेषकर्ता होता । अतो होतृशब्द विद्यासम्बन्धप्रवृत्तिनिमित्तक इति भाव । विभाषा स्वसृपत्यो । ऋदन्तादिति । विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्धान्यतरवाचिनः षष्ठ्या अलुग्वा स्वसृपत्यो, परयोरित्यर्थ । मातु पितुर्भ्याम् । 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इति पूर्वसूत्रात् स्वसेत्यनुवर्तते । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । 'सहे साढ सः' इति सूत्रात् स इति

आमुष्या—(अमुष्य पुत्र') 'आमुष्यायण' यहाँ षष्ठीका अलुक् और नडादित्वात् फक् निपातन हो एवम् (अमुष्य पुत्रस्य भाव) 'आमुष्यपुत्रिका' और (अमुष्य कुलस्य भाव) 'आमुष्यकुलिका' यहाँ षष्ठीका अलुक् और 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च'से मनोज्ञादित्वात् वुञ् निपातन भी हो । देवानां प्रियः—मूर्ख अर्थमें 'देवानांप्रिय' यहाँ षष्ठीका अलुक् निपातन हो ।

शेपपुच्छ—शेप, पुच्छ और लाङ्गूल उत्तर पदके परे श्वन् शब्दसे पर षष्ठीका अलुक् हो । दिवश्च दासे—दिव शब्दसे पर षष्ठीका अलुक् हो, दास उत्तर पदके परे ।

ऋतो विद्या-विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची ऋदन्तसे पर षष्ठीका अलुक् हो, उत्तर पदके परे । विभाषा—स्वसृ और पति शब्द उत्तर पदके परे ऋदन्तसे पर षष्ठीका अलुक् हो, विकल्पसे ।

मातृपितृभ्यां—'मातृ' और 'पितृ' से पर स्वसृके सकारको षत्व हो, विकल्पसे,

वने चरतीति = वनेचरः । अन्ते वसतीति = अन्तेवासी । त्वचि सारं यस्य सः = त्वचिसारः ॥

१८ ३।८५। आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य षः समासे । मातुःष्वसा-मातुःस्वसा । पितुःष्वसा-पितुःस्वसा । लुक्पक्षे तु—**मातृपितृभ्यां स्वसा** ।८।३।८४। स्वसुः सस्य षः समासे । मातृष्वसा । पितृष्वसा । असमासे तु—मातुः स्वसा । पितुः स्वसा । इत्यलुक्समासप्रकरणम् ।

अथ समासाश्रयप्रकरणम्

घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ।६।३।४३। भाषितपुंस्काद्यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्यात्, घरूपकल्पप्रत्यये चेलडादिषु चोत्तरपदेषु । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमा । ब्राह्मणिरूपा । ब्राह्मणिकल्पा । ब्राह्मणि-

---

षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । तदाह—स्वसुः सस्येति । मातुः पितुरिति षष्ठ्यन्ताभ्यामित्यर्थः । समासे इति । 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' इत्यतस्तद्नुवृत्तेरिति भावः । मातुःष्वसा, पितुःष्वसेति अलुकि षत्वे रूपम् । मातुःस्वसा, पितुःस्वसेत्यलुकि षत्वाभावे रूपम् । लुक्पक्षे त्विति । विशेषो वक्ष्यत इति शेषः । मातृपितृभ्यां स्वसा । स्वसुरिति । सूत्रे षष्ठ्यर्थे प्रथमेति भावः । मातृष्वसा, पितृष्वसेति । लुक्पक्षे नित्यमेव षत्वम् । आदेशप्रत्ययसकारत्वाभावादप्राप्ते विधिरयम् । षत्वविधौ समासग्रहणानुवृत्तेः फलं दर्शयति—असमासे त्विति । वाक्ये वैकल्पिकं षत्वमपि नास्तीत्यर्थः । इत्यलुक्समासप्रकरणम् ।

अथ समासाश्रयविधिः निरूप्यते—घरूप । उत्तरपदे इत्यधिकृतं चेलडादिष्वन्वेति, न तु घरूपकल्पेषु घशब्दस्य तरतमपोः रूपप्कल्पपोश्च प्रत्ययत्वात् । 'स्त्रियाः पुंवद्' इत्यतो भाषितपुंस्कादित्यनुवृत्तम् । ङ्य इति तदन्तग्रहणं केवलस्यानेकाच्त्वाभावात् । तदाह—भाषितपुंस्काद्यो ङी इति । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणतमेति । अतिशायने तरतमपौ । न च 'तसिलादिषु' इति पुंवत्त्वेन ङीपो निवृत्तिः शङ्क्या, 'जातेश्च' इति निषेधात् । ब्राह्मणिरूपेति । प्रशंसायां रूपप् । ब्राह्मणिकल्पेति । 'ईषदसमाप्तौ' इति कल्पप् । ब्राह्मणि-

---

समासमें । मातृपितृभ्यां—'मातृ' और 'पितृ' से पर स्वसृके सकारको षत्व हो, समासमें । इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अलुक्समास समाप्त हुआ ।

घरूपकल्प—घ (तरप्-तमप्), रूप और कल्पप् प्रत्ययके परे तथा चेलडादि उत्तर-

---

अथ समासे किङ्गलुक्ष्यते—अव्ययीभावेऽव्ययं नपुंसकम् । तत्पुरुषे द्वन्द्वे च परपदार्थलिङ्गम्, बहुव्रीहौ अन्यपदार्थलिङ्गम् । एकशेषे तु अनियमः ।

चेली । ब्राह्मणिब्रुवा । ब्राह्मणिगोत्रेत्यादि । ब्रुव० घचादिषु वच्यादेशगुणयोरभावो निपात्यते । ङ्य किम् ? दत्तातरा । भाषितपुंस्कात्किम् ? आमलकीतरा । कुवलीतरा ॥ **नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ।६।३।४४।** अङ्यन्तनद्याः ङ्यन्तैकाचश्च घादिषु ह्रस्वो वा । ब्रह्मबन्धुतरा-ब्रह्मबन्धूतरा । स्त्रितरा—स्त्रीतरा ॥ **(कृन्नद्या न)** लक्ष्मीतरा ॥ **उगितश्च ।६।३।४५।** उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । विदुषितरा । ह्रस्वाभावपक्षे पुंवत् । विद्वत्तरा ॥ **पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ।६।३।५२।** एषूत्तरपदेषु पादस्य पद इत्यदन्तादेशः स्यात् । पादाभ्याम् अजतीति पदाजि । पदातिः ॥ **(अजयतिभ्यां पादे च)** इण् प्रत्ययः । पदगः । पदोपहतः ॥ **पद्यत्यतदर्थे ।६।३।५३।** पादस्य पद् स्यादतदर्थे

चेलीति । 'चिल वसने' तस्मादचि चेलडिति । पचादौ पठितम् । टित्वात् ङीप् । हत्वादीति । ब्राह्मणिमता ब्राह्मणिहता । ब्रुव इति । ब्रूञ्धातोरचि कृते 'ब्रुवो वचि' इति वच्यादेशस्य लघूपधगुणस्य च अभावो निपात्यत इत्यर्थः । आमलकीतरेति । आमलकीशब्दस्य वृक्षविशेषे नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् भाषितपुंस्कत्वाभावेन न ह्रस्व इति भावः । कुवलीतरेति । वृक्षविशेषे नित्यस्त्रीलिङ्गत्वादिति भावः । नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् । शब्दादन्यः शेषः । ङ्यन्तस्यानेकाच इति पूर्वसूत्रे स्थितम्, तदन्यत्वं च अनेकाचो ङ्यन्तत्वाभावे ङ्यन्तस्यानेकाच्त्वाभावेऽपि सम्भवति । तदाह—अङ्यन्तनद्याः इत्यादि । 'ऊङुतः' इति ब्रह्मबन्धुशब्द ऊङन्तः । भाषितपुंस्कस्येति तु नेहानुवर्तत इत्यभिप्रेत्योदाहरति—स्त्रीतरेति । कृन्नद्या नेति । कृदन्ता या नदी तस्या ह्रस्वो नेति वाच्यमित्यर्थः । लक्ष्मीतरेति । 'लक्षेर्मुट् च' इति औणादिके ईप्रत्यये मुडागमे च लक्ष्मीशब्दः कृदन्त इति भावः । उगितश्च । विदुषितरेति । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वसुः प्रत्ययः । उगिदन्तमिदम् । अनेकाच्त्वान्न ङ्यन्तत्वम् । शेषत्वस्याप्राप्तेरिदमिति भावः । विद्वत्तरेति । पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तौ विद्वत्तरेति रूपमित्यर्थः । पादस्य पद । पद इति लुप्तप्रथमाकम् पृथक्पदम् । षष्ठ्यर्थे । आजि, आति, ग, उपहत इत्येतेष्वित्यर्थः । अदन्त इति । उत्तरसूत्रे पदिति हलन्तस्य ग्रहणादिति भावः । अजतीति । 'अज गतिक्षेपणयोः' । पदातिरिति । पादाभ्यामततीति विग्रहः । 'अत गतौ' अजतिभ्यामिति । पादे उपपदे अजधातोरतधातोश्च इण् स्यादिति तदर्थः । पदग इति । पादाभ्यां गच्छतीति

पदके परे भाषितपुंस्कसे पर जो ङी, तदन्त अनेकाच्को ह्रस्व हो । नद्याः शेष—अङ्यन्त नदीसंज्ञक और ङ्यन्त एकाच्को ह्रस्व हो, घादिके परे, विकल्पसे । कृन्नद्या न—नदी संज्ञक कृदन्तको ह्रस्व नहीं हो । उगितश्च—उगित्से पर जो नदीसंज्ञक ईकार, तदन्तको ह्रस्व हो, घादिके परे, विकल्पसे । पादस्य—पादको अदन्त 'पद' आदेश हो, आज्यादि उत्तर पदके परे । पद्यत्यतदर्थे—पादको हलन्त 'पद्' आदेश हो, अतदर्थक यत् प्रत्ययके परे ।

यति । पादौ विध्यन्ति-पद्याः शर्कराः । 'विध्यत्यधनुषे'ति यत् । अतदर्थे किम् ? पादार्थमुदकं पाद्यम् । 'पादार्घाभ्यां चे'ति यत् ॥ **उदकस्योदः संज्ञायाम्** ।६।३।५७। उत्तरपदे । उदमेघः ॥ **(उत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम्)** क्षीरोदः ॥ **पेषंवासवाहनधिषु च** ।६।३।५८। उदपेषं पिनष्टि । उदवासः । उदवाहनः । उदधिर्घटः ॥ **एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्** ।६।३।५९। उदकुम्भः-उदककुम्भः । एकेति किम् ? उदकस्थाली । पूरयितव्येति किम् ? उदकपर्वतः ॥ **मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च** ।६।३।६०। उदमन्थः-

---

त्यर्थः 'गमश्च' 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति सूत्रस्थेन 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वार्तिकेन गम्धातोः डः । तदन्ते गशब्दे परे पादस्यादन्तः पदादेशः । दकारान्तादेशे तु पद्ग इति स्यात् । पदोपहत इति । पादाभ्यामुपहत इति विग्रहः । अत्रापि दकारान्तादेशे पदुपहत इति स्यात् । पाद्यमिति । 'पादार्घाभ्यां च' इति तादर्थ्ये यत् प्रत्ययः । उदकस्योदः । उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यात् उत्तरपदे संज्ञायामित्यर्थः । उदमेघ इति । उदकपूर्णमेघसादृश्यात् कस्यचिदियं संज्ञा । उत्तरपदस्य चेति । उत्तरपदस्य उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यात् संज्ञायामित्यर्थः । क्षीरोद इति । क्षीरम् उदकस्थानीयं यस्येति विग्रहः । क्षीरोदम् सरः इति त्वसाध्वेव, असंज्ञात्वात् । पेषंवास । पेषमिति णमुलन्तमव्ययम् । तस्मिन्वासिवाहनधिषु च परतः उदकशब्दस्य उद स्यादित्यर्थः । असंज्ञार्थं वचनम् । उदपेषं पिनष्टीति । उदकेन पिनष्टीत्यर्थः । 'स्नेहने पिषः' इति णमुल् । कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । उदवास इति । उदकस्य वास इति विग्रहः । उदवाहन इति । 'करणे ल्युट्' । उदकस्य वाहक इत्यर्थः । उदधिर्घट इति । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययः । असंज्ञात्वस्फोरणाय घट इति विशेष्यम् । एकहलादौ । हल्त्वस्य एकैकवर्णपर्यवसानादेव सिद्धे एकग्रहणादसंयुक्तत्वं लभ्यते । पूरयितव्यं पूरणार्हं कुम्भादि, असंयुक्तहलादौ पूरयितव्यवाचके उत्तरपदे परे उदकस्य उद इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । मन्थौदनः । उदकस्य उदादेशो वेति शेषः । अपूरयितव्यार्थं वचनम् । उदमन्थः-उदकमन्थ इति । उदकमिश्रो मन्थ इति विग्रहः । द्रवद्रव्यसंपृक्ताः सक्तवो मन्थः । भर्जितयवपिष्टानि

उदकस्योदः—उदकको 'उद' आदेश हो, उत्तरपदके परे, संज्ञामें ।

उत्तरपदस्य च—उत्तरपदस्थ उदकको भी 'उद' आदेश हो, संज्ञामें । पेषंवास—पेषम् आदि उत्तरपदके परे भी उदकको उद आदेश हो, (असंज्ञामें) एकहलादौ—पूर्ण करने योग्य एक (असंयुक्त) हलादि (पात्रवाची) उत्तरपदके परे उदकको 'उद' आदेश हो, असंज्ञामें विकल्पसे । मन्थौदन—मन्थादि उत्तरपदके परे उदकको उद आदेश हो, विकल्पसे ।

उदकमन्थः । उदोदनः–उदकौदनः ॥ **इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ६।३।६१।** इगन्तस्याङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा उत्तरपदे । ग्रामणिपुत्रः–ग्रामणीपुत्रः । इकः किम् ? रमापतिः । अङ्य इति किम् ? गौरीपतिः ॥ **ष्यङः संप्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६।१।१३।** ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य संप्रसारणं स्यात् पुत्रपत्योः परतः ॥ **संप्रसारणस्य ६।३।१३९।** दीर्घः स्यादुत्तरपदे । कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपतिः ॥ **इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ६।३।६५।** इष्टकादीनां तदन्तानां च चितादिषु ह्रस्वः स्यात् । इष्टकचितम्

सक्तवः । उदोदन, उदकौदन इति । उदकमिश्र इत्यर्थः । इको ह्रस्वः । अङ्य इति च्छेदः । ग्रामणीपुत्र इति । कर्मधारयः षष्ठीसमासो वा, गौरीगौरीकारोऽयं न तु ङीप्प्रत्यय इति भावः । ष्यङः संप्रसारणम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया ष्यङ इति तदन्तग्रहणम् । तदाह—ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्येति । तस्य सूत्रस्य उत्तरपदाधिकारस्थत्वेऽपि तत्पुरुषग्रहणेन पूर्वपदलाभ इति भावः । संप्रसारणस्य । दीर्घ इति । 'ढ्लोपे' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । उत्तरपदे इति । 'अलुगुत्तरपदे' इति तदधिकारादिति भावः । कौमुदगन्ध्यायाः पुत्र इति । विग्रहवाक्यमिदम् । कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्य सः कुमुदगन्धिः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति बहुव्रीहिः । कुमुदगन्धशब्दे पूर्वखण्डे उत्तरस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च । 'उपमानाच्च' इति इत्वम् । कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्री इत्यर्थे तस्यापत्यमित्यण् । 'अणिञोरनार्षयोः' इति तस्य ष्यङादेशः । 'यस्येति च' इति यकारलोपे आदिवृद्धिः । यङश्चाप् । कौमुदगन्ध्या शब्द इति भावः । कौमुदगन्ध्यायाः पुत्र इति षष्ठीसमासः । सुब्लुकि कौमुदगन्ध्यापुत्र इति स्थिते ष्यङः संप्रसारणेन यकारस्य इकारः तस्य तदुत्तराकारस्य च 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपेण इकारे 'संप्रसारणस्य' इति दीर्घे 'कौमुदगन्धीपुत्र' इति रूपमिति भावः । 'हलः' इति दीर्घस्य तु नात्र प्रसक्तिः, संप्रसारणात् पूर्वस्य हलः संप्रसारणनिमित्तनिष्ठत्वाभावात् । कौमुदगन्धीपतिरिति । कौमुदगन्ध्यायाः पतिरिति विग्रहः, पूर्ववत् प्रक्रिया । इष्टकेषीका । उत्तरपदे इत्यधिकृतम्, तद्बलाच्च पूर्वपदम् इष्टकादिभिर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । व्यपदेशिवद्भावात् तेषामपि ग्रहणम् । उत्तरपदाधिकारस्यापि पदाधिकाराभ्युपगमात् 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति वचनेन वा तेषां ग्रहणम् । 'इको ह्रस्वः' इत्यतः ह्रस्व इत्यनुवर्तते । तदाह—इष्टकादीनां तदन्तानां चेति । इष्टकचितमिति । इष्टकाभिश्चितमिति विग्रहः । 'कर्तृकरणे कृता' इति समासः । तदन्त

इको ह्रस्वो—अङ्यन्त इगन्तको ह्रस्व हो, उत्तर पदके परे, विकल्पसे । ष्यङः सम्प्र–ष्यङन्त पूर्वपदको सम्प्रसारण हो, पुत्र और पति शब्द उत्तरपदके परे । सम्प्रसारणस्य—सम्प्रसारणको दीर्घ हो, उत्तरपदके परे । इष्टकेषीका—इष्टकादि और इष्टकान्तपदको पूर्व क्रमसे

पक्वेष्टकचितम्। इषीकतूलम्। मुञ्जेषीकतूलम्। मालभारी। उत्पलमालभारी॥ ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ।६।३।८५। समानस्य सः। सज्योतिः। चरणे ब्रह्मचारिणि ।६।३।८६। ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य सश्चरणे समानत्वेन गम्यमाने। चरणः शाखा। ब्रह्म वेदः, तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी। सब्रह्मचारी इत्यादि। तीर्थे ये ।६।३।८७। यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः। सतीर्थ्यः एकगुरुकः। 'समानतीर्थे वासी'ति यत्प्रत्ययः॥ विभाषोदरे ।६।३।८८। सोदर्यः। समानोदर्यः॥ दृग्दृशवतुषु ।६।३।८९। सदृक्। सदृशः॥ (दृक्षे च)। सदृक्षः॥

विधेः। प्रयोजनमाह—पक्वेष्टकचितमिति। इषीकतूलमिति। इषीकायास्तूलमिति विग्रहः। तूलमग्रं, पुष्पमित्यन्ये। मुञ्जेषीकतूलमिति। मुञ्जेषीकायास्तूलमिति विग्रहः। मालभारीति। 'सुप्यजातौ' इति णिनिः। ज्योतिर्जनपद। अपच्छन्दोर्थं वचनमिदम्। सज्योतिरिति। समानं ज्योतिर्यस्येति विग्रहः। एवं सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः। चरणे ब्रह्मचारिणि। समानस्येति स इति चानुवर्तते। उत्तरपदे इत्यधिकृतम्। तदाह—ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य सः स्यादिति। चरणे इति सप्तमी समानस्येत्यत्रान्वेति। चरणे विद्यमानस्येत्यर्थः। फलितमाह—चरणे समानत्वेन गम्यमाने इति। तत्र चरणपदं व्याचष्टे—चरणः शाखेति। वैदिकप्रसिद्धिरेवात्र मूलम्। ब्रह्मचारिपदं निर्वक्तुमाह—ब्रह्म वेद इति। 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः। तच्चरणार्थमिति। तस्य वेदस्य चरणम् अध्ययनं तच्चरणं व्रतमपि ब्रह्मशब्देन विवक्षितमित्यर्थः। गौण्या वृत्त्येति शेषः। तच्चरतीति। तद् व्रतं चरति अनुतिष्ठतीत्यर्थे ब्रह्मचारिशब्द इत्यर्थः। 'सुप्यजातौ' इति णिनिः। तीर्थे ये। यशब्दात् अकारान्तात्सप्तम्येकवचनम्, अकारो न विवक्षितः, प्रत्यय इति विशेष्यमध्याहार्यम्। 'यस्मिन् विधिः' इति तदादिविधिः। तदाह—यादौ प्रत्यये इति। सतीर्थ्य इति। समाने तीर्थे वासीत्यर्थः। अत्र सामीप्ये सप्तमी। समानशब्दस्त्वेकपर्यायः। तीर्थशब्दो गुरौ। तदाह—एकगुरुक इति। तद्धितार्थे समासप्रवृत्तये तद्धितं दर्शयति—समानेति। 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' इत्यमरः। विभाषोदरे। उदरशब्दे परे समानस्य सभावो वा स्यादित्यर्थः। दृग्दृशवतुषु। समानस्य

ह्रस्व हो, चितादि उत्तर पदके परे। ज्योतिर्जनपद—समानको 'स' आदेश हो, 'ज्योतिस्' आदि उत्तर पदके परे। चरणे—चरण (शाखा) की समानता गम्यमान होने पर समान को 'स' आदेश हो, ब्रह्मचारी उत्तर पदके परे। तीर्थे ये—यादि प्रत्ययकी विवक्षामें समानको 'स' आदेश हो, तीर्थ उत्तर पदके परे। विभाषोदरे—यादि प्रत्ययकी विवक्षामें समानको 'स' आदेश हो, उदर उत्तर पदके परे, विकल्पसे। दृग्दृश—समानको 'स' आदेश हो दृक्, दृश और वतु के परे। दृक्षे च—दृक्ष उत्तर पदके परे भी समानको 'स' आदेश हो।

इदंकिमोरीश्की ।६।३।९०। दृग्दृशवतुषु । ईदृक्—ईदृशः । कीदृक्—कीदृशः ॥ (दृक्षे च)। ईदृक्षः ॥ **अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु** ।६।३।९९। अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादाशीरादिषु परेषु । अन्यदाशीः । अन्यदाशा । अन्यदास्था । अन्यदास्थितः । अन्यदुत्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यद्रागः । अषष्ठीत्यादि किम् ? अन्यस्यान्येन वाशीः अन्याशी ॥ (कारके छे च नायं निषेधः)। अन्यस्य कारकोऽन्यत्कारकः ॥ अन्यस्यायमन्यदीयः ॥ **अर्थे विभाषा** ।६।३।१००। अन्यदर्थं-अन्यार्थं ॥ **कोः कत्तत्पुरुषेऽचि** ।६।३।१०१। अजादावुत्तरपदे । कुत्सितोऽश्वः कदश्वः । कदन्नम् । तत्पुरुषे किम् ? कूष्ट्रो राजा ॥ (त्रौ च)। कत्त्रयः । **रथवदयोश्च**

च इति शेषः । दृक् दृश वति । समानो दृश्यते इत्यर्थे 'समानान्ययोश्च' इति क्विन् कञ् च । दृक्षे चेति । समासस्य वार्तिकमिति शेषः । दृक्ष इति । 'क्सोऽपि वाच्यः' इति क्सो [illegible] । इदं किमोरीश्की । ईश् की इति च्छेदः । ईदृक् ईदृश इति । इदमिव दृश्यते इत्यर्थे त्यदादिषु क्विन् । किम्—कञ् । [illegible] । दृक्षे चेति । इदं किमोरीश्की वक्तव्यौ इति शेषः । अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य । अषष्ठ्याम् अतृतीयां च परतस्तिष्ठतीति अषष्ठ्यतृतीयास्थः, तस्य, अषष्ठीतृतीयान्तस्येत्यर्थः । आशीरादिष्विति । आशी, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इत्येतेषु इत्यर्थः । दुकि ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । किदाद्यन्तावयवः । अन्यदाशीरित्यादयः कर्मधारयाः । नायं निषेध इति । 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य' इति निषेधः कारकच्छयोर्नास्तीत्यर्थः । अर्थे विभाषा । भाष्योक्तमिदम् । अन्यस्य दुगिति शेषः । कोः कत्तत्पुरुषेऽचि । कत् इति छेदः । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—अजादावुत्तरपदे इति । कदश्व कदन्नमिति । 'कुगति' इति समासः । कूष्ट्रो राजेति । कुत्सित उष्ट्रो यस्येति बहुव्रीहित्वात् न कदादेशः । त्रौ चेति । त्रिशब्दे परे कदादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । उत्तरपदस्याजादित्वाभावात् वचनम् ।

इदंकिमो—'इदम्' को 'ईश्' और 'किम्'को 'की' आदेश हो दृक् दृश और वतुके परे। दृक्षे च—पूर्वोक्त 'ईश्' और 'की' आदेश दृक्षके परे भी हो। अषष्ठ्य—षष्ठ्यन्त और तृतीयान्तसे भिन्न 'अन्य' शब्दको 'दुक्' का आगम हो, 'आशी' आदिके परे।

कारके—कारक और छ प्रत्ययके परे षष्ठ्यन्त और तृतीयान्त अन्य शब्दको भी दुक् का आगम हो—'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य' यह निषेध नहीं लगे। अर्थे—अर्थ शब्द उत्तर पदके परे अन्य शब्दको दुगागम हो, विकल्पसे। कोः कत्तत्पुरुषे—तत्पुरुष समासमें 'कु' को 'कत्' आदेश हो, अजादि उत्तर पदके परे। त्रौ च—'कु' को 'कत्' आदेश हो, त्रिशब्द उत्तर पदके परे। रथवदयोश्च—रथ और वद उत्तर पदके परे 'कु' को 'कत्'

६।३।१०२। कद्रथः । कद्वदः ॥ तृणे च जातौ ।६।३।१०३। कत्तृणम् ॥ का पथ्यक्षयोः ।६।३।१०४। कापथम् । काक्षः ॥ ईषदर्थे ।६।३।१०५। ईषज्जलं काजलम् ॥ विभाषा पुरुषे ।६।३।१०६। कुपुरुषः—कापुरुषः ॥ कवं चोष्णे ।६।३।१०७। उष्णशब्दे उत्तरपदे कवं का च वा स्यात् । कोष्णम्—कवोष्णम् । कदुष्णम् ॥ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ।६।३।१०९। पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि । पृषत उदरं पृषोदरम् । तलोपः वारिवाहको बलाहकः । पूर्वपदस्य वः उत्तरपदादेश्च लत्वम् ॥ 'भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात् ।

रथवदयोश्च । कोः कत्तत्पुरुषे इति शेषः । कद्रथः । कद्वद इति । 'कुगति' इति समासः । वदतीति वदः कुत्सितो वदः कद्वदः । तृणे च जातौ । तृणशब्दे कोः कत्स्यात् जातौ वाच्यायाम् । तृणे च जातौ । तृणजातिविशेषोऽयम् । 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रमथ कत्तृणम्' इत्यमरः । का पथ्यक्षयोः । पथिन्, अक्ष, अनयोः परतः कोः का इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । कत्तृणमिति । कुत्सितः पन्था इति विग्रहः । 'कुगतिप्रादयः' इति समासः । 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययः । 'पथः संख्याऽव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम् । कापथ इति पाठे तु बहुव्रीहिः । ईषदर्थे । ईषदर्थे विद्यमानस्य कोः का इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । ईषज्जलं काजलमिति । ईषज्जलमिति विग्रहे 'कुगति' इति समासः । विभाषा पुरुषे । कोः का इत्यादेश इति शेषः । कवं चोष्णे । कवं का च वेति । विभाषेत्यनुवृत्तेरिति भावः । उभयाभावे कदादेशः । तथा च रूपत्रयम् । तदाह—कोष्णम् कवोष्णम् कदुष्णम् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । आदिशब्दो न प्रकारवाची, गणपाठे पृषोदरादिपाठस्यादर्शनात् । यथोपदिष्टपदस्य वैयर्थ्याच्च । किन्तु प्रकारवाची । तदाह—पृषोदरप्रकाराणीति । प्रकारः सादृश्यं, तच्च शास्त्रोक्तलोपागमादेशादिरहितत्वेन बोध्यम् । व्याकरणशास्त्रागृहीतानीति यावत् । उपपूर्वको दिशिरुच्चारणार्थः । भावे क्तः । उपदिष्टमुपदेशः उच्चारणम् । तदनतिक्रम्य यथोपदिष्टम् । पदार्थानतिवृत्तावव्ययीभावः । शिष्टैरित्यध्याहार्यम् । तथा च फलितमाह—शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनीति । शिष्टास्तु मन्त्रतत्त्वसाक्षात्कारवन्तः योगिन इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । तलोप इति । षष्ठीसमासे सुब्लुकि तलोपे 'आद्गुणः' इति भावः । पूर्वपदस्येति । वारिवाहकशब्दे वारिशब्दस्य

आदेश हो, तत्पुरुषमें । तृणे च—जाति गम्यमान होने पर तृण उत्तरपदके परे भी 'कु' को 'कत्' आदेश हो, तत्पुरुषमें । का पथ्यक्षयोः—'कु' को 'का' आदेश हो, पथिन् और अक्ष शब्द उत्तरपदके परे । ईषदर्थे—ईषत् (किंचित्) अर्थमें 'कु' को 'का' आदेश हो, उत्तरपदके परे । विभाषा—पुरुष उत्तरपदके परे विकल्पसे 'कु' को 'का' आदेश हो ।

कवं चोष्णे—उष्ण शब्द उत्तरपदके परे 'कु' को 'कव' और 'का' आदेश हो, विकल्पसे । पृषोदरा—पृषोदरादिका उच्चारण जैसे शिष्टोंने किया है, वैसे ही शुद्ध हो ।

भवेद्वर्णा—'हन्' धातुसे (पचादित्वात्) 'अच्' प्रत्यय होने पर 'हकारको' और

गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम् ॥ **मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्** ।६।३।११९। दीर्घः स्यात् । अमरावती । अनजिरादीनां किम्? अजिरवती । बह्वचः किम्? व्रीहिमती । संज्ञायामित्येव । नेह,—वलयवती ॥ **शरादीनां च** ।६।३।१२०। शरावती ॥ **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** ।६।३।१२२।

धकारः सर्वादेशः । वाहकशब्दे उत्तरपदे ह्यादेर्वकारस्य ढकारादेश इत्यर्थः । भवेद्वर्णागमाद्धंस इति । हनधातोः पचाद्यचि अनुस्वारागमे हंस इति रूपमित्यर्थः । हनधातो रचि सगागमे 'नश्चापदान्तस्य' इति अनुस्वार इत्यन्ये । सिंहो वर्णविपर्ययादिति । 'हिसि हिंसायाम्' इत्यतः पचाद्यचि इदित्वान्नुम् । 'नश्च' इत्यनुस्वारः । हकारस्य सकारः, सकारस्य हकारश्च । सिंह इति रूपमित्यर्थः । यद्यपि हंससिंहयोरुणादौ व्युत्पत्तिरुक्ता । तथाप्युणादिसूत्राणां शाकटायनप्रणीतत्वेन शास्त्रान्तरत्वादिह व्युत्पादनं न दोष इत्याहुः । गूढोत्मा वर्णविकृतेरिति । गूढ आत्मा यस्येति बहुव्रीहौ उत्तरपदादेराकारस्य उकारे आद्गुणे रूपमिति भावः । वर्णनाशात्पृषोदरमिति । पृषत् उदरमित्यत्र तकारलोपे सति आद्गुणे पृषोदरमिति भवतीत्यर्थः । मतौ । मतुप्प्रत्यये परे बह्वचो दीर्घः स्यात् संज्ञायां न त्वजिरादीनामित्यर्थः । अमरावतीति । इन्द्रनगर्याः संज्ञेयम् । अमरा अस्यां सन्तीति विग्रहः । 'मादुपधायाश्च' इति, 'संज्ञायाम्' इति वा मस्य वः । अजिरवतीति । नदीविशेषस्य संज्ञेयम् । वलयवतीति । अनजिरादित्वेऽप्यसंज्ञात्वान्न दीर्घ इति भावः । शरादीनां च । मतौ दीर्घः संज्ञायामिति शेषः । अबह्वच्त्वात्पूर्वेण न प्राप्तिः । शरावतीति । शरा अस्यां सन्तीति विग्रहः । नदीविशेषस्य नाम । उपसर्गस्य । परीपाक इति । पचेर्भावे घञ्, उपधावृद्धिः । 'चजोः कु घिण्ण्यतोः'

'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार होनेसे 'हंस' बनता है । 'हिंस' धातुसे 'अच्' प्रत्यय होनेपर 'वर्णविपर्यय' (हकार-सकारका स्थान-व्यत्यास-हेरफेर) होनेसे 'सिंह' बनता है । 'गूढ आत्मा यस्य' इस बहुव्रीहिमें 'वर्णविकार' । (उत्तरपदके आदि वर्ण आकारको उकार) होनेसे गुण होकर 'गूढोत्मा' बनता है । एवं 'पृषत्+उदरम्' यहाँपर 'वर्णनाश' (तकारका नाश = दर्शनाभाव) होनेपर गुण होकर 'पृषोदरम्' बनता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ।

नोट :—'हस' धातुमें अच् होने पर अनुस्वाररूप वर्णका आगम होनेसे 'हंस' बनता है—ऐसा जो लिखा है, प्रायः वह गलत है । क्योंकि अनुस्वार वर्ण नहीं कहलाता (पृ० १० देखो) वैयाकरण शब्दको नित्य मानते हैं अतः 'वर्णनाश' या 'वर्णलोप' की जगह सर्वत्र वर्णका दर्शनाभाव समझना चाहिये ।

मतौ बह्वचो—अजिरादिसे भिन्न बह्वच्को दीर्घ हो, मतुप्के परे, संज्ञामें ।

शरादीनां च—शरादिको दीर्घ हो, मतुप्के परे, संज्ञामें । **उपसर्गस्य**—उपसर्गको बहुल

परीपाकः, परिपाकः । अमनुष्ये किम् ? निषादः ॥ **नरे संज्ञायाम्** ।६।३।१२९ विश्वानरः ॥ **मित्रे चर्षौ** ।६।३।१३०। विश्वामित्रः ॥ (**शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः**) श्वादन्तः ॥ **प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि** ।८।४।५। एभ्यः परस्य वनस्य नस्य णत्वम् । प्रवणम् ॥ **विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः** ८।४।६। दूर्वावणम् , दूर्वावनम् । शिरीषवणम् , शिरीषवनम् । (**द्व्यच्त्र्यच्भ्यामेव**) । नेह–देवदारुवनम् । (**इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः**) इरिकावनम् । मिरिकावनम् । **वाहनमाहितात्** ।८।४।

इति कुत्वम् । निषाद इति । पुलिन्दो नाम मनुष्यजातिविशेषः । निषीदत्यस्मिन् पापमिति निषादः । 'षद्लृ' इत्यधिकरणे घञ् । दौवारिके प्रतीहारशब्दे दीर्घस्त्वप्रामाणिकः । यद्वा प्रतीहारो द्वारम् तत्सम्बन्धात् मनुष्ये गौणः । नरे संज्ञायाम् । विश्वस्य दीर्घ इति विशेषः । 'विश्वस्य वसुराटोः' इति पूर्वसूत्रात् विश्वस्येत्यनुवर्तते । मित्रे चर्षौ । मित्रशब्दे परे विश्वस्य दीर्घः स्यात् ऋषौ वाच्ये इत्यर्थः । शुनो दन्तेति । श्वन्शब्दस्य दन्तादिषु परतः दीर्घ इत्यर्थः । श्वादन्त इति । शुनो दन्त इति विग्रहः । श्वादंष्ट्रा । षष्ठीसमासः, दीर्घान्त एव दंष्ट्रा शब्दो वार्तिके पठ्यत इति केचित् । ह्रस्वान्त इत्यन्ये । श्वादंष्ट्रः बहुव्रीहिरयम् । श्वाकर्णः, श्वाकुन्दः, श्वावराहः, श्वापुच्छः, श्वापदः । प्रनिरन्तः । एभ्य इति । प्र, निर् , अन्तर् , शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा, इत्येतेभ्य इत्यर्थः । वनस्येति । 'वनं पुरगा' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । प्रवणमिति । प्रकृष्टं वनमिति विग्रहः । प्रादिसमासः । विभाषौषधि । ओषधिवनस्पतिभ्यः परस्य वनस्य यो नकारस्तस्य णत्वं वेत्यर्थः । ओषधिभ्य उदाहरति—दूर्वावणमिति । वनस्पतिभ्य उदाहरति–शिरीषवणमिति । देवदारुवनमिति । प्रत्युदाहरणम् । इरिकादिभ्य इति । एभ्यः परस्य वनस्य णत्वप्रतिषेध इत्यर्थः । वाहनमाहितात् । वाहने आहितसे वहना-

प्रकारसे दीर्घ हो वनन्त उत्तरपदके परे, मनुष्यवाच्यसे भिन्न अर्थमें । नरे संज्ञायाम्—विश्वको दीर्घ हो, नर उत्तरपदके परे, संज्ञामें । मित्रे चर्षौ—ऋषिकी संज्ञा वाच्य हो तो, विश्व शब्दको दीर्घ हो, मित्र उत्तरपदके परे ।

शुनो दन्त—श्वन् शब्दको दीर्घ हो, दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ और पद उत्तरपदके परे ।

प्रनिरन्तः—प्र, निर् , अन्तर् , शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर और पीयूक्षासे पर वनके नकारको णकार हो, असंज्ञामें ।

विभाषौषधि—ओषधि तथा वनस्पति वाचकसे पर वनके नकारको णत्व हो, विकल्पसे ।

द्व्यच्—द्व्यच्क या त्र्यच्क जो ओषधि और वनस्पति-वाचक शब्द, उनसे पर ही वनके नकारको णत्व हो । इरिकादिभ्यः—इरिकादिसे पर वनके नकारको णत्व नहीं हो ।

वाहन—आहित अर्थात् उठाकर जो ले जाया जावे, तद्वाची पूर्वपदमें स्थित रेफ या

८। आरोप्य यदुह्यते तद्वाचिस्थान्निमित्तादाहनकारस्य णत्वम् । इक्षुवाहणम् । आहितात्किम् ? इन्द्रवाहनम् ॥ **पानं देशे** ।८।४।९। पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य पानस्य नस्य णः । क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः । सुरापाणाः प्राच्याः ॥ **वा भावकरणयोः** ।८।४।१०। क्षीरपाणम्, क्षीरपानम् ॥ **प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च** ।८।४।११। पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा । प्रातिपदिकान्ते—माषवापिणौ । नुमि, व्रीहिवापेण । विभक्तौ—माषवापेण । पक्षे—माषवापिनावित्यादि ॥ **कुमति च** ।८।४।१३। कवर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत् । हरिकामिणौ । हरिकामाणि । हरिकामेण ॥ **पदव्यवायेऽपि** ।८।४।३८। णत्वं न । माषकुम्भवापेन ।

च यत् न तु स्वयमेवारोढुं शक्नोति तदाहितम् । तदाह—आरोप्येति । निमित्तादिति । रेफषकारान्यतरस्मादित्यर्थः । पानं देशे । पानमिति षष्ठ्यर्थे प्रथमेत्यभिप्रेत्याह—पानस्येति । उशीनरा इति । देशविशेषे बहुवचनान्तोऽयम् । वा भावकरणयोः । भावे करणे च यः पानशब्दः तस्य उक्तविषये णो वा स्यादित्यर्थः । आदेशार्थं वचनम् । क्षीरपाणम् । क्षीरपानमिति । क्षीरस्य पानमिति विग्रहः । भावे करणे वा ल्युट् । पानक्रिया, पानपात्रं चेत्यर्थः । प्रातिपदिकान्त इति । उदाहरणं वक्ष्यत इति शेषः । माषवापिणाविति । माषान् वपतः इति विग्रहः । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति ताच्छील्येऽपि सुप्युपपदे णिनिः । उपपदसमासः । वापिन् शब्दस्य कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् तदन्तनस्य णत्वमिति भावः । कुमति च । प्राग्वदिति । प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यादित्यर्थः । अनेकाजुत्तरपदार्थमिदम् । हरिकामिणाविति । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः, प्रातिपदिकान्तत्वाण्णत्वम् । हरिकामाणीति । अजन्तलक्षणनुमो नित्यं णत्वम् । हरिकामेणेति । विभक्तिस्थस्योदाहरणम् । माषकुम्भवापेनेति । माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, तस्य वापः । अत्र निमित्त

षकार निमित्तसे पर वाहनके नकारको णत्व हो । पानं देशे—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर पान के नकारको णत्व हो, देश अर्थ यदि गम्यमान रहे ।

वा भाव—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर ल्युडन्त भाव-करणवाची पान शब्दके नकारको णत्व हो, विकल्पसे । प्रातिपदि—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर प्रातिपदिकान्त नकार, नुमस्थ नकार और विभक्तिस्थ नकारको णत्व हो, विकल्पसे । कुमति च—कवर्गवत् (कवर्गादि) उत्तरपदके परे प्रातिपदिकान्त नकार, नुमस्थ नकार और विभक्तिस्थ नकारको णत्व हो ।

पदव्यवायेऽपि—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर पदान्तर व्यवधान रहने पर प्रातिपदिकान्त नकार, नुमस्थ नकार और विभक्तिस्थ नकारको णत्व नहीं हो ।

नोट—सूत्रमें 'अपि' का अर्थ है 'सति' अर्थात् 'पदव्यवाये सति' ।

(अतद्धित इति वक्तव्यम्)। आर्द्रगोमयेण। शुष्कगोमयेण॥ पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्।६।१।१५७। एतानि ससुट्कानि निपात्यन्ते। पारस्करः। किष्किन्धा॥ (तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च)। तात्पूर्वं चत्वेन दकारोऽपि बोध्यः। तद्बृहतोर्दकारतकारौ लुप्येते, करपत्योस्तु सुट्। चोरदेवतयोरिति समुदायोपाधिः। तस्करः। बृहस्पतिः॥ (प्रायस्य चित्तिचित्तयोः)। प्रायश्चित्तिः। प्रायश्चित्तम्। वनस्पतिरित्यादि। आकृतिगणोऽयम्।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम्।



कार्यिणोः षकारनकारयोः कुम्भपदेन व्यवधानात् न णत्वम्। शुष्कगोमयेणेति। चात्वरस्योदाहरणम्। पारस्करप्रभृतीनि च। पारस्कर इति। पारं करोतीति विग्रहः। कृञो हेत्विति टः। किष्किन्धेति। किं किमपि वानरसैन्यं धत्ते इति किष्किन्धा। 'आतोऽनुपसर्गे कः'। टाप्, निपातनात् किमो द्वित्वम्। मलोपः सुट् षत्वं च। रूढशब्दा एते कथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते। एषामवयवार्थो न विचारणीयः। तद्बृहतोरिति। पारस्करादिगणसूत्रमेतत्। तद्शब्दे तकारस्यान्त्यस्याभावादाह—तात्पूर्वमपि। तलोपश्चेत्यत्र तकारात्पूर्वमित्यर्थः। तत् चौर्यं करोतीति विग्रहः। बृहस्पतिरिति। बृहती वाक् तस्याः पतिः इति विग्रहः। कुक्कुट्यादीनामण्डादिष्विति पुंवत्त्वम्। तलोपः सुट्। 'वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः' इति छान्दोग्यब्राह्मणात्। प्रायस्य चित्तिचित्तयोरिति। गणसूत्रमिदम्। प्रायस्य चित्तिः चित्तं वेति विग्रहः। 'प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्।' इति स्मृतिः। वनस्पतिरिति। वनस्य पतिरिति विग्रहः। आकृतिगणोऽयमिति। तेन शतात्पराणि परश्शतानीत्यादि सिद्धम्। इति समासाश्रयविधिप्रकरणम्।



अतद्धिते—व्यवधायक पदसे पर तद्धित (प्रत्यय) रहनेसे णत्वका निषेध नहीं हो। अर्थात् तद्धितके परे णत्व होता ही है। पारस्कर—पारस्कर प्रभृति सुट्सहित निपातन हो, संज्ञामें।

तद्बृहतोः—कर तथा पति उत्तरपदके 'तद्' के दकारका और 'बृहत्' के तकारका लोप हो तथा कर और पतिको सुट् हो, समुदायसे यदि चोर और देवता अर्थ गम्यमान रहे।

प्रायस्य—'प्राय' से पर चित्ति और चित्तको सुट् का आगम हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें समासाश्रय प्रकरण समाप्त हुआ।



तद्धितप्रकरणम्

अथापत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः

समर्थानां प्रथमाद्वा ।४।१।८२। इदं पदत्रयमधिक्रियते, प्राग्दिश इति यावत् ॥ **प्राग्दीव्यतोऽण् ।४।१।८३।** तेन दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते ॥ **अश्वपत्यादिभ्यश्च ।४।१।८४।** एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम् । गाणपतम् । **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ।४।१।८५।** प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । दितेरपत्यादि दैत्य । अदितेरादित्यस्य वा आदित्य ॥ **(यणो मयो द्वे वाच्ये ।)** मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीति पक्षे यस्य द्वित्वम् ॥ **हलो यमां यमि लोपः ।८।४।६४।** वा स्यात् । इत्यसति लोपे द्वित्वे च सति त्रियं रूपम् । असति लोपे द्वित्वलोपयोर्वा द्वियम् । द्वित्वाभावे लोपे च सति एकयम् ।

प्राग्दीव्यतोऽण् । 'तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम्' इति सूत्रस्थदीव्यतिशब्दैकदेशस्यानुकरणमिह दीव्यच्छब्दः । तेन च तदादि तत्सूत्रं लक्ष्यते । तदाह—तेन दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते इति । तथा च तस्यापत्यमित्याद्युत्तरसूत्रेषु केवलमर्थनिर्देशपरेषु विधेयप्रत्ययविशेषाकांक्षायां किं भवतीत्याकाङ्क्षायामणित्युपतिष्ठत इति लभ्यते । कस्माद्भवतीत्याकाङ्क्षायां 'समर्थात्प्रथमात्' इति प्रकृतिविशेषो लभ्यते । यत्र तु विधेय प्रत्ययविशेषः श्रूयते तत्राणिति नोपतिष्ठते, अणित्यस्यौत्सर्गिकतया वैशेषिकेण इञादिना बाधात् । आश्वपतम् । 'अश्वपतेरपत्यम्' इत्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यपत्यार्थे 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' इति अणि, 'अश्वपति ङस् अण्' इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, णलोपे, 'यचि भम्' इति भत्वे, 'यस्येति च' इति इकारलोपे, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ कृतायाम्, 'आश्वपत' इति जाते, तत सौ, सोरमि, पूर्वरूपे च 'आश्वपतम्' इति सिद्धम् । आदित्य इति । अदितिशब्दात् जातापत्य 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्ये प्रत्यये, णलोपे आदिवृद्धौ, 'यस्येति च' इति

समर्थानां—'प्राग्दिशो विभक्तिः' इस सूत्र पर्यन्त 'समर्थानां, प्रथमात्, वा, इन तीनों पदोंका अधिकार है। प्राग्दीव्यतोऽण्—'तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम्' इस सूत्र तक 'अण्' का अधिकार है। अश्वपत्यादि—अश्वपत्यादिसे 'अण्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय (अपत्य, देवता, भव, जात आदि) अर्थोंमें, विकल्पसे। दित्यदित्या—दित्यादि और पत्युत्तरपदसे 'ण्य' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें, विकल्पसे। यणो मयो—मय्‌से पर यण् और मयसे पर यण्‌को द्वित्व हो। हलो यमां—हल्‌से पर यम् का लोप हो, यम्‌के परे, विकल्पसे।

प्राजापत्यः ॥ (देवाद्यञञौ)। दैव्यम्, दैवम् ॥ (वहिषष्टिलोपो यञ्च)। वाह्यः ॥ (ईकक् च)॥ किति च ।७।२।११८। किति तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः। वाहीकः ॥ (गोरजादिप्रसङ्गे यत्)। गोरपत्यादि गव्यम् ॥ उत्सादिभ्योऽञ् ।४।१।८६। औत्सः ॥ इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ॥

अथापत्याधिकारप्रकरणम्

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ।४।१।८७। धान्यानां भवन इत्यतः प्रागर्थेष्वाभ्यामेतौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः ॥ **तस्यापत्यम्** ।४।१।९२। षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः

इकारलोपे, ततः सौ 'आदित्या' इति रूपम्। आदित्यशब्दात् ण्ये, आदिवृद्धौ, 'यस्येति च' इति अलोपे, 'हलो यमां यमि लोपः' इति यकारस्य लोपे विभक्तिकार्ये च 'आदित्यः' इति रूपम्। इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः।

स्त्रैणः। स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः इत्यादिविग्रहः। स्त्री ङस् इत्यस्मात् 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति नञि, सुपो लुकि, णत्वे, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ, 'अट्कुप्वाङ्नुम्' इति णत्वे विभक्तिकार्ये च 'स्त्रैणः' इति रूपम्। पौंस्नः। पुंसोऽपत्यम्, पुंसि भवः, पुंसां समूहः, इत्यादिविग्रहः। पुम्स्शब्दात् स्नञि, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात्संयोगान्तलोपः,

---

देवाद्यञ्—देव शब्दसे 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें, विकल्पसे।

वहिषष्टि—वहिष् शब्दसे 'यञ्' प्रत्यय और वहिष्की टिका लोप भी हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें विकल्पसे। ईकक् च—वहिष् शब्दसे ईकक् प्रत्यय भी हो। किति च—अचोंके मध्यमें आदि अच्को वृद्धि हो, कित् तद्धितके परे। गोरजादि—गो शब्दसे अजादि प्रत्ययके प्रसङ्गमें 'यत्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें।

उत्सादिभ्यो—उत्सादिसे 'अञ्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अपत्यादिविकारान्तार्थसाधारण प्रत्यय समाप्त हुआ।

स्त्रीपुंसा—'धान्यानां भवने क्षेत्रे' इससे पूर्व अर्थोंमें स्त्री शब्दसे नञ् प्रत्यय और पुंस् शब्दसे स्नञ् प्रत्यय हो, विकल्पसे।

तस्यापत्यम्—षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ सुबन्तसे अपत्य अर्थमें उक्त (अण्-ण्य-नञ्-स्नञ् आदि) प्रत्यय तथा वक्ष्यमाण (इञादि) प्रत्यय हों, विकल्पसे।

समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ॥ **ओर्गुणः** ।६।४।१४६। उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । ओरोदिति वक्तव्ये गुणोक्तिः 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति ज्ञापयितुम् । तेन स्वायम्भुवमित्यादि सिद्धम् । उपगोरपत्यम्-औपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः ॥ **अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्** ।४।१।१६२। अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ॥ **एको गोत्रे** ।४।१।९३। गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम्-औपगवः ॥ **गर्गादिभ्यो यञ्** ।४।१।१०५। गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं-गार्ग्यः । वात्स्यः ॥ **यञञोश्च** ।२।४।६४। गोत्रे यद्यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ॥ **गोत्रेऽलुगचि** ।४।१।८९। अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात् । गर्गाणां छात्राः । वक्ष्य

आदिवृद्धिः । स्त्रैण । पौंस्न इति । स्त्रिया अपत्यं, पुंसोऽपत्यमिति विग्रहः । 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति नञ् स्नञौ, अणोऽपवादः । अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् । पौत्रप्रभृति अपत्यं गोत्रसंज्ञकमित्यर्थः । पौत्रप्रभृतिषु साक्षादपत्यत्वाभावादाह—अपत्यत्वेन विवक्षितमिति । एको गोत्रे । पौत्रादौ प्रत्येकपुरुषं अपत्यार्थमपत्यक्रमे सन्ताने एकोनशतप्रत्ययानामापत्तिरतो नियमार्थं सूत्रम् । तदाह—एक एव अपत्यप्रत्यय इति । एकोनशतं प्रत्यया नेष्टाः, किन्त्वेक एव प्रत्यय इष्ट इति भावः । गोत्रेऽलुगचि । अलुगिति च्छेदः । प्राग्दीव्यत इत्यनुवृत्ते। प्रत्ययाधिकाराच्च प्राग्दीव्यतीये प्रत्यये इति लभ्यते । अचीति तद्विशेषणं तदादिविधिः । विषयसप्तमीयं न तु परसप्तमी । तदाह—अजादावित्यादिना । गोत्रप्रत्ययस्येति । गोत्रार्थप्रत्ययस्येत्यर्थः । लुक् प्रत्ययादर्शनात् प्रत्ययस्येति लभ्यते । गर्गाणां छात्रा इति । वक्ष्यमाणोदाहरणविग्रहप्रदर्शनमिदम् । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । गर्गादिभ्यो यञ् । गर्गस्य गोत्रापत्यानीति बहुत्वविवक्षायां यञि कृते तस्य 'यञञोश्च' इति लुकि गर्गा इति भवति ।

ओर्गुणः—उवर्णान्त भसंज्ञकको गुण हो, तद्धितके परे । **अपत्यं पौत्र**—अपत्यत्वेन विवक्षित जो पौत्र, प्रपौत्रादि, वे गोत्रसंज्ञक हों ।

एको गोत्रे—गोत्रमें एक ही प्रत्यय हो । अर्थात् गोत्रमें—पुत्रका पुत्र, उसका पुत्र इत्यादि परम्परासे अनेक अपत्य प्रत्यय नहीं होते हैं ।

गर्गादिभ्यो—षष्ठ्यन्त गर्गादि समर्थसे यञ् प्रत्यय हो, गोत्रापत्य अर्थमें ।

यञञोश्च—यञन्त और अञन्तका अवयव जो 'यञ्' और 'अञ्' उसका लुक् हो, गोत्र प्रत्ययकृत बहुत्व रहनेपर । परन्तु स्त्रीलिंगमें लुक् नहीं हो । **गोत्रेऽलुगचि**—अजादि

माणो वृद्धाच्छ ॥ **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ॥६।४।१५१॥** हलः परस्यापत्य-यस्य लोपस्तद्धिते, नत्वाकारे । गार्गीयाः । अनाति किम् ? गार्ग्यायणः । प्राग्दीव्यतीये किम् ? गर्गेभ्यो हितं गर्गीयम् । अचि किम् ? गर्गेभ्य आगतं गर्गरूप्यम् ॥ **जीवति तु वंश्ये युवा ।४।१।१६३।** वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यान्न तु गोत्रसंज्ञम् ॥ **गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ।४।१।९४।** यून्यपत्ये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ॥ **यञिञोश्च ।४।१।१०१।** गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात्फक् ॥ **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ।७।१।२।** प्रत्ययादेः फस्य आयन् ढस्य एय् खस्य ईन् छस्य ईय् घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः ॥ **अत इञ् ।४।१।९५।** अप-

---

वृद्धाच्छ इति । गार्ग्यशब्दाद्युक्तेऽर्थे छ प्रत्यय इत्यर्थः । छस्य ईयादेशः तस्मिन् भविष्यति अजादौ परे 'यञञोश्च' इति प्राप्तो लुङ् न भवति । तथा गार्ग्य ईय इति स्थिते 'यस्येति च' इति यञोऽकारस्य लोपे गार्ग्य् ईय इति स्थिते परिशिष्टस्य यञो यकारस्य लोपमाह—आपत्यस्य च । अनातीत्यिच्छेदः । 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते । 'सूर्यतिष्य' इत्यतो य इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । 'हलस्तद्धितस्य' इत्यतो हल इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह—हलः परस्यापत्यस्येति । अपत्यार्थकयकारस्येत्यर्थः । यञो लुकि तु आदिवृद्धिर्न स्यादिति भावः । गर्गीयमिति । 'तस्मै हितम्' इति गार्ग्यशब्दाच्छः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वाभावात् तस्मिन् परे 'यञञोश्च' इति यञो लुक्यत्येवेति नादिवृद्धिरिति भावः । गर्गरूप्यमिति । 'हेतुमनुष्येभ्यः' इति रूप्यप्रत्ययः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वेऽप्यजादित्वाभावात्तस्मिन् परे यञोऽलुग् न । गार्ग्यायणः । गर्गस्य युवापत्यं, गार्ग्यस्य गोत्रापत्यस्यापत्यं 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति युवसंज्ञायां 'यञिञोश्च' इति यञन्तात् गार्ग्यशब्दात्फकि, फलोपे, 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' इति फस्य स्थाने आयनि कृते, 'गार्ग्य आयन् अ' इति जाते, 'यचि भम्' इति भत्वे, 'यस्येति च' इति यकारोत्तरवर्त्यकारलोपे संयोगे, 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे, विभक्तिकार्ये च

प्राग्दीव्यतीयकी विवक्षामें गोत्र प्रत्ययका अलुक् हो । आपत्यस्य च—हल्से पर अपत्यार्थक यकारका लोप हो, आकार-भिन्न तद्धित प्रत्ययके परे । जीवति तु—वंशमें पिता आदिके जीवित रहने पर पौत्र आदिका अपत्य जो चतुर्थ (प्रपौत्र) आदि, उसकी युवसंज्ञा ही हो-गोत्रसंज्ञा नहीं हो । गोत्राद्यून्य—युवा अपत्य विवक्षित होनेपर गोत्रप्रत्ययान्तसे ही प्रत्यय हो और स्त्रीलिंगमें युवसंज्ञा नहीं हो । यञिञोश्च—गोत्रमें जो यञ् और इञ्, तदन्तसे फक् प्रत्यय हो । आयनेयी—प्रत्ययके आदिभूत 'फ' आदिको यथाक्रमसे आयन् आदि आदेश हों । अत इञ्—अदन्त प्रातिपदिकसे इञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

त्येऽर्थे । दाक्षिः ॥ **बाह्वादिभ्यश्च** ।४।१।९६। बाहवि । औडुलोमि । औडुलोमी ॥ **(लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः)** । बाह्वादेरपवादः । उडुलोमा । आकृतिगणोऽयम् ॥ **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** ।४।१।१०४। ये त्वयानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । बिदस्य गोत्रं बैदः । बैदौ । बिदाः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । पौत्रौ । यस्त्वोघेति सूत्रे प्रवराध्यायप्रसिद्धं गोत्रं, तेनेह न,-पौत्राः । एवं दौहित्रादयः । **शिवादिभ्योऽण्** ।४।१।११२। अपत्ये,-शैवः । गाङ्गः ॥ **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** ।४।१।११४। ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः ॥ **मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः** ।४।१।११५। संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । भाद्रमातुरः ॥ **स्त्रीभ्यो ढक्** ।४।१।१२०।

कृते 'गार्ग्यायण' इति रूपम् । उडुलोमा । उडुलोम्नोऽपत्यानि पुमांस इति विग्रहः । अत्र उडुलोमन् शब्दात् बहुत्वे 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः' इति अप्रत्यये, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । अनृष्यानन्तर्ये । अनृषीति लुप्तपञ्चमीकम् । 'बिदादिभ्योऽञ्' इति द्विरावर्तते । तथा च 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' इति कृत्स्नमेकं वाक्यम् । 'बिदादिभ्योऽञ्' इति वाक्यान्तरम् । तत्र द्वितीयं वाक्यं व्याचष्टे—अन्यत्र तु गोत्रे इति । गोत्रे विवक्षिते बिदादिभ्योऽञ् स्यादित्यर्थः । अत्र प्रथमं वाक्यं कृत्स्नसूत्रं व्याचष्टे—ये त्विति । अनृषिभ्यो बिदादिभ्यः अनन्तरापत्ये अञ् स्यादित्यर्थः । बिदादौ हि ऋषयः अनृषयश्च पठिताः । तत्र ये अनृषयः तेभ्योऽनन्तरापत्ये अञिति फलितमिति भावः । बैदः । बिदस्य गोत्रापत्यम् बैदः इत्यत्र 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' इत्यञि, भत्वे, अकारलोपे, आदचो वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च कृते 'बैदः' इति । एवमेव पुत्रस्यापत्यम् 'पौत्रः' । दुहितुरपत्यम् 'दौहित्रः' इत्यादौ बिदादिभ्योऽञ् बोध्यः । द्वैमातुरः । द्वयोर्मात्रोरपत्यम् 'द्वैमातुरः' इत्यत्र 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे सुपो लुकि, 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' इति मातुरुदादेशे अणि च 'द्वि मातुर् अ' इति जाते 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादचो वृद्धौ सयोगे विभक्तिकार्ये च कृते 'द्वैमा-

---

बाह्वादिभ्यश्च—बाह्वादिसे इञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । लोम्नोऽपत्ये—लोमन् शब्दसे बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थमें अकार प्रत्यय हो । अनृष्यानन्तर्ये—बिदादि गणपठित ऋषियोंसे गोत्र अर्थमें और ऋषि भिन्नोंसे अपत्य अर्थमें अञ् प्रत्यय हो ।

शिवादिभ्यो—शिवादिसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । ऋष्यन्धक—ऋष्यादिसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । मातुरुत्—संख्यादिपूर्वक मातृ शब्दको उत्र आदेश हो, और अण् प्रत्यय भी हो । स्त्रीभ्यो ढक्—स्त्रीप्रत्ययान्तसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक्। वैनतेयः ॥ **कन्यायाः कनीन च** ।४।१।११६। चादञ्। कानीनो व्यासः, कर्णश्च ॥ **राजश्वशुराद्यत्** ।४।१।१३७। (राज्ञो जातावेव) ॥ **ये चाभावकर्मणोः** ।६।४।१६८। यादौ तद्धिते अन् प्रकृत्या स्यान्न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। श्वशुर्यः। जातावेवेति किम्? ॥ **अन्** ।६।४।१६७। प्रकृत्याऽणि परे। राजनः ॥ **क्षत्राद्घः** ।४।१।१३८। क्षत्रियः। जातावित्येव। क्षात्रिरन्यः ॥ **रेवत्यादिभ्यष्ठक्** ।४।१।१४६। **ठस्येकः** ।७।३।५०। अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः। रैवतिकः ॥ **गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्** ।४।१।९८। **व्रातच्फञोरस्त्रियाम्** ।५।३।११३। व्रातवाचिभ्यश्च्फञन्तेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यप्रत्ययः स्यात्। कौञ्जायन्यः। कौञ्जायन्यौ। बहुत्वे लुग्वक्ष्यते। व्राध्नायन्यः ॥ **नडादिभ्यः फक्** ।४।१।९९।

तुरः' इति सिद्धम्। कानीनः। कन्यायाः अपत्यम् 'कानीनः' इत्यत्र 'कन्यायाः कनीन च' इति अण्प्रत्यये कन्यास्थाने कनीनादेशे, भत्वे 'यस्येति च' इत्यलोपे, आद्यचो वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'कानीनः' इति रूपम्। गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्। स्पष्टम्। इञोपवादः। च्फञि चञावितौ। व्रातच्फञोः। व्राताश्च च्फञ्च इति इन्द्वाद्वयस्ययेन पञ्चम्यर्थे षष्ठी। तदाह—व्रातवाचिभ्य इति। स्वार्थे ञ्यः स्यादिति। 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' इत्यतः ञ्यः इत्यनुवर्त्तते। स च स्वार्थिकः, 'ञ्यादयः प्राग्वुनः' इति स्वार्थिकेषु परिगणनादिति भावः। कौञ्जायन्य इति। कुञ्जस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः, च्फञि चञावितौ आयन्नादेशः, आदिवृद्धिः, ततो ञ्यः, अकार इति 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। व्राध्नायन्य इति। ब्रध्नस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः। च्फञादि पूर्ववत्। नडादिभ्यः फक्। इञोऽपवादः। आश्वायन इति। अश्वस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः। इञपवादः फण्। इतश्चानिञः। अस्त्रीप्रत्ययान्ता-

---

कन्यायाः—कन्या शब्दको कनीन आदेश हो और चकारात् अण् प्रत्यय भी हो, अपत्य अर्थमें। राजश्वशु—राजन् शब्द और श्वशुर शब्दसे यत् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें।

राज्ञो जाता—जातिवाच्य होने पर ही राजन् शब्दसे यत् प्रत्यय हो।

ये चाभाव—यकारादि तद्धितके परे 'अन्' प्रकृतिवत् हो, किन्तु भाव और कर्मार्थक प्रत्ययके परे नहीं हो। अन्—अण् प्रत्ययके परे अन् प्रकृतिवत् हो। क्षत्राद्—क्षत्र शब्दसे 'घ' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें—समुदायसे जाति यदि गम्यमान रहे। रेवत्यादिभ्यः—रेवत्यादिसे 'ठक्' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। ठस्येकः—अङ्गसे पर 'ठ' को 'इक्' आदेश हो।

गोत्रे—गोत्र अर्थमें कुञ्जादिसे 'च्फञ्' प्रत्यय हो। व्रातच्फञो—व्रातवाचीसे और च्फञन्तसे स्वार्थमें 'ञ्य' प्रत्यय हो। नडादिभ्यः—नडादिसे फक् प्रत्यय हो, गोत्र

गोत्र इत्येव। नाडायनः। चारायणः। अनन्तरो नाडिः॥ **अश्वादिभ्यः फञ्** ।४।१।११०। गोत्रे। आश्वायनः॥ **इतश्चानिञः** ।४।१।१२२। इकारान्ताद् द्व्यचोऽपत्ये ढक्, न त्विञन्तात्। दौलेयः। नैधेयः। आत्रेयः। आत्रेयौ॥ **अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च** ।२।४।६५। एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। अत्रयः। भृगवः। कुत्साः। वसिष्ठाः। गोतमाः। अङ्गिरसः। **शुभ्रादिभ्यश्च** ।४।१।१२३। शौभ्रेयः॥ **कल्याण्यादीनामिनङ्** ।४।१।१२६। एषामिनङ् स्यात्, ढक् च। काल्याणिनेयः। बान्धकिनेयः॥ **कुलटाया वा** ।४।१।१२७। इनङ्मात्रं विकल्प्यते, ढक् तु नित्यं पूर्वेणैव। कौलटेयः, कौलटिनेयः। सती भिक्षुक्यत्र कुलटा॥ **चटकाया ऐरक्** ।४।१।१२८। (**चटकादिति वाच्यम्**)। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिध्यति। चटकस्य

र्थमिदम्। लुकि निषिद्धे कृतिरत्। आत्रेय इति। अत्रि प्रसिद्ध। परत्वाद्‌ग्रहणमपि बाधत इति भावः। अत्रिभृगु०। पूर्वसूत्राद्गोत्र इति, तत्र यदनुवृत्तं तच्च सर्वमिहानुवर्तते। तदाह—एभ्यो गोत्रेति। अत्रेः, भृगोः, कुत्सस्य, वसिष्ठस्य, गोतमस्य, अङ्गिरसश्च अपत्यानि पुमांस इति विग्रहः। तत्र अत्रेः 'इतश्चानिञः' इति ढकोऽनेन लुक्। इतरेभ्यस्तु ऋष्यण् इति बोध्यम्। लुकि आदिवृद्धेर्निवृत्तिः। कल्याण्यादीनामिति। इनङि ङकार इत्। काल्याणिनेय इति। कल्याण्या अपत्यमिति विग्रहः। बान्धकिनेय इति। बन्धक्या अपत्यमिति विग्रहः। अत्र गणे स्त्रीप्रत्ययान्ता एव पठ्यन्ते। तेभ्यो ढक् सिद्ध एव। इनङेव तु विधीयते। कुलटाया वा। इनङ्मात्रमिति। व्याख्यानादिति भावः। पूर्वेणेवेति। 'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्यनेनेत्यर्थः। कुलानि गृहाणि अटतीति कुलटा। शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्। चटकाया ऐरक्। चटकाशब्दादपत्ये ऐरक् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। चटकादिति वाच्यम्। सूत्रे चटकाया इत्यपनीय चटकादिति वाच्यमित्यर्थः।

अर्थमें। अश्वादिभ्य—अश्वादिसे फञ् प्रत्यय हो, गोत्र अर्थमें। इतश्चानिञ—इञन्तसे भिन्न इकारान्त द्व्यच्कसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। अत्रिभृगु—अत्रि, भृगु आदिसे पर गोत्र प्रत्ययकृत बहुत्व हो तो गोत्र प्रत्ययका लुक् हो, स्त्रीलिङ्गमें छोड़कर।

शुभ्रादिभ्यश्च—शुभ्रादिसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। कल्याण्या—कल्याण्यादिके अन्तको इनङ् आदेश हो और ढक् प्रत्यय भी हो, अपत्य अर्थमें। कुलटाया वा—कुलटा शब्दको विकल्पसे इनङ् आदेश हो और पूर्वसूत्र अर्थात् 'स्त्रीभ्यो ढक्' से नित्य ढक् प्रत्यय भी हो, अपत्य अर्थमें। चटकायाः—चटका शब्दसे ऐरक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें।

चटकात्—चटक शब्दसे ऐरक् प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये। क्योंकि 'लिङ्गविशिष्ट' परिभाषासे 'चटका' शब्दका भी ग्रहण हो ही जायगा।

चटकाया वा अपत्यं—चाटकैरः ॥ (स्त्रियामपत्ये लुग् वक्तव्यः)। तयोरेव स्त्र्यपत्यं = चटका ॥ गोधाया ढ्रक् ।४।१।१२९। गौधेरः । शुभ्रादित्वाड्ढक् । गौधेयः ॥ क्षुद्राभ्यो वा ।४।१।१३१। अङ्गहीनाः शीलहीनाश्च क्षुद्राः, ताभ्यो ढ्रक् वा । पक्षे—ढक् । काणेरः, काणेयः । दासेरः, दासेयः ॥ पितृष्वसुश्छण् ।४।१।१३२। अणोऽपवादः । पैतृष्वस्रीयः ॥ ढकि लोपः ।४।१।१३३। अत एव ज्ञापकाड्ढक् । पैतृष्वसेयः । मातृष्वसुश्च ।४।१।१३४। पितृष्वसुर्यदुक्तं तदस्यापि स्यात् । मातृष्वस्रीयः, मातृष्वसेयः ॥ कुलात्खः ।४।१।१३९। कुलीनः । तदन्तादपि, उत्तरसूत्रे अपूर्वपदादिति लिङ्गात् । आढ्यकुलीनः ॥ अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ ।४।१।१४०। कुलादित्येव । पक्षे—खः । कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः । महाकुलादञ्खञौ ।४।१।१४१। माहाकुलः, माहाकुलीनः, महाकुलीनः ॥ दुष्कुलाड्ढक् ।४।१।१४२। वा । पक्षे—खः । दौष्कुलेयः,

---

तयोरिति । चटकस्य चटकायाश्चेत्यर्थः । गोधाया ढ्रक् । गौधेर इति । गोधाया अपत्यमिति विग्रहः । ढ्रकि ढकारस्य एयादेशे 'लोपो व्योः' इति यलोपः, कित्वादादिवृद्धिरिति भावः । क्षुद्राभ्यो वा । अङ्गहीना इति । चक्षुरादिकतिपयावयवविकला इत्यर्थः । शीलहीना इति । सद्वृत्तहीना इत्यर्थः । यथेष्टपुरुषसञ्चारिण्य इति यावत् । पितृष्वसुश्छण् । पैतृष्वस्रीय इति । पितृष्वसुरपत्यमिति विग्रहः । छस्य ईयादेशे आदिवृद्धिः । सकारादृकारस्य यण् । ढकि लोपः । पितृष्वसुरित्यनुवर्तते अलोऽन्त्यपरिभाषया अन्त्यस्य लोपः । कुलात्खः । अपत्ये इति शेषः । कुलीन इति । खस्य ईनादेशः । तदन्तादपीति । आढ्यकुलीन इति । आढ्यकुलशब्दात् कर्मधारयात्खः । कुले आढ्यत्वप्रतीतिरत्र फलम् । कुलीनशब्देन कर्मधारये तु तदप्रतीतिरिति भेदः । अपूर्वपदादन्यतरस्याम् । कुलादित्येवेति । पूर्वपदरहितात् कुलादपत्ये यड्ढकञौ वा स्त इत्यर्थः । पक्षे ख इति । यड्ढकञोरभावपक्षे इत्यर्थः । दुष्कुलाड्ढक् । अन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः । पक्षे ख इति । तथा च इति आदिवृद्धि-

---

स्त्रियामपत्ये—स्त्री अपत्यमें एरक्का लुक् हो । गोधायाः—गोधासे अपत्य अर्थमें ढ्रक् प्रत्यय हो । क्षुद्राभ्यो—क्षुद्राओंसे अपत्य अर्थमें ढक् प्रत्यय हो, विकल्पसे । पितृष्वसु—पितृष्वसृ शब्दसे अपत्य अर्थमें छण् प्रत्यय हो । ढकि लोपः—पितृष्वसृ शब्दके अन्त्यका लोप हो, प्रत्ययके परे । मातृष्वसुश्च—'पितृष्वसृ' शब्दसे जो २ कार्य विधान किये गये हैं, वे सब कार्य 'मातृष्वसृ' शब्दसे भी हों । कुलात्खः—कुलसे तथा कुलान्त शब्दसे भी ख प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । अपूर्वपदा—पूर्वपदरहित कुल शब्दसे अपत्यार्थमें यत् और ढकञ् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

महाकुला—महाकुल शब्दसे अञ् और खञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें विकल्प से ।

दुष्कुलात्—दुष्कुल शब्दसे अपत्य अर्थमें ढक् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

ढुक्छीन ॥ स्वसुश्छः ।४।१।१४३। स्वस्रीयः ॥ भ्रातुर्व्यच्च ।४।१।१४४। चाच्छः । भ्रातृव्यः, भ्रात्रीयः । मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ।४।१।१६१। समुदायार्थौ जातिः । मानुषः, मनुष्यः ॥ (तक्षणोऽण उपसंख्यानम्) ॥ षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि ।६।४।१३५। एषामपि तद्धितेऽणोऽकारलोपः ॥ ताक्ष्णः ॥ तिकादिभ्यः फिञ् ।४।१।१५४। तैकायनिः ॥ वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् ।१।१।७३। यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद्वृद्धसंज्ञं स्यात् ॥ उदीचां वृद्धादगोत्रात् ।४।१।१५७। आम्रगुप्तायनिः । प्राचां तु—आम्रगुप्तिः ॥ प्राचामवृद्धात्फिन्बहुलम् ।४।१।१६०। ग्लुचुकायनिः ॥ जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् ।४।१।१६८। जनपदक्षत्रिययोर्वाचकादञ् अपत्ये । पाञ्चालः ॥ (क्षत्रियसमान

न्तेति भावः । भ्रातुर्व्यच्च । चकारः 'छिस्त्वरितम्' इति स्वार्थं इति बोध्यम् । मनोर्जातौ । मनुशब्दस्य अञ् यत् एतौ प्रत्ययौ स्तस्तयोः परयोः मनुशब्दस्य षुगागमश्च प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन जातौ गम्यायामित्यर्थः । तदाह—समुदायार्थौ जातिरिति । जात्यपत्यत्र इत्यत्र इति भावः । अन्यथा मानुषा इत्यत्र 'यञञोश्च' इति लुक् स्यादिति बोध्यम् । तैकायनिरिति । फिञि आयन्नादेशः । वृद्धिर्यस्य । आचामिति बहुत्वमनेकाचोपलक्षणम्, तेन शालाशब्दस्यापि वृद्धत्वं सिध्यति । व्यपदेशिवद्भावेन आम्रस्यापि वृद्धत्वम् । उदीचां वृद्धादगोत्रात् । वृद्धसंज्ञकात् अगोत्रप्रत्ययान्तात्फिञ् स्यात् उदीचां मते इत्यर्थः । प्राचामवृद्धात् । अवृद्धसंज्ञकात् अपत्ये बहुलं फिन् स्यादित्यर्थः । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । ग्लुचुकायनिरिति । ग्लुचुकस्यापत्यमिति विग्रहः । अवृद्धात्किम् ?

स्वसुश्छः—स्वसृ शब्दसे छ प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

भ्रातुर्व्यच्च—भ्रातृ शब्दसे व्यत् प्रत्यय हो, और चकारात् छ प्रत्यय भी हो अपत्य अर्थमें ।

मनोर्जातौ—मनु शब्दसे अञ् प्रत्यय तथा यत् प्रत्यय हो और सन्नियोगशिष्टेन मनुको षुक्का आगम भी हो, समुदायसे यदि जाति वाच्य रहे । तक्षणोऽण्—तक्षन् शब्दसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । षपूर्वहन्—षकारपूर्वक अन्, हन् और धृतराजन् सम्बन्धी भसंज्ञक अन्के अकारका लोप हो, अण्के परे । तिकादिभ्य—तिकादिसे फिञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । वृद्धिर्यस्य—जिस 'अच्' समुदायके अचोंके मध्यमें आदि (अच्) की वृद्धि हो, उस समुदायकी वृद्धसंज्ञा हो । उदीचां—गोत्रसे भिन्न वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकसे अपत्य अर्थमें फिञ् प्रत्यय हो, उदीच्य आचार्योंके मतसे । प्राचाम्—वृद्ध संज्ञकसे भिन्न प्रातिपदिकसे अपत्य अर्थमें बहुल प्रकारसे फिन् प्रत्यय हो, प्राचीन आचार्योंके मतसे । जनपद—जनपद (देश) वाचक 'जनपद' शब्दके समान जो क्षत्रियवाचक शब्द, उनसे अञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । ('पञ्चाल' देशका तथा राजाका भी नाम है)

क्षत्रियसमान—क्षत्रिय-समान वाचक जो जनपद शब्द, उसके राजामें अपत्यवत्

शब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्)। पञ्चालानां राजा पाञ्चालः॥ (पूरोरण् वक्तव्यः)। पौरवः। द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ।४।१।१७०। द्व्यच्। आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। (पाण्डोर्ड्यण्) पाण्ड्यः॥ वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् ।४।१।१७१। वृद्धात्,—आम्बष्ठ्यः। इत्,—आवन्त्यः। कौसल्यः। अजादस्यापत्यम् आजाद्यः॥ कुरुनादिभ्यो ण्यः ।४।१।१७२। कौरव्यः। नैषध्यः॥ ते तद्राजाः ।४।१।१७४। अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः॥ तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्। २।४।६२। बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् तत्कृते, बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। पञ्चाला इत्यादि॥ कम्बोजाल्लुक् ।४।१।१७५। तद्राजस्य। कम्बोजः। कम्बोजौ। (कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्)। चोलः। शकः। केरलः। यवनः॥ अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ।४।१।७८। ञ्यादीनामन्त्यमुत्तमं, तस्य

राजदन्तिः। द्व्यज्मगधकलिङ्ग। अञोऽपवाद इति। 'जनपदशब्दा'दिति विहितस्याञोऽपवाद इत्यर्थः। द्व्यचिति। उदाह्रियते इति शेषः। अङ्ग वङ्ग सुह्म इत्येते द्व्यचः देशक्षत्रियवाचिनः। अङ्गस्यापत्यमिति विग्रहः। पाण्डोर्ड्यणिति। वार्त्त इति शेषः। इह श्वेतगुणवाचिनो युधिष्ठिरपितृवाचिनश्च पाण्डोर्न ग्रहणम्। जनपदाधिकारात्, तस्य च पाण्डुदेशाधिपतिराजत्वाभावात्। पाण्ड्य इति। पाण्डोरपत्यं पाण्डुदेशस्य राजा वेत्यर्थः। वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्। जनपदक्षत्रियोभयवाचकात् वृद्धसंज्ञकात् इदन्तात् कोसलात् अजादाच्चापत्ये ञ्यङित्यर्थः। वृद्धादिति। उदाह्रियते इत्यर्थः। आम्बष्ठ्य इति। आम्बष्ठशब्दः जनपदक्षत्रियोभयवाचकः। -तस्य समीपमुपोत्तममिति। सामीप्येऽव्ययीभाव इति भावः। गुरु उपोत्तमम्-उत्तमसमीपवर्ति ययोरिति विग्रहः। प्रातिपदिकाधिकारविहितं नपुंसकत्वं विपरिणम्यते। उपोत्तमगुरुवर्णकयोः गोत्रप्र-

---

प्रत्यय हो। पूरोरण्—पुरु शब्दसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। द्व्यञ्मगध—जनपद और क्षत्रियवाची द्व्यच्क और मगधादिसे अपत्य अर्थमें अण् प्रत्यय हो।

पाण्डोर्ड्यण्—पाण्डुसे ड्यण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। वृद्धेत्को—जनपद और क्षत्रियवाची वृद्धादि शब्दसे ञ्यङ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। कुरुनादिभ्यो—जनपद और क्षत्रियवाची कुरु शब्द तथा नकारादि शब्दोंसे ण्य प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें।

ते तद्राजाः—'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यादि सूत्रोंसे विहित अञादि प्रत्ययकी तद्राज संज्ञा हो। तद्राजस्य—बहुत्व अर्थमें तद्राजसंज्ञक प्रत्ययका स्त्रीलिङ्गसे भिन्नमें लुक् हो, यदि तद्राज प्रत्ययार्थ कृत बहुत्व रहे। कम्बोजा—कम्बोजसे पर तद्राजसंज्ञक प्रत्ययका लुक् हो।

कम्बोजादिभ्यः—पूर्वोक्त सूत्रमें कम्बोजादिसे पर तद्राजसंज्ञकप्रत्ययका लुक् हो-ऐसा कहना चाहिये। अणिञो—गोत्र में विहित जो अनार्ष अण् और इञ्, तदन्त जो गुरूपोत्तम

समीपमुपोत्तमम् । गोत्रे यावणिञौ विहितावनार्षौ तदन्तयोर्गुरूपोत्तमयोः प्रातिप-दिकयोः स्त्रियां ष्यङादेशः । 'यङश्चाप्' कुमुदगन्धेर्गोत्रापत्यं स्त्री-कौमुदगन्ध्या । वाराह्या । अनार्षयोः किम् ? वासिष्ठी । गुरूपोत्तमयोः किम् ? औपगवी । गोत्रे किम् ? अहिच्छत्रे जाता–आहिच्छत्री ॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ।

अथ रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्

तेन रक्तं रागात् ।४।२।१। कषायेण रक्तं वस्त्रं–काषायम् । माञ्जिष्ठम् । रागा त्किम् ? देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम् ॥ लाक्षारोचनाट्ठक् ।४।२।२। लाक्षिक । रौच

दिकयोरिति लभ्यते । 'अणिञोः' इत्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया अणिञन्तयोर्ग्रह णम् । गोत्रे इत्येतत् अणिञोरन्वेति । अपेरविहितौ अनार्षौ । इदमपि अणिञोर्विशेष णम् । स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह–गोत्रे यावणिञावित्यादिना । आदेश इति । स्थानषष्ठीनिर्देशादादेशत्वलाभ । कुमुदगन्धेरिति । कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यः उत्तरपदलोपश्च' इति बहुव्रीहिः, पूर्वखण्डे उत्तरपदस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च । 'उपमानाच्च' इति इत्वम् । कुमुदग न्धेरपत्यं स्त्रीति विग्रहे अण् 'यस्येति च' इति इकारलोप । आदिवृद्धि , कौमुद गन्धशब्द,, तत्र धकारादकारोऽकार उत्तम , तत्समीपवर्ती गुरु गकारादकार , 'संयोगे गुरु' इत्युक्ते । एवं च गुरूपोत्तमं प्रातिपदिकं 'कौमुदगन्धेयणन्तं, तदवयवस्य अणः ष्यङादेशे 'यङश्चाप्' इति चापि कौमुदगन्ध्यासिद्ध इत्यर्थः । इञन्तस्योदाहरति– वाराह्येति । वराहस्यापत्यं स्त्रीति विग्रह , अत इञ् । इकारलोपः । वाराहिशब्द । तत्र इकार उत्तमः । रेफादाकार उत्तमसमीपवर्ती गुरु । इञः इकारस्य ष्यङादेशे चापिति भाव । वासिष्ठीति । ऋष्यणन्ता । औपगवीति । अणन्तत्वेऽपि गुरूपोत्तमत्वाभावान्न ष्यङ् । आहिच्छत्रीति । जातार्थे अण्, न तु गोत्र इति न ष्यङ् ।

इत्यपत्याधिकार ॥

लाक्षारोचनाट्ठक् । अणोऽपवाद । लाक्षिक इति । पट इति शेष । लाक्षया रक्त इति विग्रहः । रौचनिक इति । रोचनया रक्त इति विग्रहः । शाकलिक इति । शकल

प्रातिपदिक उसको ष्यङ् आदेश हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

इस प्रकार 'रत्नप्रभा' टीकामें अपत्याधिकार समाप्त हुआ ।

तेन रक्तं—राग (रङ्ग) वाचक तृतीयान्तसे अण् प्रत्यय हो, 'रक्त' अर्थमें ।

लाक्षारोचना—रागवाचक तृतीयान्त लाक्षा और रोचना शब्दसे ठक् प्रत्यय हो,

निकः ॥ (शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्) । शाकलिकः । कार्दमिकः ॥ (नील्या अन्) । नील्या रक्तं नीलम् ॥ (पीतात्कन्) पीतकम् ॥ (हरिद्रामहारजनाभ्यामञ्) । हारिद्रम् । माहारजनम् ॥ नक्षत्रेण युक्तः कालः ।४।२।३। (तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्) । पुष्येण युक्तं-पौषमहः ॥ लुबविशेषे ।४।२।४। पूर्वेण विहितस्य लुप् षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः ॥ दृष्टं साम ।४।२।७। तेनेत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं-वासिष्ठं साम । वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ।४।२।९। वामदेवेन दृष्टं साम-

---

रागकृद्द्रव्यविशेषः । शाकलिक इति । शकलेन रक्तः इति विग्रहः । कार्दमिक इति । कर्दमेन रक्त इति विग्रहः । नील्या अनिति । वक्तव्य इति शेषः । अणोऽपवादः । नीली ओषधिविशेषः । पीतात्कनिति । अणोऽपवादः । पीतं हरितालादिद्रव्यम् । हरिद्रेति । अणोऽपवादः । स्वरे विशेषः । हरिद्रा प्रसिद्धा, महारजनं नाम रागद्रव्यविशेषः । पौषमहः । पुष्येण युक्तं पौषमहः इत्यत्र 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यणि, सुपो लुकि, 'पुष्य अ' इति जाते, 'यचि भम्' इति भत्वे 'यस्येति च' इति अकारलोपे, 'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्' इति वार्तिकेन यलोपे, संयोगे, आदिवृद्धौ, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धम् । अद्य पुष्य इति । अद्येत्यव्ययम्, अहोरात्रवाचि अधिकरणशक्तिप्रधानम् । इह तु अधिकरणशक्तिविनिर्मुक्तः अहोरात्रः कालो विवक्षितः । तथा च अयमहोरात्रः पुष्ययुक्तचन्द्रमत्पुष्य इत्यर्थः । अहर्वा रात्रिर्वेति विशेषानवगमादत्र लुप् । वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ । तृतीयान्ताद् वामदेवशब्दात् दृष्टमित्यर्थे ड्यत्, ड्य एतौ प्रत्ययौ स्यातां दृष्टं साम चेदित्यर्थः । वामदेव्यम् । वामदेवशब्दात् प्रकृतसूत्रेण ड्यत् डयोर्लोपः, डित्वाट्टिलोपः ।

'रक्त' अर्थमें । शकलकर्द—शकल और कर्दम शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें ।

नील्या अन्—तृतीयान्त 'नीली' शब्दसे अन् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें ।

पीतात्कन्—पीत शब्दसे कन् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें । हरिद्रा—हरिद्रा और महारजन शब्दसे अञ् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें । नक्षत्रेण युक्तः—नक्षत्रविशेषयुक्त चन्द्रवाचक तृतीयान्त पुष्यादि शब्दोंसे युक्त अर्थमें यथाविहित अणादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय हों, जो युक्त हो वह यदि काल रहे तो । तिष्यपुष्य—तिष्य और पुष्यके यकारका लोप हो, नक्षत्र संबन्धी अणके परे । लुबविशेषे—'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इससे विहित प्रत्ययका लुप् हो, यदि षष्टिदण्डात्मक (२४ घंटा) कालका कोई अवान्तर (काल) विशेष गम्यमान नहीं होता रहे । दृष्टं साम—तृतीयान्तसे दृष्ट अर्थमें अणादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय हो, जो दृष्ट है वह यदि साम रहे तो ।

वामदेवा—वामदेव शब्दसे ड्यत् और ड्य प्रत्यय हो, दृष्ट साम अर्थ में ।

वामदेव्यम् । **परिवृतो रथः ।४।२।१०।** वस्त्रैः परिवृतः—वास्त्रो रथः ॥ **तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ।४।२।१४।** शरावे उद्धृतः—शाराव ओदनः ॥ **संस्कृतं भक्षाः ।४।२।१६।** सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः । 'भ्राष्ट्रे संस्कृता—भ्राष्ट्रा यवाः' ॥ **शूलोखाद्यत् ।४।२।१७।** अणोऽपवादः । शूले संस्कृतं—शूल्यं मांसम् । उख्यम् ॥ **दध्नष्ठक् ।४।२।१८।** दध्नि संस्कृतं—दाधिकम् ॥ **साऽस्मिन्पौर्णमासीति ।४।२।२१।** 'इति' शब्दात् 'संज्ञायाम्' इति लभ्यते । पौषी पौर्णमासी अस्मिन्—पौषो मासः ॥ **साऽस्य देवता ।४।२।२४।** इन्द्रो देवताऽस्येति—ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् । त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तुत्या च । ऐन्द्रो मन्त्रः ॥ **कस्येत् ।४।२।२५।** कशब्दस्य इदादेशः स्यात्प्रत्ययसंनियोगेन । अस्येति लोपात्परत्वादादिवृद्धिः । को ब्रह्मा देवताऽस्य कायं हविः । श्रीर्देवताऽस्य श्रायम् ॥ **शुक्राद् घन् ।४।२।२६।** शुक्रियम् ॥ **सोमाट्ट्यण् ।४।२।३०।** सौम्यम् ॥

शूलोखाद्यत् । अस्मात्सप्तम्यपञ्चमी । उखेति संस्कृतं भक्षा इति चानुवर्तते । सप्तम्यन्तात् शूलोखाशब्दात् 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यर्थे यत् स्यादित्यर्थः । दध्नष्ठक् । सप्तम्यन्तात् दधिशब्दात् 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः । अणोऽपवादः । दाधिकमिति । ठकि इकादेशे 'यस्येति च' इति इकारलोपः । इह दध्नि अधिकरणे संस्कारो लक्षणां विना भवति । साऽस्मिन्पौर्णमासीति । तत्र इति संस्कृतं भक्षा इति च निवृत्तम् । सा पौर्णमासी अस्मिन्निति प्रथमान्तादण् स्यादित्यर्थः । इति शब्दादिति । [illegible] । पौषीति । पुष्येण युक्ता पौषी पौर्णमासी, सा अस्मिन् मासे स पौषो मासः । पौषीशब्दादणि 'यस्येति च' इति ईकारलोपः । एवं मघाभिर्युक्ता पौर्णमासी माघी अस्मिन् स माघो मासः । एवं फाल्गुन इत्यादि । कस्येत् । 'साऽस्य देवता' इति विहिते कशब्दादण् प्रत्यये परे तत्संनियोगेन प्रकृतेरि

परिवृतो—तृतीयान्तसे परिवृत अर्थमें प्राग्दीव्यतीय अणादि प्रत्यय हो, जो परिवृत है वह यदि रथ रहे तो । तत्रोद्धृत—सप्तम्यन्तसे पात्राभिहित अणादि प्रत्यय हो उद्धृत अर्थमें । संस्कृतं भक्षा—सप्तम्यन्तसे अण् प्रत्यय हो, संस्कृत अर्थमें, जो संस्कृत हो वह यदि 'भक्ष' रहे तो । शूलोखाद्यत्—सप्तम्यन्त शूलादि शब्दोंसे यत् प्रत्यय हो, 'संस्कृत भक्षा' हो वह यदि भक्ष रहे तो । दध्नष्ठक्—सप्तम्यन्त दधि शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, 'संस्कृत भक्ष' इस अर्थमें । साऽस्मिन्—'अस्मिन्' अर्थात् सप्तम्यर्थमें पौर्णमासीवाचक प्रथमान्तसे अणादि प्रत्यय हो, संज्ञामें । साऽस्य देवता—'अस्य' षष्ठ्यर्थमें देवतावाचक प्रथमान्तसे अणादि प्रत्यय हो । कस्येत्—'क' शब्दको इकारादेश हो, प्रत्ययके संनियोगमें । शुक्राद्घन्—'अस्य' अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त शुक्र शब्दसे घन् प्रत्यय हो । सोमाट्ट्यण्—'अस्य' अर्थमें

वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ।४।२।३१। वायव्यम्। ऋतव्यम्॥ रीङ् ऋतः। ७।४।२७। अकृद्यकारेऽसार्वधातुकयकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः। 'यस्येति च'। पित्र्यम्। उषस्यम्॥ द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च ।४।२।३२। चाद्यत्। द्यावापृथिवीयम्, द्यावापृथिव्यम्। शुनासीरीयम्, शुनासीर्यम्॥ अग्नेर्ढक् ।४।२।३३। अग्नेर्ढक् स्यात् साऽस्य देवतेत्यर्थे। आग्नेयम्। महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् ।४।२।३५। माहाराजिकम्। प्रौष्ठपदिकम्॥ देवताद्वन्द्वे च ।७।३।२१। अत्र पूर्वोत्तरपदयोराद्यचो वृद्धिर्ञिति णिति किति च। आग्निमारुतम्॥ नेन्द्रस्य परस्य ।७।३।२२। सौमेन्द्रः।

कारोऽन्तादेशः इत्यर्थः। तथा च कमाच्चादाविति ऋकारेरिकारे अन्तादेशे कृते आभावेऽपि कायमिति सिद्धम्। द्यावापृथिवी। द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध, एतेभ्यः छो यत् स्यादित्यर्थः। अणः परयुत्तरपदाण्यस्य चापवादः। द्यावापृथिवीयम्। द्यावापृथिवी देवता अस्येति विग्रहः। शुनासीरीयमिति। शुनो-वायुः, सीरः-आदित्यः, शुनश्च सीरश्च शुनासीरौ। 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्। शुनासीरावस्य स्त इति शुनासीरः। शुनासीरो देवता अस्येति विग्रहः। महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ्। माहाराजिकमिति। महाराजो वैश्रवणः, सः देवता अस्येति विग्रहः प्रौष्ठपदिकमिति। प्रोष्ठपदो देवता अस्येति विग्रहः। देवताद्वन्द्वे च। 'इको वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते। 'अचो ञ्णिति' इत्यतः। 'ञ्णितीति' 'किति च' इति सूत्रं चानुवर्तते। 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यतः अचामादेरिति 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य' इति 'उत्तरपदस्य च' इति सूत्रं चानुवर्तते। तदाह—अत्रेत्यादिना। आग्निमारुतमिति। अग्निश्च मरुच्च अग्नामरुतौ 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्। अग्नामरुतौ देवता अस्य आग्निमारुतम्। इति अनेन उभयपदवृद्धिः। अलौकिके विग्रहवाक्ये एवम् आनङं बाधित्वा 'इद्वृद्धौ' इति इत्वम्। नेन्द्रस्य परस्येति। 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युक्ता उभयपदवृद्धिः, उत्तरपदस्य इन्द्रशब्दस्य नेत्यर्थः। सौमेन्द्र इति। इकारिति

देवतावाचक सोम शब्दसे ठयण् प्रत्यय हो। वाय्वृतु—'अस्य' अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त वायु आदि शब्दसे यत्प्रत्यय हो। रीङृतः—ऋदन्त अंगको रीङ् आदेश हो, कृद्भिन्न यकार और असार्वधातुक यकारके परे तथा च्वि प्रत्ययके परे। द्यावापृथि—'अस्य' अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त द्यावापृथिवी आदि शब्दसे 'छ' और 'यत्' प्रत्यय हो। अग्नेर्ढक्—'अस्य' अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त अग्नि शब्दसे ढक् प्रत्यय हो। महाराज—'अस्य' अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त महाराज और प्रोष्ठपद शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो। देवता—देवता और द्वन्द्व अर्थमें पूर्वपद तथा उत्तर पदके आदि अच्को वृद्धि हो, ञित्, णित और कित्के परे। नेन्द्रस्य—परपदस्थ इन्द्र शब्दको वृद्धि नहीं हो।

परस्य किम्? ऐन्द्रावरुणम् ॥ **दीर्घाच्च वरुणस्य ।७।३।२३।** न वृद्धिः । ऐन्द्रावरुणम् । दीर्घात्किम्? आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत ॥ **पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ।४।२।३६।** एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता–पितृव्यः । मातुर्भ्राता–मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता–पितामहः । **तस्य समूहः ।४।२।३७।** काकानां समूहः–काकम् । बकानां समूहः–बाकम् । **भिक्षादिभ्योऽण् ।४।२।३८।** भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह भस्याढे इति पुंवद्भावे कृते ॥ **इनण्यनपत्ये ।६।४।१६४।** अनपत्यार्थेऽणि इन् प्रकृत्या । तेन नस्तद्धिते इति टिलोपो न । युवतीनां समूहः–यौवनम् ॥ **गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ् ।४।२।३९।** ग्लुचुकायनीनां समूहः–ग्लौचुकायनकम् । औक्षकमित्यादि । 'आपत्यस्य च' इति यलोपे प्राप्ते (**प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः**) । राजन्यकम् । मानुष्यकम् । (**वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्**) । वार्धकम् ॥ **केदाराद्यञ्च ।**

लोपः । तैत्तिरीये—'सोमेन्द्रं श्यामाकं चरुम्' इति छान्दसम् । दीर्घाच्च वरुणस्य । ऐन्द्रावरुणमिति । इन्द्रवरुणौ देवता अस्येति विग्रहे अण् । आनङ् । इन्द्रावरुण शब्दादणि दीर्घाकारात्परत्वात् वरुणस्य नादिवृद्धिः । आग्निवारुणीमिति । 'इद्वृद्धौ' इत्यनेनानङं बाधित्वा इत्वे कृते दीर्घात्परत्वाभावाद्विशेषाभावे सति 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिरिति भावः । गार्भिणम् । गर्भिणीनां समूहः । 'गार्भिणम्' इत्यत्र 'धेभ्यो ठक्' इति ठकि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'भिक्षादिभ्योऽण्' इत्यणि सुपो लुकि, भत्वे, अथ 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावे कृते 'गर्भिण् अ' इति जाते 'नस्तद्धिते' इति नान्तटिलोपे प्राप्ते 'इनण्यनपत्ये' इत्यणि इन प्रकृतिभावे वृद्धौ विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । गोत्रोक्षोष्ट्रो । गोत्र, उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज एतेभ्यः इत्यर्थः । 'प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः' इति । अके परे राजन्य, मनुष्य, युवन् एते प्रकृत्या स्युरिति वक्तव्यनिष्कर्षः । केदाराद्यञ् च ।

दीर्घाच्च—दीर्घसे पर वरुण शब्दको वृद्धि नहीं हो । पितृव्य—पितृव्य, मातुल, मातामह और पितामह शब्द निपातन हों ।

तस्य समूहः—समूह अर्थमें यथाविहित प्राग्दीव्यतीय अणादि प्रत्यय हों । भिक्षादिभ्यो—भिक्षादिसे समूह अर्थमें अण् प्रत्यय हो । इनण्यनपत्ये—अनपत्यार्थ अण् प्रत्ययके परे 'इन्' प्रकृतिवत् रहे । गोत्रोक्षो—गोत्र प्रत्ययान्त और उक्ष आदिसे समूह अर्थमें वुञ् प्रत्यय हो ।

प्रकृत्या—(वार्तिक) 'अक' के परे राजन्यादि प्रकृतिवत् रहें ।

वृद्धाच्च—वृद्ध शब्दसे समूह अर्थमें वुञ् प्रत्यय हो । केदारा—केदार शब्दसे

।४।२।४०। चाद् वुञ् । कैदार्यम्, कैदारकम् । (गणिकाया यञिति वक्तव्यम्)। गाणिक्यम् ॥ ठञ् कवचिनश्च ।४।२।४१। चात्केदारादपि । कवचिनां समूहः कावचिकम् । कैदारिकम् ॥ ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ।४।२।४३। ग्रामता । जनता । बन्धुता । तलन्तं स्त्रियाम् ॥ (गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्) । गजता । सहायता ॥ (अह्नः खः क्रतौ) । अहीनः क्रतुरित्यर्थः । अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ।४।२।४७। इसुसुक्तान्तात्कः ।७।३।५१। इस् उस् उक् त एतदन्तात्परस्य ठस्य कः । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ॥ केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् ।४।२।४८। पक्षे ठगणौ । कैश्यम्, कैशिकम् । अश्वीयम्, आश्वम् । पाशादिभ्यो यः ।४।२।४९। पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या ॥ खलगो-

---

कैदार्यम्–कैदारकमिति । केदाराणां समूह इति विग्रहः । गणिकाया यञ् । यञ् ग्रहणाद् वुञो निवृत्तिः । गाणिक्यमिति । गणिकानां समूह इति विग्रहः । ठञ् कवचिनश्च । केदारादपीति । कवचिन्शब्दात् केदारशब्दाच्च समूहे ठञ् स्यादित्यर्थः । कावचिकमिति । ठस्य इकादेशः टिलोपः । अहीनः । अह्नां समूहः 'अहीनः' इत्यत्र 'अह्नः खः क्रतौ' इति खे, सुपो लुकि, 'अहन् ख' इति जाते 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' इति खस्य ईनादेशे 'अहन् ईन् अ' इति जाते भत्वे, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे, संयोगे विसर्गकार्ये च कृते 'अहीनः' इति रूपम् । केशाश्वाभ्याम् । समूह इत्येव । केशाद्यञ् वा अश्वाच्छो वेत्यर्थः । पक्षे इति । केशाद्यञभावे 'अचित्त' इति ठक् । अश्वात् छाभावे अणित्यर्थः । कैश्यम्, कैशिकमिति । केशानां समूह इति विग्रहः । क्रमेण यञ्ठकौ । अश्वीयम्, आश्वमिति । क्रमेण छाणौ । पाशादिभ्यो यः । समूह इत्येव । पाश्येत्यादि । पाशानां तृणानां धूमानां

यञ् प्रत्यय और चकारात् वुञ् प्रत्यय भी हो । गणिकाया—गणिका शब्दसे समूह अर्थमें यञ् प्रत्यय हो । ठञ्—कवचिन् शब्द और केदार शब्दसे समूह अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो । ग्रामजन—ग्राम, जन और बन्धु शब्दसे समूह अर्थमें तल् प्रत्यय हो ।

तलन्त—तलन्तशब्द स्त्रीलिंगमें हो ।

गजसहाया—गज और सहाय शब्दसे भी समूह अर्थमें तल् प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये । अह्नः खः—क्रतु अर्थ से अहन् शब्दसे ख प्रत्यय हो । अचित्त—अचित्त (अप्राणी) वाचक शब्द, हस्ति शब्दसे और धेनु शब्दसे ठक् प्रत्यय हो समूहार्थमें । इसुसुक्—इसन्त, उसन्त, उगन्त और तान्तसे पर 'ठ' को 'क' आदेश हो । केशाश्वा—समूह अर्थमें केश शब्दसे 'यञ्' और अश्व शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, विकल्प से । विकल्पके पक्षमें क्रमसे ठक् और अण् भी हो । पाशादिभ्यो—पाशादिसे 'य' प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । खलगो—खल, गो

रथाद्यत् ।४।२।५०। खल्या । गव्या । रथ्या ॥ इनित्रकट्यचश्च ।४।२।५१। खलादिभ्यः क्रमात्स्युः । खलिनी । गोत्रा । रथकट्या ॥ (खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः)। डाकिनी । कुटुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् ॥ तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः ।४।२।५७। दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायाम्—दाण्डा । मौष्टा ॥ घञः साऽस्यां क्रियेति ञः ।४।२।५७। घञन्तात् क्रियावाचिनः प्रथमान्तादस्यामित्यर्थे स्त्रीलिङ्गे ञप्रत्ययः ॥ श्येनतिलस्य पाते ञे ।६।३।७१। अनयोर्मुम् स्यात् ञप्रत्यये परे पातशब्दे उत्तरपदे । श्यैनंपाता मृगया । तैलपाता स्वधा । श्येनतिलस्य किम् ? दण्डपातोऽस्या

खलानां गवां च समूह इति विग्रहः । स्त्रीत्वम् लोकात् । खलगोरथात् । समूह इत्येव । खल, गो, रथ एभ्यो य स्यादित्यर्थः । खल्या गव्या रथ्येति । खलानां गवां रथानां समूह इति विग्रहः । यद्यपि पाशादिष्वेव एषां पाठो युक्तस्तथापि उत्तरसूत्रे एषामेवानुवृत्त्यर्थं पृथक् पाठः । इनित्रकट्यचश्च । स्युरिति । इनि त्र कट्यच् एते स्युरित्यर्थः । खलिनीति । खलानां समूह इति विग्रहः । इनिप्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः । स्त्रीत्वं लोकात् । नान्तत्वान्ङीप् । गोत्रेति । गवां समूह इति विग्रहः । गोशब्दात् त्रः । स्त्रीत्वं लोकात्, टाप् । रथकट्येति । रथानां समूह इति विग्रहः । कट्यचि चकारस्य नेत्वम्, अतश्चित इत्युक्तं । स्त्रीत्वाट्टाप् । खलादिभ्य इनिर्वक्तव्य इति । 'इनित्रकट्यचश्च' इति सूत्रे इनिग्रहणमकृत्वा 'गोरथात्त्रकट्यचौ' इत्येव सूत्रं कृत्वा खलादिभ्य इनिः इति पृथक्कल्पमित्यर्थः । तदस्याम् । तत् अस्यां क्रीडायां प्रहरणमित्यर्थे प्रथमान्तात् प्रहरणवाचकात् णप्रत्ययः स्यात् इत्यर्थः । प्रह्रियते अनेन इति प्रहरणं आयुधम् । दाण्डेति । अणि तु ङीप् स्यादिति । मौष्टेति । मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडायामिति विग्रहः । घञः साऽस्याम् । अस्यामित्यनन्तरं मृगयायामित्यादि स्त्रीलिङ्गं विशेष्यमध्याहार्यम् । सा क्रिया अस्यां मृगयादिक्रियायामित्यर्थे घञन्तप्रकृतिकप्रथमान्तात् क्रियावाचिनो ञः स्यादित्यर्थः । फलितमाह—घञन्तादित्यादिना । तत्प्रयोजनमनुपदमेव वक्ष्यते । श्येनतिलस्य पाते ञे । मुम् स्यादिति । 'अरुर्द्विषत्' इत्यत तदनुवृत्तेरिति भावः । ञप्रत्यये इति । ञप्रत्यये परे च पातशब्दे तस्मिन्नित्यर्थः ।

और रथ शब्दोंसे 'य' प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । इनित्र—खल शब्दसे इनि, गो शब्दसे त्र और रथ शब्दसे कट्यच् प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । खलादिभ्य—खलादि (खल-गो-रथ) से इनि प्रत्यय हो, ऐसा कहना चाहिये ।

तदस्यां—प्रहरणवाचक प्रथमान्तसे 'ण' प्रत्यय हो, 'तदस्यां प्रहरणम्' इस अर्थमें, जो प्रहरण है, वह यदि क्रीडा रहे तो । घञः—क्रियावाचक प्रथमान्त घञन्तसे स्त्रीलिङ्गमें 'ञ' प्रत्यय हो, 'अस्याम्' इस अर्थमें । श्येन—श्येन शब्द और तिल शब्दसे मुम्का

तिथौ वर्तते-दाण्डपाता तिथिः । तदधीते तद्वेद ।४।२।५९। न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ।७।३।३। पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्याचो न वृद्धिः,किंतु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेत्ति वा-वैयाकरणः ॥ क्रमादिभ्यो वुन् ।४।२।६१। क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ॥ क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ।४।२।६०। क्रतुविशेषवाचिनामेवेह ग्रहणम् । तेभ्यो मुख्यार्थेभ्यो वेदितरि, तत्प्रतिपादकग्रन्थपरेभ्यस्त्वध्येतरि । आग्निष्टोमिकः । वाजपेयिकः । उक्थं सामविशेषः, तल्लक्षणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोक्थम् , तदधीते वेद वा-औक्थिकः ॥ (मुख्यार्थाद्पृथग्लक्षकाद्वुरणौ नेष्येते) । नैयायिकः । वार्तिकः ।

श्येनंपातेति । पतनं पातः । भावे घञ् । श्येनपातशब्दात् घञन्तात् । णः । यद्यपि पातशब्द एव घञन्तः तथापि कृद्ग्रहणपरिभाषया श्येनपातशब्दस्यापि ग्रहणं बोध्यम् । श्येनस्य पात इति षष्ठीतत्पुरुषः समासः । तत्र च .श्येनपातशब्दस्याविवृद्धिः । तैलम्पाता स्वधेति । स्वधाशब्दः स्त्रीलिङ्गः पितृक्रियायां वर्तते, 'नमः स्वधायै' इत्यादि दर्शनात् । स्वधेत्यनेन क्रीडायामिति नानुवर्तते इति सूचितम्, यदस्यामिति प्रकृते पुनरस्यामिति ग्रहणात् । क्रतूक्थादि । 'तदधीते तद्वेद' इत्यनुवर्तते । क्रतु उक्थादि सूत्रान्त एभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः । क्रतुविशेषवाचिनामेवेति । न तु क्रतुशब्दस्यैवेत्यर्थः । अन्यथा उक्थादिगण एव क्रतुशब्दमपि पठेदिति भावः । ननु क्रतुविशेषाणां क्रयमध्ययनम्, अध्ययनग्रहणात्तत्वाभावात्, इत्यत आह—तेभ्य इति । अग्निष्टोमादिशब्दाः क्रतुविशेषेषु मुख्याः । तत्प्रतिपादकग्रन्थेषु तु गौणाः । तत्र क्रतुविशेषात्मकमुख्यार्थकेभ्यः अग्निष्टोमादिशब्देभ्यः वेदितरि प्रत्ययः । अग्निष्टोमादिक्रतुप्रतिपादकग्रन्थेषु लक्षणया विद्यमानेभ्यस्तु तेभ्यः अध्येतरीत्यर्थः । आग्निष्टोमिक इति । अग्निष्टोमं क्रतुं वेत्ति तत्प्रतिपादकग्रन्थमधीते इति चार्थः । उक्थशब्दः सामसु मुख्यः । सामलक्षणग्रन्थे प्रातिशाख्ये तु गौणः । तत्र गौणार्थकादेव उक्थशब्दात् ठगित्याह—उक्थं सामविशेष इति । अग्निष्टोमस्तोत्रात्परं सामसाम गीयते इति वृत्तिकृदुक्तेरिति भावः । मुख्यार्थादिति । सामवाचिनः उक्थशब्दात्तु न ठक् तस्मिंश्चेदिते 'तदधीते' इत्यण् च न भवतीत्यर्थः । ठक्मुदाहरति—नैयायिक इति ।

आगम हो 'ण' प्रत्ययके परे और 'पात' शब्द उत्तर पदके परे । तदधीते—द्वितीयान्तसे 'अधीते' और 'वेद' अर्थमें अणादि प्रत्यय हों । न य्वाभ्यां—पदान्त यकार, वकारसे पर 'अच्' को वृद्धि नहीं हो, किन्तु यकारसे पूर्व 'ऐ' और वकारसे पूर्व 'औ' का आगम हो । क्रमादिभ्यो—क्रमादिसे 'वुन्' प्रत्यय हो, अधीते और वेद अर्थमें । क्रतूक्थादि-क्रतुविशेषवाची शब्दोंसे वेदिता अर्थमें और क्रतु प्रतिपादक ग्रन्थवाची शब्दों से अध्येता अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । मुख्यार्था—मुख्यार्थ (सामविशेष) वाची उक्थ शब्दसे ठक् और अण् ...

लौकायतिकः ॥ (सूत्रान्ताट्टकल्पादेरेवेष्यते)। सांग्रहसूत्रिकः । अकल्पादेः किम्? काल्पसूत्रः ॥ (विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्)। वायसविद्यिकः। गौलक्षणिकः। पाराशरकल्पिकः ॥ (अङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम्)। आङ्गविद्यः। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। त्रिविधा विद्या त्रिविद्या, तामधीते वेद वा—त्रैविद्यः ॥ रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्।

अथ चातुरर्थिकप्रकरणम्

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।४।२।६७। उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे—औदुम्बरो देशः ॥ तेन निर्वृत्तम् ।४।२।६८। कुशाम्बेन निर्वृत्ता-

---

टकि पैशाचम्। न्यायमधीते वेद वेत्यर्थः। वार्त्तिकः। वृत्तिमधीते वेद वेत्यर्थे टकि आदिवृद्धौ रपरत्वम्। सांग्रहसूत्रिक इति। सङ्ग्रहाख्यं सूत्रमधीते वेत्ति वेत्यर्थः। विद्यालक्षणेति। विद्या लक्षण कल्प एतदन्तादपि ठगित्यर्थः। अङ्गेति। अङ्ग, क्षत्र, धर्म, त्रि एतत्पूर्वकाद्विद्यान्तात् समासात् ठक् नेत्यर्थः। ततश्च अणेव। त्रिविद्य। त्रिविधा विद्या इति विग्रहः, शाकपार्थिवादित्वाद्विधाशब्दस्य लोप इति भावः। तिस्रो विद्यास्त्रिविद्या इति न विग्रहः, 'दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्' इति नियमात्। नापि तिस्रो विद्या अधीते वेद वेति तद्धितार्थे द्विगुः तथा सति तद्धितस्य द्विगुनिमित्ततया 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुगापत्तेः। तिसृणां विद्यानां समाहार इति द्विगुरप्यत्र निर्बाध एव। रक्ताधिकार इति।

औदुम्बरो देश। उदुम्बराः सन्त्यत्र देशे औदुम्बर इत्यत्र 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' इत्यणि भावे मत्वर्थलोपे वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'औदुम्बरो देशः' इति।

इष्ट नहीं है। सूत्रान्तात्—सूत्रान्तमें विहित जो ठक वह अकल्पादिसे ही होता है।

विद्यालक्षण—विद्यान्त, लक्षणान्त और कल्पान्तमें भी ठक् हो, अधीते और वेद अर्थमें।

अङ्गक्षत्र—अङ्गादि पूर्वक विद्यान्तमें ठक् प्रत्यय नहीं हो।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें रक्ताद्यर्थक प्रकरण समाप्त हुआ।

तदस्मिन्नस्तीति—अस्त्युपाधिक प्रथमान्तसे 'अस्मिन्' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हों, यदि उस प्रत्ययान्त नामक कोई देश हो तो। तेन निर्वृत्तम्—तृतीयान्त निर्वृत्त अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हों, यदि प्रत्ययान्त नामक कोई देश हो तो।

कौशाम्बी । नगरी ॥ तस्य निवासः ।४।२।६९। शिबीनां निवासो देशः—शैबः ॥ अदूरभवश्च ।४।२।७०। विदिशाया अदूरभवं-वैदिशम् ॥ वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्व-र्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाशबलपक्षकर्णसुतंगमप्रगदिन्वराह-कुमुदादिभ्यः ।४।२।८०। एभ्यः सप्तदशभ्यः सप्तदश क्रमात्स्युश्चातुरर्थ्याम् । अरीहणादिभ्यो वुञ्, अरीहणेन निर्वृत्तम्-आरीहणकम् । कृशाश्वादिभ्यश्छण्,-कार्शाश्वीयम् । ऋश्यादिभ्यः कः, ऋश्यकम् । कुमुदादिभ्यष्ठच्,-कुमुदिकम् । काशादिभ्य इलः,-काशिलः । तृणादिभ्यः सः,-तृणसम् । प्रेक्षादिभ्य इनिः,-प्रेक्षी । अश्मादिभ्यो रः,-अश्मरः । सख्यादिभ्यो ढञ्,-साखेयम् । संकाशादिभ्यो

कौशाम्बी । कुशाम्बेन निर्वृत्ता 'कौशाम्बी' इत्यत्र 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यणि, वृद्धौ, भत्वे अल्लोपे, 'कौशाम्ब' इति स्थिते 'टिड्ढाणञ्' इत्यणन्तत्वाद् ङीपि अनुबन्धलोपे, भत्वे अल्लोपे 'संयोगे, विभक्तिकार्ये च कृते 'कौशाम्बी नगरी' इति सिद्धम् । वुञ्छण् । वुञ्, छण्, क, ठच्, इल, स, इनि, र, ढञ्, ण्य, य, फक्, फिञ्, इञ्, ञ्य, कक्, ठक् एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । अरीहण, कृशाश्व, ऋश्य, कुमुद, काश, तृण, प्रेक्ष, अश्मन्, सखि, सङ्काश, बल, पक्ष, कर्ण, सुतङ्गम, प्रगदिन्, वराह, कुमुद एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वः । एते आदयः येषामिति बहुव्रीहेः पञ्चमीबहुवचनम् । यथा-संख्यावगमाय कुमुदशब्दयोरेकशेषो न कृतः । प्रगदिन् शब्दे नलोपाभावस्तु इकारान्तत्वभ्रमनिरासाय । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य आदिशब्दस्य अरीहणादिषु प्रत्येकमन्वयः । तथा च अरीहणादिभ्यो वुञ् कृशाश्वादिभ्यः छण् इत्येव सप्तदश वाक्यानि संपद्यन्ते । तदाह—सप्तदशभ्य इति । अरीहणादिसप्तदशगणेभ्यः वुञादयः प्रत्ययाः क्रमात्स्युरित्यर्थः । चतुर्थ्यामिति । 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि । तेन निर्वृत्तम् । तस्य निवासः । 'अदूरभवश्च' इति चतुर्ष्वर्थेषु प्रथमोच्चारितात् तद्विभक्त्यन्ताद् यथायोगं प्रत्यया इति फलितम् । एतेषु शब्देषु केवलनामवाचका अन्ये भवाचकाश्च सन्ति । तत्र यथायोगं चातुरर्थ्याः प्रत्ययाः । प्रेक्षीति । प्रेक्ष्यते इति प्रेक्षः तेन निर्वृत्तमित्यर्थः । प्रेक्षा निर्वृत्तमिति वा । पक्षः

तस्य निवासः—षष्ठ्यन्तसे 'निवास' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हों, यदि प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे । अदूर—षष्ठ्यन्तसे 'अदूरभव' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हों, यदि वह प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे ।

वुञ्छण—पूर्वोक्त चतुरर्थी (चारों अर्थों) में अरीहणादिसे 'वुञ्' कृशाश्वादिसे छण्, ऋश्यादिसे क, कुमुदादिसे ठच्, काशादिसे इल, तृणादिसे स, प्रेक्षादिसे इनि, अश्मादिसे र, सख्यादिसे ढञ्, संकाशादिसे ण्य, बलादिसे य, पक्षादिसे फक्, कर्णादिसे फिञ्, सुतङ्गमादिसे इञ्, प्रगदिन्नादिसे ञ्य, वराहादिसे कक् और कुमुदादिसे ठक् प्रत्यय हों ।

ण्य,-सांकाश्यम्। बलादिभ्यो य,-बल्यम्। पक्षादिभ्यः फक्,-पाक्षायणः। (पथः पन्थ च) पान्थायनः। कर्णादिभ्यः फिञ्,-कार्णायनिः। सुतंगमादिभ्य इञ्,-सौतंगमिः। प्रगद्यादिभ्यो ञ्यः,-प्रागद्यः। वराहादिभ्यः कक्,-वाराहकम्। कुमुदादिभ्यष्ठक्,-कौमुदिकम्॥ **जनपदे लुप्** ।४।२।८१। जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप्॥ **लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने** ।१।२।५१। लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः। पञ्चालानां निवासो-जनपदः पञ्चालाः। कुरवः। अङ्गाः। कलिङ्गाः॥ **वरणादिभ्यश्च** ।४।२।८२। अजनपदार्थ आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरं-वरणाः। **शर्कराया वा** ।४।२।८३। अस्माच्चातुरर्थिकस्य वा लुप्स्यात्॥ **ठक्छौ च** ।४।२।८४। शर्करायाः एतौ स्तः। कुमुदादौ वराहादौ च पाठसामर्थ्यात्पक्षे ठच्कचौ। वाग्रहणसामर्थ्यात्पक्षे औत्सर्गिकोऽण्, तस्य लुब्विकल्पः। षड् रूपाणि—शर्करा, शार्करिकम्, शार्करम्, शर्करीयम्, शर्करिकम्, शर्करकम्। **नद्यां मतुप्** ।४।२।८५। चातुरर्थिकः। इक्षुमती॥ **कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्** ।४।२।८७। **झयः** ।८।२।१०। मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्। नड्वान्॥ **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** ।८।२।९। मवर्णावर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान्॥ **नडशादाड्ड्वलच्** ।४।२।८८। नड्वलः। शाड्वलः। **शिखाया वलच्** ।४।२।८९।

पन्थ च इति। पक्षादिगणसूत्रमिदम्। कुमुद्वानिति। कुमुदाः अस्मिन् सन्तीति विग्रहः। ड्मतुपि, डित्वात् टिलोपः। 'कुमुद्वान् कुमुदप्राये' इत्यमरः। नड्वानिति। नडाः अस्मिन् सन्तीति विग्रहः। 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति ड्मतुपि, डित्वाट्टिलोपः। वेतस्वान्। वेतसाः अस्मिन् सन्ति इति विग्रहे वेतसशब्दात्प्रथमान्तात् 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति ड्मतुपि, अनुबन्धलोपे, सुब्लुकि च, 'वेतसमत्' इति स्थिते, डित्वाट्टिलोपे, 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मस्य वत्वे 'वेतस्वत्' इति जाते तस्मात्सौ

जनपदे—जनपद वाच्य हो तो चातुरर्थिक प्रत्ययका लुप् (लोप) हो। लुपि युक्त—लुप् होनेपर प्रकृतिकी तरह ही लिङ्ग और वचन हो। वरणादिभ्य—वरणादिसे पर चातुरर्थिक प्रत्ययका लुप् हो। शर्कराया—शर्करा शब्दसे पर चातुरर्थिक प्रत्ययका लुप् हो, विकल्पसे।

ठक्छौ च—शर्करा शब्दसे ठक् और छ प्रत्यय हों, चारों अर्थोंमें। नद्यां—नद्यर्थकसे मतुप् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें। कुमुद—कुमुदादिसे ड्मतुप् प्रत्यय हो चारों अर्थोंमें।

झयः—झयन्तसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो। मादुपधाया—यवादि वर्जित मवर्णान्त, अवर्णान्त और मवर्णोपधसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो।

नडशादा—नड और शादसे ड्वलच् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें। शिखाया—शिखा

शिखावलम् ॥ उत्करादिभ्यश्छः ।४।२।९०। उत्करीयः ॥ नडादीनां कुक् च ।४।२।९१। नडकीयम् ॥ (कुञ्चा ह्रस्वत्वं च)। कुञ्चकीयः ॥ (तक्षन्नलोपश्च)। तक्षकीयः ॥ इति चातुरर्थिकप्रकरणम् ।

अथ शैषिकप्रकरणम्

शेषे ।४।२।९२। अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः, तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते—चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टाः—दार्षदाः

उगिदचां सर्वनामस्थाने' इति नुमि, उसि परे, 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परे, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इत्यनेन सुलोपे, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इत्युपधादीर्घे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे च कृते 'नेतस्वान्' इति रूपम् । शिखावलः । शिखाऽस्यास्तीत्यत्र 'शिखाया वलच्' इति वलचि, चलोपे, सुपो लुकि, विभक्तिकार्ये च कृते 'शिखावलः' इति सिद्धम् । उत्करादिभ्यश्छः । चातुरर्थिक इति शेषः । उत्करीय इति । देशविशेषोऽयम् । उत्करेण निर्वृत्तमिति वा, तस्य निवासः, तस्य अदूरभव इति वा । नडादीनां कुक्च । नडादिभ्यः छः स्याच्चातुरर्थिकः प्रकृतेः कुक् च । कुञ्चा ह्रस्वत्वं चेति । नडादिगणसूत्रम् । कुञ्चाशब्दाच्छः, प्रकृतेः कुक्, आकारस्य ह्रस्वश्च । कुञ्चकीय इति । कुञ्चा अस्मिन् सन्तीत्यादि विग्रहः । तक्षन्नलोपश्च । इदमपि गणसूत्रम् । तक्षन् शब्दात् छः कुक्, नकारस्य लोपश्च । इति चातुरर्थिकाः ।

चाक्षुषं रूपमिति । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम् इत्यत्र 'शेषे' इत्यणि, सुपो लुकि, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादेरचो वृद्धौ विभक्तिकार्ये च 'चाक्षुषम्' इति रूपम् । श्रावणः शब्दः । श्रवणेन गृह्यते इति विग्रहः । अणि, आदेरचो वृद्धौ, अलोपे, विभक्तिकार्ये च

शब्दसे वलच् प्रत्यय हो, चारो अर्थोंमें । उत्करा—उत्करादिसे छ प्रत्यय हो, चारो अर्थोंमें ।

नडादीनां—नडादिसे छ प्रत्यय और कुक् का आगम भी हो । कुञ्चा—कुञ्चा शब्दसे छ प्रत्यय हो और कुञ्चाके आकारको ह्रस्व भी हो । तक्षन्नलो—तक्षन् शब्दसे छ प्रत्यय और तक्षन्के नकारका लोप भी हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें चातुरर्थिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

शेषे—अपत्यादि चतुरर्थ्यन्त अर्थोंसे भिन्न जो शेष (जात, भव, आगत, गृह्यते, पिष्ट आदि) अर्थ, इन अर्थोंमें तत्तत् प्रकृतियोंसे पूर्वोक्त अणादि प्रत्यय और वक्ष्यमाण घादि प्रत्यय हों ।

सचव । उलूखले क्षुण्ण –औलूखलो यावक । अश्वैरुह्यते–आश्वो रथ । चतुर्भि-रुह्यते–चातुर शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते–चातुर्दश रक्ष । 'तस्य विकार' इत्यत' प्राक् शेषाधिकारः ॥ राष्ट्रावारपाराद्घखौ ।४।२।९३। आभ्यां घखौ स्त । राष्ट्रे जातादि राष्ट्रिय । अवारपारीण ॥ (अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्) । अवारीण । पारीण । पारावारीण । इत प्रकृतिविशेषात् घादयष्ट्युट्युलन्ता प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषा समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ॥ ग्रामाद्यखञौ ।४।२।९४। ग्राम्य, ग्रामीण ॥ नद्यादिभ्यो ढक् ।४।२।९७। नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् । दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ।४।२।९८। दाक्षिणात्य । पाश्चात्त्य । पौरस्त्य ॥ द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ।४।२।१०१। दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ॥ अव्ययात्त्यप् ।४।२।१०४। (अमेहक्वतसित्रेभ्य एव) । अमात्य । इहत्य । क्वत्य । ततस्त्य । तत्रत्य ॥ (त्यब्नेर्ध्रुव इति वाच्यम्) नित्य ॥ (निसो गते) ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ।८।३।१०१। ह्रस्वादिण सस्य षस्तादौ तद्धिते ।

तत्सिद्धि । राष्ट्रिय इति । राष्ट्रे जात , राष्ट्रे भव', इत्यादिरर्थो यथायोग बोध्यः । सप्तम्यन्तात् राष्ट्रशब्दात् घे, सुपो लुकि, 'आयनेयीनीयिय ' इति घस्य इयादेशे, भत्व, अलोपे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धि । अवारीण अवारे जातः 'अवारीण' इत्यत्र 'अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्' इति खे तत्स्थाने ईनादेशे कृते अलोपे नस्य णत्वे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धि । एव पारे जात 'पारीण ' इत्यत्रापि बोध्यम् । पारावारीण पारावारे जात 'पारावारीण ' इत्यत्र विपरीतत्वात्खे, तस्य ईनादेशे शेष पूर्ववत् । ह्रस्वात्तादौ । इण्कोरित्यत इण्ग्रहणमनुवर्तते । 'सहेः साड स '

राष्ट्रावार—राष्ट्र शब्दसे 'घ' और अवारपार शब्दसे 'ख' प्रत्यय हो, शेष (जातादि) अर्थोंमें । अवारपारा—'विगृहीत' और विपरीत अर्थात् अवार शब्दसे, पार शब्दसे और पारावार शब्दसे भी पूर्वोक्त 'ख' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये ।

ग्रामाद्यखञौ—ग्राम शब्दसे 'य' और 'खञ्' प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें ।

नद्यादिभ्यो—नद्यादिसे ढक् प्रत्यय हो, शेष (जातादि) अर्थोंमें ।

दक्षिणापश्चात्—दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् शब्दोंसे त्यक् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें ।

द्युप्रागपा—दिव् , प्राच् , अपाच् और उदच् शब्दोंसे यत् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें ।

अव्ययात्—अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें । अमेह—अमा, इह, क, तसि, त्र—इन अव्ययोंसे ही त्यप् प्रत्यय हो । त्यब्नेर्ध्रुव—'नि' रूप अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, ध्रुव अर्थमें । निसो गते—'निस्' रूप अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, गत अर्थमें ।

ह्रस्वात्तादौ—ह्रस्व इण्से पर सकारको षत्व हो, तकारादि तद्धित प्रत्ययके परे ।

निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्टयः-चाण्डालादिः ॥ (अरण्याण्णः) । आरण्याः सुमनसः । (दूरादेत्यः) दूरेत्यः ॥ (उत्तरादाहञ्) । औत्तराहः । ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् ।४।२।१०५। एभ्यस्त्यब्वा । पक्षे वक्ष्यमाणौ ट्युट्युलौ । ऐषमस्त्यम्, ऐषमस्तनम् । ह्यस्त्यम् , ह्यस्तनम् । श्वस्त्यम् , श्वस्तनम् । पक्षे शौवस्तिकं वक्ष्यते ॥ वृद्धाच्छः ।४।२।११४। शालीयः । त्यदादीनि च ।१।१।७४। वृद्धसंज्ञानि स्युः । तदीयः । (वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा) देवदत्तीयः, दैवदत्तः । भावत्कः ॥ सिति च

इत्यतः स इति पष्ठ्यन्तमनुवर्तते । अपदान्तस्य मूर्धन्यः इति च । तथाह—इत्यादिण इति निष्टय इति । त्यपि सस्य षत्वे तकारस्य ष्टुत्वेन टः । अरण्याण्ण इति । वक्तव्य इति शेषः । आरण्याः सुमनस इति । 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इत्यमरः । अरण्ये भवा इत्यर्थे णप्रत्यये टापि आरण्या इति इति रूपम् । अणि तु ङीप् स्यादिति भावः । दूरादेत्य इति । वक्तव्य इति शेषः । दूरेत्य इति । दूरादागतः, दूरे भव इति वार्थः । दूरादित्यव्ययात् एत्यप्रत्यये 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः । उत्तरादाहञिति । वाच्य इति शेषः । औत्तराह इति । उत्तरस्मादागतः उत्तरस्मिन् भव इति वार्थः । औत्तर इति त्वसाधुः । ऐषमोह्य । एभ्य इति । ऐषमस् , ह्यस् , श्वस् एतेभ्य इत्यर्थः । वक्ष्यमाणाविति । 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेनेति शेषः । ऐषमस्त्यमिति । ऐषमस् इत्यव्ययं वर्तमाने संवत्सरे वर्तते । तत्र भवमित्यर्थः । 'पक्षपरार्थैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति । इत्यमरः । ऐषमस्तनमिति । ट्युट्युलौ वा । टावितौ, य्वोरनादेशः, तस्य तुट् , ट इत् , उकार उच्चारणार्थः, टित्वादाद्यवयवः । ह्यस्त्यम् । ह्यस् इत्यव्ययं गतेऽह्नि । तत्र भवमित्यर्थः । श्वस्त्यम्-श्वस्तनमिति । श्वस् इत्यव्ययमनागतेऽह्नि । तत्र भवमित्यर्थः । 'ह्यो गतेऽनागतेऽह्नि श्वः' इत्यमरः । पक्ष इति । 'श्वसस्तुट् च' इति ठञि ठस्य इकादेशे तुडागमे 'द्वारादीनां च' इत्यैजागमे 'शौवस्तिकम्' इत्यपि वक्ष्यमाणं रूपमित्यर्थः । वृद्धाच्छः । 'वृद्धसंज्ञकात् छः स्यात् जातादिष्वर्थेषु । अणोऽपवादः । शालीय इति । शालायां जात इत्यादिरर्थः । एवं तदीयः । त्यदादीनि च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे-वृद्धसंज्ञानि स्युरिति । आदेरचो वृद्धिसंज्ञकत्वाभावादारम्भः । सिति च । सकारः इत् यस्य सः सित् ।

अरण्याण्णः—अरण्यसे 'ण' प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । दूरादेत्यः—दूर शब्दसे एत्य प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । उत्तराद्—उत्तर शब्दसे आहञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।

ऐषमोह्यः—ऐषमस् , ह्यस् और श्वस्से पर त्यप्प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें विकल्पसे ।

वृद्धाच्छः—'वृद्ध' से छ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । त्यदादीनि—त्यदादिको 'वृद्ध' संज्ञा हो । वा नाम—नामधेयकी वृद्धसंज्ञा हो विकल्पसे ।

नोटः—'भवतष्ठक्छसौ'—भवत् शब्दसे ठक् और छस् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । उदाहरण—'भावत्कः' ।

सिति च—सित् प्रत्ययके परे पूर्वको पदसंज्ञा हो ।

१।४।१६। तद्धिते पूर्वं पदं स्यात्। भरत्वम्। भवदीय। वृद्धादित्यनुवृत्तेरनन्तादणेव। भावत। **काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ** ।४।२।११६। इकार उच्चारणार्थः। काशिकी-काशिका। वैदिकी, वैदिका॥ **(आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात्)**। आपदादिराकृतिगणः। आपत्कालिकी। आपत्कालिका। **धन्वयोपधाद्वुञ्** ।४।२।१२१। धन्वविशेषवाचिनो यकारोपधाच्च देशवाचिनो वृद्धाद् वुञ् स्यात्। ऐरावतं धन्व-ऐरावतकः। सांकाश्यकाम्पिल्यशब्दौ वुञ्छणादिसूत्रेण ण्यान्तौ। सांकाश्यकः। काम्पिल्यकः॥ **नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः** ।४।२।१२८। कुत्सने प्रावीण्ये च नगरशब्दाद्वुञ् स्यात्। नागरकश्चौरः, शिल्पी वा। 'कुत्सन-' इति किम्? नागरा ब्राह्मणाः॥ **अरण्यान्मनुष्ये** ।४।२।१२९। वुञ् स्यात्। औपसंख्यानिकणस्यापवादः। **(पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम्)**। आरण्यकः पन्थाः, अध्यायः, न्यायः, विहारः, मनुष्यः, हस्ती वा॥ **गर्तोत्तरपदाच्छः** ।४।२।१२७। देश इत्येव।

तस्मिन् परे पूर्वं पदं स्यादित्यर्थः। काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ। ठञ् ञिठ इति प्रत्ययौ स्तः। ञिठप्रत्यये ञि इति 'समुदायस्य आदिर्ञिटुडवः' इति इत्संज्ञायां प्रयोजनाभावात् ञकार एव इत् तस्य ञित्स्वरः प्रयोजनम्। ठञ एव विधौ तु ङीप् स्यात्। टाप् न स्यात्। नन्वेव सति इठप्रत्यये ठस्य इकादेशो न स्यात्। अत्राह परत्वाभावादित्यत आह—इकार उच्चारणार्थ इति। काशिकीति। काश्यां जातादिरित्यर्थः। ठञन्तान्ङीप्। काशिकेति। ञिठप्रत्यये इकादेशे टाप्। वैदिकी-वैदिकेति। वेदिर्देशविशेषः। आपदादिपूर्वपदात्कालान्तादिति। गणसूत्रम्। ठञ्ञिठावित्येव। आपदादिरिति। आपद् आदिर्यस्य इति विग्रहः। आपत्कालिकी। आपत्कालिकेति। ठञि ङीप्, ञिठे टाप्। धन्वयोपधाद्वुञ्। ऐरावतं धन्वेति। ऐरावताख्यं धन्वेत्यर्थः। धन्व मरुप्रदेशः। 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। ऐरावतक इति। ऐरावताख्ये मरुप्रदेशे भव इत्यर्थः। वुञ्, अकादेशः। साङ्काश्यक-, काम्पिल्यक इति। साङ्काश्ये काम्पिल्ये च भव इत्यर्थः। नगरात्कुत्सन। नागरा ब्राह्मणा इति। अन्यादिषु प्राविण्यतोऽसाद्गुण्येन सञ्ज्ञाभूतस्यैव नगरशब्दस्य ग्रहणम्। अतोऽत्र [illegible]। गर्तोत्तरपदाच्छ। देशे इति। शेषपूरणम्। देशवाचि

काश्यादिभ्यः—काश्यादिसे ठञ् और ञिठ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें। आपदादि—आपदादि पूर्वपदक कालान्त सुबन्तसे ठञ् और ञिठ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें।

धन्वयोपधा—धन्व-विशेषवाची और यकारोपध देशवाची वृद्धसे वुञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें। नगरात्—नगर शब्दसे वुञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें—कुत्सन और प्रावीण्य यदि गम्यमान रहे। अरण्यात्—अरण्य शब्दसे वुञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें।

पथ्यध्याय—पन्था, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य और हस्ती अर्थ गम्यमान रहने पर ही अरण्य शब्दसे वुञ् प्रत्यय हो। गर्तोत्तर—गर्तोत्तरपदक देशवाची वृद्धसे छ

वृकगर्तीयम्। **गहादिभ्यश्च** ।४।२।१३८। गहीयः॥ **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** ।४।३।१। चाच्छः। पक्षेऽण्। युवयोर्युष्माकं वाऽयं-युष्मदीयः। अस्मदीयः॥ **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** ।४।३।२। युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च। यौष्माकीणः, आस्माकीनः। यौष्माकः, आस्माकः॥ **तवकममकावेकवचने** ।४।३।३। एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च। तावकीनः, तावकः। मामकीनः, मामकः। छे तु—। **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** ।७।२।९८। मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च। त्वदीयः। मदीयः। त्वत्पुत्रः। **मध्यान्मः** ।४।३।८। मध्यमः॥ **अ सांप्रतिके** ।४।३।९। मध्यशब्दादप्रत्ययः सांप्रतिकेऽर्थे। उत्कर्षापकर्षहीनः 'मध्यः' वैयाकरणः।

न इति यावत्। वृकगर्तीयमिति। वृकगर्तो नाम देशः। तत्र भव इत्यर्थः। तावकीनः। तव अयं 'तावकीनः' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्' इति खञि, सुपो लुकि, 'तवकममकावेकवचने' इति युष्मद्-स्थाने तवकादेशे खस्य ईनादेशे भत्वे अलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते 'तावकीनः' इति। अणूपक्षे 'तवकममकावेकवचने' इति युष्मदस्तवकादेशे भत्वे अलोपे वृद्धौ संयोगे विभक्तिकार्ये च 'तावकः'। इति सिद्धम्। मामकीनः। 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्' इति खञि, 'तवकममकावेकवचने' इति अस्मदो ममकादेशे खस्य ईनादेशे भत्वे अलोपे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः। पक्षे अणि ममकादेशे च 'मामकः' इति। छे त्विति। एकार्थवृत्त्योर्विशेषो वक्तव्य इति शेषः। त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः। तव पुत्रः त्वत्पुत्रः, मम पुत्रः मत्पुत्रः इति षष्ठीतत्पुरुषसमासे कृते सुपो लुकि, अत्र 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वादेशे मादेशे च 'त्व अद् पुत्र' इति 'म अद् पुत्र' इति च जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'खरि च' इति दस्य तकारे 'त्वत्पुत्रः' 'मत्पुत्रः' इति द्वे स्तः। अ सांप्रतिके। अ -इति लुप्तप्रथमाकम्। मध्यादित्यनुवर्तते। तदाह-मध्यशब्दादित्यादि। संप्रतीत्यव्ययम्। उत्कर्षापकर्षहीनत्वात्मकसाम्ये वर्तते। तैत्तिरीये 'अनाप्तश्चतूरात्रोऽतिरिक्तः। षड्रात्रोऽथवा एष संप्रति यज्ञो यत्प-

---

प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें। गहादिभ्यः—यथासंभव देशवाची गहादिसे छ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें युष्मदस्मदो—युष्मद्-अस्मद् शब्दोंसे खञ् और 'छ' प्रत्यय हो, विकल्पसे। (विकल्प पक्षमें अण् होगा)

तस्मिन्नणि—खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्ययके परे युष्मद्-अस्मद् शब्दको 'युष्माक' और 'अस्माक' आदेश हों। तवक—एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दको 'तवक' 'ममक' आदेश हों खञ् और अण् प्रत्ययके परे। प्रत्ययोत्तर—प्रत्ययके परे और उत्तर पदके परे एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्व' 'म' आदेश हों। मध्यान्म—मध्य शब्दसे 'म' प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें। अ सां—मध्य शब्दसे 'अ' प्रत्यय हो, साम्प्रतिक

मध्यं दारु नातिह्रस्वं नातिदीर्घमित्यर्थः ॥ **द्वीपादनुसमुद्रं यञ्** ।४।३।१०। समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद् द्वीपशब्दाद्यञ् स्यात् । द्वैप्यम्, द्वैप्या ॥ **कालाट्ठञ्** ।४।३।११। मासिकम् । सांवत्सरिकम् । (**अव्ययानां भमात्रे टिलोपः**) सायंप्रातिक । पौनःपुनिक । कथं तर्हि 'शार्वरस्य तमसो' निषिद्धये' इति कालिदासः, 'अनुदितौषसरागा' इति भारविः, समानकालीनं प्राक्कालीनमित्यादि च ? 'अपभ्रंशा एवैते' इति प्रामाणिकाः । 'तत्र जातः' इति यावत्कालाधिकारः ॥ **श्राद्धे शरदः** ।४।३।१२। ठञ् स्यात् । ऋत्वणोऽपवादः । शरदि भवं शारदिकं श्राद्धम् ॥ **विभाषा रोगातपयोः** ।४।३।१३। शारदिकः शारदो वा रोग आतपो वा ॥ **निशाप्रदोषाभ्यां च** ।४।३।१४। ठञ् वा । नैशिकम्, नैशम् । प्रादोषिकम्, प्रादोषम् ॥ **श्वसस्तुट् च** ।४।३।१५। श्वसष्ठञ् वा तुट् च ॥ **द्वारादीनां च** ।७।३।४। एषां न वृद्धिरैजागमश्च । शौवस्तिकम् ॥ **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्यो-**

ऽर्थान्तरम् । इत्यत्र तथा दर्शनात् । संप्रतिशब्दात् स्वार्थे विनयादित्वाट्ठञि सांप्रतिकम् । द्वीपादनु । अनुसमुद्रमिति । सामीप्ये अव्ययीभावः । अनुसमुद्रमिति सप्तम्यन्तम्, विभक्त्यन्तरस्याध्याहार्यत्वम् । तदाह—समुद्रस्य समीपे इति । द्वैप्येति । 'यञश्च' इति ङीप् तु न,—अनपत्याधिकारस्थत्वात् नेति तद्विधेयत्वात् । श्राद्धे शरदः । ठञ् स्यादिति । शेषपूरणमिदम् । ननु 'कालाट्ठञ्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह । ऋत्वण इति । 'संधिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' इति वक्ष्यमाणस्येत्यर्थः । विभाषा रोगातपयोः । ठञिति शरद इति चानुवर्तते । निशाप्रदोषाभ्यां च । ठञ् वा । शेषपूरणम् । 'कालाट्ठञ्' इति नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम् । श्वसस्तुट् च । तुटि टकार इत् । उकार उच्चारणार्थः । द्वारादीनां च । 'न य्वाभ्याम्' इति सूत्रं पदान्ताभ्यामिति चांशमनुवर्तते, 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति च । तदाह—एषां न वृद्धिरैजागमश्चेति । द्वारादीनां नादिवृद्धिः,

---

(जातादि) अर्थमें । द्वीपादनु—समुद्रके समीपस्थ द्वीपवाचक द्वीप शब्दसे 'यञ्' प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । कालाट्ठञ्—कालवाचकसे ठञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।

अव्ययानां—भसंज्ञक अव्ययकी 'टि' का लोप हो । श्राद्धे शरदः—श्राद्ध अर्थ अभिधेय हो तो—कालवाची शरद् शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । विभाषा—रोग तथा आतप अर्थ अभिधेय हो तो—कालवाची शरद् शब्दसे ठञ् प्रत्यय विकल्पसे हो, जातादि अर्थमें । निशाप्रदोषाभ्यां—कालवाची निशा और प्रदोष शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें, विकल्पसे । श्वसस्तुट्—कालवाची श्वस् शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, विकल्पसे और उस ठञ्को तुट्का आगम भी हो । द्वारादीनां—द्वारादिको आदिवृद्धि नहीं हो किन्तु यकार-वकारके पूर्व ऐच्का आगम हो । सन्धिवेला—कालवाची सन्धिवेलादिसे तथा ऋतु और

ऽण् ।४।३।१६। सन्धिवेलायां भवं—सान्धिवेलम् । ग्रैष्मम् । तैषम् । सन्धिवेला । सन्ध्या । अमावास्या । त्रयोदशी । चतुर्दशी । पौर्णमासी । प्रतिपत् ॥ **प्रावृष एण्यः ।४।३।१७।** प्रावृषेण्यः ॥ **वर्षाभ्यष्ठक् ।४।३।१८।** वर्षासु साधु वार्षिकं वासः ॥ **सर्वत्राण् च तलोपश्च ।४।३।२२।** हेमन्तादण् तलोपश्च वेदलोकयोः । चकारात्पक्षे ऋत्वण् । हेमन्ते भवं हैमन्तं वसनम् ॥ **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ।४।३।२३।** सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तः, तयोस्तुट् च । सायं भवं सायंतनम् । चिरंतनम् । प्राह्णेप्रगयोरेदन्तत्वं

किन्तु यकारवकाराभ्यां पूर्वौ ऐजागमौ स्तः इत्यर्थः । अत्र यकारवकारयोः पदान्तत्वाद् 'न य्वाभ्याम्' इत्यप्राप्ते वचनमिदम् । शौवस्तिकमिति । श्वस् इत्यव्ययात् जातार्थे ठञि इकादेशे तुडागमे वकारात्पूर्वमैजागमेन औकारः । अकारस्य च वृद्धिः । सन्धिवेला । ठञोऽपवादः । तैषमिति । तिष्ये भवादीत्यर्थः । 'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि' इति यलोपः । तिष्ये जातः इत्यर्थे 'श्रविष्ठाफल्गुनी' इति लुगपवादः । सन्धिवेलादिगणं पठति । संधिवेलेत्यादि । प्रावृषेण्य इति । प्रावृट् वर्षर्तुः । तत्र भवादिरित्यर्थः । आद्ये तु ठण् उपपद्यते । आद्यद्भिपालाजवार्थं णकारोच्चारणम् । वर्षाभ्यष्ठक् । तृतीयान्तो वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः, 'अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वम्' इति लिङ्गानुशासनसूत्रात् । 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः' इत्यमरः । वर्षाशब्दात्सप्तम्यर्थे ठगित्यर्थः । वर्षासु साध्विति । हितकारीत्यर्थः । सर्वत्राण् च ।–छन्दसोऽनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सर्वत्र ग्रहणम् । लोके वेदे चेत्यर्थः । 'हेमन्ताच्च' इति पूर्वसूत्रात् हेमन्तादित्यनुवर्तते । तदाह—हेमन्तादित्यादिना । ननु । 'सर्वत्राण् तलोपश्च' इत्येव सिद्धे प्रथमचकारो व्यर्थ इत्यत आह—चकारादिति । 'हेमन्त' इत्यत्र तकारात् प्राक् नकारस्यानुस्वारपरसवर्णौ स्थितौ । तत्र तकाराकारसमुदायस्य लोप इति पक्षे भवतीति प्रकृतिभावाद् टिलोपः । तकारस्यैव लोप इति पक्षे तु अकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे तस्य आभीयत्वेनासिद्धत्वात् स्थानिवत्त्वाद्वा न टिलोपः । हैमन्तमिति । ऋत्वणि रूपम् । अत्र न

नक्षत्र वाचकसे अण् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।

प्रावृष—कालवृत्ति प्रावृट् शब्दसे एण्य प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । वर्षाभ्यः—कालवृत्ति वर्षाशब्दसे ठक् प्रत्यय हो, शेष अर्थमें ।

सर्वत्राण्—हेमन्त शब्दसे अण् प्रत्यय और तकारका लोप हो, सर्वत्र (लोक और वेदमें) । चकारात् केवल अण् भी हो अर्थात् पक्षमें तलोप नहीं हो । सायं चिरं—सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे और कालवाची अव्ययोंसे ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हो तथा तुट्का आगम भी हो ।

निपात्यते । प्राह्णेतनम् । प्रगेतनम् । दोषातनम् । दिवातनम् । ('चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः') । चिरत्नम् । परुत्नम् । परारित्नम् । ('अग्रादिपश्चाड्डिमच्') । अग्रिमम् । आदिमम् । पश्चिमम् । (अन्ताच्च) । अन्तिमम् ॥ **विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्** ।४।३।२४। आभ्यां ट्युट्युलौ वा स्तः, तयोस्तुट् च । पक्षे ठञ् । पूर्वाह्णेतनम्, पौर्वाह्णिकम् । अपराह्णेतनम्, आपराह्णिकम् ॥ **तत्र जातः** ।४।३।२५। सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः । अवारपारीण इत्यादि ॥ **प्रावृषष्ठप्** ।४।३।२६। एण्यस्यापवादः । प्रावृषिकः ॥ **प्रायभवः** ।४।३।३९। तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति—स्रौघ्नः ॥ **संभूते** ।४।३।४१। स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः ॥ **कोशाड्ढञ्**

तल्लोपः, तस्य पुनस्सूत्रप्रतिपदोक्तानां सन्नियोगशिष्टत्वादिति भावः । चिरपरुत्परारिभ्य इति । चिर, परुत्, परारि, एभ्यः त्नप्रत्यय इत्यर्थः । चिरत्नमिति । ट्युट्युलोरेव प्राप्तयोर्बाधनम् । त्नप्रत्ययपक्षे तुडागमो न भवति । ट्युट्युल्भ्यां तुटस्य सन्नियोगशिष्टत्वात् । परुदिति परारीति चाव्यये पूर्वस्मिन् पूर्वतरे च वत्सरे क्रमाद्वर्तेते । अग्रादीति । वार्तिकमिदम् । अग्र आदि पश्चात् एभ्यः डिमच् स्यादित्यर्थः । पश्चिममिति । 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः । अन्ताच्च । इदमपि वार्तिकम् । विभाषा पूर्वाह्ण । पक्षे ठञिति । तथा सति न तुट्, तस्य ट्युट्युल्भ्यां संनियोगशिष्टत्वादिति भावः । तदेवं 'राष्ट्रावार' इत्यारभ्य एतदन्तैः सूत्रैः राष्ट्रादिप्रकृतिविशेषेभ्यः घादयः प्रत्ययविशेषाः अनुक्रान्ताः । अथ तेषां प्रत्ययानामर्थविशेषान् प्रकृतीनां च विभक्तिविशेषान् दर्शयितुमुपक्रमते—तत्र जात इति । राष्ट्रिय । अत्र 'तत्र जात' इति सूत्रोक्तार्थे 'राष्ट्रावारपाराद्घखौ' इति घे 'आयनेयीनीयियः फढखछघाम्' इति घस्य इयादेशे सुपो लुकि, भत्वे अल्लोपे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । अवारपारीण । अवारपारे जात 'अवारपारीण' इत्यत्र 'तत्र जात' इति सूत्रोक्तार्थे 'राष्ट्रावारपाराद्घखौ' इति खे 'आयनेयीनीयियः' इति खस्य ईनादेशे सुपो लुकि भत्वे अल्लोपे

चिरपरुत्—चिरादिसे 'त्न' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये । अग्रादि—अग्रादि और पश्चसे डिमच् प्रत्यय हो । अन्ताच्च—अन्तसे डिमच् प्रत्यय हो, शेष अर्थमें ।

विभाषा—पूर्वाह्ण और अपराह्ण शब्दोंसे ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हो, तथा तुट्का आगम भी हो, विकल्पसे । तत्र जात—तत्र (सप्तम्यन्त समर्थसे) जात अर्थमें अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हो । प्रावृष—प्रावृष् शब्दसे ठप् प्रत्यय हो, जात अर्थमें ।

प्रायभव—प्रायभव अर्थमें सप्तम्यन्तसे यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हो ।

सम्भूते—संभूत अर्थमें सप्तम्यन्तसे अणादि और घादि प्रत्यय हो । कोशा—सप्तम्यन्त

।४।३।४२। कौशेयं वस्त्रम् ॥ तत्र भवः ।४।३।५३। स्रुघ्ने भवः—स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः॥ दिगादिभ्यो यत् ।४।३।५४। दिश्यम्। वर्ग्यम् ॥ शरीरावयवाच्च ।४।३।५५। दन्त्यम्। कण्ठ्यम् ॥ दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ।४।३।५६। दार्तेयम्। कलशिर्घटः, तत्र भवं कालशेयम्। वास्तेयम् ॥ ग्रीवाभ्योऽण् च ।४।३।५७। चात् ढञ्। ग्रैवेयम्, ग्रैवम्॥ गम्भीराञ्ञ्यः ।४।३।५८। गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम् ॥ अव्ययीभावाच्च ।४।३।५९। परिमुखे भवं पारिमुख्यम्॥ (परिमुखादिभ्य एवेष्यते) नेह, औपकूलः ॥ अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् ।४।३।६०। अव्ययीभावादित्येव। वेश्मनि इति अन्तर्वेश्मम्, तत्र भवम् आन्तर्वेश्मिकम्। आन्तर्गणिकम् (अध्यात्मादेष्ठञिष्यते)। अध्यात्मं भवम्-आध्यात्मि-

विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः। दृतिकुक्षि। भव इत्यर्थे इति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति, अहि एतेभ्यः। सप्तम्यन्तेभ्य इति शेषः। दार्तेयमिति। दृतौ भवमित्यर्थः। ढञ् एयः आदिवृद्धिः रपरत्वम्। दृतिश्चर्मभस्त्रिका। ग्रीवाभ्योऽण् च। 'शरीरावयवाच्च' इति यतोऽपवादः। ग्रीवाशब्दोऽयं धमनीसंघे वर्तते। तत्र तद्भूतावयवभेदसंघविवक्षायां बहुवचनान्तात्प्रत्यय इति सूचयितुं बहुवचनम्। तिरोहितावयवभेदविवक्षायां तु एकवचनान्तादप्यण्ढञौ स्त एव। गम्भीराञ्ञ्यः। गाम्भीर्यमिति। यञ्विधौ तु स्त्रियां 'प्राचां ष्फ तद्धितः' इति ष्फः स्यात्। अव्ययीभावाच्च। ञ्य इति शेषः। परिमुखादिभ्य इति। यद्यपीदं वार्तिकं भाष्ये न दृष्टं तथापि दिगादिगणपाठानन्तरं परिमुखादिगणपाठसामर्थ्यादिहाव्ययीभावपदं परिमुखादिपरमिति गम्यते। न ह्यन्यथायां परिमुखादिगणस्य कार्यान्तरमस्ति, औपकूल इति। उपकूलं भव इत्यर्थः। अव्ययीभावत्वेऽपि परिमुखाद्यनन्तर्भावात् न ञ्यः। अन्तःपूर्वपदाट्ठञ्। वेश्मनीत्यन्तर्वेश्ममिति। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। 'अनश्च' इति टच्। आन्तर्वेश्मिकमिति। ठञ् इक्, सुब्लुक्, टिलोपः, आदिवृद्धिः। आन्तर्गणिकमिति। गणे इत्यन्तर्गणम्। तत्र

कोश शब्दसे संभूत (संभव) अर्थमें ढञ् प्रत्यय हो। तत्र भवः—सप्तम्यन्तसे भवार्थमें अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों। दिगादि—दिगादि सप्तम्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, भवार्थमें। शरीरा—शरीरावयववाची सप्तम्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, भवार्थमें।

दृतिकुक्षि—सप्तम्यन्त दृति, कुक्षि आदि शब्दोंसे ढञ् प्रत्यय हो, भवार्थमें।

ग्रीवा—सप्तम्यन्त ग्रीवा शब्दसे अण् प्रत्यय हो, भवार्थमें। गम्भीरा—सप्तम्यन्त गम्भीर शब्दसे ञ्य प्रत्यय हो, भवार्थमें। अव्ययी—अव्ययीभावसंज्ञक सप्तम्यन्तसे ञ्य प्रत्यय हो, भव अर्थमें। परिमुखा—अव्ययीभावसंज्ञक परिमुखादि सप्तम्यन्तसे ही ञ्य प्रत्यय हो—ऐसा समझना चाहिये। अन्तः पूर्व—अन्तःपूर्वपदक अव्ययीभावसे ठञ् प्रत्यय हो, 'तत्र भवः' इसके विषयमें। अध्यात्मादेः—अध्यात्मादिसे ठञ् प्रत्यय हो, 'तत्र भवः'

कम् ॥ **अनुशतिकादीनां च ।७।३।२०।** एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् ॥ **जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ।४।३।६२।** जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् ॥ **वर्गान्ताच्च ।४।३।६३।** कवर्गीयम् ॥ **तत आगतः ।४।३।७४।** स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः । **ठगायस्थानेभ्यः ।४।३।७५।** शौल्कशालिकः ॥ **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ।४।३।७७।** औपाध्यायकः । पैतामहकः ॥ **ऋतष्ठञ् ।४।३।७८।** वुञोऽपवादः । हौतृकम् । मातृकम् । भ्रातृकम् ॥ **पितुर्यच्च ।४।३।७९।** चाट्ठञ् । रीङृत इति लोपः । पित्र्यम्, पैतृकम् ॥ **गोत्रादङ्कवत् ।४।३।८०।** विदेभ्य आगतं—वैदम् । गार्गम् । दाक्षम् । औपगवकम् ॥ **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ।४।३।८१।** समादागतं—समरूप्यम् । पक्षे—गहादित्वाच्छः । समीयम् । देवदत्तीयम् । देवदत्त-

---

भवमित्यर्थः । आध्यात्मिकमिति । आत्मनीत्यध्यात्मम् । तत्र भवमित्यर्थः । ऋतष्ठञ् । ऋदन्ताद्विद्यायोनिसम्बन्धवाचिन इत्यर्थः । 'तत आगत' इत्येव । हौतृकम्, भ्रातृकमिति । इकः परत्वात् ठस्य कः । पितुर्यच्च । यति प्रक्रियां दर्शयति—रीङृत इति । गोत्रादङ्कवत् । अङ्के ये प्रत्ययाः ते 'तत आगत' इत्यर्थेऽपि भवन्तीत्यर्थः । विदेभ्य आगतमिति । विग्रहप्रदर्शनम् । अत्र 'यञञोश्च' इति बहुत्वे अञो लुकि विदेभ्य इति निर्देशः । वैदमिति । 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' इत्युक्तेरङ्कादिष्वर्थे अपि विवक्षिते 'गोत्रेऽलुगचि' इत्यजादौ लुगनिवृत्तौ वैदशब्दादण् । 'इञश्च' इति इञ्लक्षणस्य ठञोऽपवादः । गार्गमिति । यञन्तादण् । दाक्षमिति । इञन्तादण् । औपगवकमिति । उपगोरपत्यमौपगवः । तस्मादागतमित्यर्थः । 'गोत्रचरणाद् वुञ्' इति वुञ् । यद्यपि तस्येदमित्यर्थे अयं वुञ् विहितः तथाप्यङ्कमिनन्तादङ्केऽपि स इष्ट इति तस्याप्यत्रार्थे अतिदेशो भवति । न हि 'सङ्घाङ्क' इति प्रतिपदोक्तस्याण एवात्राति

इसके विषयमें । अनुशति—अनुशतिकादिके उभय पदको वृद्धि हो, ञित्–णित् और कित्के परे । जिह्वा—सप्तम्यन्त जिह्वामूल और अङ्गुलि शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, भव अर्थमें । वर्गान्ता—सप्तम्यन्त वर्गान्त शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, भव अर्थमें ।

तत आगत—पञ्चम्यन्तसे आगत अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों ।

ठगाय—आयस्थान (चुंगी-चौकी) वाची पञ्चम्यन्तसे ठक् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें ।

विद्यायोनि—विद्या और योनि सम्बन्धवाची पञ्चम्यन्तसे वुञ् प्रत्यय हो आगत अर्थमें ।

ऋतष्ठञ्—विद्या-योनिसम्बन्धवाची पञ्चम्यन्त ऋदन्तसे ठञ् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें ।

पितुर्यच्च—पञ्चम्यन्त पितृ शब्दसे यत् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें । गोत्रा—अपत्य प्रत्ययान्त पञ्चम्यन्तसे अङ्कवत् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें । हेतुमनु—हेतु और मनुष्य वाचकसे

रूप्यम् ॥ **मयट् च** ।४।३।८२। सममयम् ॥ **प्रभवति** ।४।३।८३। हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा ॥ **विदूराञ्ञ्यः** ।४।३।८४। विदूरात्प्रभवति—वैदूर्यो मणिः ॥ **तद्गच्छति पथिदूतयोः** ।४।३।८५। स्रुघ्नं गच्छति—स्रौघ्नः पन्था दूतो वा ॥ **अभिनिष्क्रामति द्वारम्** ।४।३।८६। स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति—स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ॥ **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** ।४।३।८७। शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—शारीरकीयः । 'शारीरकं भाष्यम्' इति त्वभेदोपचारात् ॥ **सोऽस्य निवासः** ।४।३।८९। स्रुघ्नो निवासोऽस्य—स्रौघ्नः । **तेन प्रोक्तम्** ।४।३।१०१। पाणिनिना प्रोक्तं—पाणिनीयम् ॥ **पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः** ।४।३।११०। णिनिः स्यात् । पारा-

---

देशः । किन्तु अण्डे दृष्टस्य सर्वस्यापि, ठ्याद्यपवादादिति भावः । 'हैमवती गङ्गा । अत्र 'प्रभवति' इत्यणि, सुपो लुकि, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्याद्यचो वृद्धौ संयोगे हैमवत इति जाते 'टिड्ढाणञ्' इति ङीपि, हलपयोर्लोपे भत्वे अल्लोपे संयोगे विसर्गकार्ये च कृते 'हैमवती गङ्गा' इति सिद्धम् । पाराशर्य णिनिः स्यादिति । तत्कविषये इति शेषः । मण्डूकप्लुत्या णिनिरेवानुवर्तते इति भावः । पाराशर्येण प्रोक्तं

रूप्य प्रत्यय हो, आगत अर्थमें, विकल्पसे । **मयट्**—हेतुवाचक और मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्तसे मयट् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें । **प्रभवति**—'प्रभवति' अर्थमें पञ्चम्यन्तसे यथाविहित अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों ।

विदूरा—पञ्चम्यन्त विदूर शब्दसे ञ्य प्रत्यय हो, 'प्रभवति' अर्थमें ।

नोटः—'वैदूर्यः' अत्र भाष्यम्–'बालवायो विदूरञ्च प्रकृत्यन्तरमेव वा । न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत् ॥' बालवाय शब्दसे 'ञ्य' प्रत्यय हो और बालवायको विदूरादेश हो । अथवा नगरवाची विदूर शब्दकी तरह पर्वतवाची प्रकृत्यन्तर भी विदूर-शब्द है; उससे ही ञ्य प्रत्यय हो । 'न वै तत्रेति चेद्' अगर पर्वतवाची नहीं है ऐसा कहें तो 'जित्वरीवद्' अर्थात् वैश्यसमाजमें वाराणसीका नाम जैसे 'जित्वरी' शब्दसे व्यवहृत होता है, वैसे वैयाकरणोंके समाजमें विदूर शब्दका पर्वतमें व्यवहार किया जाता है—ऐसा समझना चाहिये ।

तद्गच्छति—द्वितीयान्तसे गच्छति अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों, जो जाता है, वह यदि मार्ग या दूत हो तो । **अभिनिष्क्रा**—द्वितीयान्तसे अभि-निष्क्रामति अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हो, जो अभिनिष्क्रामति (उस ओर निकलता है), वह यदि द्वार हो तो ।

अधिकृत्य—द्वितीयान्तसे 'अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हो । **सोऽस्य**—प्रथमान्तसे 'अस्य निवासः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हो । **तेन प्रोक्तम्**—तृतीयान्तसे प्रोक्त अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों । **पाराशर्य**—तृतीयान्तसे पराशरवंशी 'प्रोक्तं भिक्षुसूत्रम्' इस अर्थमें, तथा तृतीयान्त

शर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते-पाराशरिणो भिक्षवः । शैलालिनो नटाः । कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः ।४।३।१११। कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते—कर्मन्दिनो भिक्षवः । कृशाश्विनो नटाः । उपज्ञाते ।४।३।११५। पाणिनिना उपज्ञातं-पाणिनीयम् ॥ तस्येदम् ।४।३।१२०। उपगोरिदम्-औपगवम् ॥ (समिधामाधाने षेण्यण्) सामिधेन्यो मन्त्रः ॥ रथाद्यत् ।४।३।१२१ रथ्यं चक्रम् ॥ पत्रपूर्वादञ् ।४।३।१२२। अश्वरथस्येदम्-आश्वरथम् ॥ हलसीराट्ठक् ।४।३।१२४। हालिकम् । सैरिकम् ॥ गोत्रचरणाद्वुञ् ।४।३।१२६। औपगवकम् ॥ (चरणाद्धर्माम्नाययोरिति वक्तव्यम्) काठकम् ॥ सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् ।४।३।१२७। (घोषग्रहणमपि कर्तव्यम्) । अञ् ,-बैदः संघोऽङ्को घोषो वा । बैदं लक्षणम् । यञ् ,-गार्गः, गार्गम् । इञ् —दाक्षिः, दाक्षम् । परम्परासंबन्धोऽङ्कः । साक्षात् लक्षणम् ॥ इति शैषिकप्रकरणम् ।

भिक्षुसूत्रमित्यर्थे, शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमित्यर्थे च तृतीयान्ताभ्यामिनिः स्यादिति यावत् । भिक्षवः सन्यासिनः, तदधिकारिकं सूत्रं भिक्षुसूत्रं व्यासप्रणीतं प्रसिद्धम् । पाराशर्येति । पराशरशब्दाद् गर्गादित्वात् गोत्रे यञि पाराशर्यः-व्यासः । इह तस्य स्तराशब्दे गोत्रत्वारोपात् । तेन प्रोक्ते भिक्षुसूत्रे णिनि, ततोऽध्येतृप्रत्ययस्य लुक् ।

इति शैषिकाः ।

शिलालीसे 'प्रोक्त नटसूत्रम्' इस अर्थमें णिनि प्रत्यय हो । कर्मन्द—तृतीयान्त कर्मन्दसे 'प्रोक्त भिक्षुसूत्रम्' अर्थमें और तृतीयान्त कृशाश्वसे 'प्रोक्त नटसूत्रम्' अर्थमें इनि प्रत्यय हो ।

उपज्ञाते—तृतीयान्तसे उपज्ञात (बिना उपदेशेन ज्ञात) अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों । तस्येदम्—षष्ठ्यन्तसे 'इदम्' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों । समिधा—षष्ठ्यन्त समित् शब्दसे आधान अर्थमें षेण्यण् प्रत्यय हो ।

रथाद्यत्—षष्ठ्यन्त रथ शब्दसे 'इदम्' अर्थमें यत् प्रत्यय हो । पत्रपूर्वा—पत्र (वाहन) पूर्वक षष्ठ्यन्त रथ शब्दसे 'इदम्' अर्थमें अञ् प्रत्यय हो । हलसीरा—षष्ठ्यन्त हल और सीरसे 'इदम्' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । गोत्रचरणा—गोत्र प्रत्ययान्त और चरण (शाखाध्येतृ) वाचक षष्ठ्यन्तसे 'इदम्' अर्थमें वुञ् प्रत्यय हो । चरणात्—चरण (शाखाध्येतृ) वाचकसे जो पूर्वोक्त वुञ् कहा गया है, वह धर्म और आम्नाय (वेदाभ्यास) में ही हो । संघाङ्क, घोषग्रहणमपि—अञन्त, और यञन्त और इञन्त षष्ठ्यन्तसे 'इदम्' अर्थमें अण् प्रत्यय हो, संघादि यदि इदन्तेन विवक्षित रहें तो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें शैषिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्

तस्य विकारः ।४।३।१३४। (अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः) । अश्मनो विकारः—आश्मः । भाश्मनः । मार्तिकः ॥ **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।४।३।१३५।** चाद्विकारे । मयूरस्य विकारोऽवयवो वा—मायूरः । मौर्वम् काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ॥ **त्रपुजतुनोः षुक् ।४।३।१३८।** आभ्यामण् एतयोः षुक् च । त्रापुषम् । जातुषम् ॥ **ओरञ् ।४।३।१३९।** दैवदारवम् ॥ **अनुदात्तादेश्च ।४।३।१४०।** अञ् । कापित्थम् । दाधित्थम् ॥ **पलाशादिभ्यो वा**

तस्य विकारः । विक्रियते इति विकारः, कर्मणि घञ् । प्रकृतेरवस्थान्तरात्मिका विक्रिया, तस्यामित्यर्थः । तस्येति षष्ठ्यन्तात् विकारेऽर्थे अणादयः साधारणा वक्ष्यमाणाश्च वैशेषिका यथाविहितं स्युरित्यर्थः । अश्मनो विकार इति । विकारार्थकप्रत्यये परे अश्मन् शब्दस्य टिलोपो वक्तव्य इत्यर्थः । 'अन्' इति प्रकृतिभावापवादः । आश्मः । अश्मनो विकारः—आश्मः, इत्यत्र 'तस्य विकारः' इत्यणि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे प्राप्ते 'अन्' इति टिलोपाभावे 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' इति वार्त्तिकेन टिलोपे संयोगे 'तद्धितेष्वचामादेः' इति वृद्धौ विभक्तिकार्ये च कृते 'आश्मः' इति सिद्धम् । त्रपुजतुनोः षुक् । त्रापुषम् । जातुषम् । त्रपुणो जतुनश्च विकार इत्यर्थः । ओरञ् । उवर्णान्तादञ् स्यादित्यर्थः । प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः अवयवे विकारे च, इतरेभ्यस्तु विकारे । दैवदारवम् । देवदारोः अवयवो विकारो वेत्यर्थः । अनुदात्तादेश्च । विकारे अञिति शेषः, 'अवयवे च' इति सूत्रमप्यत्र संबध्यते । कापित्थम् । कपित्थस्यावयवो विकारो वेत्यर्थः । कपित्थे तु दधित्थग्राहिमन्मथा' इत्यमरः । पलाशादिभ्यो वा । अञिति शेषः । अवयवे चेत्येव । शम्याः ष्लञ् । शमी शब्दो गौरादिङीषन्तः । तस्मात्षष्ठ्यन्तादवयवे विकारे ष्लञ् स्यादित्यर्थः । षकार-

---

तस्य विकारः—षष्ठ्यन्तसे विकार अर्थमें अणादि प्रत्यय हो । अश्मनो—अश्मन् शब्दकी 'टि' का लोप हो, विकारार्थक प्रत्ययके परे । अवयवे—प्राणी, ओषधि और वृक्षवाचीसे अवयव और विकार अर्थमें तथा इनसे अतिरिक्त अर्थवाचीसे केवल विकार अर्थमें अणादि प्रत्यय हो । (यह अधिकार सूत्र है) ।

त्रपुजतु—त्रपु और जतु प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अण् प्रत्यय हो और षुक्का आगम भी हो, विकार अर्थमें । ओरञ्—उवर्णान्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें ।

अनुदात्ता—अनुदात्तादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें ।

पलाशा—पलाशादि-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें, विकल्पसे ।

।४।३।१४१। शन् । पालाशम् । खादिरम् ॥ शम्याः ष्लञ् ।४।३।१४२। शामीलं भस्म ॥ मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ।४।३।१४३। प्रकृतिमात्रान्मयड्वा स्याद्विकारावयवयो । अश्ममयम्, आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादि किम् ? मौद्ग सूप । कार्पासमाच्छादनम् ॥ नित्यं वृद्धशरादिभ्य ।४।३।१४४। आम्रमयम् । शरमयम् । (एकाचो नित्यम्) । वाङ्मयम् ॥ गोश्च पुरीषे ।४।३।१४५। गोमयम् ॥ एण्या ढञ् ।४।३।१५९। ऐणेयम् । एणस्य तु, ऐणम् ॥ गोपयसोर्यत् ।४।३।१६०। गव्यम् । पयस्यम् । फले लुक् ।४।३।१६३। विकारावयवप्रत्ययस्य ॥ लुक् तद्धितलुकि ।१।२।४९। उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य । आमलक्याः फलम्— आमलकम् ॥ प्लक्षादिभ्योऽण् ।४।३।१६४। विधानसामर्थ्यान्न लुक् । प्लाक्षम् ॥ न्यग्रोधस्य च केवलस्य ।७।३।५। अस्य न वृद्धिरैजागमश्च । नैयग्रोधम् ॥ जम्ब्वा वा ।४।३।१६५। अण् फले । जाम्बवम् । पक्षे—ओरञ् । तस्य लुक् ।

ष्लञ्प्रकारापित्तौ । 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽपवादः । शामीलमिति । शम्या विकार इत्यर्थः । फले लुक् । आमलकमिति । फलितस्य वृक्षस्य फलमवयवो विकारश्च । तस्मिन्नयटो लुकि 'लुक्तद्धितलुकि' इति ङीपो लुक् । प्लक्षादिभ्योऽण् । विकारे अवयवे चेति शेष । तत्र शिंशुकर्कन्धूशब्दयोरुवर्णान्तत्वादञि प्राप्ते प्लक्षन्यग्रोधादीनाम् अनुदात्तादित्वादञि प्राप्ते अण्विधि । न्यग्रोधस्य च केवलस्य । 'न य्वाभ्याम्' इत्युत्तरसूत्रनियम् । अस्येति । केवलस्य न्यग्रोधस्येत्यर्थः । जम्ब्वा वा । जाम्बवमिति । जम्ब्वाः फलमित्यर्थः । अञो लुकि विशेष्यानुसारेण नपुंसकत्वात् ह्रस्व इति भाव ।

शम्या—शमीसे ष्लञ् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें । मयट्—भक्ष्य और आच्छादन वाच्यसे भिन्न प्रकृतिमात्र (सर्वप्रकृतिक) षष्ठ्यन्तसे , भाषा (लोक) में मयट् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें, विकल्पसे । नित्यं—वृद्ध और शरादिसे नित्य ही मयट् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें । एकाचो—एकाच्से नित्य मयट् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें । गोश्च—गोशब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे मयट् प्रत्यय हो, पुरीष अर्थमें ।

एण्या—एणी प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे ढञ् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें ।

गोपय—गो और पयस् प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें ।

फले—विकारार्थक और अवयवार्थक प्रत्ययका लुक् हो, फलरूप अर्थ विवक्षित रहे तो ।

लुक्तद्धित—तद्धितका लुक् होने पर स्त्री प्रत्ययका लुक् हो । प्लक्षा—प्लक्षादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अण् प्रत्यय हो, फलरूप अर्थ यदि विकारावयवत्वेन विवक्षित रहे ।

न्यग्रोधस्य—केवल (पदान्त रहित) न्यग्रोधके आदि अच्को वृद्धि नहीं हो, किन्तु यकारसे पूर्व ऐच्का आगम हो, ञित्-णित्-कित्के परे । जम्ब्वा—जम्बू शब्दसे अण्

जम्बु ॥ **लुप् च ।४।३।१६६।** जम्ब्वाः फलप्रत्ययस्य लुब्वा स्यात् । लुपि युक्तवत् । जम्बूः ॥ **(फलपाकशुषामुपसंख्यानम्)** । व्रीहयः । मुद्गाः । **(पुष्पमूलेषु बहुलम् ।)** मल्लिकायाः पुष्पं-मल्लिका । जात्याः पुष्पं-जाती । विदार्या मूलं—विदारी । बहुलग्रहणान्नेह,-पाटलानि पुष्पाणि । साल्वानि मूलानि । बाहुलकात्क्वचिल्लुक्-अशोकम्, करवीरम् ॥ **हरीतक्यादिभ्यश्च ।४।३।१६७।** फलप्रत्ययस्य लुप् । **(हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव प्रकृतिवत्)** । हरीतक्याः फलानि-हरीतक्यः ॥

इति प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम् ।

लुप् च । लुकैव सिद्धे लुब्विधेः फलमाह—लुपि युक्तवदिति । जम्बूरिति । जम्ब्वाः फलमित्यर्थः । फलप्रत्ययस्य लुपि युक्तवत्त्वेन विशेष्यलिङ्गवचने बाधित्वा स्त्रीत्वमेकवचनं चेत्यर्थः । तथा च जम्ब्वाः फलान्यपि जम्बूरेव । फलपाकेति । फलपाकेन शुष्यन्तीति फलपाकशुषः ओषधयः, तद्वाचिभ्यः परस्य फलप्रत्ययस्य लुप् उपसंख्यानमित्यर्थः । व्रीहय इति । व्रीह्याख्यानामोषधीनां फलानीत्यर्थः । एवं मुद्गाः । बिल्वाद्यणो लुप् । युक्तवद्भावात् पुंस्त्वम् न तु विशेष्यलिङ्गत्वम् । पुष्पमूलेषु बहुलमिति । वार्तिकमिदम् । विकारावयवप्रत्ययस्य लुप् स्यादिति शेषः । पुष्पं मल्लिकेति । 'अथ द्वितीयं प्राग्रीषात्' इत्यनुवृत्तौ 'मादीनां च' इति फिट्सूत्रेण मध्योदात्तो मल्लिकाशब्दः । ततः 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽनेन लुप् । युक्तवत्त्वात्स्त्रीत्वम् । जातीति । 'लघावन्ते' इत्यन्तोदात्तो जातिशब्दः । ततः 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञोऽनेन लुप्, युक्तवत्त्वात्स्त्रीत्वम् । विदारीति । जातिलक्षणङीषन्तमिदम् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तम् । अनुदात्तादित्वादञि तस्य लुप्, युक्तवत्त्वात् स्त्रीत्वम् । पाटलानीति । बिल्वादित्वादण् । एवं साल्वानि । हरीतक्यादीनामिति । वार्तिकमिदम् । एषां प्रकृतिलिङ्गमेव लुप्प्रत्ययार्थे अतिदिश्यते, न तु प्रकृतिवचनमपीत्यर्थः । इति प्राग्दीव्यतीयाः ।

प्रत्यय हो, फलरूप विकारावयव अर्थमें, विकल्पसे । लुप् च—जम्बू शब्दसे विहित फलार्थ प्रत्ययका लुप् हो, विकल्पसे । लुपि युक्तवत्—लुप् होनेपर प्रकृतिकी तरह ही लिङ्ग और वचन हो । फलपाक—फलके परिपाकसे सूखनेवाली ओषधि वाचकसे फलार्थक प्रत्ययका लुप् हो । पुष्पमूलेषु—पुष्प और मूलमें विकारावयवार्थक प्रत्ययका बहुलतासे लुप् हो ।

हरीतक्या—हरीतक्यादिसे विहित फलार्थक प्रत्ययका लुप् हो ।

हरीतक्यादीनां—हरीतक्यादिका लिङ्ग ही प्रकृतिवत् हो—वचन नहीं ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें विकारार्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ ठगधिकारप्रकरणम्

प्राग्वहतेष्ठक् ।४।४।१। तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते। **(तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्)** । माशब्द इति य आह स माशब्दिकः ॥ **(आहौ प्रभूतादिभ्यः)** । प्रभूतमाह–प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः ॥ **(पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः)** । सुस्नातं पृच्छति–सौस्नातिकः । सौखशायनिकः ॥ अनुशतिकादि ॥ **(गच्छतौ परदारादिभ्यः)** । पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ॥ **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** ।४।४।२। अक्षैर्दीव्यति जयति जितं वा–आक्षिकः । अभ्र्या खनति–आभ्रिकः ॥ **संस्कृतम्** ।४।४।३। दध्ना संस्कृतं–दाधिकम् । मारिचिकम् ॥ **तरति** ।४।४।५। उडुपेन तरति–औडुपिकः ॥ **गोपुच्छाट्ठञ्**

प्राग्वहतेष्ठक् । वहतीत्येकदेशेन 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति सूत्रं परामृश्यते इत्यभिप्रेत्याह—तद्वहतीत्यत इति । तदाहेति । इतिशब्दो व्युत्क्रमेण तच्छब्दानन्तरं द्रष्टव्यः । तदित्याहेत्यर्थे माशब्द स्वागत इत्यादिशब्देभ्यः ठक् उपसंख्यानमित्यन्वयः । तदित्यनेन वाक्यार्थो विवक्षितः । इतिशब्दस्तस्य वाक्यार्थस्य कर्मत्वं गमयतीति । आहाविति । आहेतिपदैकदेशादिकारस्य उच्चारणार्थो निर्देशः । तदिति पूर्ववार्तिकादनुवर्तते । आहेत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः प्रभूतादिभ्यष्ठगित्यर्थः । पार्याप्तिक इति । पर्याप्तमाहेत्यर्थः । पृच्छताविति । तदित्यनुवर्तते । पृच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः सुस्नातादिभ्यः ठगित्यर्थः । सौखशायनिक इति । सुखशयनं पृच्छतीत्यर्थः । अनुशतिकादिरिति । सुखशयनशब्द इति शेषः । ततश्च 'अनुशतिकादीनां च' इति पूर्वोत्तरपदयोरादिवृद्धिरिति भावः । गच्छताविति । तदित्यनुवर्तते । गच्छत्यर्थे परदारादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः ठगित्यर्थः । पारदारिक इति । परदारान् गच्छतीत्यर्थः । गौरुतल्पिक इति । गुरुतल्पं गच्छतीत्यर्थः । गुरुतल्पो गुरुस्त्री । गोपुच्छाट्ठञ् । तरतीत्यत्र तृतीयान्तादिति शेषः । नोदयवचनम् । ठञिति च्छेदः । स्तुषहृतः सस्य पकारः । तरतीत्यर्थे गोपुच्छशब्दात् तृतीयान्तात् ठञि

प्राग्वहते—'तद्वहति रथयुग' इस सूत्र तक 'ठक्'का अधिकार है। तदाहेति—कर्म सहक 'मा' शब्दादिसे 'आह' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। आहौ—द्वितीयान्त प्रभूतादिसे आह अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। पृच्छतौ—द्वितीयान्त सुस्नातादिसे पृच्छति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो।

गच्छतौ—द्वितीयान्त परदारादिसे गच्छति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो।

तेन दीव्यति—तृतीयान्तसे दीव्यति-आदि अर्थोंमें ठक् प्रत्यय हो। संस्कृतम्-तृतीयान्तसे संस्कृत अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। तरति—तृतीयान्तसे तरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो।

गोपुच्छात्—गोपुच्छ प्रकृतिक तृतीयान्तसे तरति अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो।

४।४।६। गौपुच्छिकः ॥ **नौद्व्यचष्ठन्** ।४।४।७। नाविकः। घटिकः ॥ **चरति** ।४।४।८। हस्तिना चरति-हास्तिकः। दध्ना भक्षयति-दाधिकः। शकटेन चरति-शाकटिकः ॥ **पर्पादिभ्यः ष्ठन्** ।४।४।१०। पर्पेण चरति-पर्पिकः। येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति सः-पर्पः। अश्विकः। रथिकः ॥ **श्वगणाट्ठञ् च** ।४।४।११। चात्ष्ठन् ॥ **श्वादेरिञि** ७।३।८। ऐज् न। श्वाभस्त्रिः ॥ **(इकारादाविति वाच्यम्)**। श्वगणेन चरति-श्वागणिकः, श्वागणिकी, श्वगणिकः। श्वगणिकी ॥ **वेतनादिभ्यो जीवति** ।४।४।१२। वेतनेन जीवति-वैतनिकः। धानुष्कः ॥ **हरत्युत्सङ्गादिभ्यः** ।४।४।१५। उत्सङ्गेन हरति-औत्सङ्गिकः ॥ **भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्** ।४।४।१६। भस्त्रया हरति-भस्त्रिकः। षित्त्वाद्

ङीषर्थः। नाविक इति। नावा तरतीत्यर्थः। घटिक इति। घटेन तरतीत्यर्थः। आक्षिकः। अक्षशब्दात्तृतीयान्तात् दीव्यति, खनति, जयति, जितम्, इत्येतेषु अर्थेषु 'तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम्' इति सूत्रेण ठकि कृते 'अक्ष भिस् ठक्' इति जाते कलोपे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति भिसो लुकि, 'ठस्येकः' इति ठस्य इकादेशे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'यस्येति च' इति अलोपे 'किति च' इति आद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'आक्षिकः' इति। श्वगणाट्ठञ् च। ठक्विषये इति शेषः। श्वगणशब्दात्तृतीयान्ताच्चरतीत्यर्थे ठञ् ष्ठन् च स्यादित्यर्थः। श्वागणिक इत्युदाहरणं वक्ष्यति। तत्र श्वन्शब्दस्य द्वारादित्वादैजागमे प्राप्ते—। श्वादेरिञि। 'न कर्मव्यतिहारे' इत्यतो नेत्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। श्वन्शब्दः आदिर्यस्येति विग्रहः। श्वन्शब्दपूर्वपदस्याङ्गस्य इञि परे नैजागम इत्यर्थः। श्वाभस्त्रिरिति। 'अत इञ्'। इकारादाविति वाच्यमिति। इञीति परित्यज्य इकारादाविति वाच्यमित्यर्थः। इञि तु व्यपदेशिवत्त्वेन इकारादित्वम्। श्वागणिक इति। ष्ठनि रूपम्। वेतनादिभ्यो जीवति। जीवतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः ठगिति शेषः। वैतनिक इति। वेतनेन जीवतीत्यर्थः। धानुष्क इति धनुषा जीवतीत्यर्थः। उसन्तात्परत्वाट्ठस्य कः। 'इणः षः' इति षत्वम्। हरत्युत्सङ्गादिभ्यः। हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः उत्सङ्गादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः। भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्। ष्ठनितिच्छेदः। हरतीत्यर्थे तृतीया-

---

नौद्व्यच—'नौ तथा द्व्यच् प्रकृतिक तृतीयान्तसे 'तरति' अर्थमें ठन् प्रत्यय हो।

चरति—तृतीयान्तसे चरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। **पर्पादिभ्यः**—पर्पादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे चरति अर्थमें ष्ठन् प्रत्यय हो। **श्वगणात्**—श्वगण प्रकृतिक तृतीयान्तसे चरति अर्थमें ठञ् और ष्ठन् प्रत्यय हो। **श्वादेरिञि**—इञ् प्रत्ययके परे श्वादिसे ऐच्‌का आगम नहीं हो।

इकारा—इकारादि तद्धितके परे श्वादिको ऐच् नहीं हो—ऐसा कहना चाहिये।

वेतना—वेतनादि प्रकृतिक जीवति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। **हरत्युत्**—उत्संगादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे हरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। **भस्त्रादिभ्यः**—भस्त्रादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे

मस्त्रिकी। **विभाषा विवधात्** ।४।४।१७। छन्। पक्षे ठक्, विवधेन हरति—विवधिकः। एकदेशविकृतत्वाद्वीवधादपि। वीवधिकः। विवधवीवधशब्दौ उभयतो बद्धशिक्ये स्कन्धवाह्ये काष्ठे वर्तेते॥ **निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः** ।४।४।१९। अक्ष-द्यूतेन निर्वृत्तम् आक्षद्यूतिकं वैरम्॥ **संसृष्टे** ।४।४।२२। दध्ना संसृष्टं दाधिकम्॥ **लवणाल्लुक्** ।४।४।२४। लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः॥ **मुद्गादण्** ।४।४।२५। मौद्ग ओदनः॥ **उञ्छति** ।४।४।३२। बदराण्युञ्छति बादरिकः॥ **रक्षति** ।४।४।३३। समाजं रक्षति–सामाजिकः॥ **शब्ददर्दुरं करोति** ।४।४।३४। शब्दं करोति–शाब्दिकः। दार्दुरिकः॥ **पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति** ।४।४।३५। स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम्। मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव। पक्षिणो हन्ति—पाक्षिकः। शाकुनिकः। मायूरिकः। मात्स्यिकः। मैनिकः। शाकुलिकः। मार्गिकः। हारिणिकः। सारङ्गिकः॥ **धर्मं चरति** ।४।४।४१। धार्मिकः॥ (अधर्माच्चेति वक्तव्यम्)। आधर्मिकः॥ **तदस्य पण्यम्** ।४।४।५१। अपूपाः पण्यमस्य—

ऽलेभ्यो मन्त्रादिभ्यः छन् स्यादित्यर्थः। विभाषा विवधात्। हरतीत्यर्थं तृतीयान्तात् इत्यिधि शेषः। निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः। निर्वृत्तमित्यर्थे तृतीयान्तेभ्योऽक्षद्यूतादिभ्यः ठगित्यर्थः। संसृष्टे। संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः। लवणाल्लुक्। पूर्वसूत्रविहितस्येति शेषः। मुद्गादण्। तेन संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः। मौद्ग ओदन इति। मुद्गैः संसृष्ट इत्यर्थः। मीनस्यैवेति। मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव ग्रहणम्, न तु निमिषादिशब्दानामित्यर्थः। पाक्षिक इति। स्वरूपस्योदाहरणम्। शाकुनिक इति। पक्षिपर्यायस्य। मायूरिक इति। पक्षिविशेषस्य। तथा मात्स्यिकः, मैनिकः, शाकुलिक इति क्रमेण स्वरूपपर्यायविशेषाणामुदाहरणम्। तथा मार्गिकः, हारिणिकः, सारङ्गिकः, इति क्रमेण

हरति अर्थमें छन् प्रत्यय हो। विभाषा—विविध प्रकृतिक तृतीयान्तसे हरति अर्थमें छन् प्रत्यय हो, विकल्पसे। निर्वृत्ते—अक्ष-द्यूतादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे निर्वृत्त अर्थमें ठक् प्रत्यय हो।

संसृष्टे—तृतीयान्तसे संसृष्ट अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। लवणा—लवणप्रकृतिक तृतीयान्तसे संसृष्ट अर्थमें विहित ठक् प्रत्ययका लुक् हो। मुद्गादण्—तृतीयान्त मुद्ग शब्दसे संसृष्ट अर्थमें अण् प्रत्यय हो। उञ्छति—द्वितीयान्तसे उञ्छति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो।

रक्षति—द्वितीयान्तसे रक्षति-अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। शब्द—शब्द और दर्दुर प्रकृतिक द्वितीयान्तसे करोति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। पक्षिमत्स्य—पक्षि-मत्स्यादि प्रकृतिक द्वितीयान्तसे हन्ति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। धर्मं चरति—धर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे चरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो। अधर्मा—अधर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे भी चरति अर्थ में ठक् प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये। तदस्य—'अस्य पण्यम्' अर्थमें प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो।

आपूपिकः ॥ लवणाट्ठञ् ।४।४।५२। लावणिकः ॥ शिल्पम् ।४।४।५५। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य-मार्दङ्गिकः ॥ प्रहरणम् ।४।४।५७। असिः प्रहरणमस्य—आसिकः । धानुष्कः ॥ शक्तियष्ट्योरीकक् ।४।४।५९। शाक्तीकः । याष्टीकः ॥ अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ।४।४।६०। अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य सः—आस्तिकः । नास्तीति मतिर्यस्य सः-नास्तिकः । दिष्टमिति मतिर्यस्य सः-दैष्टिकः ॥ शीलम् ।४।४।६१। अपूपभक्षणं शीलमस्य-आपूपिकः ॥ छत्रादिभ्यो णः । ।४।४।६२। गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रं, तच्छीलमस्य-छात्रः ॥ तत्र नियुक्तः । ।४।४।६९। आकरे नियुक्त आकरिकः ॥ निकटे वसति ।४।४।७३। नैकटिको भिक्षुः । इति ठगधिकारप्रकरणम् ।



स्वरूपपर्यायविशेषाणामुदाहरणम् । प्रहरणम् । तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति । यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रहरणं चेत्तद्भवति । प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणमायुधम् । आसिकः । असिः प्रहरणमस्य 'आसिकः' इत्यत्र 'प्रहरणम्' इति ठकि, ठस्येकादेशे सुपो लुकि, 'यचि भमि'ति भत्वे, अल्लोपे, संयोगे, वृद्धौ विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । शक्तियष्ट्योरीकक् । शक्तियष्टिशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्यां प्रहरणवाचिभ्यामस्येत्यर्थे ईकक् स्यादित्यर्थः । अस्ति नास्ति । अस्तीति मतिरस्यास्ति, नास्तीति मतिरस्यास्ति, दिष्टमिति मतिरस्यास्तीत्यर्थेषु क्रमेण अस्तीत्यस्मात् नास्तीत्यस्मात् दिष्टमित्यस्माच्च प्रथमान्ताट्ठगित्यर्थः । अस्तिनास्तिशब्दौ निपातौ । यद्वा वचनादेव आख्यातात्प्रत्ययः । 'दैवं दिष्टं भागधेयम्' इत्यमरः । इति ठगधिकारः ।



लवणा—लवण शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, 'अस्य पण्यम्' इस अर्थमें । शिल्पम्—'अस्य शिल्पम्' इस अर्थमें प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो । प्रहरणम्—'अस्य प्रहरणम्' इस अर्थमें प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो । शक्ति—शक्ति और यष्टि शब्दसे ईकक् प्रत्यय हो, 'अस्य प्रहरणम्' इस अर्थमें । अस्तिनास्ति—अस्ति, नास्ति और दिष्ट शब्दोंसे 'इति मतिर्यस्य' इस अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । शीलम्—प्रथमान्तसे 'अस्य शीलम्' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

छत्रादिभ्यो—छत्रादिसे 'अस्य शीलम्' अर्थमें ण प्रत्यय हो । तत्र नियुक्तः—सप्तम्यन्तसे नियुक्त अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । निकटे—निकटप्रकृतिक सप्तम्यन्तसे 'वसति' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें ठगधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ प्राग्घितीयप्रकरणम्

प्राग्घिताद्यत् ।४।४।७५। 'तस्मै हितम्' इत्यत प्राग् यदधिक्रियते ॥ तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ।४।४।७६। रथं वहति–रथ्यः । युग्य । प्रासङ्ग्य ॥ धुरो यड्ढकौ ।४।४।७७। धुर्यं, धौरेय ॥ हलसीराट्ठक् ।४।४।८१। हलं वहति-हालिक ॥ सैरिक ॥ विध्यत्यधनुषा ।४।४।८३। द्वितीयान्ताद्विध्यतीत्यर्थे यत् स्यात्, न चेत्तत्र धनुः करणम् । पादौ विध्यन्ति–पद्या शर्करा ॥ नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसंमितेषु ।४।४।९१। नावा तार्यं–नाव्यं जलम् । वयसा तुल्यः–वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं–धर्म्यम् । विषेण वध्यः–विष्यः । मूलेन आनाम्यं–मूल्यम् । मूलेन समः–मूल्य । सीतया समितं–सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया संमितं–तुल्यम् ॥ तत्र साधुः ।४।४।९८। सामसु साधुः–सामन्य । कर्मण्य । शरण्य ॥ सभाया यः ।४।४।१०५। सभ्य ।

इति प्राग्घितीयप्रकरणम् ॥

रथ्य. । रथं वहति 'रथ्य' इत्यत्र 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यति, तल्लोपे सुपो लुकि 'यचि भम्' इति भत्वे 'यस्येति च' इति अकारलोपे सयोगे विभक्तिकार्ये च कृते 'रथ्यः' इति सिद्धम् । हलसीराट्ठक् । आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां वहतीत्यर्थे ठगित्यर्थः । विध्यत्यधनुषा । तदिति द्वितीयान्तमनुवर्तते । अधनुषेति सहार्थे तृतीया । धनुषः अभावः अधनु: तस्मिन् सतीत्यर्थः । अर्थाभावे नञ्तत्पुरुष, अर्थाभावे अव्ययीभावेन अयं विकल्प्यत इत्युक्तत्वात् । द्वितीयान्ताद्विध्यतीत्यर्थं यत्स्यात्धनुष करणस्याभावे सतीत्यर्थः । इति प्राग्घितीया ।

प्राग्घिताद्—'तस्मै हितम्' इस सूत्र तक 'यत्' का अधिकार है । तद्वहति—रथादि-प्रकृतिक द्वितीयान्तसे 'वहति' अर्थमें यत् प्रत्यय हो । धुरो यड्ढकौ—धुर्-प्रकृतिक द्वितीयान्तसे वहति अर्थमें यत् प्रत्यय और ढक् प्रत्यय हो ।

हलसीराद्—हल और सीर-प्रकृतिक द्वितीयान्तसे 'वहति' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

विध्यत्य—वेधमें यदि धनुषकरण नहीं हो तो—द्वितीयान्तसे 'विध्यति' अर्थमें यत् प्रत्यय हो । नौवयो—नावादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे तार्यादि अर्थोंमें यत् प्रत्यय हो ।

तत्र साधुः—सप्तम्यन्तसे साधु अर्थमें यत् प्रत्यय हो । सभायाः—सभा-प्रकृतिक सप्तम्यन्तसे साधु अर्थमें 'य' प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्राग्घितीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ आर्हीये छयदधिकारप्रकरणम्

प्राक् क्रीताच्छः ।५।१।१। तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ॥ **उगवादिभ्यो यत् ।५।१।२।** प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद्गवादिभ्यश्च यत् स्याच्छस्यापवादः ॥ **(नाभि नभं च)** नभ्यः अक्षः । नभ्यम्-अञ्जनम् । रथनाभावेवेदम् ॥ **(शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वम्)** । शुन्यम् । शून्यम् ॥ **(ऊधसोऽनङ् च)** ऊधन्यः ॥ **कम्बलाच्च संज्ञायाम् ।५।१।३।** यत् । कम्बल्यम्-ऊर्णापलशतम् । संज्ञायां किम् ? कम्बलीया ऊर्णा ॥ **विभाषा हविरपूपादिभ्यः ।५।१।४।** आमिक्ष्यं दधि, आमिक्षीयम् । पुरोडाश्यास्तण्डुलाः, पुरोडाशीयाः । अपूप्यम् । अपूपीयम् ॥ **तस्मै हितम् ।५।१।५।** वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् । शङ्कव्यं दारु । गव्यम् । हविष्यम् ॥ **शरीरावयवाद्यत् ।५।१।६।**

रथनाभावेवेदमिति । शरीरावयवविशेषवाचिनाभिशब्दात्तु 'शरीरावयवाद्यत्' इति वक्ष्यमाणः केवलो यत्, न तु नभादेश इति भावः । शुनः संप्रसारणमिति । गवादिगणसूत्रम् । श्वन्शब्दात्परस्यात् प्रकृतेः संप्रसारणम्, तस्य संप्रसारणस्य पाक्षिकं दीर्घत्वमित्यर्थः । शुन्यम्, शून्यमिति । शुने हितमित्यर्थः । ऊधसोऽनङ् चेति । इदमपि गणसूत्रम् । ऊधस्शब्दात् यत्स्यात् प्रकृतेरनङादेशश्चेत्यर्थः । आदेशे ङकार इत् नकाराकार उच्चारणार्थः । ङित्वादन्तादेशः । कम्बलाच्च । कम्बलशब्दात् यत्स्यात् प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु संज्ञायामित्यर्थः । कम्बल्यम्—ऊर्णापलशतमिति । कम्बलाय हितमित्यर्थः । विभाषाहविः । हविर्विशेषवाचिभ्यः अपूपादिभ्यश्च प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यद्वा स्यादित्यर्थः । पक्षे छः । आमिक्ष्यं दधीति । आमिक्षायै हितमित्यर्थः । तप्ते पयसि दध्नि निक्षिप्ते सति यद्घनीभूतं निष्पद्यते सा आमिक्षेत्युच्यते । शङ्कव्यम् । शङ्कवे हितं 'शङ्कव्यम्' इत्यत्र 'प्राक् क्रीताच्छः' इति छे प्राप्ते तं सम्बाध्य 'उगवादिभ्यो यत्' इति यति, तगते 'सुपो लुकि, 'यचि भम्' इति भत्वे भत्वात् 'ओर्गुणः' इति गुणे 'वान्तो

प्राक् क्रीतात्—'तेन क्रीतम्' इस सूत्र तक 'छ' का अधिकार है । उगवा—उवर्णान्तसे और गवादिसे यत् प्रत्यय हो, हितादि अर्थोंमें । नाभि—नाभि शब्दसे यत् प्रत्यय हो और नाभिको नभ आदेश हो । शुनः—श्वन् शब्दसे यत् प्रत्यय और श्वन्को संप्रसारण हो तथा संप्रसारणको विकल्पसे दीर्घ भी हो । ऊधसो—ऊधस् शब्दसे यत् प्रत्यय हो और ऊधस् को अनङ् आदेश हो । कम्बलाच—संज्ञामें कम्बल शब्दसे यत् प्रत्यय हो, हितादि अर्थोंमें ।

विभाषा—हविर्विशेषवाचीसे और अपूपादिसे विकल्प करके यत् प्रत्यय हो, हितादि अर्थोंमें । तस्मै हितम्—चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यथाविहित पूर्वोक्त और वक्ष्यमाण प्रत्यय हों । शरीरावयव—शरीरावयववाची चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यत् प्रत्यय हो ।

दन्त्यम् । कण्ठ्यम्, नस्यम् । नाभ्यम् ॥ अजाविभ्यां थ्यन् ।५।१।८। अजथ्या यूथिः । अविथ्या ॥ आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः ।५।१।९। आत्माध्वानौ खे ।६।४।१६९। प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितम्-आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । (कर्मधारयादेवेष्यते) । अन्यत्र-विश्वजनीयम् । (पञ्चजनादुपसंख्यानम्) । पञ्चजनीनम् । 'कुमति च' इति णः । मातृभोगीणः ॥ (आचार्यादणत्वं च) आचार्यभोगीनः ॥ इति छयतोः पूर्णोऽवधिः ॥

अथ आर्हीये ठञधिकारप्रकरणम्

प्राग्वतेष्ठञ् ।५।१।१८। तेन तुल्यमित्यतः प्राक् ठञधिक्रियते ॥ आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ।५।१।१९। तदर्हतीत्येतदभिव्याप्य ठगधिकार-

---

पि भवत' इत्यत्रादेशो विभक्तिकार्ये च कृते 'नस्यम्' इति। अजाविभ्यां इति। अजश्च अविश्चेति द्वन्द्वः। अविशब्दस्य घित्वेऽपि 'अजाद्यदन्तम्' इत्यजशब्दस्य पूर्वनिपातः। अजथ्या यूथिरिति। अजेभ्यः अजाभ्यो वा हितेत्यर्थः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया अजाशब्दादपि थ्यन्, तसिलादिष्विति पुंवत्वम्। अविथ्येति। अविभ्यो हितेत्यर्थः। स्त्रीत्वं लोकात्। आचार्यादिति। आचार्यशब्दात्परस्य भोगीन्शब्दस्य नस्य णत्वाभावो वाच्य इत्यर्थः। न च असमानपदस्थत्वादेवात्र णत्वस्याप्रसक्तेरविधेयो व्यर्थ इति वाच्यम्, मातृभोगीणादौ णत्वज्ञापनार्थत्वात्। इति छयदधिकार प्रकरणम्।

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्। 'तदर्हती'ति पूर्वसूत्रे अर्हतिशब्दे एकदेशानुकरणमर्हति, तच्च तदर्हतिसूत्रपरम्। आङभिव्याप्तौ, व्याख्यानात्। तदाह—तदर्हतीति। तदेतदभिव्याप्येति। इदमपि सूत्रं प्रागद्वितीयाश्रयणे उपतिष्ठते। अत्र

---

१ अजाविभ्यां—अज और अवि-प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें थ्यन् प्रत्यय हो।
आत्मन्—आत्मादि प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें ख प्रत्यय हो।
आत्माध्वानौ—'ख' प्रत्ययके परे आत्मन् और अध्वन् प्रकृतिवत् रहें।
२ कर्मधारया—विश्वजनसे कर्मधारय समासमें ही ख प्रत्यय हो। पञ्चजना—पञ्चजन प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे भी हित अर्थमें ख प्रत्यय हो। आचार्याद्—आचार्यसे पर (भोगीनके) नकारको णत्व नहीं हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें छयदधिकार प्रकरण समाप्त हुआ।

—:०:—

प्राग्वते—'तेन तुल्यं क्रिया' इस सूत्र तक 'ठञ्' का अधिकार है। आर्हाद्—'तदर्हति' इस सूत्र तक ठञधिकारमें ठञ्बाधक 'ठक्' का अधिकार है—गोपुच्छादिको छोड़कर।

मध्ये ठञोऽपवादष्ठगधिक्रियते । गोपुच्छादीन्वर्जयित्वा ॥ **असमासे निष्कादिभ्यः ।५।१।२०।** आर्हादित्येतत् तेन क्रीतमिति यावदनुवर्तते । निष्कादिभ्योऽसमासे ठक् आर्हीयेष्वर्थेषु । निष्केण क्रीतमिति–नैष्किकम् । समासे तु ठञ् ॥ **परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः ।७।३।१७।** उत्तरपदवृद्धिर्ञिदादौ । परमनैष्किकः ॥ **शताच्च ठन्यतावशते ।५।१।२१।** शतेन क्रीतत्–शत्यम्, शतिकम् । अशते किम् ?—**संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ।५।१।२२।** आर्हीयेऽर्थे । शतं परिमाणमस्य शतकः सङ्घः । बहुकः । त्यन्तायास्तु–साप्ततिकः । शदन्तायाः–चात्वारिंशत्कः ॥ **वतोरिड्वा ।५।१।२३।** वत्वन्तात्कन इड् वा । तावत्कः, तावतिकः ॥ **कंसाट्टिठन् ।५।१।२५।** कंसिकः ॥ **(अर्धाच्चेति वक्तव्यम्)** अर्धिकः ॥ कार्षापणा-

---

संख्यापरिमाणयोः पृथग्ग्रहणात् संख्या न परिमाणम् । असमास इति । आर्हादिति । 'तेन क्रीतम्' इत्येतत्पर्यन्तमित्यर्थः । ठगिति । पूर्वसूत्रात्तदनुवृत्तेरिति भावः । आर्हीयेष्विति । 'तदर्हति' इत्येतत्पर्यन्तमतिक्रान्तेषु 'तेन क्रीतम्' इत्याद्यर्थेष्वित्यर्थः । नैष्किकमिति । निष्केण क्रीतमित्यर्थः, यथायोगं क्रीताद्यर्थान्वयः । समासे तु ठञिति । परमनिष्कादिशब्दादित्यर्थः । शेषपूरणेन तद्व्याचष्टे–उत्तरपदवृद्धिः स्यादिति । उत्तरपदस्य आदेरचो वृद्धिः स्यादित्यर्थः । ञिदादाविति । ञिति णिति किति चेत्यर्थः । परमनैष्किक इति । परमनिष्केण क्रीतमित्यर्थः । समासत्वाट्ठगभावे औत्सर्गिकठञ् । स्वरे विशेषः । शताच्च ठन्यतावशते । आर्हीयेष्वर्थेषु शताट्ठन्यतौ स्तः, न तु शतेऽर्थे इत्यर्थः । उत्तरसूत्रप्राप्तकनोऽपवादः । संख्यायाः । तिश्च शच्च तिशतौ, तौ अन्ते यस्याः सा तिशदन्ता, न तिशदन्ता, अतिशदन्ता, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्पुरुषः । साप्ततिक इति । सप्तत्या क्रीत इत्यर्थः । 'तेन क्रीतम्' इति ठञ् । चात्वारिंशत्क इति । चत्वारिंशता क्रीतमित्यर्थः । 'तेन क्रीतम्' इति कनस्तस्य तकारात्परत्वात्कः । वतोरिड्वा । वतोरित्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तं गृह्यते । कनिति प्रथमान्तमनुवृत्तम् । वतोः इति पञ्चमी, 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया षष्ठ्यन्तं प्रकल्पयति, तदाह—वत्वन्तादिति । तावतिक इति । तावता क्रीत इत्यर्थः । 'यत्तदेतेभ्यः' इति वतुप्, 'बहुगणवतु' इति संख्यासंज्ञायां 'संख्याया अतिशदन्तायाः' इति कन्, तस्य इट्, टित्वादाद्यवयवः । कंसात इत्यादि स्पष्टम् । अध्यर्धपूर्वाद् द्विगो-

---

असमासे—असमासमें निष्कादिसे ठक् प्रत्यय हो, आर्हीय, क्रीत आदि अर्थोंमें ।

परिमाणा—परिमाणान्तके उत्तरपदको वृद्धि हो, ञिदादिके परे—संज्ञा और शाणको छोड़कर । शताच्च—शत शब्दसे आर्हीय, क्रीत आदि अर्थोंमें ठन् प्रत्यय और यत् प्रत्यय हो, यदि शतका अभिधेय नहीं रहे । संख्याया—त्यन्त, शदन्तसे भिन्न संख्यावाचकसे कन् प्रत्यय हो, आर्हीयादि अर्थमें । वतोरिड्—वत्वन्तसे विहित कन् प्रत्ययको इडागम हो, विकल्पसे । कंसाट्टिठन्—कंस शब्दसे टिठन् प्रत्यय हो, आर्हीय अर्थमें । अर्धाच्च—अर्ध शब्दसे

घोद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम् ।५।१।२८। अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च परस्यार्हीयस्य लुक् । अध्यर्धकंसम् । संज्ञाया तु-पाञ्चकपालिकम् ॥ **तेन क्रीतम्** ।५।१।३७। ठञ् , गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम् । साप्ततिकम् । ठक् , नैष्किकम् ॥ **तस्येश्वरः** ।५।१।४२। सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ स्तः । 'अनुशतिकादीनां चे'ति वृद्धिः । सर्वभूमेरीश्वरः—सार्वभौमः ॥ **तदस्य परिमाणम्** ।५।१।५७। अस्य परिमाणमस्य-प्रास्थिको राशिः । (**स्तोमे डविधिः**) । पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः । सोमयागेषु च्छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्ठ्यादिसंज्ञिका स्तुतिः स्तोमः । **पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्** ।५।१।५९। एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ॥ **तदर्हति** ।५।१।६३। श्वेतच्छत्रमर्हति-श्वैतच्छत्रिकः ॥ **दण्डादिभ्यो यत्** ।५।१।६६। एभ्यो यत् । दण्डमर्हति-दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ॥ **तेन निर्वृत्तम्** ।५।१।७९। अह्ना निर्वृत्तम्-आह्निकम् ॥ इति ठञधिकारः ॥



रिति । आर्हीयस्येति । प्रत्यासत्तिलभ्यम् । अध्यर्धकंसमिति । अध्यारूढमर्धं यस्मिन् तद् अध्यर्धम् । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति बहुव्रीहौ पूर्वखण्डे उत्तरपदलोपः । सार्धमित्यर्थः । अध्यर्धेन कंसेन क्रीतमिति विग्रहः । तद्धितार्थे द्विगुः , 'संख्याया अतिशदन्तायाः' इति कन् । तस्यानेन लुगिति भावः । पाञ्चकपालिकम् । पञ्च कपालाः परिमाणमस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः, 'तदस्य' इति ठञ । तदस्य परिमाणम् । अस्मिन्नर्थे प्रथमान्ताद्यथाविहितप्रत्ययाः स्युरित्यर्थः. (इति प्रा॰वतीया)।

इति ठञोऽवधिः ।



ष्ठिन् प्रत्यय हो उक्त अर्थमें । अध्यर्ध—अध्यर्धपूर्वकसे पर और द्विगुसे पर आर्हीय प्रत्यय का लुक् हो, असंज्ञामें । तेन क्रीतम्—तृतीयान्तसे क्रीत अर्थमें यथाविहित ठक् , ठञ् आदि आर्हीय प्रत्यय हो । तस्येश्वर —सर्वभूमि और पृथिवी प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अण् और अञ् प्रत्यय हो, ईश्वर अर्थमें । तदस्य —'अस्य परिमाणम्' इस अर्थमें प्रथमान्तसे यथाविहित ठञादि प्रत्यय हो । स्तोमे—स्तोम अभिधेय हों तो 'अस्य परिमाणम्' इस अर्थमें 'ड' प्रत्यय हो । पङ्क्तिवि—पङ्क्ति, विंशति आदि दश रूढि शब्द निपातन हो ।

तदर्हति—द्वितीयान्तसे 'अर्हति' अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो । दण्डादिभ्य —दण्डादि प्रकृतिक द्वितीयान्तसे यत् प्रत्यय हो, अर्हति अर्थमें । तेन निर्वृत्तम्—कालवाची तृतीयान्तसे निर्वृत्त अर्थ में ठञ् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें आर्हीयप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ भावकर्मार्थकप्रकरणम्

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ।५।१।११५। ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवत् अधीते । क्रिया चेत् किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ॥ **तत्र तस्येव ।५।१।११६।** मथुरायामिव मथुरावत्स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवत् मैत्रस्य गावः ॥ **तस्य भावस्त्वतलौ ।५।१।११९।** प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः ॥ गोर्भावो गोत्वम्, गोता । (त्वान्तं क्लीबम्) (तलन्तं स्त्रियाम्) । **आ च त्वात् ।५।१।१२०।** 'ब्रह्मणस्त्वः' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः स्त्रिया भावः–स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ॥ **पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ।५।१।१२२।** वावचनमणादिसमावेशार्थम् ॥ **र ऋतो हलादेर्लघोः ।६।४।१६१।** इष्ठेमेयस्सु ॥

ब्राह्मणवत् । ब्राह्मणेन तुल्यं 'ब्राह्मणवत्' इत्यत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतौ, इत्लोपे, सुपो लुकि, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे सौ समागते 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति अव्ययत्वे, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च 'ब्राह्मणवत्' इति भवति । तत्र तस्येवेति । तत्रेवेति तस्येवेति चार्थे सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च वतिः स्यादित्यर्थः । प्रकृतिजन्यबोध इति । त्वतलप्रत्ययौ यत उत्पद्येते तस्याः प्रकृतिभूतशब्दात् व्यक्तिबोधे जायमाने यत् जात्यादिकं विशेषणतया भासते तद्व्यक्तिविशेषणं भावशब्देन विवक्षितमित्यर्थः । वावचनमणादिसमावेशार्थमिति । पृथुमृदुप्रभृतिषु 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यणः, वर्णदृढादिषु गुणवचनलक्षणष्यञः, बालवत्सादिषु वयोवचनलक्षणस्य अञश्च औत्सर्गिकस्य समावेशार्थमित्यर्थः । प्रथिमा । अत्र 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इतीमनिचि, इचो लोपे 'पृथु इमन्' इति जाते 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य स्थाने रेफादेशे कृते, 'टेः' इति थकारोत्तरवर्त्युकारलोपे संयोगे 'प्रथिमन्' इति जाते, तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, सोर्लोपे, उपधादीर्घे नलोपे च कृते 'प्रथिमा' इति रूपम् । पक्षे–अणि सुपो लुकि,

---

तेन तुल्यं—तृतीयान्त से तुल्य अर्थमें वति प्रत्यय हो, जो तुल्य हो, वह यदि क्रिया रहे तो । तत्र तस्येव—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्तसे इवार्थ में वति प्रत्यय हो ।

तस्य भावः—षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें त्व और तल् प्रत्यय हों । त्वान्तं क्लीबं—'त्व' प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिंग होते हैं । तलन्तं—'तल्' प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं ।

आ च त्वात्—'ब्रह्मणस्त्वः' इस सूत्र तक 'त्व' और 'तल्' का अधिकार है ।

पृथ्वादिभ्यः—पृथ्वादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें 'इमनिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

र ऋतो—हलादि लघु ऋकारको 'र' आदेश हो, इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके

टेः ।६।४।१५५। लोपः इष्ठेमेयस्सु । (पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम्) । पृथोर्भावः प्रथिमा, पार्थवम् । म्रदिमा, मार्दवम् ॥ वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ।५।१।१२३। चादिमनिच् । शौक्ल्यम्, शुक्लिमा । दार्ढ्यम्, द्रढिमा ॥ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ।५।१।१२४। चाद्भावे । जडस्य कर्म भावो वा—जाड्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् ॥ (चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्) । चातुर्वर्ण्यम् । चातुराश्रम्यम् । त्रैस्वर्यम् । षाड्गुण्यम् । सैन्यम् । सान्निध्यम् । सामीप्यम् । औपम्यम् । त्रैलोक्यमित्यादि ॥ स्तेनाद्यन्नलोपश्च ।५।१।१२५। नेति संघातग्रहणम् । स्तेनस्य भावः कर्म वा—स्तेयम् ॥ सख्युर्यः ।५।१।१२६। सख्यम् ॥ कपिज्ञात्योर्ढक् ।५।१।१२७। कापेयम् । ज्ञातेयम् ॥ पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।५।१।१२८। सैनापत्यम् । पौरोहित्यम् । (राजाऽसे) । राजनशब्दोऽसमासे यकं लभत इत्यर्थः । राज्ञो भावः कर्म वा-राज्यम् । समासे तु ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्, आधिराज्यम् ॥ प्राणभृज्जाति-

---

स्यावचो वृद्धौ, रपरे च सत्याद् 'ओर्गुणः' इति गुणे अवादेशे विभक्तिकार्ये च 'पार्थवम्' इति । चतुर्वर्णादीनामिति । चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे ष्यञ् उपसंख्यानमित्यर्थः । स्तेनाद्यन्नलोपश्च । यदिति च्छेदः । स्तेनशब्दात् षष्ठ्यन्तात् भावे कर्मणि चार्थे यत्स्यादित्यर्थः । नेति संघातग्रहणमिति । नलोपश्चेत्यत्र नेत्यकार उच्चारणार्थो न भवति । किन्तु नकाराकारसंघातग्रहणमित्यर्थः । स्तेयमिति । स्तेनशब्दात् यत्प्रत्यये सति नेति संघातस्य लोप इति भावः । राजाऽसे इति । पुरोहितादिगणसूत्रमिदम् । राजा असे इति च्छेदः । स इति समासस्य प्राचां संज्ञा । तदाह—राजन्शब्द इति । राज्यमिति । यकि टिलोपः 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावस्तु न,

---

पर । टेः—भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, इष्ठनादि प्रत्ययके परे । वर्णदृढा—वर्णवाची और दृढादि षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें ष्यञ् प्रत्यय और इमनिच् प्रत्यय भी हो ।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः—गुणोपसर्जन द्रव्यवाची और ब्राह्मणादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे कर्म और भाव अर्थमें ष्यञ् प्रत्यय हो । चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्—चतुर्वर्णादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे स्वार्थमें ष्यञ् प्रत्यय हो । स्तेनाद्यत्—स्तेन प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव और कर्म अर्थमें यत् प्रत्यय हो और स्तेनके नकारका लोप भी हो । सख्युर्यः—सखि शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्त से भाव और कर्म अर्थमें 'य' प्रत्यय हो । कपिज्ञात्यो—कपि और ज्ञाति शब्द षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकसे भाव और कर्म अर्थमें ढक् प्रत्यय हो । पत्यन्त—पत्यन्त और पुरोहितादिप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव और कर्ममें यक् प्रत्यय हो । राजाऽसे—असमासमें राजन् शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें यक् प्रत्यय हो । प्राणभृज्जाति—प्राणि

वयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ।५।१।१२९। प्राणभृज्जातिः—आश्वम्, औष्ट्रम्। वयोवचनम्—कौमारम्। औद्गात्रम्। औन्नेत्रम्। सौष्ठवम्॥ **हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ।५।१।१३०।** द्वैहायनम्। त्रैहायनम्। यौवनम्। स्थाविरम्। **(श्रोत्रियस्य यलोपश्च)** श्रौत्रम्। कुशलचपलनिपुणपिशुनकुतूहलक्षेत्रज्ञा युवादिषु ब्राह्मणादिषु च पठ्यन्ते। कौशल्यम्, कौशलमित्यादि॥ **इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ।५।१।१३१।** शुचेर्भावः कर्म वा—शौचम्। मौनम्। **योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् ।५।१।१३२।** रामणीयकम्। आभिधानीयकम्॥ **(सहायाद्वा)।**

अभावकर्मणोरिति पर्युदासात्। असमासे-त्विति। अधिको राजा अधिराजा प्रादिसमासः। असे इति पर्युदासाभावे ब्राह्मणादित्वात् ष्यञि आधिराज्यमिति रूपमित्यर्थः। यञ्ष्यञोः स्वरे विशेषः। प्राणभृज्जाति। प्राणभृतः—प्राणिनः, तज्जातिवाचिभ्यो वयोविशेषवाचिभ्य उद्गात्रादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः भावकर्मणोः अञित्यर्थः। प्राणभृज्जातीति। उदाहरणसूचनम्। एवं वयोवचनेति। हायनान्त। हायनान्तेभ्यः युवादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः भावकर्मणोः अण् स्यादित्यर्थः। द्वैहायनमिति। द्विहायनस्य भावः कर्म वेति विग्रहः। वयोवचनलक्षणस्य अञोऽपवादः। एवं त्रैहायनमिति। यौवनमिति। अनिति प्रकृतिभावान्न टिलोपः। श्रोत्रियस्येति। वार्तिकमिदम्। श्रोत्रियशब्दात् षष्ठ्यन्तात् भावकर्मणोः अण् प्रकृतेर्यलोपश्चेत्यर्थः। येति संघातग्रहणम्। श्रोत्रमिति। छन्दोऽधीते इत्यर्थे छन्दःशब्दात् घप्रत्यये तस्य इयादेशे प्रकृतेः श्रोत्र इत्यादेशे 'यस्येति च' इत्यल्लोपे श्रोत्रियशब्दः। श्रोत्रियस्य भावः कर्म वेत्यर्थे श्रोत्रियशब्दादणि यकाराकारसंघातस्य लोपे रेफादिकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे श्रौत्रमिति रूपम्। इगन्ताच्च। लघुः पूर्वोऽवयवो यस्येति विग्रहः। पूर्वत्वं च इगवधिकमेव गृह्यते, व्याख्यानात्। तथा च लघुः पूर्वो यस्य इक् तदन्तात्प्रातिपदिकात् षष्ठ्यन्तात् भावकर्मणोरण् स्यादित्यर्थः। गुणवचनेत्यादेरपवादः। योपधात्। योपधाद् गुरूपोत्तमात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यन्ताद्भावकर्मणोर्वुञित्यर्थः। रामणीयकमिति। रमणीयशब्दाद् वुञ्। आभिधानीयकमिति। अभिधानीयशब्दाद् वुञ्। सहाया-

---

जातिवाची, वयोवाची और उद्गात्रादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें अञ् प्रत्यय हो।

हायनान्त—हायनान्त और युवादिप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें अण् प्रत्यय हो।

श्रोत्रियस्य—श्रोत्रियप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें अण् प्रत्यय और श्रोत्रियके सन्निविष्ट 'य' का लोप भी हो। इगन्ताच्च—लघुपूर्वक इगन्त षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें अण् प्रत्यय हो। योपधाद—गुरूपोत्तम जो यकारोपध, तत्प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें वुञ् प्रत्यय हो। सहाया—सहाय-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें वुञ् प्रत्यय हो, विकल्पसे।

माहाय्यम्, साहायकम् ॥ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ।५।१।१३३। शैष्योपाध्यायिका । मानोज्ञकम् ॥ इति भावकर्मार्थकप्रकरणम् ।

अथ पाञ्चमिकप्रकरणम्

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ।५।२।१। मुद्गानां भवनं क्षेत्रं—मौद्गीनम् ॥ व्रीहिशाल्योर्ढक् ।५।२।२। व्रैहेयम् । शालेयम् ॥ यवयवकषष्टिकाद्यत् ।५।२।३। यव्यम् । यवक्यम् । षष्टिक्यम् ॥ विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ।५।२।४। यत् । पक्षे खञ् । तिल्यम्, तैलीनम् । माष्यम्, माषीणम् । उम्यम्, औमीनम् । भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम् । अणव्यम्, आणवीनम् ॥ तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ।५।२।७। सर्वादेः पथ्याद्यन्तात् द्वितीयान्तात्खः । सर्वपथीन

इति । वुञिति शेषः । पक्षे ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च । द्वन्द्वात् मनोज्ञादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः वुञित्यर्थः । शैष्योपाध्यायिकेति । शिष्यश्च उपाध्यायश्चेति द्वन्द्वाद् वुञ्, स्त्रीत्वे टाकारः । इति भावकर्मणोरधिकारः ।

यवयवक । यव, यवक, षष्टिक, एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो भवने क्षेत्रे यदित्यर्थः । खञोऽपवादः । धान्यानामित्यनुवृत्तेरिहापि षष्ठ्येव समर्थविभक्तिः । विभाषा तिल । तिल, माष, उमा, भङ्ग, अणु एभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो यद्वा स्यादित्यर्थः । 'उमा स्यादतसी क्षुमा' इत्यमरः । अणव्यमिति । अणुर्धान्यविशेषः । यति ओर्गुणे 'वान्तो यि' इत्यवादेशः । तत्सर्वादेः । पथिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्र, पात्र एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्यर्थे द्वितीया । प्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति निषेधस्तु न, केवलानामेषां सर्वादित्वस्यासम्भवात् । तदिति तु द्वितीयान्तं व्याप्नोतीत्यत्रान्वेति । ततश्च तद्व्याप्नोतीत्यर्थे सर्वशब्दपूर्वपदकेभ्यः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रान्तेभ्यः ख इत्यर्थः फलति । तदाह—सर्वा-

---

द्वन्द्व—द्वन्द्व और मनोज्ञादि-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें वुञ् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भावकर्मार्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।

धान्यानां—धान्यवाची षष्ठ्यन्तसे 'भवन क्षेत्रम्' इस अर्थमें खञ् प्रत्यय हो ।

व्रीहिशाल्यो—व्रीहि-शालि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे उक्त (भवन क्षेत्रम्) अर्थमें ढक् प्रत्यय हो । यवयवक—यवादि षष्ठ्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, उक्त अर्थमें ।

विभाषा तिल—तिलादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे उक्त अर्थमें यत् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

तत्सर्वादेः—पथ्याद्यन्त सर्वादि द्वितीयान्तसे 'व्याप्नोति' अर्थमें 'ख' प्रत्यय हो ।

व्याप्नोति-सर्वपथीनः। सर्वाङ्गीणः। सर्वकर्मीणः सर्वपत्रीणः। सर्वपात्रीणः॥ **हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्** ।५।२।२३। नवनीते निपातोऽयम्॥ **तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ** ।५।२।२४। पीलूनां पाकः-पीलुकुणः। कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्॥ **पक्षात्तिः** ।५।२।२५। मूले इत्यनुवर्तते। पक्षस्य मूलं-पक्षतिः। **तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ** ।५।२।२६। यकारः प्रत्यययोरादौ लुप्तनिर्दिष्टः,तेन चस्य नेत्त्वम्। विद्यया वित्तो—विद्याचुञ्चुः। विद्याचणः॥ **वेः शालच्छङ्कटचौ** ।५।२।२८। क्रियाविशिष्टसाधनवाचकात्स्वार्थे। विस्तृतम्। विशालम्। विशङ्कटम्॥ **संप्रोदश्च कटच्** ।५।२।२९। सङ्कटम्। प्रकटम्। उत्कटम्। चाद् विकटम्॥ (**अलाबूतिलोमाभङ्गेभ्यो रजस्युपसंख्यानम्**) अलाबूनां रजः-अलाबूकटम्। तिलकटम्॥

देरित्यादिना। सर्वपथीनिति। 'ऋक्पूः' इति समासान्तः। तस्य पाकमूले। पाकमूले इति समाहारद्वन्द्वात् सप्तमी। पाकः परिणामः। षष्ठयन्तेभ्यः। पील्वादिभ्यः पाकेऽर्थे कुणप् कर्णादिभ्यस्तु मूलेऽर्थे जाहजित्यर्थः। कुणपस्तद्धितत्वात् ककारस्य नेत्संज्ञा। जाहचस्तु जकारस्य प्रयोजनाभावात् नेत्संज्ञा। पक्षात्तिः। मूले इत्यनुवर्तत इति। पूर्वसूत्रे पाकमूल इति समासनिर्दिष्टत्वेऽप्येकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानादिति भावः। तस्येत्यनुवर्तते। पक्षशब्दात् षष्ठ्यन्तात् मूलेऽर्थे तिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। तेन वित्तः। तृतीयान्तात् वित्त इत्यर्थे चुञ्चुप्चणपौ स्त इत्यर्थः। वित्तः प्रतीतः। चस्य नेत्त्वम्, उपदेशे आदित्वाभावादिति भावः। वेः शालच्छङ्कटचौ। क्रियाविशिष्टेति। क्रियाविशिष्टकारकवाचकात्स्वार्थे शालच् शङ्कटच् प्रत्ययौ स्त इति यावत्। इदं च भाष्ये स्पष्टम्। संप्रोदश्च कटच्। सं, प्र, उत् एभ्यश्च क्रियाविशिष्टसाधनवाचिभ्यः स्वार्थे कटच् स्यादित्यर्थः। चाद्वेरपि। संकटं संहतमित्यर्थः। निबिडीकृतमिति यावत्। उत्कटमिति। उन्नतमित्यर्थः। अधिकमिति यावत्। रूढशब्दा एते कथञ्चित् व्युत्पाद्याः। अलाबूतिलेति। अलाबू, तिल, उमा, भङ्गा, इत्येभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो रजसि अभिधेये कटचः

हैयङ्गवीनं—नवनीत अर्थमें 'हैयङ्गवीनम्' यह निपातन है।

नोट—ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम्। यहां 'ह्योगोदोह'को 'हियङ्गु' आदेश और 'खञ्' प्रत्यय निपातन होता है।

तस्य पाकमूले—पील्वादि षष्ठ्यन्तसे पाक अर्थमें 'कुणप्' प्रत्यय हो और कर्णादि षष्ठ्यन्तसे मूल अर्थमें 'जाहच्' प्रत्यय हो। पक्षात्तिः—षष्ठ्यन्त पक्ष शब्दसे मूल अर्थमें 'ति' प्रत्यय हो। तेन वित्तः—तृतीयान्त से वित्त अर्थमें चुंचुप् और चणप् प्रत्यय हो।

वेः शालच्—क्रियाविशिष्ट साधन (कारक) वाचक 'वि' शब्दसे शालच् प्रत्यय और शंकटच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें। सम्प्रोदश्च—क्रियाविशिष्ट-कारकवाची सम्, प्र और उद् से कटच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें। अलाबू—षष्ठ्यन्त अलाबू आदिसे कटच् प्रत्यय हो, रज अर्थमें

(गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः) गवां स्थानं गोगोष्ठम् ॥ (संघाते कटच्) । अवीनां संघातः अविकटः ॥ (विस्तारे पटच्) अविपटः ॥ (द्वित्वे गोयुगच्) द्वावुष्ट्रौ उष्ट्रगोयुगम् (षट्त्वे षड्गवच्) । अश्वषड्गवम् ॥ (स्नेहे तैलच्) तिलतैलम् । सर्षपतैलम् ॥ अवात्कुटारच्च ।५।२।३०। चात् कटच् । अवकुटारः । अवकटः ॥ नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः ।५।२।३१। अवादित्येव । नतं नमनम्, नासिकाया नतम् —अवटीटम् । अवनाटम् । अवभ्रटम् । तद्योगान्नासिका अवटीटा । पुरुषोऽप्यवटीटः ॥ उपाधिभ्यां

उपसर्गाभ्यामित्यर्थः । विकारप्रत्ययानामपवादोऽयम् । एवं चूर्णेषु । गोष्ठजादय इति । पशुनामभ्यः स्थानादिष्वर्थेषु गोष्ठजादयः प्रत्ययाः वक्तव्या इत्यर्थः । गोष्ठजादीनां प्रत्ययानां स्थानादीनां चार्थानां प्रपञ्चपराणि (संघाते कटच्) इत्यादीनि 'शाकटशाकिनौ' इत्यन्तानि षड्वार्तिकानि । तेषु 'पशुनामभ्य' इत्यनुवर्तते । अप्रसृतावयवः समूहः संघातः, प्रसृतावयवस्तु विस्तारः । द्वित्व इति । प्रकृत्यर्थगतद्वित्व इत्यर्थः । द्वावुष्ट्रौ उष्ट्रगोयुगम् इति । द्व्यवयवकसंघाताभिप्रायमेकवचनम् । एवं षट्त्वमित्यादिषु । अवात्कुटारच्च । क्रियाविशिष्टसाधनवाचकादवात् स्वार्थे कुटारच्च स्यादित्यर्थः । अवकुटार इति । अवाचीने विद्यमानत्वात् कुटारचि अवकुटार इति रूपम् । नते नासिकायाः । अवादित्येवेति । अवशब्दात् नासिकाया नतार्थे टीटच्, नाटच्, भ्रटच्, एते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । 'णम प्रह्वत्वे' इति धातोर्भावे क्तप्रत्यये नतशब्द इत्यभिप्रेत्याह—नतं नमनमिति । प्रह्वत्वमित्यर्थः । ननु यदि नासिकाया नमनमवटीटं तर्हि अवटीटा नासिकेति कथमित्यत आह—तद्योगादिति । नमनयोगाच्च लाक्षणिकमिति भावः । पुरुषोऽप्यवटीट इति । तादृशनासिकायोगादिति भावः । उपाधिभ्याम् । उप, अधि आभ्यां यथासंख्यमासन्नारूढयोर्वर्तमानाभ्यां स्वार्थे त्यकन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आसन्नं समीपस्थम् । आरूढम्-उच्चम् ।

गोष्ठजादय —पशुनामादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे स्थानादि अर्थोंमें गोष्ठजादि प्रत्यय हो ।
संघाते—पशुनामादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे संघात अर्थमें कटच् प्रत्यय हो ।
विस्तारे—पशुनामादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे विस्तार अर्थमें पटच् प्रत्यय हो ।
द्वित्वे गोयुगच्—पशुनामादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे षट्त्व अर्थमें षड्गवच् प्रत्यय हो ।
स्नेहे तैलच्—षष्ठ्यन्तसे स्नेह अर्थमें तैलच् प्रत्यय हो । अवात्कुटा—क्रियाविशिष्ट कारकवाची अव शब्दसे कुटारच् प्रत्यय और कटच् प्रत्यय हो । नते नासि—नासिकाका नमन अर्थमें विद्यमान अव शब्दसे टीटच्, नाटच् और भ्रटच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।
उपाधिभ्या—आसन्न (समीपवर्ती) और आरूढ (ऊपर वर्तमान) अर्थमें उप और

त्यकनश्चासन्नारूढयोः ।५।२।३४। पर्वतस्यासन्नं स्थलम्-उपत्यका । आरूढं स्थलम्-अधित्यका ॥ कर्मणि घटोऽठच् ।५।२।३५। कर्मणि घटते इति-कर्मठः । तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् ।५।२।३६। तारकाः संजाता अस्य-तारकितं नभः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् ॥ प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ।५।२।३७। ऊरू प्रमाणमस्य-ऊरुद्वयसम् , ऊरुदघ्नम् , ऊरुमात्रम् ।

'प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ।
ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥ ४ ॥

पुरुषहस्तिभ्यामण् च ।५।२।३८। पुरुषः प्रमाणमस्य-पौरुषम् , पुरुषद्वयसम् ।

उपत्यका, अधित्यकेति । स्त्रीत्वं लोकात् । अत्र 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं तु न, 'त्यकनश्च' इत्युक्तेः । कर्मणि घटोऽठच् । सप्तम्यन्तात् कर्मन्शब्दात् घट इत्यथ अठच्प्रत्ययादित्यर्थः । घटशब्दस्य कलशपर्यायत्वभ्रमं वारयति—कर्मणि घटत इति । व्याप्रियत इत्यर्थः । तथा चात्र घटशब्दो यौगिको घटमाने वर्तत इति भावः । कर्मठ इति । अठचि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । अठचि ठस्य अङ्गात्परत्वाभावादिकादेशा-भाव इति भावः । पुरुषहस्तिभ्यामण् च । उक्तविषये इति शेषः । चात् द्वयसजादि-

---

अधि शब्दसे त्यकन् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । कर्मणि घटो—कर्मन् शब्द-प्रकृतिक सप्तम्यन्तसे 'घटते' अर्थमें अठच् प्रत्यय हो । तदस्य—तारकादि प्रकृतिक प्रथमान्तपदसे 'अस्य संजातम्' अर्थमें इतच् प्रत्यय हो । प्रमाणे—प्रमाण अर्थमें वर्तमान प्रथमान्तपदसे 'अस्य' इस षष्ठ्यर्थसे निर्दिष्ट प्रमेय अर्थमें द्वयसच् , दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हो ।

प्रथमश्च—प्रथम (द्वयसच् प्रत्यय) और द्वितीय (दघ्नच् प्रत्यय) ऊर्ध्वमान (ऊंचाईसे नापना) अर्थमें ही हो-ऐसा मेरा (ग्रन्थकार का) मत है ।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं—'ऊर्ध्वमान' या 'उन्मान' ये दोनों नाम ऊंचाईसे नापनेका है। परिमाणन्तु सर्वतः—जो सभी तरहसे याने पात्रादिमें भर-भर कर अथवा सेर, पसेरी आदिसे तौलकर या लकड़ी आदिसे नदी, तालाब आदिमें जलादिका थाह लेकर नापा जाय, उसे परिमाण कहते हैं। आयामस्तु प्रमाणं स्यात्—आयाम = लम्बाई-चौड़ाई आदि का नाप 'प्रमाण' कहलाता है । जैसे—एक हाथ, दो हाथ, एक लग्गी, दो लग्गी आदि । संख्या बाह्या तु सर्वतः—और इन सबसे संख्या (गिनती) भिन्न है ।

नोटः—उपर्युक्तसे सिद्ध हुआ कि 'मात्रच्' प्रत्यय प्रमाण अर्थमें अर्थात् परिच्छेद मात्रमें हो और 'द्वयसच्' तथा 'दघ्नच्' प्रत्यय ऊर्ध्वमान या उन्मान अर्थमें ही हों ।

पुरुष—प्रमाणोपाधिक पुरुष और हस्तिन् शब्दसे अस्य (षष्ठ्यर्थ) में अण् प्रत्यय हो।

हास्तिनम्, हस्तिद्वयसम् । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ।५।२।३९। यत्परिमाणमस्य—यावान् । तावान् । एतावान् ॥ किमिदंभ्यां वो घः ।५।२।४०। आभ्यां वतुब्वस्य च घः ॥ इदंकिमोरीश्की ।६।३।९०। दृग्दृशवतुषु । कियान् ॥ किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च ।५।२।४१। चाद्वतुप्, तस्य च घः । का संख्या येषां ते—कति । कियन्तः ॥ सङ्ख्याया अवयवे तयप् ।५।२।४२। पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयं दारु ॥ द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ।५।२।४३। द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् ॥ उभादुदात्तो नित्यम् ।५।२।४४। उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात्, स चाद्युदात्तः । उभयम् ॥ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ।५।२।४५। एकादश अधिका अस्मिन्—एकादशम्, (शतसहस्रयोरेवेष्यते)। नेह—एकादश अधिका अस्यां विंशतौ । (प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजातीयत्व एवेष्यते) नेह—एकादश माषा अधिका अस्मिन् सुवर्णशते ॥ शदन्तविंशतेश्च ।५।२।४६। डः स्यादुक्तेऽर्थे । त्रिंशदधिका-

---

पद्यय. । तदस्मिन्नधिकम् । तदधिकमस्मिन् इति विग्रहे प्रथमान्तात् दशन् शब्दान्तात् समासात् अस्मिन्नित्यर्थे डप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधादन्तग्रहणम् । अत एव निर्देशात् पञ्चम्यर्थे सप्तमीत्याहुः । एकादश अधिका अस्मिन्निति । अस्मादित्यर्थः । अस्मिन् उपश्लिष्टा इति वा । शदन्तविंशतेश्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—डः स्यादुक्तेऽर्थे इति । दशान्तत्वाभावात् पूर्वेणाप्राप्तिः । त्रिंश

और चकारात् द्वयसच्, दघ्नच् तथा मात्रच् प्रत्यय भी हों। यत्तदेतेभ्यः—परिमाणोपाधिक यत्, तत् और एतत् शब्दोंसे अस्य अर्थमें वतुप् प्रत्यय हो। किमिदंभ्यां—परिमाणोपाधिक किम् शब्द और इदम् शब्दसे वतुप् प्रत्यय हो और वतुप्के वकारको घकार हो।

इदं किमो—'इदम्' शब्दको 'ईश्' आदेश और किम् शब्दको 'की' आदेश हो, दृक्, दृश् और वतु (प्) प्रत्ययके पर। किमः सङ्ख्या—सङ्ख्याका परिमाण (परिच्छेद-इयत्ता) विषयक प्रश्न अर्थमें वर्तमान किम् शब्दसे डति प्रत्यय हो और चकारात् वतुप् प्रत्यय और वतुप्के वकारको घकार भी हो। सङ्ख्याया—अवयवमें वर्तमान जो सङ्ख्या तद्वाचक प्रथमान्त समर्थसे षष्ठ्यर्थमें तयप् प्रत्यय हो। द्वित्रिभ्यां—द्वि और त्रि से पर तयप्को अयच् आदेश हो, विकल्पसे। उभादुदात्तो—उभ शब्दसे पर तयप्को नित्य अयच् हो और वह अयच् आद्युदात्त हो।

तदस्मिन्नधि—'अस्मिन्' अर्थमें दशन् शब्दान्त प्रकृतिक प्रथमान्तसे 'ड' प्रत्यय हो, जो प्रथमान्त है, वह यदि अधिक रहे तो। शतसहस्रयोः—शत या सहस्र हो जब प्रत्ययार्थ हो, तब ही 'ड' प्रत्यय इष्ट होता है। प्रकृति—प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थका समानजातीय होने पर ही यह 'ड' प्रत्यय इष्ट होता है, अन्यत्र नहीं। शदन्त—शदन्त और विंशति प्रकृतिक

अस्मिन् त्रिंशं शतम्, त्रिंशम् ॥ **तस्य पूरणे डट्** ।५।२।४८। संख्याया इत्येव । एकादशानां पूरणः-एकादशः ॥ **नान्तादसंख्यादेर्मट्** ।५।२।४९। डटो मडागमः । पञ्चानां पूरणः-पञ्चमः । नान्तात्किम् ? विंशः । असंख्यादेः किम् ? एकादशः ॥ **षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्** ।५।२।५१। डटि । षण्णां पूरणः-षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अतएव ज्ञापकात् डट् । कतिपयथः । चतुर्थः ॥ (**चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च**) । तुरीयः, तुर्यः ॥ **बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्** ।५।२।५२। डटि,-बहुतिथः ॥ **वतोरिथुक्** ।५।२।५३। डटि, यावतिथः ॥ **द्वेस्तीयः** ।५।२।५४। डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणः-द्वितीयः ॥ **त्रेः संप्रसारणं च** ।५।२।५५। तृतीयः । इह 'हल' इति दीर्घो न । द्वितीयतृतीयेति निर्देशात् ॥ **विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्** ।५।२।५६। एभ्यो डटस्तमडागमो वा स्यात् । विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः ॥ **नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च** ।५।२।५७। शतस्य पूरणः-शततमः । मासादेरत

मिति । डे सति टे इति टिलोपः । त्रिंशमिति । त्रिंशतिः अस्मिन्नधिका इति विग्रहः । चतुर इति । वार्तिकमिदम् । चतुर्शब्दात् षष्ठ्यन्तात् पूरणे छयतौ स्तः । आद्यक्षरलोपश्चेति । च इति संघातस्य लोपश्चेत्यर्थः । बहुपूगगण । बहु, पूग, गण, संघ एषां डटि तिथुगागमः स्यादित्यर्थः । ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्त्वादन्त्यादचः परः । वतोरिथुक् । डटीति । वत्वन्तस्य इथुगागमः स्यात् डटीत्यर्थः । यावतिथ इति । यावतां पूरणः इति विग्रहः । 'बहुपूगगणे'ति संख्यात्वात् 'तस्य पूरणे' इति डटि प्रकृतेरिथुक् । विंशत्यादिभ्यस्तमडन्य० । तमटि टकार इत्, मकारादकार उच्चारणार्थः । नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च । शतादिभ्यः मासात् अर्धमासात् संवत्सराच्च परस्य डटो नित्यं तमडागमः स्यादित्यर्थः ।

प्रथमान्तसे 'ड' प्रत्यय हो, 'अस्मिन् अधिकम्' इस अर्थमें । तस्य पूरणे—संख्येयार्थक संख्यावाची षष्ठ्यन्तसे पूरण (अवयव) अर्थमें 'डट्' प्रत्यय हो । नान्तादसं—असंख्यादि जो नान्त संख्यावाची, उससे पर 'डट्' को मट्का आगम हो । षट्कति—षट् आदिको थुक्का आगम हो, डट्के परे । चतुरश्छ—चतुर् प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थसे 'छ' प्रत्यय और 'यत्' प्रत्यय हो तथा चतुर्के आद्यक्षर-चकारका लोप भी हो । बहुपूग—बहु आदिको तिथुक्का आगम हो डट्के परे । वतोरिथुक्—वतुप् प्रत्ययान्तको इथुक्का आगम हो डट्के परे । द्वेस्तीयः—'द्वि' शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे तीय प्रत्यय हो, पूरण अर्थमें । त्रेः सम्प्र—'त्रि' शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे तीय प्रत्यय हो और 'त्रि' को संप्रसारण भी हो, पूरण अर्थमें । विंशत्या—विंशत्यादिसे पर 'डट्' को 'तमट्' आगम हो, विकल्पसे ।

नित्यं शतादि—शतादि, मास, अर्धमास और संवत्सरसे पर डट्को नित्य ही तमट्

एव ज्ञापकात् डट्। मासतमः ॥ षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः ।५।२।५८। षष्टितमः। संख्यादेस्तु 'विंशत्यादिभ्य' इति विकल्प एव। एकषष्ठः, एकषष्टितमः ॥ मतौ छः सूक्तसाम्नोः ।५।२।५९। मत्वर्थे छः। अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति-अच्छावाकीयं सूक्तम्। वारवन्तीयं साम॥ श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ।५।२।८४। श्रोत्रियः। 'वा' इत्यनुवृत्ते-छान्दसः॥ श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ।५।२।८५। श्राद्धी, श्राद्धिकः॥ पूर्वादिनिः ।५।२।८६। पूर्वं कृतमनेन पूर्वी॥ सपूर्वाच्च ।५।२।८७। कृतपूर्वी॥ इष्टादिभ्यश्च ।५।२।८८। इष्टमनेन-इष्टी। अधीती॥ अनुपद्यन्वेष्टा ।५।२।९०।

मासतम इति। मासस्य पूरण अर्धमासादिरवयवः। षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः। असंख्या पूर्वात् षष्ट्यादेः परस्य डटो नित्यं तमडागमः। स्यादित्यर्थः। 'विंशत्यादिभ्यः' इति विकल्पस्यापवादः। एकषष्ठ-एकषष्टितमः। संख्यादिस्वान्नित्यस्य तमटोऽभावे 'विंशत्यादिभ्यः' इति डटस्तमड्विकल्पः। तमडभावे डटि 'यस्येति च' इति इकारलोपे एकषष्ठ इति रूपम्। मतौ छ सूक्तसाम्नोः। मतुशब्दो मत्वर्थे लाक्षणिक इत्याह— मत्वर्थे इति। अच्छावाकीयं सूक्तम्। अच्छावाकशब्दः अस्यास्ति अस्मिन्नस्तीति वा विग्रहः। अच्छावाकशब्दयुक्तमित्यर्थः। अच्छावाकशब्दात् शब्दस्वरूपपरात् प्रथमान्तात् छः। वारवन्तीयं सामेति। अश्वं न त्वा वारवन्तमित्यस्या ऋच्युत्पन्नमित्यर्थः। एवमस्य वामीयमित्यपि। 'अस्य वामस्य'त्यस्य एकदेशानुकरणमस्य वामेति। तस्माच्छः। अस्य वामशब्दयुक्तमित्यर्थः। प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्यानित्यत्वात् सुपो लुक्। श्राद्धमनेन। प्रथमान्तात् श्राद्धशब्दात् भुक्तमनेनेत्यर्थे इनिठनौ स्त इत्यर्थः। श्राद्धसाधनद्रव्ये श्राद्धशब्दो लाक्षणिकः। इनिप्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः। अनुपदन्वेष्टा। पदस्य पश्चादनुपदम्। पश्चादर्थे अव्ययीभावः। सप्तम्या अम्भावः।

आगम हो। षष्ट्यादेः—असंख्यादि जो षष्ट्यादि संख्यावाचक शब्द, उनसे पर डट्को नित्य ही तमट्का आगम हो। मतौ छः—सूक्त और साम अभिधेय हो तो, प्रातिपदिकसे मत्वर्थमें छ प्रत्यय हो। श्रोत्रिय—'छन्दोऽधीते' इस अर्थमें 'श्रोत्रियन्' पद निपातन हो। ('श्रोत्रियन्' का नकार स्वरार्थ है) श्राद्धमनेन—भुक्तार्थक प्रथमान्त श्राद्ध शब्दसे 'अनेन' अर्थमें इनि और ठन् प्रत्यय हो।

पूर्वादिनिः—'अनेन कृतम्' इस अर्थमें पूर्व शब्दसे इनि प्रत्यय हो।

सपूर्वाच्च—सपूर्वक पूर्वान्त प्रातिपदिकसे 'अनेन कृतम्' इस अर्थमें इनि प्रत्यय हो।

इष्टादिभ्यः—इष्टादिसे 'अनेन' अर्थमें इनि प्रत्यय हो।

अनुपद्य—अनुपद शब्दसे 'अन्वेष्टा' अर्थमें इनि प्रत्यय निपातन हो।

अनुपदमन्वेष्टा-अनुपदी गवाम् ॥ साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ।५।२।९१। साक्षाद् द्रष्टा—साक्षी। इति पाञ्चमिकप्रकरणम्।

अथ मत्वर्थीयप्रकरणम्

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ।५।२।९४। गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति-गोमान् ॥ तसौ मत्वर्थे ।१।४।१९। तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। वसोः संप्रसारणम्। विदुष्मान्। गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः। शुक्लो गुणोऽस्यास्ति-शुक्लः पटः। कृष्णः ॥ प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ।५।२।९६। चूडालः, चूडावान्।

अनुपदमित्यस्मात् अन्वेष्टरि अर्थे इनिप्रत्ययो निपात्यते। साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्। साक्षादित्यव्ययम्, इह शब्दस्वरूपपरम् लुप्तपञ्चमीकम्। साक्षादित्यव्ययात् द्रष्टर्यर्थे इनिः स्यादित्यर्थः। साक्षीति। यः कर्मणि स्वयं न व्याप्रियते, किन्तु कर्म क्रियमाणं पश्यति, सोऽयं साक्षीत्युच्यते। साक्षादित्यव्ययादिनिः प्रत्ययः 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः। इति पाञ्चमिकाः।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। तदिति प्रथमासमर्थविभक्तिः। अस्यास्मिन्निति प्रत्ययार्थः। अस्तीति प्रकृतिविशेषणम्। इतिकरणो विवक्षार्थः। तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे वा मतुप् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थमस्ति चेत्तद्भवति। अस्त्यर्थोपाधिकं चेत्तद्भवतीत्यर्थः। 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुपादयः'। भूम्नि तावत्—गोमान्। निन्दायाम्—कुष्ठी। प्रशंसायां—रूपवती कन्या। नित्ययोगे—क्षीरिणो वृक्षाः। अतिशायने-उदरिणी कन्या। संसर्ग-दण्डी। अस्तिविवक्षायाम्-अस्तिमान्। गोमान्। गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति गोमान् इत्यत्र 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति मतुपि, उपो लोपे सुपो लुकि सौ च 'गोमत् सु' इति जाते 'अत्वसन्तस्य' इत्युपधादीर्घत्वे 'उगिदचाम्' इति नुमि उभो लोपे 'गोमान् त् सु' इति जाते

साक्षाद्—'साक्षात्' इस अव्ययसे द्रष्टा अर्थमें इनि प्रत्यय हो, संज्ञा गम्यमान रहने पर। इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पाञ्चमिक प्रकरण समाप्त हुआ।

तदस्यास्त्यस्मिन्—मत्त्यर्थोपाधिक प्रथमान्तसे अस्य और अस्मिन् अर्थोंमें मतुप् प्रत्यय हो। तसौ—तकारान्त और सकारान्तकी भसंज्ञा हो, मत्वर्थीय प्रत्ययके परे।

गुणवचने—गुणवाचकसे पर मतुप्का लुक् हो। प्राणिस्था—प्राणिस्थ आदन्तसे

प्राणिस्थात्किम् ? शिखावान्दीपः। प्राण्यङ्गादेव। नेह,–मेधावान्॥ **सिध्मादिभ्यश्च** ।५।२।९७। लज्वा। सिध्मल, सिध्मवान्। **(वातदन्तबलललाटानामूङ् च)**। वातूल। दन्तूल। बलूल। ललाटूल॥ **वत्सांसाभ्यां कामबले** ।५।२।९८। लज्वा यथासंख्य कामवति बलवति चार्थे। वत्सल। असल॥ **फेनादिलच्च** ।५।२।९९। चाल्लच्। अन्यतरस्या ग्रहण मतुप्समुच्चयार्थमनुवर्तते। फेनिल, फेनल, फेनवान्॥ **लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः** ।५।२।१००। लोमादिभ्य श,–लोमश, लोमवान्। रोमश, रोमवान्। पामादिभ्यो न,–पामन। **(अङ्गात्कल्याणे)**। अङ्गना॥ **(लक्ष्म्या अच्च)**। लक्ष्मण॥ **(पिच्छादिभ्य इलच्)** पिच्छिल, पिच्छवान्। उरसिल, उरस्वान्। **प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्यो णः**। ।५।२।१०१। प्राज्ञो व्याकरणे। प्राज्ञ। श्राद्ध। आर्च। **(वृत्तेश्च)** वार्त॥

सोर्लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे च कृते 'शामान्' इति। सिध्मादिभ्यश्च। लज्वा इति। मत्वर्थे इति शेषः। वातदन्तबलललाटानामूङ् चेति। सिध्मादिगणसूत्रमिदम्। एभ्यो लच्प्रकृतेरूङादेश। ङकारस्तु आदेशत्वसूचनार्थः। अन्यथा प्रत्ययत्वशङ्का स्यात्। वातूल। एव दन्तूल, बलूल, ललाटूल। वत्सांसाभ्यां कामबले। लच् स्यादिति। मत्वर्थे इति शेषः। कामबलशब्दो लक्षति। लाक्षणिकात्वमभिप्रेत्याह—कामवति बलवति चेति। फेनादिलच्च। मत्वर्थे इति शेषः। चाल्लजिति। सन्निहितत्वादिति भावः। नन्वेवं सति मतुप् नैव स्यादित्यत आह–अन्यतरस्यां ग्रहणमिति। सिध्मादिसूत्रे व्याख्यातमिदम्। प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः। प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा एभ्यो मत्वर्थे णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। प्राज्ञो व्याकरणे इति। प्रज्ञान प्रज्ञा। ज्ञिपातिस्वधिकारे प्रपूर्वात् ज्ञाधातो 'आतश्चोपसर्गे' इति भावे अङ्। प्रज्ञा अस्यास्तीति विग्रह। श्राद्ध इति। श्रद्धा अस्यास्तीति विग्रहः। आर्च इति। अर्चा अस्यास्तीति विग्रहः। वृत्तेश्चेति।

मत्वर्थमें लच् प्रत्यय हो, विकल्पसे। प्राण्यङ्गा—प्राण्यङ्गवाचक प्राणिस्थ आदन्तसे ही पूर्वोक्त लच् प्रत्यय हो। सिध्मा—सिध्मादिसे लच् प्रत्यय हो, मत्वर्थमें। वातदन्त—वात, दन्त आदिसे लच् प्रत्यय और ऊङ् का आगम हो, विकल्पसे। वत्सां—वत्स और असमे लच् प्रत्यय हो। क्रमसे यदि कामवान् और बलवान् अर्थ गम्यमान रहे।

फेनादि—फेनसे इलच् प्रत्यय और चकारात् लच् प्रत्यय भी हो, विकल्पसे (विकल्प पक्षमें मतुप् हो) लोमादि—मत्वर्थमें लोमादिसे 'श' प्रत्यय, पामादिसे 'न' प्रत्यय और पिच्छादिसे 'इलच्' प्रत्यय और मतुप् भी हो। अङ्गात्—अङ्ग शब्दसे 'न' प्रत्यय हो, कल्याण अर्थमें। लक्ष्म्या—लक्ष्मी शब्दसे 'न' प्रत्यय हो और लक्ष्मीको अकारान्त आदेश भी हो। पिच्छा—पिच्छादिसे इलच् प्रत्यय हो। प्रज्ञाश्रद्धा—प्रज्ञादिसे मत्वर्थमें ण प्रत्यय और मतुप् भी हो। वृत्तेश्च—वृत्तिसे भी मत्वर्थमें ण प्रत्यय और चकारात् मतुप् भी हो।

तपःसहस्राभ्यां विनीनी ।५।२।१०२। विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थः ॥ तपस्वी । सहस्री ॥ **अण् च ।५।२।१०३।** तापसः । साहस्रः ॥ **(ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्)** ज्यौत्स्नः । तामिस्रः ॥ **सिकताशर्कराभ्यां च ।५।२।१०४।** सैकतो घटः । शार्करः ॥ **देशे लुबिलचौ च ।५।२।१०५।** चाचण् मतुप् च । सिकताः सन्त्यस्मिन्देशे-सिकता, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान् । एवं शर्करा इत्यादि ॥ **दन्त उन्नत उरच् ।५।२।१०६।** उन्नता दन्ता अस्य-दन्तुरः ॥ **ऊषसुषिमुष्कमधो रः ।५।२।१०७।** ऊषरः । सुषिरः । मुष्कोऽण्डः,मुष्करः । मधुरः ।

वार्तिकमिदम् । मत्वर्थे णप्रत्यय इति शेषः । वार्त इति । वृत्तिरस्यास्तीति विग्रहः । तपःसहस्राभ्यां विनीनी । विनिश्च इनिश्चेति द्वन्द्वः । मत्वर्थे इति शेषः । यथासंख्यमन्वयः । विनिप्रत्यये इनि प्रत्यये च नकारादिकारौ उच्चारणार्थौ । ननु नकारयोः इत्संज्ञा कुतो न स्यात् । न च प्रयोजनाभावः, निरस्वरस्यैव फलत्वादित्यत आह—विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थ इति । तथा च उपदेशे अन्त्यत्वाभावान्नेत्संज्ञेति भावः । अण् च । तपस्सहस्राभ्यां मत्वर्थं इति शेषः । सिकताशर्कराभ्यां च । मत्वर्थे अणिति शेषः । सैकतो घट इति । सिकता अस्य सन्तीति विग्रहः । देशे लुपो वक्ष्यमाणत्वात् घट इति विशेषणम् । 'अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वं च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रात् सिकताशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । देशे लुबिलचौ च । पूर्वसूत्रविहितस्याणो लुप् इलच स्यादित्यर्थः । चादणिति । संनिहितत्वादिति भावः । तर्हि अपवादेन मुक्ते उत्सर्गस्याप्रवृत्तेर्मतुप् नैव स्यादित्यत आह—मतुप् चेति । समुच्चयार्थकान्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः । सिकता इति । सिकताशब्दात् नित्यं बहुवचनान्तादणो लुपि प्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुकि युक्तवद्भावाद्विशेष्यस्य देशस्य एकत्वेऽपि बहुवचनमिति भावः । ऊषसुषि । ऊष, सुषि, मुष्क, मधु एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्येकवचनम् । सौत्रं पुंस्त्वम् । एभ्या मत्वर्थे रप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ऊषर इति । ऊषः क्षारमृत्तिकाविशेषोऽस्यास्तीति विग्रहः । सुषिर इति । सुषिः बिलम् अस्यास्तीति

तपःसहस्राभ्यां—तपस् और सहस्र शब्दसे यथाक्रमेण विनि प्रत्यय और इनि प्रत्यय तथा मतुप् भी हो । अण् च—तपस् और सहस्र शब्दसे (पूर्वोक्त प्रत्यय और) अण् प्रत्यय भी हो । ज्योत्स्नादि—ज्योत्स्नादिसे भी अण् प्रत्यय और मतुप् प्रत्यय हो ।

सिकता—सिकता और शर्करा शब्दसे अण् प्रत्यय और मतुप् प्रत्यय भी हो ।

देशे लुपि—देश यदि अभिधेय हो तो-सिकता और शर्करा शब्दसे मत्वर्थीय प्रत्ययका लुप् हो और इलच् प्रत्यय भी हो । चकारात् अण् और मतुप् भी हो । दन्त उन्नत—उन्नतोपाधिक दन्त शब्दसे मत्वर्थमें उरच् प्रत्यय हो । ऊषसुषि—ऊषादिसे 'र' प्रत्यय और

(रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्) । खर । मुखर । कुञ्जो हस्तिहनुः, कुञ्जर ॥ **(नगपांसुपाण्डुभ्यश्च)** नगरम् । पांसुर । पाण्डुरः ॥ **(कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च)** कच्छुरः ॥ **द्युद्रुभ्यां मः ।५।२।१०८।** द्युम । द्रुम ॥ **केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ।५।२।१०९।** प्रकृतेनान्यतरस्यां ग्रहणेन मतुपि सिद्धे पुनर्ग्रहणं इनिठनोः समावेशार्थम् । केशव, केशी, केशिक, केशवान् । **(अन्येभ्योऽपि दृश्यते)** मणिवो नागविशेष । हिरण्यवो निधिविशेष ॥ **(अर्णसो लोपश्च)** अर्णव ॥ **गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् ।५।२।११०।** ह्रस्वदीर्घयोर्यणा तन्त्रेण निर्देशः । गाण्डिवम्, गाण्डीवम्, अर्जुनस्य धनु । अजगव पिनाक ॥ **काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ।५।२।१११।** काण्डीर । आण्डीर ॥ **रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् ।५।२।११२।** रजस्वला स्त्री । कृषीवल । 'वले' इति दीर्घ । आसुतीवल, शौण्डिक । परिष

विग्रहः । नगपांस्विति । वार्तिकमिदम् । नगरमिति । जातिविशेषवाची । अत एव नगरीत्यत्र ङीप् । पांसुर इति । पांसु अस्यास्तीति विग्रहः । पाण्डुर इति । पाण्डु शुक्लवर्णः, स अस्यास्तीति विग्रहः । कच्छ्वा इति । कच्छूशब्दाद् रप्रत्ययः प्रकृतेर्ह्रस्वश्च अन्तादेश इत्यर्थः । कच्छुर इति पामारोगविशेष । द्युद्रुभ्यां म । 'दिव उत्' इति कृतोत्वस्य दिव्शब्दस्य द्यु इति निर्देश । दिव्शब्दात् द्रुशब्दाच्च म प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । द्युम, द्रुम इति । रूढशब्दावेतौ । गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम् । ह्रस्वदीर्घयोरिति । गाण्डिशब्दस्य गाण्डीशब्दस्य च क्रमयणोः गाण्ड्य इति युगपन्निर्देशः । 'यचस्यात् परस्य' इत्यत्र स्थितिर्णीतीत्यनयोश्च यथेत्यर्थं । ततश्च गाण्डिशब्दात् गाण्डीशब्दात् अजगशब्दात् मत्वर्थे वप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । रूढशब्दत्वादिह न मतुप्समुच्चय । काण्डाण्डादीरन्नीरचौ । काण्ड, आण्ड आभ्याम् ईरन् ईरच् इति प्रत्ययौ मत्वर्थे स्त इत्यर्थः । रज कृषि । रजस्, कृषि, आसुति, परिषद् एभ्यो मत्वर्थे वलच् स्यादित्यर्थः । आसुतीवल इति ।

मतुप् भी हो । रप्रकरणे—'र' प्रत्ययके प्रकरणमें ख, मुख और कुञ्जसे भी 'र' प्रत्ययका विधान हो तथा मतुप् भी हो । नगपांसु—नगादिसे भी 'र' प्रत्यय और मतुप् हो ।

कच्छ्वा—कच्छूसे 'र' प्रत्यय और कच्छूको ह्रस्व भी हो । द्युद्रुभ्यां—दिव् और द्रु शब्दसे 'म' प्रत्यय और मतुप् भी हो । केशाद्वो—केश शब्दसे 'व' प्रत्यय हो, विकल्पसे । पक्षमें इनि, ठन् और मतुप् प्रत्यय भी हो । अन्येभ्योऽपि—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी मत्वर्थमें 'व' प्रत्यय हो । अर्णसो—अर्णस् शब्दसे 'व' प्रत्यय और अर्णस्के अन्त्य सकारका लोप हो । गाण्ड्यजगात्—गाण्डी और अजगसे मत्वर्थमें 'व' प्रत्यय हो, संज्ञामें । काण्डाण्डा—काण्ड शब्दसे 'ईरन्' और आण्ड शब्दसे 'ईरच्' प्रत्यय हो ।

— रजःकृ—रजआदिसे वलच् प्रत्यय और मतुप् भी हो ।

लः। पर्वदिति पाठान्तरम्। पर्वद्वलम्। (अन्येभ्योऽपि दृश्यते)। भ्रातृवलः। पुत्रवलः। शत्रुवलः। **दन्तशिखात्संज्ञायाम्** ।५।२।११३। दन्तावलो हस्ती। शिखावलः। केकी॥ **अत इनिठनौ** ।५।२।११५। दण्डी, दण्डिकः॥ **व्रीह्यादिभ्यश्च** ।५।२।११६। व्रीही, व्रीहिकः॥ **तुन्दादिभ्य इलच्च** ।५।२।११७। चादिनिठनौ मतुप् च। तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान्। उदर पिचण्ड यव व्रीहि इति तुन्दादिः॥ **रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्** ।५।२।१२०। आहतं रूपमस्यास्तीति-रूप्यः कार्षापणः। प्रशस्तं रूपमस्यास्तीति-रूप्यो गौः। (अन्येभ्योऽपि दृश्यते)। हिम्याः पर्वताः। गुण्या ब्राह्मणाः॥ **अस्मायामेधास्रजो विनिः** ।५।२।१२१। यशस्वी, यशस्वान्। मायावी, मायावान्। व्रीह्यादिपाठात् मायी, मायिकः। स्रग्वी॥ (**शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्**)। शृङ्गारकः। वृन्दारकः॥ (**फलबर्हा-**

'पुष् अभिषवे'। आङ् पूर्वात् क्विपो क्विन् 'वले' इति दीर्घः। अन्येभ्योऽपीति। वार्तिकमिदम्। रजःकृषि इत्यादिसूत्रोपात्तादन्येभ्योऽपि वलच् दृश्यत इत्यर्थः। भ्रातृवलः। इलोपे इत्यतः अण इत्यनुवृत्तेः 'वले' इति न दीर्घः। दन्तशिखात्संज्ञायाम्। समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी। दन्तशब्दात् शिखाशब्दाच्च मत्वर्थे वलच् स्यात्संज्ञायामित्यर्थः। तुन्दादिभ्य इलच्। मतुप्चेति। समुच्चयार्थकान्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः। उदरादयश्चत्वारस्तुन्दादिगणपठिताः। रूपादाहत। आहतेति भावे क्तः। आहतविशेषणकात् प्रशंसाविशेषणकाच्च रूपशब्दात् मत्वर्थे यप् स्यादित्यर्थः। आहतं रूपमिति। आहतेन निष्पन्नं स्वरूपं यस्येति विग्रहे रूपशब्द इत्यर्थः। रूप्यः कार्षापण इति। परिमाणविशिष्टः रजतसुवर्णादिमुद्रिकाविशेषयुक्तः कार्षापणः इत्युच्यते। तत्स्वरूपं च स्वर्णकारकृता हननिष्पाद्यमिति बोध्यम्। रूप्यो गौरिति। प्रशस्तरूपसंपन्ना इत्यर्थः। हिम्याः पर्वता इति। भूम्नि यप् बहुलं, हिममेष्वस्तीति विग्रहः। गुण्या ब्राह्मणा इति। प्रशंसायां यप्। प्रशस्तगुणसम्पन्ना इत्यर्थः। शृङ्गवृन्दाभ्यामिति। फलबर्हाभ्यामिति।

अन्येभ्यो—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी वलच् प्रत्यय हो।

दन्त—दन्त और शिखा शब्दसे वलच् प्रत्यय हो, संज्ञामें।

अत इनि—अदन्त प्रातिपदिकसे इनि और ठन् प्रत्यय हो और पक्षमें मतुप् भी हो।

व्रीह्या—व्रीह्यादिसे इनि, ठन् और मतुप् भी हो। तुन्दादिभ्यः—तुन्दादिसे इलच् प्रत्यय और चकारात् इनि, ठन्, और मतुप् भी हो। रूपादा—आहत और प्रशंसा विशिष्ट अर्थमें रूप शब्दसे यप् प्रत्यय और मतुप् भी हो। अन्येभ्यो—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी यप् प्रत्यय हो। अस्माया—असन्त प्रातिपदिकसे तथा माया, मेधा और स्रज् शब्दोंसे विनि प्रत्यय हो (और मतुप् भी हो) शृङ्गवृन्दा—शृङ्ग और वृन्द शब्दसे आरकन् प्रत्यय हो (और मतुप् भी हो) फल—फल और बर्ह शब्दसे इनच् प्रत्यय हो।

स्यामिनच्) । फलिन । बर्हिण ॥ (हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्) हृदयालु, हृदयी, हृदयिक, हृदयवान् ॥ (शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने) शीतं न सहते शीतालु । उष्णालु । तृप्र पुरोडाश, तं न सहते तृप्रालु ॥(तप्पर्वमरुद्भ्याम्)। पर्वत । मरुत्त ॥ **ऊर्णाया युस्** ।५।२।१२३। ऊर्णायु ॥ **वाचो ग्मिनिः** ।५।२। १२४। वाग्मी ॥ **आलजाटचौ बहुभाषिणि** ।५।२।१२५। (कुत्सित इति वक्तव्यम्)। *कुत्सितं बहु भाषते-वाचाल, वाचाट*। यस्तु सम्यग्बहु भाषते स वाग्मी इत्येव ॥ **स्वामिन्नैश्वर्ये** ।५।२।१२६। ऐश्वर्यवाचकात् स्वशब्दान्मत्वर्थे आमिनच् । स्वामी ॥ **अर्शआदिभ्योऽच्** ।५।२।१२७। अर्शांसि अस्य विद्यन्ते- अर्शस । आकृतिगणोऽयम् ॥ **वातातीसाराभ्यां कुक् च** ।५।२।१२९। वा-

---

हृदयाच्चालुरन्यतरस्यामिति च । वार्तिकत्रयमिदम् । तयोक्तत्वात् । चुटू इति चकारस्येत्संज्ञा । अन्यतरस्यां ग्रहणादालोरभावे इनिठनौ । समुच्चयार्थकान्यतरस्यां ग्रहणात् तुप्रत्ययोऽपि । तथा चात्र चत्वारः प्रत्ययाः । तदाह—हृदयालुरित्यादि । 'शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने' इति वार्तिकमर्थतः सगृह्णाति—शीतेति । शीत, उष्ण, तृप्र एभ्यः द्वितीयान्तेभ्यः न सहते, इत्यर्थे आलु स्यादित्यर्थः । तप्पर्वमरुद्भ्यामिति । वार्तिकमिदम् । पर्वमरुद्भ्यां तप् वक्तव्य इत्यर्थः । ऊर्णाया युस् । ऊर्णाशब्दात् युस्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आलजाटचौ । वाच्शब्दात् आलच् आटच् एतौ मत्वर्थे बहुभाषिणीत्यर्थः । ग्मिनोऽपवाद । यस्तु सम्यगिति । न च अबहु, अकुत्सितं च यो वदति तत्रापि वाग्मी त्येव न सम्भवतीति, भाष्यवचनेन पूर्वसूत्रस्य सम्यक्बहुभाषिण्येव प्रवृत्तेरभ्युपगमादिति भावः । स्वामिन्नैश्वर्ये । ऐश्वर्ये इति प्रकृतिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह—ऐश्वर्यवाचकादिति । आमिनजिति । निपात्यत इति शेष । स्वामीति । स्वम् ऐश्वर्यं तद्वानित्यर्थः । निपन्तेति यावत् । ऐश्वर्ययुक्तेर्धनवानित्यर्थे स्वामीति न भवति । वातातीसाराभ्यां कुक् च । चादिनिरिति । वात अतीसार आभ्यां मत्वर्थे इनि स्यात् प्रकृतेः कुक् इत्यर्थः । कुकि ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्वादन्तावयवः । वातकीति । वातरोगवानित्यर्थः ।

हृदयाच्चालु—हृदय शब्दसे आलु प्रत्यय हो, विकल्पसे । पक्षमें इनि, ठन् और मतुप् भी हो । शीतोष्ण—शीतादि शब्दोंसे आलु प्रत्यय हो, असहन अर्थमें ।

तप्पर्व—पर्व और मरुत शब्दोंसे तप् प्रत्यय हो । ऊर्णाया—ऊर्णा शब्दसे युस् प्रत्यय हो । वाचो—वाच् शब्दसे ग्मिनि प्रत्यय हो । आलजा—वाक् शब्दसे बहुभाषी अर्थमें आलच् और आटच् प्रत्यय हो । कुत्सिते—निन्दा गम्यमान होनेपर ही वाक् शब्दसे बहुभाषी अर्थमें आलच् और आटच् प्रत्यय हों-ऐसा कहना चाहिये । स्वामिन्नै—ऐश्वर्य अर्थमें 'स्वामिन्' यह निपातन हो अर्थात् ऐश्वर्यवाचक शब्दसे आमिनच् प्रत्यय हो ।

अर्शआ—अर्शस् आदि प्रातिपदिकसे अच् प्रत्यय हो । वातातो-वात और अतीसार

दिनिः । वातकी । अतीसारकी ॥ (पिशाचाच्च) पिशाचकी ॥ **हस्ताज्जातौ ।५।२।१३३।** हस्ती । **वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ।५।२।१३४।** वर्णी । **कंशंभ्यां वभयुस्तितुतयसः ।५।२।१३८।** कमित्युदकसुखयोः । शमिति सुखे । आभ्यां सप्त प्रत्ययाः स्युः । युस्यसोः सकारः पदत्वार्थः । कंवः, कंमः, कंयुः, कंतिः कंतुः, कंतः, कंयः । एवं शंव इत्यादि ॥ **तुन्दिवलिवटेर्भः ।५।२।१३९।** तुन्दिभः । वलिभः । वटिभः ॥ **अहंशुभमोर्युस् ।५।२।१४०।** अहंयुः, अहङ्कारवान् । शुभंयुः, शुभान्वितः ।

इति मत्वर्थीयप्रकरणम् ।



अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

प्राग् दिशो विभक्तिः ।५।३।१। 'दिक्शब्देभ्य' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्य-

---

अतीसारकीति । अतीसाररोगवानित्यर्थः । पिशाचाच्चेति । वार्तिकमिदम् । पिशाचादिनिः प्रकृतेः कुक्चेत्यर्थः । हस्ताज्जातौ । हस्तान्मत्वर्थे इनिरेव, समुदायेन जातिविशेषे गम्ये इत्यर्थः । वर्णाद् ब्रह्मचारिणि । वर्णशब्दात् मत्वर्थे इनिरेव, समुदायेन ब्रह्मचारिणि गम्ये इत्यर्थः । वर्णीति । वर्णः ब्राह्मणादिस्तत्तद्वर्णोचितवसन्ताद्विकाले उपनयनम् । सोऽस्यास्तीति विग्रहः । कंशंभ्याम् । व, म, युस्, ति, तु, त, यस् एषां सप्तानां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । सप्त प्रत्ययाः स्युरिति । मत्वर्थे इति शेषः । पदत्वार्थ इति । अन्यथा कम् इत्यस्मात् युप्रत्यये यप्रत्यये च कृते भत्वात् पदत्वाभावादनुस्वारो न स्यादिति भावः । तुन्दिवलि । तुन्दि, वलि, वटि एभ्यो मत्वर्थे भ प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्येकवचनम् । पुंस्त्वमार्षम् । वटिम इति । 'वट वेष्टने' वटनं वटिः अस्यास्तीति विग्रहः । इति मत्वर्थीयाः ।



प्राग्दिशो विभक्तिः । दिक्शब्देन तदवधिं सूत्रं विवक्षितमित्यभिप्रेत्याह-दिक्शब्दे

शब्दोंसे इनि प्रत्यय और कुक् का आगम भी हो । पिशाचाच्च—पिशाच शब्दसे भी इनि प्रत्यय और कुक्का आगम हो हस्ताज्जा—समुदायसे जाति अभिधेय हो तो हस्त शब्दसे इनि प्रत्यय हो मत्वर्थमें । वर्णाद्—ब्रह्मचारी अभिधेय हो तो वर्ण शब्दसे इनि प्रत्यय हो । कंशंभ्यां—'कम्' और 'शम्' से व, म, युस्, ति, तु, त, यस्—ये सात प्रत्यय हों । तुन्दिवलि—तुन्दि, वलि, और वटि से 'भ' प्रत्यय हो । अहंशुभ—अहम् और शुभम्से युस् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त हुआ ॥



प्राग्दिशो—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी—' इस सूत्रसे पूर्व तक जो वक्ष्यमाण प्रत्यय हैं, वे

या विभक्तिसंज्ञा स्युः। अथ स्वार्थिका प्रत्ययाः ॥ **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ।५।३।२।** किम् सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ॥ **पञ्चम्यास्तसिल् ।५।३।७।** पञ्चम्यन्तेभ्य किमादिभ्यस्तसिल् वा ॥ **कुतिहोः ।७।२।१०४।** किमः कुस्तादौ हादौ च विभक्तौ। कुतः, कस्मात् ॥ **इदम इश् ।५।३।३।** प्राग्दिशीये। इतः ॥ **एतदोऽन् ।५।३।५।** एतदः प्राग्दिशीये। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। अतः। इतः। अमुतः। यतः। ततः। बहुतः। द्व्यादेस्तु—द्वाभ्याम् ॥ **पर्यभिभ्यां च ।५।३।९।** तसिल्। परितः, सर्वत इत्यर्थः। अभितः, उभयत इत्यर्थः। **सप्तम्यास्त्रल् ।५।३।१०।** कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र। **इदमो हः ।५।३।११।** त्रलोऽपवादः।

भ्य इत्यत इति विभक्तिसंज्ञका इति। तत्फलं तु 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधः, त्यदाद्यत्वम्, इदम् 'ऊडिदम्पदादि' इति स्वरश्च। स्वार्थिका इति। स्वीयप्रकृत्यर्थे भवा इत्यर्थः। किंसर्वनाम। बहुभ्योऽद्व्यादिभ्य इति छेदः। प्राग्दिश इत्यनुवर्तते। तदाह—प्राग्दिशोऽधिक्रियत इति। पञ्चम्यास्तसिल्। किमादिभ्य इति। किंसर्वनामबहुभ्य इत्यर्थः। वा स्यादिति। 'समर्थानाम्' इत्यतो वाग्रहणस्यानुवृत्तेरिति भावः। कुतिहोः। कु इति लुप्तप्रथमाकम्। 'किमः कः' इत्यस्मात् 'किमः' इत्यनुवर्तते। 'अष्टन आ' इत्यतो विभक्ताविति। तिश्च ह च तयोरिति द्वन्द्वः, इकार उच्चारणार्थः। ताभ्यां विभक्तिर्विशेष्यते। तदादिविधिः, तदाह—किमः कु स्यादित्यादिना। कुतः। कस्मादिति कुतः इत्यत्र 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिलि इत्लोपे सुपो लुकि, 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इति तसिलो विभक्तित्वे 'कुतिहोः' इति किमः कादेशे कु तस् इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वात्सुबुत्पत्तौ 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इति अव्ययत्वे 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुकि, सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'कुतः' इति सिद्धम्। सप्तम्यास्त्रल्। किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्य अद्व्यादिभ्यस्त्रलित्यर्थः। कुत्र। कस्मिन्निति 'कुत्र' इत्यत्र 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि, ललोपे, 'कुतिहोः' इति किमः कादेशे विभक्तिकार्ये च कृते 'कुत्र' इति। इदमो हः। इद शब्दात् सप्तम्यन्तात् इदमस्य

विभक्तिसंज्ञक हों। किंसर्व—'दिक्शब्देभ्य सप्तमी—' इस सूत्रसे पूर्वतक 'किम्-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्य' यह अधिकार है। पञ्चम्यास्तसिल्—पञ्चम्यन्त किम् आदिसे तसिल् प्रत्यय हो, विकल्पसे। कुतिहो—किम्को कु आदेश हो, तादि और हादि विभक्तिके परे। इदम इश्—इदम्को इश् आदेश हो, प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे। एतदोऽन्—एतद्को अन् आदेश हो, प्राग्दिशीय (विभक्तिसंज्ञक) प्रत्ययके परे। पर्यभिभ्यां—सर्व और उभयके अर्थमें वर्तमान परि और अभिसे तसिल् प्रत्यय हो। सप्तम्यास्त्रल्—सप्तम्यन्त किमादिसे त्रल प्रत्यय हो, विकल्पसे। इदमो—सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे 'ह' प्रत्यय हो, विकल्पसे।

इह ॥ **किमोऽत्** ।५।३।१२। वा स्यात् ॥ **क्वाति** ।७।२।१०५। किमः। क्व, कुत्र। **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** ।५।३।१४। पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते। दृशिग्रहणाद्भवदादियोग एव। स भवान्। ततो भवान्। तत्र भवान्। तं भवन्तम्। ततो भवन्तम्। तत्र भवन्तम्। एवं दीर्घायुः। देवानां प्रियः। आयुष्मान्॥ **सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा** ।५।३।१५। सप्तम्यन्तेभ्य एभ्यः। कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्॥ **सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि** ।५।३।६। दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा। सर्वस्मिन् काले-सदा, सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्? सर्वत्र देशे॥ **इदमो र्हिल्** ।५।३।१६। सप्तम्यन्तात्। **एतेतौ रथोः** ।५।३।४। इदम 'एत' 'इत्' एतौ स्तौ रेफादौ। अस्मिन् काले एतर्हि। काले किम्? इह देशे॥ **अधुना** ।५।३।१७। इदमो निपातोऽयम्॥ **दानीं च** ।५।३।१८। इदमो दानीं प्रत्ययः काले। इदानीम्॥ **तदो**

यः स्यादित्यर्थः। इह। अस्मिन्निति 'इह' अत्र 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'इदमो हः' इति हे कृते इदमः 'इदम इश्' इति इशादेशे शलोपे शित्वात्सर्वादेशे च कृते रूपम्। कस्मिन्निति 'क्व' इत्यत्र 'किमोऽत्' इत्यति तल्लोपे सुपो लुकि 'किम् अ' इति जाते 'क्वाति' इति किमः क्वादेशे 'क्व अ' इति जाते भत्वे अल्लोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धम्। इतरोऽपि दृश्यन्ते। पञ्चमीसप्तमीतरविभक्तिभ्योऽपीत्यर्थः। फलितमाह—पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपीति। स भवान् ततो भवानिति। स भवानिति ततो भवान् इत्यत्र 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति तसिलि, सुपो लुकि, तद् तस् भवान् इति जाते 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे सस्य रुत्वे रोरुत्वे गुणे च कृते 'ततो भवान्' इति। अधुना। 'इदम' इति 'सप्तम्या' इति 'काले' इति चानुवर्तते। तदाह—इदम इति। तदो दा च। सप्तम्यन्तात्

किमोऽत्—सप्तम्यन्त किम् शब्दसे अत् प्रत्यय हो, विकल्पसे। क्वाति—किम्को 'क्व' आदेश हो, अत् प्रत्ययके परे। इतराभ्यो—पञ्चमी, सप्तमी, विभक्तिसे इतर जो प्रथमादि विभक्ति, तदन्तसे भी 'त्र, तसिल्' आदि प्रत्यय होते हैं सर्वैकान्य—कालमें वर्तमान सप्तम्यन्त—सर्व, एक, अन्य आदिसे 'दा' प्रत्यय हो, स्वार्थमें। सर्वस्य—सर्वको 'स' आदेश हो, विकल्पसे, दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे। इदमो—सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे र्हिल् प्रत्यय हो, काल अर्थमें, विकल्पसे। एतेतौ—इदम्को एत और इत् आदेश हों, रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे। अधुना-कालवाची सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे अधुना प्रत्यय हो, स्वार्थमें। दानीञ्च—कालवाची सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे दानीम् प्रत्यय हो, स्वार्थमें। तदो दा—कालवाची सप्तम्यन्त तद् शब्दसे दा और दानीम् प्रत्यय हो।

दा च ।५।३।१९। तदा, तदानीम् ॥ अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ।५।३।२१। कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ॥ एतेतौ रथोः ।५।३।४। एत इत् एतौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन्काले एतर्हि ॥ सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ।५।३।२२। एते निपात्यन्ते । (द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः) उभयद्युः । प्रकारवचने थाल् ।५।३।२३। प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् । तेन प्रकारेण तथा । यथा ॥ इदमस्थमुः ।५।३।२४। थालोऽपवादः ॥ (एतदो थमुः) अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम् ॥ किमश्च ।५।३।२५। केन प्रकारेण कथम् ।

इति प्राग्दिशीयप्रकरणम् ।

कालवृत्ते तच्छब्दाद् दाप्रत्ययः, दानीं प्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः । सद्यःपरुत् । 'समानस्य सभावो द्यस् चाहनि' इति भाष्यवाक्यमिदम् । अहर्वृत्तेः समानशब्दात् सप्तम्यन्तात् द्यस्प्रत्ययः समानस्य सभावश्च निपात्यत इत्यर्थः । सद्यः । समानेऽहनि, इत्यर्थः । प्रकारवचने । किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्य इति वर्तते । सप्तम्याः, काले, इति च निवृत्तम् । सामान्यस्य विशेषो भेदकः प्रकारः, प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत् । प्रकारवृत्तिभ्यः किंसर्वनामबहुभ्यः स्वार्थे थाल् प्रत्ययो भवति । तथा । तेन प्रकारेण 'तथा' इत्यत्र 'प्रकारवचने थाल्' इति थालि, ललोपे सुपो लुकि, 'त्यदादीनाम' इत्यत्वे, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'तथा' इति रूपम् । एवं येन प्रकारेण इति 'यथा' इत्यत्रापि बोध्यम् । इदमस्थमु । इदंशब्दात्प्रकारवृत्ते थमुप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्रत्यये उकार उच्चारणार्थः । मकारस्य उपदेशे अन्त्यत्वाभावान्नेत्त्वम् । इत्थम् । अनेन प्रकारेण 'इत्थम्' इत्यत्र 'इदमस्थमु' इति थमौ, सुपो लुकि, 'इदम् थम्' इति जाते 'एतेतौ रथोः' इति थपरत्वादिदम इतादेशे च कृते 'इत्थम्' इति । इति प्राग्दिशीयाः ।

अनद्यतने—अनद्यतन कालवाची सप्तम्यन्त किम् सर्वनाम आदिसे र्हिल् प्रत्यय हो, विकल्पसे । एतदः—एतद् शब्दको एत-इत् आदेश हों, रेफादि और थकारादि प्रत्ययके पर ।

सद्य परुत्—सद्य आदि चतुर्दश शब्द निपातनसे सिद्ध हों । द्युश्चो—उभयसे द्युस् प्रत्यय भी हो, अहन् अभिधेय रहने पर । प्रकार—प्रकारवृत्ति किमादि शब्दोंसे थाल् प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

इदमस्थमुः—प्रकारवृत्ति इदम् शब्दसे थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें । एतदोऽपि—प्रकारवृत्ति इदम् शब्दसे भी थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें । किमश्च—प्रकारवृत्ति किम् शब्दसे भी थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्राग्दिशीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

दिक्छब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ।५।३।२७। सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रूढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्तातिः ॥ **पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्** ।५।३।३९। एभ्योऽस्तीत्यर्थेऽसिस्तद्योगे चैषां पुर् अध् अव् इत्यादेशाः स्युः ॥ **अस्ताति च** ।५।३।४०। पूर्वादीनां पुरादयः स्युः । पूर्वस्यां पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक्,-पुरः, पुरस्तात् । अधः, अधस्तात् । अवः, अवस्तात् ॥ **विभाषाऽवरस्य** ।५।३।४१। अस्तातौ अव् वा स्यात् । अवस्तात्, अवरस्तात् । एवं देशे काले च । दिशि रूढेभ्यः किम् ? ऐन्द्र्यां वसति । सप्तम्याद्यन्तेभ्यः किम् ? पूर्वं ग्रामं गतः । दिगादिवृत्तिभ्यः किम् ? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । 'अस्ताति च' इति ज्ञापकादसिरस्तातिं न बाधते ॥ **दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्** ।५।३।२८।

दिक्छब्देभ्यः । सप्तम्याद्यन्तेभ्य इति । सप्तमी पञ्चमी प्रथमान्तेभ्यः इत्यर्थः । रूढेभ्य इति । शब्दग्रहणलभ्यमिदम् । अस्तातिप्रत्यये इकार उच्चारणार्थः । तकारान्तः प्रत्ययः । 'संख्याया विधार्थे धा' इति सूत्रपर्यन्तमिदं सूत्रमस्तातिवर्जमनुवर्तते । अत्र विभक्तीनां दिगादीनां च न यथासंख्यं, व्याख्यानात् । पूर्वाधरावराणाम् । असीति लुप्तप्रथमाकम् । पुर् अध् अव् एषां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । अस्तीत्यर्थे इति । दिग्देशकालवृत्तिभ्य इत्यर्थः । अस्ताति च । अस्तातीति लुप्तसप्तमीकम् । अस्तातीति तकारान्तात् सप्तम्येकवचनं वा । पुरस्तादिति । पूर्वशब्दात् अस्तातिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर् आदेशः । अधः, अधस्तादिति । अधरशब्दात् असिप्रत्यये अस्तातिप्रत्यये च प्रकृतेः अध् आदेशे रूपम् । अव इति । अवरशब्दात् असिप्रत्यये प्रकृतेः अव् आदेशे रूपम् । विभाषाऽवरस्य । 'अस्ताति च' इति पूर्वसूत्रादस्तातीत्यनुवर्तते । तदाह—अस्तातावित्ति । एवमिति । पूर्वस्मिन् पूर्वस्मात् पूर्वो वा देशः कालो वा पुरः पुरस्तादित्यादि । पूर्वस्मिन् गुरावित्ति । पूर्वकालिकाध्यापनकर्तरीत्यर्थः । ननु दिक्छब्देभ्यः इति सामान्यविहितस्य परादिशब्देषु सावकाशस्य अस्तातेः पूर्वाधरावरशब्देषु असिना विशेषविहितेन बाधः स्यादित्यत आह—अस्ताति चेतीति । दक्षिणोत्तराभ्याम् । दिग्देशकालवृत्तिभ्यामिति शेषः ।

दिक्छब्देभ्यः—दिक्, देश और कालमें वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त दिक् शब्दसे अस्ताति प्रत्यय हो, स्वार्थमें । पूर्वाऽधरा—पूर्व, अधर और अवरसे 'अस्ताति' के अर्थमें असि प्रत्यय हो और असिके योगमें पूर्वादिको यथाक्रमसे पुर, अध् और अव् आदेश भी हों । अस्ताति च—'अस्ताति' प्रत्ययके परे भी पूर्वादिको पुरादि आदेश हो ।

विभाषा—अस्ताति प्रत्ययके परे 'अवर' को 'अव्' आदेश विकल्पसे हो ।

दक्षिणो—दिग्देशकालमें वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त दिग्वाची दक्षिण

अस्तातेरपवादः । दक्षिणतः । उत्तरतः ॥ **विभाषा परावराभ्याम् ।५।३।२९।** परतः, परस्तात् । अवरतः, अवरस्तात् ॥ **अञ्चेर्लुक् ।५।३।३०।** अञ्चत्यन्ता-दिक्शब्दादस्तातेर्लुक् स्यात् । प्राक् । उदक् ॥ **उपर्युपरिष्टात् ।५।३।३१।** निपातावेतौ ॥ **पश्चात् ।५।३।३२।** तथा ॥ **उत्तराधरदक्षिणादातिः ।५।३।३४।** उत्तरात् । अधरात् । दक्षिणात् ॥ **एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ।५।३।३५।** उत्तरादिभ्य एनब्वा स्यादवध्यवधिमतोः सामीप्ये । पञ्चम्यन्तात्तु न । उत्तरेण । अधरेण । दक्षिणेन । पक्षे—यथास्वं प्रत्ययाः । इह केचिद्दिक्शब्दमात्रादेनपमाहुः । पूर्वेण ग्रामम् ॥ **दक्षिणादाच् ।५।३।३६।** अस्तातेर्विषये । दक्षिणा वसति । 'अपञ्चम्याः' इत्येव । दक्षिणादागतः ॥ **आहि च दूरे ।५।३।३७।** चादाच् । दक्षिणाहि । दक्षिणा ॥ **उत्तराच्च ।५।३।३८।** उत्तराहि, उत्तरा ॥ **संख्याया विधार्थे धा**

दक्षिणतः, उत्तरत इति । न चातसुजेव प्रत्ययोऽस्तु । दिग्वर्तिये तु 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' इति पुंवद्भावेनैव दक्षिणतः इत्यादिसिद्धमिति वाच्यम्, स्पष्टार्थत्वात् । उत्तरादिभ्य इति । उत्तराधरदक्षिणादित्यनुवर्तत इति भावः । अदूरे इत्येतद्व्याचष्टे—अवध्य-वधिमतोः सामीप्ये इति । पञ्चम्यन्तादिति । पञ्चम्यन्तान्न भवतीत्यर्थः । यथास्वमिति । एनबभावे पक्षे अस्ताति असि आतिश्चेत्यर्थः । दिक्छब्दमात्रादिति । अञ्चत्यन्तात्तु नेदम्, व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् । तेन प्राचेन ग्राममित्यादि न भवतीत्याहुः । दक्षिणादाच् । अस्तातेर्विषये इति । एतेन अदूरे इति नानुवर्तत इति सूचितम् । एवं च आच्प्रत्यये, उत्तराधरदक्षिणादित्यादि प्रत्यये, 'दक्षिणोत्तराभ्याम्'इत्यतसुचि च त्रीणि रूपाणि । आहि च । दक्षिणशब्दादिति शेषः । चादाजिति । तथा दूरे उक्तरूपत्रयेण सह चत्वारि रूपाणीति भावः । उत्तराच्च । आच् आहि चेति शेषः । अतसुचा आतिना च चत्वारि रूपाणि । संख्याया विधार्थे धा । विधाशब्दस्यार्थं प्रकारः

या उत्तर शब्दसे अतसुच् प्रत्यय हो स्वार्थमें । विभाषा परा—अस्तातिके अर्थमें दिग्वाची पर और अवरसे अतसुच् प्रत्यय हो, विकल्पसे । अञ्चे—अञ्चत्यन्त दिक् शब्दसे पर अस्ताति प्रत्ययका लुक् हो । उपर्युपरि—अस्तातिके अर्थमें उपरि और उपरिष्टात् निपातन हो । पश्चात्—अस्तातिके अर्थमें पश्चात् यह निपातन हो । उत्तराधर—उत्तरादिसे अस्तातिके अर्थमें आति प्रत्यय हो । एनबन्य—अस्तातिके अर्थमें उत्तरादिसे एनप् प्रत्यय हो, यदि अवधि और अवधिमानका सामीप्य रहे । किन्तु पञ्चम्यन्तसे यह एनप् नहीं हो ।

दक्षिणा—अस्ताति प्रत्ययके विषयमें पञ्चम्यन्तसे भिन्न दक्षिण शब्दसे आच् प्रत्यय हो ।

आहि च—अपञ्चम्यन्त दक्षिण शब्दसे अस्तातिके अर्थमें आहि और आच् प्रत्यय हो, अवधिसे अवधिमान यदि दूर रहे तो । उत्तरा—अपञ्चम्यन्त उत्तर शब्दसे भी अस्ताति अर्थमें आहि और आच् प्रत्यय हो, अवधिसे अवधिमान यदि दूर हो । संख्या—क्रिया

।५।३।४२। क्रियाप्रकारार्थे वर्तमानात् संख्याशब्दात्स्वार्थे धा स्यात्। चतुर्धा ॥ **एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्** ।५।३।४४। ऐकध्यम्, एकधा ॥ **द्वित्र्योश्च धमुञ्** ।५।३।४५। आभ्यां धा इत्यस्य धमुञ् वा। द्वैधम्, द्विधा। त्रैधम्, त्रिधा ॥ **एधाच्च** ।५।३।४६। द्वेधा। त्रेधा ॥ **याप्ये पाशप्** ।५।३।४७। कुत्सितो भिषक्-भिषक्पाशः ॥ **(तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः)**। द्वैतीयीकः, द्वितीयः। तार्तीयीकः, तृतीयः ॥ **(न विद्यायाः)**। द्वितीया, तृतीया विद्येत्येव ॥ **एकादाकिनिच्चासहाये** ।५।३।५२। चात्कन्लुकौ। एकः। एकाकी। एककः ॥ **भूतपूर्वे चरट्** ।५।३।५३। आढ्यो भूतपूर्वः-आढ्यचरः ॥ **षष्ठ्या रूप्य च।**

विधार्थः। 'विधा विधौ प्रकारे च' इत्यमरः। सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः। स धाभिधानस्वभावात् क्रियाविषयक एव गृह्यते। तदाह—क्रियाप्रकारेति। चतुर्धेति। गच्छतीत्यादिक्रियापदमध्याहार्यम्। चतुष्प्रकारा गमनादिक्रियेति बोधः। नवधा द्रव्यमित्यादावपि भवतीत्यादिक्रियापदमध्याहार्यम्। एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्। एकात् धः इति छेदः। धाशब्दस्य ध इति षष्ठ्येकवचनम्। एकशब्दात् परस्य धाप्रत्ययस्य ध्यमुञादेशः स्यादित्यर्थः। ऐकध्यमिति। न च एकशब्दात् ध्यमुञ् प्रत्ययः स्वतन्त्रो विधीयताम्। न तु धाप्रत्ययस्यादेश इति वाच्यम् तथा सति अधिकरणविचाल एव संनिहितत्वादापत्तेः। द्वित्र्योश्च धमुञ्। षष्ठी पञ्चम्यर्थे। ध इति, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते। तदाह—आभ्यामिति। परस्येति शेषः। एधाच्च। द्वित्रिभ्यां परस्य धाप्रत्ययस्य एधाजित्यादेशः स्यादित्यर्थः। पञ्चम्यास्तसिल् इत्यारभ्य एधाच्च इत्यन्तैर्विहितप्रत्ययान्तानामव्ययत्वम्। याप्ये पाशप्। याप्यः कुत्सितः, 'निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफयाप्यावमाधमाः' इत्यमरः। कुत्सिते विद्यमानात् स्वार्थे पाशप् स्यादित्यर्थः। प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामिदम्। अप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामपि कुत्सित इति वक्ष्यमाणं भवतीति भाष्ये स्पष्टम्। तीयादीकगिति। वार्तिकमिदम्। न विद्याया इति। वार्तिकमिदमपि तत्रैव स्थितम्। विद्यावृत्तेः तीयप्रत्ययान्तादीकक् नेत्यर्थः। एकादाकिनिच्चासहाये। असहायवाचकादेकशब्दात् स्वार्थे आकिनिच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः। भूतपूर्वे चरट्।

प्रकारमें विद्यमान संख्यावाचक शब्दसे 'धा' प्रत्यय हो, स्वार्थमें। एकाद्धो—एक शब्दसे पर 'धा' प्रत्ययको 'ध्यमुञ्' आदेश हो, विकल्पसे। द्वित्र्योश्च—द्वि, त्रि शब्दसे पर 'धा' को 'धमुञ्' आदेश हो, विकल्पसे। एधाच्च—द्वि, त्रि शब्दसे पर 'धा' को 'एधाच्' आदेश हो, विकल्पसे। याप्ये—याप्य (कुत्सित) अर्थमें विद्यमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें पाशप् प्रत्यय हो।

तीयादी—तीय प्रत्ययान्तसे ईकक् प्रत्यय हो, स्वार्थमें, विकल्पसे। न विद्यायाः—विद्या अर्थमें वर्तमान तीय प्रत्ययान्तसे ईकक् प्रत्यय नहीं हो। एकादा—असहायवाची एक शब्दसे स्वार्थमें 'आकिनच्' प्रत्यय और चकारात् कन् और लुक् भी हो। भूतपूर्वे—भूतपूर्व अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें चरट् प्रत्यय हो। षष्ठ्या—षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकसे

।५।३।५४। षष्ठ्यन्ताद्भूतपूर्वेऽर्थे रूप्य स्याच्चरट् च। कृष्णस्य भूतपूर्वो गौ—कृष्णरूप्य, कृष्णचर॥ **अतिशायने तमबिष्ठनौ** ।५।३।५५। अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्त। अयमेषामतिशयेनाढ्य—आढ्यतम। लघुतम, लघिष्ठ॥ **तिङश्च** ।५।३।५६। तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात्॥ **तरप्तमपौ घ** ।१।१।२२। **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** ।५।४।११। किम एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामु स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे। किंतमाम्। प्राह्णेतमाम्। प्रगेतमाम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्यप्रकर्षे तु,-उच्चैस्तमस्तरु॥ **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ** ।५।३।५७। द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्त। पूर्वयोरपवाद। अयमनयोरतिशयेन लघु—लघुतर, लघीयान्। उदीच्या प्राच्येभ्य पटुतरा, पटीयांस॥ **अजादी गुणवचनादेव** ।५।३।५८। इष्ठन्नीयसुनौ। नेह,-पाचकतर, पाचकतम॥ **प्रशस्यस्य श्र** ।५।३।६०। इष्ठेयसो परत॥

भूतपूर्वे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे चरट् स्यादित्यर्थः। षष्ठ्या रूप्य च। रूप्येति लुप्तप्रथमाकम्। भूतपूर्वे इत्यनुवर्तते। षष्ठ्यन्ताद् भूतपूर्वे इति। भूतपूर्वेऽर्थे विद्यमानात् षष्ठ्यन्तादित्यन्वय। भूतपूर्वे इत्यनुवृत्तं हि श्रुतत्वात् षष्ठ्या विशेषणम्। भूतपूर्वे सम्बन्धे या षष्ठी तदन्तात् स्वार्थे रूप्य स्यादिति फलति। यथाश्रुते तु स्वार्थिकप्रकरणविरोध। कृष्णरूप्य इति। भूतपूर्वतया कृष्णसम्बन्धी गौरित्यर्थ। अजादी। तरप्तमपौ इष्ठन्नीयसुनौ चेति चत्वार प्रत्यया अनुक्रान्ता। तेषां मध्ये यौ अजादी इष्ठन्नीयसुनौ तावित्यर्थ। तदाह—इष्ठन्नीयसुनाविति। पाचकतर पाचकतम इति। क्रियाशब्दादजादी इष्ठन्नीयसुनौ नेति भाव। गुणवचनादजादी एवेति विपरीतनियमव्यावृत्त्यर्थ एवकार। तेन पटुतर पटुतम इत्यादि सिद्धम्।

भूतपूर्व अर्थमें रूप्यप् प्रत्यय और चरट् प्रत्यय भी हो। अतिशायने—अतिशय अर्थमें विद्यमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें तमप् प्रत्यय और इष्ठन् प्रत्यय हो। तिङश्च—अतिशय अर्थ द्योत्यमें तिङन्तसे 'तमप्' प्रत्यय हो। तरप्तमपौ—तरप् और तमप् प्रत्ययकी घसंज्ञा हो।

किमेत्तिङ्—किम् शब्द और एदन्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्ययसे परे जो घ, तदन्तसे 'आमु' प्रत्यय हो द्रव्यप्रकर्षसे भिन्नमें।

द्विवचन—द्व्यर्थ प्रातिपदिक और विभक्तव्य (जिसका विभाग किया जाय, वह) उपपद रहनेपर दोमेंसे एकका अतिशय द्योत्य हो तो, सुबन्त और तिङन्तसे तरप् प्रत्यय और ईयसुन् प्रत्यय हों। अजादी—अजादि इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय, गुणवचनसे ही होते हैं।

प्रशस्य—प्रशस्यको 'श्र' आदेश हो, इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे।

प्रकृत्यैकाच् ।६।४।१६३। इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः। श्रेयान्॥ **ज्य च** ।५।३।६१। प्रशस्यस्य ज्यादेश इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः। **ज्यादादीयसः** ।६।४।१६०। 'आदेः परस्य'। ज्यायान्। **वृद्धस्य च** ।५।३।६२। ज्यादेशः अजाद्योः। ज्येष्ठः, ज्यायान्॥ **अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ** ।५।३।६३। अजाद्योरिष्ठेयसोः। नेदिष्ठः। नेदीयान्। साधिष्ठः, साधीयान्॥ **स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः** ।६।४।१५६। एषां यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुण इष्ठादिषु। स्थविष्ठः। दविष्ठः। यविष्ठः। ह्रसिष्ठः। क्षेपिष्ठः। क्षोदिष्ठः। एवमीयसुन्। ह्रस्वक्षिप्र-

---

वृद्धस्य च। शेषपूरणं सूत्रं व्याचष्टे—ज्यादेशः अजाद्योरिति॥ इष्ठन्नीयसुनोरित्यर्थः। ज्येष्ठ इति। अयमनयोरतिशयेनवृद्ध इत्यर्थः। अन्तिकबाढयोः। अजाद्योरिति। शेष-पूरणमिदम्। अन्तिकबाढ अनयोः इष्ठेयसुनोः परतः नेद, साध एतावादेशौ स्त इत्यर्थः। साधिष्ठः साधीयानिति। अयमनयोरतिशयेन बाढ इत्यर्थः। बाढो भृशः। 'भृशप्रतिज्ञयोर्बाढम्' इत्यमरः। 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इति च। स्थूलदूर। एषामिति। स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र, इत्येतेषामित्यर्थः। यणा-दिति। यण् आदिर्यस्येति विग्रहः। परमिति यणादीत्यस्य विशेषणम्, परभूतं यणादीत्यर्थः। लुप्यत इति। 'अल्लोपोऽनः' इत्यतोऽनुवृत्तं लोपपदमिह कर्मणि वज-न्तमाश्रीयत इत्यर्थः। भावसाधनत्वे परमित्यनेन सामानाधिकरण्यमसम्भवात्। पूर्व-स्येति। पूर्वत्वं यणपेक्षया बोध्यम्। इष्ठादिष्विति। तुरिष्ठेमेयस्सु इत्यतस्तदनुवृत्ते-रिति भावः। स्थविष्ठ इति। स्थूल शब्दादिष्ठनि लइत्यस्य लोपे ऊकारस्य गुण ओ-कारः अवादेशः इति भावः। ओर्गुणस्तु न प्रवर्तते, यणादिलोपस्याभीयत्वेनासिद्ध-त्वात्। एवमग्रेऽपि। दविष्ठ इति। दूरशब्दादिष्ठनि रइत्यस्य लोपे ऊकारस्य गुणे अवादेशः। यविष्ठ इति। युवन् शब्दादिष्ठनि वन्नित्यस्य लोपे उकारस्य गुणे अवा-देशः। परमित्यनुक्तौ यु इत्यस्यापि यणादेर्लोपः स्यात्। क्षेपिष्ठ इति। क्षिप्रशब्दा-दिष्ठनि र इत्यस्य लोपे इकारस्य गुणः। 'इको गुणवृद्धी' इत्युक्तेः न पिकारस्य गुणः। क्षोदिष्ठ इति। क्षुद्रशब्दादिष्ठनि र इत्यस्य लोपः उकारस्य गुणः।

प्रकृत्यैकाच्—इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे भसंज्ञक एकाच् प्रकृतिवत् हो। ज्य च—प्रशस्यको 'ज्य' आदेश हो, इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे। ज्यादा—'ज्य'से पर ईयस् (ईयसुन्) को आकार आदेश हो। वृद्धस्य च—वृद्धको 'ज्य' आदेश हो, अजादि (इष्ठन्-ईयसुन्) प्रत्ययके परे। अन्तिक—अन्तिकको 'नेद' आदेश और बाढको 'साध' आदेश हों, अजादि (इष्ठन्-ईयसुन्) प्रत्ययके परे। स्थूल—स्थूलादिके यणादिरूप पर भागका लोप हो और यणादिसे पूर्वभागको गुण हो, इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन्

क्षुद्राणां पृथ्वादित्वात्-ह्रसिमा, क्षेपिमा, क्षोदिमा ॥ **प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रप्द्राघिवृन्दाः ।६।४।१५७।** *प्रियादीनां प्रादय स्युरिष्ठादिषु ।* प्रेष्ठः । स्थेष्ठ । स्फेष्ठ । वरिष्ठ । बंहिष्ठ । गरिष्ठ । वर्षिष्ठ । त्रपिष्ठ । द्राघिष्ठ । वृन्दिष्ठ । एवमीयसुन् । प्रेयान् । प्रियोरुबहुलगुरुदीर्घाणां पृथ्वादित्वादिमनिच् प्रमा' इत्यादि ॥ **बहोर्लोपो भू च बहो. ।६।४।१५८।** *बहो परयोरिमेयसोर्लोप स्याद्बहोश्च भूरादेश ।* भूमा । भूयान् । **इष्ठस्य यिट् च ।६।४।१५९।** *बहो परस्य इष्ठस्य लोपो यिडागमश्च ।* भूयिष्ठ । **विन्मतोर्लुक् ।५।३।६५।** *इष्ठेयसो परत ।* अतिशयेन स्रग्वान्, स्रजीयान् ॥ **प्रशंसायां**

प्रियादीनामिति । प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक एषां द्वादशानामित्यर्थ. । प्रादय इति । प्र, स्थ, स्फ, वर, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द एते द्वादशेत्यर्थ । इष्ठादिष्विति । इष्ठेमेयस्स्वित्यर्थ । 'तुरिष्ठेमेय सु' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भाव । प्रेष्ठ इति । प्रियशब्दादिष्ठनि प्रकृतेः प्रादेश । आभीयत्वेनासिद्धत्वादकारोच्चारणसामर्थ्याच्च न टिलोप' । आद्गुण । स्थेष्ठ इति । स्थिरशब्दादिष्ठनि प्रकृते स्थादेश । प्रकृतिभावाच्च टिलोप' । स्फेष्ठ इति । स्फिरशब्दस्य इष्ठनि स्फादेश. । वरिष्ठ इति । उरुशब्दात् इष्ठनि वर् आदेश । बंहिष्ठ इति । बहुलशब्दस्य बंहिइत्यादेशः । इकार उच्चारणार्थ. । अन्यथा आभीयत्वेनासिद्धत्वात् उच्चारणसामर्थ्याद्वा इकारस्य लोपो न स्यात् । गरिष्ठ इति । गुरुशब्दस्य इष्ठनि गर् आदेश । वर्षिष्ठ इति । वृद्धशब्दस्य इष्ठनि वर्षिरादेश' बंहिवदिकार उच्चारणार्थं । त्रपिष्ठ इति । तृप्रशब्दस्य इष्ठनि त्रप् आदेश. अदुपधः । तृपधातोरसुप्रत्यये कादीणादिके रकि तृप्रशब्द । द्राघिष्ठ इति । दीर्घशब्दस्य इष्ठनि द्राघिरादेशः । बंहिवदिकार उच्चारणार्थः । वृन्दिष्ठ इति । वृन्दारकशब्दस्य 'इष्ठनि वृन्द आदेश । अकार उच्चारणार्थः । एवमीयसुन्निति । प्रेयान्, स्थेयान्, स्फेयान्, वरीयान्, बंहीयान्, गरीयान्, वर्षीयान्, त्रपीयान्, द्राघीयान्, वृन्दीयान् । अत्र इमनिजनुवृत्तेः प्रयोजनमाह—प्रियोर इति । इवन्तासिद्ध नाचेति । लोपपूरणमिदम् । 'तिङश्च' इत्यनुवृत्तम् ।

प्रत्ययके परे । प्रियस्थिर—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ और वृन्दारकको यथाक्रमसे प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि और वृन्द आदेश हो, इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे। बहोर्लोपो—बहुसे पर इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश भी हो। इष्ठस्य—बहुसे पर इष्ठन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश तथा इष्ठन्को 'यिट्' का आगम भी हो । विन्मतो—विन् और मतुप् का लोप हो इष्ठन् तथा ईयसुन् प्रत्ययके परे ।

प्रशंसायां—प्रशंसा अर्थमें वर्तमान सुबन्त और तिङन्तसे स्वार्थमें 'रूपप्' प्रत्यय हो ।

रूपप् ।५।३।६६। सुबन्तात्तिङन्ताच्च। प्रशस्तः पटुः पटुरूपः। पचतिरूपम्॥ **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ।५।३।६७।** ईषदूनो विद्वान्-विद्वत्कल्पः। विद्वद्देश्यः। विद्वद्देशीयः। पचतिकल्पम्॥ **विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ।५।३।६८।** ईषदूनः पटुर्बहुपटुः। पटुकल्पः। सुपः किम्? यजतिकल्पम्॥

प्रागिवात्कः ।५।३।७०। इवे प्रतिकृतावित्यतः प्राक्काधिकारः॥ **अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ।५।३।७१।** कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्तते॥ **कस्य च दः ।५।३।७२।** कान्ताव्ययस्य दादेशोऽकच्च॥ **अज्ञाते ।५।३।७३।** कस्यायमश्वः-अश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। पचतकि। धकित्॥ **कुत्सिते ।५।३।७४।** कुत्सितोऽश्वः-अश्वकः॥ **अल्पे ।५।३।८५।** अल्पं तैलं-तैलकम्। ह्रस्वो वृक्षः-वृक्षकः॥ (**अस्मिन् प्रकरणे हलादौ प्रत्यये द्वितीयादचः परस्य लोपो वा वाच्यः**)। देवदत्तकः। देवकः। (**लोपः पूर्वपदस्य च**)। दत्तकः। (**विनापि प्रत्ययं पूर्वो-**

प्रातिपदिकादिति च। 'घकाल' इत्यादिलिङ्गात् सुबन्तादिति लभ्यत इति भावः। प्रशंसाविशिष्टे स्वार्थे वर्तमानात् तिङन्तात् सुबन्ताच्च रूपबिति फलितम्।

लोपः पूर्वपदस्य चेति। विभाषेति शेषः। अनभावाविति तु नात्र संबध्यते। तदाह—दत्तक इति। कनि देवशब्दलोपे रूपम्। अप्रत्यये तथैवेष्ट-

---

ईषदसमाप्तौ—ईषत् असमाप्ति (थोडी-सी कमी) अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे कल्पप् और देश्य तथा देशीयर् प्रत्यय हो। विभाषा—ईषत् असमाप्ति अर्थमें वर्तमान सुबन्तसे बहुच् प्रत्यय विकल्पसे हो और वह प्रकृतिसे पूर्व ही हो।

प्रागिवात्कः—'इवे प्रतिकृतौ' इस सूत्रसे पूर्व तक 'क' प्रत्ययका अधिकार है।

अव्यय—अव्यय, सर्वनाम और तिङन्तकी टि' से पूर्व हो अकच् प्रत्यय हो, प्रागिवीयादि अर्थोंमें। कस्य च—ककारान्त अव्ययको 'द' आदेश हो और उससे अकच् प्रत्यय भी हो। अज्ञाते—अज्ञात अर्थमें वर्तमान सुबन्त और तिङन्तसे क, अकच् आदि प्रत्यय हो स्वार्थमें। कुत्सिते—कुत्सित अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित कादि प्रत्यय हों। अल्पे—अल्प अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित कादि प्रत्यय हों।

नोट:—'ह्रस्वो वृक्षः-'वृक्षकः' इसके लिये 'ह्रस्वे ।५।३।८६' (ह्रस्व अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित कादि प्रत्यय हो) इस सूत्रका पाठ भी सि० कौमुदीमें है।

अस्मिन्—इस (प्रागिवीय प्रत्ययके) प्रकरणमें हलादि प्रत्ययके परे द्वितीय अच्से परका लोप हो, विकल्पसे। लोपः पूर्व—पूर्व पदका भी लोप प्रागिवीय हलादि प्रत्ययके परे, विकल्पसे। विनापि—प्रत्ययके बिना भी पूर्वपद तथा उत्तरपदका लोप हो, विकल्पसे।

त्तरपदयोर्लोपो वा वाच्यः) । सत्यभामा । भामा । सत्या ॥ कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ।५।३।८८। ह्रस्वा कुटी-कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः ॥ कुत्वा डुपच् ।५।३।८९। ह्रस्वा कुतूः-कुतुपः । 'कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं ह्रस्वा सा कुतुपः पुमान्' । कासूगोणीभ्यां ष्टरच् ।५।३।९०। आयुधविशेषः कासूः-ह्रस्वा सा कासूतरी । गोणीतरी ॥ वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे ।५।३।९१। वत्सतरः । उक्षतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः ॥ किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ।५।३।९२। अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः ॥ वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ।५।३।९३। जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणमकजर्थम् ॥ एकाच्च प्राचाम् ।५।३।९४। डतरच् डतमच् स्यात् । अनयोरेकतरो मैत्रः । एषामेकतमः । इति प्रागिवीयाः ॥



इति वार्तिकमाश्रित्य व्याचष्टे—विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वा वाच्य इति । भामा-सत्या । भामादिशब्दात् टाबादिप्रत्ययस्याप्यभावे पूर्वोत्तरपदयोः क्रमेण लोपे रूपम् । कुटीशमी । ह्रस्व इत्येव । कुटीर इति । 'स्वार्थिकाः क्वचित्प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति पुंस्त्वम् । एवं शमीरः, शुण्डार इत्यपि । ह्रस्वा शमी शुण्डा चेत्यर्थः । कुत्वा डुपच् । कुतुप इति । कुतूशब्दात् डुपचि टिलोपः । तत्रापि कुटीरादिवत् स्त्रीत्वमपहाय पुंस्त्वमेव । तत्र अमरकोशमपि प्रमाणयति—कुतूः कृत्तेरिति । कासूगोणीभ्यां ष्टरच् । ह्रस्व इत्येव । कासूतरीति । षित्वात् ङीषिति भावः । 'कासूर्द्वे कुठाख्येऽस्त्रे' इति नानार्थरत्नमालायाम् । एवं गोणीतरीति । वत्सोक्षा । ह्रस्व इति निवृत्तम् । वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ एभ्यस्तनुत्वविशिष्टवृत्तिभ्यः ष्टरच् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।

इति प्रागिवीयाः ।



कुटीशमी—कुटी, शमी और शुण्डा शब्दसे 'र' प्रत्यय हो, ह्रस्वत्व अर्थ द्योत्य हो तो ।

कुत्वा डुपच्—कुतू शब्दसे डुपच् प्रत्यय हो, ह्रस्वत्व अर्थ द्योत्य रहने पर ।

कासू—कासू और गोणी शब्दसे ष्टरच् प्रत्यय हो, ह्रस्वत्व द्योत्य रहने पर ।

वत्सोक्षा—वत्सादिसे ष्टरच् प्रत्यय हो, तनुत्व (छोटापन) अर्थमें । किंयत्तद्—दोमें से एकका निर्धारण (निश्चय) करना हो तो— किम्, यत् और तत् शब्दोंसे डतरच् प्रत्यय हो । वा बहूनां—बहुतोंमें से एकका निर्धारण करना हो तो—किम्, यत् और तत् शब्दोंसे डतमच् प्रत्यय हो, विकल्पसे । एकाच्च—एक शब्दसे अपने अपने विषयमें डतरच् और डतमच् प्रत्यय हों, प्राचीनोंके मतमें ।

इसप्रकार 'चन्द्रमती' टीकामें प्रागिवीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

इवे प्रतिकृतौ ।५।३।९६। कन् स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिः—अश्वकः ॥ **शाखादिभ्यो यः** ।५।३।१०३। शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जघन्यः । अग्रयः । शरण्यः । **कुशाग्राच्छः** ।५।३।१०५। कुशाग्रीया बुद्धिः ॥ **तत्प्रकृतवचने मयट्** ।५।४।२१। प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्, तस्य वचनं प्रतिपादनम् । भावे अधिकरणे वा ल्युट् । आद्ये—प्रकृतमन्नं अन्नमयम् । अपूपमयम् । द्वितीये—अन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पर्व ॥ **संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्** ।५।४।१७। अभ्यावृत्तिर्जन्म, क्रियाजन्मगणनवृत्तेः संख्यायाः स्वार्थे कृत्वसुच् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । संख्यायाः किम् ? भूरिवारान्भुङ्क्ते ॥ **द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्** ।५।४।१८। कृत्वसुचोऽपवादः । द्विर्भुङ्क्ते ।

इवे प्रतिकृतौ । कन् स्यादिति । 'अवक्षेपणे कन्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । इवार्थः उपमानत्वम् । तद्वृत्ति वर्तमानात्प्रातिपदिकात्कन् स्यात्प्रतिकृतिभूते उपमेये इति फलितम् । मृदादिविनिर्मिता प्रतिमा प्रतिकृतिः । अश्वकः । अश्व इव प्रतिकृतिः 'अश्वकः' इत्यत्र 'इवे प्रतिकृतौ' इति कनि नलोपे विभक्तिकार्ये च कृते 'अश्वकः' इति । प्रतिकृतेः स्त्रीत्वेऽपि 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति पुंल्लिङ्गत्वम् । संख्यायाः । अभ्यावृत्तिशब्देन यदि द्वितीयादिप्रवृत्तिर्गृह्यते तदा चतुर्वारं पाकप्रवृत्तौ त्रिः पचतीति स्यादित्यत आह—अभ्यावृत्तिर्जन्मेति । उपसर्गवशात् 'वृतु वर्तने' इति धातोर्जन्मनि वृत्तिरिति भावः । कृत्वसुचि चकार इत् । उकार उच्चारणार्थः 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यत्र तसिलादिषु परिगणनात् कृत्वोऽर्थानामव्ययत्वम् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्त इति । पञ्चत्वसंख्याकोत्पत्तिविशिष्टा भोजनक्रियेत्यर्थः । संख्यायाः किमिति । गणने वृत्तिः, संख्याशब्दानामेवेति प्रश्नः । भूरिवारान् भुङ्क्ते इति । भूरिशब्दो बहुशब्दपर्यायः, वारशब्दस्तु समभिव्याहृतक्रियापर्याप्ते काले वर्तते 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । बहुकालेषु कार्त्स्न्येन व्याप्ता भोजनक्रियेत्यर्थः । भोजनबहुत्वं स्वर्थाद् गम्यते । तथा च वारशब्दोऽयं न गणनार्थो ।

इवे प्रति—इवार्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें कन् प्रत्यय हो, जो उपमेय रहे, वह यदि प्रतिकृति (मूर्ति, तस्वीर आदि) हो तो ।

शाखादिभ्यः—शाखादिसे य प्रत्यय हो, स्वार्थमें । कुशाग्रा—कुशाग्रसे छ प्रत्यय हो, स्वार्थमें । तत्प्रकृत—'प्राचुर्येण प्रस्तुत' अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे मयट् प्रत्यय हो । अथवा प्रकृतिवचन अर्थात् प्राचुर्येण प्रस्तुत का अधिकरण अभिधेय हो तो, प्रातिपदिकसे मयट् प्रत्यय हो । संख्यायाः—क्रियाजन्मके गणनमें वर्तमान संख्यावाचक शब्दसे कृत्वसुच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । द्वित्रिचतुः—क्रियाजन्मके गणनमें वर्तमान द्वि, त्रि और चतुर् शब्दसे

त्रिर्भुङ्क्ते। द्विः सस्य। चतुर्भुङ्क्ते॥ **एकस्य सकृच्च** ।५।४।१९। सकृदादेशः चात्सुच्। सकृद् भुङ्क्ते। **देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्** ।५।४।२४। तदर्थं एव तादर्थ्यम्। अत एव स्वार्थे ष्यञ्। अग्निदेवतायै इदम्—अग्निदेवत्यम्। पितृदेवत्यम्॥ **पादार्घाभ्यां च** ।५।४।२५। पादार्थमुदकं पाद्यम्। अर्घ्यम्॥ **अतिथेर्ञ्यः** ।५।४।२६। अतिथये इदम् आतिथ्यम्॥ (**नवस्य नू आदेशः त्नप्तनप्खाश्च प्रत्ययाः**)। स्वार्थे। नूत्नम्। नूतनम्। नवीनम्॥ (**भागरूपनामभ्यो धेयः**)। भागधेयम्। रूपधेयम्। नामधेयम्॥ (**आग्नीध्रसाधारणादञ्**)। आग्नीध्रम्। साधारणम्॥ **देवात्तल्** ।५।४।२७। देव एव देवता॥ **अवेः कः** ।५।४।२८। अविरेव अविकः॥

भुक्तिद्वयोऽपि न सकृच्छब्देन गृह्यते, 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इत्यत्र बहुग्रहणेन संख्यावाचकस्य असंख्यात्वबोधनात्। अतोऽत्र न कृत्वसुच्। द्विस्त्रिश्चतुर्भ्यः। क्रियाभ्यावृत्तिगणने इत्येव। सुचि चकार इत्। उकार उच्चारणार्थः। पूर्ववदव्ययत्वम्। एकस्य सकृच्च। शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—सकृदादेश इति। सकृद्भुङ्क्ते इति। एकशब्दात् सुच्, प्रकृतेः सकृदित्यादेशश्च। अत्र एकशब्दः क्रियाविशेषणम्। एकत्वविशिष्टा भुजिक्रियेत्यर्थः। देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्। तदर्थं एवेति। तच्छब्देन देवतान्तस्यार्थं उच्यते, तस्मै अयम् तदर्थः। ततः स्वार्थे चतुर्वर्णादित्वात् ष्यञित्यर्थः। देवतान्तात् प्रातिपदिकात् यत्प्रत्ययः प्रकृत्यर्थार्थे वस्तुनि वाच्ये इत्यर्थः। त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता मन्त्रस्तुत्या चेत्युक्तं 'सास्य देवता' इत्यत्र। अत पितृदेवत्यम् रक्षोदेवत्यमित्यादौ नाव्याप्तिः। तत्राह—पितृदेवत्यमिति। देवताशब्दस्य देवा मनुष्याः पितरः असुराः रक्षांसि इत्यादि श्रुतिपुराणादिप्रसिद्धप्राणिविशेषपरत्वे तु अव्याप्तिः स्यादिति भावः। पादार्घाभ्यां च। तादर्थ्ये यदिति शेषः। नवीनमिति। नवशब्दात् खप्रत्यये, तस्य ईनादेशे, प्रकृतेर्नूभावे, ओर्गुणः, अव् देशः। भागरूपेति। वार्तिकमिदम्। आग्नीध्रेति। अग्नीध्रः शरणम् आग्नीध्रम्। ततः स्वार्थे अञि आग्नीध्रमेव। देवात्तल्। तादर्थ्ये इति निवृत्तम्। अयमपि स्वार्थिकोऽयं तल्। देवतेति।

स्वार्थमें सुच् प्रत्यय हो। एकस्य—क्रिया-गणन अर्थमें वर्तमान एक शब्दसे सुच् प्रत्यय हो और एकको सकृत् आदेश भी हो। देवतान्ता—चतुर्थ्यन्त देवतान्त प्रातिपदिकसे तादर्थ्यमें यत् प्रत्यय हो। पादार्घा—पाद तथा अर्घ प्रातिपदिकसे तादर्थ्यमें यत् प्रत्यय हो। अतिथेर्ञ्य—अतिथि प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे तादर्थ्यमें ञ्यप्रत्यय हो।

नवस्य नू—नव शब्दसे स्वार्थमें त्नप्, तनप् और ख प्रत्यय हो, तथा नवको 'नू' आदेश भी हो। भागरूप—भाग, रूप और नाम शब्दसे धेय प्रत्यय हो स्वार्थमें।

आग्नीध्र—आग्नीध्र और साधारणसे अञ् प्रत्यय हो। देवात्तल्—देव शब्दसे स्वार्थमें तल् प्रत्यय हो। अवेः कः—अवि शब्दसे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय हो।

यावादिभ्यः कन् ।५।४।२९। याव एव यावकः । मणिकः ॥ (**सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्**) । बहुतरकम् ॥ **मृदस्तिकन्** ।५।४।३९। मृदेव मृत्तिका । **सस्नौ प्रशंसायाम्** ।५।४।४०। रूपपोऽपवादः । प्रशस्ता मृत्-मृत्सा, मृत्स्ना ॥ **प्रज्ञादिभ्यश्च** ।५।४।३८। अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । दैवतः । बान्धवः ॥ **पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्** ।५।३।११२। स्वार्थे । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः पूगाः । लौहितध्वज्यः ॥ **ञ्यादयस्तद्राजाः** ।५।३।११९। तद्राजस्येति लुक् । लोहितध्वजाः । व्रातेति च्फञ् । कापोतपाक्यः । कपोतपाकाः । कौञ्जायना इत्यादि ॥ **बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्** ।५।४।४२। बहूनि ददाति बहुशः । अल्पानि अल्पशः । बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम् । नेह-बहु ददात्यनिष्टेषु । अल्पं ददात्याभ्युदयिकेषु ॥ **संख्यैकवचनाच्च**

स्वार्थिकत्वेन प्रकृतिलिङ्गात् क्रमात् क्लीबत्वम् । अवेः कः । अयमपि क्षेपकस्वार्थिकः । 'अवयः शैलमेषार्काः' इत्यमरः । यावादिभ्यः कन् । यावक इति । 'यवानामयं यावः' ओदनादिः, स एव यावकः । 'यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । सर्वप्रातिपदिकेभ्यः । वार्त्तिकमिदम्, स्पष्टम् । मृदस्तिकन् । मृद्शब्दात् स्वार्थे तिकन्निरर्थः । सस्नौ । प्रशस्तार्थे मृदि वर्तमानात् मृच्छब्दात्स्वार्थे स स्न एतौ प्रत्ययौ स्त इत्यर्थः । लोहितध्वजा इति । 'पूगात्' इति विहितस्य ञ्यस्य तद्राजत्वात् बहुत्वे लुक् । कौञ्जायना इति । 'व्रातच्फञोः' इति विहितस्य ञ्यस्य लुक् । इत्यादीति । क्षौद्रक्यौ, क्षुद्रकाः, आयुधजीवीति ञ्यटो लुक् । वार्कैण्यः, वार्कैण्यौ, वृकाः 'वृकाट् टेण्यणो लुक्' दामनीयः, दामनीयौ, दामनयः, कौण्डोपरथाः इत्यादौ 'दामन्यादित्रिगर्तषष्ठात्' इति-छस्य लुक् । पार्शवः, पार्शवौ, पर्शवः, यौधेयाः इत्यत्र पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञोर्लुक् । आभिजित्यः, आभिजित्यौ, अभिजितः, बैदभृतः इत्यादौ अभिजिद्विदभृदित्यादि विहितस्य यञो लुगिति भावः । संख्यैकवचनाच्च । संख्या च एकवचनं चेति समाहारात्पञ्चमी । एकत्वविशिष्टोऽर्थः ।

यावादिभ्यः—यावादिसे स्वार्थमें कन् प्रत्यय हो । सर्वप्राति—प्रातिपदिक मात्रसे स्वार्थमें कन् प्रत्यय हो ।

मृदस्तिकन्—मृद् शब्दसे स्वार्थमें तिकन् प्रत्यय हो । सस्नौ—प्रशंसा (प्रशस्त) अर्थमें वर्तमान मृद् शब्दसे 'स' प्रत्यय और 'स्न' प्रत्यय हो । प्रज्ञादिभ्यः—प्रज्ञादिसे स्वार्थमें अण् प्रत्यय हो । पूगाञ्ञ्यो—ग्रामणीपूर्वकसे भिन्न पूगवाचकसे ञ्य प्रत्यय हो, स्वार्थमें । ञ्यादयः—'पूगाञ्ञ्यः' इस सूत्रसे प्रारम्भ करके जो प्रत्यय कहे गये हैं, उनकी 'तद्राज' संज्ञा हो । बह्वल्पा—बह्वर्थक और अल्पार्थक जो कारकाभिधायक शब्द, उनसे शस् प्रत्यय हो, विकल्पसे । बह्वल्पार्थात्—बह्वर्थकसे मङ्गल अर्थमें और अल्पार्थकसे अमंगल अर्थमें ही शस् प्रत्यय हो । संख्यैक—कारकाभिधायक संख्यावाची एकवचनान्तसे वीप्सा

वीप्सायाम् ।५।४।४३। द्वौ द्वौ ददाति—द्विशः । माषं माषं—माषशः । परिमाणशब्दाः सङ्ख्यैकार्था एव । सङ्ख्यैकवचनात्किम् ? घटं घटं ददाति । वीप्सायां किम् ? द्वौ ददाति । कारकादित्येव । द्वयोर्द्वयोः स्वामी ॥ **प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः** ।५।४।४४। प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसिः । प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति ॥ **(आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्)** । आदौ आदितः । मध्यतः । पृष्ठतः । पार्श्वतः । आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण स्वरतः । वर्णतः ॥ **कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः** ।५।४।५०। **(अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्)** । विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ॥ **अस्य च्वौ** ।७।४।३२। अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ । अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति—कृष्णीकरोति । ब्रह्मीभवति । गङ्गीस्यात् ॥ **(अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्)** । दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः ॥ **क्यच्व्योश्च** ।६।४।१५२। हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः क्ये च्वौ च परतः ।

उच्यतेऽनेनेति वचनम् । एकत्वविशिष्टस्यार्थस्य वचनम् इति विग्रहः । संख्यावाचका-च्छब्दात् एकत्वविशिष्टवाचकात् कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् वीप्सायां शस् वेत्यर्थः । संख्यावाचिनः उदाहरति—द्वौ द्वौ ददातीति । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम् । द्विशः इत्यत्र तु न, शसैव वीप्साया उक्तत्वात् । माषं माषं माषशः इति । माषं माषमित्यनयोः ददातीति शेषः । माषशब्दः परिमाणविशेषवाची । प्रतियोगे । विहितेति । 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इति प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' इति पञ्चमीविहितत्वेत्यर्थः । प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रतीति । कृष्णस्य प्रतिनिधिरित्यर्थः । दोषाभूतमहः । दोषेत्याकारान्तमव्ययं रात्रावित्यर्थे वर्तते । अहोऽपि दोषाभूतमहः—बहुलमेघावरणान्धकारात् दोषाभूतमित्यर्थः । अत्र अव्ययत्वात् ईत्वं नेत्यर्थः । दिवाभूता रात्रिरिति । दिवेत्याकारान्तमव्ययम्—अहनीत्यर्थे । इह तु अहरित्यर्थे वर्तते । चन्द्रिकातिशयवशात् अहर्भूतेत्यर्थः । क्यच्व्योश्च । 'अल्लोपोऽनः' इत्यस्मात् लोप इति 'हलस्तद्धितस्य' इत्यस्मात् हल इति 'सूर्यतिष्य' इत्यतः य

अर्थमें शस् प्रत्यय हो, विकल्पसे । प्रतियोगे—कर्मप्रवचनीयसंज्ञक प्रतिके योगमें विहित पञ्चम्यन्तसे तसि प्रत्यय हो, विकल्पसे । आद्यादिभ्य—आद्यादिसे तसि प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

कृभ्वस्ति—विकाररूपको प्राप्त करनेवाली प्रकृतिके अर्थमें वर्तमान विकारवाचक शब्दसे स्वार्थमें 'च्वि' प्रत्यय हो, कृ, भू और अस् धातुके योगमें, विकल्पसे । अभूत—अभूततद्भाव अर्थमें (अतद्रूपके तद्रूप होनेपर) ही च्वि प्रत्यय हो,—ऐसा कहना चाहिये ।

अस्य च्वौ—अवर्णको ईत्व हो, च्वि प्रत्ययके परे । अव्ययस्य—च्वि प्रत्ययके परे अव्ययको ईत्व नहीं हो । क्यच्व्योश्च—हल्से पर आपत्य यकारका लोप हो, क्य और

गार्गीभवति ॥ **च्वौ च** ।७।४।२६। दीर्घः । शुचीभवति । पटूस्यात् ॥ **अरु-र्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च** ।५।४।५१। चात् च्विः । अरूकरोति । उन्मनीकरोति । उच्चक्षूकरोति । उच्चेतीकरोति । विरहीकरोति । विरजीकरोति ॥ **विभाषा साति कार्त्स्न्ये** ।५।४।५२। च्वेर्विषये सातिर्वा स्यात्साकल्ये । 'सात्पदाद्योः' । कृत्स्नं शस्त्रमग्निः संपद्यते–अग्निसाद्भवति, अग्नीभवति । कार्त्स्न्ये किम् ? एकदेशेन शुक्लीभवति पटः । **अभिविधौ संपदा च** ।५।४।५३। संपदा कृभ्वस्तिभिश्च योगे सातिर्वा स्यात् । पक्षे–कृभ्वस्तियोगे च्विः, सम्पदा तु वाक्यमेव । अग्निसात् संपद्यते, अग्निसाद्भवति शस्त्रम्–अग्नीभवति । जलसात्संपद्यते, जलीभवति लवणम् ॥ **तदधीनवचने** ।५।४।५४। सातिः कृभ्वस्तिभिः संपदा

इति 'आपत्यस्य च' इत्यस्मात् आपत्यस्येति चानुवर्तते । तदाह–हलः परस्येति । गार्गीभवतीति । अगार्ग्यो गार्ग्यः संपद्यमानो भवतीत्यर्थः । यजन्तात् च्वौ यकारस्य लोपः । शुच्यम् । वेर्लोपः । अरुर्मनश्चक्षु । अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस्, इत्येतेषामित्यर्थः । पूर्वेणैव प्रत्ययसिद्धेस्तत्संनियोगेन अन्त्यलोप इह विधीयते । अरूकरोतीति । अनरुः अरुः संपद्यते तत् करोतीत्यर्थः । प्रकृतेरन्त्यलोपे उकारस्य 'च्वौ च' इति दीर्घः । उच्चेतीकरोतीति । अनुच्चेताः उच्चेताः संपद्यते, तं करोतीत्यर्थः । च्वौ अन्त्यलोपः, ईत्वं च । विरहीकरोतीति । रहः विजनप्रदेशः, विविक्तं रहः विरहः । अविरहः विरहः संपद्यते तत् करोतीत्यर्थः । च्वौ अन्त्यलोपः ईत्वं च । विरजीकरोतीति । अविरजाः विरजाः संपद्यते तं करोतीत्यर्थः । अन्त्यलोपे अस्य च्वौ ईत्वं च । विभाषा साति । सातीति लुप्तप्रथमाकम् । च्विविषये इति । अभूततद्भावे सम्पद्यकर्तरि कृभ्वस्तियोगे इत्यर्थः । अग्निसाद् भवति । कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः संपद्यते 'अग्निसात्' इत्यत्र 'कृभ्वस्तियोगे' इति च्वौ, च्वेः सर्वस्य लोपे विभाषा सातिप्रत्यये, इल्लोपे विभक्तिकार्ये च कृते 'अग्निसात्' भवति । पक्षे च्वौ, 'च्वौ च' इति दीर्घत्वे 'अग्नीभवति' इति । पक्षे इति । सातिप्रत्ययाभावपक्षे कृभ्वस्तियोगे पूर्वेण च्विः, संपदायोगे तु सातेरभावे वाक्यमेव न तु च्विः, कृभ्वस्तियोग एव तद्विधानादित्यर्थः । संपदायोगे उदाहरति–अग्निसात्संपद्यत इति । कृभ्वस्तियोगे उदाहरति–अग्निसाद्भवति शस्त्रमिति । अग्निसा-

---

च्वि प्रत्ययके परे । च्वौ च—च्वि प्रत्ययके परे पूर्वको दीर्घ हो । अरुर्मन—अरुस् आदिके अन्त्यका लोप हो और चकारात् अरुस् आदिसे च्वि प्रत्यय भी हो । विभाषा—साकल्य अर्थ गम्यमान हो तो–च्विके विषयमें साति प्रत्यय विकल्पसे हो । अभिविधौ—अभिविधि (अभिव्याप्ति) अर्थ गम्यमान होतो—सम्पूर्वक पद् धातु, कृ धातु, भू धातु और अस धातुके योगमें च्विके विषयमें साति प्रत्यय हो, विकल्पसे । तदधीन—तदधीन वचनमें (उसके अधीन है ऐसा कहना हो तो) च्विके विषयमें साति प्रत्यय हो, कृ, भू, अस् और सम्पद्के योगमें ।

च योगे । राजसात्करोति । राजाधीनमित्यर्थः ॥ देये त्रा च ।५।४।५५। तदधीने देये त्रा स्यात्सातिश्च कृभ्वादियोगे । विप्राधीनं देयं करोति–विप्रत्राकरोति । विप्रत्रा संपद्यते । पक्षे–विप्रसात्करोति । देये किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ॥ **देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्** ।५।४।५६। एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यश्च त्रा स्यात् । देवत्रा वन्दे रमे वा । बहुलोक्तेरन्यत्रापि, बहुत्रा जीवतो मनः । **अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** ।५।४।५७। द्व्यच्, अवरं न्यूनं, न तु ततो न्यूनम्, अनेकाजिति यावत् । तादृशमर्धं यस्य तस्माड् डाच्, कृभ्वस्तिभिर्योगे ॥ **(डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्)** । डाचि विवक्षिते द्वित्वम् ॥ **(नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्)** । डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात् । इति तपयोः पः । पटपटाकरोति । अव्यक्तानुकरणात्किम् ? ईषत्करोति । द्व्यजवरार्धात्किम् ? श्रत्करोति । अवरेति किम् ? खरटखरटाकरोति । अनितौ किम् ? पटिति करोति ॥ **कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ** ।५।४।५८। द्वितीयादिभ्यो डाच् कृञ एव योगे कर्षणेऽर्थे । बहुलोक्तेरव्यक्तानुकरणादन्यस्य डाचि न द्वित्वम् । द्वितीयं तृतीयं कर्षणं करोति, द्वितीयाकरोति ।

करोति अग्निसात्स्यादित्यप्युदाहार्यम् । एभ्य इति । देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य इत्येतेभ्य इत्यर्थः । अत्यन्तस्वार्थिकोऽयम् । स्यातीति, कृभ्वस्तियोगे इत्यपि निवृत्तम् । देवत्रा वन्दे रमे वेति । देवान् वन्दे, देवेषु रमे वेत्यर्थः । बहुत्रा जीवतो मन इति । जीवतो जन्तोर्मनः बहुषु विषयेषु गच्छति, बहुषु व्याप्नोतीत्यर्थः । अव्यक्तानुकरणात् । यत्र ध्वनौ अकारादयो वर्णविशेषा न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तो ध्वनिः । तस्यानुकरणम् अव्यक्तानुकरणम् । द्व्यजवरार्धशब्दं व्याचष्टे—द्व्यजिति । द्वावचौ यस्येति विग्रहः । अवरशब्दं व्याचष्टे—न्यूनमिति । द्व्यजेव अवरं न्यूनं यस्यार्धमिति सामानाधिकरण्येनान्वयः ।

देये त्रा च—तदधीने देये (उसके अधीन दातव्य वस्तु) इस अर्थमें 'त्रा' प्रत्यय और 'साति' प्रत्यय भी हो, कृ, भू, अस् और सम्पद्के योगमें । देवमनुष्य—द्वितीयान्त तथा सप्तम्यन्त देवादि शब्दोंसे 'त्रा' प्रत्यय हो, बहुत प्रकारसे । अव्यक्तानु—अव्यक्त (ध्वनि) का अनुकरण अनेकाच्से डाच् प्रत्यय हो, कृ-भू-अस् धातुके योगमें ।

डाचि—डाच् प्रत्ययकी विवक्षामें ही (डाच्से पूर्व) द्वित्व हो, तद- डाच् प्रत्यय हो ।

नित्यमा—डाच्परक आम्रेडितके परे पूर्व और पर वर्णके स्थानमें नित्य ही पररूप हो—ऐसा कहना चाहिये ।

कृञो—कृषि (खेती) अभिधेय हो तो—कृञ्के योगमें द्वितीय, तृतीय, शम्ब और बीज

तृतीयाकरोति । शम्बाकरोति । बीजाकरोति ॥ **संख्यायाश्च गुणान्तायाः** ।५।४।५९। द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् ॥ **समयाच्च यापनायाम्** ।५।४।६०। कृतावित्ति निवृत्तम् । समयाकरोतिः कालं यापयतीत्यर्थः ॥ **सपत्त्रनिष्पत्त्रादतिव्यथने** ।५।४।६१। सपत्त्राकरोति मृगम्; सपुङ्खशरप्रवेशनेन सपत्त्रं करोतीत्यर्थः । निष्पत्त्राकरोति । सपुङ्खस्य शरस्याऽपरपार्श्वेन निर्गमनान्निष्पत्त्रं करोतीत्यर्थः । अतिव्यथने किम् ? सपत्त्रं निष्पत्त्रं वा करोति भूतलम् ॥ **निष्कुलान्निष्कोषणे** ।५।४।६२। निष्कुलाकरोति दाडिमम् । निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति बहुव्रीहेर्डाच् ॥ **सुखप्रियादानुलोम्ये** ।५।४।६३। सुखाकरोति, प्रियाकरोति गुरुम्; अनुकूलाचरणेनानन्दयतीत्यर्थः । **दुःखात्प्रातिलोम्ये** ।५।४।६४। दुःखाकरोति स्वामिनम्; पीडयतीत्यर्थः ॥ **शूलात्पाके** ।५।४।६५। शूलाकरोति मांसम्; शूलेन पचतीत्यर्थः ॥ **सत्यादशपथे** ।५।४।६६। सत्याकरोति भाण्डं वणिक्; क्रेतव्यमिति

सपत्त्र । सपत्त्रशब्दात् निष्पत्त्रशब्दाच्च अतिव्यथने डाजित्यर्थः । भूतलमिति । पुङ्खपर्यन्तं पुङ्खवर्जं वा शरप्रवेशनेन सपत्त्रं निष्पत्त्रं वा भूतलं करोतीत्यर्थः । निष्कुलान्निष्कोषणे । डाजिति शेषः । निष्कोषणम् अन्तर्गतावयवानां बहिष्करणम् । निष्कुलाकरोति दाडिममिति । निर्गतं कुलं यस्मादिति बहुव्रीहिः । कुलशब्दश्च अन्तरवयवसमूहे वर्तते । तदाह-निर्गतमित्यादि । सुखप्रियादानुलोम्य । सुखशब्दात्प्रियशब्दाच्च आनुलोम्ये गम्ये डाच् स्यादित्यर्थः । आराध्यगुर्वादिचित्तानुवर्तनमानुलोम्यम् । सुखाकरोति प्रियाकरोति गुरुमिति । चित्तानुवर्तनेन गुरुं सुखसंपन्नं च प्रियसंपन्नं च करोतीत्यर्थः । दुःखात् । डाजिति शेषः । आराध्यप्रतिकूलाचरणं प्रातिलोम्यम् । अन्यत् पूर्ववत् । शूलात्पाके । डाजिति शेषः । शूलाकरोतीति । अत्र करोतिः पाके वर्तते । तदाह-शूलेन पचतीत्यर्थ इति । सत्यादशपथे । डाजिति शेषः । सत्याकरोति भाण्डमिति । रत्नादिक्रेयजातमित्यर्थः । सत्यशब्दोऽत्र तथ्ये वर्तते । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः । क्रेतव्यमिति । एतावतैव मूल्येन इदं क्रयणार्हं नातोऽधिकमूल्येनेत्येवं यथाभूतार्थं

शब्दसे डाच् प्रत्यय हो । संख्या—संख्यावाचक गुणान्त शब्दसे कृञ्के योगमें डाच् प्रत्यय हो, कृषिके अभिधेयमें । समयाच्च—यापना (बिताना)-अर्थ गम्यमान हो तो समय शब्दसे कृञ्के योगमें डाच् प्रत्यय हो । सपत्त्र—अत्यन्त पीडन अर्थमें सपत्त्र और निष्पत्त्र शब्दसे कृञ्के योगमें डाच् प्रत्यय हो । निष्कुला—निष्कोषण (निचोड़ना) अर्थमें निष्कुल शब्दसे कृञ्के योगमें डाच् प्रत्यय हो । सुखप्रिया—आनुलोम्य (अनुकूलता) अर्थमें सुख शब्द और प्रिय शब्दसे कृञ्के योगमें डाच् प्रत्यय हो । दुःखात्—प्रातिलोम्य (प्रातिकूल्य) अर्थमें दुःख शब्दसे कृञ्के योगमें डाच् प्रत्यय हो । शूलात्—पाकके विषयमें शूल शब्दसे कृञ्के योगमें डाच् प्रत्यय हो । सत्याद्—शपथसे भिन्न अर्थमें कृञ्के योगमें सत्य शब्दसे

तथ्यं करोतीत्यर्थः । शपथे तु—सत्यं करोति विप्रः ॥ मद्रात्परिवापणे ।५।४।६७। मद्रशब्दो मङ्गलार्थः । परिवापणं मुण्डनम् । मद्राकरोति कुमारम्, माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोतीत्यर्थः ॥ (भद्राच्चेति वक्तव्यम्) । भद्राकरोति । अर्थः प्राग्वत् । परिवापणे किम् ? भद्रं करोति ॥ इति स्वार्थिकप्रकरणम् ॥

इति तद्धिताः ।

अथ द्विरुक्तप्रकरणम्

सर्वस्य द्वे ।८।१।१। इत्यधिकृत्य ॥ परेर्वर्जने ।८।१।५। परेर्वर्जनेऽर्थे द्वे स्तः । परिपरि वङ्गेभ्यो वृष्टो देवः ॥ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ।८।१।७। उपर्युपरि ग्रामम्, ग्रामस्योपरिष्टात्समीपे देशे इत्यर्थः । अध्यधि सुखम्, सुखस्योपरिष्टात् समीपकाले दुःखमित्यर्थः । अधोऽधो लोकम्, लोकस्याधस्तात्समीपे देशे इत्यर्थः ॥ वा

वदतीत्यर्थः । सत्यं करोति विप्र इति । शपथं करोतीत्यर्थः । मद्रात्परिवापणे । डाजिति शेषः । मद्रशब्दो मङ्गलार्थ इति । मङ्गलपर्याय इत्यर्थः । परिवापणं मुण्डनमिति । 'केशान्वपते' इत्यादौ तथा दर्शनादिति भावः । मद्राकरोतीति । भद्रं करोतीति । क्षेमं करोतीत्यर्थः । अत्र परिवापणस्याप्रतीतेर्न डाजिति भावः । इति तद्धिताः ।

सर्वस्य द्वे । इत्यधिकृत्येति । द्विर्वचनविधयोऽनुक्रंस्यन्त इति शेषः । परेर्वर्जने । वर्जने वर्तमानस्य परीत्यस्य द्वे स्त इत्यर्थः । परिपरि वङ्गेभ्यो वृष्टो देव इति । पर्जन्य इति शेषः । 'अपपरी वर्जने' इति परिः कर्मप्रवचनीयः । 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी । परि हरे संसार इत्यत्र तु, 'परेरसमासे इति वक्तव्यमि'ति वार्तिकान्न द्विर्वचनम् । उपर्यध्यधसः । 'उपरि-अधि-अधः, एतेषां द्वे स्तः सामीप्ये गम्ये इत्यर्थः । सामीप्यञ्च उपर्युपरि ग्राममित्यत्र अधोऽधो लोकमित्यत्र च देशतः । अध्यधि सुखमित्यत्र तु

डाच् प्रत्यय हो । मद्रात्परि—परिवापण (मुण्डन) अर्थमें कृञ्के योगमें मद्र शब्दसे डाच् प्रत्यय हो । भद्राच्च—कृञ्के योगमें भद्र शब्दसे डाच् प्रत्यय हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती'-टीकामें स्वार्थिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

सर्वस्य द्वे—यह अधिकार सूत्र है । परेर्वर्जने—वर्जन अर्थमें परिको द्वित्व हो ।

उपर्यध्यधस —सामीप्यकी विवक्षामें उपरि, अधि और अधस्को द्वित्व हो ।

वाक्यादे—असूयादि गम्यमान हो तो—वाक्यादिके आमन्त्रितको द्वित्व हो

क्यादेराम्रेडितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ।८।१।८। सुन्दर सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम् । संमतौ-देवदेव वन्द्योऽसि । कोपे-दुर्विनीत दुर्विनीत इदानीं ज्ञास्यसि । कुत्सने-धानुष्क धानुष्क वृथा ते धनुः । भर्त्सने-चोर चोर घातयिष्यामि त्वाम् । एकं बहुव्रीहिवत् ।८।१।९। द्विरुक्त एकशब्दो बहुव्रीहिवत् । तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ । एकैकमक्षरम् । इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि सति बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात्समुदायात्सुप् । तच्च एकवचनमेव । एकैकया आहुत्या । आबाधे च ।८।१।१०। पीडायां द्वे स्तो बहुव्रीहिवच्च । गतगतः । गतगता ॥ प्रकारे गुणवचनस्य ।८।१।१२। सादृश्ये द्योत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तः । तच्च कर्मधारयवत् । पटुपट्वी । पटुपटुः ।पटुसदृशः,

---

काळत' इति ज्ञेयम् । वाक्यादेः । द्वे स्तः इति शेषः । यद्यपि कोपाद्भर्त्सनम्, असूयया कुत्सनम्, तथापि विनापि कोपासूये भर्त्सनकुत्सनयोः शिष्यादौ संभवात्पृथक् ग्रहणम् इति भाष्ये स्पष्टम् । सुन्दरेति । सौन्दर्यमसहमानस्येदं वाक्यम् । देवेति । तव वन्दनं संमतमित्यर्थः । दुर्विनीतेति । क्रोधाविष्टस्य वाक्यम् । ज्ञास्यसीति । दुर्विनयस्य फलमिति शेषः । धानुष्केति । युद्धासमर्थं प्रति निन्द्येयम् । चोरेति । चोरं प्रति अवाच्यवाच्योऽयम् । एकं बहुव्रीहिवत् । द्विरुक्त इति । द्विर्वचनं प्राप्त इत्यर्थः । एतच्च प्रकरणाल्लभ्यते, 'वीप्सामात्रविषयमिदम्' इति भाष्याच्च । तेनेति । बहुव्रीहिवत्त्वेन सुब्लोपपुंवद्भावौ सिध्यत इत्यर्थः । तत्र सुब्लोपमुदाहरति—एकैकमिति । इहेति । एकैकमित्यत्र एकमित्यस्य द्विर्वचने सति एकमेकमिति स्थिते सुपो लुकि, समुदायात् सुबित्यन्वयः । ननु 'यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद् भवति तर्हि समासस्यैव' इति नियमेन समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् कथमिह सुपो लुक्, कथं वा समुदायात् सुबित्यत आह-बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वादिति । एतच्च सुपोर्लुगित्यत्र समुदायात्सुबित्यत्र च मध्यमणिन्यायेनान्वेति । अथ पुंवत्त्वेऽपि उदाहरति—एकैकया आहुत्येति । एकस्य द्विर्वचने सति एकया एकयेति स्थिते बहुव्रीहिवत्त्वेन समुदायस्य प्रातिपदिकत्वात्सुपोर्लुकि पूर्वखण्डस्य पुंवत्वे कृते, समुदायात्पुनस्तृतीयोत्पत्तौ, एकैकयेति रूपम् । बहुव्रीहिवत्त्वाभावे तु इह समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् सुपोलुक् पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वं च न स्यात्, उत्तरपदपरत्वाभावात्, समासचरमावयवस्यैव उत्तरपदत्वादिति भावः । आबाधे च । आबाधः-पीडा । तदाह—पीडायामिति । गतगत इति । प्रियं विना काल इति शेषः । विरहात्पीड्यमानस्येयमुक्तिः बहुव्रीहिवद्भावात्सुब्लुक् । गतगता । इह पुंवद्भावः । प्रकारे गुणवचनस्येति । प्रकारशब्दः सादृश्ये, व्याख्यानात् । तदाह-सादृश्ये द्योत्ये इति । पटुपट्वीति पटवीशब्दस्य द्विर्वचने कर्मधारयवत्त्वात् 'पुंवत्कर्म

एकं बहु—द्विरुक्त एक शब्द बहुव्रीहिवत् हो । आबाधे च—पीडामें द्वित्व हो और बहुव्रीहिवद्भाव भी हो । प्रकारे—सादृश्य द्योत्य रहनेपर गुणवचनको द्वित्व हो और बहु

ईषत्पटुरिति यावत् ॥ (आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये) । मूले मूले स्थूल ॥ (संभ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः) । सर्प सर्प बुध्यस्व बुध्यस्व सर्प सर्प सर्प बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्व । (कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्)। बहुलग्रहणादन्यपरयोर्न समासवत्। इतरशब्दस्य तु नित्यम् (असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुप: सुर्वक्तव्यः)। अन्योन्यं विप्रा नमन्ति अन्योन्यौ, अन्योन्येन कृतम्, अन्योन्यस्मै दत्तमित्यादि । (स्त्रीनपुंसकयो

धारय' इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वे रूपमिति भाव । पटुपटुरिति । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीषभावे पुंसि च द्विवचने रूपम् । पटुसदृश इति । इत्यर्थ इति शेष. । फलितमाह— ईषत्पटुरिति । इह गुणवचनशब्दस्य गुणोपसर्जनद्रव्यवाचित्वमेवेति । आनुपूर्व्ये इति । अत्र वार्तिके कर्मधारयवदिति न सम्बध्यते, तदुदाहरणे भाष्ये सुब्लोपादर्शनादित्यभि प्रेत्योदाहरति—मूले मूले इति । पूर्वपूर्वो मूलभाग, उत्तरोत्तरमूलभागापेक्षया स्थूल इति यावत् । सम्भ्रमेणेति । वार्तिकमिदम् । सम्भ्रमः भयादिकृता त्वरा, तेन प्रवृत्तौ गम्यमानायां यथेष्टम् इच्छानुसारेण अनेकधाशब्द प्रयोक्तव्य इति वक्तव्यमित्यर्थः । अनेकधेत्युक्तेर्द्वे इति निवर्तते । यथेष्टमित्युक्तेरप्यर्थेऽप्येकस्य प्रयोग स्यादिति शङ्का निरस्यति—न्यायसिद्ध इति । यावद्वारं प्रयोगे सति बोद्धा अर्थं प्रत्येति, तावद्वारमेव प्रयोग. । बोधात्मककलपर्यवसायित्वाच्छब्दप्रयोगस्येत्यर्थः । एतच्च भाष्ये स्पष्टम् । अत्रापि कर्मधारयवत्त्वानतिदेशात् सुब्लुक्, भाष्ये तथैवोदाहरणात् । कर्मव्यतिहार इति । क्रियाविनिमय —कर्मव्यतिहार, तस्मिन् गम्ये सर्वनाम्नो द्वे स्त । ते च द्विरुक्ते पदे बहुल समासवदित्यर्थः । अत्र 'बहुलम्' इति समासवदित्यत्रैवान्वेति । द्विर्वचनं तु नित्यमेव । अन्यपरयोरिति । अन्यशब्दपरशब्दयोरेव बहुलं समासवत्त्वम् । इतरशब्दस्य तु नित्यमेवेत्यर्थः । असमासवद्भावे इति । इदमन्यपरशब्दयोरेव । इतर· शब्दस्य समासवत्त्वस्यैवोक्तत्वात् । सुप इति । सुरिति प्रत्याहार· । सर्वासा· मपि विभक्तीनां पूर्वपदस्थानां प्रथमैकवचन सु इत्यादेशो वाच्य इत्यर्थः । अन्यो च विप्रा नमन्तीत्यादि । इह अन्यम् अन्यो इत्यादीनां द्वित्वे पूर्वस्सुपः सु । स्त्रीनपुंसकयो·

कर्मधारयवत् भी हो । आनुपूर्व्ये—आनुपूर्वी अर्थात् क्रममें गम्यमान रहे तो—द्वित्व हो ।

सम्भ्रमेण—सम्भ्रमसे अर्थात् हड़बड़ाहटमें जहाँ प्रवृत्ति हो वहाँ यथेष्ट (अनेकधा) प्रयोग करना न्यायसिद्ध है । कर्मव्यतिहारे—कर्मव्यतिहार (क्रियाका विनिमय) अर्थमें सर्वनामको द्वित्व हो और वह समासवत् हो, बहुलतासे । असमास—असमासवद्भावमें पूर्वपदस्थ सुप्को 'सु' आदेश हो । स्त्रीनपुं—स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें विद्यमान अन्य, इतर, पर आदिको कर्मव्यतिहारमें जहाँ द्वित्व हो, वहाँ उत्तरपदस्थ विभक्तिको 'आम्' आदेश हो, बहुलतासे ।

उत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वाच्यः)। अन्योन्याम्, अन्योन्यम्, परस्पराम्, परस्परम्, इतरेतराम्, इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः ॥

दलद्वये टाबभावः क्लीबे चादड्विरहः स्वमोः ।
समासे सोरलुक् चेति सिद्धं बाहुलकात्त्रयम् ॥

रिति। स्त्रीनपुंसकयोर्विद्यमानानाम् अन्यपरेतरपदानां कर्मव्यतिहारे द्वित्वे उत्तरपदस्थविभक्तेः आम् इत्यादेशो बहुलं वक्तव्य इत्यर्थः। अन्योन्यामित्यादि। अन्योन्याम् अन्योन्यं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः, परस्परां परस्परं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः, इतरेतराम् इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः इत्यन्वयः। तत्र अन्यामित्यस्य द्वित्वे दलद्वये टाबभाव इति वक्ष्यमाणतया पुंवत्त्वात् टापो निवृत्तौ समासवत्त्वाभावात्सुपोरलुकि पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे रुत्वे 'अतो रोः' इत्युत्वे गुणे उत्तरपदस्थविभक्तेरनेन आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम्। आम्भावविरहे तु पुंवत्त्वाट्टापो निवृत्तौ पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे पुंल्लिङ्गवदेव अन्योन्यमिति रूपम्। इयं ब्राह्मणी अन्यां ब्राह्मणीं भोजयति, अन्या इमामित्येवं विनिमयेन ब्राह्मण्यौ भोजयत इत्यर्थः। इदं कुलं कर्तृ अन्यत्कुलं भोजयति, अन्यत्कुलं कर्तृ इदं कुलमित्येवं विनिमयेन कुले भोजयतः इत्यर्थः। अत्र अन्यच्छब्दस्य नपुंसकलिङ्गस्य द्वित्वे पूर्वपदस्थायाः विभक्तेः सुभावे उत्तरपदस्थविभक्तेः आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम्। आम्भावविरहे तु 'क्लीबे चादड्विरहः स्वमोः' इति वक्ष्यमाणतया पुंवत्त्वात् अदड्आदेशाभावे अन्योन्यमिति पुंवदेव रूपमिति बोध्यम्। एवं स्त्रीत्वे परामिति पदस्य द्वित्वे दलद्वयेऽपि पुंवत्त्वात् टापो निवृत्तौ पूर्वोत्तरपदस्थविभक्त्योः क्रमेण सुभावे आम्भावे च परस्परामिति। आम्भावविरहे तु द्वित्वे पुंवत्त्वाट्टापो निवृत्तौ पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे परस्परमिति। नपुंसकत्वे तु परमित्यस्य द्वित्वे पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे उत्तरपदस्थविभक्तेराम्भावे परस्परामिति। आम्भावे तु द्वित्वे पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे परस्परम् इति। इतरामित्यस्य द्वित्वे पुंवत्त्वाट्टापो निवृत्तौ उत्तरपदस्थविभक्तेराम्भावे समासवत्त्वात् पूर्वपदस्थविभक्तेर्लुकि इतरेतरामिति। आम्भावविरहे तु इतरेतरमिति। नपुंसकस्य तु इतरच्छब्दस्य द्वित्वे पुंवत्त्वाददड्आदेशविरहे पूर्वपदस्थविभक्तेर्लुकि उत्तरपदस्थविभक्तेराम्भावतदभावाभ्यां रूपद्वयम्। दलद्वये इति। स्त्रीलिङ्गेषु अन्यपरेतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति पूर्वोत्तरखण्डयोः पुंवत्त्वाट्टाब्निवृत्तिरित्यर्थः। यद्यपि इतरेतरमित्यत्र समासवत्त्वात्सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे इति पुंवत्त्वादेव पूर्वखण्डे टाबभावः सिद्धः, तथापि उत्तरखण्डे टाबभावार्थं बाहुलकाश्रयणमिति भावः। क्लीबे इति। अन्योन्यमित्यादौ अदड्आदेशविरह इत्यर्थः। समासे सोरिति। इतरेतरदस्य

दलद्वये—पूर्व-उत्तर-दोनों दलोंमें टापका अभाव तथा नपुंसकमें सु-अम्‌को अद्‌ड्‌-

अस्योन्यमित्यादौ द्वन्द्वये टाप्। 'अदड्डतर—'इत्यद्ड् च प्राप्त'। 'अन्योन्य संसक्तमहस्त्रियामम्'। अन्योन्याश्रय। परस्पराक्षिसादृश्यम् अरष्टपरस्परैरित्यादौ सोर्लुक् च प्राप्त। सर्वं बाहुलकेन समाधेयम्॥ इति द्विरुक्तप्रकरणम्।

अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

स्त्रियाम् ।४।१।३। अधिकारोऽयम्। *समर्थानामिति यावत्*॥ **अजाद्यतष्टाप्** ।४।१।४। अजादीनामकारान्तस्य च वाच्य यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात्। अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी। अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठं स्त्रीत्वम्। अजा। खट्वा। एडका। अश्वा। चटका। मूषिका। बाला। वत्सा। होडा। मन्दा। विलाता॥ (सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्)। संफला। भस्त्रफला इत्यादि॥ (सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्)।

अन्येन समासे पूर्वखण्डस्यस्येत्यर्थः। 'अक्लीबे चादूविरह' इत्यस्योदाहरति—अन्योन्यमिति। ननु समासे सोरलुक् चेति कथम्। *अन्यपरशब्दयोः समासवरवाभावादित्याशङ्क्य कृतद्वित्वस्यान्येन समासे पूर्वखण्डस्य* सोरलुगिति तदर्थमभिप्रेत्य तत्रैवोदाहरति—अन्योन्यसंसक्तमिति। अन्य' अन्येन संसक्तमिति तृतीयासमास। अहश्च त्रियामा चेति समाहारद्वन्द्व। अहश्च रात्रिश्च अन्योन्येन संयुक्तमित्यर्थः। अन्योन्याश्रय इति। अन्योऽन्यस्य आश्रय इति षष्ठीसमास'। परस्पराक्षि सादृश्यमिति। अथवा सादृश्यमक्षिसादृश्यम्। परस्परस्याक्षिसादृश्यमिति विग्रह। इति द्विरुक्तप्रक्रिया।

सम्भस्त्रेति। 'पाककर्ण' इति सूत्रभाष्ये पठितमिदं वार्तिकमर्थतः सङ्गृहीतम्। सम, भस्त्रा, अजिन, शण, पिण्ड, एतेभ्यः परो य' फलशब्द तस्मादपि 'पाककर्ण' इति ङीष् न भवति *किंतु टाबेवेत्यर्थः*। *सम्फलेति*। *सम्भूतानि* फलानि यस्या इति विग्रहः। भस्त्रफलेति। भस्त्रा एव फलानि यस्या इति विग्रहः। 'भस्त्रा चर्मप्रसे

देशका अभाव और समासमें लुक्का अभाव—ये तीनों कार्य बाहुलकात् (बहुल ग्रहणसे) सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें द्विरुक्त प्रकरण समाप्त हुआ।



स्त्रियाम्—'समर्थानां प्रथमाद्वा' इस सूत्र पर्यन्त 'स्त्रियाम्' इस सूत्र का अधिकार है।

अजाद्यत—अजादि और अकारान्त वाच्य स्त्रीत्व द्योत्य होनेपर टाप् प्रत्यय हो।

सम्भस्त्रा—सम्, भस्त्रा, अजिन, शण और पिण्डसे पर फल शब्दसे स्त्रीत्व द्योत्य होने पर टाप् प्रत्यय हो। सदच्—सदादिसे पर पुष्प शब्दसे टाप् प्रत्यय हो, स्त्रीत्व द्योत्य

सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा॥ (शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः)। पुंयोगे तु-शूद्री। अमहत्पूर्वा किम्? महाशूद्री। क्रुञ्चा। उष्णिहा। देवविशा। ज्येष्ठा-कनिष्ठा-मध्यमेति पुंयोगेऽपि। कोकिला जातावपि॥ (मूलान्नञः)। अमूला। उगितश्च।४।१।६। ङीप्। भवन्ती। पचन्ती। वनो र च।४।१।७। वन्नन्तात्तदन्ताच्च ङीप् स्यात् रश्चान्तादेशः। सुत्वानमतिक्रान्ता-अतिसुत्वरी। अतिधीवरी।

विका' इत्यमरः। सत् अच् काण्ड। अयमपि 'पाककर्ण' इति सूत्रपठितवार्तिकार्थसंग्रहः। सत्, अच्, काण्ड, प्रान्त, शत, एक एतेभ्यः परो यः पुष्पशब्दः तस्मादपि 'पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च' इति ङीप् न भवति। किन्तु टाबेवेत्यर्थः। सत्पुष्पेति। सन्ति पुष्पाणि यस्य इति विग्रहः। अच् इति लुप्तनकारः अञ्चुधातुः गृह्यत इत्यभिप्रेत्य उदाहरति—प्राक्पुष्पेति। प्राञ्चि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः। प्रत्यक्पुष्पेति। प्रत्यञ्चि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः। शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः। अजाद्यतः इति प्रकृतसूत्रे पठितं वार्तिकमेतत्। शूद्रा जातिः वाच्या चेत् अमहत्पूर्वः शूद्रशब्दः स्त्रियां टापं लभते। जातिलक्षणङीषोऽपवादः। शूद्रात् स्वभार्यायां विधिना ऊढायामुत्पन्ना स्त्री शूद्रा। जातिरित्यस्य प्रयोजनमाह—पुंयोगे त्विति। शूद्रस्य स्त्री इत्येवं पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तौ जातिवाचित्वाभावान्न टाप्। किन्तु 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीषेवेत्यर्थः। महाशूद्रीति। महती च सा शूद्रा चेति विग्रहः। 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवत्त्वम्। अत्र महत्पूर्वत्वान्न टाप्। किन्तु जातिलक्षणो ङीषेव। 'आभीरी तु महाशूद्री जातिपुंयोगयोः समा' इत्यमरः। ज्येष्ठेति। यदा ज्येष्ठादिशब्दः प्रथमोत्पन्नादौ वर्तते तदा अदन्तत्वादेव टाप् सिद्धः। यदा तु ज्येष्ठस्य स्त्रीत्यादिविवक्षा तदापि पुंयोगलक्षणं ङीषं बाधित्वा टाबर्थमिह पाठ इत्यर्थः। कोकिलेति। कोकिलशब्दस्य जातावपि जातिलक्षणं ङीषं बाधित्वा टाबर्थमिह पाठ इत्यर्थः। मूलान्नञ इति। 'पाककर्ण' इति सूत्रे पठितं वार्तिकमेतत्। नञः परो यः मूलशब्दः तस्मात् 'पाककर्ण' इति ङीप् न भवति किन्तु टाबेवेत्यर्थः। अमूलेति। अविद्यमानं मूलं यस्या इति विग्रहः। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहिः। वनो र च। वनः र च इति च्छेदः। र इति लुप्तप्रथमाकम्, अकार उच्चारणार्थः। चकारात् ङीप् समुच्चीयते। वन इति पञ्चम्यन्तम्। तेन वन्प्रत्ययान्तं तदन्तं च विवक्षितम्। प्रातिपदिकादित्यधिकृतम्। तदाह—वन्नन्तादित्यादिना। अन्तादेश इति। प्रकृतेरिति शेषः।

होने पर। शूद्रा च—महत्पूर्वकसे भिन्न शूद्र शब्दसे टाप् हो, जाति वाच्य रहनेपर।

ज्येष्ठा—ज्येष्ठ, कनिष्ठ और मध्यममें पुंयोगमें भी टाप् प्रत्यय हो। कोकिला-कोकिल शब्दसे जाति और पुंयोगमें भी टाप् प्रत्यय हो। मूलान्नञः—'नञ्' से पर मूल शब्दसे टाप् प्रत्यय हो। उगितश्च—उगिदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो स्त्रीलिंगमें। वनो र—वन्नन्त

शर्वरी ॥ (वनो न हश इति वक्तव्यम्) । अवावा ब्राह्मणी । राजयुध्वा ॥ (बहुव्रीहौ वा) । बहुधीवा, बहुधीवरी ॥ पादोऽन्यतरस्याम् ।४।१।८। द्विपदी, द्विपात् ॥ टाबृचि ।४।१।९। द्विपदा ऋक् । एकपदा ॥ मनः ।४।१।११।

नान्तत्वादेव ङीप् प्राप्त, तत्सन्नियोगेन रेफमात्रमिह विधेयम् । अथ वनन्तान्तमुदाहरति—सुत्वानमिति । षुञ् अभिषवे, सुयजोर्ङ्वनिप्, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुक् । सुत्वन् शब्दः । सुत्वानमतिक्रान्ता इति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासः । सुब्लुकि ङीप् नकारस्य रत्वम्, अतिसुत्वरीति रूपम् । अतिधीवरीति । ध्यै चिन्तायाम्, 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति भाषायामपि क्वनिप् । 'घुमास्था' इति ईत्वम् । धीवानमतिक्रान्ता इति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासः । ङीप् रत्वञ्च, अतिधीवरीति रूपम् । शर्वरीति । 'शॄ हिंसायाम्' 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति भाषायामपि वनिप्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणः, 'वनो र च' इति ङीप् रत्वञ्च । वनन्तस्योदाहरणमेतत् । वनो नेति । पूर्ववत् वनन्तं वनन्तान्तं च गृह्यते । हश इति पञ्चमी, तेन धातोरित्यधिकृत्य विहितेन वना आक्षिप्तं धातोरित्येतद् विशेष्यते, तदन्तविधिः । ङीबिति रश्चेति चानुवर्तते । अवावेति । ओणृ अपनयने इत्यस्मात् वनिपि 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इति णकारस्य आत्वे ओकारस्यावादेशे अवावन् शब्दः । स्त्रीत्वस्फोरणाय ब्राह्मणीति विशेष्यम् । अत्र ओणृ इति धातोः हलन्तात् वन् विहित इत्यतस्तदन्तत्वात् न ङीब्रौ, किन्तु राजवद्रूपम् । हशन्तात् धातोः परो यो वन् इति व्याख्याने तु आत्वे सति वनो हशः परत्वाभावात् निषेधो न स्यादिति भावः । वनन्तान्तमुदाहरति—राजयुध्वेति । राजानं योधितवती इत्यर्थः । भूते कर्मणि क्विपमनुवर्तमाने 'राजनि युधि कृञः' इति क्वनिप् । कर्मीभूते राजनि उपपदे युधेः कृञश्च क्वनिबिति तदर्थः । उपपदसमासे सुब्लुकि राजयुध्वन् शब्दः । अत्र हशो विहितो वन्, तदन्तो युध्वन् शब्दः, तदन्तो राजयुध्वन् शब्दः, अतो न ङीब्रादेशाविति अर्थः । बहुव्रीहौ इदं वार्तिकम् । 'वनो र च' इति विधिः बहुव्रीहौ वा स्यादित्यर्थः । 'अनो बहुव्रीहेः' इति निषेधस्यापवादः । बहुधीवरीति । बहवो धीवानो यस्या इति विग्रहः । बहुधीवेति । ङीब्रत्वयोरभावे राजवद्रूपम् । पाद इति । अन्त्यलोपात्मके समासान्ते कृते परिशिष्टः पाद् शब्द इह गृह्यत इत्यर्थः ।

और वनन्तान्त प्रातिपदिकसे ङीप् तथा 'र' अन्तादेश हो, स्त्रीलिङ्गमें । वनो न—हशन्त धातुसे विहित जो वन, तदन्तान्तसे ङीप् और र अन्तादेश नहीं हो । बहुव्री—बहुव्रीहि समासमें 'वनो र च' से विहित ङीप् तथा रादेश विकल्पसे हो । पादोऽन्य—कृतसमासान्त जो पाद शब्द, तदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, विकल्पसे । टाबृचि—ऋक्-वाच्यमें पादन्त प्रातिपदिकसे टाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । मनः—स्त्रीत्व बोध्य रहनेपर मन्नन्तसे ङीप् नहीं हो ।

मन्नन्ताच्च ङीप् । सीमा । सामानौ ॥ **अनो बहुव्रीहेः ।४।१।१२।** अन्नन्ताद् बहुव्रीहेर्न ङीप् । बहुयज्वा । बहुयज्वानौ ॥ **डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ।४।१।१३।** सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाप् वा । सीमा । सीमे, सीमानौ । दामे, दामानौ ॥ **अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ।४।१।२८।** अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा ङीप् । पक्षे

द्विपदीति । द्वौ पादौ यस्या इति बहुव्रीहिः । 'संख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दान्त्यस्याकारस्य लोपः । ङीपि भत्वात् 'पादः पत्' द्विपदीति रूपम् । ङीपभावे तु द्विपादिति । टाबृचि । प्रातिपदिकादिति शेषः । 'पादोऽन्यतरस्याम्' इत्यतः अनुवृत्तेन पाच्छब्देन प्रातिपदिकादित्यधिकृतस्य विशेषणादिति भावः । 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति ङीपोऽपवादोऽयम् । द्विपदा ऋगिति । द्वौ पादौ यस्या इति विग्रहः । एकपदेति । एकः पादो यस्या इति विग्रहः । उभयत्रापि टापि पादः पत् । मनः । 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इत्यतः नेति 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतः ङीबिति चानुवर्तते । मन इति प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तं गृह्यते । तदाह—मन्नन्ताच्च ङीबिति । सीमेति 'षिञ् बन्धने' औणादिको मनिन् प्रकृतेर्दीर्घश्च । सीमन् शब्दात् ङीपि निषिद्धे राजवद्रूपम् । ङीपि सति तु अल्लोपे सीम्नीति स्यादिति भावः । ननु वक्ष्यमाणडापि सीमेति सौ रूपसिद्धेः किं ङीब्निषेधेनेत्यत आह—सीमानाविति । डापि तु सति सीमे इत्येव स्यादिति भावः । अनो बहुव्रीहेः । अन इति बहुव्रीहेरित्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः नेति ङीबिति च पूर्ववदनुवर्तते । तदाह—अन्नन्तादिति । बहुयज्वा । बहुयज्वानौ । बहवो यज्वानो यस्याम् इति विग्रहे नान्तलक्षणङीपः प्रतिषेधे राजवद्रूपाणि । 'न संयोगाद्' इति निषेधान्नायमुपधालोपी । अतोऽत्र 'अन उपधालोपिनः' इति । विकल्पो न प्रवर्तितुमर्हति । डाबुभाभ्याम् । उभाभ्यामित्येतद्व्याचष्टे—सूत्रद्वयोपात्ताभ्यामिति । 'मन' इति 'अनो बहुव्रीहेः' इति च सूत्रद्वयोपात्ताद् मन्नन्तादन्नन्तबहुव्रीहेश्च इत्यर्थः । सीमेति । सीमन् शब्दात् डापि टिलोपे सीमाशब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपः । डाबभावपक्षेऽपि 'मनः' इति ङीब्निषेधे सौ सीमेत्येव राजवद्रूपम् । तर्हि डाब्विधेः किं फलमित्यत आह—सीमे सीमानाविति । मन्नन्तविषये उदाहरणान्त-

---

अनो बहु—अन्नन्त बहुव्रीहिसे ङीप् नहीं हो, स्त्रीलिङ्गमें ('स्त्रियाम्' का अधिकार सर्वत्र आ रहा है । यह स्मरण रहे)

डाबुभाभ्यां—'उभाभ्याम्' अर्थात् 'मनः' और 'अनो बहुव्रीहेः' इन दोनों सूत्रोंमें उपात्त जो मन्नन्त प्रातिपदिक और अन्नन्त बहुव्रीहि, उनसे डाप् हो, विकल्पसे ।

अन उपधा—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहिसे ङीप् हो, विकल्पसे विकल्प पक्ष में डाप् और ङीप् का निषेध भी हो ।

डाब्निषेधौ। बहुराज्ञी, बहुराज्यौ। बहुराजे, बहुराजानौ। **प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः** ।७।३।४४। प्रत्ययस्थात्ककारात्पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि परे, स आप् सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात्किम्? शक्नोतीति शका। असुपः किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। **(मामकनरकयोरुपसंख्यानम्)**। मामिका। नरिका॥ **(त्यक्त्यपोश्च)**।

स्मादु-दामेति। दाम्धातोरौणादिको मनिन्। पक्षे डाब्निषेधाविति। कदाचित् ङीब्निषेध कदाचित् डाप् चेत्यर्थः। अन्यतरस्याङ्ग्रहणप्रयोजनमिदम्। अकृते ह्यन्यतरस्याङ्ग्रहणे बहुमत्स्यादिशब्दे अनुपधालोपिनि सावकाशस्य 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीप्प्रतिषेधस्य 'डाबुभाभ्याम्' इति डापश्च बहुराजन् शब्दादावुपधालोपिनि अनवकाशेन ङीपा बाधः स्यात्। बहुराज्ञीति। ङीपि अल्लोपे सोर्हल्ङ्यादिलोप इति भावः। बहुराजेति डापि डाब्निषेधे च सौ रूपम्। बहुराज्याविति। ङीप्पक्षे औङि रूपम्। बहुराजे इति। डाप् पक्षे औङि रूपम्। बहुराजानाविति। ङीब्निषेधे औङि रूपम्। प्रत्ययस्थात्। ककारादिति। क् इति वर्णाश्रित्यर्थः। अकार उच्चारणार्थः, वर्णात्कारः इत्युक्तेः। एव च सूत्रे कादित्यत्र अकार उच्चारणार्थ इति सूचितम्। स आबिति। इत्वविधौ यः परनिमित्तत्वेनोपात्तः स आबित्यर्थः। सुप परो न चेदिति। सूत्रे असुपः पञ्चम्यन्तम्, अत्र नञ्समासः। आपि सुपः परस्मिन् सति इत्वं न भवतीत्यर्थो विवक्षित इति भावः। सर्विकेति। सर्वशब्दाट्टापि पूर्वसवर्णदीर्घे सर्वाशब्दः। एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् सर्वनामकार्यम्। ततश्च 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति टेः प्रागकच्। तत्र ककारादकार उच्चारणार्थः। चकार इव। अक् इति ककारान्तः प्रत्ययः टेः प्राग्भवति। सर्वकाशब्दे- ऽस्मिन् ककारात्पूर्वस्य अत इत्वे सर्विकेति रूपम्। शकेति। 'शक्लृ शक्तौ' पचाद्यच्। अत्र ककारस्य धात्ववयवस्य प्रत्ययस्थत्वाभावान्न ततः पूर्वस्य इत्वम्। बहुपरिव्राजकेति। परिपूर्वाद् व्रजे ण्वुल्। बहवः परिव्राजकाः यस्यामिति बहुव्रीहिः। सुपो लुकि बहुपरिव्राजकशब्दात् टाप्। अत्राकारस्य कात्पूर्वस्य इत्वं न, प्रत्ययलक्षणेन आपः सुबपेक्षया परत्वात्। 'न लुमताङ्गस्य' इति निषेधस्तु न, तस्य लुमता लुप्ते प्रत्यये यदङ्गं तस्य कार्यं एव प्रवृत्तेः। इत्वं तु टाप्यनङ्गकार्यमिति नात्र तन्निषेधः। यदि तु 'असुपः' इति पर्युदासात् भाष्येत, तर्हि बहुपरिव्राजक इति समुदायस्य सुब्भिन्नत्वात् ततः परत्वादित्वं दुर्वारं स्यादिति भावः। मामकेति। मामकनरकशब्दयोः कात्पूर्वस्य इत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। मामिकेति। ममेयमिति विग्रहे 'युष्मदस्मदोरन्य

प्रत्ययस्थात्—प्रत्ययस्थ ककारसे पूर्व अकारको इकार हो, आप्के पर, यदि वह आप् सुप्से पर नहीं हो। मामक—मामक और नरकके ककारके पूर्व अकारको भी इत्व हो।

त्यक्त्यपोश्च—ककारसे पूर्व त्यक् और त्यप्के अकारको इकार हो, आप्के परे।

दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका॥ न यासयोः ।७।३।४५। यत्तदोस्त्यैतन्न। यका। सका। यकाम्। तकाम्॥ (त्यकनश्च निषेधः) उपत्यका। अधित्यका॥ (आशिषि वुनश्च न)। जीवका। भवका॥ (उत्तरपदलोपे न)। देवदत्तिका—देवका। (क्षिपकादीनां च)। क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका।

तरस्यां खञ् च' इत्यपि 'तवकममकावेकवचने' इति ममकादेशे, आदिवृद्धिः टाप्। 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्तु न, 'केवलमामक' इत्यादिना संज्ञाछन्दसोरेव मामक-शब्दात् ङीब्नियमात्। तत्रश्चात्र ककारस्य प्रत्ययस्थत्वाभावात् 'प्रत्ययस्थात्' इत्यप्राप्तौ वचनमिदम्। त्यत्यपोश्चेति 'त्यगन्ते त्यबन्ते च प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्याकारस्य इत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। उदीचामातः स्थाने इति विकल्पस्यापवादः। दाक्षिणात्यिकेति। दक्षिणस्यां दिशि अदूरे इति विग्रहे 'दक्षिणादाच्' इत्याच्, तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वम्। दक्षिणाशब्दात् भवार्थे 'दक्षिणापश्चात् पुरसस्त्यक्' इति त्यक् 'किति च' इत्यादिवृद्धिः, दाक्षिणात्यशब्दात् टाप् ततः स्वार्थिकः कः 'केऽणः' इति टापो ह्रस्वः, पुनष्टाप् इत्वमिति भावः। इहत्यिकेति। 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप् टाप्, स्वार्थिकः कः, केऽणः इति ह्रस्वः, पुनः टाप्। न यासयोः। नात्र कृतटापोः प्रथमान्तयोर्निर्देशः। यत्तदोरित्येव विवक्षितम्। यत्तदोरिति। यका। सका इति। 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति यत्तच्छब्दयोष्टेः प्रागकच्, सौ त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वं टाप्, हल्ङ्यादिना सुलोपः। तच्छब्दे 'तदोः सः सौ' इति तकारस्य सकारः। उभयत्रापि 'प्रत्ययस्थात्' इति प्राप्तमित्वमत्र सूत्रे निषिध्यते। अथ 'न यासयोः' इत्यस्य प्रथमान्तानुकरणत्वे किं फलमित्यत आह—यकाम्, तका-मिति। त्यकनश्च निषेध इति। त्यकन्प्रत्ययान्तस्यापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वनिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः। उपत्यका, अधित्यकेति। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्, टाप्, सोर्हल्ङ्यादिलोपः। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका'। इत्यमरः। आशिषीति। आशिषि यो वुन् तस्य योऽयमेकादेशः तदकारस्य 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः। जीवका, भवकेति। जीवतात् भवतादित्यर्थः। जीवधातोः भूधातोश्च 'आशिषि च' इति वुन् 'युवोरनाकौ' इति तस्य अकादेशः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति भूधातोरुकारस्य गुणः अवादेशश्च। उत्तरपदेति। उत्तरपदलोपेऽपि इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः। देवकेति। देवदत्तशब्दात् स्वार्थे कः। 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' 'अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः' इति दत्तशब्दलोपः। देवकशब्दात् टाप्। देवदत्तिके-ति तु दत्तपदस्य लोपाभावपक्षे उपन्यस्तम्। क्षिपकादीनां चेति। क्षिपकादिशब्दाना-

---

न यासयोः—यद् और तद् सम्बन्धी अकारको इत्व नहीं हो। त्यकनश्च—त्यकन्के अकारको इत्व नहीं हो। आशिषि—आशीरर्थक वुन्के अकारको इत्व नहीं हो।

उत्तरपद—जहाँ उत्तरपदका लोप हुआ हो, वहाँ टाप्के परे ककारसे पूर्व अकारको इत्व नहीं हो। क्षिपका—क्षिपकादिको इत्व नहीं हो।

चटका (तारका ज्योतिषि)। (वर्णका तान्तवे)। (वर्तका शकुनौ प्राचाम्) (अष्टका पितृदैवत्ये)। (सूतकापुत्रिकावृन्दारकाणां चेति वक्तव्यम्)। एषां वा अकारो भवतीत्यर्थः। सूतका, सूतिकेत्यादि।

उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ।७।३।४६। यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्थात् स्थाने योऽत् तस्य कात्पूर्वस्येद्वाऽऽपि परे। केऽण इति ह्रस्वः। आर्यका, आर्यिका। चटकका, चटकिका। आतः किम्? सांकाश्ये भवा—सांकाश्यिका। यकेति किम्? अश्विका।

मित्व नेति वक्तव्यमित्यर्थः। क्षिपकादिगणं पठति—क्षिपकेति। क्षिप प्रेरणे। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कः, कित्वान्न लघूपधगुणः। क्षिपाशब्दात् स्वार्थे कः, 'केऽण' इति ह्रस्वः पुनष्टाप्। ध्रुवकेति। 'ध्रुव स्थैर्ये' कुटादि क्षिपकेतिवद्रूपम्। यद्वा 'ध्रुव स्थैर्ये' पचाद्यच् 'गाङ्कुटादिभ्य' इति ङित्वान्न गुणः, उवङ्। ध्रुवशब्दात् टाप् ततः स्वार्थिकः कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्। कन्यकेति। कन्याशब्दात् क 'केऽण' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्। चटकेति। चट भेदने। पचाद्यच् टाप् स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः पुनष्टाप्। क्षिपकादिराकृतिगणः। तेन अलका, इष्टका इत्यादि। अष्टका पितृदैवत्ये। पितरश्च ता देवताश्च पितृदेवता तदर्थम् पितृदैवत्यम्। 'देवतान्तात् तादर्थ्ये यत्' इति यत्। पित्रर्थे कर्मणि वाच्ये अष्टकेति भवति। 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं नेत्यर्थः। सूतकेति। अत्र पुत्रिकाशब्द इकारमध्य अत्वकारमध्य स्त्रियां पुत्रशब्दस्य शार्ङ्गरवादित्वेन ङी प्राप्तादिति कैयटः। उदीचामातः। 'प्रत्ययस्थात्' इति सूत्रमनुवर्तते। यश्च कश्च यकौ तौ पूर्वौ यस्याः इति विग्रहः। यकेतिवर्णग्रहणम्, अकारावुच्चारणार्थौ यकपूर्वाया इत्येतत् आत इत्यस्य विशेषणम्। तेन अर्थतः स्त्रीत्वमाकारे आरोप्य यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। तेन आकारस्य स्त्रीवाचकत्वं कल्प्यते। तदाह—यकपूर्वस्येत्यादिना। उदीचां ग्रहणं विकल्पार्थमेव। न तु देशतो व्यवस्थार्थम्, इति 'न वेति विभाषा' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। सांकाश्यिकेति। सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यम्। 'वुञ्छण्कठज्' इत्यादिना सङ्काशादिभ्यो ण्यः, आदिवृद्धिः 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। साङ्काश्यशब्दात् भवार्थे 'धन्वयोपधाद्वुञ्' अकादेशः 'यस्येति च' इत्यकारलोपः।

तारका—ज्योति (नक्षत्र) अर्थमें 'तारका' यह रूप हो। अर्थात् नक्षत्र अर्थमें इत्व नहीं हो। वर्णका—तन्तुके विकार अर्थमें 'वर्णका' यह रूप हो। अर्थात् तन्तुविकार अर्थमें इत्व नहीं हो। वर्तका—शकुनि (पक्षी) अर्थमें 'वर्तका'—यह रूप हो। अर्थात् इत्व नहीं हो—ऐसा प्राचीनोंका मत है।

अष्टका—पितृदैवत्य कर्मवाच्य हो तो, 'अष्टका' यह रूप हो—इत्व नहीं हो।

सूतका—सूतकादियोंके ककारसे पूर्व अकारको अ हो, विकल्पसे।

उदीचामातः—यकार-ककार पूर्वक स्त्रीप्रत्यय-सम्बन्धी आकारस्थानिक अकारसे पूर्व

स्त्रीप्रत्ययेति किम्? शुभंयिका॥ **अभाषितपुंस्काच्च** ।७।३।४८। एतस्माद्विहित-स्यातः स्थानेऽत इद्वा। गङ्गका, गङ्गिका॥ **आदाचार्याणाम्** ।७।३।४९। पूर्वविषये। गङ्गाका॥ **अनुपसर्जनात्** ।४।१।१४। अधिकारोऽयं यूनस्तिरित्य-भिव्याप्य॥ **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** ।४।१।१५। अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततो ङीप्। कुरुचरी। उपस-र्जनत्वान्नेह-बहुकुरुचरा। नदट्-नदी। देवट्-देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी॥ (नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्) स्त्रैणी।

टाप् 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्वम्। इह यकारवकारस्य आकारस्थानिकत्वाभावा दित्वविकल्पो न भवतीति भावः। अश्विकेति। अश्वाशब्दात् कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप्, अश्वकाशब्दः। अत्र अकारस्य आकारस्थानिकत्वेऽपि यकपूर्वत्वाभावादि-त्वविकल्पो न, किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्वमिति भावः। स्त्रीप्रत्ययस्य किमिति। यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशादेव स्त्रीप्रत्ययस्येति किमर्थमिति प्रश्नः। शुभंयिका। शुभमिति मान्तमव्ययम्। तस्मिन्नुपपदे 'या प्रापणे' इति धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति विच् शुभंयाशब्दात् स्वार्थे कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः टाप्, शुभंयकाशब्दः। अत्र यकारादकारस्य धात्ववयवस्य स्त्रीत्वाच्चकत्वाभावादित्वविकल्पो न किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमेवेत्वमिति भावः। अभाषितपुंस्काच्च। उदीचामातः स्थाने इत्यनुवर्तते अत इदिति च, अभाषितः पुमान् येन इति विग्रहः, विहितस्येत्यध्याहार्यम्। तदाह-एतस्मादिति। अभाषितपुंस्काद्विहितस्येत्यर्थः। अपूर्वार्थं वचनम्। गङ्गका गङ्गिकेति। गङ्गाशब्दा-त् कः। 'केऽणः' इति ह्रस्वः, इत्वविकल्पः। आदाचार्याणाम्। पूर्वविषये इति। अभा-षितपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने अत इत्यर्थः। अनुपसर्जनादित्यधिकारस्य उत्तरावधि माह-यूनस्तिरित्यभिव्याप्येति। यूनस्तिः इत्यत्राप्ययमधिकारः न तु ततः प्रागित्यर्थः।

अकारको ह्रस्व हो, आप्के परे, विकल्पसे। अभाषित—अभाषित पुंस्कसे विहित स्त्रीप्रत्यय-सम्बन्धी आकारस्थानिक ककारके पूर्व अकारको ह्रस्व हो, आप्के परे, विकल्पसे।

आदाचार्या—'अभाषितपुंस्काच्च' इस सूत्रसे विहित आतस्थानिक अकारको आकार आदेश हो, विकल्पसे।

अनुपसर्ज—'यूनस्तिः' इस सूत्र पर्यन्त इसका अधिकार है। टिड्ढाणञ्—अनुपसर्जन जो टित्-ढ-अण्-अञ्-आदि, तदन्त जो अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङीप् हो, स्त्रीत्व बोध्य रहने पर। नञ्स्नञ्—अनुपसर्जन जो नञादि, तदन्त जो अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङीप्

पौंस्नी । शाक्तीकी । आढ्यङ्करणी । तरुणी । तलुनी ॥ यञश्च ।४।१।१६। यञन्तात्प्रातिपदिकात् ङीप् । अकारलोपे कृते— हलस्तद्धितस्य ।६।४।१५०। हल उत्तरस्योपधाभूततद्धितयस्य लोप ईति । गार्गी ॥ प्राचां ष्फ तद्धितः ।४।१।१७। यञन्तात् ष्फो वा ॥ षः प्रत्ययस्य ।१।३।६। प्रत्ययादिः ष इत्स्यात् । 'आयनेयीनी' इत्यायनादेशः । षित्त्वसामर्थ्यात् षिद्गौरेति ङीष् । गार्ग्यायणी ॥ वयसि प्रथमे ।४।१।२०। प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् । कुमारी ॥ (वयस्यचरम इति वाच्यम्) । वधूटी । चिरण्टी ॥ द्विगोः ।४।१।२१। अदन्तात् द्विगोर्ङीप् । त्रिलोकी । अजादित्वात् त्रिफला । त्र्यनीका सेना ॥ अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ।४।१।२२। अपरिमाणान्ताद्बिस्ताद्यन्ताच्च द्विगोर्न ङीप् तद्धितलुकि । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । आर्हीयष्ठक् । 'अध्यर्ध-' इति लुक् । द्वौ बिस्तौ पचति द्विबिस्ता । द्व्याचिता । द्विकम्बल्या । परिमाणान्तात्तु द्व्याढकी ।

वयस्यचरम इति । चरमम् अन्त्यम् वयः, तद्भिन्नम् अचरम्, प्रथमे इत्यस्यैव अत्र स्थाने इति वक्तव्यम् इत्यर्थः । अपरिमाण । 'द्विगोः' इति ङीबिति चानुवर्तते । अत्र बिस्तादिस्वरूपग्रहणमपरिमाणादिभिर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—अपरिमाणान्तादित्यादि । अध्यर्धेति लुगिति । पञ्चभिरश्वैः क्रीतेति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः । 'आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्' इत्यधिकारे 'तेन क्रीतम्' इति ठक् 'अध्यर्धपूर्वाद्द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' इति तस्य लुक् । अत्र 'द्विगोः' इति ङीप् न भवति, अपरिमाणान्तद्विगुत्वात् । नन्वत्र 'द्विगोः' इति प्राप्तङीप्निषेधेऽपि 'टिड्ढाणञ्' इति ठग्निमित्तको ङीप् दुर्वारः । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीता द्विशतेत्यत्र 'संख्यायाः अतिशदन्तायाः कन्' इति कन 'अध्यर्ध' इति लुकि 'अपरिमाण' इति निषेधस्य चरितार्थत्वात् इति चेत् सत्यम्, 'टिड्ढाणञ्' इत्यत्र प्रत्यासत्त्या टिड्ढाणञादीनां च अकारः तदन्तमिति विवक्षितम् । पञ्चाश्वशब्दस्य ठगन्तत्वाकारान्तो न भवतीति न दोषः । द्वौ बिस्ताविति । 'सुवर्णबिस्तौ हेम्नोऽक्षे' इत्यमरः । 'गुञ्जाः पञ्च तु माषक' । ते षोडशाक्ष इति च । गुञ्जापञ्चकं माषपरिमाणम् । माषषोडशकम् अक्षपरिमाणम्, तत्र अपीति

हो, स्त्रीत्व बोध्य रहने पर । यञश्च—यञन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

हलस्त—हल्से पर उपधाभूत तद्धितसम्बन्धी यकारका लोप हो, ईकारके परे ।

प्राचां ष्फ—यञन्त प्रातिपदिकसे 'ष्फ' प्रत्यय हो, स्त्रीत्व बोध्यमें; विकल्पसे और वह तद्धितसंज्ञक हो । षः प्रत्ययस्य—प्रत्ययके आदि षकारकी इत्संज्ञा हो ।

वयसि—प्रथम वयोवाची अदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

वयस्यचरमे—चरमवयोभिन्न वयोवाचीसे ङीप् हो—ऐसा कहना चाहिये ।

द्विगोः—अदन्त द्विगुसे ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें । अपरिमाण—तद्धितका लुक् हुआ हो

तद्धितलुकि किम् ? समाहारे पञ्चाश्वी ॥ काण्डान्तात्क्षेत्रे ।४।१।२३। क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् तद्धितलुकि । द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः-द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुक् । क्षेत्रे किम् ? द्विकाण्डी रज्जुः ॥ **पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम्** ।४।१।२४। प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगोर्ङीब्वा स्यात् तद्धितलुकि । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः-द्विपुरुषी, द्विपुरुषा वा परिखा ॥

गुञ्जात्मकम् । तस्मिन् हेमविषये अपपरिमाणे सुवर्णबिस्तशब्दाविस्यर्थः । द्वौ बिस्तौ पचतीति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः । 'सम्भवत्यवहरतिपचति' इति ठक्, तस्य 'अध्यर्ध' इति लुक् 'द्विगोः' इति ङीपि प्रतिषिद्धे सति टापि द्विबिस्ता मूषा । द्विबिस्तपरिमाणकहिरण्यं द्रावयतीत्यर्थः । पचिरिह द्रावणे वृत्तश्च । दयाचितेति । 'आचितो दश भाराः' इत्यमरः । द्वावाचितौ वहतीत्यर्थे 'आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम्,' द्विगोष्ठंश्च' इति खठञोरभावे प्राग्वतीयठञ् । 'अध्यर्ध' इति तस्य लुक् । अनेन 'द्विगोः' इति ङीपि निषिद्धे टापि द्व्याचिता शकटी । द्विकम्बल्येति । कम्बलस्य प्रकृतिभूतं द्रव्यं कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम् । 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्यर्थे 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' इति यत्, द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीतेति विग्रहः । 'तेन क्रीतम्' इति ठञः 'अध्यर्ध' इति लुक् 'द्विगोः' इति ङीपि अनेन प्रतिषिद्धे टाप् । काण्डान्तात् क्षेत्रे । 'द्विगोः' इति, 'न तद्धितलुकी'ति चानुवर्तते । तदाह-क्षेत्रे य इत्यादि । द्वे काण्डे इति । 'षोडशारत्निकायामो दण्डः काण्डमिति स्मृतिः' । द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासे द्विकाण्डशब्दस्य क्षेत्रवर्तित्वे नपुंसकत्वशङ्काव्युदासाय क्षेत्रभक्तिरिति विशेष्योपादानम् । द्विकाण्डी रज्जुरिति । पूर्ववत् मात्रचो लुकि 'द्विगोः' इति ङीप् । क्षेत्रे इत्युक्तत्वाभावात् न तन्निषेध इति भावः । पुरुषात् । द्विगोरिति तद्धितलुकीति ङीपिति चानुवर्तते । तदाह—प्रमाणे य इत्यादिना । प्रमाणमायामः 'आयामस्तु प्रमाणं स्यात्' इति वचनात् । द्वौ पुरुषाविति । पञ्चहस्तायामः पुरुष इत्युच्यते, 'पञ्चारत्निः पुरुषः'इति शुल्बसूत्रात् । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः समासः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुक् । अत्र उक्तरीत्या पुरुषप्रमाणस्य आयामात्मकस्य 'अपरिमाणः' इति नित्यं ङीन्निषेधे विकल्पार्थमिदं वचनम् । अन्ये तु 'तदस्य परिमाणम्' इति ठकः ठञो वा 'अध्यर्ध' इति लुक् । तत्र हि उत्तरसूत्रानुरोधात् परिमाणशब्देन परिच्छेदकमात्रं गृह्यते इत्याहुरित्यास्तां तावत् । द्विपुरुषी द्विपुरुषा वा परि-

---

सो—अपरिमाणान्त और बिस्तादन्त द्विगुसे ङीप् नहीं हो । काण्डान्तात्—तद्धित लुक्के विषयमें क्षेत्रमें जो काण्डान्त द्विगु, उससे स्त्रीलिङ्गमें ङीप् नहीं हो । पुरुषात्—तद्धितलुक्के विषयमें प्रमाणमें जो पुरुष शब्द, तदन्त द्विगुसे ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें, विकल्पसे ।

ऊधसोऽनङ् ।५।४।१३१। ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङ् स्त्रियाम् ॥ **बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ।४।१।२५।** ऊधोन्ताद्बहुव्रीहेः । कुण्डोध्नी । स्त्रियां किम् ? कुण्डोधो धैनुकम् । **दामहायनान्ताच्च ।४।१।२७।** संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्धायनान्ताच्च ङीप् । द्विदाम्नी । द्विहायनी बाला ॥ **(त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्)** । **(वयोवाचकस्यैव हायनस्य ङीप् णत्वं चेष्यते)** । त्रिहायणी । चतुर्हायणी । वयसोऽन्यत्र-त्रिहायना, चतुर्हायना शाला ॥ **अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ।४।१।३२।** नान्तर्धान्ङीप् । अन्तर्वत्नी, पतिवत्नी । **गर्भभर्तृसंयोगे चेष्यते** । अन्यत्र तु-

---

देति । तिर्यक् द्विपुरुषायतेत्यर्थः । दुर्गं परित. तत्परवणार्थो उचानाय' परिखा । अथ कुण्डमिव ऊधो यस्या इति बहुव्रीहौ कुण्डोधस् शब्द । तत्र विशेषमाह-ऊधसोऽनङ् । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवृत्त षष्ठ्या विपरिणम्यते, ऊधसा इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः । तदाह-ऊधोऽन्तस्येति । समासान्तप्रकरणस्थत्वे ऽपि स्त्रियामित्यादेशत्व बोध्यम् । बहुव्रीहे । ऊधस् इति बहुव्रीहेर्विशेषणम् । तदन्तविधिः, स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह—ऊधोऽन्तादिति । कुण्डोध्नीति । अनङि कृते ङीपि 'अल्लोपोऽन' इति भाव । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । ङीब्विधेस्तु स्वरे विशेषः फलम् । स्त्रियां किमिति ङीब्विधौ स्त्रियामित्यनुवृत्ति किमर्थेति प्रश्नः । कुण्डोधो धैनुकमिति । कुण्डमिव ऊधो यस्येति विग्रह । नपुंसकत्वस्फोरणाय धैनुकमिति विशेष्यम् । धेनूनां समूह इत्यर्थः । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्', 'इसुसुक्तान्तात् कः' । आदिवृद्धिः स्त्रीत्वाभावान्नानङ् । अत्र स्त्रीत्वाभावान्न ङीबित्यर्थः । दामहायनान्ताच्च । संख्यादेः ङीप् चानुवर्तते तदाह—संख्यादेरिति । अव्ययग्रहणं तु नानुवर्तते असम्भवादिति भावः । द्विदाम्नीति । द्वे दामनी यस्याः इति विग्रहः । अत्र 'अल्लोपोऽनः' इति भाव. । द्विहायनी बालेति । द्वौ हायनौ यस्या इति विग्रहः । अथ त्रिहायणीत्यत्र णत्वस्याप्राप्तावाह—त्रिचतुर्भ्यामिति । नन्वेवमपि त्रिहायना शाला इत्यत्रापि टाप् स्यात्, त्रिहायना शालेत्यत्र तु टाप् णत्व च स्यातामित्यत आह-वयोवाचकस्यैव हायनस्येति । इष्यते इति । भाष्यकृत इति शेष । अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् । विधसामर्थ्यात् अयमागमः,

---

ऊधसोऽनङ्—ऊधोन्त बहुव्रीहिको अनङ् आदेश हो, स्त्रीलिंगमें । बहुव्रीहे—ऊधोन्त बहुव्रीहिसे ङीष् हो, स्त्रीलिंगमें । दामहाय—दामान्त और हायनान्त संख्यादि बहुव्रीहिसे ङीप् हो, स्त्रीलिंगमें । त्रिचतुर्भ्यां—त्रि और चतुर् शब्दसे पर हायनके नकारको णत्व हो ।

वयोवाच—वयोवाचक हायन शब्दसे ही ङीप् और णत्व इष्ट है । अन्तर्वत्—अन्तर्वत् और पतिवत् का नुक् का आगम हो, स्त्रीलिंगमें । गर्भभर्तृ—पूर्वोक्त नुकका आगम गर्भ और

अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः। पतिमती पृथिवी ॥ **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।४।१।३३।** वसिष्ठस्य पत्नी ॥ **विभाषा सपूर्वस्य ।४।१।३४।** पतिशब्दान्तस्य नो वा। गृहपतिः; गृहपत्नी। दृढपत्नी, दृढपतिः ॥ **नित्यं सपत्न्यादिषु ।४।१।३५।** सपत्नी। एकपत्नी। वीरपत्नी ॥ **पूतक्रतोरै च ।४।१।३६।** पूतक्रतोः स्त्री-पूतक्रतायी ॥ **वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः ।४।१।३७।** एषामुदात्त ऐ आदेशो ङीप् च। वृषाकपेः-स्त्री वृषाकपायी। अग्नायी। कुसितायी। कुसिदायी ॥ **मनोरौ वा ।४।१।३८।** मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्त एकारश्च वा, ङीप् च। मनोः स्त्री

न तु प्रत्यय इति भावः। पतिमती पृथिवीति। जीवत्भर्तृकायामेव वत्वनिपातनादिह वत्वाभाव इति भावः। पत्युर्नो। पत्युरिति षष्ठी। न इत्यकार उच्चारणार्थः। स्त्रियामित्यधिकृतम्। विभाषा सपूर्वस्य। पत्युर्नः इत्यनुवर्तते, प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणतं पत्युरित्यनेन विशेष्यते। तदन्तविधिः। सपूर्वस्येत्येतत् पतिशब्दान्त प्रातिपदिके अन्वेति। पूर्वावयवसहितस्येत्यर्थः। तदाह—पतिशब्दान्तस्येत्यादिना। यज्ञसंयोगाभावेऽपि अप्राप्तविभाषेयम्। गृहपतिः—गृहपत्नीति। नत्वपक्षे 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीप्। अत्र गृहपतिशब्दः पतिशब्दान्तः गृहशब्दात्मकपूर्वावयवसहितश्चेति भावः। नित्यं सपत्न्यादिषु। विषयसप्तम्येषा। सपत्न्यादिविषये तत्सिद्ध्यर्थं नित्यं नात्वमित्यर्थः। सपत्नीति। अत्र समानशब्द एकपर्यायः, पतिशब्दस्तु विवाहनिबन्धनभर्तृशब्दपर्यायः। वीरपत्नीति। वीरः पतिर्यस्याः इति विग्रहः। सपत्न्यादिस्वान्नात्वम्। पूतक्रतोरै च। ऐ इतिलुप्तप्रथमाकम्। पूतक्रतुशब्दात् स्त्रियां ङीप् स्यात् प्रकृतेरकारोऽन्त्यादेशश्चेत्यर्थः। पूतक्रतायीति। पूतः क्रतुः येन सः पूतक्रतुः, तस्य स्त्रीत्यर्थे ङीप्। तकारादुकारस्य ऐकारः, तस्य आयादेश इति भावः। वृषाकप्यग्नि। ऐ चेत्यनुवर्तते। तदाह—एषामिति। वृषाकपायीति। ङीप्, प्रकृतेरुदात्तः ऐकारोऽन्त्यादेशः, तस्य आयादेशः, तस्य ऐकारस्यानिकत्वात् तदाकारोऽप्युदात्तः 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति अवशिष्टानामप्यनुदात्तत्वम्। मनोरौ वा। ऐ चेति, उदात्त इति, ङीबिति चानुवर्तते। तदाह-मनुशब्दस्येति। उदात्त ऐकारश्च वेति। औकारः उदात्त ऐकारश्च

भर्ताके संयोगमें ही हो। पत्युर्नो-पति शब्दको नकारादेश हो यज्ञके संयोगमें।

विभाषा—पतिशब्दान्त प्रातिपदिकको नकारान्त आदेश हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे।

नित्यं—सपत्न्यादि स्थलमें पति शब्दको नित्य ही नकारान्त आदेश हो।

पूतक्रतो—पूतक्रतु शब्दको स्त्रीलिंगमें ऐकारान्त आदेश और तत्सन्नियोगेन ङीप् भी हो। वृषाकप्यग्नि—वृषाकपि आदिको उदात्त ऐकारान्त आदेश और ङीप् भी हो।

मनोरौ वा—मनु शब्दको ङीप्सन्नियोगशिष्टेन औकारान्तादेश और उदात्त ऐकारान्त आदेश भी हो, विकल्पसे। (मनोः स्त्री मनावी, मनायी, मनुः)

मनावी। मनायी। मनुः॥ **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ।४।१।३९।** वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्ताद्वा ङीप्, तस्य न। एनी, एता। रोहिणी, रोहिता। **पिद्गौरादिभ्यश्च ।४।१।४१।** ङीष्। नर्तकी। गौरी। अनड्वाही, अनडुही॥ (पिप्पल्यादयश्च)। आकृतिगणोऽयम्। (मत्स्यस्य ङ्याम्)। यलोपः, मत्सी। **जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकालनीलकुशकामुककबराद्वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ।४।१।४२।** एभ्य एकादशभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष्। जानपदी वृत्तिश्चेत्। अन्या तु जानपदा। अजन्तत्वात् ङीपि आद्युदात्त। कुण्डी अमत्रं चेत्। कुण्डाऽन्या। गोणी आवपनं चेत्। गोणाऽन्या। स्थली अकृत्रिमा चेत्। स्थलाऽन्या। भाजी श्राणा

चा स्यादित्यर्थः। मनावीति। अत्रौकारोऽनुदात्त एव। मनायीति। 'यद्वै किं च मनुरवदत्' इत्यादौ मनुशब्दः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तः, 'धान्ये नित्' इत्यतो नित्यनुवृत्तौ 'शॄस्वृस्निहि' इत्यादिना मनेरुप्रत्ययविधेः। ततश्च शिष्टस्वरेण नकारात् उकारः अनुदात्तः। तस्य स्थाने उदात्त ऐकारः, तस्यायादेशः, ङीप् चेति भावः। मनुरिति। ऐकारस्य औकारस्य चाभावे तत्सन्नियोगशिष्टो ङीबपि नेत्युक्तमेव। जानपद। जानपदेत्यादि कबरादित्यन्तमेकं पदम्। समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी। जानपदीति। जनपदे भवेत्यर्थः। वृत्तिश्चेदिति। जीविका गम्या चेदित्यर्थः। कुण्डीति। 'पिठरः स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरः। 'पात्रामत्रे च भाजनम्' इति च। कुण्डशब्दस्य क्लीबत्वमपि ङीब्विधिसामर्थ्यात्। 'पिठरे तु न ना कुण्डम्' इति विश्वः। कुण्डाऽन्येति। दहनीत्यर्थः। आवपनं चेदिति। आवप्यते निक्षिप्यते अस्मिन्निति आवपनम्, पुष्पाद्युपेतगुंठ्। गोणाऽन्येति। कस्याश्चिदिदं नाम। अकृत्रिमा चेदिति। इह मानवेन पुरुषपरिष्कृता भूमिः कृत्रिमा, तद्भिन्नेत्यर्थः। स्थलाऽन्येति। कृत्रिमेत्यर्थः। 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति' इति यजुर्वेदे। भाजीति। भज्यते सेव्यते इति कर्मणि घञ्

वर्णादनु—वर्णवाची जो अनुदात्तान्त तोपध, तदन्त जो प्रातिपदिक, उससे ङीप् हो और तकारको नकार आदेश भी हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे। पिद्गौरा—पित् और गौरादिसे स्त्रीलिंगमें ङीष् हो।

नोट:—'अनड्वाही'में 'आमनडुहः स्त्रियां वा' (अनडुह् शब्दसे ङीप् और आम् का आगम हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे) इस गणसूत्रसे वैकल्पिक आम् समझना चाहिये।

पिप्पल्या—'पिप्पल्यादिसे ङीष् हो, स्त्रीलिंगमें।

मत्स्यस्य—मत्स्यके उपधाभूत यकारका लोप हो, 'ङी' के परे। जानपद—जानपद, कुण्ड, गोण आदि एकादश प्रातिपदिकोंसे ङीष् हो, इत्यादि अर्थोंमें।

चेत्। भाजाऽन्या। 'यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा' इत्यमरः। नागी स्थूला चेत्। नागाऽन्या। काली वर्णश्चेत्। कालाऽन्या। नीली अनाच्छादनं चेत्। नीलाऽन्या, नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः। कुशी अयोविकारश्चेत्। कुशान्या। कामुकी मैथुनेच्छा चेत्। कामुकाऽन्या। कबरी केशानां सन्निवेशश्चेत्। कबराऽन्या॥

शोणात्प्राचाम् ।४।१।४३। शोणी, शोणा॥ **वोतो गुणवचनात्** ।४।१।४४। उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीप्। मृद्वी, मृदुः। उतः किम्? शुचिः। गुणेति किम्? आखुः॥ **(खरुसंयोगोपधान्न)** खरुः पतिंवरा कन्या। पाण्डुः॥ **बह्वादिभ्यश्च** ।४।१।४५। वा ङीष्। बह्वी, बहुः॥ **(कृदिकारादक्तिनः)**। रात्री, रात्रिः॥ **(सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके)**। शकटी, शकटिः॥ **पुंयोगादाख्यायाम्** ।४।१।४८। या पुमाख्या पुंयोगात्स्त्रियां वर्तते ततो ङीष्। गोपस्य स्त्री-

---

'घञबन्तः पुंसि' इति प्रायिकम्। श्राणा चेदिति। 'यवागूरुष्णिका श्राणा' इत्यमरः। वर्णश्चेदिति। वर्णः प्रवृत्तिनिमित्तं चेदित्यर्थः। वर्णविशिष्टा चेदिति यावत्। अन्यथा कालशब्दस्य 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इति पुंस्त्वापातात्। सूत्रे वर्णा इति पच्छेदः। अर्श आद्यजन्तात् टाप्। कालाऽन्येति। क्रौर्ययुक्तेत्यर्थः। संज्ञाशब्दो वा। अनाच्छादनं चेदिति। वस्त्रभिन्न गवादिकमित्यर्थः। नीलाऽन्येति। नन्वनाच्छादनस्य विशेष्यत्वे स्त्रीत्वानुपपत्तिः। पटीत्यस्य विशेष्यत्वेऽपि नीलवर्णवती पटीत्यर्थे ङीपः अप्रसक्तिरेव। 'नीलादोषधौ', 'प्राणिनि च' इति नियमस्य उपलक्षणत्वादित्यत आह— नील्या रक्तेति। नील्या ओषध्या रागविशेषं प्राप्तेत्यर्थः। कुशाऽन्येति। कुण्डगोलसूत्रे प्रस्तोता तु कुशाः कारयेद्यज्ञियस्य वृक्षस्य सदिरस्य [illegible] प्रादेशमात्राः कुशपृष्ठाररत्नकरसमामतते' इति प्रसिद्धा। कामुकीति। काममिच्छुं शीलमस्या इति विग्रहे 'लषपत' इत्यादिना कमेरुकञ्। मैथुनेच्छावती चेदित्यर्थः। अर्श आद्यजन्ताट्टाप्। कामुकान्येति। धनादीच्छावतीत्यर्थः। शोणात् प्राचाम्। 'लोहितो रोहितो रक्तः शोणः कोकनदच्छविः।' इत्यमरः। 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' इति शोणशब्दः आद्युदात्तः अनुदात्तान्तः। 'अन्यतो ङीष्' इति नित्यं ङीपि प्राप्ते विक-

---

शोणात्—शोण शब्दसे स्त्रीलिंगमें ङीष् हो, प्राचीन आचार्योंके मतसे।

वोतो—उदन्त गुणवाची प्रातिपदिकसे स्त्रीलिंगमें ङीष् हो, विकल्पसे। खरुसं—खरु शब्दसे तथा संयोगोपध उदन्त गुणवाची प्रातिपदिकसे ङीष् नहीं हो। बह्वादि—बह्वादिसे स्त्रीलिंगमें ङीष् हो, विकल्पसे। कृदिकारा—क्तिन्-भिन्न कृदन्त इकारान्त प्रातिपदिकसे ङीष् हो विकल्पसे। सर्वतो—एके (किन्हीं आचार्योंके) मतसे क्तिन्नर्थ-भिन्न कृत-अकृत सभी इकारान्त प्रातिपदिकोंसे ङीष् हो—ऐसा कहना चाहिये।

पुंयोगा—जो पुंवाचक शब्द, पुंयोगसे स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त हो, उससे ङीष् हो।

गोपी ॥ (पालकान्तान्न)। गोपालिका। अश्वपालिका ॥ (सूर्याद्देवतायां चाप् वाच्यः)। सूर्यस्य स्त्री देवता-सूर्या। देवतायां किम्? सूरी, कुन्ती, मानुषीयम् ॥ **इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्** ।४।१।४९। ङीष् च। इन्द्राणी ॥ (हिमारण्ययोर्महत्त्वे)। महद्धिमं हिमानी ॥ (यवाद्दोषे)। दुष्टो यवो यवानी ॥ (यवनाल्लिप्याम्)। यवनानां लिपिर्यवनानी ॥ (मातुलोपाध्याययोरानुग्वा)। मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी ॥ (आचार्यादणत्वं च)। आचार्यानी ॥ (अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे)। अर्याणी, अर्या। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया। पुंयोगे तु—अर्यी। क्षत्रियी ॥ **क्रीतात्करणपूर्वात्** ।४।१।५०। क्रीतान्तादन्तात्करणादेर्ङीष्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न-धनक्रीता ॥ **बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्** ।४।१।५२। क्तान्तान्ङीष्। ऊरु

स्वार्थमिदम्। हिमारण्ययोर्महत्त्वे। इदं वार्तिकम्। महत्त्वविशिष्टे हिमे अरण्ये च वर्तमानयोरानुङ्ङीषाविप्यर्थः। हिमानी। महद्धिमं 'हिमानी' अत्र 'इन्द्रवरुणभव०' इत्यादिना प्राप्तौ आनुङ्ङीषौ प्रबाध्य महत्त्वेऽर्थे 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इति आनुगागमे, ङीषि च कृते, तद्रूपम्। क्रीतात्करणपूर्वात्। प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तम् अत इत्यनुवृत्तेन क्रीतादित्यनेन च विशेष्यते, तदन्तविधिः। तदाह—क्रीतान्तादित्यादिना। करणमादिर्यस्येति विग्रहः। प्रातिपदिकशब्दो विशेषणम्, तेन करणादेरिति पुंस्त्वमुपपन्नम्। वस्त्रक्रीतीति। वस्त्रैः क्रीता 'वस्त्रक्रीती' अत्र 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति ङीषि, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। क्वचिन्नेति। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति बहुलग्रहणेन 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्यस्य क्वचिदप्रवृत्त्यवगमादिह सुबन्तेन समासः। तत्र च सुपः प्रागेवान्तरङ्गत्वात् टापि सति ततः सुपि टाबन्तप्रकृतिकसुबन्तेन समासे सुब्लुकि धनक्रीता शब्दस्य अदन्तत्वाभावात् ङीषित्यर्थः। बहुव्रीहेश्च। क्तादिति अत इति चानुवर्तते। तदाह—बहुव्रीहेरिति।

पालका—पालकान्तसे ङीष् नहीं हो। सूर्याद् देवता—देवता अर्थमें सूर्य शब्दसे पुंयोगमें चाप् प्रत्यय हो। इन्द्रवरुण—इन्द्र आदि शब्दोंको आनुक्का आगम हो और साथ ही साथ ङीष् भी हो। हिमारण्ययो—हिम और अरण्य शब्दोंसे महत्त्व अर्थमें ही आनुक् और ङीष् हो। यवाद्दोषे—यव शब्दसे दोष अर्थमें ही आनुक् और ङीष् हो।

यवना—यवन शब्दसे लिपि अर्थमें ही आनुक् और ङीष् हो। मातुलो—मातुल और उपाध्याय शब्दसे आनुक् हो, विकल्पसे। आचार्या—आचार्य शब्दसे पर आनुक्के नकारको णत्व हो, विकल्पसे। अर्यक्षत्रि—अर्य और क्षत्रिय शब्दसे स्वार्थमें विकल्पसे आनुक् और ङीष् हो। क्रीतात्—करणपूर्वक अदन्त क्रीतान्त प्रातिपदिकसे ङीष् हो।

बहुव्रीहेः—अन्तोदात्त क्तान्त अदन्त बहुव्रीहिसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो।

भिन्नी ॥ अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ।४।१।५३। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सुरापीती, सुरापीता ॥ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ।४।१।५४। असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताद्वा ङीप् । अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा । संयोगोपधात्तु,-सुगुल्फा ॥ 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् । अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथा युतम्' ॥ १ ॥ सुस्वेदा ; द्रवत्वात् । सुज्ञाना;

क्तान्तादिति । क्तान्तान्तादित्यर्थः । ऊरुभिन्नी । ऊरू भिन्नौ असंयुक्तौ यस्या इति विग्रहः । 'निष्ठा' इति भिन्नशब्दस्य पूर्वनिपातस्तु न भवति 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या' इति वार्त्तिकात् । 'जातिकालसुखादिभ्यः' इत्यादिसूत्रेणान्तोदात्तत्त्वम् । अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा । स्वाङ्गग्रहणमुत्तरसूत्रे वक्ष्यते । अस्वाङ्गं यत् पूर्वपदं तस्मात् परं यत् क्तान्त तदन्तात् बहुव्रीहेः ङीप् वा स्यादिति सूत्रार्थः । पूर्वेणेति । 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति पूर्वसूत्रेण नित्यं ङीपि प्राप्ते तद्विकल्पोऽत्र विधीयत इत्यर्थः । सुरापीती—सुरापीतेति । सुरा पीता ययेति विग्रहः । ऊरुभिन्नीवित् पूर्वनिपातः । स्वाङ्गाच्च । उपसर्जनादिति असंयोगोपधादिति च स्वाङ्गादित्यस्यान्वेति । स्वाङ्गादित्येतत् अत इत्यनुवृत्तं च प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । तदाह—असंयोगोपधमित्यादिना । वा ङीबिति । 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यतो वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतो ङीपित्यस्य चानुवृत्तेरिति भावः । सुस्वेदेति । सु शोभनः

अस्वाङ्गपूर्व—अस्वाङ्ग पूर्वपदसे पर क्तान्त अदन्त बहुव्रीहिसे ङीप् हो, विकल्पसे । स्वाङ्गाच्चोप—असंयोगोपध, उपसर्जन जो स्वाङ्गवाची, अदन्त अदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, विकल्पसे ।

अद्रवं—स्वाङ्ग तीन प्रकारका है—(१) 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्—(न विद्यते द्रवो यस्य तद् 'अद्रवम्') जो द्रववाचक नहीं हो । अतः सु = शोभनः; स्वेदः-घर्मजः उदकप्रस्रवो यस्याः सा) 'सुस्वेदा' यहाँ ङीप् नहीं हुआ ।

मूर्तिमत्—(स्पर्शवद् द्रव्यपरिमाणं मूर्तिस्तद्वत्) जो मूर्तिमान् हो । अतएव 'सुज्ञाना' यहाँ ङीप् नहीं हुआ ।

प्राणिस्थम्—प्राणिनि = प्राणवति-जन्तौ, विद्यमानम् । जो प्राणीमें स्थित हो । अतः 'सुमुखा शाला' यहाँ ङीप् नहीं हुआ । अविकारजम्—रोगादिविकारादन्यम् । जो विकारसे उत्पन्न नहीं हुआ हो । इसलिये सु = अधिकः, शोफः = श्वयथुः यस्याः सा 'सुशोफा' यहाँ ङीप् नहीं हुआ ।

(२) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च—अतत्स्थं = [सम्प्रति] अप्राणिस्थम् [अपि] च = किन्तु, तत्र = प्राणिनि, दृष्टं = दृश्यमानं, यत्तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः । जो सम्प्रति प्राणीमें स्थित न भी हो किन्तु कभी भी प्राणीमें देखा गया हो । अतः 'सुकेशी सुकेशा वा रथ्या (गली)' यहाँ ङीप् सिद्ध हुआ । क्योंकि गलीमें बिखरा हुआ केश सम्प्रति प्राणिस्थ नहीं भी है किन्तु कभी तो वह केश प्राणिस्थ (प्राणीके मस्तकादिपर) देखा गया था ।

(३) येन चेत्तत्तथा युतम्—(येनाङ्गेन प्राणिरूपं वस्तु यथा युतं, तेन तत्सदृशेन

अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात् । सुशोफा, विकारजत्वात् । सुकेशी, सुकेशा वा रथ्या, अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि दृष्टत्वात् । सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा, प्राणिवदप्राणिसदृशे स्थितत्वात् ॥ नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ।४।१।५५। वा ङीष् । तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका ॥ (पुच्छाच्च) ।

स्वेदः घर्मजं उदकं प्रसवः यस्या इति विग्रहः । स्वेदस्य शोभनत्वं तु दुर्गन्धाभावः । द्रवत्वादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अतो न ङीषित्यर्थः । मूर्तिमदित्यस्य प्रयोजनमाह—सुज्ञानेति । सु शोभनं ज्ञानं यस्या इति विग्रहः । अमूर्तत्वादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । प्राणिस्थमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुमुखा शालेति । सु शोभनं मुखं प्रथमभागः यस्या इति विग्रहः । अप्राणिस्थत्वादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अविकारजमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुशोफेति । सु अधिकः शोफः श्वयथुः यस्या इति विग्रहः । 'शोफस्तु श्वयथुः' इत्यमरः । विकारजत्वादिति । रोगजत्वादित्यर्थः । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अतत्स्थं तत्र दृष्टं चेति । द्वितीयं स्वाङ्गलक्षणम् । तच्छब्देन प्राणी परामृश्यते । अतत्स्थम्-अप्राणिस्थं, तत्र-प्राणिनि, दृष्टं चेत् तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः । रथ्येति । रथ्यास्थानां केशानां प्राणिस्थत्वाभावात् पूर्वलक्षणेन स्वाङ्गत्वासिद्धेर्लक्षणान्तरमिति भावः । उक्तलक्षणमुदाहरणे योजयति—अप्राणिस्थस्यापीति । इदानीं प्राणिस्थत्वाभावेऽपि कदाचित् प्राणिस्थत्वादपि स्वाङ्गत्वमित्यर्थः । सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमेति । सु शोभनौ स्तनौ स्तनाकृती अवयवौ यस्या इति विग्रहः । प्रतिमागतयोः स्तनाकृतिकावयवयोः कदाचिदपि प्राणिस्थत्वाभावात् प्राण्यन्तरे अदृष्टत्वाच्च पूर्वलक्षणद्वयस्याप्रवृत्तेर्लक्षणान्तरमिदम् । तृतीयलक्षणं योजयति—प्राणिवदिति । सप्तम्यन्तादिति । प्राणिवत् प्राणिसदृशे प्रतिमादिद्रव्ये स्थितत्वात् स्वाङ्गमित्यर्थः । नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इत्यतो वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतो ङीषिति चानुवर्तते । तुङ्गनासिकी—तुङ्गनासिकेति । 'न क्रोडादिबह्वचः'

अङ्गेन, तद्-अप्राणिरूप वस्तु, तथा प्राणिवत्, युत = युक्त, चेत् = स्यात्, तदपि (प्राणिनि दृष्ट) स्वाङ्गमित्यर्थ) प्राणीकी तरह ही प्राणीमें स्थित हो । अतएव 'सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा' (सुन्दर स्तनोंवाली मूर्ति) यहाँ ङीष् सिद्ध हुआ ।

नोट—'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्०' इस सूत्रमें स्वस्य = अवयवीभूतस्य, अङ्गं स्वाङ्गम्' ऐसा स्वाङ्गका ग्रहण होगा तो 'सुमुखा शाला' यहाँ भी ङीष् हो जायगा—मुखस्य शालाङ्गत्वात् । किंच 'सुकेशी रथ्या' यहाँ पर ङीष् नहीं होगा—केशानां रथ्याङ्गत्वाभावात् । तस्मात् अव्याप्ति-अतिव्याप्ति वारणके लिये उक्त सूत्रमें त्रिविध स्वाङ्गोंका ग्रहण किया गया है ।

नासिको—नासिकान्त स्वाङ्गवाची उपसर्जनसे ङीष् हो, विकल्पसे ।

पुच्छाच्च—पुच्छान्त प्रातिपदिकसे स्त्रीलिंगमें ङीष् हो ।

सुपुच्छी, सुपुच्छा ॥ (कबरमणिविषशरेभ्यो नित्यम्) । कबरपुच्छी ॥ (उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च) उलूकपक्षी शाला । उलूकपुच्छी सेना ॥ न क्रोडादिबह्वचः ।४।१।५६। क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष् । कल्याणक्रोडा । आकृतिगणोऽयम् । सुजघना ॥ सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च ।४।१।५७। न ङीष् । सकेशा । अकेशा । विद्यमाननासिका ॥ नखमुखात्संज्ञायाम् ।४।१।५८। ङीष् न । शूर्पणखा । गौरमुखा । संज्ञायां किम् ? ताम्रमुखी कन्या ॥ वाहः ।४।१।६१। वाहन्तात् ङीष् । दित्यौही । दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे ॥ सख्यशिश्वीति भाषायाम् ।४।१।६२। सखी । अशिश्वी ॥ जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ।४।१।६३। जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततो ङीष् ॥ 'आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह' ॥१॥ तटी । वृषली । औपगवी । कठी । जातेः

इति बहुजलघणङीन्निषेधं बाधित्वा 'नासिकोदर' इति विकल्पः । पुच्छाच्चेति । संयोगोपधत्वेऽपि पुच्छशब्दान्तात् नित्यं ङीषिति वक्तव्यमित्यर्थः । कबरमणेति । कबरादिभ्यः परो यः पुच्छशब्दः तदन्तात् नित्यं ङीषिति वक्तव्यमित्यर्थः । उपमानादिति । उपमानात् परौ यौ पक्षपुच्छशब्दौ तदन्तादपि ङीषित्यर्थः । उलूकपक्षी शालेति । उलूकः पक्षिविशेषः, उलूकपक्षाविव पक्षौ पार्श्वे यस्या इति विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति समासः । संयोगोपधत्वादप्राप्ते विधिः । उलूकपुच्छी सेनेति । उलूकपुच्छमिव पुच्छं पश्चिमाङ्गं यस्याः इति विग्रहः । पूर्ववदेव बहुव्रीहिः । 'पुच्छाच्च' इति विकल्पस्यापवादः । वाहः । वाह इति पञ्चम्यन्तं प्राति-

---

कबरमणि—कबर आदिके परे पुच्छान्त प्रातिपदिकसे नित्य ही ङीष् हो ।

उपमानात्—उपमान वाचकसे पर पक्ष और पुच्छ शब्दान्त प्रातिपदिकसे नित्य ही ङीष् हो । न क्रोडादि—स्वांगवाचक जो क्रोडादि और बह्वच्, तदन्त प्रातिपदिकसे ङीष् नहीं हो । सहनञ्—सह, नञ् और विद्यमान पूर्वक प्रातिपदिकसे स्त्रीलिंगमें ङीष् नहीं हो । नखमुखात्—नख-मुखान्त प्रातिपदिकसे संज्ञामें ङीष् नहीं हो ।

वाहः—वाहन्त प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो ।

सख्य—भाषा (लोक) में सखी और 'अशिश्वी' ये दोनों ङीषन्त निपातित हों ।

जातेरस्त्री—नित्य स्त्रीलिङ्गसे भिन्न अयोपध जातिवाचीसे ङीष् हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

आकृतिग्रहणा जातिः—'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इस सूत्रमें त्रिविध जातिका ग्रहण होता है । उसमें प्रथम लक्षण (१) 'आकृतिग्रहणा जातिः'—आकृति (स्वरूप) देखनेसे ही जो जानी जा सके अर्थात् अनुगत-संस्थान (अवयवसन्निवेशविशेष) से ही जो अभिव्यंग्य हो सके, वह जाति कहलाती है । यथा-'तटी' 'घटी' आदि ।

किम् ? मुण्डा । अस्त्रीविषयात्किम् ? बलाका । अयोपधात्किम् ? क्षत्रिया ॥ (योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः) । हयी । गवयी । मुकयी । मनुषी । मत्सी ॥ **पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलबालोत्तरपदाच्च** ।४।१।६४। पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः स्त्रीविषयादपि ङीष् । ओदनपाकी । शङ्कुकर्णी । शालपर्णी । शङ्खपुष्पी । दासीफली । दर्भमूली । गोवाली । ओषधिविशेषे रूढा एते ॥ **इतो मनुष्यजातेः** ।४।१।६५। ङीष् । दाक्षी ॥ **ऊङुतः** ।४।१।६६। उकारान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् । कुरूः ॥ **पङ्गोश्च** ।४।१।६८। पङ्गूः ॥ (**श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च**) । चादूङ् । पुंयोगलक्षणङीषोऽपवादः । श्वश्रूः ।

पदिकाद्विपदस्त्रस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । पाककर्ण । 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—स्त्रीविषयादपीति । नियतस्त्रीलिङ्गत्वात् पूर्वेणाप्राप्तिरिति भावः । जातिवाचित्वं दर्शयितुमाह—ओषधिविशेषे रूढा इति । अवयवव्युत्पत्तिरहिता इत्यर्थः । श्वशुरस्येति । चकारात् ऊङनुकृष्यते । श्वशुरस्य स्त्री इत्यर्थे

---

(२) 'लिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' (असर्वलिङ्गत्वे सति एकस्यां व्यक्तौ कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा जातिरिति) जिससे सब लिंग नहीं होवे और एक व्यक्तिमें कहनेपर अन्य व्यक्तियोंमें बिना कहे ही जातिका ज्ञान हो सके—वह भी जाति कहलाती है । 'वृषलत्व' जातिके सिद्ध करनेमें प्रथम लक्षण साधक नहीं हो सका क्योंकि हस्ताद्यवयवसन्निवेश जैसा वृषल (शूद्र) में है, वैसा ही ब्राह्मणादियोंमें भी देखा जाता है । अतः 'लिङ्गानां च' इस द्वितीय लक्षण की आवश्यकता हुई । उदाहरण देखो 'वृषली' । यहां एक ही व्यक्तिमें 'वृषलत्व' का ज्ञान कराने पर उसके पुत्र, भाई आदिमें ज्ञान कराये बिना ही वृषलत्व जाति सुग्रह हो जाती है ।

(३) 'गोत्रञ्च चरणैः सह' (अपत्यप्रत्ययान्तं चकारात् शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः) अपत्य प्रत्ययान्त शब्द, और शाखाध्येतृवाची जो शब्द, वह भी जातिकार्यको प्राप्त हो । उदाहरण देखो 'औपगवी' और 'कठी' । यहां अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यत्वका अभाव है और उभयत्र सर्वलिङ्गता भी है । अतः 'गोत्रं च' इस तृतीय लक्षणकी भी आवश्यकता हुई ।

योपध—योपध (जातिलक्षण ङीष्) के प्रतिषेधमें हयादिका प्रतिषेध नहीं हो ।

पाककर्ण—पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल और बालोत्तर पदवाची प्रातिपदिकसे ङीष् हो, नित्य स्त्रीलिङ्ग होने पर भी । इतो मनुष्यजाते—इकारान्त मनुष्यजातिवाचीसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो । ऊङुतः—उकारान्त अयोपध मनुष्यजातिवाचीसे स्त्रीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्यय हो ।

पङ्गोश्च—पङ्गु शब्दसे स्त्रीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्यय हो ।

श्वशुरस्य—श्वशुर शब्दके उकार और अकारका लोप तथा चकारात् ऊङ् प्रत्यय भी हो, स्त्रीलिङ्गमें । ('पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्रसे प्राप्त ङीष्का अपवाद यह वार्तिक है)

ऊरूत्तरपदादौपम्ये ।४।१।६९। उपमानवाचिपूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्तस्मादूङ् । करभोरूः ॥ **संहितशफलक्षणवामादेश्च** ।४।१।७०। संहितोरूः ॥ **(सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्)** । सहितोरूः । सहोरूः ॥ **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** ।४।१।७३। शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् । शार्ङ्गरवी । बैदी ॥ **(नृनरयोर्वृद्धिश्च)** नारी ॥ **यङश्चाप्** ।४।१।७४। यङन्ताच्चाप् । आम्बष्ठ्या । कारीषगन्ध्या ॥ **(षाद्यञश्चाप् वाच्यः)** । पौतिमाष्या ॥ **आवट्याच्च** ।४।१।७५। अस्माच्चाप् । 'यञश्च' इति ङीपोऽपवादः । अवटशब्दो गर्गादिः । आवट्या ॥ **यूनस्तिः** ।४।१।७७। युवनशब्दात्तिः । युवतिः । अनुपसर्जनादित्येव । बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा । युवतीति तु यौतेः शत्रन्तात् ङीपि बोध्यम् । इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।



पुंयोगलक्षणे ङीपि प्राप्ते तदपवाद ऊङ्, तत्संनियोगेन रेफाद्वकारस्य शकाराद्वुकारस्य च लोप इत्यर्थः । श्वश्रूः । अत्र श्वशुरशब्दात् 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' इत्यनेन ऊङि, शकारोत्तरवर्त्युकारस्य अकारस्य च लोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते 'श्वश्रूः' इति रूपम् । ऊरूत्तर । ऊरुः उत्तरपदं यस्येति बहुव्रीहिः । प्रातिपदिकादित्यनुवर्तते । उत्तरपदेत्यनेन पूर्वपदमाक्षिप्तम् । औपम्ये इति तत्रान्वेति, उपमीयते अनयेत्युपमा—उपमानम्, उपमैव औपम्यं स्वार्थे ष्यञ् । तदाह—उपमानवाचीति । सहितेति । सहित सह आभ्यां परो यः ऊरुशब्दस्तस्मादपि ऊङ् स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः । पौतिमाष्येति । पूतिमाषस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ् । इति स्त्रीप्रत्ययाः ।



ऊरूत्तर—उपमानवाची पूर्वपदक जो ऊरूत्तरपदक प्रातिपदिक, उससे ऊङ् प्रत्यय हो स्त्रीलिंगमें । संहितशफ-संहित, शफ, लक्षण और वाम आदिमें है जिसके ऐसा जो ऊरूत्तरपदपरक प्रातिपदिक, उससे ऊङ् प्रत्यय हो स्त्रीलिंगमें । सहित—सहित और सहसे पर भी ऊरूत्तर प्रातिपदिकसे ऊङ् हो, स्त्रीलिंगमें । शार्ङ्गरवा—शार्ङ्गरवादिसे और 'अञ्' का जो अकार, तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिकसे ङीन् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । नृनरयोः—नृ और नर शब्द से ङीन् प्रत्यय तथा नृ और नरको वृद्धि भी हो, स्त्रीत्व द्योत्यमें । यङश्चाप्—यङन्त प्रातिपदिकसे चाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । षाद्यञश्चाप्—षकारसे पर यञन्त प्रातिपदिकसे चाप् प्रत्यय हो । आवट्याच्च—आवट्यसे चाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । यूनस्तिः—अनुपसर्जन युवन् शब्दसे स्त्रीलिङ्गमें 'ति' प्रत्यय हो और वह तद्धितसंज्ञक भी हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्त्रीप्रत्यय प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ वैदिकप्रकरणम्

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ।१।४।९। पतिशब्दो घिसंज्ञः । क्षेत्रस्य पतिना वयम् । इह 'वा' इति योगं विभज्य 'छन्दसि' इत्यनुवर्तते । तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः । 'बहुलं छन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः ॥ **अयस्मयादीनि च्छन्दसि ।१।४।२०।** एतानि छन्दसि साधूनि । भपदसंज्ञाधिकाराद्यथायोगं संज्ञाद्वयं बोध्यम् । तथा च वार्तिकम् **(उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम्)** । स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन । पदत्वात्कुत्वम् । भत्वाज्जश्त्वाभावः । नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु । अत्र पदत्वाज्जश्त्वं, भत्वात्कुत्वाभावः । 'ते प्राग्धातोः' ॥ **छन्दसि परेऽपि ।१।४।८१। व्यवहिताश्च ।१।४।८२।** हरिभ्यां याह्योक आ । आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि ॥ **तृतीया च होश्छन्दसि ।२।३।३।** जुहोतेः कर्मणि तृतीया स्याद् द्वितीया च । यवाग्वाऽग्निहोत्रं

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वेति । 'पतिः समास एव' इत्यतः पतिरित्यनुवर्तते । 'पतिः समास एव' इति नियमादसमासे न प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते-पतिनेति । घित्वात् 'आङो ना' इति नाभावः । षष्ठीति किम् ? 'मया पत्या जरदष्टिर्यथासः' । छन्दसीति किम् ? ग्रामस्य पत्ये । अयस्मयादीनि । आनन्तर्याद्भसंज्ञाद्वारेणैव निपातनं प्राप्तमित्याह—संज्ञाद्वयमिति । ननु 'अनन्तरस्य' इति न्यायं बाधित्वोभयसंज्ञाविधाने किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह—तथा च वार्तिकमिति । कुत्वमिति । 'चोः कुः' इत्यनेन । जश्त्वाभाव इति । 'झलां जशोऽन्ते' इति प्राप्तस्य । ते प्रागिति । व्याख्यातम् । अस्यापवादमाह–छन्दसीत्यादि । गत्युपसर्गसंज्ञकाश्छन्दसि परे प्रयोक्तव्याः, अपिशब्दात्पूर्वे । व्यव । व्यवहिता अपि गत्युपसर्गसंज्ञकाः प्रयोक्तव्याः । सूत्रद्वयस्योदाहरणे आह—हरिभ्यामित्यादि । आयाहीति प्राप्तम् । तृतीया च होश्छन्दसि । 'कर्मणि द्वितीया' इत्यतः कर्मणीति वर्तते । अत्र द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीया विधीयते, च-शब्दात्साऽपि भवति । तदाह—कर्मणीति । यवाग्वेति । अत्र यवागूशब्दात्तृतीया अग्निहोत्रशब्दाच्च द्वितीया । अग्निहोत्रशब्दो हविर्वाचकः । जुहोतिश्च प्रक्षेपणार्थः । यवाग्वभिन्नं हविरग्नौ प्रक्षिपतीत्यर्थः ।

षष्ठीयुक्तः—षष्ठ्यन्तसे युक्त पति शब्द घिसंज्ञक हो, विकल्पसे ।

अयस्मया—अयस्मयादि वेदमें साधु हों । उभयसंज्ञा—वेदमें भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों होती हैं । छन्दसि परेऽपि । व्यवहिताश्च—गतिसंज्ञक और उपसर्ग संज्ञक धातुसे पर और धातुसे व्यवहित भी प्रयोग हों, वेदमें । तृतीया—'हु' धातुके कर्ममें

जुहोति ॥ मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् ।३।२।७१। (श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यम्) । यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादो डस् वक्तव्य इत्यर्थः । श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः । उक्थानि उक्थैर्वा शंसति उक्थशा यजमानः, उक्थशासौ । पुरो दाश्यते दीयते पुरोडाः ॥ अवे यजः ।३।२।७२। अवयाः, अवयाजौ, अवयाजः ॥ अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च ।८।२।६७। एते संबुद्धौ कृतदीर्घा निपात्यन्ते । चादुक्थशाः ॥ लिङर्थे लेट् ।३।४।७। सिब्बहुलं लेटि ।३।१।३४। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ।३।४।९७। लेटस्तिङामितो लोपो वा स्यात् परस्मैपदेषु ॥ लेटोऽडाटौ ।३।४।९४। स्तो वा । तौ च पितौ ॥ (सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः) । वृद्धिः । प्र ण आयूंषि तारिषत् नुपेशस्करति जोषि-

---

मन्त्रे श्वेतवहो । श्वेतादिपूर्वेभ्यो वहादिभ्यो ण्विन् स्यात् । अलाक्षणिककार्यार्थं निपातनम् । श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे वहेः कर्मणि कारके ण्विन् प्रत्ययः उक्थे कर्मणि करणे चोपपदे शंसतेः प्रत्ययः नलोपश्च । पुरः पूर्वस्य दाशृ दाने इत्यादेर्द्वंवं कर्मणि च प्रत्ययः। डस्पदस्येति। प्रत्येकमभिसंबध्यते। भाविपदत्वाश्रयणेन चेदमुच्यते। तदाह-यत्र पदत्वं भावीति । हसन्तस्येत्यर्थः । श्वेतवा इति । श्वेता एव यं वहन्ति श्वेतवाः इन्द्रः । 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । उक्थशासाविति । नलोपे कृते 'अत उपधाया' इति वृद्धिः । अवे । योगविभाग उत्तरार्थः। पुरोडाशावयजोर्ण्विन् इत्येकयोगे श्वेतवहादीनामप्युत्तरत्रानुवृत्तिः स्यात् । यजेश्चावपूर्वस्यैवानुवृत्तिः स्यात्केवलस्यैवेष्यत इति । अवयाः श्वेतवाः । ननु मन्त्रे श्वेतवहेत्यादिना डसि कृते सौ 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घे कृते च श्वेतवा इत्यादिसिद्धे नार्थोऽनेन योगेनेत्याशङ्क्याह-एते सम्बुद्धाविति । संबुद्धौ हि 'अत्वसन्तस्य' इति न प्राप्नोति तत्रासम्बुद्धावित्यनुवर्तनात् । लिङर्थे लेट् । विध्यादौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्यात् छन्दसि । इतश्च लोप इति । लेटस्तिङामितो लोपो वा स्यात्परस्मैपदेषु । लेटोऽडाटौ । लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तस्तौ च पितौ ।

तृतीया और चकारात् द्वितीया भी हो । मन्त्रे—श्वेत उपपदक वह् धातुसे, उक्थ उपपदक शंस धातुसे तथा पुरस् उपपदक दा धातुसे ण्विन् प्रत्यय हो, मन्त्र में ।

श्वेतवहादीनां—श्वेतवहादिको जहाँ पदत्व की संभावना हो, वहाँ 'ण्विन्' का अपवादक 'डस्' प्रत्यय हो । अवे यजः—'अव' उपपदक यज् धातुसे ण्विन् प्रत्यय हो, मन्त्रमें ।

अवयाः—अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः—ये तीनों कृतदीर्घ निपातन हो, वेदमें ।

लिङर्थे—विध्यादि और हेतुहेतुमद्भावादि लिङर्थमें धातुसे लेट् लकार हो, वेदमें ।

सिब्बहुलं—धातुसे सिप् प्रत्यय हो, लेट्के परे, बहुल प्रकारसे । इतश्च—लेट् लकार सम्बन्धी 'तिङ्' के इकारका लोप हो, परस्मैपदके परे, विकल्पसे । लेटोऽडाटौ—लेट्को अट् तथा आट्का आगम हो, विकल्पसे और वे अट्-आट् पित् हों । सिब्बहुलं—सिप् प्रत्यय

पुधि । ग्रा सवितृदर्शसुनाय । सिप इलोपस्य चाभावे । पताति दिद्युत् । प्रिय सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति ॥ **स उत्तमस्य ।३।४।९८।** लेट उत्तमस्य वा लोपः । करवाव, करवाव । टेरेत्वम् ॥ **आत ऐ ।३।४।९५।** लेट आकारस्य ऐ स्यात् । मृतेभिः सुप्रयसा मादयैते । आतामि आकारस्य ऐ ॥ **वैतोऽन्यत्र ।३।४।९६।** लेट एकारस्य ऐ स्याद्वा । 'आत ऐ' इत्यस्य विषयं विना । परानामीशै । यदा गृह्णान्तै । अन्यत्र किम् ? सुप्रयसा मादयेते ॥ **उपसंवादाशङ्कयोश्च ।३।४।८।** पणबन्धे आशङ्कायां च लेट् । अहमेव पशूनामीशै । नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम ॥ **व्यत्ययो बहुलम् ।३।१।८५।** विकरणानां बहुलं व्यत्ययः स्याच्छन्दसि । आण्डा शुष्णस्य भेदति । भिनत्तीति प्राप्ते । जरसा मरते पतिः । म्रियत इति प्राप्ते । इन्द्रो वस्तेन नेषतु । नयतेर्लोट् । शप्सिपौ द्वौ विकरणौ । इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्, तरेमेत्यर्थः । तरतेर्विध्यादौ लिङ् । उः शप् सिप् चेति त्रयो विकरणाः ॥

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

पतातीति । 'स उत्तमस्य' इति सलोपः । भेदतीति । भिदिर्–विदारणे, रौधादिकः श्नमि प्राप्ते शप् । म्रियत इति । मृङ्–प्राणत्यागे । 'तुदादिभ्यः' इति शे कृते 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः, इयङ् । नेषत्विति । नयत्वित्यर्थः । द्वौ विकरणाविति । अत्र शप् स्वाभाव्यः । सिप् तु बाहुलकात् । एतेन 'सेमामविड्ढि' इत्यादि व्याख्यातम् । अव–रक्षणे । अस्माल्लोटि शपि प्राप्ते बाहुलकात् सिप् । हेर्धिः पररूपं ष्टुत्वम् । जश्त्वम् । तरुषेमेति । तरुष् मसिति जाते यासुट् 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' 'नित्यं ङितः' 'अतो येयः' 'लोपो व्योर्वलि' 'आद्गुणः' अत्रोप्रत्ययान्तस्य सिपं प्रत्यङ्गत्वात् 'सार्वधातुका' इति गुणः प्राप्तः । सिबन्तस्य शपि लघूपधगुणश्च प्राप्तो बाहुलकान्न भवति । सुप्तिङिति ।

---

* गिरा दो, बहुल प्रकारसे । स उत्तमस्य—लेट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुषके सकारका लोप हो, विकल्पसे । आत ऐ—लेट् लकारसम्बन्धी (आत्मनेपदके आताम् और आथाम् के आदि) आकारको ऐकार आदेश हो । वैतोऽन्यत्र—'आत ऐ' इस सूत्रके विषयको छोड़कर लेट् सम्बन्धी आकारको ऐकार आदेश हो विकल्पसे । उपसंवादा—उपसंवाद, पणबन्ध (शर्त, बाजी मारना) और आशङ्कामें लेट् लकार हो । व्यत्ययो—विकरणोंका व्यत्यय बहुल प्रकारसे हो, भेदति ।

सुप्तिङुपग्रह—सुप्, तिङ्, उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद), लिङ्ग, पुरुष, काल-

भुरि दक्षिणायाः। दक्षिणस्यामिति प्राप्ते। चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। तक्षन्तीति प्राप्ते। उपग्रहः—परस्मैपदात्मनेपदे। ब्रह्मचारिणमिच्छते। इच्छतीति प्राप्ते। प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति। युध्यत इति प्राप्ते। मधोस्तृप्ता इवासते। मधुन इति प्राप्ते। नरः—पुरुषः। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः। वियूयादिति प्राप्ते। कालः-कालवाची प्रत्ययः। श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन। लुटो विषये लृट्। तमसो गा अदुक्षत्। अधुक्षदिति प्राप्ते। मित्रं वयं च सूरयः। मित्रा वयमिति प्राप्ते। स्वरव्यत्ययस्तु वक्ष्यते, कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः, तथा च तद्वाचिनां कृत्तद्धितानां व्यत्ययः। अन्नादाय। अण्विषये। अच्। यङो यशब्दादारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' इति ङकारेण प्रत्याहारः॥ तेषां व्यत्ययो 'भेदति' इत्यादिरुक्त इव॥ **छन्दस्युभयथा।३।४।११७।** धात्वधिकारे उक्तः प्रत्ययः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यात्॥ वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः। वर्धयन्त्वित्यर्थः। आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः॥ विशृण्विरे।

शास्त्रकृत्पाणिनिराचार्य एषां सुप्प्रभृतीनां व्यत्ययमिच्छति। सोऽपि तथाविधो बाहुलकेन सिद्धयति। बहुलस्य भावो बाहुलकम्। मनोज्ञादित्वाद् वुञ्। तत्पुनर्बहुलशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं बह्वर्थादानत्वं, चशब्दो हेतौ। यस्मादेवम् प्रकारो व्यत्ययो बहुलग्रहणेनैव सिद्धयति, तस्माद्बहुलग्रहणं कृतमित्यर्थः। वियूया इति। 'यु मिश्रणे' विपूर्वः। आशिषि लिङ्। आधास्यमानेनेति। आङ्पूर्वाद्दधातेः 'लृटः सद्वा' इत्यनेन शानजादेशः। 'स्यतासी' इति स्यः। 'आने मुक्' इति मुक्। मित्रवयमिति। दीर्घस्य ह्रस्वव्यत्ययः। स्वरव्यत्ययस्त्विति। गन्तामिव श्रियसे इत्यत्र 'तुमर्थे' इत्यनेन वसेनि कृते 'ञ्नित्यादि' इत्याद्युदात्ते प्राप्ते व्यत्ययेन मध्योदात्तता। कृत्तद्धितानामिति। 'तेन दीव्यति' इत्यादौ विधीयमानानां ठगादीनां देवनादिकर्तृत्वादेवमुक्तम्। न त्विह कारकवाचित्वेऽप्याग्रहः, कृत्तद्धितमात्रे तात्पर्यात्। तथा च क्तिो विहितो दत्तिर्बहुल्यादपि भवति। 'त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः'। 'विश्वेदेवासो मरुतो यतिष्ठन'। अन्नादाय इति। अन्नमत्तीत्यन्नादस्तस्मै, अन्ने कर्मण्युपपदेऽदेः कर्मण्यणि प्राप्तेऽच्।

(कालवाची प्रत्यय), हल्, अच्, स्वर, कर्तृ (कारकवाची कृत—तद्धित) और 'यङ्, (यङ्के यकारसे लेकर 'लिङ्याशिष्यङ्'के ङकार पर्यन्त 'यङ्' प्रत्याहार) इनका शास्त्रकार वेदमें व्यत्यय चाहते हैं, और वह व्यत्यय बहुलप्रकारसे सिद्ध होता है।

छन्दस्युभयथा—वेदमें धात्वधिकारोक्त जो २ प्रत्यय हैं, वे सार्वधातुक और आर्धधातुक उभयसंज्ञक हों।

सार्वधातुकत्वात् श्नः श्नाभावः, हुश्नुवोरिति यण् ॥ **तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ।३।४।९।** से,-वक्षे राय । सेन्, ता वामेषे । असे, शरदो जीवसे धा । असेन्, नित्वादाद्युदात्त । क्से, प्रेषे । कसेन्, गवामिव श्रियसे । अध्यै-अध्यैन्, जठरं पृणध्यै । पक्षे आद्युदात्तम् । कध्यै-कध्यैन्, आहुवध्यै । शध्यै, राधस , सहमादयध्यै । शध्यैन्, वायवे पिबध्यै । तवै, दातवा उ । तवेङ्, सूतवे । तवेन्, कर्तवे ॥ **प्रयैरोहिष्यै अव्यथिष्यै ।३।४।१०।** एते निपात्यन्ते । प्रयातुं-रोढुम्, अव्यथितुमित्यर्थः ॥ **दृशे विख्ये च ।३।४।११।** निपात्यौ । द्रष्टुं, विख्यातुमित्यर्थः । **कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ।३।४।१४।** धातोरेते स्युः ॥ तवै । अन्वेतवै । केन् । अवगाहे । केन्य । दिदृक्षेण्य ।

छन्दस्युभयथेति । लिङः सार्वधातुकत्वाच्छ्नाभावः, तेन धासुट इत्यादेश, यकि लोप । तुमर्थे । तुमुनोऽर्थस्तुमर्थो भाव । ननु 'कर्तरि कृत्' इति वचनात् कर्तरि तुमुनो विधानात् कथ भावोऽर्थं इति चेच्छृणु । 'अव्ययकृतो भावे' इति वचनात्तुमुनो भावे विधानात् । तुमर्थे पञ्चदश प्रत्यया भवन्ति । वक्षे इति । वच से कुत्वे षत्वम् । कष सयोगे च । एषे इति । इणो गुण । नकारो 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तार्थः । प्रेषे इति । इण से किन्वादगुणे आद्गुण । श्रियसे इति । इयङ् नित्वादाद्युदात्त । इह मन्त्रे मध्योदात्त पठ्यते । तत्र बाहुलकात्प्रत्ययस्वरो बोध्य । आहुवध्यै इति । जुहोतेः रूपम् । मादयध्यै इति । मदी हर्षे, ण्यन्ताच्छध्यैप्रत्यय । तस्य भाववाचिसार्वधातुकत्वमसार्वधातुके यकि प्राप्ते व्यत्ययेन शप् गुणायादेशौ । पिबध्यै इति । अत्रापि यवमसगे व्यत्ययेन शप् । 'पाघ्रा' इति पिबादेश । दातवा उ इति । ददातेस्तवै आयादेशे 'लोप शाकल्यस्य' इति यलोपः । सूतवे इति । ङित्वान्न गुण । कर्तवे इति । कृञो गुण । कर्तुमित्यर्थः । प्रयै । प्रपूर्वाद्यातेः कैप्रत्यय । रुहेरिष्यै प्रत्यय । नञ्पूर्वाद्व्यथेश्च । दृशे । योगविभागश्चिन्त्यप्रयोजन । दृशे ख्यातेश्च कैप्रत्यय । किन्वाद् दृशेर्न गुण । ख्यातेरालोपश्च । कृत्यार्थे । कृत्यानामर्थो भावकर्मणी, तयोरेवेति कृत्यानां भावकर्मणोर्विधानात्, तत्र एते प्रत्यया स्युः । यद्यपि कृत्यानामर्थो 'अर्हताम' इत्यादौ

तुमर्थे—तुमर्थ (भावार्थ) में धातुसे से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् और तवेन् प्रत्यय हों, वेदमें ।

प्रयै रोहिष्यै—प्रयै आदि तुमर्थमें भी निपातित हों, छन्दमें । दृशे विख्ये—दृशे, विख्ये इन दोनों का तुमर्थमें निपातन हो, वेदमें । कृत्यार्थे—कृत्य प्रत्यय के अर्थमें धातुसे तवै, केन्, केन्य और त्वन् प्रत्यय हों, वेदमें ।

त्वन् । कर्त्वम् ॥ **सृपितृदोः कसुन्** ।३।४।१७। तुमर्थे। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्। पुरा जत्रुभ्य आतृदः ॥ **प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे** ।६।१।११५। ऋक्पादमध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादति परे, न तु वकारयकारपरेऽति । उपप्रयन्तो अध्वरम्। सुजाते अश्वसूनृते। अन्तःपादं किम्? एतास एतेऽर्चन्ति। अव्यपरं किम्? तेऽवदन् ॥ **अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च** ।६।१।११६। एषु व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या। वसुभिर्नो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात्। मा शिवासो अवक्रमुः। ते नो अव्रत। शतधारो अयं मणिः। ते नो अवन्तु। कुशिकासो

कर्तापि यद्यं स्नानीयमित्यादौ करणादिरपि, तथापि न तत्र कृत्यत्वेन कर्त्रादिषु विधानं, किं तर्हि स्वरूपेण। कृत्यतया विधानं तु भावकर्मणोरेवेति भावः। अवगादे इति। गाहू विलोडने। दिदृक्षेण्य इति। दृशेः सन्नन्तात्केन्यः। अतो लोपः। कर्त्वमिति। कृञः त्वन्। कार्यमित्यर्थः। यद्यपि 'तुमर्थे सेसेन्' इत्यनेन तुमर्थे तवै विहितस्तथापि भावमिन्नेऽपि कर्मकारके तवै यथा स्यादित्येवमर्थम्। सृपितृदोः। सृप्लृ—गतौ। उतृदिर्-हिंसानादरयोः। भावलक्षणेऽर्थे वर्तमानयोः सृपितृदोस्तुमर्थे कसुन्। विसृप इति। गमनादित्यर्थः। प्रकृत्या। पादस्य मध्ये इत्यन्तःपादमित्यव्ययीभावः। अन्तरित्यव्ययमधिकरणशक्तिप्रधानं मध्यमाचष्टे। पादश्चेह ऋक्पाद एव गृह्यते न श्लोकस्य। 'वा छन्दसि' इत्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीति वर्तते। तेनास्य वैदिकत्वं सम्पद्यत इत्याशयेनाह—ऋक्पादमध्यस्थ इति। 'एङः पदान्तात्' इति सूत्रादेङः इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यतेऽन्यस्य कार्यिणोऽसम्भवादित्यभिप्रेत्याह—एङः प्रकृत्येति। सन्धिरूपं विकारं न यातीत्यर्थः। उपप्रयन्तो अध्वरमिति। 'एङः पदान्तादति' इति प्राप्तम्। अन्तःपादं किमिति। ऋग्वीत्येव किं नोक्तमित्यर्थः। एतेऽर्चन्तीति। 'कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया' इति। अत्र एते इति पादस्यान्ते एङस्ति, अकारश्च परस्य पादस्यादाविति तन्निमित्तनिमित्तयोः पादामध्यस्थत्वमिति सत्यपि ऋक्त्वे न प्रकृतिभावः। अव्यात्। एषामनुकरणत्वात्सुबन्तेन समासः। अव रक्षणे, आशीर्लिङ्। अवद्यादिति पञ्चम्येकवचनान्तम्। अवक्रमुरिति। अवपूर्वस्य क्रमेर्लि-

---

सृपितृदोः—तुमर्थ (भावलक्षण) में वर्तमान सृपि और तृद् धातुसे कसुन् प्रत्यय हो, वेदमें। प्रकृत्यान्तः—ऋक् पाद मध्यस्थ जो एङ्, वह अत्के परे प्रकृतिवत् रहे। किन्तु वकार-यकार परक अत्के परे यह प्रकृतिभाव नहीं हो।

अव्यादवद्या—अव्यात, अवद्यात्, अवक्रमु, अव्रत, अयम्, अवन्तु और अवस्यु सम्बन्धी वकार-यकार परक अत्के परे एङ् प्रकृतिवत् रहे, वेदमें।

।

अवस्यवं ॥ **सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः** ।७।१।३९। ऋजवः सन्तु पन्थाः । पन्थान इति प्राप्ते । परमे व्योमन् । व्योमनीति प्राप्ते ॥ धीती मती सुष्टुती । धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्णः । या सुरथा रथीतमोभा । यौ सुरथाविति प्राप्ते आ । नताद् ब्राह्मणम् ॥ नतमिति प्राप्ते आत् । याद्देव विद्यतार्त्वा । यमिति प्राप्ते । न युष्मे वाजबन्धवः, अस्मे इन्द्राबृहस्पती, युष्मासु अस्मभ्यमिति प्राप्ते शे । उरुया, धृष्णुया । उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते या । नाभा पृथिव्या । नाभाविति प्राप्ते डा । ता अनुष्ठयोच्यावयतात् । आढो ड्या । साधुया, साध्विति प्राप्ते याच् । वसन्ता यजेत । वसन्त इति प्राप्ते आल् ॥ **(इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्)** । उर्विया । उरुणेति प्राप्ते इया । सुक्षेत्रिया । सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच् ।

भ्युसि द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वा वचनम् इति द्विर्वचनाभावे रूपम् । अवतेति । धृङ्बृञो 'मन्त्रे घस–' इति च्लेर्लुक् । 'आत्मनेपदेषु' इति झस्य अदादेशः । वयमिति । इदम' सौ 'इदोऽय् पुंसि' । अवतेर्लोट्—अवन्तु । अवस्यव इति । अवेरसुन् औणादिकः । ततः क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' इत्यु । सुपाम् । सुपां स्थाने सुलुक्पूर्वसवर्णआआत्शेयाडाड्यायाजाल एते आदेशाः स्युश्छन्दसि । पन्था इति । 'व्यत्ययो बहुलम्' इत्येव सिद्धमिदम् । उक्तं हि तत्र 'सुप्तिङुपग्रह' इत्यादि तस्यैवायं प्रपञ्चः । धीतीत्यादि । धीतीमतीसुष्टुतीशब्देभ्यस्तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णः ईकारः प्रमाणतः आन्तर्यात् सवर्णदीर्घत्वम् । यौ सुरथाविति प्राप्त आ । अनेनाविरथाकारोऽपि प्रश्लिष्यत इति दर्शितम् । नतादिति । नतशब्दादम् । तस्यादादेशः । 'न विभक्तौ तु' इतीत्संज्ञाप्रतिषेधः । या देवेत्यादि । यच्छब्दादम् । न युष्मे इति । युष्मद् सप्तमीबहुवचनस्य शे आदेशः । शेषे लोपः । अस्मे इत्रेति । शे इति प्रगृह्यत्वादयादेशाभावः । नाभा इति । डित्वाट्टिलोपः । ता अनुष्ठयेति । षड्विंशतिरस्य वङ्क्रय इति प्रक्रम्य इदमध्वर्युमैषे पठितं, ता वङ्क्रीः अनुष्ठ्या अनुष्ठानेन अनुक्रमेण गणनया गणयित्वा उच्यावयतात् भवान् विशसनं करोतु । पृथक् करोतु भवानित्यर्थः । साधु इति प्राप्ते इति । सोर्लुकि प्राप्त इत्यर्थः । वसन्ते इति प्राप्ते आल् इति । पूर्वसवर्णे तु 'अतो गुणे' इति स्यात् । उर्वियेति । उरुशब्दात्तृतीयैकवचनस्येयादेशः । सुक्षेत्रियेति । सुक्षेत्रिन्शब्दात्तृतीयै-

---

सुपां सुलुक्—'सुप्' के स्थानमें 'सु' लुक्, पूर्वसवर्ण (दीर्घ), आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् आदेश हों, वेदमें ।

इयाडियाच्—सुप्के स्थानमें इया, डियाच् और ईकार आदेश हों, वेदमें ।

'दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्'। सरस्यामिति प्राप्ते ई॥ **आज्जसेरसुक् ।७।१। ५०।** ब्राह्मणासः॥ **(तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्)** तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम। विष्वं पश्य। विषुवं पश्य। स्वर्गो लोकः। सुवर्गो लोकः। त्र्यम्बकम्। त्रियम्बकम्। वरेण्यम्। वरेणिम्। 'अतो भिस ऐस्'॥ **बहुलं छन्दसि ।७।१।१०।** अग्निर्देवेभिः॥ **मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः।६।४।१४१।** आत्मन्शब्दस्यादेर्लोप आङि। त्मना देवेषु। अर्पाभि॥ **(मासश्छन्दसीति वक्तव्यम्)**। माद्भिः। शरद्भिः॥ **प्रसमुपोदः पादपूरणे ।८।१।६।** एषां द्वे स्तः पादपूरणे। प्रप्रायमग्निः। संसमिधुवसे। उपोप मे परामृश। किं नोदुदु हर्षसे॥ **षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ।८।३।५३।** विसर्गस्य सः स्यात्। वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्। दिवस्पुत्राय सूर्याय। दिवस्पृष्ठं भन्दमानः। तमसस्पारमस्य। परीवीत। इडस्पदे। दिवस्पयो दिधिषाणाः। रायस्पोषं यजमानेषु। इति वैदिकप्रकरणम्।

कवचनस्य ङियाजादेशः। ङित्वाट्टिलोपः। आज्जसेः। जसेरिति पूर्वाचार्यानुरोधेन निर्देशः। ब्राह्मणासः। असुकि कृते असः सकारस्य श्रवणम्। असुकः सकारस्य विसर्गः। तन्वादीनाम्। बहुलमियङुवङादेशः स्यांच्छन्दसि। तनुवमिति। अधातुत्वाद-प्राप्त उवङ् विधीयते। तन्वमिति। 'वा छन्दसि' इत्यमि पूर्वरूपाभावे यण्। त्र्यम्बकमिति। त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्यासौ त्र्यम्बको रुद्रः। माद्भिरिति। 'पद्दन्नोमास' इति मासशब्दस्य मास्आदेशः। प्रसमुपोदः पादपूरणे। समाहारद्वन्द्वः। समासान्त-विधेरनित्यत्वाद् 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' इति न टच्। इति वैदिकप्रकरणम्।

आज्जसे—अवर्णान्त अङ्गसे पर जस्को असुक् का आगम हो। तन्वादीनां—तन्वादिको वेदमें इयङ्-उवङ् आदेश हो। बहुलं—वेदमें अदन्त अङ्गसे पर भिस्को ऐस् आदेश हो, बहुल प्रकारसे। मन्त्रेष्वाङ्यादे—मन्त्रमें आतमन् शब्दके आदिका लोप हो।

मासश्छन्दसि—वेदमें मास् शब्दको तकारान्त आदेश हो, मादि प्रत्ययके परे।

प्रसमुपोदः—पादपूरणार्थक प्र, सम्, उप और उदको द्वित्व हो, वेदमें। षष्ठ्याः—वेदमें षष्ठी संबन्धी विसर्गको सत्व हो, पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोषके परे।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें वैदिकप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ स्वरप्रकरणम्

धातोः ।६।१।१६२। अन्त उदात्तः स्यात् ॥ **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** ।६।१।१५८। परिभाषेयं स्वरविधिविषया । यस्मिन्पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं स्यात् । गोपायतं नः । अत्र 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे धातुस्वरेण यकाराकार उदात्तः । शिष्टमनुदात्तम् ॥ **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** ।८।४।६६। इति तकाराकारः स्वरितः ॥ **स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्** ।१।२।३९। एकश्रुतिः स्यात् । इति नकाराकारः प्रचयः ॥ **अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः** ।६।१।१६१। यस्मिन्ननुदात्ते उदात्तो

अनुदात्तं पदम् । परिभाषेयमिति । नाधिकारोऽस्वरितत्वात् । 'आद्युदात्तश्च', 'समानोदरे शयित ओ चोदात्तः' इत्यादीनामसंग्रहश्च स्यात् । परिभाषाया लिङ्गापेक्षामाह—स्वरविधीति । सूत्रे अनुदात्तशब्दोऽर्शआद्यजन्तः, पदसामानाधिकरण्यात् । अत्रानुदात्तस्य क्रियमाणत्वात् तद्भिन्न उदात्तः स्वरितो वा वर्ज्यत इत्याह—तमेकमिति । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यस्योदात्तस्वरितविधानं तस्यैव वर्जनम् । एकग्रहणं विधीयमानस्योपलक्षणम् । तेन 'तवै चान्तश्च युगपत्' इति द्वयोर्वर्जनम् । इन्द्राबृहस्पती इत्यत्र 'देवताद्वन्द्वे च' इति सूत्रेण पदद्वयस्यापि प्रकृतिस्वरे विधेये त्रयाणां वर्जनम् । बृहस्पतिशब्दो हि वनस्पत्यादित्वाद्द्व्युदात्त इति स्थितम् । गोपायतमिति । गुप इत्यस्य 'धातोः' इत्यन्त उदात्तः । ततः आय प्रत्ययः 'आद्युदात्तश्च' इति प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः । ततः 'सनाद्यन्ताः' इति धातुसंज्ञायां 'धातोः' इति यकाराकार उदात्तः । स च प्रागुक्तयोरुदात्तयोः सतोः पश्चात्प्रवृत्तत्वात्सतिशिष्टः अतो बलवान् । तस्य । 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनेनानुदात्तेन शपकारेण सह 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इत्युदात्तः । थसस्तमादेशः । तस्य 'तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्' इत्यनेनादुपदेशात्परत्वादनुदात्तत्वम् । तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य' इति स्वरितः । उदात्तादनुदात्तस्य । अत्र 'तयोर्य्वावचि' इत्यतः संहितायामित्यनुवर्तते, तेन पदकालेऽनुदात्तमेव । स्वरितेति । अनुदात्तानामिति । जातौ बहुवचनम् । तेनैकस्य द्वयोर्बहूनां च भवति । एकस्य यथेति । द्वयोः 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि । अनुदात्तस्य । देवशब्दोऽच्प्रत्ययान्त

धातो—धातुका अन्त उदात्त हो। अनुदात्त—जिस पदमें जिस (अच्) को उदात्त अथवा स्वरित विधान किया है, उस एक ही 'अच्' को छोड़कर उस पदके अवशिष्ट सभी अच् अनुदात्त होते हैं। उदात्तादनुदात्तस्य—उदात्तसे पर जो अनुदात्त, वह स्वरित हो।

स्वरितात्—स्वरितसे पर अनुदात्तको एकश्रुति (प्रचय) स्वर हो, संहितामें।

अनुदात्तस्य च—जिस अनुदात्त अच्के परे उदात्त अच्का लोप हुआ हो, उस अनुदात्तको उदात्त आदेश हो।

लुप्यते तस्योदात्तः। देवीं वाचम्। अत्र ङीबुदात्तः॥ **आद्युदात्तश्च** ।३।१।३। प्रत्ययस्याद्युदात्तः स्यात्। कर्तव्यम्॥ **अनुदात्तौ सुप्पितौ** ।३।१।४। पूर्वस्यापवादः। यज्ञस्य। न यो युच्छति। शप्तिपोरनुदात्तत्वे स्वरितप्रचयौ॥ **चितः** ।६।१।१६३। अन्त उदात्तः स्यात्॥ **(चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्)**। चिति प्रत्यये सति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्त उदात्तो वाच्य इत्यर्थः। नभन्तामन्यके समे। यके सरस्वतीमनु। तुकत्सुते॥ **तद्धितस्य** ।६।१।१६४। चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः। पूर्वेण सिद्धे ञित्स्वरबाधनार्थम्। कौञ्जायनाः। **कितः** ।६।१।१६५। कितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः। यदाग्नेयः॥ **तित्स्वरितम्** ।६।१।१८५। क्वं नूनम्॥ **उपोत्तमं रिति** ।६।१।२१७। रित्प्रत्ययान्तस्योपोत्तममनुदात्तं स्यात्। यदाहवनीये॥ **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** ।६।१।१९७। ञिदन्तस्य निदन्तस्य चादिरुदात्तः। यस्मिन्विश्वानि पौंस्या। पुंसः कर्मणि ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्।

स्वात् 'चितः' इत्यन्तोदात्तः। पचादिषु देवडिति पाठात् 'टिड्ढा' इति ङीप्। तस्य 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनुदात्तत्वे 'यस्येति च' इत्यकारलोपः। कर्तव्यमिति। तव्यप्रत्ययः। तव्यतस्तु तित्त्वात्स्वरितो वक्ष्यते। युच्छतीति। युच्छ प्रमादे। 'धातोः' इत्यन्तोदात्तः। ततः परः शप् 'उदात्तादनुदात्तस्य' इति स्वरितः। 'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' इति तिपः प्रचयः। चितः सप्रकृतेरिति। नन्विदं कथं लभ्यमिति चेच्छृणु। चित इत्यवयवादेषा षष्ठी, न कार्यिणः। चिद्योऽवयवस्तस्य सम्बन्धी यः स कार्यी। अथवा चिदस्यास्ति स चितः। अर्शआदेराकृतिगणत्वादच् प्रत्ययः। षष्ठ्यर्थे प्रथमा। तेन चिद्वतः समुदायस्येत्यर्थः। अत्र च लिङ्गमकचश्चित्करणम्। अन्यथा तस्यैकाच्त्वादनर्थकं तत्स्यात्। अन्यके इति। 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यकच्। ततः परा टिरुदात्ता। एवं यके तकदित्यत्रापि यत्तच्छब्दादकच्। बहुच उदाहरणं तु बहुपटवः इत्यादि।

आद्युदात्तश्च—प्रत्ययके आदि उदात्त हो। अनुदात्तौ—सुप् तथा पित् प्रत्यय अनुदात्त हो।

चितः—चित्के अन्त उदात्त हो।

चितः सप्रकृतेः—चित् यदि प्रत्यय हो तो, प्रकृति-प्रत्यय समुदायके अन्त उदात्त हो ऐसा (बहुच् और अकच् प्रत्ययके लिये) कहना चाहिये।

तद्धितस्य—तद्धितसम्बन्धी चित्का अन्त उदात्त हो। कितः—तद्धितसम्बन्धी कित्का अन्त उदात्त हो। तित्स्वरितम्—तित् स्वरित हो।

उपोत्तमं—रित् प्रत्ययान्तका उपोत्तम (अन्त्य अच्से पूर्व अच्) अनुदात्त हो।

ञ्नित्यादिर्नित्यम्—ञिदन्त और निदन्तका आदि उदात्त हो।

सुतेदधिष्व नुश्चन । चायतेरसुन् । चायेरन्ने ह्रस्वश्चेति चकारादसुनो नुडागमः ॥ ञ्निति ।६।१।१९३। इत्यादिप्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं स्यात् । चिकीर्षक । अत्र ईकारस्योदात्तता । इत्यादिप्रयोगमनुसृत्यान्वाख्यातव्यम् । इति स्वरप्रक्रिया ॥

एवा वरदराजेन बालानामुपकारिका ।
अकारि पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदी ॥ १ ॥
कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी ।
तस्याः संख्या तु विज्ञेया ग्रन्थाणकरवाक्षिभिः ॥ २ ॥

इति श्रीवरदराजकृता मध्यसिद्धान्तकौमुदी समाप्ता ॥



चिकीर्षक इति । सन्नन्तात्ण्वुल् तस्याकादेशः । सनोऽतो लोपः । ककारेकार उदात्तः । न चाल्लोपस्य स्थानिवत्त्वम्, स्वरविधौ तन्निषेधात् ।

इति श्रीकौण्डिन्यकुलावतंसजोशीत्युपाह्वदामोदरात्मजपण्डितसदाशिव
शास्त्रिकृतेयं 'सुधा' टीका समाप्ता ।



ञ्निति—ञित् प्रत्ययके परे पूर्व उदात्त हो ।

ग्रन्थकार महामहोपाध्याय श्री वरदराज भट्टाचार्यने बालकोंके उपकारार्थ पाणिनीय व्याकरणको सरलतासे बतलानेवाली इस 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' को बनाया है ॥ १ ॥

वरदराज भट्टाचार्य कृत इस 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' की ग्रन्थसंख्या अनुष्टुप् छन्दके मानसे ३२५० है ॥ २ ॥

चञ्चच्चन्द्रमरीचिचारुवदनी विश्वोरुकान्तामणि-
र्भक्तिश्रद्धाप्रसादिताऽऽशुगिरिजा संराजमानाऽवनिम् ।
शुद्धां स्वच्छमना निधाय हृदये यस्यु ममत्त मुदं
तीर्थद्वारप्रयागदेवसरितस्तीरे पपुर्या जहौ ॥
सेयं स्वर्गसुधागलन्मधुरतां मन्दं पिबन्तीयहो ?
स्त्रीयोत्पत्तिसुकीर्तिपूतमिथिला सीतासमा धीमती ।
नाम्ना 'चेन्दुमती' प्रसन्नवदना दिव्यप्रभावा चिरं
लोकानामनुरञ्जिनी विलसतु स्वर्गे सुधावर्षिणी ॥

इति 'दरभङ्गा' मण्डलान्तर्गत 'तरौनी' ग्रामवासिशास्त्रार्थदिवाकरपण्डितराज,
श्रीजयदत्तशाशर्मात्मजपण्डितश्रीमदनन्तलालशर्मसूनुना पण्डितश्रीराम
चन्द्रसाम्याकरणाचार्येण विरचिता 'इन्दुमती' टीका समाप्ता ।



लिङ्गानुशासनम्

अथ स्त्रीलिङ्गाधिकारः

॥*॥ लिङ्गम् । स्त्री । अधिकारसूत्रे एते ॥ ऋकारान्ता मातृदुहितृस्वसृयातृननान्दरः ।१। एते पञ्चैव स्त्रीलिङ्गाः ॥ अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः ।२। अनिप्रत्ययान्त ऊप्रत्ययान्तश्च धातुः स्त्रियां स्यात् । अवनिः । चमूः ॥ मिन्यन्तः ।३। मिनिप्रत्ययान्तः स्त्रियाम् । भूमिः । ग्लानिः ॥ क्तिन्नन्तः ।४। कृतिरित्यादि ॥ ईकारान्तश्च ।५। लक्ष्मीः । ऊङाबन्तश्च ।६। कुरूः । अजा । य्वन्तमेकाक्षरम् ।७। श्रीः । भूः ॥ विंशत्यादिरा नवतेः ।८। इयं विंशतिः ॥ तल-

---

लिङ्गम् । स्त्री । अधिकारसूत्रे इति । उभयोरधिकारसूत्रत्वेऽपि 'लिङ्गम्' इत्याशास्त्रसमाप्तेः, द्वितीयस्तु 'ताराधारा' इति यावदिति विवेकः । 'उणादयो बहुलम्' इति संगृहीतसाधुत्वकानां व्युत्पन्नत्वं शास्त्रान्तरे प्रसिद्धमिति तदभिप्रायेणाह—अन्यू इत्यादि । अवनिः । 'अर्तिसृधृधम्यश्यवितृभ्योऽनिः' इत्यनिः । चमूरिति । 'कृषिचमितनिधनिसर्जिभ्य ऊः' इत्यूः । ऊः, अत्र वकारस्य 'छ्वोः' इत्यूठ् । मिन्यन्तः । भूमिः । 'नियो मिः' इत्यतो मिरित्यनुवर्त्य विहितो 'भुवः कित्' इति निः । ग्लानिः । 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' इति निः । ईकारान्तश्च । अत्र ईकारः प्रत्यय एव पूर्वोत्तरसाहचर्यात् । लक्ष्मीरिति । अत्र 'लक्षेर्मुट् च' इति सूत्रे 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' इत्यतः ईरित्यस्यानुवृत्त्या ईकारः प्रत्ययः । ऊङाबन्तश्च । ऊङुतः' इत्यूङ् । आब्ग्रहणेन टाप्डाप्चापां ग्रहणम् । य्वन्तमेकाक्षरम् । ईकारोऽत्रप्रत्ययः ऊकारसाहचर्यात् । विंशत्यादिरानवतेरिति ।

लिङ्गम्—लिंगानुशासन समाप्तिपर्यन्त इस सूत्रका अधिकार है । स्त्री—'ताराधारा' इस स्त्र्यधिकारान्त सूत्र पर्यन्त इस सूत्रका अधिकार है । ऋकारान्ता—मातृ, दुहितृ, स्वसृ, यातृ, ननान्दृ—ये पाँचो ऋकारान्त शब्द स्त्रीलिंग हों । अन्यूप्रत्ययान्तो—'अनि' प्रत्ययान्त और 'ऊ' प्रत्ययान्त धातु स्त्रीलिंग हों । मिन्यन्तः—'मि' और 'नि' प्रत्ययान्त धातु स्त्रीलिंग हों । क्तिन्नन्तः—'क्तिन्' प्रत्ययान्त धातु स्त्रीलिंग हों । ईकारान्त—'ई' प्रत्ययान्त धातु भी स्त्रीलिंग हों । ऊङाबन्त—'ऊङ्' प्रत्ययान्त और आप् (डाप् तथा चाप्) प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग हों । य्वन्तमेका—'ई' और 'ऊ' प्रत्ययान्त एकाक्षर शब्द स्त्रीलिंग हों ।

विंशत्यादि—विंशति (और विंशत्यन्त) से लेकर नवति (और नवत्यन्त) पर्यन्त संख्यावाचक शब्द स्त्रीलिंग हों । तलन्तः—'तस्य भावस्त्वतलौ' इस सूत्र-विहित 'तल्' प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग हों ।

न्तः ।९। शुक्लता ॥ भास्स्रुक्स्रग्दिगुष्णिगुपानह्‌ः ।१०। इयं भाः ॥ स्थूणोर्णे नपुंसके च ।११। स्थूणा, स्थूणम् ॥ शष्कुलिराजिकुट्यशनिवर्तिभ्रुकुटित्रुटिवलिपङ्क्तयः ।१२। एतेऽपि स्त्रियां स्युः । इयं शष्कुलिः ॥ अप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च ।१३। अबादीनां पञ्चानां स्त्रीत्वं स्याद्बहुत्वं च । आप इमाः ॥ तारधाराज्योत्स्नादयश्च ।१४। इयं तारा ॥ इति स्त्र्यधिकारः ॥

—o—

अथ पुंल्लिङ्गाधिकारः

पुमान् । अयमधिकारः ॥ घञबन्तः ।१। पाकः । करः । भावार्थ एवेदम् ॥ घाजन्तश्च ।२। विस्तरः । चयः ॥ भयलिङ्गभगपदानि नपुंसके ।३। भय-

---

विंशत्यादयः 'पङ्क्तिविंशति'-इति सूत्रनिर्दिष्टाः । तलन्तः । 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति सूत्रविहिततल्प्रत्ययान्तः स्त्रियां स्यात् । भा स्रुक्स्रगिति । एते स्त्रियां स्युः । इयं भा इत्यादि । स्थूणोर्ण इति । एते स्त्रियां क्लीबे च स्तः । इति स्त्र्यधिकारः ।

—o—

भावार्थ एवेति । भावे यो घञ् तदन्तस्य पुंस्त्वमित्युक्तम् । नपुंसकत्वविशिष्टे भावे क्तल्युड्भ्यां, स्त्रीत्वविशिष्टे तु क्तिन्नादिभिर्बाधेन परिशेषात् । कर्मादौ तु घञाद्यन्तमपि विशेष्यलिङ्गम् । तथा च भाष्यम्—'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' इति । भयलिङ्गेत्यादि ।

भास्स्रुक्—भास् (तेज), स्रुच् (स्रुक्) स्रग् (माला), दिश् । (दिशा), उष्णिह् (साफा-पगडी) और उपानह् (जूता) शब्द स्त्रीलिंग होते हैं । स्थूणोर्णे—स्थूण-(लौहमयी प्रतिमा) और ऊर्ण (ऊन) शब्द नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग भी होते हैं ।

शष्कुलि—शष्कुलि (पूरी), राजि (पङ्क्ति), कुटी (कुटी), अशनि (वज्र), वर्ति (बत्ती), भ्रुकुटि (भौंहें), त्रुटि (कमी), वलि (पूजा), और पङ्क्ति (श्रेणी), शब्द स्त्रीलिंग होते हैं । अप्सुमनस्—अप् (जल), सुमनस् (पुष्प) समा (वर्ष) और सिकता (बालू) शब्द स्त्रीलिंग और बहुत्व—बहुवचनान्त ही होते हैं । तारधारा—तारा, धारा, ज्योत्स्ना (प्रभा, विभा, शोभा) आदि शब्द स्त्रीलिंग होते हैं ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें लिंगानुशासनका स्त्र्यधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

—o—

पुमान्—पुँल्लिङ्गाधिकारान्त 'हस्तकुन्ता' सूत्र पर्यन्त इस सूत्रका अधिकार है ।

घञबन्त—भावार्थक 'घञ्' प्रत्ययान्त और 'अप्' प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिंग हों ।

घाजन्तश्च—'घ' प्रत्ययान्त, और अच् प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिंग होते हैं ।

भयलिंग—भय, लिंग, भग और पद शब्द नपुंसकलिंग होते हैं ।

नोट—'घाजन्तश्च' इस सूत्रका यह सूत्र अपवादक है । (इसीलिये पुल्लिंगाधिकार में

मित्यादि ॥ **नङन्तः ।४।** पुंसि स्यात्। यज्ञ इत्यादि ॥ **याच्ञा स्त्रियाम् ।५।** पूर्वस्यापवादः ॥ **घ्यन्तो घुः ।६।** आधिः। निधिः ॥ **इषुधिः स्त्री च ।७।** चात्पुंसि। इयमयं वा इषुधिः ॥ **द्यौः स्त्रियाम् ।८। क्रतुपुरुषकपोलगुल्फमेघाभिधानानि ।९।** क्रतुरध्वरः ॥ **अभ्रं नपुंसकम् ।१०।** पूर्वस्यापवादः ॥ **उकारान्तः ।११।** अयं पुंसि स्यात्। प्रभुः। विभुः ॥ **धेनुरज्जुकुहुसरयुतनुरेणुप्रियङ्गवः**

पूर्वस्यापवादोऽयम्। घ्यन्तो घुः। किप्रत्ययोऽन्तः परो यस्मात्तादृशो घुसंज्ञको धातुस्तद्घटितः पुमानित्यर्थः। द्यौः स्त्रियाम्। अस्य स्वर्गाभिधानत्वात्पुंस्त्वस्य पूर्वेण प्राप्तेऽस्यारम्भः। अभ्रं नपुंसकमिति। मेघाभिधानविषये पूर्वस्यापवाद इत्यर्थः। उत्यन्तः। उकारो नेत्संज्ञकः। मेरुः, सेतुरित्यत्र 'सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्'

इस सूत्रका पाठ किया गया है) अर्थात् भय, लिंग, भग और पद शब्दोंको छोड़कर अन्य 'घ' और 'अच्' प्रत्ययान्त शब्द पुंलिंग है—ऐसा समझना चाहिये।

नङन्तः—'नङ्' प्रत्ययान्त शब्द पुंलिंग है। याच्ञा—याच्ञा शब्द स्त्रीलिंग है।

नोटः—पूर्व सूत्रका यह अपवादक है। अतः 'नङ्' प्रत्ययान्त होनेपर भी 'याच्ञा' शब्द पुंल्लिंग नहीं हुआ।

घ्यन्तो घु.—'कि' प्रत्यय है अन्त (पर) जिससे, तादृश जो घुसंज्ञक धातु, तद्घटित जो शब्द, वह पुंलिंग हो। इषुधिः स्त्री च—'इषुधि' शब्द स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग दोनों हों अर्थात् पूर्व सूत्र से नित्य पुंलिंग ही नहीं हो।

द्यौः स्त्रियाम्—'द्यो' शब्द और दिव् शब्द स्त्रीलिंग होते हैं।

नोटः—'देवाऽसुरात्मस्वर्गगिरिसमुद्रनखकेशदन्तस्तनभुजकण्ठखड्गशरपङ्काभिधानानि' (देवादिशब्दवाच्यतावच्छेदकशब्दाः पुंसि स्युः) ऐसा सूत्र 'सिद्धान्तकौमुदी में कहा गया है। उदाहरण—देवाः = सुराः, असुराः = दैत्याः, आत्मा = क्षेत्रज्ञः, स्वर्गः=नाकः, गिरिः = पर्वतः, समुद्रः = अब्धिः, नखः = कररुहः, केशः = शिरोरुहः (कचः,) दन्तः = दशनः, स्तनः = कुचः, भुजः = दोः, कण्ठः = गलः, खड्गः=करवालः, शरः=मार्गणः, पंकः = कर्दमः इत्यादि। अब देखो ? 'द्यौः स्त्रियाम्' सूत्रका पाठ अगर यहाँ (पुंल्लिङ्गाधिकार में) नहीं होता तो उपर्युक्त 'देवाऽसुरा' सूत्रसे स्वर्गपर्यायवाची होनेसे 'द्यो' और 'दिव्' शब्दोंसे भी पुंस्त्व विधान हो जाता। अतः वरदराजने उपर्युक्त सूत्रको यहाँ रखा है।

क्रतुपुरुष—क्रतु (यज्ञ), पुरुष (नर), कपोल (गाल), गुल्फ (घुट्ठी) और मेघ (बादल) वाचकशब्द पुं० हैं। अभ्रं नपुं—(मेघवाची) अभ्र शब्द नपुंसक है।

उकारान्तः—(सामान्यतया) उकारान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

धेनुरज्जु—(उकारान्तमें) धेनु (नवप्रसूता गौ), रज्जु (डोरी), कुहु (अमावस), सरयु (सरयु नदी), तनु (शरीर), रेणु (धूल) और प्रियङ्गु

स्त्रियाम् ।१२। इय धेनु ॥ **त्वन्तः** ।१३। मेरु । सेतु ॥ **दारुकसेरुजतुवस्तुमस्तूनि नपुंसके च** ।१४। इद दारु । दारु ॥ **सक्तुर्नपुंसके च** ।१५। सक्तु, सक्तु । अदन्त इत्यधिकृत्य ॥ **कोपध** ।१६। कोपधोऽकारान्त पुंसि स्यात् स्तबक । कल्क ॥ **चिबुकादीनि नपुंसके** ।१७। चिबुकम् ॥ **टोपध** ।१८। अदन्त पुंसि । घट । पट ॥ **किरीटादीनि नपुंसके च** ।१९। किरीटम् । किरीट ॥ **णोपध** ।२०। अदन्त पुंसि । गण । पाषाण ॥ **ऋणादीनि नपुंसके** ।२१। ऋणम् ॥ **कार्षापणादीनि नपुंसके च** ।२२। चात्पुंसि ॥ **थोपध** ।२३। अदन्त पुंसि । रथ । यूथ ॥ **नोपध** ।२४। अदन्त पुंसि । इन फेन ।

इति तुन् । सूर्यवाचक प्रथम । दारुकशेरु । जन्वादिरवाद्भुमत्यपान्ता पुरे । ५स चाभागिनि । कसमिति शब्दस्य निर्देशात् 'नपुसके च' इत्यस्य सम्बन्ध ।

(फाँगुन) शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं । त्वन्त —'तु' प्रत्ययान्त और 'तुन्' प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं । दारुकसेरु—दारु (लकड़ी), कशेरु (कशेरू), जतु (लाह), वस्तु (चीज-समान) और मस्तु (दही का पानी या दही की मलाई) शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं । सक्तुर्नपु—सक्तु (सतुआ) शब्द नपुसक और पुल्लिङ्ग भी होता है ।

कोपध —अकारान्त कोपध शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं । चिबुका—अकारान्त चिबुकादि शब्द नपुसक लिङ्ग होते हैं । टोपध—अकारान्त टोपध शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं ।

किरीटा—अकारान्त टोपध किरीटादि शब्द पुल्लिङ्ग और नपुसक दोनों लिङ्ग होते हैं ।

नोट —किरीटादिसे—किरीट, मुकुट (ताज), कूट (दुर्ग किला), ललाट, वट (वृक्ष), विट (कामी, धूर्त), शृङ्गाट (चौराहा), कराट, लोष्ट (ढेला), कूट (पर्वत की चोटी, मुद्गर, नगर, द्वार, आदि), कपट (वञ्चना), कपाट (किवाड़), कर्पट (रूमाल, फटा कपड़ा), नट, निकट (समीप), कीट (कीड़ा), और कट (चटाई) है ।

णोपध—अकारान्त णोपध शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं । ऋणादीनि—अकारान्त णोपध ऋणादि—ऋण (कर्ज), लवण (नमक), पर्ण (पत्ता), तोरण (मेहराब-सजावट) और उष्ण शब्द न० होते हैं । कार्षापणा—कार्षापणादि—कार्षापण (चवन्नी), स्वर्ण, सुवर्ण (सोना), व्रण (फोड़ा-फुंसी), चरण (पैर), वृषण (अण्डकोश), विषाण (सींग), चूर्ण और तृण शब्द नपुसक और पुल्लिङ्ग भी होते हैं ।

थोपध—अकारान्त थोपध शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं ।

नोटः—थोपध शब्दोंमें—काष्ठ (लकड़ी), पृष्ठ, सिक्थ और उक्थ शब्द नपुसक लिङ्ग होते हैं तथा तीर्थ, प्रोथ, यूथ और गाथ शब्द पुल्लिङ्ग तथा न० दोनों होते हैं ।

नोपधः—अकारान्त नोपध शब्द पु० होते हैं ।

जघनादीनि नपुंसके ।२५। जघनम् ॥ **पोपधः ।२६।** अदन्तः पुंसि । दीपः । सर्पः ॥ **पापादीनि नपुंसके ।२७।** पापम् ॥ **शूर्पकुतपकुणपद्वीपविटपानि नपुंसके च ।२८।** चात्पुंसि ॥ **भोपधः ।२९।** कुम्भः । सरभः ॥ **तलभं नपुंसकम् ।३०। जृम्भं नपुंसके च ।३०। मोपधः ।३२।** सोमः । भीमः ॥ **रुक्मादीनि नपुंसके ।३३।** इदं रुक्ममित्यादि ॥ **संग्रामादीनि नपुंसके च ।३४।** चात् पुंसि । संग्रामः । संग्रामम् ॥ **योपधः ।३५।** हयः । समयः ॥ **किसलयादीनि नपुंसके ।३६। गोमयादीनि नपुंसके च ।३७। रोपधः ।३८।** क्षुरः । खुरः ।

जघना—नोपध शब्दों में जघनादि—जघन, अजिन (चर्म) तुहिन (तुषार-पाला), कानन, वन, वृजिन (क्लेश, पाप), विपिन (वन), वेतन (तनख्वाह), शासन, सोपान (सीढ़ी), मिथुन, श्मशान, रत्न, निम्न (नीचे) और चिह्न शब्द न० होते हैं ।

नोटः—मान (संमान), यान (सवारी), अभिधान (नाम संज्ञा), नलिन (कमल), पुलिन (नदी-तट), उद्यान (फुलवारी, बगीचा-मैदान), शयन, अशन (भोजन), स्थान, चन्दन, आलान (हाथी बांधने का खूंटा), समान, भवन, वसन (वस्त्र), सम्भाजन (सत्कार), विभावन (विचार) और विमान शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

पोपधः—अदन्त पकारोपध शब्द पुं० होते हैं ।

पापादीनि—पापादि-पाप, रूप, उडुप (छोटी नाव, डोंगी), तल्प (शय्या), शिल्प, पुष्प, शष्प (कोमल घास) समीप और अन्तरीप (टापू) शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं ।

शूर्प—शूर्प (सूप), कुतप (श्राद्धवेला), कुणप (मुरदा, पदबूदार), द्वीप और विटप (वन), शब्द पुं० न० उभय लिङ्ग होते हैं । भोपधः—अदन्त भकारोपध शब्द पुं० होते हैं ।

तलभं—तलभ शब्द न० है। जृम्भ-जृम्भ (जँभाई) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

मोपधः—मकारोपध शब्द पुं० होते हैं । रुक्मा—रुक्मादि-रुक्म (सुवर्ण), सिध्म (सुहांसा-रोग), युध्म, इध्म (जलाने वाली लकड़ी), गुल्म (सेनाविशेष, झाड़ी, रोग), अध्यात्म और कुंकुम शब्द न० होते हैं । संग्रामादि—संग्रामादि-संग्राम, दाडिम (अनार), कुसुम, आश्रम, क्षेम (कल्याण), क्षौम (रेशमी), होम और उद्दाम (उद्दण्ड) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

योपधः—योपध शब्द पुं० होते हैं ।

किसलया—किसलय (नव पल्लव), हृदय, इन्द्रिय और उत्तरीय (द्वि० वस्त्र) शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं । गोमया—गोमय (गोबर), कषाय, मलय (चन्दन पर्वत), अन्वय (वंश), और अव्यय (विकाररहित) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

अङ्कुर ॥ **द्वारादीनि नपुंसके ।३९।** इद द्वारम् ॥ **शुक्रमदेवतायाम् ।४०।** देवतायां तु शुक्र ॥ **षोपधः ।४१।** वृष । वृक्ष ॥ **शिरीषादीनि नपुंसके ।४२।** इदं शिरीषम् ॥ **सोपधः ।४३।** वायस । महानस ॥ **पनसबिसबुससाहसानि नपुंसके ।४४। चमसादीनि नपुंसके च ।४५।** चात्पुंसि ॥ **कंसं चाप्राणिनि ।४६।** कस ॥ 'कंसोऽस्त्री पानभाजनम्' । प्राणिनि तु कंस ओग्रसेनि ॥

रोपध—रकारोपध शब्द पु० होते हैं । द्वारादीति—द्वार, अग्र, स्फार (विकसित), शक्र (मठा), वक्र (टेढ़ा), वप्र (चाहार दिवारी), क्षिप्र (जल्दी), क्षुद्र (नीच), नीर (पानी), तीर (किनारा), दूर, कृच्छ्र (कष्ट), रन्ध्र (छेद), अस्र (आंसू), श्वभ्र (गड्ढा), भीर (डरपोक), गभीर (गंभीर), क्रूर (कठोर), विचित्र (अजीब), केयूर (बाजूबन्द, विजायठ), केदार (खेत, कियारी), उदर (पेट), अजस्र, शरीर, कन्दर (गुफा), मन्दार (देववृक्ष, मदार), पञ्जर (पिंजरा), अजर (अविनश्वर), जठर (पेट), अजिर (आँगन), वैर (विरोध), चामर, पुष्कर (कमल), गह्वर-कुहर (गुफा), कुटीर (कुटिया), कुलीर (केंकड़ा), चत्वर (चौक), काश्मीर (कुंकुम, देशविशेष), (रस), नीर अम्बर (आकाश, वस्त्र), शिशिर (ठंडा), तन्त्र (सिद्धान्त), यन्त्र (मशीन), क्षत्र (क्षत्रिय), क्षेत्र (स्थान, खेत), मित्र, कलत्र (स्त्री), चित्र, मूत्र, सूत्र, वक्त्र (मुँह), नेत्र, गोत्र, अङ्गुलित्र (दस्ताना), भलत्र, शस्त्र, शास्त्र, वस्त्र, पत्र, पात्र और छत्र आदि शब्द नपुंसक लिंग होते हैं ।

नोट—चक्र, वज्र, अन्धकार, सार, अवार, पार, क्षीर, तोमर (लोहे का डंडा), भृङ्गार (झारी), मन्दार, उशीर (खस), तिमिर (अन्धकार) और शिशिर आदि रोपध शब्द पु० न० उभय लिंग होते हैं ।

शुक्रम—देवतासे भिन्न (वीर्य, अग्नि, जेठका महीना आदि) अर्थमें शुक्र शब्द न० है ।

षोपध—षकारोपध शब्द पु० होते हैं । शिरीषादीति—शिरीष (वृक्ष-विशेष), ऋजीष (तावा), अम्बरीष (भसार, कंसार), पीयूष (अमृत), पुरीष (विष्ठा), और किल्बिष-कल्मष (पाप), आदि शब्द न० होते हैं ।

नोट—यूष (यष, मारना), करीष (सूखा गोबर, कंडा, गोइठा), मिष (छल) विष और वर्ष आदि षकारोपध शब्द पु० न० उभय लिंग होते हैं ।

सोपधः—सकारोपध शब्द पुलिंग होते हैं । पनस-पनस (कटहल), बिस (कमल-नाल), बुस (भूसा) और साहस शब्द नपुंसक लिंग होते हैं । चमसादीनि—चमस (यज्ञपात्र, चमचा), अंस (कंधा), रस, निर्यास (गोंद, छट्ठा), उपवास, कार्पास, वास, भास, कास (खांसी), कांस और मांस आदि सकारोपध शब्द पु० न० उभय लिंग होते हैं । कंस—प्राणीसे भिन्न अर्थमें कंस शब्द भी पु० और न० लिङ्ग होता है ।

रश्मिदिवाभिधानानि ।४७। अत इति निवृत्तम ॥ दीधितिः स्त्रियाम् ।४८। दिनाहनी नपुंसके ।४९। दिनम् । अहः ॥ मानाभिधानानि ।५०। कुडवः । द्रोणाढकौ नपुंसके च ।५१। चात्पुंसि ॥ खारीमानिके स्त्रियाम् ।५२। इयं खारी ॥ दाराक्षतलाजासूनां बहुत्वं च ।५३। इमे दाराः ॥ मरुद्गरुत्तरदृत्विजः ।५४। अयं मरुत् ॥ ध्वजगजमुञ्जपुञ्जाः ।५५। एते पुंसि ॥ वंशांशपुरोडाशाः ।५६। अयं वंशः ॥ ह्रदकन्दकुन्दबुद्बुदशब्दाः ।५७। अयं ह्रदः ॥ अर्घपथिमथ्यृभुक्षिस्तम्बनितम्बपूगाः।५८। अयमर्घः॥ सारथ्यतिथिकुक्षिबस्तिपाण्यञ्जलयः ।५९। पल्लवपल्वलकफरेफकटाहनिर्व्यूहमठमणितरङ्गतुरङ्गगन्धस्कन्धमृदङ्गसङ्गसमुद्रपुङ्खाः ।६०। अयं पल्लव इत्यादि ॥ ऋषिराशिदृतिग्रन्थिक्रमिध्वनिबलिकौलिमौलिरविकविकपिमुनयः ।६१।

दिनाहनी । दिवसाभिधानाविमौ । खारीमानिके । मानाभिधानत्वात्पुंस्त्वे प्राप्तेऽयमारम्भः । बहुत्वञ्चेति । चकारः पुंस्त्वस्य समुच्चायकः ।

रश्मि—रश्मि (किरण, मयूख) और दिवस (दिन, घस्र) वाची शब्द पुं० होते हैं। दीधितिः—दीधिति (किरण) शब्द स्त्रीलिङ्ग होता है। दिनाऽह—दिन और अहन् शब्द न० होते हैं। मानाभि—मान (नाप-तौल) वाची शब्द पुं० होते हैं।

द्रोणाढकौ—द्रोण (पसेरी), और आढक (अढैया) शब्द पुं० न० उभय लिङ्ग है। खारी—खारी (२० सेर मानवाचक) शब्द स्त्री० होता है। दारा—दारा, अक्षत, लाज (लावा) और असु (प्राण) शब्द नित्य बहुवचनान्त पुं० होते हैं। मरुद्—मरुद (वायु), गरुत (पंख), तरद् और ऋत्विक् (पुरोहित) शब्द पुं० होते हैं।

ध्वजगज—ध्वज, गज, मुंज और पुंज (ढेर) शब्द पुं० होते हैं। वंशांश—वंश, अंश (हिस्सा) और पुरोडाश (हविष्) शब्द पुं० होते हैं। ह्रदकन्द—ह्रद (बड़ा तालाब) कन्द-कुन्द (फूल विशेष) और बुद्बुद (पानी का बुलबुला) शब्द पुं० होते हैं।

अर्घपथि—अर्घ, पथिन्, मथिन् (मथनी) ऋभुक्षिन् (इन्द्र) स्तम्ब (खंबा), नितम्ब (चूतड़), और पूग (सुपारी) शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। सारथि—सारथि (सूत), अतिथि, कुक्षि (पेट), बस्ति (मूत्र), पाणि और अञ्जलि शब्द पुं० हैं। पल्लव—पल्लव, पल्वल (छोटा तालाब) कफ, रेफ (रकार, कृपण, कुत्सित), शेफ (लिङ्ग), कटाह (कड़ाही, भैंस का बच्चा), निर्व्यूह (खूंटी), मठ, मणि, तरङ्ग, तुरङ्ग (घोड़ा), गन्ध, स्कन्ध, मृदङ्ग, सङ्ग, समुद्र और पुंख (बाणका मूल भाग) शब्द पुं० होते हैं।

ऋषिराशि—ऋषि, राशि (ढेर), दृति (मशक), ग्रन्थि, कृमि (कीड़ा), ध्वनि, बलि, कौलि, मौलि (मस्तक), रवि (सूर्य), कवि, कपि (बन्दर) और मुनि शब्द

एते पुंसि स्युः । अयमृषिः ॥ हस्तकुन्तान्तव्रातवातदूतधूर्तसूतचूतमुहूर्ताः ।६२। एते पुंसि । अयं हस्त इत्यादि । इति पुंलिङ्गाधिकारः ॥

अथ नपुंसकलिङ्गाधिकारः

नपुंसकम् । अयमधिकारः । **भावे ल्युडन्तः** ।१। हानम् । हसनम् । भावे किम् ? पचनः ॥ **निष्ठा च** ।२। भावे या निष्ठा तदन्तं क्लीबं स्यात् । गीतम् ॥ **त्वष्यञौ तद्धितौ** ।३। शुक्लत्वम्, शौक्ल्यम् । षित्त्वसामर्थ्यात्पक्षे स्त्रीत्वम् । चातुर्यम्, चातुरी ॥ **कर्मणि च ब्राह्मणादिगुणवचनेभ्यः** ।४। ब्राह्मण्यम् ॥ **यद्यढग्यगञण्वुञ्छाश्च भावकर्मणि** ।५। एतदन्तानि क्लीबानि । स्तेयम् । सख्यम् । (कपिज्ञात्योर्ढक्)कापेयम् । सैनापत्यम् । औष्ट्रम् । द्वैहायनम् । पितापुत्रकम् ।

भावे ल्युडन्त इति । इदं च सूत्रं यद्यपि 'नपुंसके भावे क्तः' 'ल्युट् च' इत्यनेन गतार्थं, तथापि स्पष्टार्थमुपात्तम् । एवमन्तग्रहणं चेति बोध्यम् । निष्ठा च । अत्र निष्ठापदं क्तस्य बोधकम् । इदमपि सूत्रं 'नपुंसके भावे क्तः' इत्यनेन गतार्थम्, 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणम्' । त्वष्यञौ तद्धितौ । 'भावे' इत्यनुवर्तते । यद्यपि 'तस्य भावः' इति सूत्रे भावशब्दः 'प्रकृतिजन्यबोधीयप्रकारताश्रयधर्मपरः ।' 'भावे ल्युडन्तः' इत्यत्र तु भावशब्दो भावनाबोधक इति भेदस्तथापि इह भावशब्दः शब्दाधिकारेण अन्यार्थको द्रष्टव्यः । कर्मणि च । चाद्भावे । त्वष्यञावित्याद्यनुवर्तते ।

पु० होते हैं । हस्त—हस्त, कुन्त (बरछा), अन्त, व्रात (समूह), दूत, धूर्त, सूत (सारथी, सूर्य), चूत (आमका वृक्ष, योनि) और मुहूर्त (२ घड़ा) शब्द पु० होते हैं ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पुंलिङ्गाधिकार समाप्त हुआ ।



नपुंसकम्—यह अधिकार सूत्र है । भावे ल्युडन्तः—भावमें विहित ल्युट प्रत्ययान्त शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं । निष्ठा च—भावमें विहित निष्ठा (क्त, क्तवतु) प्रत्ययान्त शब्द भी न० होते हैं । त्वष्यञौ—भावमें विहित 'त्व' प्रत्ययान्त और 'ष्यञ्' प्रत्ययान्त तद्धित शब्द न० होते हैं (ष्यञ् प्रत्ययान्त शब्द षित्सामर्थ्यात् पक्षमें स्त्री० भी होंगे) ।

कर्मणि च—कर्म तथा चकारात् भावमें भी विहित त्व और ष्यञादि प्रत्ययान्त ब्राह्मणादि गुणवचन शब्द न० होते हैं । यद्यढग्—भाव-कर्ममें विहित यत्, य, ढक्, यक्, अञ्, अण्, वुञ् और छ प्रत्ययान्त शब्द न० होते हैं ।

नोट—'यत' आदि प्रत्यय विधायक सूत्र इस प्रकार हैं—१ 'स्तेनाद्यन्नलोपश्च' (स्तेयम्) । २ सख्युर्यः' (सख्यम्) । ३ 'कपिज्ञात्योर्ढक्' (कापेयम्) । ४ 'पत्य-

अच्छावाकीयम् ॥ अव्ययीभावः । ६ । अधिहरि ॥ द्वन्द्वैकत्वम् । ७ । पाणिपादम् ॥ अनल्पे छाया । ८ । शरच्छायम् ॥ इसुसन्तः । ९ । हविः । सर्पिः । धनुः ॥ अर्चिः स्त्रियां च । १० । इदमियं वार्चिः ॥ छदिः स्त्रियामेव । ११ । इयं छदिः ॥ मुखनयनलोहवनमांसरुधिरकार्मुकविवरजलहलधनान्नाभिधानानि । १२ । एषामभिधायकानि क्लीबे स्युः । मुखम् । आननम्, इत्यादि ॥ सीरार्थौदनाः पुंसि

इसुसन्तः । 'अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः' 'जनेरुसिः' एतयोरुपाधावेतौ । छदिः स्त्रियामेवेति । यद्यपि छर्दिरित्यस्येसन्तत्वेन नपुंसकत्वे प्राप्ते विशेषोपादानेन स्त्रीत्वमित्यनेनैव नित्यस्त्रीत्वलाभे सिद्धे एवकारो व्यर्थः, तथापि 'पटलं छदिः' इत्यमरान्यदर्शनेन साहचर्यान्नपुंसकत्वमिति भ्रान्तिः स्यात्तन्निवारणायैवकारः । सीरार्थौदनाः

न्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (सैनापत्यम्) । ५. 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्' (औद्गात्रम्) । ६. 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' (द्वैहायनम्) । ७. 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यो वुञ्' (पितापुत्रकम्) । ८. 'होत्राभ्यश्छः' (अच्छावाकीयम्) ।

अव्ययी—अव्ययीभाव समास निष्पन्न शब्द न० होते हैं । द्वन्द्वैकत्वम्—'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस सूत्रसे द्वन्द्व समासमें जिनको एकवद्भाव होता है, वे द्वन्द्व समास न० होते हैं । अनल्पे—अद्भुत अर्थमें छाया शब्द न० लिंग होता है ।

इसुसन्तः—इसन्त और उसन्त शब्द न० होते हैं । अर्चिः—इसन्तमें 'अर्चिस्' शब्द स्त्री० न० उभय लिं० होता है ।

छदिः स्त्रियामेव—इसन्तमें 'छदिस्' शब्द नित्य स्त्री० ही होता है ।

नोटः—सूत्रमें एवकार इसलिये दिया गया है कि 'पटलं छदिः' इस अमरकोशमें पटल शब्द साहचर्यात् किसी भी हालतमें (वैकल्पिकरूपसे भी) 'छदिस्' को न० समझा जाय ।

मुखनयन—मुख, नयन, लोह, वन, मांस, रुधिर, कार्मुक, विवर, जल, हल, धन और अन्न शब्द तथा इन बारह शब्दोंके पर्यायवाची शब्द न० होते हैं ।

नोटः—उपर्युक्त बारहों शब्दोंके पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं । १. मुख—आनन, लपन, आस्य, वक्त्र । २. नयन—लोचन, अक्षिन्, नेत्र, चक्षुस् । ३. लोह—कालायस्, अश्मसार । ४. वन—विपिन, अरण्य, कान्तार । ५. मांस—पिशित, तरस । ६. रुधिर—रक्त, शोणित । ७. कार्मुक—शरासन, कोदण्ड, धनुष् । ८. विवर—छिद्र, रन्ध्र, श्वभ्र, निर्व्यथन, रोक, बिल । ९. जल—उदक, तोय, नीर, पानीय, सलिल, सरिल, सलिर, कमल, आपस्, वार्, वारि, पयस्, कीलाल, अमृत, जीवन, भुवन, वन, कबन्ध, पाथस्, पुष्कर, सर्वतोमुख, अम्भस्, अर्णस्, क्षीर, अम्बु, शंबर, मेघपुष्प । १०. हल—लांगल, गोदारण । ११. धन—द्रव्य, वित्त, स्वापतेय, रिक्थ, ऋक्थ, वसु, हिरण्य, द्रविण, द्युम्न । और १२. अन्न (साधारणतया भोजन)—अशन ।

सीरार्थौ—हलपर्यायवाची 'सीर' शब्द, हलपर्यायवाची 'अर्थ' शब्द और अन्नवाची

।१३। चक्रनेत्रारण्यगाण्डीवानि पुंसि च ।१४। चात् क्लीबे ॥ अटवी स्त्रियाम् ।१५। पूर्वस्य नित्यत्वे बाधिका॥ लोपधः ।१६। कुशलम् ॥ शीलादीनि पुंसि च ।१७। चात् क्लीबे। शीलम् ॥ शतादिः संख्या ।१८। शतम् । सहस्रम् ॥ शतायुतप्रयुता पुंसि च ।१९। लक्षा कोटिः स्त्रियाम् ।२०। इयं लक्षा ॥ सहस्रः पुंसि ।२१। मन् द्व्यच्कोऽकर्तरि ।२२। मन्प्रत्ययान्तो द्व्यच्क पुंसि स्यात्

पुंसि । खरिशब्दो हलामिधानः । अर्थशब्दस्तु धनशब्दस्य पर्यायः । ओदनशब्दोऽन्न वाची । 'भिस्साभिस्सटाशब्दौ तु दग्धान्नपराविति तयोः क्लीबत्वेऽपि न क्षतिरिति। अटवी स्त्रियामिति । अथ वनाभिधानः । सख्येति । संख्यावाचीत्यर्थः । लक्षाकोटिरिति।

'ओदन' शब्द पु० होते हैं । चक्रनेत्र—मुसपर्यायवाची चक्र शब्द, नयनवाची नेत्र शब्द, वनवाची अरण्य शब्द और कार्मुकवाची गाण्डीव शब्द पु० न० उभय लिङ्ग होते हैं।

अटवी—वनपर्यायवाचा अटवी शब्द स्त्री० होता है।

लोपध —लकारोपध अकारान्त शब्द न० होते हैं।

नोट —लकारोपधमें तूल (रूई), उपल (पत्थर चट्टान), ताल (संगीतकी क्रियाविशेष, ताली बजाना, ताड़ वृक्ष, हथेली, ताला, तलवारकी मूठ आदि)-कुसूल (खत्ती, अन्नका भण्डार गृह), तरल (हारके बीचकी मुख्य मणि, हार, समतल, गहराई, हीरा, लोहा), कम्बल, देवल (मन्दिरका पुजारी—जो देवताके चढ़ावनपर ही अपना निर्वाह करता है), और वृषल (शूद्र, घोड़ा, गाजर, सलगम, पापी, पतित, दुरात्मा) शब्द नित्य पु० होते हैं।

शीलादीनि—लोपधमें शीलादि पु० न० उभय लिंग होते हैं।

नोट —शीलादि—शील (स्वभाव, सदाचार), मूल (जड़, आरम्भ, उत्पत्ति स्थान), मङ्गल (शुभ, कुशल, आरम्भ), साल (वृक्षविशेष, चाहारदीवारी), कमल, तल, (सतह, हथेली, तलवा, बाहु, थप्पड़, नीचता), मुसल (धान आदि कूटनेका डंडा, गदाका भेद), कुण्डल, पलल (मांस), मृणाल (कमलके डंठल), बाल (केश), बाल (छोटा बच्चा, बालक, केश), निगल (निगलना, खा डालना, घोड़ेकी गर्दन), पलाल (पुआल, भूसी, आमका वृक्ष), बिडाल (मार्जार, आखुभुक्-बिलार), खिल (परती जमीन) और शूल (त्रिशूल, चुभनेवाला हथियार, रोगविशेष)।

शतादि—शत आदि संख्या वाचक शब्द न० होते हैं।

शतायुत—शत (सवसवाची), और अयुत (१० हजार वाची) शब्द पु० न० उभय लिङ्ग होते हैं।

लक्षाकोटि —लक्ष (लाख) और कोटी शब्द स्त्री० होते हैं। सहस्र—सहस्र शब्द पु० होता है (क्वचित् न० भी देखा जाता है) मन्द्व्यच्को—'सर्वधातुभ्यो मनिन्' इस सूत्रसे कर्तासे भिन्नमें विहित मनिन् प्रत्ययान्त द्व्यच्क शब्द नपुंसकलिंग होते हैं।

चात् क्लीबे, न तु कर्तरि । वर्म्म, वर्म । अकर्तरि किम्? ददातीति दामा ॥ **ब्रह्म-न्पुंसि च ।२३।** अयं ब्रह्मा । इदं ब्रह्म ॥ **सामरोमणी क्लीबे ।२४।** पूर्वस्यापवादः ॥ **असन्तो द्व्यच्कः ।२५।** यशः । मनः । तपः । **अप्सराः स्त्रियाम् ।२६।** एता अप्सरसः ॥ **त्रन्नन्तः ।२७।** पत्रम् । छत्रम् ॥ **यात्रामात्राभस्त्रादंष्ट्रावरत्राः स्त्रियामेव ।२८।** इति नपुंसकाधिकारः ॥

—o—

अथ स्त्रीपुंसाधिकारः

स्त्रीपुंसयोः ।१। अयमधिकारः ॥ **गोमणियष्टिमुष्टिपाटलिवस्तिशाल्मलित्रुटिमसिमरीचयः ।२।** इयमयं वा गौः ॥ **अपत्यार्थतद्धिते ।३।** औपगवः, औपगवी । इति स्त्रीपुंसाधिकारः ॥

—o—

एतयोरपि संख्यावाचकत्वान्नपुंसकत्वे प्राप्ते वचनम् । त्रन्नन्तः । त्रन्प्रत्ययान्तो नपुंसकः स्यात् । 'सर्वधातुभ्यष्ट्रन्' इति त्रन्प्रत्ययो नकारानुबन्धक इति । यात्रामात्रा । 'हुयामा' इति विहितत्रन्प्रत्ययोऽपि त्रन्ग्रहणेन गृह्यत इति नपुंसकत्वे प्राप्तेऽस्यारम्भः । एवकारो न्यायसिद्धबाध्यबाधकभावानुवादकः । इति नपुंसकाधिकारः ।

ब्रह्मन्—'बृहेर्नोच्च' इस सूत्रसे विहित मनिन् प्रत्ययान्त ब्रह्मन् शब्द पुं० न० उभय लिङ्ग होते हैं। सामरोमणी—सामन् और रोमन् शब्द न० होते हैं। असन्तो—असन्त (असुन् प्रत्ययान्त) द्व्यच्क शब्द न० होते हैं। अप्सरा—असन्त अप्सरस् शब्द स्त्री० होता है।

त्रन्नन्त—'सर्वधातुभ्यष्ट्रन्' इस सूत्रविहित 'त्रन्' प्रत्ययान्त शब्द न० होते हैं।

यात्रा—'त्रन्' प्रत्ययान्तोंमें यात्रा, मात्रा, भस्त्रा, दंष्ट्रा और वरत्रा शब्द स्त्री० होते हैं।

नोटः—'त्रन्' प्रत्ययान्त-मूत्र, अमित्र, छात्र, पुत्र, मन्त्र, वृत्र, मेढ्र, और उष्ट्र शब्द पुं० समझना चाहिये।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें नपुंसकाधिकार समाप्त हुआ।

—o—

स्त्रीपुंसयोः—यह अधिकार सूत्र है। गोमणि—गो, मणि, यष्टि (लाठी, छड़ी), मुष्टि, पाटलि (पाकड़ि वृक्षविशेष), वस्ति (मूत्राशय), शाल्मलि (सेमरवृक्ष), त्रुटि, मसि (स्याही), और मरीचि (किरण), शब्द स्त्रीलिंग और पुंलिङ्ग दोनों होते हैं।

नोटः—मृत्यु, सीधु (गुड़से बनी हुई शराब), कर्कन्धु (बैर-फल), किष्कु (हाथ भर, बित्ताभर-प्रमाणविशेष), कण्डु (खाज या खुजलाहट) और रेणु (धूल) शब्द पुं० स्त्री० उभय लिङ्ग होते हैं।

अपत्यार्थः—अपत्यार्थ तद्धित प्रत्ययान्त शब्द पुं० स्त्री० दोनों होते हैं।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्त्रीपुंसाधिकार प्रकरण समाप्त हुआ।

—o—

अथ पुन्नपुंसकाधिकारः

पुन्नपुंसकयोः। अधिकारोऽयम् ॥ घृतभूतमुस्तक्ष्वेलितैरावतपुस्तकबुस्तलोहिताः ।१। अयं घृतः । इदं घृतम् ॥ कवन्धौषधायुधान्ताः ।२। स्पष्टम् ॥ दण्डमण्डखण्डशवसैन्धवपार्श्वाकाशकुशकाशाङ्कुशकुलिशाः ।३। दण्डः, दण्डम् ॥ इति पुन्नपुंसकाधिकारः ॥



अविशिष्टलिङ्गम् ।१। अव्ययं कतियुष्मदस्मदः ।२। ष्णान्ता संख्या ॥

अविशिष्टलिङ्गम् । उक्तलिङ्गबाधकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्यम् । परवदिति ' विशे"य॰

पुन्नपुंसकयो॰—यह अधिकार सूत्र है। घृतभूत—घृत, भूत (प्रेत देवयोनि, प्राणी), मुस्त (मोथा घास), क्ष्वेलित (वीरोंका सिंहके समान गर्जना), ऐरावत (इन्द्रका हाथी), पुस्तक, बुस्त (मांसकी पूपी, खुड़िया, भूना हुआ मांस) और लोहित (लाल, मृगविशेष), शब्द पु॰ न॰ उभय लिङ्ग होते हैं।

नोटः—शृङ्ग, अघ (पाप), निदाघ (ग्रीष्मऋतु), उद्यम, शल्य (बाणके नोक) और दृढ़ (मजबूत स्थिर) यत्र, कुञ्ज, कुथ (गलीचा, कालीन, हाथीका झूल), कूर्च (गट्ठर, मुट्ठीभर कुश, मोरपंख, दाढ़ी), प्रस्थ (पहाड़के ऊपरके समतल मैदान) दर्प (गर्व) अभ्र (मेघ), अर्ध, दर्भ और पुच्छ शब्द पु॰ न॰ उभय लिङ्ग होते हैं।

कबन्ध—कबन्ध (धड़), औषध और आयुधान्त शब्द पु॰ न॰ उभय लिंग होते हैं।

दण्डशाण्ड—दण्ड (डंडा, सजा), मण्ड (माँड़), खण्ड (टुकड़ा), शव (मृतक), सैन्धव (लवण), पार्श्व (बगल), काश, अङ्कुश (हाथी हाँकने वाला हथियार काँटा), और कुलिश (वज्र) शब्द पु॰ न॰ उभय लिंग होते हैं।

नोट—गृह, मेह (प्रमेह, भगन्दर), देह, पट्ट (पट्टी, पीढ़ा, लिखनेकी पटिया, चौराहा), पटह (ढोल, मृदङ्ग, नगाड़ा, डंका, ढिंढोरा पीटनेवाला, वध करनेवाला), अष्टापद (सुवर्ण), अम्बुद (मेघ) और ककुद (प्रधान, राजचिह्न, थल, साँड़के डील, पहाड़की चोटी) शब्द पु॰ न॰ उभय लिंग होते हैं।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पुन्नपुंसकाधिकार प्रकरण समाप्त हुआ।



अविशिष्ट—'उक्तलिङ्गबाधकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्य' का नाम है 'अविशिष्टलिङ्ग' और वह है—'अव्यय' (न व्येति—विकारं न प्राप्नोति, इत्यव्ययम्) १४० पृ॰ देखो।

१४० पृ॰ देखो

कतियुष्मद्—कति, युष्मद् और अस्मद् शब्द तीनों लिङ्गोंमें समान होते हैं।

शिष्टा परवत् ।३। एका पुरुषः । एका स्त्री । एकं कुलम् ॥ गुणवचनम् ।४। शुक्लः पटः । शुक्ला पटी । शुक्लं वस्त्रम् ॥ कृत्याश्च ।५। करणाधिकरणयोर्ल्युट् च ।६। सर्वादीनि सर्वनामानि ।७। स्पष्टार्थेयं त्रिसूत्री ।

इति श्रीवरदराजदीक्षितविरचितपाणिनीयलिङ्गानुशासनसारभूता
लिङ्गानुशासनसूत्रवृत्तिः समाप्ता ॥

वदित्यर्थः । गुणवचनं च । परवदित्यनुवर्तते । कृत्याश्च । कृत्यप्रत्ययान्ताः परवल्लिङ्गा बोध्याः । सर्वादीनि सर्वनामानि । सर्वनामसंज्ञकानि सर्वादीनि परवद्बोध्यानि । स्पष्टार्थेति । लोकव्युत्पत्त्यैव तत्तल्लिङ्गाभिधानसिद्धत्वात् । अतएव 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' इति भगवता भाष्यकृतोक्तम् । तेन यौगिकेषु शब्देषु लोकव्युत्पत्तिरेव लिङ्गाभिधाने प्रमाणमिति सिद्धम् ।

इति श्रीकौण्डिन्यकुलावतंसजोशीत्युपाह्वदामोदरात्मजपण्डितसदाशिव-
शास्त्रिसंकलितलिङ्गानुशासनविवरणं समाप्तम् ।

ष्णान्ता—षान्त, नान्त संख्यावाचक शब्दोंका लिङ्ग परवत् (विशेष्यवत्) होता है ।

गुणवचनं—गुणवाचक शब्दोंका लिङ्ग भी विशेष्यवत् होता है । कृत्याश्च—कृत्यप्रत्ययान्त शब्दोंका लिङ्ग परवत् होता है । करणाधि—करण और अधिकरणमें विहित ल्युट् प्रत्ययान्त शब्दोंका लिङ्ग परवत् होता है ।

सर्वादीनि—सर्वनामसंज्ञक सर्वादि शब्दोंका लिङ्ग परवत् होता है ।

इस प्रकार पण्डित श्रीरामचन्द्रझा व्याकरणाचार्य कृत 'इन्दुमती' टीकामें
वरदराजविरचित लिङ्गानुशासनप्रकरण समाप्त हुआ ।

श्रीजानकीचरणकञ्जमरन्दभृङ्गः श्रीरामचन्द्रसुकृती जनतोपकृत्यै ।
टीकां विधाय वचसा सरलातिरम्यां स्वर्गश्रिताश्च मनसेन्दुमतीं मुमोद ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

मध्यकौमुदीस्थगणपाठः

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च (पृ० ४८६) तिष्ठद्गु, आयतीगवम्, खलेयवम्, खलेबुसम्, लूनयवम्, लूयमानयवम्, पूतयवम्, पूयमानयवम्, संहृतयवम्, संह्रियमाणयवम्, संहृतबुसम्, संह्रियमाणबुसम्, समभूमि, समपदाति, सुषमम्, विषमम्, दुष्षमम्, निष्षमम्, अपसमम्, आयतीसमम्, पापसमम्, पुण्यसमम्, प्राह्णम्, प्ररथम्, प्रमृगम्, प्रदक्षिणम्, संप्रति, असंप्रति, इच्प्रत्यय, समासान्त । इति तिष्ठद्ग्वादि ।

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (पृ० ४९१) व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, ऋषभ, चन्दन, वृक, वृष, वराह, हस्तिन्, तरु, कुञ्जर, रुरु, पृषत, पुण्डरीक, पलाश, कितव । इति व्याघ्रादिराकृतिगण ।

मयूरव्यंसकादयश्च (पृ० ४९१) मयूरव्यंसक, छात्रव्यंसक, काम्बोजमुण्ड, यवनमुण्ड, छन्दसि । हस्तेगृह्य, पादेगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य, पुनर्दाय, (एहीडादयोऽन्यपदार्थे) एहीडम्, एहियवम्, एहिवाणिजा क्रिया, अपेहिवाणिजा, प्रेहिवाणिजा, एहिस्वागता, अपेहिस्वागता, एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, प्रेहिद्वितीया, एहिकटा, अपेहिकटा, प्रेहिकटा, आहरकरटा, प्रोहकरटा, प्रोहकर्दमा, प्रेहिकर्दमा, विधमचूडा, उद्धमचूडा, आहरचेला, आहरवनिता, आहरवसना, कृन्तविचक्षणा, उद्धरोत्सृजा, उद्धरावसृजा, उद्धमविधमा, उत्पचनिपचा, उत्पतनिपता, उच्चावचम्, उच्चनीचम्, आचोपचम्, आचपराचम्, निश्चप्रचम्, अकिंचन, स्नात्वाकालक, पीत्वास्थिरक, भुक्त्वासुहित, प्रोष्यपापीयान्, उत्पत्यपाकला, निपत्यरोहिणी, निषण्णश्यामा, अपेहिप्रघसा, एहिविघसा, इहपञ्चमी, इहद्वितीया, (जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति) जहिजोड, जहिस्तम्ब, (आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये) अश्नीतपिबता, पचतभृज्जता, खादतमोदता, खादताचमता, आहरनिवपा, आहरनिष्किरा, भिन्धिलवणा, छिन्धिविचक्षणा, पचलवणा, पचप्रकूटा । आकृतिगणोऽयम् । तेन अकुतोभय, कान्दिशीक, आहोपुरुषिका, अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरेयाहिरा, उन्मृजविमृजा, द्रव्यान्तरम्, अवश्यकार्यम् । इत्यादि सिद्धम् ।

ऊर्यादिच्विडाचश्च (पृ० ४९७) ऊरी, उररी, तन्थी, ताली, आताली, वेताली, धूली, धूसी, शकला, संशकला, ध्वंसकला, भ्रंशकला, गुलुगुधा, सजूस्, फल, फली, विक्ली, आक्ली, आलोष्ठी, केवाली, केवासी, सेवासी, पर्याली, शेवाली, वर्षाली, अत्यूमशा, वश्मशा, मस्मसा, मसमसा, श्रौषट्, वषट्, वौषट्, स्वाहा, स्वधा, पाम्पी, प्रादुस्, श्रत्, आविस् । इत्यूर्यादि ।

साक्षात्प्रभृतीनि च (पृ० ५००) साक्षात्, मिथ्या, चिन्ता, भद्रा, रोचना, आस्था, अमा, श्रद्धा, प्राजर्या, प्राजरुहा, बीजर्या, बीजरुहा, संसर्या, अर्थे, लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आर्द्रम्, अग्नौ, वशे, विकम्पने, विहसने, प्रतपने, प्रादुस्, नमस् । आकृतिगणोऽयम् ।

अर्धर्चाः पुंसि च (पृ० ५०८) अर्धर्च, गोमय, कषाय, कार्षापण, कुतप, कुसप, कुणप, कपाट, शङ्ख, गूथ, यूथ, ध्वज, कबन्ध, पद्म, गृह, सरक, कंस, दिवस, यूप, अन्धकार, दण्ड, कमण्डलु, मण्ड, भूत, द्वीप, द्यूत, चक्र, धर्म, कर्म, मोदक, शतमान, यान, नख, नखर, चरण, पुच्छ, दाडिम, हिम, रजत, सक्तु, पिधान, सार, पात्र, घृत, सैन्धव, औषध, आढक, चषक, द्रोण, खलीन, पात्रीव, षष्टिक, वारबाण, प्रोथ, कपित्थ, शुष्क, शाल, शील, शुक्ल, (शुल्क) शीधु, कवच, रेणु, ऋण, कपट, शीकर, मुसल, सुवर्ण, वर्ण, पूर्व, चमस, क्षीर, कर्ष, आकाश, अष्टापद, मङ्गल, निधन, निर्यास, जृम्भ, वृत्त, पुस्त, बुस्त, क्ष्वेडित, शृङ्ग, निगड, खलु, मधु, मूल, स्थूल, शराव, नाल, वप्र, विमान, मुख, प्रग्रीव, शूल, वज्र, कटक, कण्टक, कर्पट, शिखर, कल्क, वल्कल, नटमस्तक, नाटमस्तक, वलय, कुसुम, तृण, पङ्क, कुण्डल, किरीट, (कुमुद), अर्बुद, अङ्कुश, तिमिर, आश्रय, भूषण, इक्कस, इष्वास, मुकुल, वसन्त, तडाग, पिटक, विटङ्क, विडङ्ग, पिण्याक, माष, कोश, फलक, दिन, दैवत, पिनाक, समर, स्थाणु, अनीक, उपवास, शाक, कर्पास, विशाल, चषाल, खण्ड, दर, विटप, रण, कल, मृणाल, हस्त, आर्द्र, हल, सूत्र, ताण्डव, गाण्डीव, मण्डप, पटह, सौध, योध, पार्श्व, शरीर, देह, फल, छल, पुर, राष्ट्र, बिम्ब, अम्बर, कुट्टिम, मण्डल, कुक्कुट, कुडप, ककुद, खण्डल, तोमर, तोरण, मञ्चक, पञ्चक, पुङ्ख, दाल, छाल, वल्मीक, वर्ष, वस्त्र, वसु, देह, उद्यान, उद्योग, स्नेह, स्तेन, सङ्गम, निष्क, क्षेम, शुक्र, क्षत्र, छत्र, पवित्र, यौवन, कलह, पालक, वल्कल, कुञ्ज, विहार, लोहित, विषाण, भवन, अरण्य, पुलिन, हल, दृढ, आसन, ऐरावत, शूर्प, तीर्थ, लोमश, तमाल, लोह, दण्डक, शपथ, प्रतिसर, दारु, धनुस्, मान, वर्चस्क, कूर्च, तण्डक, मठ, सहस्र, ओदन, प्रवाल, शकट, अपराह्ण, नीड, शकल, तण्डुल, मुस्तक। इत्यर्धर्चादिः।

कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु। (पृ० ५१२) कुक्कुटी, मृगी, काकी। अण्ड, पद, शाव, अङ्कुस, भ्रुकुटी। इति कुक्कुट्यादिरण्डादिश्च।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः (पृ० ५१८) हस्तिन्, कुद्दाल, अश्व, कशिक, कुरुत, कटोलक, गण्डोल, कण्डोल, कण्डोलक, अज, कपोत, जाल, गण्ड, महेला, दासी, गणिका, कुसूल। इति हस्त्यादिः।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् (पृ० ५२२) उरस्, सर्पिस्, उपानह्, पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः, दधि, मधु, शाली, शालि, अर्थान्नञः। इत्युरःप्रभृतयः।

वाहिताग्न्यादिषु (पृ० ५२४) आहिताग्निः, जातपुत्रः, जातदन्तः, जातश्मश्रुः, तैलपीतः, घृतपीतः, ऊढभार्यः, गतार्थः, आकृतिगणोऽयम्। तेन गडुकण्ठ, अस्युद्यत, दण्डपाणि, इत्यादि ज्ञेयम्। इत्याहिताग्न्यादयः।

राजदन्तादिषु परम् (पृ० ५२५) राजदन्तः, अग्रेवणम्, लिप्तवासितम्, नग्नमुषितम्, सिक्तसंमृष्टम्, मृष्टलुञ्चितम्, अवक्लिन्नपक्वम्, अर्पितोप्तम्, उप्तगाढम्, उलूखलमुसलम्। तण्डुलकिण्वम्, दृषदुपलम्, आरग्वायनि (नी), आरग्वायनबन्धकी, चित्ररथबाह्लीकम्,

अवन्त्यश्मकम्, शूद्रार्यम्, स्नातकराजानौ, विष्वक्सेनार्जुनौ, अक्षिभ्रुवम्, दारगवम्। (धर्मादिषूभयम्) अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ, अर्थशब्दौ, शब्दार्थौ, अर्थकामौ, कामार्थौ, वैकारिमतम्, गाजवाजम, गोजवाजम्, गोपालधानीपूलासम्, पूलासककरण्डम्, स्थूलपूलासम्, स्थलपूलासम्, उशीरबीजम्, सिञ्जास्थम्, चित्रास्वाती, भार्यापती, दम्पती, जम्पती, जायापती, पुत्रपती, पुत्रपशू, केशश्मश्रु, शिरोबीजम्, शिरोजानु, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, आद्यन्तौ, अन्तादी, गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ। आकृतिगणोऽयं राजदन्तादिः।

गवाश्वप्रभृतीनि च (पृ० ५२७) गवाश्वम्, गवाविकम्, गवैडकम्, अजाविकम्, अजैडकम्, कुब्जवामनम्, कुब्जकिरातम्, पुत्रपौत्रम्, श्वचण्डालम्, स्त्रीकुमारम्, दासमाणवकम्, शाटीपटीकम्, शाटीप्रच्छदम्, शाटीपट्टिकम्, उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्, मूत्रशकृत्, मूत्रपुरीषम्, यकृन्मेदः, मांसशोणितम्, दर्भशरम्, दर्भपूतीकम्, अर्जुनशिरीषम्, अर्जुनपुरुषम्, तृणोपलम्, दासीदासम्, कुटीकुटम्, भागवतीभागवतम्। एते गवाश्वप्रभृतयः।

न दधिपयआदीनि (पृ० ५२८) दधिपयसी, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ, परिव्राजककौशिकौ, प्रवर्ग्योपसदौ, शुक्लकृष्णौ, इध्माबर्हिषी, दीक्षातपसी, अध्ययनतपसी, उलूखलमुसले, आद्यवसाने, श्रद्धामेधे, ऋक्सामे, वाङ्मनसे। इति दधिपयआदयः।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पृ० ५४९) पृषोदर, पृषोत्थान, बलाहक, जीमूत, उलूखल, पिशाच, बृसी, मयूर। इति पृषोदरादिः।

मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (पृ० ५५०) अजिर, खदिर, पुलिन, हंस, कारण्डव, चक्रवाक। इत्यजिरादिः।

शरादीनां च (पृ० ५५०) शर, वंश, धूम, अहि, कपि, मणि, मुनि, शुचि, हनु। इति शरादिः।

इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो न (पृ० ५५१) इरिका, मिरिका, तिमिरा। इतीरिकादिराकृतिगणः।

अश्वपत्यादिभ्यश्च (पृ० ५५४) अश्वपति, स्थानपति, ज्ञानपति, यज्ञपति, बन्धुपति, शतपति, धनपति, गणपति, राष्ट्रपति, कुलपति, गृहपति, पशुपति, धान्यपति, धर्मपति, धन्वपति, सभापति, प्राणपति, क्षेत्रपति। इत्यश्वपत्यादिः।

उत्सादिभ्योऽञ् (पृ० ५५५) उत्स, उदपान, विकिर, विनद, महानद, महानस, महाप्राण, तरुण, तलुन, बष्कय, घास, धेनु, पृथ्वी, पङ्क्ति, जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जनपद, भरत, उशीनर, ग्रीष्म, पीलु, कुण, उदस्थान, देशे, पृषदंश, भल्लकीय, रथन्तर, मध्यन्दिन, बृहत्, महत्, सत्वत्, कुरु, पञ्चाल, इन्द्रावसान, उष्णिह्, ककुभ्, सुवर्ण, देव, ग्रीष्मादच्छन्दसि। इत्युत्सादिः।

गर्गादिभ्यो यञ् (पृ० ५५६) गर्ग, वत्स, वाजासे, संस्कृति, अज, व्याघ्रपात्, विदभृत्, प्राचीनयोग, अगस्ति, पुलस्ति, चमस, रेभ, अग्निवेश, शङ्ख, शट, शक, एक, धूम, अवट,

मनस्, धनञ्जय, वृक्ष, विश्वावसु, जरमाण, लोहित, शंसित, बभ्रु, वल्गु, मण्डु, गण्डु, शङ्कु, लिगु, गुहलु, मन्तु, मङ्क्षु, आलिगु, जिगीषु, मनु, तन्तु, मनायी, सूनु, कथक, कन्थक, ऋक्ष, वृक्ष, (वृक्ष) तनु, तरुक्ष, तलुक्ष, तण्ड, वतण्ड, कपि, कत, कुरुकत, अनडुह्, कण्व, शकल, गोकक्ष, अगस्त्य, कुण्डिनी, यज्ञवल्क, पर्णवल्क, अभयजात, विरोहित, वृषगण, रहूगण, शण्डिल, (चणक) वर्णक, चुलुक, मुद्गल, मुसल, जमदग्नि, पराशर, जातूकर्ण, महित, मन्त्रित, अश्मरथ, शर्कराक्ष, पूतिमाष, स्थूरा, अदरक, (अररक) एलाक, पिङ्गल, कृष्ण, गोलन्द, उलूक, तितिक्ष, भिषज्, भिष्णज्, भडित, भण्डित, दल्भ, चेकित, चिकित्सित, देवहू, इन्द्रहू, एकलू, पिप्पलू, वृहदग्नि, सुलोहिन्, उक्थ, कुटीगु। इति गर्गादिः।

बाह्वादिभ्यश्च (पृ० ५५८) बाहु, उपबाहु, उपवाकु, निवाकु, शिवाकु, वटाकु, उपनिन्दु, वृषल, वृकला, चूडा, बलाका, मूषिका, कुशला, भगला, (छगला) ध्रुवका, ध्रुवका, सुमित्रा, दुर्मित्रा, पुष्करसद्, अनुहरद्, देवशर्मन्, अग्निशर्मन्, भद्रशर्मन्, सुशर्मन्, कुनामन्, सुनामन्, पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्। अमितौजसः सलोपश्च। सुधावत, उदञ्चु, माष, शिरस्, शराविन्, मरीचिन्, क्षेमवृद्धिन्, शृङ्खलतोदिन्, खरनादिन्, नगरमर्दिन्, प्राकारमर्दिन्, लोमन्, अजीगर्त, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, साम्ब, गद, प्रद्युम्न, राम, उदङ्क। उदकः संज्ञायाम्। संभूयोऽम्भसः सलोपश्च। आकृतिगणोऽयम्। तेन सात्यकिः, जाङ्घिः, ऐन्द्रशर्मिः, आजधेनविः। इति बाह्वादिः।

अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (पृ० ५५८) बिद, उर्व, कश्यप, कुशिक, भरद्वाज, उपमन्यु, किलात, किंदर्भ, विश्वानर, (ऋष्टिषेण) ऋषिषेण, ऋतभाग, हर्यश्व, प्रियक, आपस्तम्ब, कूचवार, शरद्वत्, शुनक, धेनु, गोपवन, शिग्रु, बिन्दु, (भोगक), भाजन, (शमिक) अश्वावतान, श्यामक, श्यामाक, श्यावलि, श्यापर्ण, हरित, किंदास, वह्यस्क, अर्कजूष, वध्योग, विष्णुवृद्ध, प्रतिबोध, (रथीतर) रथित, रथन्तर, गविष्ठिर, निषाद, शबर, अलस, मठर, (मृडाकु) सृपाकु, मृदु, पुनर्भू, पुत्र, दुहितृ, ननान्दृ, परस्त्री, परशुं च। इति बिदादिः।

शिवादिभ्योऽण् (पृ० ५५८) शिव, प्रोष्ठ, प्रोष्ठिक, चण्ड, जम्भ, भूरि, दण्ड, कुठार, ककुभ, अनभिम्लान, कोहित, सुख, सन्धि, मुनि, ककुत्स्थ, कहोड, कोहड, कहूय, कहय, रोध, कपिञ्जल, खञ्जन, वतण्ड, तृणकर्ण, क्षीरह्रद, जलह्रद, परिल, (पथक) पिष्ट, हैहय, गोपिका, कपालिका, जटिलिका, बधिरिका, मञ्जिष्ठा, वृष्णिक, खञ्जार, खञ्जा, रेख, लेख, रिख, आलेखन, विश्रवण, रवण, वर्तनाक्ष, ग्रीवाक्ष, पिटाक, ऋक्षाक, नभाक, कर्णनाभ, जरत्कार, पुरोहितिका, सुरोहितिका, आर्यश्वेत, सुपिष्ट, मसुर, कर्ण, मयूरकर्ण, खडुरक, तक्षन्, ऋष्टिषेण, गङ्गा, विपाश, यस्क, लह्य, द्रुह्य, अयःस्थूण, तृणकर्ण, पर्ण, भलन्दन, विरूपाक्ष, भूमि, इला, सपत्नी। द्व्यचो नद्याः। त्रिवेणी, त्रिवणं च। इति शिवादिः।

रेवत्यादिभ्यष्ठक् (पृ० ५५९) रेवती, अश्वपाली, मणिपाली, द्वारपाली, वृकवञ्चिन्, वृकबन्धु, वृकग्राह, कर्णग्राह, दण्डग्राह, ककुदाक्ष, चामरग्राह, कुक्कुटाक्ष। इति रेवत्यादिः।

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् (पृ० ५५१) कुञ्ज, ब्रध्न, शङ्ख, भस्मक, गण, लोमन्, शठ, शाक, शुण्डा, शुभ, विपाश, स्कन्द, स्कम्भ । इति कुञ्जादि' ।

नडादिभ्य फक् (पृ० ५५१) नड, चर, बक, मुञ्ज, इतिक, इतिश, उपक, एक, लमक, शलङ्कु, कम्बु च, सप्तल वाजप्य, तिक, अग्निशर्मन्, वृषगणे, प्राण, नर, सायक, दास, मित्र, द्वीप, पिङ्गर, पिङ्गल, किङ्कर, किङ्कल, काश्यप, कातर, काव्य, काश्य, अज, अमुष्य, कृष्णरणौ, ब्राह्मणवासिष्ठे, अमित्र, लिगु, चित्र, कुमार, क्रोष्टु, क्रोष्ट च, लोह, दुर्ग, स्तम्भ, शिंशपा, अग्र, तृण, शकट, सुमनस, सुमत, मिमत, ऋच, जलधर, अध्वर, युगन्धर, हंसक, दण्डिन्, हस्तिन्, पिण्ड, पञ्चाल, चमसिन्, सुकृत्य, स्थिरक, ब्राह्मण, चटक, बदर, अश्वल, खरप, लङ्क, इन्ध, अस्त्र, कामुक, ब्रह्मदत्त, उदुम्बर, शोण, अलोह, दण्डप । इति नडादि ।

अश्वादिभ्य फञ् (पृ० ५५०) अश्व, अश्मन्, शङ्ख, शूद्रक, बिद, पट, रोहिण, खर्जूर, पिञ्जूल, भडिल, भण्डिल, भडित, भण्डित, प्रकृत, रामोद, क्षान्त, काश, काण, गोलाङ्क, अर्क, स्वर, वन, पाद, चक्र, कुल, पूल, अविह, बीक्ष, पविन्द, पविन, गोमिन्, श्याम, धूम, धूम्र, वाग्मिन्, विश्वानर, कुट, शप, आत्रेये, जन, जड, खड, ग्रीष्म, अर्ह, केन, विशप, विशाल, गिरि, चपल, चुप, दास, वैल्य, प्राच्य, आनडुह्य, पुंसि जाते । अर्जुन्, सुमनस्, दुर्मनस्, मनस्, प्रान्त, ध्वान, आत्रेयभारद्वाजे, भारद्वाजात्रेये, उत्स, आतव, कितव, शिव, खदिर । इत्यश्वादिः ।

शुभ्रादिभ्यश्च (पृ० ५६०) शुभ्र, विष्ट, पुर, ब्रह्मकृत, शतद्वार, शलाथल, शलाकाभ्रू, लेखाभ्रू, विकास, रोहिणी, रुक्मिणी, धर्मिणी, दिश, शालूक, अजबस्ति, शकन्धि, विमातृ, विधवा, शुक, विश, देवतर, शकुनि, शुक्र, उग्र, शतल, बन्धकी, सृकण्डु, विश्व, अतिथि, गोदन्त, कुशाम्ब, मकण्डु, शान्ता, इर, पाण्डुरिक, सुनामन्, लक्षणश्यामयोर्वासिष्ठे, गोधा, कृकलास, अणीव, प्रवाहण, भरत, भरम, मृकण्डु, कर्पूर, इतर, अन्यतर, आलीढ, सुदत्त, सुदक्ष, सुवक्षस्, सुदामन्, कद्रु, तुद, अकशाप, कुमारिका, कुठारिका, किशोरिका, अम्बिका, जिह्माशिन्, परिधि, वायुदत्त, शकल, शलाका, खडूर, कुबेरिका, अशोका, गन्धपिङ्गला, खण्डोन्मत्ता, अनुदृष्टिन्, जरतिन्, बलीवर्दिन्, विग्र, बीज, जीव, श्वन्, अश्मन, अश्व, अजिर । इति शुभ्रादिराकृतिगणः ।

कल्याण्यादीनामिनङ् (पृ० ५६०) कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, बन्धकी, अनुदृष्टि, अनुसृति, जरती, बलीवर्दी, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, परस्त्री । इति कल्याण्यादि' ।

तिकादिभ्य फिञ् (पृ० ५६२) तिक, कितव, संज्ञा, बाला, शिखा, उरस्, शाठ्य, सैन्धव, यमुन्द, रूप्य, ग्राम्य, नील, अमित्र, गौकक्ष, कुरु, देवरथ, तैतिल, औरस, कौरव्य, भौरिकी, भौलिकी, मौलीकी, चौपयत, चैटयत, शीकयत, क्षैतयत, वाजवत, चन्द्रमस्, शुभ, गङ्गा, वरेण्य, सुयामन्, आरब्ध, वाह्यक, खल्यक, वृष, लोमक, उदन्य, यज्ञ । इति तिकादिः ।

कम्बोजाल्लुक् (पृ० ५६३) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्। कम्बोज, चोल, केरल, शक, यवन। इति कम्बोजादिः।

भिक्षादिभ्योऽण् (पृ० ५६८) भिक्षा, गर्भिणी, क्षेत्र, करीष, अङ्गार, चर्मिन्, धर्मिन्, सहस्र, युवति, पदाति, पद्धति, अथर्वन्, दक्षिणा, भरत, विषय, श्रोत्र। इति भिक्षादिः।

पाशादिभ्यो यः (पृ० ५६९) पाश, तृण, धूम, वात, अङ्गार, पाटल, पोत, गल, पिटक, पिटाक, शकट, हल, नट, वन। इति पाशादिः।

खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः (पृ० ५७०) खल, डाक, कुटुम्ब, शाक, कुण्डलिनी। इति खलादिराकृतिगणः।

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् (पृ० ५७१) उक्थ, लोकायत, न्याय, न्यास, पुनरुक्त, निरुक्त, निमित्त, द्विपद, ज्योतिष, अनुपद, अनुकल्प, यज्ञ, धर्म, चर्चा, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, संहिता, पदक्रम, संघट्ट, परिषद्, वृत्ति, संग्रह, गण, गुण, आयुर्वेद। इत्युक्थादिः।

वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाशबलपक्षकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः (पृ० ५७२)
(१) अरीहण, द्रुघण, द्रुहण, भगल, उलन्द, किरण, सांपरायण, क्रौष्ट्रायण, औष्ट्रायण, त्रैगर्तायन, मैत्रायण, भास्त्रायण, वैमतायन, गौमतायन, सौमतायन, सौसायन, धौमतायन, ऐन्द्रायण, कौन्द्रायण, खाडायन, शाण्डिल्यायन, रायस्पोष, विपथ, विपाश, उद्दण्ड, उदञ्चन, खाण्डवीरण, वीरण, काशकृत्स्न, जाम्बवत्, शिंशपा, रैवत, बिल्व, सुयज्ञ, शिरीष, बधिर, जम्बु, खदिर, सुशर्मन्, भलतृ, भलन्दन, खण्डु, कलन, यज्ञदत्त। इत्यरीहणादिः।

(२) कृशाश्व, अरिष्ट, अरिश्म, विशाल, लोमश, रोमश, रोमक, शबल, कूटवर्चल, वर्चल, सुकर, सूकर, प्रतर, अहृश, पुराग, पुरग, सुख, धूम, अजिन, विनत, अवनत, विकुट्यास, पराशर, अरुस्, अयस्, मौद्गल्य, शुकर। इति कृशाश्वादिः।

(३) ऋश्य, न्यग्रोध, शर, निलीन, निवास, निवात, विधान, निबद्ध, विबद्ध, परिगूढ, उपगूढ, असनि, सित, मत, वेश्मन्, उत्तराश्मन्, अश्मन्, स्थूल, बाहु, खदिर, शर्करा, अनडुह्, अरडु, परिवंश, वेणु, वीरण, खण्ड, दण्ड, परीवृत्त, कर्दम, अंशु। इत्यृश्यादिः।

(४) कुमुद, शर्करा, न्यग्रोध, इक्कट, कङ्कट, सङ्कट, गर्त, बीज, परिवाप, निर्यास, शकट, कच, मधु, शिरीष, अश्व, अश्वत्थ, बल्वज, यवास, कूप, विकङ्कट, दशग्राम। इति कुमुदादिः।

(५) काश, पाश, अश्वत्थ, पलाश, पीयूक्षा, चरण, वास, नड, वन, कर्दम, कच्छूल, कङ्कट, गुहा, बिसतृण, कर्पूर, बर्बर, मधुर, ग्रह, कपित्थ, जतु, सीपाल। इति काशादिः।

(६) तृण, नड, मूल, वन, पर्ण, वराण, बिल, पुल, फल, अर्जुन, अर्ण, सुवर्ण, दल, चरण, बुस। इति तृणादिः।

(७) प्रेक्षा, हलका, बन्धुका, ध्रुवका, क्षिपका, न्यग्रोध, इक्कट, कङ्कट, सङ्कट, कट, कूप, बुक, पुट, मह, परिवाप, यवाष, ध्रुवका, गर्त, कूपक, हिरण्य। इति प्रेक्षादिः।

(८) अश्मन्, यूथ, ऊष, मीन, नद, दर्भ, वृन्द, गुद, खण्ड, नग, शिखा, कीट, पाम, कन्द, कान्द, कुल, गह्व, गुण, कुण्डल, पीन, गुह । इत्यश्मादि ।

(९) सखि अग्निदत्त, वायुदत्त, सखिदत्त, गोपिल, भल्ल, पाल, चक्र, चक्रवाक, छगल, अशोक, करवीर, वासव, वीर, पूर, वज्र, कुशीरक, सीहर, सरक, सरस, समर, समल, सुरस, रोह, तमाल, कदल, सप्तल । इति सख्यादि ।

(१०) सङ्काश, कपिल, काश्मीर, समीर, शूरसेन, सरक, शूर, सुपथिन्, पन्थ च, यूथ, अंश, अङ्ग, नासा, पलित, अनुनाश, अश्मन्, कूट, मलिन, दश, कुम्भ, शीर्ष, विरत, समल, सीर, पञ्जर, मन्थ, नल, रोमन्, पुलिन, सुपरि, कटिप, सकर्णक, वृष्टि, तीर्थ, अगस्ति, विकर, नासिका । इति सङ्काशादि ।

(११) बल, चुल, नल, दल, वट, लकुल, उरल, पुल, मूल, उल, डुल, वन, कुल । इति बलादि ।

(१२) पक्ष, तुक्ष, तुष, कुण्ड, अण्ड, कम्बलिका, बलिक, चित्र, अस्ति, सुपथिन्पन्थ च, कुम्भ, सीरक, सरक, सकल, सरस, समल, अतिश्वन्, रोमन्, लोमन्, हस्तिन्, मकर, लोमक, शीर्ष, निवात, पाक, सिंहक, अङ्कुश, सुवर्णक, हंसक, हिंसक, कुत्स, बिल, खिल, यमल, हस्तकला, सकर्णक । इति पक्षादि ।

(१३) कर्ण, वसिष्ठ, अर्क, अर्कलूष, द्रुपद, आनडुह्य, पाञ्चजन्य, स्फिच्, कुम्भी, कुन्ती, जित्वन्, जीवन्त, कुलिश, आण्डीवत्, जव, जैत्र आनक । इति कर्णादि ।

(१४) सुतङ्गम, मुनिचित्त, विप्रचित्त, महाचित्त, महापुत्र, स्वन, श्वेत, खडिक, शुक, विग्र, बीजवापिन्, अर्जुन, श्वन्, अजिर, जीव, खण्डिन्, कर्ण, विग्रह । इति सुतङ्गमादि ।

(१५) प्रगदिन्, मगदिन्, मददिन्, कविल, खण्डित, गदित, चूडार, मन्दार, मडार, कोविदार । इति प्रगद्यादि ।

(१६) वराह, पलाश, शिरीष, पिनद्ध, निबद्ध, बलाह, स्थूल, विदग्ध, विजग्ध, विभग्न, निमग्न, बाहु, खदिर, शर्करा । इति वराहादि ।

(१७) कुमुद, गोमथ, रथकार, दशग्राम, अश्वत्थ, शाल्मलि, शिरीष, मुनिस्थल, कुण्डल, कूट, मधुकर्ण, घास, कुन्द, शुचि, कर्ण । इति कुमुदादि ।

वरणादिभ्यश्च (पृ० ५७४) वरणा, शृङ्गी, शाल्मलि, शुण्डी, शयाण्डी, पर्णी, ताम्रपर्णी, गोद, आलिङ्ग्यायन, जानपदी, जम्बू, पुष्कर, चम्पा, पम्पा, वल्गु, उज्जयिनी, गया, मथुरा, तक्षशिला, उरसा, गोमती, वलभी । इति वरणादि ।

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (पृ० ५७१) यव, दल्मि, ऊर्मि, भूमि, कृमि, क्रुञ्चा, वशा, द्राक्षा, ध्राक्षा ध्रजि, ध्वजि, निजि, सञ्जि, हरित्, ककुद्, मरुत्, गरुत्, इक्षु, द्रु, मधु । इत्याकृतिगणोऽयम् ।

नद्यादिभ्यो ढक् (पृ० ५७६) नदी, मही, वाराणसी, श्रावस्ती, कौशाम्बी,

वनकौशाम्बी, काशपरी, काशफरी, खादिरी, पूर्वनगरी, पाठा, माया, शाल्वा, दार्वा, सेतकी, वडवाया, वृषे इति नद्यादिः ।

उत्करादिभ्यश्छः (पृ० ५७१) उत्कर, संफल, शफर, पिप्पल, पिप्पलीमूल, अश्मन्, सुवर्ण, खलाजिन, तिक, कितव, अणक, त्रैवण, पिचुक, अश्वत्थ, काश, क्षुद्र, भस्त्रा, शाल, जन्या, अजिर, चर्मन्, उत्क्रोश, क्षान्त, खदिर, शूर्पणाय, श्यावनाय, नैवाकव, तृण, वृक्ष, शाक, पलाश, विजिगीषा, अनेक, आतप, फल, संपर, अर्क, गर्त, अग्नि, वैराणक, इडा, अरण्य, निशान्त, पर्ण, नीचायक, शङ्कर, अवरोहित, क्षार, विशाल, वेत्र, अरीहण, खण्ड, वातागार, मन्त्रणार्ह, इन्द्रवृक्ष, नितान्तवृक्ष, आर्द्रवृक्ष, इत्युत्करादिः ।

काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ (पृ० ५७८) काशि, वेदि, चेदि, सांयाति, संवाह, अच्युत, मोदमान, शकुलाद, हस्तिकर्षु, कुनाम, हिरण्य, करण, गोवासन, भारङ्गी, अरिन्दम, अरित्र, देवदत्त, दशग्राम, शौवावतान, युवराज, उपराज, देवराज, मोदन, सिन्धुमित्र, दासमित्र, सुधामित्र, सोममित्र, छागमित्र, साधमित्र, सधमित्र, आपदादिपूर्वपदात् कालान्तात् । आपद् ऊर्ध्व तत् । इति काश्यादिः ।

गहादिभ्यश्च (पृ० ५७९) गह, अन्तस्थ, सम, विषम; मध्य, मध्यंदिन, चरण, उत्तम, अङ्ग, वङ्ग, मगध, पूर्वपक्ष, अपरपक्ष, अधमशाख, उत्तमशाख, एकशाख, समानशाख, एकग्राम, समानग्राम, एकवृक्ष, एकपलाश, इष्वग्र, इष्वनीक, अवस्यन्दन, कामप्रस्थ, खाडायन, काठेरणि, लावेरणि, सौमित्रि, शैशिरि, आसुत, दैवशर्मि. श्रौति, आहिंसि, आमित्रि, व्याडि,, वैजि, आध्यश्वि, आनृशंसि, शौङ्गि, अग्निशर्मि मौजि, वाराटकि, वाल्मीकि, क्षैमवृद्धि, आश्वत्थि; औद्गाहमानि, ऐकबिन्दवि, दन्ताग्र, हंस, तन्त्वग्र, उत्तर, अनन्तर, मुखपार्श्वतसोर्लोपः । जनपरयोः कुक् च । देवस्य च । इति गहादिराकृतिगणः ।

द्वारादीनां च (पृ० ५८०) द्वार, स्वर, स्वग्राम, स्वाध्याय, व्यल्कश, स्वस्ति, स्वर्, स्फ्यकृत, स्वादु, मृदु, श्वस्, श्वन्, स्व । इति द्वारादिः ।

सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् (पृ० ५८०) सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, प्रतिपत् । इति सन्धिवेलादिः ।

दिगादिभ्यो यत् (पृ० ५८२) दिश्, वर्ग, पूग, गण, पक्ष, धाय्य, मित्र, मेधा, अन्तर, पथिन्, रहस्, अलीक, उखा, साक्षिन्, देश, आदि, अन्त, मुख, जघन, मेघ, यूथ, उदकात्संज्ञायाम्, न्याय, वंश, वेश, काल, आकाश । इति दिगादिः ।

परिमुखादिभ्य एवेष्यते (पृ० ५८३) परिमुख, परिहनु, पर्योष्ठ, पर्युलूखल, परिसीर, उपसीर, उपस्थूण, उपकलाप, अनुपथ, अनुपद, अनुगङ्ग, अनुतिल, अनुसीत, अनुसाय, अनुसीर, अनुमाष, अनुयव, अनुयूप, अनुवंश, प्रतिशाख, इति परिमुखादिः ।

अध्यात्मादेष्ठञ् (पृ० ५८०) अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत, इहलोक, इत्यध्यात्मादिराकृतिगणः ।

अनुशतिकादीनां च (पृ० ५८४) अनुशतिक, अनुहोड, अनुसंवरण, अनुसंवत्सर,

अङ्गारवेणु, असिहत्य, अस्यहेति, वध्योग, पुष्करसद्, अनुहरत्, कुरुकत, कुरुपञ्चाल, उदकशुद्ध, इहलोक, परलोक, सर्वलोक, सर्वपुरुष, सर्वभूमि, प्रयोग, परस्त्री, राजपुरुषात्, ष्यञि, सूत्रनड, आकृतिगणोऽयम्। तेन अधिगम, अधिभूत, अधिदेव, चातुर्विद्या इत्यादि। इत्यनुशतिकादिः।

पलाशादिभ्यो वा (पृ० ५८०) पलाश, खदिर, शिंशपा, स्पन्दन, पुलाक, करीर, शिरीष, यवास, विकङ्कत, इति पलाशादिः।

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (पृ० ५८८) शर, दर्भ, मृद्, कुटी, तृण, सोम, बल्वज, इति शरादिः।

प्लक्षादिभ्योऽण् (पृ० ५८८) प्लक्ष, न्यग्रोध, इङ्गुदी, अश्वत्थ, शिग्रु, रुरु, कक्षतु, बृहती, इति प्लक्षादिः।

हरीतक्यादिभ्यश्च (पृ० ५८९) हरीतकी, कोशातकी, नखरजनी, शष्कण्डी, दाडी, दोडी, श्वेतपाकी, अर्जुनपाकी, द्राक्षा, काला, ध्वाङ्क्षा, गर्भीका, कण्टकारिका, पिप्पली, चिञ्चा, शेफालिका, इति हरीतक्यादिः।

तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम् (पृ० ५९०) माशब्द, नित्यशब्द, कार्यशब्द—इति माशब्दादिराकृतिगणः।

आहौ प्रभूतादिभ्यः (पृ० ५९०) प्रभूत, पर्याप्त—इति प्रभूतादिराकृतिगणः।

पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः (पृ० ५९०) सुस्नात, सुखरात्रि, सुखशयन—इति सुस्नातादिराकृतिगणः।

गच्छतौ परदारादिभ्यः (पृ० ५९०) परदार, गुरुतल्प, इति परदारादिराकृतिगणः।

पर्पादिभ्यः ष्ठन् (पृ० ५९१) पर्प, अश्व, अश्वत्थ, रथ, जाल, न्यास, व्याल। पादः पच्च—इति पर्पादिः।

वेतनादिभ्यो जीवति (पृ० ५९१) वेतन, वाहन, अर्धवाहन, धनुर्दण्ड, जाल, वेश, उपवेश, प्रेषण, उपवस्ति, सुख, शय्या, शक्ति, उपनिषद्, उपदेश, स्फिज, पाद, उपस्थ, उपस्थान, उपहस्त—इति वेतनादिः।

भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् (पृ० ५९१) भस्त्रा, भरट, भरण, शीर्षभार, शीर्षेभार, अंसभार, अंसेभार—इति भस्त्रादिः।

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः (पृ० ५९२) अक्षद्यूत, जानुप्रहृत, जङ्घाप्रहृत, जङ्घाप्रहत, पादस्वेदन, कण्टकमर्दन, गतानुगत, गतागत, यातोपयात, अनुगत। इत्यक्षद्यूतादिः।

छत्रादिभ्यो णः (पृ० ५९३) छत्र, शिक्षा, प्ररोहस्य, बुभुक्षा, चुरा, तितिक्षा, उपस्थान, कृषि, कर्मन्, विश्वधा, तपस्, सत्य, अनृत, विशिखा, विशिका, भक्षा, उदस्थान, पुरोडा, विक्षा, चुक्षा, मन्द्र, इति छत्रादिः।

दण्डादिभ्यो यत् (पृ० ५९५) गो, हविस्, अक्षर, विष, बर्हिस्, अष्टका, स्खदा, युग, मेधा, स्रुच्। नाभि नभं च। शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वं, तत्सन्नियोगेन चान्तो-

दाशरथम् । उपसोऽन्तङ् च । कूप, खद, दर, खर, असुर, अध्वन्, क्षर, वेद, बीज, दीप्त, इति गवादिः ।

विभाषा हविरपूपादिभ्यः (पृ० ५९५) अपूप, तण्डुल, अभ्यूष, अभ्योष, अवोष, अभ्येष, पृथुक, ओदन, सूप, पूप, किण्व, प्रदीप, मुसल, कटक, कर्णवेष्टक, इर्गल, अर्गल । अन्नविकारेभ्यश्च । यूप, स्थूणा, दीप, अश्व, पत्र, इत्यपूपादिः ।

असमासे निष्कादिभ्यः (पृ० ५९७) निष्क, पण, पाद, माष, वाह, द्रोण, षष्टि, इति निष्कादिः ।

दण्डादिभ्यो यत् (पृ० ५९८) दण्ड, मुसल, मधुपर्क, कशा, मेघ, अर्घ, मेधा, सुवर्ण, उदक, वध, युग, गुहा, भाग, इभ, भङ्ग, इति दण्डादिः ।

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (पृ० ५९९) पृथु, मृदु, महत्, पटु, तनु, लघु, बहु, साधु, आशु, उरु, गुरु, बहुल, खण्ड, दण्ड, चण्ड, अकिंचन, बाल, वत्स, होड, पाक, मन्द, स्वादु, ह्रस्व, दीर्घ, प्रिय, वृष, ऋजु, क्षिप्र, क्षुद्र, अणु । इति पृथ्वादिः ।

वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च (पृ० ६००) दृढ, वृढ, परिवृढ, भृश, कृश, वक्र, शुक्र, चुक्र, आम्र, कृष्ट, लवण, ताम्र, शीत, उष्ण, जड, बधिर, पण्डित, मधुर, मूर्ख, मूक, स्थिर । वेर्यातलाभमतिमनःशारदानाम् । समो मतिमनसोः । जवन । इति दृढादिः ।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (पृ० ६००) ब्राह्मण, वाडव, माणव, अर्हतो नुम् च । चोर, धूर्त, आराधय, विराधय, अपराधय, उपराधय, एकभाव, द्विभाव, त्रिभाव, अन्यभाव, अक्षेत्रज्ञ, संवादिन्, संवेशिन्, संभाषिन्, बहुभाषिन्, शीर्षघातिन्, विघातिन्, समस्थ, विषमस्थ, परमस्थ, मध्यमस्थ, अनीश्वर, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ, विदन, बालिश, अलस, दुःपुरुष, कापुरुष, राजन्, गणपति, अधिपति, गडुल, दायाद, विशस्ति, विषम, विपात, निपात । सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे । चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च । शौटीर । इति ब्राह्मणादिराकृतिगणः ।

चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् (पृ० ६००) चतुर्वर्ण, चतुराश्रम, सर्वविद्य, त्रिलोक, त्रिस्वर, षड्गुण, सेना, अनन्तर, सन्निधि, समीप, उपमा, सुख, तदर्थ, इतिह, मणिक । इति चतुर्वर्णादिः ।

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (पृ० ६००) पुरोहित, राजासे, ग्रामिक, पिण्डित, सुहित, बाल, मन्द, खण्डिक, दण्डिक, वर्मिक, कर्मिक, धर्मिक, शीलिक, सूतिक, मूलिक, तिलक, अञ्जलिक, अञ्जनिक, रूपिक, ऋषिक, पुत्रिक, अविक, छत्रिक, पर्षिक, पथिक, चर्मिक, प्रतिक, सारथि, आस्तिक, सूचिक, संरक्षक, सूचक, नास्तिक, अजानिक, शाक्वर, शाकर, नागर, चूडिक, इति पुरोहितादिः ।

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् (पृ० ६००) उद्गातृ, उन्नेतृ, प्रतिहर्तृ, प्रशास्तृ, होतृ, पोतृ, हर्तृ, रथगणक, पत्तिगणक, सुष्ठु, दुष्ठु, अध्वर्यु, वधू, सुभग, मन्त्र । इत्युद्गात्रादिः ।

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् (पृ० १०१) युवन्, स्थविर, होतृ, यजमान, पुरुषासे, भ्रातृ, कुतुक, श्रमण (श्रवण), कटुक, कमण्डलु, कुस्त्री, सुस्त्री, दुःस्त्री, सुहृदय, दुर्हृदय, सुहृद्, दुर्हृद्, सुभ्रातृ, दुर्भ्रातृ, वृषल, परिव्राजक, सब्रह्मचारिन्, अनृशंस, हृदयासे, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ । श्रोत्रियस्य यलोपश्च । इति युवादिः ।

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च (पृ० १०२) मनोज्ञ, प्रियरूप, अभिरूप, कल्याण, मेधाविन्, आढ्य, कुलपुत्र, छान्दस, छात्र, श्रोत्रिय, चोर, धूर्त, विश्वदेव, युवन्, कुपुत्र, ग्रामपुत्र, ग्रामकुलाल, ग्रामषण्ड, ग्रामकुमार, सुकुमार, बहुल, अवश्यपुत्र, अमुष्यपुत्र, अमुष्यकुल, सारपुत्र, शतपुत्र, इति मनोज्ञादिः ।

तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ (पृ० १०३) १. पीलु, कर्कन्धू, कर्कन्धु, शमी, करीर, बल, कुवल, बदर, अश्वत्थ, खदिर । इति पील्वादिः ।

२. कर्ण, अक्षि, नख, मुख, केश, पाद, गुल्फ, भ्रू, शृङ्ग, दन्त, ओष्ठ, पृष्ठ । इति कर्णादिः ।

तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (पृ० १०५) तारका, पुष्प, कर्णक, मञ्जरी, ऋजीष, क्षण, सूत्र, मूत्र, निष्क्रमण, पुरीष, उच्चार, प्रचार, विचार, कुड्मल, कण्टक, मुसल, मुकुल, कुसुम, कुतूहल, स्तवक, स्तबक, किसलय, पल्लव, खण्ड, वेग, निद्रा, मुद्रा, बुभुक्षा, धेनुष्या, पिपासा, श्रद्धा, अभ्र, पुलक, अङ्गारक, वर्णक, द्रोह, दोह, सुख, दुःख, उत्कण्ठा, भर, व्याधि, वर्मन्, व्रण, गौरव, शास्त्र, तरङ्ग, तिलक, चन्द्रक, अन्धकार, गर्व, कुमुर, मुकुर, हर्ष, उत्कर्ष, रण, कुवलय, गर्ध, क्षुध्, सीमन्त, ज्वर, गर, रोग, रोमाञ्च, पण्डा, कज्जल, तृष्, कोरक, कल्लोल, स्थपुट, फल, कञ्चुक, शृङ्गार, अङ्कुर, शैवल, बकुल, श्वभ्र, आराल, कलङ्क, कर्दम, कन्दल, मूर्च्छा, अङ्गार, हस्तक, प्रतिबिम्ब, विघ्नतन्त्र, प्रत्यय दीक्षा, गर्ज, गर्भादप्राणिनि । इति तारकादिः । आकृतिगणः ।

इष्टादिभ्यश्च (पृ० १०८) इष्ट, पूर्त, उपासादित, निगदित, परिगदित, परिवादित, निकथित, निषादित, निपठित, सङ्कलित, परिकलित, संरक्षित, परिरक्षित, अर्चित, गणित, अवकीर्ण, आयुक्त, गृहीत, आम्नात श्रुत, अधीत, अवधान, आसेवित, अवधारित, अवकल्पित, निराकृत, उपकृत, उपाकृत, अनुयुक्त, अनुगणित, अनुपठित, व्याकुलित । इतीष्टादिः ।

सिध्मादिभ्यश्च (पृ० ११०) सिध्म, गडु, मणि, नाभि, बीज, वीणा, कृष्ण, निष्पाव, पांसु, पार्श्व, पर्शु, हनु, सक्तु, मास, मांस । पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्च । वातदन्तबलललाटानामूङ् च । जटाघटाकटाकालाः क्षेपे । पर्ण, उदक, प्रज्ञा, सक्थि, कर्ण, स्नेह, शीत, श्याम, पिङ्ग, पित्त, पुष्क, पृथु, मृदु, मण्ड, पत्र, चटु, कपि, गण्डु, ग्रन्थि, श्री, कुश, धारा, वर्ष्मन्, श्लेष्मन्, पक्ष्मन्, पेश, निष्पाद्, कुण्ड । क्षुद्रजन्तूपतापयोश्च । इति सिध्मादिः ।

लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः (पृ० ११०) १ लोमन्, रोमन्, बभ्रु, गिरि, कर्क, कपि, मुनि, तरु । इति लोमादिः ।

२. पामन्, वामन्, वेमन्, हेमन्, श्लेष्मन्, कद्रु, कद्रू, बलि, सामन्, ऊष्मन्, कृमि ।

अज्ञातकल्याणे। शाकीपलालीदद्रूणां ह्रस्वत्वं च। विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः। लक्ष्मया अच्च। इति पामादिः।

२. पिच्छा, उरस्, ध्रुवक, ध्रुवक। जटाघटाकालाः क्षेपे। पर्ण, उदक, पङ्क, प्रज्ञा। इति पिच्छादिः।

ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् (पृ० ६११) ज्योत्स्ना, तमिस्रा, कुण्डल, कुतप, विसर्प, विपादिका। इति ज्योत्स्नादिः।

व्रीह्यादिभ्यश्च (पृ० ६१२) व्रीहि, माया, शाला, शिखा, माला, मेखला, केका, अष्टका, पताका, चर्मन्, कर्मन्, वर्मन्, दंष्ट्रा, संज्ञा, वडवा, कुमारी, नौ, वीणा, बलाका, यव, खद। शीर्षान्नञः। इति व्रीह्यादिः।

अर्शआदिभ्योऽच् (पृ० ६१४) अर्शस्, उरस्, तुन्द, चतुर, पलित, जटा, घटा, घाटा, अभ्र, कर्दम, अम्ल, लवण। स्वाङ्गाद्धीनात्। वर्णात्, अर्शआदिराकृतिगणः।

शाखादिभ्यो यः (पृ० ६२७) शाखा, मुख, जघन, श्रृङ्ग, मेघ, अभ्र, चरण, स्कन्ध, स्कद, स्कन्द, उरस्, शिरस्, अग्र, शरण। इति शाखादिः।

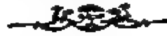
यावादिभ्यः कन् (पृ० ६२९) याव, मणि, अस्थि, तालु, जानु, सान्द्र, पीत, स्तम्ब। ऋतौ उष्णशीते। पशौ लूनवियाते। अणु निपुणे। पुत्र कृत्रिमे। स्नात वेदसमाप्तौ। शून्य रिक्ते। दान कुत्सिते। तनु सूत्रे। ईयसश्च। ज्ञात। अज्ञात। कुमारीक्रीडनकानि च। इति यावादिः।

प्रज्ञादिभ्यश्च (पृ० ६२९) प्रज्ञ, वणिज्, उशिज्, उष्णिज्, प्रत्यक्ष, विद्वस्, वेदन्, षोडन्, विद्या, मनस्, श्रोत्र शरीरे, जुह्वत्, कृष्ण मृगे, चिकीर्षत्, चोर, शत्रु, योध, चक्षुस्, वसु, एनस्, मरुत्, क्रुञ्च, सत्वत्, दशार्ह, वयस्, व्याकृत, असुर, रक्षस्, पिशाच, अशनि, कर्षापण, देवता, बन्धु। इति प्रज्ञादिः।

आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् (पृ० ६३०) आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ, पार्श्व, इत्याद्यादिराकृतिगणः।



मध्यकौमुदीस्थसूत्राणां सूची



प

उणादिसूत्रसूची



इत्युणादिसूत्रसूची।

मध्यसिद्धान्तकौमुदीस्थवार्तिकादिसूची

इति वार्तिकादिसूची ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदीस्थधातुसूची

धातुसूची समाप्ता



प्रश्नोत्तरलेखनप्रकारः



विष्णो इह—

विष्णो इह इति स्थिते 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इति प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावे 'विष्णो इह' इति। प्रगृह्यत्वाऽभावे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन ओकारस्य यथासंख्येन अवादेशे 'विष्णव् इह' इति जाते 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन अवर्णपूर्वस्य वकारस्य लोपे 'विष्ण इह' इति जाते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन 'लोपः शाकल्यस्य' इति सूत्रस्याऽसिद्धत्वात् वकारस्य विद्यमानत्वेन गुणाप्राप्तौ 'विष्ण इह' इति। लोपाभावपक्षे 'विष्णविह' इति।

लक्ष्मीच्छाया—

लक्ष्मी छाया इति स्थिते 'छे च' इत्यनेन तुकि (उकारेतौ) 'लक्ष्मी त् छाया' इत्यत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन तकारस्य दकारे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति दकारस्य जकारे 'खरि चे'ति जकारस्य चकारे परसंयोगे 'लक्ष्मीच्छाया' इति सिद्धम्।

सञ्च्छम्भुः—

सन् शम्भुः इति स्थिते 'शि तुक्' इत्यनेन तुगागमे ककारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन, उकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यनेन च इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'सन् त् शम्भुः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इत्यनेन विकल्पेन शस्य छत्वे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन तकारस्य चकारे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नस्य ञकारे 'सञ्च्छम्भुः' इति। 'झरो झरि–' इति चकारलोपपक्षे 'सञ्छम्भुः' इति। छत्वाभावे लोपे चाकृते चुत्वे च कृते 'सञ्च्शम्भुः' इति तुकोऽभावे छत्वाभावे च नकारस्य श्चुत्वेन ञकारे च कृते 'सञ् शम्भुः' इति च सिद्धम्।

तदुक्तम्—'ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्॥'

उत्थानम्—

उद् स्थानम् इति स्थिते 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इत्यनेन प्राप्तः पूर्वसवर्णः कस्य स्याद् इति शङ्कायां 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यनेन वर्णान्तराव्यवहितस्य परस्य 'स्था' इत्यस्य प्राप्ते सति 'आदेः परस्य' इत्यनेन परस्य 'स्था' इत्यस्य आदिभूतस्य सकारस्य स्थाने पूर्वसवर्णे निश्चिते तत्स्थाने अघोषमहाप्राणप्रयत्नसाम्यात् तादृशे थकारे जाते 'उद्थ्थानम्' इति दशायां 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन पूर्वथकारस्य

लोपे 'झरि च' इत्यनेन धकारस्य चर्त्वे 'उत्थानम्' इति। पक्षे 'झरो झरि सवर्णे' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् लोपाभावे—'उत्थ्थानम्' इति च सिद्धम्।

मनोरथः—

मनस् रथः इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे कृते 'रो रि' 'हशि च' इत्युभयोः प्राप्तौ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति सूत्रेण परत्वात् 'रो रि' इत्यस्यैव प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति सूत्रेण 'रो रि' इत्यस्य त्रिपादिस्थत्वेन असिद्धत्वात् 'हशि च' इति उत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'मनोरथः' इति सिद्धम्।

संस्कर्ता—

सम् कर्ता इत्यत्र 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमे अनुबन्ध लोपे 'सम् स्कर्ता' इति जाते 'समः सुटि' इत्यनेन अन्त्यस्य मस्य रुत्वे अनुबन्ध लोपे 'सर् स्कर्ता' इति जाते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन रोः पूर्वमनुनासिके 'सँर् स्कर्ता' इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति सूत्रेण रेफस्थाने विसर्गे 'सं पुंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सकारे च कृते 'सँस्स्कर्ता' इति। पक्षेऽनुनासिकाभावे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति सूत्रेण अनुस्वारे जाते 'संस्स्कर्ता' इति च सिद्धम्।

विश्वपः—

विश्वं पातीति विश्वपा क्विबन्त, तस्मात् शसि अनुबन्धलोपे विश्वपा+अस् इत्यवस्थायां 'यचि भम्' इत्यनेन भसंज्ञा ततश्च 'क्विबन्ता विड्न्ता विजन्ता क्विबन्ताश्च धातुत्वं न जहतीति' सिद्धान्तानुसारं क्विबन्तस्य धातुत्वेन 'आतो धातोः' इति-आकारस्य लोपे परसयोगे 'विश्वपस्' इति, ततश्च सस्य रुत्वे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे 'विश्वपः' इति सिद्धम्।

क्रोष्टुः—

क्रोष्टुशब्दात् ङसि विभक्तौ ङकारेकारयो इत्संज्ञायां लोपे च कृते 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इत्यनेन तृज्वद्भावे 'क्रोष्टृ अस्' इति स्थिते 'ऋत उत्' इति सूत्रेण पूर्वपरयो ऋकाराकारयो स्थाने उकारादेशे रपरत्वे 'क्रोष्टुर्स्' इति जाते 'रात्सस्य' इति सलोपे रेफस्य विसर्गे 'क्रोष्टुः' इति जातम्।

निर्जरसौ—

निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इत्यनेन जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति। नच सूत्रे जराशब्दस्यैव जरसादेशः प्रोक्तो न तु निर्जरशब्दस्य, इति कथमत्र जरसादेश इति वाच्यम्, 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति परिभाषया तदन्तस्यापि तत्प्रवृत्तेः। नन्वेमपि 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'

इति परिभाषया निर्दिश्यमानस्य जराशब्दस्यैव जरसादेशप्रवृत्तिरिति चेन्मैवम्, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया जरशब्दस्याऽपि जरसादेशविधानात्।

प्रराभ्याम्—

प्रकृष्टो रा=धनं यस्येति बहुव्रीहौ प्ररैशब्दः। तस्य नपुंसकह्रस्वत्वे इकारे 'प्ररि' इति। तस्मात् प्ररिशब्दात् भ्यामि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषाबलात् 'रायो हलि' इत्यनेन आत्वे 'प्रराभ्याम्' इति सिद्धम्।

सर्वस्याम्—

सर्वाशब्दात् ङे ,विभक्तौ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इत्यनेन ङेरामि 'सर्वा आम्' इति स्थिते 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इत्यनेन स्याटि आबन्तस्य ह्रस्वत्वे च जाते 'सर्वस्या आम्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे 'सर्वस्याम्' इति सिद्धम्।

आभ्याम्—

इदम् शब्दात् भ्यामि विभक्तौ 'त्यदादीनामः' इति अत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इदभ्याम्' इति जाते' 'हलि लोपः' इत्यनेन इदागस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य दस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलोन्त्यविध्यभावे इदागस्यैव लोपे अ+भ्याम्' इति जाते 'सुपि च' इति दीर्घत्वे प्राप्ते परन्त्वत्र विद्यमानस्याकारस्यादन्तत्वं वर्तते न वेति शङ्कायाम् 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारे अन्तवद्भावेन अदन्तत्वं मत्वा दीर्घे कृते 'आभ्याम्' इति सिद्धम्।

चतसृणाम्—

'चतसृ आम्' इति स्थिते 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इत्यनेन चतसृआदेशे 'चतसृ आम्' इति जाते 'अचि र ऋतः' इति ऋकारस्य रेफादेशे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि जाते 'चतसृ नाम्' इति स्थिते 'नामि' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति वार्तिकेन णत्वे 'चतसृणाम्' इति सिद्धम्।

ज्ञानानि—

ज्ञानशब्दात् जश्शसोर्विषये 'जश्शसोः शिः' इत्यनेन अनेकाल्त्वाज्जश्शसोः शित्वे कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इत्यनेन 'शि' इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति योगेनान्त्याज्रूपस्य नस्यान्त्यावयवीभूते उकारमकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'ज्ञानन् शि' इति स्थिते शकारस्येत्संज्ञालोपयोः 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्यनेन नान्तोपधायाः दीर्घे 'ज्ञानानि' इति सिद्धम्।

सुधिना—

शोभना धीर्यस्य सुधि—कुलम् 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्व', तस्मात् टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे शोभनधीर्विशिष्टस्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तैक्यात् भाषितपुंस्कत्वेन तृतीयादिषु वैकल्पिके पुंवद्भावे, पुंस्त्वे 'सुधिया' इति। पक्षे-असति 'पुंवद्भावे, आङो नाऽस्त्रियामि'ति नादेशे सुधिना इति च सिद्धम्।

प्रतीचः—

प्रति—उपपदात् 'अञ्च् धातो ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इति क्विनि तस्य सर्वापहारे प्रत्ययलक्षणेन 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति उपधानकारलोपे 'प्रति अच्' इति स्थिते 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'प्रत्यच्' इति। तस्मात् शसि शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते। 'प्रत्यच् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इत्यनेन भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यनेन अलोपे 'चौ' इत्यनेन पूर्वस्याणो दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'प्रतीचः' इति सिद्धम्।

अमुना—

अदस्—शब्दात् टाविभक्तौ 'त्यदादीनाम' इत्यनेन अत्वे 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपे 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इत्यनेन अकारस्य उत्वे दस्य च मत्वे 'अमु+आ' इति जाते नाभावे कर्तव्ये 'न मुने' इत्यनेन मुत्वस्यासिद्धत्वाभावबोधनात् 'शेषो घ्यसखि' इत्यनेन घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन टा—इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति सिद्धम्। अत्र मुत्वस्यासिद्धत्वात् 'सुपि च' इति दीर्घः स्यादिति वाच्यम् 'न मुने' इत्यनेन कृते च नाभावे नासिद्धत्वमित्यस्यापि बोधनात्।

धनूंषि—

धनुष् शब्दात् जश्शसोर्विषये 'धनुष् अस्' इति स्थिते 'जश्शसोः शि' इति शौ कृते अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इत्यनेन सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्यनेन सान्तसंयोगस्य उपधायाः दीर्घे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे संयोगे च कृते 'धनूंषि' इति जातम्।

भवति—

भूसत्तायां धातु अकर्मकः। तस्मात् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति सूत्रेण 'खले कपोतन्यायेन' कर्तरि दशसु लकारेषु प्राप्तेषु 'वर्तमाने लट्' इत्यनेन भूधातोर्वर्तमानक्रियावृत्तित्वात् लटि अनुबन्धलोपे 'भू ल' इति स्थिते 'लस्य' इत्यधिकृत्य 'तिप्तस्झि०' इत्यनेन एते अष्टादश लादेशाः प्राप्ताः 'लः परस्मैपदम्' इत्यनेन अष्टादशानामप्येषां परस्मैपदसंज्ञा सञ्जाता, 'तङानावात्मनेपदम्' इत्यनेन तङ्प्रत्याहारान्तर्पतितानां नवानामात्मनेपदसंज्ञा जाता, एवं तिबादयः परस्मैपद-

संज्ञा, तादयश्च आत्मनेपदसंज्ञा, एषां मध्ये अत्र परस्मैपदसंज्ञिनः प्रत्ययाः स्युः ? किमुतात्मनेपदसंज्ञिनः ? इत्याकाङ्क्षायां 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' इत्यनेन अस्य ('भू धातोः') आत्मनेपदनिमित्तहीनत्वात् कर्त्तरि परस्मैपदं प्राप्तं, परस्मैपदसंज्ञिनां नवानां मध्यात् कतमेन भाव्यमित्याकांक्षायाम्–'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' इति क्रमात् त्रयाणां त्रिकाणां प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञासु जातासु लब्धप्रथमादि-संज्ञानां तिङ्त्रयाणां वचनानां प्रत्येकमेकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञासु अत्र प्रथमेन भाव्यम्, उत मध्यमेन, उत उत्तमेन ? इति शङ्कायां 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषो भवितुं युक्तस्तथापि त्रीणि वचनानि । एषां मध्यात् कतमेन भाव्यमित्याकांक्षायां 'द्व्येकयो-र्द्विवचनैकवचने' इत्यनेन अत्र एकवचनस्य विवक्षायां प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, तिपः पकारस्य इत्संज्ञायां लोपे च तिङ् शित्सार्वधातुकम्' इत्यनेन तिपः सार्व-धातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'क्ङिति च' इत्यनेन गुणनिषेधे 'कर्तरि शप्' इत्यनेन शपि अनुबन्धलोपे, शित्वात् 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इत्यनेन सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन ऊकारस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन ओकारस्य अवादेशे 'भवति' इति सिद्धम् ।

एधाञ्चकृषे—

एध्धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लोपे 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञनुप्रयोगे 'एध् आम् कृ लिट्' इति जाते लिटः स्थाने थासि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'एध् आम् कृ कृ थास्' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यनेन अभ्यासऋवर्णस्य अत्वे रपरत्वे 'एध् आम् कर् कृ थास्' इति स्थिते 'हलादिः शेषः' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इत्यनेन कस्य चत्वे मकारस्य अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'एधाञ्चकृ थास्' इति स्थिते 'थासः से' इत्यनेन थासः स्थाने से आदेशे 'लिट् च' इति आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'एधाञ्चकृषे' इति । अत्र 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्वात् 'क्ङिति च' इति गुणनिषेधो बोध्यः ।

आतीत्—

अत्धातोर्लुङि अजादित्वात् 'आडजादीनाम्' इत्यनेन आडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ कृतायां लुङस्तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे मध्ये च्लौ तस्य सिचि अनुबन्धलोपे 'आत् स् त्' इति स्थिते 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति सिचः इटि 'इट ईटि' इति सिचो लोपे तस्याऽसिद्धत्वात् सवर्णदीर्घाप्राप्तावपि 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति लोपस्यासिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'आतीत्' इति ।

जघान—

हन्धातोर्लिटि तिपो णलादेशे द्वित्वे हलादि शेषे च 'हहन् अ' इति स्थिते 'कुहोश्चु' इत्यनेन अभ्यास-हकारस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन जकारे 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हस्य घकारे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'जघान' इति।

गोपायाञ्चकार—

गुप् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय' इति नित्यमायप्रत्यये प्राप्ते 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पेन आयप्रत्यये कृते तस्यार्धधातुकसंज्ञायां लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्य' इत्याम्प्रत्यये तस्यार्धधातुसंज्ञायाम् 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'आमः' इति लिटो लुकि लिटः कृत्प्रत्ययलक्षणेन गोपायामित्यस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुबुत्पत्तौ 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्यापि लुकि गोपायामित्यवशिष्टे 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञि अनुप्रयुज्यमाने 'गोपायाम् कृ लिट्' इति स्थिते अत्र लिटस्तिपि तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अकारे तस्य रपरत्वे च जाते गोपायाम् 'कर् कृ अ' इति 'भूते' 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'कुहोश्चु' इत्यभ्यासककारस्य चुत्वे मस्यापदान्तत्वादनुस्वारे परसवर्णे ञकारे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिं परत्वाद्बाधित्वा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'गोपायाञ्चकार' इति सिद्धम्।

अतृणेट्—

तृह्धातोर्लङि तिपि अनुबन्धलोपे 'रुधादिभ्यः श्नम्' इत्यनेन श्नमि शकारमकारयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'तृणह् त्' इति जाते 'लुङ्लङ्०' इत्यनेन अटि 'तृणह इम्' इत्यनेन इमागमे 'अ तृ ण ह् त्' इति जाते 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'हो ढः' इति ढत्वे हल्ङ्याब्भ्यादिना त्लोपे 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन पदान्तत्वात् डत्व कृते 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे 'अतृणेट्' इति।

अचूचुरत्—

स्तेयार्थक 'चुर्' धातोः 'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' इति सूत्रेण णिचि अनुबन्धलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां धातुत्वाल्लुङि तिपि अडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि चङो रेत्संज्ञायां लोपे च 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अचोरि अ त्' इति जाते 'णेरनिटि' इति णेर्लोपे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वत्वे 'अचुर् अ त्' इति

जाते 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'दीर्घो लघोः' इति अभ्यासस्य दीर्घत्वे 'अचूचुरत्' इति सिद्धम्।

भावयति—

भवन्तं प्रेरयति 'भावयति'। अयम्भावः—देवदत्तो यज्वा भवति, तं याजकः प्रेरयति, इत्यादयर्थे भूधात्वर्थस्य मुख्यकर्त्ता यज्वा तस्य यज्वभवने प्रवर्तयिता योजकादिः प्रयोजकः, तन्निष्ठायां प्रेरणायां भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि वृद्धौ अवादेशे, 'भावि' इति णिजन्तम्। तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि इत्सायितौ शपि गुणे अयादेशे 'भावयति' इति सिद्धम्।

अचीकमत—

उकारेत्संज्ञकात् 'कम्' धातोः 'कमेर्णिङ्' इति सूत्रेण णिङि अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इत्यनेन वृद्धौ 'सनाद्यन्ता धातवः' इत्यनेन ण्यन्तस्य धातुसंज्ञायां लुङि तत्स्थाने आत्मनेपदस्य प्रथमपुरुषैकविवक्षायां तप्रत्यये 'काम् इ त' इति जाते 'च्लि लुङि' इति च्लौ तस्य 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्' इत्यनेन चङि अनुबन्धलोपे 'काम् इ अ त' इति स्थिते 'णेरनिटि' इत्यनेन णेर्लोपे 'काम् अ त' इति स्थिते 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति प्रत्ययलक्षणेन णेश्चङ्परत्वाद् उपधाया ह्रस्वत्वे 'कम् अ त इति जाते 'चङि' इत्यनेन कमो द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यनेन अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन मलोपे 'क कम् अ त' इति जाते 'कुहोश्चुः' इत्यनेन कस्य चत्वे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इत्यनेन सन्वद्भावे कृते 'सन्यतः' इत्यनेन अभ्यासाकारस्य इत्वे 'चि कम अ त' इति जाते 'दीर्घो लघोः' इत्यनेन अभ्यासेकारस्य 'चि' इत्यस्य दीर्घे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यनेन अङ्गस्य अडागमे टित्त्वादाद्यवयवे जाते 'अचीकमत' इति सिद्धम्।

शिण्ड्ढ—

शिष्धातोर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचने सिपि 'रुधादिभ्यः श्नम्' इति श्नमि शमयोरित्संज्ञायां लोपे च 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्हित्वे 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धित्वे 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'सिन् ष् धि' इति जाते 'झलां जश् झशि' इति षस्य जश्त्वेन डकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति धस्य ढत्वे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति नस्यानुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'शिण् ड् ढि' इति जाते 'झरो झरि सवर्णे' इति डस्य लोपे 'शिण्ढि' इति। पक्षे 'झरो झरी'ति 'डलोपाभावे शिण्ड्ढि' इति।

अतिष्ठिपत्—

'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति धातुः। अत्र 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति परिभाषया निमित्तस्य षत्वस्य अपाये (नाशे) नैमित्तिकस्य ष्टुत्वस्याप्यपाये 'स्था' इति। तस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि ण्यन्त

स्यात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लुङि तिपि इतावितौ 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे मध्ये च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति चङि अनुबन्धलोपे 'णिच्यच आदेशो न स्यात्, द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् ह्रस्वापेक्षया पूर्वं 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपे अभ्यासह्रस्वे चर्त्वे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाया ह्रस्वे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति इत्वे षत्वे ष्टुत्वे 'तिष्ठतेरित्' इति इत्वे 'अतिष्ठिपत्' इति ।

चिकीर्षति—

कर्तुमिच्छति 'चिकीर्षति'। कृधातोः 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सनि अनुबन्धलोपे सनः आर्धधातुकत्वेन 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घ 'इको झल्' इति कित्वात् गुणाभावे 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'किर् स' इति मूले 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासकार्ये 'हलि च' इति दीर्घे षत्वे 'चिकीर्ष' इति 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'चिकीर्षति' इति सिद्धम् ।

बोभवाञ्चकार—

भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि 'यङोऽचि च' इति लोपे प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्याचो गुणे 'बोभू' इति जाते प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वात् 'परोक्षे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' इत्यामि तस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन ऊकारस्य गुणे अवादेशे च कृते 'आम' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकस्य कृञोऽनुप्रयोगे 'बोभवाम् कृ लिट्' इति स्थिते लिटः स्थाने तिपि तिपः स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' इति णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इति ऋः स्थाने अत्वे परत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यादिहल्शेषे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासस्य चुत्वे 'बोभवाम् च कृ अ' इति जाते 'अचो ञ्णिति' इति 'कृ' इत्यस्य वृद्धौ रपरे मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'बोभवाञ्चकार' इति सिद्धम् ।

वरीवृत्यते—

पुनः पुनरतिशयेन वा वर्तते इति विग्रहः। 'धातोरेकाचो हलादे'रित्यादिना यङ्-धातोर्यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋकारस्यात्वे, रपरे, हलादिशेषे 'रीगृदुपधस्ये'ति अभ्यासस्य रीगागमे सति 'वरीवृत्य' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लटि आत्मनेपदे त-प्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे 'वरीवृत्यते' इति ।

भूयते—

त्वया, मया, अन्यैश्च 'भूयते'। त्वत्कर्तृकं, मत्कर्तृकम्, अन्यकर्तृकं भवनमित्यर्थः। अत्र भूधातोः 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इत्यनेन भावरूपार्थे 'वर्तमाने लट्' इति लटि 'भावकर्मणोः' इत्यनेन आत्मनेपदे तप्रत्यये 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि अनुबन्धलोपे कित्वाद्गुणाभावे टेरेत्वे 'भूयते' इति सिद्धम्।

घटयति—

घटं करोति आचष्टे वा इति विग्रहे घट-शब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इत्यनेन णिचि 'अतो लोपः' इति अलोपे तस्य स्थानिवद्भावादत उपधाया इति वृद्ध्यभावे धातुत्वाल्लटि तिपि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे 'घटयति' इति।

चिकीर्षा—

कृधातोः सनि अनुबन्धलोपे 'इको झल्' इति सनः कित्वे 'अज्झनगमां सनि' इति धातोर्दीर्घे 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'किर्स' इति दशायां 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'हलि च' इति दीर्घे सनः सस्य षत्वे 'चिकीर्ष' इति भूते 'सनाद्यन्ता धातवः' इत्यनेन सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायाम्, 'अप्रत्ययात्' इत्यनेन अप्रत्यये 'अतो लोपः' इति सनोऽकारलोपे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे स्त्रीत्वात् टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे तस्मात् सौ 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तस्य लोपे 'चिकीर्षा' इति सिद्धम्।

जीर्णः—

जॄ वयोहानौ इत्यस्माद् धातोः क्तप्रत्यये ककारस्य इत्संज्ञालोपयोः, 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे दीर्घे च 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति सूत्रेण नत्वे तस्य णत्वे स्वादिकार्ये 'जीर्णः' इति सिद्धम्।

जग्धम्—

अद्-भक्षणे धातोः 'निष्ठा' इति सूत्रेण कर्मणि क्तप्रत्यये 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' इति जग्धादेशे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे, 'जग्ध्ध' इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे' इति पूर्वधकारलोपे नपुंसके सौ स्वोरमि' 'जग्धम्' इति रूपम्।

शान्तः—

उपशमनार्थकात् 'शम्' धातोः क्तप्रत्यये 'वा दान्त-शान्त-पूर्ण-दास्त-स्पष्टच्छन्न-ज्ञप्ताः' इति निपातनादिटोऽभावे 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति दीर्घे मस्यानुस्वारे परसवर्णे स्वादिकार्ये च कृते 'शान्तः' इति सिद्धम्

उच्छून—

'टुओश्विगतिवृद्ध्योः' इति धातुः। अत्र टुरोकारश्चेत्। ततश्च उदुपसर्गकश्विधातोः वृद्ध्यर्थे 'निष्ठा' इति सूत्रेण निष्ठाप्रत्यये प्राप्ते, का नाम निष्ठा इति जिज्ञासायां 'क्तक्तवतू निष्ठा' इति निष्ठासंज्ञा क्तक्तवतोरिति उभयोः प्राप्तौ, 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति क्तप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'उत् श्वि त' इति स्थिते 'ओदितश्च' इत्यनेन तकारस्य नत्वे 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति तस्यासिद्धत्वात् 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'उत् शु न' इति जाते 'हलः' इत्यनेन दीर्घे 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इति इडभावे 'शश्छोऽटि' इति छत्वे उद् तकारस्त 'श्चुत्वेन चकारे कृदन्तत्वात् सौ अनुबन्धलोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'उच्छून' इति।

सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—

अत्र सम्प्रदानत्वाविवक्षायाम् 'अकथितं च' इत्यनेन सुधायाः कर्मत्वे 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया। क्षीरनिधिस्तु मुख्यं कर्मास्त्येव इति तत्रापि द्वितीया।

शत्रून् स्वर्गं गमयति—

शत्रवः स्वर्गं गच्छन्ति, तांश्च कश्चित् प्रेरयति इति शत्रून् स्वर्गं गमयति, अत्र 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इत्यनेन अण्यन्ताव स्थायां कर्तारः शत्रवः ण्यन्तावस्थायां कर्मत्वं भजन्ते। अत्र 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया। स्वर्गस्तु मुख्यमेव कर्म इति तत्रापि द्वितीया।।

उपराजम्—

राज्ञः समीपमिति विग्रहे सामीप्यवाचिनोपशब्देन 'अव्ययं विभक्ति' इत्या दिना समासे 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्युपशब्दस्योपसर्जनत्वे 'उप सर्जनं पूर्वम्' इति पूर्वनिपाते 'उप राजन् ङस्' इति जाते 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति ङसो लुकि 'अनश्च' इति टचि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे समासत्वात् सौ 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इति सोरमि पूर्वरूपे 'उपराजम्' इति।

भूतपूर्व—

'पूर्वं अम्, भूत सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'सह सुपा' इत्यनेन समासे समासत्वात् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि 'पूर्वभूत' इति स्थिते 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्यनेन द्वयोरप्युपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति विनिगमकाभावाद् उभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते 'भूतपूर्वे चरट्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते 'एकदेशविकृत' न्यायेन प्रातिपदिकत्वात् सौ रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः।

सोमयाजी—

सोमेनेष्टवान्=सोमाख्यलताविशेषरसेन यागं कृतवान्—सोमयाजी। सोमेनेति करणे उपपदे भूतार्थे कर्तर्यर्थे यजधातोः 'करणे यजः' इति सूत्रेण णिनिप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ उपपदसमासे सुपो लुकि 'सोमयाजिन्' इति, तस्मात्सौ अनुबन्धलोपे 'सौ च' इत्यनेन नान्तस्योपधाया दीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'सोमयाजी' इति।

प्रकृत्य—

कृधातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये अनुबन्धलोपे कित्त्वात् गुणाभावे 'कृत्वा' इति, ततः प्रकर्षार्थकस्य प्रशब्दस्य 'कुगतिप्रादयः' इति सूत्रेण नित्यसमासे 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति ल्यपि अनुबन्धलोपे कृदन्तत्वात् सौ 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्य लुकि 'प्रकृत्य' इति।

राजानति—

राजवाचरतीति विग्रहे 'राजन्' इति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विपि क्विपो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन क्विबन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इत्यनेन उपधादीर्घे 'राजान्' इति जाते तस्माल्लटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'राजानति' इति सिद्धम्।

द्व्यङ्गुलम्—

द्वे अङ्गुलीप्रमाणमस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थे द्विगुसमासे 'प्रमाणे लः' 'द्विगोर्नित्यम्' इति लुकि यणि 'द्व्यङ्गुलि' इति, तस्मात् 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः' इति समासान्ते अचि तस्मिन्परे 'यस्येति च' इति इकारलोपे समासत्वात् सौ अमादेशे 'द्व्यङ्गुलम्' इति।

राजन्यः—

राज्ञोऽपत्यमिति विग्रहे 'राजश्वशुराद्यत्' इति जातिवाचिनो राजन्शब्दात् यत् प्रत्यये भसंज्ञायां 'नस्तद्धिते' इति प्राप्तस्य टिलोपस्य 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावे तद्धितान्तत्वात् सौ विभक्तिकार्ये 'राजन्यः' इति सिद्धम्।

पटपटाकरोति—

'पटत्' शब्दात् डाचिविवक्षिते 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति द्वित्वे 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' इति डाचि प्राप्ते 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन पूर्वपटत्सम्बन्धितकारस्य पररूपत्वं विधाय 'पट पटत् डा' इति जाते टिसंज्ञकटिलोपे प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ विभक्तिकार्ये 'पटपटाकरोति' इति।

मदीयः—

मम अयं 'मदीय ' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इति सूत्रेण छप्रत्यये सुपो लुकि छस्य ईयादेशे 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इत्यनेन अस्मदोमपर्यन्तस्य मादेशे 'म अद् ईय' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे विभक्तिकार्ये च कृते 'मदीयः' इति ।

म्रदिमा—

मृदोर्भाव म्रदिमेत्यत्र 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति इमनिच्प्रत्यये इकारचकारयोर्लोपे 'मृदु इमन्' इति जाते 'रऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्थाने रकारे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'टेः' इति दकारोत्तरवर्ति-उकारस्य लोपे 'म्रदिन्' इति जाते प्रातिपदिकत्वात् सौ 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति उपधादीर्घे हल्ङ्यादिलोपे नलोपे 'म्रदिमा' इति जातम् ।

सर्विका—

सर्वनाम्न सर्वशब्दात् अकच्प्रत्यये 'सर्वक' इत्यस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि 'सर्वका' इति जाते 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' इति सूत्रेण ककाराकारस्य इत्वे आबन्तत्वात् स्वाद्युत्पत्तौ सुलोपे 'सर्विका' इति सिद्धम् ।

पचन्ती—

पच्-धातो शतृप्रत्यये 'पचत्' इति स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'उगितश्च' इति ङीपि अनुबन्धलोपे 'पचत् ई' इति जाते 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि सौ 'हल्ङ्याब्भ्यो'इति सुलोपे 'पचन्ती' इति ।

यादृशी—

'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' इति कञ्प्रत्यये 'यादृश' इति, तत स्त्रीत्वे 'टिड्ढाणञ्'इत्यादिना ङीपि 'यस्येति च' इत्यनेन भस्याऽकारस्य लोपे विभक्त्यादिकार्ये 'यादृशी' इति ।

कुमारी—

वयोवाचकात् कुमारशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'वयसि प्रथमे' इति ङीपि 'ङ्याप्प्रातिपदिके'ति स्वाद्युत्पत्तौ हल्ङ्याबिति तस्य लोपे कुमारीति ।

वामोरू—

वामौ ऊरू यस्याः इति विग्रहे वामोरुशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इति ऊङ्प्रत्यये सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये 'वामोरूः' इति रूपम् । अत्र प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्, इति स्वाद्युत्पत्तिर्बोध्या ।

इति श्रीरामचन्द्रझाकृतप्रश्नोत्तरलेखनप्रकारः समाप्तः ।

प्रश्नपत्राणि

मध्यकौमुद्याः स्वाद्यन्तभागे कारकसमासप्रकरणयोश्च प्रश्नाः ।

१ ह, ए, स, वर्णेषु कयोरपि द्वयोः स्थानमाभ्यन्तरबाह्यप्रयत्नौ च प्रदर्श्य- धात्रंशः । हरइह । गवाग्रम् । तन्मात्रम् । सच्चयुतः । हरिस्फुरति । भो ! अच्युत । एष विष्णुः । एषु यथेच्छं पञ्च प्रयोगान् ससूत्रं साधयत । १०

२ रामाणाम् । पूर्वस्मात् । पदा । नृणाम् । द्वितीयस्यै । स्त्रियम् । दध्नि । प्रशाम्याम् एषु यथेच्छं पञ्च प्रयोगाः । साधनीयाः । ८

३ विश्वौहः । प्रशान् । यज्वनः । युष्मभ्यम् । तादृक् । अमी । तुदन्ती । एषु पञ्च प्रयोगान् विलिख्य मघवन् शब्दस्य द्वितीयाषष्ठीविभक्त्योः समग्राणि रूपाणि प्रदर्शयत । ९

४ भविता । निषेधति । अगौप्सीत् । अदधत् । स्रष्टा । एधिताहे । अद्युतत् । वल्गासि । उवाह । एषु केचन पञ्चैव लेख्याः । १०

५ बलिं याचते वसुधाम् । अतिदेवान् कृष्णः । अक्ष्णा काणः । विप्राय गां ददाति । गोषु दुह्यमानासु गतः । यथेच्छं केष्वपि चतुर्षु ससूत्रं विशेषकार्याणि लिखत । ५

६ भूतपूर्वः उन्मत्तगङ्गम् । मासपूर्वः । रूपवद्भार्यः । पाणिपादम् । पितरौ । आत्मनेपदम् । परीपाकः । एषु यथेच्छं पञ्चसु प्रयोगेषु ससूत्रं विशेषकार्याणि लेखनीयानि । ८

(२)

मध्यकौमुद्याः नियतभागे प्रश्नाः ।

१ जक्षतुः, ईयतुः, पिपूर्तः, अभ्यासीत्, चिकाय, रुन्धः, अलुलोकत्— केऽपि पञ्च प्रयोगाः, साधु साधनीयाः । १०

अथवा

अद्धि, अमीयात्, अहासीत्, दिदीये, आनशे, अतत, अशान—एषु पञ्च साध्याः ।

२ णिजन्तस्य कुप्यतेः, सन्नन्तस्य हन्तेः, यङन्तस्य चरतेः,—लुङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि शास्त्रविशेषनिर्देशेन साध्यानि । १०

दृष्यस्यति, इदामति, मुक्तशुचिष्ठते, अध्यापयति, अदामि । एषु कानपि द्वौ प्रयोगान् समाध्य, 'अत्यन्तापह्नवे लिट्वक्तव्य' 'आशासावचने लिङ्' इत्यनयोरुदाहरणे लेख्ये । १०

धारतम्य, नर्तके, विहङ्गम, दून, वैकुण्ठमधिष्ठित, कृपा, भवसाद् भूति एतेषु केषामपि पञ्चानां साधुत्व सशास्त्रोपन्यास दर्शयत । १०

अग्निय, मातामही, नड्वान्, वाराणसेयम्, आपुपम्, नस्यम्—एषु चतुर्णां साधुत्व, 'लू ग्राम्यो', 'परयुर्नो यज्ञमयोगे'—इत्यनयोरुदाहरणे च लिखत । १०

अथवा

स्वतवा, तारिपत, वसुभिर्नो अव्यात्—अत्र वैदिककार्याणि प्रदर्श्य, कौञ्जायना, क, नूनम्—इत्येतेषु शास्त्रनिर्देशेन स्वरान् निरूपयत ।

(३)

ड, ज, ह, वर्णेषु यथेच्छ कयोरपि द्वयोर्वर्णयोर्बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नान् विलिख्य गव्यम् । मत्स्यम् । सत्राम्नम् । एतन्मुरारि । पयस्यादाम् । हरि शेते । शिवोऽर्च्य । एषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साध्या । ९

सर्वस्मात् । पूर्वे । त्रिश्व । त्रयाणाम् । तिसृणाम् । स्वसारौ । अनादये । दध्नि । एषु पञ्च प्रयोगान् साधयत । ८

अनडुहान् । पथाम् । महिम्यात् । युष्मान् । चेतसा त्वां समीक्षते । उपानत् । तुदन्ती । यथेच्छ पञ्च प्रयोगान् ससाध्य अस्मच्छब्दस्य पञ्चमीषष्ठीविभक्त्यो रूपाणि लिखत । ९

बभूविथ । गङ्गां विसेवति । अगाहीत् । वयनतु । जुगोपिथ । अघुतत् । त्रेपे । वनतु । केषाञ्चित् पञ्चानां सिद्धिं विलिख्य वह धातोर्लिटि मध्यमैकवचने रूपाणि प्रदर्शयत । ११

हरिं भजति । अधिशेते वैकुण्ठं हरिः । पुत्रेण सहागत पिता । हरये नमः । मञ्जगामी । मोक्षे इच्छास्ति । सूत्रनिर्देशपुरःसर केष्वपि चतुर्षु विशेषकार्याणि प्रदर्शयत । ५

अधिहरि । उपमनिषम् । शङ्कुलाखण्ड । सतां षष्ठ । पूर्वकाय । पाचिकाभार्य । अहिनकुलम् । अर्धर्च । यथेच्छ केष्वपि पञ्चसु सूत्रोपन्यास पुरःसर विशेषकार्याणि लिखत । ८

